संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० २१

आचार्य शुभचन्द्र भट्टारक विरचित

पाण्डव पुराण

अनुवादक

पं० घनश्यामदास न्यायतीर्थ

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

पाण्डव पुराण

कृतिकार : आचार्य शुभचन्द्र भट्टारक

अनुवादक : पं॰ घनश्यामदास न्यायतीर्थ

संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)

आवृत्ति : ११००

वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म॰ प्र॰) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं॰ ४५, सेक्टर एफ, इंडस्ट्रियल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म॰ प्र॰) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जो अनेक भाषाओं में अनुदित हुआ साथ ही अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी० लिट्०, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग

की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते। यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वासें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, आचार्य समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव स्वामी, आचार्य विद्यानंदि स्वामी, आचार्य पूज्यपाद स्वामी जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वत्वर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

आचार्य शुभचन्द्र विरचित पाण्डव पुराण भारतीय इतिहास में घटित हुई महाभारत की प्रमुख घटना के साथ-साथ कौरव-पाण्डव के यथार्थ चरित्र को कहने वाला अनुपम ग्रन्थ है। कौरव-पाण्डवों की उत्पत्ति के विषय में जो अनेक भ्रमपूर्ण अवधारणाएँ लोक में प्रचलित हैं। उनकी उत्पत्ति की वास्तविक जानकारी इस ग्रन्थ को पढ़ने से प्राप्त होती है। पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ का आलम्बन लेकर इस ग्रन्थ की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए संयम स्वर्ण महोत्सव में प्रकाशन किया जा रहा है। एतदर्थ पूर्व प्रकाशक संस्था एवं अनुवादक महोदय को धन्यपाद ज्ञापित करते हैं।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

आचार्य शुभचन्द्र भट्टारक और उनका पाण्डव पुराण

भट्टारक शुभचन्द्र विजयकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने भट्टारक ज्ञानभूषण और विजयकीर्ति इन दोनों के शासनकाल का दर्शन किया था। इनका जन्म वि॰ सं॰ १५३०-१५४० के मध्य में कभी हुआ होगा। शैशव से इन्होंने संस्कृत, प्राकृत एवं देशी भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया था। व्याकरण, छन्द, काव्य, न्याय आदि विषयों का पाण्डित्य सहज में ही प्राप्त कर लिया था। त्रिविधविद्याधर और षट्भाषाकविचक्रवर्ती ये इनकी उपाधियाँ थीं। इन्होंने अनेक देशों में विहार किया था। गौड, कलिंग, कर्नाटक, तौलव, पूर्व, गुर्जर, मालव आदि देशों के वादियों को पराजित किया था। इनका धर्मोपदेश सुनने के लिए जनता टूट पड़ती थी। इन्होंने अन्य भट्टारकों के समान कितने ही प्रतिष्ठा-समारोहों में भी सम्मिलित होकर धर्म की प्रभावना की थी। उदयपुर, सागवाड़ा, डूंगरपुर, जयपुर आदि स्थानों के मन्दिरों में इनके द्वारा प्रतिष्ठित अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं।

आचार्य शुभचन्द्र की शिष्य परम्परा में सकलभूषण, वर्णी क्षेमचन्द्र, सुमतिकीर्ति, श्रीभूषण आदि के नामोल्लेख मिलते हैं। इनकी मृत्यु के पश्चात् सुमतिकीर्ति इनके पट्ट पर आसीन हुए थे।

स्थितिकाल

डॉ॰ जोहरापुरकर ने शुभचन्द्र का भट्टारककाल वि॰ सं॰ १५७३-१६१३ माना है। शुभचन्द्र की मृत्यु के पश्चात् सुमतिकीर्ति उनके पद पर आसीन हुए हैं और सुमतिकीर्ति का समय वि॰ सं॰ १६२२ है। अतः भट्टारक शुभचन्द्र का जीवनकाल वि॰ सं॰ १५३५-१६२० होना चाहिए। ४० वर्षों तक भट्टारक पद पर आसीन रहकर शुभचन्द्र ने साहित्य और संस्कृति की सेवा की है। इन्होंने त्रिभुवनकीर्ति के आग्रह से वि॰ सं॰ १५७३ की आश्विन शुक्ला पञ्चमी को अमृतचन्द्रकृत समयसार कलशों पर अध्यात्मतरंगिणी नामक टीका लिखी है। संवत् १५९० में ईडर नगर के हूंबड़जातीय श्रावकों ने ब्रह्मचारी तेजपाल के द्वारा पुण्यास्रवकथाकोश की प्रति लिखवाकर इन्हें भेंट की थी। संवत् १५८१ में इन्हीं के उपदेश से हूंबड़जातीय श्रावक साह, हीरा, राजू आदि ने प्रतिष्ठामहोत्सव सम्पन्न किये थे।

''संवत् १५८१ वर्षे पोष वदी १३ शुक्र श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री ज्ञानभूषण तत्पट्टे श्री भट्टारक विजयकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्रगुरुपदेशात् हूंबड़जाति साह हीरा भा॰ राजू सुत सं॰ तारा द्वि. भार्या पोई सुत सं॰ मा का भार्या हीरा दे...भा॰ नारंग दे भा॰ रत्नपाल भा॰ विराला दे सुत रखभदास नित्यं प्रणमति।''

संवत् १५९९ में डूंगरपुर के आदिनाथ चैत्यालय में इन्हीं के उपदेश से अंगप्रज्ञप्ति की प्रतिलिपि करवाकर विराजमान की गयी थी। संवत् १६०७ की वैशाख कृष्णा तृतीया को एक पंच

परमेष्ठी की मूर्ति स्थापित की थी। संवत् १६०८ की भाद्रपद द्वितीया को सागवाड़ा में 'पाण्डवपुराण' की रचना पूर्ण की थी। संवत् १६११ में करकण्डुचरित और संवत् १६१३ में कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका लिखी। इस प्रकार आचार्य शुभचन्द्र का जीवनकाल १५३५-१६२० तक आता है।

रचनाएँ

शुभचन्द्र ज्ञान के सागर एवं विद्याओं में पारंगत थे। ग्रन्थ-परिमाण और मूल्य की दृष्टि से इनकी रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। संघ व्यवस्था, धर्मोपदेश एवं आत्मसाधना के अतिरिक्त जो भी समय इन्हें मिलता था, उसका सदुपयोग इन्होंने ग्रन्थरचना में किया है। वि॰ सं॰ १६०८ में इन्होंने पाण्डव-पुराण की रचना की है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से अवगत होता है कि इस रचना के पूर्व इनकी २१ कृतियाँ प्रसिद्ध हो चुकी थीं। संस्कृत और हिन्दी दोनों ही भाषाओं में इनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं।

संस्कृत-रचनाएँ

१. चन्द्रप्रभचरित, २. करकण्डुचरित, ३. कार्तिकेयनुप्रेक्षाटीका, ४.चन्दनाचरित, ५. जीवन्धरचरित, ६. पाण्डवपुराण, ७. श्रेणिकचरित, ८. सज्जनचित्तबल्लभ, ९. पार्श्वनाथकाव्यपञ्जिका, १०. प्राकृतलक्षण, ११. अध्यात्मतरंगिणी, १२. अम्बिकाकल्प, १३.अष्टाह्निकाकथा, १४.कर्मदहनपूजा, १५. चन्दनषष्ठी-व्रतपूजा,१६. गणधरवलयपूजा, १७. चारित्रशुद्धिविधान, १८. तीसचौबीसीपूजा, १९. पञ्चकल्याणकपूजा, २०. पल्लीव्रतोद्यापन, २१. तेरहद्वीपपूजा, २२. पुष्पाञ्जलिव्रत-पूजा, २३. सार्द्धद्वयद्वीपपूजा, २४. सिद्धचक्रपूजा।

हिन्दी रचनाएँ

१. महावीरछन्द, २. विजयकीर्तिछन्द, ३. गुरुछन्द, ४. नेमिनाथछन्द, ५. तत्त्वसारदूहा, ६. अष्टाह्निका-गीत ७. क्षेत्रपालगीत।

इन रचनाओं में कार्तिकेयानुप्रेक्षाटीका, सज्जनचित्तबल्लभ, अम्बिकाकल्प, गणधरवलयपूजा, चन्दनषष्ठीव्रतपूजा, तेरहद्वीपपूजा, पंचकल्याणकपूजा, पुष्पाञ्जलिव्रतपूजा, सार्द्धद्वयद्वीपपूजा एवं सिद्धचक्रपूजा आदि संवत् १६०८ के पश्चात् अर्थात् पाण्डवपुराण के बाद की कृतियाँ हैं।

पाण्डवपुराण—जैन साहित्य में कौरव और पाण्डवों की कथा का आरम्भ जिनसेन प्रथम के हरिवंशपुराण से होता है। स्वतन्त्ररूप में इस चरित का प्रणयन देवप्रभ सूरि ने वि॰ सं॰ १२७० में किया है। पश्चात् आचार्य शुभचन्द्र ने वि॰ सं॰ १६०८ में इस चरित की रचना की है। कथा के प्रारम्भ में भोगभूमिकाल में होने वाले १४ कुलकरों के उत्पत्तिक्रम के कथन के पश्चात् बताया है कि ऋषभदेव ने इक्ष्वाकु, कौरव, हरि और नाथ नामक चार क्षत्रियगोत्र स्थापित किये। कुरुवंश की परम्परा में सोमप्रभ, जयकुमार, अनन्तवीर्य, कुरुचन्द्र, शुभंकर और द्युतिंकर आदि राजाओं के पश्चात् विश्वसेन राजा के पुत्र शान्तिनाथ तीर्थंकर हुए। इसी परम्परा में भगवान् कुन्थ और अरनाथ तीर्थंकर उत्पन्न हुए।

इसके पश्चात् इस परम्परा में शान्तनु राजा उत्पन्न हुआ। इसकी पत्नी का नाम सवकी था। इन दोनों के परासर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। परासर का विवाह रत्नपुर निवासी जह्नु नामक विद्याधर की पुत्री गंगा के साथ हुआ। इनके पुत्र का नाम गांगेय भीष्म पितामह था। परासर राजा ने योग्य समझकर गांगेय को युवराजपद पर प्रतिष्ठित किया। एक दिन परासर यमुना के तट पर गये और वहाँ वे धीवर की कन्या को देखकर मोहित हो गये। कालान्तर में गांगेय की भीष्मप्रतिज्ञा के अनन्तर गुणवती या योजनगंधा के साथ परासर का विवाह सम्पन्न हुआ। इस पत्नी से परासर को व्यासनामक पुत्र उत्पन्न हुआ। व्यास की पत्नी का नाम सुभद्रा था और इससे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें धृतराष्ट्र का विवाह मथुरा निवासी राजा भोजकवृष्टि की कन्या गान्धारी के साथ सम्पन्न हुआ। इससे धृतराष्ट्र को दुर्योधनादि १०० पुत्र उत्पन्न हुए। विदुर का विवाह देवक राजा की पुत्री कुमुदवती के साथ सम्पन्न हुआ।

धृतराष्ट्र ने पाण्डु के लिए राजा अन्धकवृष्टि से उनकी पुत्री कुन्ती की याचना की। परन्तु पाण्डु के पाण्डुरोग से पीड़ित होने के कारण अन्धकवृष्टि ने उसे स्वीकार नहीं किया। पाण्डु कामरूपिणी मुद्रिका द्वारा अपना रूप बदलकर कुन्ती के महल में जाने-आने लगा। फलतः कुन्ती गर्भवती हुई और इस पुत्र का नाम कर्ण रखा गया। विधिवत् विवाह न होने के कारण, कर्ण को एक पेटी में रखकर यमुना में प्रवाहित कर दिया गया और वह पेटी चम्पापुरी के राजा भानु को प्राप्त हुई। उसने उस तेजस्वी बालक को अपनी पत्नी राधा को दे दिया और राधा ने उसका विधिवत् पालन किया। कालान्तर में अन्धकवृष्टि ने कुन्ती और माद्री इन दोनों कन्याओं का विवाह पाण्डु के साथ कर दिया। कुन्ती से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ये तीन पुत्र तथा माद्री से नकुल और सहदेव ये दो पुत्र हुए। ये पाँचों ही पाण्डव कहलाये। कौरव और पाण्डवों को द्रौणाचार्य ने धनुर्वेद की शिक्षा दी। एक दिन पाण्डु माद्री के साथ क्रीड़ार्थ वन में गये और वहाँ आकाशवाणी सुनकर विरक्त हो गये। उन्होंने अपनी १३ दिन आयु शेष जानकर दीक्षा ग्रहण की और पाँचों पुत्रों को बुलाकर, उन्हें राज्य देकर धृतराष्ट्र के अधीन कर दिया। कालान्तर में कौरवों और पाण्डवों की ईर्ष्या प्रज्ज्वलित हुई। दुर्योधन ने लाक्षागृह में पाण्डवों को दग्ध करने का प्रयास किया, पर वे सुरंग के रास्ते से बचकर निकल गये और ग्रामानुग्राम देशाटन करने लगे। हस्तिनापुर लौट आने के पश्चात् अर्जुन का विवाह द्रौपदी और सुभद्रा के साथ सम्पन्न हुआ। तदनन्तर युधिष्ठिर द्यूतक्रीड़ा में समस्त राज्य हार गये और १२ वर्षों तक उन्हें वनवास में रहना पड़ा। अन्त में राज्य के लिए कौरवों और पाण्डओं का भयंकर युद्ध हुआ।

यह कथा पच्चीस पर्वों में विभक्त है। २५वें पर्व में युद्ध के पश्चात् पाण्डव दीक्षा ग्रहण करते हैं और दुर्धर तपश्चरण के अवसर पर उन्हें उपसर्गादि सहन करने पड़ते हैं। वे अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व आदि १२ भावनाओं का चिन्तन कर कर्मों की निर्जरा करते हैं। फलतः युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को मुक्ति लाभ होता है एवं नकुल और सहदेव को सर्वार्थसिद्धि लाभ होता है।

आचार्य ने धर्म का महत्त्व बतलाते हुए लिखा है–

धर्माद्वैरिजनस्य भेदनमहो धर्माच्छुभं सत्प्रभम्
धर्माद्बन्धुसमागमः सुमहिमालाभः सुधर्मात्सुखम्।
धर्मात्कोमलकम्रकायसुकला धर्मात्सुताः समताः
धर्माच्छ्रीः क्रियतां सदा बुधजना ज्ञात्वेति धर्मः[१] श्रियैः॥

पूजा ग्रन्थों में सतत् विषयों की पूजाएँ निबद्ध हैं। हिन्दी रचनाओं में महावीर छन्द में भगवान् महावीर के सम्बन्ध में २७ पद्यों में स्तवन हैं। विजयकीर्ति छन्द एक ऐतिहासिक कृति है। यह कवि के गुरु विजयकीर्ति की प्रशंसा में लिखा गया है। इसमें २९ पद्य हैं। यह एक रूपककाव्य है। इसके नायक विजयकीर्ति हैं और प्रतिनायक कामदेव। इस रूपककाव्य में अध्यात्मशक्ति की विजय दिखलायी गयी है। गुरुछन्द में ११ पद्य हैं और भट्टारक विजयकीर्ति का गुणानुवाद किया गया है। नेमिनाथ छन्द में तीर्थंकर नेमिनाथ के पावन जीवन का चित्रण २५ पद्यों में किया है। तत्त्वसारदूहा में ९१ दोहे एवं चौपाइयाँ हैं। सात तत्त्वों का वर्णन है। इस ग्रन्थ की रचना दुलहा नामक श्रावक के अनुरोध से की गयी है।

---

१. पाण्डवपुराण, १८। २०१

प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुवादक

पं० घनश्यामदास 'न्यायतीर्थ'

जीवन आकाश में उड़ती हुई पतंग की भाँति होता है। जो कि मृत्युरूपी डोर से बँधा जरूर होता है परन्तु व्यक्ति इसे जिस दिशा में चाहे और जितनी ऊँचाई तक चाहे ले जाने में समर्थ होता है। प्रतिकूलताओं व अनुकूलताओं रूपी हवाओं का रुख उसे संचालित करता है, किन्तु संघर्षशील मानव उससे भी संघर्ष कर अपनी विजयपताका को गगन में स्थापित करने से नहीं चूकते।

ऐसे ही महामानव थे, जिन्होंने वि० सं० १९४५ में महरौनी को अपनी जन्मस्थली बनाकर गौरव प्रदान किया। बचपन में ही पिता के स्वर्गवासी हो जाने से पारिवारिक एवं आर्थिक दायित्वों ने आपको जीवन निर्वहन हेतु साढूमल में ला खड़ा किया।

शिक्षा

पूज्य गणेशप्रसादवर्णीजी के आगमन ने पंडितजी के जीवन में एक नया ही मोड़ ला दिया। वर्णी जी के कहने पर अपने परिवार की जिम्मेदारी सेठ लक्ष्मीचन्द जी के हाथों में छोड़ संस्कृत सीखने सागर आ गये। सागर में विशारद और न्याय मध्यमा पास कर सिद्धान्त ग्रन्थों के अध्ययनार्थ मुरैना गये। जहाँ आपने न्यायतीर्थ की परीक्षा उत्तीर्ण कर 'न्यायतीर्थ' की उपाधि से विभूषित होने का सुयोग पाया।

कार्यक्षेत्र

अध्ययन के बाद सर स्वरूपचन्द हुकुमचन्द दिगम्बर जैन विद्यालय इन्दौर के प्रधानाध्यापक बनकर इन्दौर पहुँचे। जहाँ से एक आकस्मिक घटना के कारण आपको वापस सेठ लक्ष्मीचन्दजी के साथ ही साढूमल पाठशाला आना पड़ा। कुछ समय तक कार्य करने के बाद आपने स्वतन्त्र व्यवसाय हेतु खुरई को निवास स्थान बनाया।

साहित्यसेवा

अध्ययन और अध्यापन के बीच आपने साहित्य सेवा के रूप में कुछ कृतियों को अनुवादित किया। जिनमें प्रमुखतया पाण्डवपुराण, परीक्षामुख, नाममाला, प्रभंजनचरित और पद्मपुराण हैं।

पं० जी मनस्वी और स्पष्टवादी निर्भीक व्यक्तित्व के धनी थे। अपनी निर्भीकता और सत्यवादिता से आपको अनेक जगहों पर कष्टों का सामना करना पड़ा, **किन्तु आप साहस के साथ सदैव उनका सामना करते हुए विकास पथ पर आगे बढ़ते रहे।**

सन् १९२४ को खुरई में ही आपने अन्तिम साँस ले स्वर्ग की ओर प्रयाण किया। आपके पदचिह्न आज भी अनेक जिज्ञासुओं को मार्गदर्शन प्रदान करने में समर्थ हैं।

अनुक्रमणिका

ॐ

श्री शुभचन्द्र भट्टारक विरचित

पाण्डव पुराण

प्रथम पर्व

सिद्धं सिद्धार्थसर्वस्वं सिद्धिदं सिद्धसत्पदम्। प्रमाणनयसंसिद्धं सर्वज्ञं नौमि सिद्धये ॥१॥
वृषभं वृषभं भान्तं वृषभाङ्कं वृषोन्नतम्। जगत्सृष्टिविधातारं वन्दे ब्रह्माणमादिमम् ॥२॥
चन्द्राभं चन्द्रशोभाढ्यं चन्द्रार्च्यं चन्द्रसंयुतम्। चन्द्रप्रभं सदाचन्द्रमीडे सच्चन्द्रलाञ्छनम् ॥३॥
शान्तिं शान्तेर्विधातारं सुशान्तं शान्तकिल्विषम्। नंनमीमि निरस्ताघं मृगाङ्कं षोडशं जिनम् ॥४॥
नेमिर्धर्मरथे नेमिः शास्तु शंसितशासनः। जगज्जगत्त्रयीनाथो निर्जितानङ्गसम्मदः ॥५॥
वर्धमानो महावीरो वीरः सन्मतिनामभाक्। स पातु भगवान्विश्वं येन बाल्ये जितः स्मरः ॥६॥
गौतमो गोतमो गीष्पा गणेशो गणनायकः। गिरां गणनतो नित्यं भातु भाभारभूषितः ॥७॥

श्री सिद्ध भगवान् को प्रणाम है जो सिद्धि के दाता और भण्डार हैं, जिनके सभी कार्य सिद्ध हो चुके हैं तथा जो प्रमाण-नय से प्रसिद्ध और सर्वज्ञ हैं। वे मेरे लिए सिद्धि प्रदान करें-मुझे सिद्धि दें ॥१॥ श्री आदिनाथ प्रभु को नमस्कार है, जो धर्म से सुशोभित और धर्म-तीर्थ के चलाने वाले हैं तथा जो बैल के चिह्न से युक्त और कर्मभूमि के आरम्भ में सभी व्यवस्था बताने के कारण आदि ब्रह्मा हैं। वे मेरे इस कार्य की ठीक व्यवस्था करें ॥२॥ चन्द्रमा की कान्ति के समान ही जिनके शरीर की कान्ति-आभा है, जो चन्द्रमा के चिह्न से युक्त और चन्द्र द्वारा पूज्य-स्तुत्य हैं, उन सदाचन्द्र चन्द्रप्रभ भगवान् का मैं स्तवन करता हूँ ॥३॥

शान्तिस्वरूप और शान्ति के विधाता सोलहवें तीर्थंकर श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्र की मैं स्तुति करता हूँ। वे स्वयं निष्पाप हैं और भव्य जीवों के कर्म-शत्रुओं को शान्त करने वाले हैं तथा जिनके चरण-कमलों में हिरण का चिह्न है, वे शान्तिनाथ प्रभु मुझे शान्ति दें ॥४॥

श्री नेमिनाथ भगवान् को मैं स्मरण करता हूँ जो धर्मरूप रथ की नेमि (धुरा) हैं, तीन लोक के स्वामी और कामदेव के मद को चकनाचूर करने वाले हैं तथा जिनके शासन की सभी सत्पुरुष प्रशंसा करते हैं-कीर्ति गाते हैं ॥५॥

जो बालपन में ही कामदेव पर विजय-लाभ कर महावीर, अतिवीर, वीर और सन्मति आदि नामों से प्रसिद्ध हुए, वे अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमानस्वामी मेरी रक्षा करें ॥६॥

चार ज्ञानों के धारक गौतम नाम गणधर को नमस्कार है, जो संघ के अधिपति होने से गणनायक और गणेश कहे जाते हैं तथा दिव्यवाणी द्वारा हमेशा तत्त्वों की गणना करते रहने के कारण विद्वान् लोग जिन्हें वाचस्पति कहते हैं, वे प्रतिभा के पुंज मुझे प्रतिभा प्रदान करें ॥७॥

युधिष्ठिरं कर्मशत्रुयुधि स्थिरं स्थिरात्मकम्। दधे धर्मार्थसंसिद्धं मानसे महितं मुदा ॥८॥
भीमं महामुनिं भीमं पापारिक्षयकारणे। संसारासातशान्त्यर्थं दधे हृदि धृतोन्नतिम् ॥९॥
अर्जुनस्य प्रसिद्धस्य विशुद्धस्य जितात्मनः। स्मरामि स्मरमुक्तस्य स्मररूपस्य सुस्मृतेः ॥१०॥
नकुलो वै सदा देवैः सेवितः शुद्धशासनः। सहदेवो बली कौल्यो मलनाशी विभाति च ॥११॥
भद्रबाहुर्महाभद्रो महाबाहुर्महातपाः। स जीयात्सकलं येन श्रुतं ज्ञातं कलौ विदा ॥१२॥
विशाखो विश्रुता शाखा सुशाखो यस्य पातु माम्। स भूतले मिलन्मौलिहस्तभूलोकसंस्तुतः ॥१३॥
कुन्दकुन्दो गणी येनोर्ज्जयन्तगिरिमस्तके। सोऽवताद्वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ ॥१४॥
समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषणः। देवागमेन येनात्र व्यक्तो देवागमः कृतः ॥१५॥
पूज्यपादः सदा पूज्यपादः पूज्यैः पुनातु माम्। व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्णसद्गुणः ॥१६॥

जो कर्म-शत्रुओं के साथ लड़ाई में स्थिर बने रहकर आत्मस्वरूप में स्थिर (लीन) हो चुके हैं, वे परम पूज्य युधिष्ठिर मेरे मनमन्दिर में विराजे और धर्म, अर्थ की सिद्धि में मेरी सहायता करें ॥८॥

उन भीम महामुनि को मैं याद करता हूँ, जो कर्म-शत्रुओं को जीतने में भीम-भयंकर योद्धा-धीर-वीर और तेज वाले हैं, वे मेरे पापकर्मों को हरें ॥९॥

जो कामदेव से रहित और कामदेव की तरह सुन्दर रूप वाले हैं, संसार-प्रसिद्ध और विशुद्ध परिणामी हैं, वे आत्मसंयमी अर्जुन मुनि मेरे हृदय में निवास करें ॥१०॥

देवतागण जिनकी सदा सेवा करते हैं तथा जिनका शासन निर्दोष है, वे नकुल और कुल के कलंक को दूर करने वाले सहदेव भी मेरे हृदय में विराजें ॥११॥

उन भद्रबाहु श्रुतकेवली की जय हो, जो महान् तपस्वी और कल्याण के पुँज हैं और संसारी दीन-दुखी जीवों को सहारा देने के कारण जिन्हें महाबाहु कहते हैं तथा जो इसी कलिकाल में ज्ञानरूपी नौका पर सवार हो-श्रुतज्ञान सागर से पार हुए हैं, वे मुझे ज्ञान-दान दें ॥१२॥

जिनकी शिष्य-परम्परा संसार-प्रसिद्ध है और जिन्हें सारा संसार हाथ जोड़ नमस्कार करता है, वे स्वामी कार्तिकेय मुनि मेरी सहायता करें ॥१३॥

उन कुन्दकुन्द स्वामी की जय हो, जिन्होंने गिरनार पर्वत के शिखर पर पत्थर की बनी हुई ब्राह्मी देवी से यह साक्षी दिलवाई कि ''दिगम्बर धर्म पहले का है ॥१४॥''

देवागम के जैसा महत्त्व वाला स्तोत्र बनाकर जिन्होंने देव-आप्त विषय के सिद्धान्त को खूब ही माँज डाला, सन्देह रहित कर दिया तथा जिनके सभी काम कल्याणरूप हैं, वे भारत-भूषण समन्तभद्र स्वामी सारे संसार को सुखी करें ॥१५॥

पूज्य पुरुष भी जिनके पादों-चरणों को पूजते हैं और इसी कारण जिनका 'पूज्यपाद' नाम सार्थक है तथा जो न्याय-व्याकरण आदि अनेक शास्त्रों के पूर्ण ज्ञाता हुए हैं और जिनके उत्तम गुण पृथ्वी पर निर्मल चाँदनी की भाँति प्रकाशित हो रहे हैं, उन जगत्पूज्य पूज्यपाद स्वामी की जय हो ॥१६॥

अकलङ्कोऽकलङ्कः स कलौ कलयतु श्रुतम्। पादेन ताडिता येन मायादेवी घटस्थिता ॥१७॥
जिनसेनयतिर्जीयाज्जिनसेनः कृतं वरम्। पुराणपुरुषाख्यार्थपुराणं येन धीमता ॥१८॥
गुणभद्रभदन्तोऽत्र भगवान्भातु भूतले। पुराणाद्रौ प्रकाशार्थं येन सूर्यायितं लघु ॥१९॥
तत्पुराणार्थमालोक्य धृत्वा सारस्वतं श्रुतम्। मानसे पाण्डवानां हि पुराणं भारतं ब्रुवे ॥२०॥
पुराणाब्धिः क्व गम्भीरः क्व मेऽत्र धिषणा लघु। अतोऽतिसाहसं मन्ये सर्वज्ञर्झरदायकम् ॥२१॥
जिनसेनादयोऽभूवन्कवयः शास्त्रपारगाः। तदङ्घ्रिस्मरणानन्दात्करिष्ये तत्कथां पराम् ॥२२॥
यथा मूको विवक्षुः सन्याति हास्यं जगत्त्रये। तथा शास्त्रं विवक्षुः सन् लोकेऽहं हास्यभाजनम् ॥२३॥
यथा जिगमिषुः पङ्गुर्मेरुमूर्धानमुन्नतम्। विहस्यते जनैः शास्त्रं चिकीर्षुश्चाहमञ्जसा ॥२४॥
यतेऽहं च तथाप्यत्र शास्त्रं कर्तुमशक्तितः। क्षीणा धेनुर्यथा वत्सं पाति दुग्धप्रदानतः ॥२५॥
पूर्वाचार्यकृतार्थस्य प्रकाशनविधौ यते। ब्रध्नप्रकाशितं ह्यर्थं दीपः किं न प्रकाशयेत् ॥२६॥

वे कलंक-रहित अकलंकदेव मुझे ज्ञानदान दें, जिन्होंने घड़े में बैठी हुई मायादेवी को बात ही बात में चुप कर दिया, हरा दिया और संसार में जैनधर्म की ध्वजा फहरा कर प्रभावना की ॥१७॥

उन जिनसेन यति की जय हो, जो वास्तव में जिनसेन हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि आदि में मुख्य हैं तथा सरस्वती के मन्दिर हैं और जिन्होंने पुण्य-पुरुषों के चरितों को गूँथकर अथाह पुराण-समुद्र को जन्म दिया ॥१८॥

वे गुणभद्र भदन्त मेरी सहायता करें, जो पुराण-रूप पहाड़ पर प्रकाश डालने के लिए सूरज के तुल्य हैं। उनके पुराण को देखकर तथा अन्य संसार-प्रसिद्ध कथा के आधार पर यह पाण्डव-पुराण नाम ग्रन्थ लिखा जाता है। इसका दूसरा नाम भारत या महाभारत है ॥१९-२०॥

इतना भारी गहरा यह पुराण-समुद्र कहाँ ? और इसकी थाह लेने को सर्वथा असमर्थ मेरी तुच्छ बुद्धि कहाँ? इन दोनों की कुछ भी बराबरी नहीं, तो भी इस ग्रन्थराज के कहने का मैंने जो साहस किया है, वह मेरा अति साहस है ॥२१॥ इसे देखकर लोग हँसेंगे तो सही, परन्तु फिर भी शास्त्र-पारंगत पुराने जिनसेन आदि महाकवियों का स्मरण करने से मुझे जो पुण्य-लाभ हुआ है, उसके बल से मैं इस ग्रन्थ-समुद्र में अवगाहन करता हूँ, इसके लिखने का साहस करता हूँ ॥२२॥

जिस तरह बोलने की इच्छा करने वाले गूंगे और भारी ऊँचे सुमेरु पर्वत पर चढ़ जाने की इच्छा करने वाले पंगु पुरुष की लोग हँसी उड़ाते हैं, उसी तरह इस अति साहस के लिए वे मेरी भी हँसी उड़ावें तो यह कोई नई बात नहीं अथवा जैसे एक दुबली-पतली गाय भी दूध पिलाकर अपने बछड़े को पालने का भरसक प्रयत्न करती है, वैसे ही यद्यपि मैं अल्पज्ञ हूँ तो भी अपनी शक्ति के अनुसार इसके लिखने का प्रयत्न करता हूँ ॥२३-२५॥

इस ग्रन्थ में जो कुछ भी लिखा जायेगा उसमें यद्यपि पुराने महर्षियों की कृति से कोई नयापन न होगा तो भी इसकी उपादेयता में कमी न आयेगी क्योंकि दीपक सूरज के द्वारा प्रकाशित पदार्थों को ही प्रकाशित करता है और तब भी वह उपादेय होता है ॥२६॥

वक्राकूतास्तु बहवः कवयोऽन्ये स्वभावतः। स्वल्पा यथा पलाशाद्या आम्राद्याश्च त्रिविष्टपे ॥२७॥
सन्ति सन्तः कियन्तोऽत्र काव्यदूषणवारकाः। स्वर्णे मलं यथा नित्यं शोधयन्ति धनञ्जयाः ॥२८॥
असन्तश्च स्वभावेन परार्थं दूषयन्त्यहो। दिवान्धा द्वादशात्मानं यथा दूषणदूषिताः ॥२९॥
वह्नयो दाहका नूनं तृषादुःखनिवारकाः। स्वर्णे मलं यथा नित्यं सन्तः सन्ति च भूतले ॥३०॥
यथा मत्ता न जानन्ति हेयाहेयविवेचनम्। तथा खलाः खलं लोकं कुर्वन्ति खलु केवलम् ॥३१॥
पयोधरा धरां धृत्या धरन्त्यम्बुप्रदानतः। सज्जनास्तु जनान्सर्वांस्तथा सन्तथ्यशिक्षया ॥३२॥
सर्पो विषकणं दत्ते सुधां चामृतदीधितिः। खलोऽसाताय कल्पेत सज्जनस्तु हिताप्तये ॥३३॥
खलेतरस्वभावोऽयं ज्ञातव्यो ज्ञानकोविदैः। अलं तेन विचारेण वयं लघु हितैषिणः ॥३४॥
षड्विधाख्यायते व्याख्या व्याख्यातैस्तत्र मङ्गलम्। निमित्तं कारणं कर्ताभिधानं मानमेव च ॥३५॥
इतिहाससमुद्रेऽस्मिन्मङ्गलं गदितं पुरा। यज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं मलक्षालनयोगतः ॥३६॥

यद्यपि संसार में पलाश आदि के निःसार और निरर्थक वृक्षों के समान खोटे स्वभाव वाले कवि बहुत हैं और आम आदि उत्तम वृक्षों के समान उत्तम स्वभाव वाले कम, तो भी कितने ही सत्पुरुष अब तक मौजूद हैं जो सोने में से मैल को साफ करने वाली आग की भाँति कविता के दोषों को छोड़कर उसके गुणों पर ही दृष्टि देते है और उसका आदर करते हैं ॥२७-२८॥

परन्तु असत्पुरुषों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे सूरज को दोष देने वाले उल्लू पक्षी की तरह दूसरों की कृति को दोष-ही-दोष दिया करते हैं-उन्हें गुण तो सूझते ही नहीं क्योंकि उनका स्वभाव ही उस आग की तरह है जो जलाकर दाह पैदा करती है और सत्पुरुषों का स्वभाव उन मेघों के समान होता है जो निरपेक्ष भाव से लोगों को ठंडा और मीठा जल पिलाकर उनकी प्यास को बुझा देते हैं ॥२९-३०॥ दुष्ट पुरुष मत वाले पुरुष के समान होते है। वे कभी हेय-उपादेय और हित-अहित का विचार ही नहीं करते किन्तु अपने दुष्ट स्वभाव से सारे संसार को दुष्ट बना डालने की चेष्टा में लगे रहते हैं ॥३१॥

सज्जन पुरुष समय पर बरसने वाले मेघों के समान होते हैं। वे अपने अमूल्य और उदार उपदेशों के द्वारा लोगों को हित की ओर झुकाने की चेष्टा कर उन्हें सुखी बनाने में लगे रहते है ॥३२॥ तथा जिस तरह सांप विष और चन्द्रमा अमृत देता है उसी तरह दुष्ट लोग संसार को दुख और सज्जन लोग सुख देते हैं ॥३३॥ इस प्रकार सुजन और दुर्जन के स्वभाव का जो यह विचार किया गया है। इस पर पाठक ध्यान देंगे और इससे वे बहुत लाभ उठावेंगे ॥३४॥

आचार्यों का मत है कि हर एक कथा में नीचे लिखी छह बातें अवश्य ही होनी चाहिए क्योंकि इनके बिना कथा की कुछ भी कीमत नहीं ॥३५॥

१. मंगल—जिनेन्द्रदेव के गुण-गान को मंगल कहते है, कारण मंगल का जो मल-गालन-पाप विनाशन-रूप-अर्थ है वह उसमें मौजूद है क्योंकि इस मंगल से भव्य जीवों का कर्म-मल धुल जाता है। यह मंगल इस इतिहास-समुद्र की आदि में किया जा चुका है ॥३६॥

यन्निमित्तमुपादाय मीयते शास्त्रसंचयः। तन्निमित्तं मतं मान्यैः पापपङ्कनिवारकम् ॥३७॥
कारणं कृतिभिः प्रोक्तं भव्यवृन्दं समुद्धृतम्। यथात्र श्रुतिसंधानः श्रेणिकः श्रेयसे श्रुतः ॥३८॥
कर्ता श्रुतौ श्रुतस्तत्र मूलकर्ता जिनेश्वरः। गौतमोऽप्युत्तरः कर्ता कृतिनां संमतो मुदा ॥३९॥
उत्तरोत्तरकर्तारो विष्णुनन्द्यपराजिताः। गोवर्धनो भद्रबाहुर्बहवोऽन्ये तदादयः ॥४०॥
नाम्ना पुराणमर्थाढ्यं पाण्डवानां सुपण्डितैः। मतं पाण्डुपुराणाख्यं पुरुपौरुषसंगतम् ॥४१॥
संख्यया चार्थतोऽनन्तं संख्याताक्षरसंख्यया। संख्यातं क्षिप्रमाख्यातं पुराणं पूर्वसूरिभिः ॥४२॥
षोढा संधा पुराणस्य ज्ञात्वा व्याख्येयमञ्जसा। पञ्चधा तत्पुनः प्रोक्तं द्रव्यक्षेत्रादिभेदतः ॥४३॥
इति सर्वस्वमालोच्य पुराणं प्रोच्यते बुधैः। वक्ता श्रोता कथास्तत्र विचार्याश्चारुलक्षणाः ॥४४॥
वक्ता व्यक्तं वदेद्वाक्यं वाग्मी धीमान् धृतिंकरः। शुद्धाशयो महाप्राज्ञो व्यक्तलोकस्थितिः पटुः ॥४५॥
प्राप्तशास्त्रार्थसर्वज्ञः प्रास्ताशः प्रशमाङ्कितः। जितेन्द्रियो जितात्मा च सौम्यमूर्तिः सुदृक् शुभः ॥४६॥

---

२. निमित्त—ग्रन्थ के रचे जने का निमित्त पाप का विनाश माना गया है और वह इस इतिहास में मौजूद है क्योंकि इसको बनाने से मेरे और सुनने से श्रोताओं के पाप-कर्म हलके होंगे ॥३७॥

३. कारण—ग्रन्थ-रचना का कारण भव्य जीवों के चित्त का समाधान हो जाना गया। वह भी इस ग्रन्थ में विद्यमान है क्योंकि यह कथा प्रसिद्ध श्रोता श्रेणिक राजा के प्रश्न करने पर उनके चित्त के समाधान करने को श्री महावीर प्रभु ने कही थी ॥३७॥

४. कर्ता—इस ग्रन्थ के मूलकर्ता तो तीर्थंकर भगवान् है और उत्तर-कर्ता गौतम स्वामी तथा विष्णुनन्दि, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु आदि श्रुतकेवली और ऋषि-गण हैं ॥३८॥

५. अभिधान—इस ग्रन्थ का नाम पाण्डव-पुराण है क्योंकि इसमें पुराण पुरुषों की कथा कही गई है, इस लिए तो यह पुराण है और वे पुराण-पुरुष पाण्डव हैं, इसलिए इसका नाम पाण्डव-पुराण पड़ा है ॥३९॥

६. संख्या—अर्थतः तो इसकी संख्या अनंत है, पर अक्षर-रचना के हिसाब से संख्यात ही है ॥४०॥

इन छह बातों का विचार कर ही पुराणकार को पुराण की रचना करनी चाहिए। इसी नियम के अनुसार यहाँ इन पर विचार किया गया है। पर ध्यान रहे कि ये बातें द्रव्य, क्षेत्र, तीर्थ, काल और भाव के भेद से पाँच ही हैं। यह सब विचार कर ही पुराणकार अपने पुराण को आरम्भ करते हैं और श्रोताओं के मनोविनोद के लिए उसकी आदि में वक्ता, श्रोता और कथा का भी विचार कर लेते हैं। उसी के अनुसार यहाँ भी वक्ता आदि के स्वरूप पर विचार किया जाता है ॥४१-४४॥

वक्ता-उपदेश देने वाला-वह अच्छा है जो शुद्ध और साफ बोलने वाला, व्याख्याता, धीर-वीर, बुद्धिमान् और साफ-स्वच्छ अभिप्रायों वाला हो, जिसे लोक व्यवहार का पूरा-पूरा ज्ञान हो, जो चतुर हो, पूरा विद्वान् और शास्त्रों के रहस्य की जानने वाला हो, निस्पृह तथा मंद कषायों वाला हो, जिसकी इंद्रियाँ वश में हों और जो आत्म-संयमी हो, शान्त-मूर्ति, सुन्दर एवं मनोहर नेत्रों वाला और देखने

तीर्थतत्त्वार्थविज्ञानी षण्मतार्थविचक्षण:। नैयायिक: स्वान्यमतवादिसेवितशासन: ॥४७॥
सव्रतो व्रतिभि: सेव्यो जिनशासनवत्सल:। लक्षणैर्लक्षितो दक्ष: सुपक्ष: क्षितिपै: स्तुत: ॥४८॥
सदा दृष्टोत्तर: श्रीमान्सुकुलो विपुलाशय:। सुदेशज: सुजातिश्च प्रतिभाभरभूषण: ॥४९॥
विशिष्टोऽनिष्टनिर्मुक्त: सम्यग्दृष्टि:सुमृष्टवाक्। सर्वेष्टस्पष्टगमको गरिष्ठो हृष्टमानस: ॥५०॥
वादीशो वादिवारेण वन्दित: कविशेखर:। परनिन्दातिग: शास्ता गुरु: सच्छीलसागर: ॥५१॥
श्रोता प्रशस्यते शीललीलालङ्कृतविग्रह:। सद्भि: सुदर्शन: श्रीमान्नानालक्षणलक्षित: ॥५२॥
दाता भोक्ता व्रताधिष्ठो विशिष्टजनजीवन:। पूर्णाक्ष: पूर्णचेतस्को हेयादेयार्थदृक् शुचि: ॥५३॥
शुश्रूषाश्रवणाधारो ग्रहणे धारणे स्मृतौ। ऊहापोहार्थविज्ञानी सदाचाररतश्च स: ॥५४॥
सत्कलाकुशल: कौल्यो गुर्वाज्ञाप्रतिपालक:। विवेकी विनयी विद्वांस्तत्त्वविद्विमलाशय: ॥५५॥
सावधानो विधानज्ञो विबुधो बन्धुर: सुधी:। दयादत्तिप्रधानश्च जिनधर्मप्रभावक: ॥५६॥
सदाचारो विचारज्ञो धर्मज्ञो धर्मसाधन:। क्रियाग्रणी: सुगीर्मान्यो महतां मानवर्जित: ॥५७॥

में प्यारा लगता हो, जिसे संसार-समुद्र से पार करने वाले तत्त्वों का पूरा-पूरा ज्ञान हो, जो छहों मत और न्याय का पूर्ण विद्वान् हो, जिसके मत को सभी मानते हों, जो स्वयं व्रतों का धारक और व्रती पुरुषों द्वारा मान्य हो, जिन आगम का प्रेमी, चतुर और उत्तम लक्षणों वाला हो, राजा लोग जिसका सत्कार करते हों, जिसका पक्ष समर्थ शक्ति वाला हो, जो प्रश्नों का पहले से ही उत्तर जानने वाला, सुन्दर और कुलीन हो, अपने देश और अपनी जाति का हो, प्रतिभा वाला, शिष्टाचारी और अनिष्ट-आपत्ति वगैरह से रहित हो, सम्यग्दृष्टि और मीठा बोलने वाला हो, सबको प्यारा और खूब समझाने वाला हो, गौरवशाली और प्रसन्न चित्त हो, वादियों का स्वामी और उनके ऊपर अपना प्रभाव डालने वाला हो, जो कवियों में उत्तम और दूसरों की निंदा नहीं करने वाला हो और शील का सागर, गुरु और शास्ता हो ॥४५-५१॥

श्रोता-उपदेश सुनने वाला-वह अच्छा है जो शील से विभूषित और सम्यक्त्व से युक्त हो, सुन्दर हो, दाता हो, भोक्ता और नाना लक्षणों वाला हो, व्रतों का धारक, धर्मात्मा पुरुषों को आश्रय देन वाला और परिपूर्ण इंद्रियों वाला हो, उदार और पवित्र चित्त हो, हेय-उपादेय का जानने वाला हो, शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण और स्मरण इनमें प्रवीण हो, तर्क-वितर्क के द्वारा हर एक पदार्थ का विचार करने वाला हो, तत्त्वज्ञानी और तत्त्व-चर्चा का प्रेमी हो, कुलीन, प्रवीण और गुरु की आज्ञा का पालक हो एवं विवेकी और विनयी हो, स्वच्छ अभिप्रायों वाला हो, सावधान और क्रियाकांड का पूरा-पूरा जानकार हो, सुन्दर और सम्यग्ज्ञानी हो, दयालु और दया कर दीन-दुखी और भूखे जीवों को दान देने वाला हो, जैनधर्म की प्रभावना करने वाला, सदाचारी, विचार वाला और धर्मज्ञ तथा धर्मात्मा हो, हर एक क्रिया आदि चारित्र के पालने में अगुआ हो, मीठा बोलने वाला हो, जिसको सत्पुरुष मानते हों और जो अभिमान रहित-सरल स्वभाव वाला हो ॥५२-५७॥

शुभाशुभादिभेदेन श्रोतारो बहवो मताः। हंसधेनुसमाः श्रेष्ठा मृच्छुकाभाश्च मध्यमाः ॥५८॥
मार्जाराजशिलासर्पकङ्कच्छिद्रघटैः समाः। चालिनीदंशमहिषजलौकाभाश्च तेऽधमाः ॥५९॥
असच्छ्रोतरि निर्णाशमुक्तं शास्त्रं भजेद्यथा। जर्जरे चामपात्रे वा पयः क्षिप्तं कियत्स्थिति ॥६०॥
सदग्रे कथितं शास्त्रं गुरुणा सार्थकं भवेत्। सुभूमौ पतितं बीजं फलवज्जायते यथा ॥६१॥
कथा वाक्यप्रबन्धार्था सत्कथा विकथा च सा। द्विधा प्रोक्ता सुकथ्यन्ते यत्र तत्त्वानि सा कथा ॥६२॥
व्रतध्यानतपोदानसंयमादिप्ररूपिका। पुण्यपापफलावाप्तिः सत्कथा कथ्यते जिनैः ॥६३॥
विचित्राणि चरित्राणि चरमाङ्गादिदेहिनाम्। कथ्यन्ते सत्कथा सद्भिर्यत्र धर्मार्थवर्धिनी ॥६४॥
द्रव्यं क्षेत्रं तथा तीर्थं संवेगो जायते यथा। सत्कथा सोच्यते शास्त्रे संवेगार्थप्रवर्धिनी ॥६५॥
वृषो वृषफलं यत्र वर्ण्यते विबुधैर्नरैः। निर्वेगाय सुवेगेन कथा निर्वेजिनी मता ॥६६॥
स्वतत्त्वानि व्यवस्थाप्य परतत्त्वविनाशिनी। ऊहापोहार्थविज्ञानं सा कथा कथिता जिनैः ॥६७॥
सम्यक्त्वगुणसंपूर्णा बोधवृत्तसमन्विता। नानागुणसमाकीर्णा सा कथा गुणवर्धिनी ॥६८॥
वशिष्टवेदसद्व्यासद्वैपायनसमुद्भवा। कल्पनाकल्पिता प्रोक्ता विकथा पङ्कवर्द्धिनी ॥६९॥

उस श्रोता के शुभ, अशुभ आदि बहुत भेद हैं। हंस, गाय आदि के स्वभाव समान श्रोता उत्तम हैं। मिट्टी, तोता आदि के स्वभाव-समान श्रोता मध्यम तथा बिल्ली, बकरा, शिला, साँप, कौआ, छेद वाला घड़ा, चलिनी, डाँस, भैंसा और जोंक (गोंच) के स्वभाव-समान श्रोता अधम हैं। असत् श्रोताओं को उपदेश देना-शास्त्र सुनाना-व्यर्थ है क्योंकि जैसे टूटे-फूटे घड़े में पानी नहीं ठहरता वैसे ही उनके हृदय पर उपदेश का कुछ भी असर नहीं होता और सत् श्रोताओं को दिया हुआ उपदेश उपजाऊ भूमि में बोये हुए बीज की भाँति कई गुणा फलता है ॥५८-६१॥

कथा—वाक्यों की रचना के द्वारा किसी पदार्थ के वर्णन करने को कथा कहते हैं। कथा के दो भेद हैं, एक सत्कथा और दूसरी विकथा। सत्कथा वह है जिसमें व्रत, ध्यान, तप, दान और संयम आदि तथा पुण्य-पाप का फल और चरम शरीरी आदि पुरुषों के विचित्र चरितों का वर्णन हो। सत्कथा को कहने या सुनने से धर्म-अर्थ की वृद्धि होती है, सुख मिलता है। उसके चार भेद हैं। उनको भी सुनिए ॥६२-६४॥

जिस कथा से राग भाव घटकर संवेग की वृद्धि हो वह संवेगिनी कथा है। जिसमें धर्म तथा धर्म के फल का और वैराग्य का कथन हो वह निर्वेगिनी कथा है तथा जिसमें तर्क-वितर्क के द्वारा स्याद्वाद-कथंचित् मत का मंडन और दूसरे कपोल-कल्पित मिथ्या मतों का खण्डन किया गया हो वह आक्षेपिनी कथा है। इसको कहने या सुनने से ज्ञान का विकास होता है और जिसमें रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) का निरूपण और मिथ्यात्व आदि का खण्डन किया गया हो वह विक्षेपिनी कथा है। इन गुणों की खान कथा के कहने या सुनने से गुणों की वृद्धि होती है। विकथा-खोटी कथा वह है जो मिथ्यात्वियों-व्यास आदि झूठे लोगों की गढ़ी हुई कपोल-कल्पित बातों से भरी हुई हो। विकथा के कहने या सुनने से पाप बंध और पुण्य क्षीण होता हैं। हर एक सत्कथा के

द्रव्यं क्षेत्रं तथा तीर्थं कालो भावस्तथा फलम्। प्रकृतं सप्त चाङ्गान्याहुरमूनि कथामुखे ॥७०॥
इत्याख्याय कथासारं पुराणं पावनं परम्। पुराणपुरुषाणां हि प्रोच्यते भारताभिधम् ॥७१॥
अथ जम्बूमति द्वीपे विस्तीर्णे विबुधैर्जनैः। भारतं सस्यमाभाति भारतीभरभूषितम् ॥७२॥
धैर्यवर्यार्यखण्डेऽस्मिन्नार्यखण्डे सुमण्डिते। अखण्डाखण्डलाकारैर्जनैर्जीवनदायिभिः ॥७३॥
विदेहविषयो भाति विशिष्टैर्देहसद्गुणैः। विदेहा यत्र जायन्ते नरा नार्यश्च नित्यशः ॥७४॥
विदेहा यत्र जायन्ते धन्या ध्यानाग्नियोगतः। तपसातो जनैर्योग्यैर्विदेहो विषयो मतः ॥७५॥
कुण्डाख्यं मण्डनं भूमेः पत्तनं तत्र राजते। सत्तमैः सकलैः पूर्णं राजराजपुरोपमम् ॥७६॥
सिद्धार्थःसिद्धसर्वार्थः सिद्धसाध्यः सुसिद्धिभाक्। नाथवंशोद्भुवां नाथो भूनाथः पाति तत्पुरम् ॥७७॥
चेटकाद्रिसमुत्पन्ना सिद्धार्थाब्ध्यवगाहिनी। तटिनीव रसेशस्य प्रियाभूत्प्रियकारिणी ॥७८॥
विशुद्धकुलसंपन्ना गुणखानिर्गुणाकरा। सकला कुशला कार्ये त्रिशला या सुशोभते ॥७९॥

आरम्भ में जिन सात अंगों का होना अतीव उपयोगी और आवश्यक है वे ये है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, तीर्थ, फल और प्रकृत। इसी नियम को लेकर यहाँ सब कुछ लिखा गया है। अब इस पवित्र पुराण का आरम्भ किया जाता है ॥६५-७०॥

जम्बूद्वीप एक प्रसिद्ध और सुन्दर द्वीप है। वह सत्पुरुषों का निवास और सम्पत्ति का खजाना है। उसमें भरत नाम एक पवित्र और मनोहर क्षेत्र है। वह भारती-सरस्वती से विभूषित अतिशय शोभा वाला है। इसके छह खण्ड है। उनमें एक आर्यखण्ड हैं। वह धीर-वीर और इन्द्र जैसी विभूति वाले परोपकारी आर्य पुरुषों का निवास है। वहाँ के आर्य पुरुष अभयदान देने वाले और धर्मात्मा हैं। आर्यखण्ड में विदेह नाम एक मनोहर देश है। वह भी सुन्दर और उत्तम गुणों से युक्त नर-नारियों से विभूषित है। वहाँ के नर-नारियों की किसी भी बात की कमी नहीं है। वे हमेशा अमन-चैन से अपना समय बिताते हैं। वहाँ से लोग सदा काल विदेह (मुक्त) होते हैं। वहाँ के पुण्य-पुरुष ध्यानाग्नि और कठिन तपस्या के द्वारा कर्म-ईंधन को जलाकर विदेह-मुक्ति अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं और जान पड़ता है कि इसलिए इस देश का नाम विदेह पड़ा है ॥७१-७५॥

विदेह देश में पृथ्वी का भूषण कुंडलपुर नाम एक सुन्दर नगर है। उसमें जो उत्तम-उत्तम पुरुष निवास करते हैं उनसे वह ऐसा जान पड़ता है कि मानो वह इन्द्र आदि देवता-गण का निवास-स्थान अमरावती ही है। कुंडलपुर के राजा सिद्धार्थ थे। वे नाथवंशी थे। उनके सभी मनोरथ सफल थे-उन्हें किसी भी बात की कमी न थी। उनकी रानी का नाम त्रिशलादेवी था। वे नदी की तुलना करती थीं ॥७६-७७॥

जिस भाँति नदी पहाड़ से निकल समुद्र में जाकर गिरती है उसी भाँति वे भी चेटक-रूप पहाड़ से उत्पन्न हो सिद्धार्थ समुद्र में जाकर मिल गई थीं। नदी समुद्र की प्रिया होती है, वे सिद्धार्थ समुद्र की प्यारी थीं और इसी कारण लोग उन्हें प्रियकारिणी भी कहते थे। वे उच्च कुल में पैदा हुई थीं। उत्तम गुणों की खान और भण्डार थीं। वे सभी कलाओं में प्रवीण और हर एक काम में चतुर थीं। भगवान्

सेविता दिव्यकन्याभिर्धनदैर्धनसंचयैः। उपासिता सदा देवैः षण्मासान्या च पूर्वतः ॥८०॥
सा सुप्ता शयने शान्ता मातङ्गं गां हरिं रमाम्। दाम्नी चन्द्रं दिवानाथं मीनौ कुम्भं सरोवरम् ॥८१॥
वार्द्धिं सिंहासनं व्योमयानं भूमिगृहं पुनः। रत्नौघमग्निमैक्षिष्ट स्वप्नान्षोडश चेत्यमून् ॥८२॥
प्रबुद्धा नाथतो नूनं तत्फलानि निशम्य च। पुष्पकात्प्रच्युतं देवं सा दधे गर्भपङ्कजे ॥८३॥
आषाढे सितषष्ठ्यां च हस्तभे हस्तिगामिनी। सुहस्ता हस्तिसंरूढैः सुरैः संप्राप्तपूजना ॥८४॥
जज्ञे सा सुसुतं चैत्रे त्रयोदश्यां सितेऽहनि। चतुर्दश्यां सुतो लेभे मेरौ स्नानं सुरेन्द्रतः ॥८५॥
वर्धमानाख्यया ख्यातः क्षितौ क्षिप्तरिपूत्करः। त्रिंशद्वर्षं कुमारत्वे सातं सिवे स शुद्धधीः ॥८६॥
किंचिद्धेतुं हितं वाञ्छन् हेतुं वैराग्यसंततेः। वीक्ष्य दक्षः स आचख्यौ वैराग्यं स्वस्य सज्जनान् ॥८७॥

महावीर छह महीने बाद उनके गर्भ में आने वाले थे, पर इसके पहले ही से छप्पन देवकुमारियाँ उनकी सेवा-उपासना-करती थीं तथा कुबेर आदि देवता-गण भी भाँति-भाँति की दिव्य वस्तुएँ ला-लाकर उनकी उपासना करते थे। एक समय त्रिशलादेवी अपने शयनागार में पलंग पर सुख की नींद में सोई हुई थीं। रात का पिछला पहर था। इस समय उन्होंने सोलह स्वप्नों को देखा। वे स्वप्न ये थे। हाथी, बैल, सिंह, लक्ष्मी, भाला युगल, चंद्रमा, सूरज, मछली-युगल, कलश, तालाब, समुद्र, सिंहासन, व्योमयान (देवों का विमान), भूमिगृह (धरणेन्द्र का विमान), रत्नराशि और अग्नि ॥७८-८२॥

प्रातःकाल महारानी ने इन स्वप्नों का फल सिद्धार्थ महाराज से पूछा। उन्होंने उनका फल कहकर रानी को सन्तुष्ट किया। इसी समय कोमल हाथ-पाँव वाली और गजगामिनी त्रिशलादेवी ने स्वर्ग के पुष्पक विमान से चयकर आये हुए एक भाग्यवान् देव को अपने गर्भ-कमल में धारण किया। इस दिन अषाढ़ सुदी छट और हस्त नक्षत्र था। इसके बाद वीरप्रभु का गर्भोत्सव करने के लिए इन्द्र वगैरह देवता-गण गजों तथा अन्य-अन्य वाहनों पर सवार हो-हो कर स्वर्ग से कुंडलपुर आये और उन्होंने वहाँ भगवान् का खूब गर्भोत्सव मनाया तथा भगवान् की माता की भारी भक्ति से पूजा की ॥८३-८४॥ धीरे-धीरे जब गर्भ के दिन पूरे हुए तब चैत सुदी तेरस के दिन त्रिशलादेवी ने भगवान् वीर प्रभु को जन्म दिया, जैसे पूर्व दिशा सूरज को जन्म देती है। उससे दशों दिशायें उज्ज्वल हो गई तथा सारे संसार में आनंद-मंगल छा गया। चौदस के दिन बड़ी भारी विभूति के साथ इन्द्र आदि देवता-गण स्वर्ग से कुंडलपुर आये और यहाँ से भगवान् को सुमेरु पर्वत पर ले गये। सुमेरु पर उन्होंने भगवान् का बड़े भारी ठाट-बाट के साथ अभिषेक किया और शत्रुओं के दल पर विजय-लाभ करने वाले वीरप्रभु का वर्द्धमान नाम रख उन्हें दिव्य वस्त्र और आभूषण पहनाये। तीस वर्ष की अवस्था तक तो भगवान् गृहस्थ अवस्था में रहे, पर बाद में किसी वैराग्य के कारण को पाकर वे विरक्त हो गये और उन्होंने अपने विरक्त होने का समाचार अपने कुटुम्बी भाई-बन्धुओं को कह सुनाया। इसके बाद भगवान् को विरक्त हुए जान कर अपना नियोग पूरा करने को पाँचवें ब्रह्म स्वर्ग से लौकान्तिक देव उनकी सेवा में आ पहुँचे और वे उनके वैराग्य की प्रशंसा तथा भक्ति कर चले गये ॥८५-८७॥

तदा लौकान्तिका देवाः पञ्चमात्समुपागताः। स्तुत्वा निर्वेदिनं तं ते निर्वेदाय गताः पुनः ॥८८॥
सुरेन्द्राः सह संप्राप्य ज्ञात्वा वैराग्यमञ्जसा। जिनस्य जनितानन्दा नेमुस्तं नतमस्तकाः ॥८९॥
संस्नाप्य भूषणैर्भक्त्या विभूष्य भूषणं भुवः। सुरास्ते भक्तितो भेजुर्वैराग्यार्थं जिनेश्वरम् ॥९०॥
नानारूपान्वितां चित्रां चित्रकूटैर्विचित्रिताम्। चन्द्रप्रभां सुशिबिकामारुह्य पुरतो ययौ ॥९१॥
मार्गे कृष्णदशम्यां च हस्ते मे वनसंस्थितः। षष्ठेन त्वपराह्णे च प्राव्राजीज्जिनसत्तमः ॥९२॥
मनःपर्ययसद्बोधो दीक्षातस्तत्क्षणे क्षणी। पारणाप्राप्तसंमानो विजहाराखिलां महीम् ॥९३॥
जिनो द्वादश वर्षाणि तपस्तप्त्वा दुरुत्तरम्। प्रपेदे जृम्भिकाग्रामं जृम्भाजृम्भणवर्जितः ॥९४॥
ऋजुकूलासरित्तीरे ऋजुकूले किलाकुले। शालैः शालद्रुमाकीर्णे शिलापट्टे जिनोऽविशत् ॥९५॥
वैशाखदशमीघस्त्रेऽपराह्णे षष्ठसंश्रितः। हस्ताश्रिते सिते पक्षे क्षपकश्रेणिमाश्रितः ॥९६॥
विघातिघातिकर्माणि घातयित्वा घनानि सः। प्रपेदे केवलं बोधं बोधिताखिलविष्टपम् ॥९७॥
भगवानथ संप्राप दिव्यं वैभारभूधरम्। तत्र शोभासमाकीर्णः समवसृतिशोभितः ॥९८॥

पीछे थोड़ी ही देर में इन्द्र आदि देवतागण आये और उन्होंने प्रभु को भक्तिभाव से नमस्कार किया-उनकी स्तुति और पूजा की। इस समय प्रजा असीम आमोद-प्रमोद में मस्त थी। बाद इन्द्र ने भगवान् को स्नान करा कर दिव्य-वस्त्र और आभूषण पहनाये और भक्ति-भाव से नम्र हो उन सबने भूतल-भूषण भगवान् की फिर पूजा-स्तुति की तथा मुक्त कंठ से उनके वैराग्य और विचारों की प्रशंसा की ॥८८-९०॥

इसके बाद वे भाँति-भाँति के चित्रों से चित्र-विचित्र और रंग-बिरंगी तरह-तरह की कलशियों से विभूषित चन्द्रप्रभा नाम एक सुन्दर पालकी में श्री वीरप्रभु को विराजमान कर नगर से बाहर उद्यान की ओर ले गये। वहाँ लोकोत्तम वीर भगवान् ने अगहन वदी दसमी के दिन, हस्त नक्षत्र में, षष्ठ योग के बाद, दोपहर के समय, जिन दीक्षा धारण की और उसी समय वे चार ज्ञान के धारक हो गये। उन्हें मनःपर्यय ज्ञान हो गया। इसके बाद वीरप्रभु ने सभी देशों में विहार कर बारह वर्ष घोर तप किया। वे जहाँ जहाँ जाते थे वहाँ उन्हें लोग बड़ी भक्ति से पारणा कराते थे ॥९१-९३॥

आलस और विषय-वासना तो उनके पास तक न फटक पाते थे। विहार करते-करते कुछ दिनों के बाद भगवान् जंभिका नामक एक गाँव में आये। उसमें बहने वाली ऋजुकूला नाम नदी के किनारे ताल का एक घना जंगल था। भगवान् उस जंगल में एक वृक्ष के नीचे रक्खी हुई पवित्र शिला पर ध्यानस्थ हो गये। इसके बाद भगवान् वैशाख सुदी दसमी के दिन, दोपहर के समय, षष्ठयोग और हस्त नक्षत्र में, क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हुए और अन्तर्मुहूर्त काल में ही उन्होंने दुष्ट घाति-कर्मों की सैंतालीस, आयुकर्म की तीन और नामकर्म की तेरह-कुल तिरेसठ कर्म-प्रकृतियों का नाशकर सब पदार्थों और उनकी अनंत पर्यायों को एक साथ हमेशा जानने वाले केवलज्ञान को प्राप्त किया ॥९४-९७॥

इसके बाद वीर भगवान् सारे संसार में धर्म का उपदेश करते हुए विपुलाचल पर्वत पर आये।

छत्राशोकमहाघोषसिंहासनसमाश्रितः। चामरैः पुष्पवृष्ट्या च भामण्डलदिवाकरैः ॥९९॥
दुन्दुभीनां सहस्रेण रेजे रञ्जितशासनः। गौतमादिगणाधीशैः सुरानीतैः स सेवितः ॥१००॥
अथास्ति मगधो देशो मागधैर्गीतसद्गुणः। मागधैर्देववृन्दैश्च सेव्यः स्वर्लोकवत्सदा ॥१०१॥
राजगृहपुरं तत्र राजते स्वःपुरोपमम्। राजद्राजेन्द्रसद्गेहशोभाभाभारभूषणम् ॥१०२॥
श्रेणिको भूपतिस्तत्र शुभश्रेणिगुणाकरः। महामनाश्च सद्दृष्टिः प्रतापपरमेश्वरः ॥१०३॥
चेलनाचित्तचौरेण तेन तत्र स्थितं जिनम्। ज्ञात्वा जग्मे यथापूर्वं भरतेन सुचेतसा ॥१०४॥
घटद्घोटकसंघातैर्महादन्तसुदन्तिभिः। नानार्थरथसार्थैश्च नृत्यत्पादातिसद्व्रजैः ॥१०५॥
वदद्वादित्रनिर्घोषैः संसिद्धैर्मागधस्तवैः। श्रेणिकः सत्यसंधानः प्रपेदे जिनसंनिधिम् ॥१०६॥
दन्तावलात्समुत्तीर्य विवेश जिनसंसदम्। मुक्तचामरछत्रादिचिह्नः श्रेणिकभूपतिः ॥१०७॥
जिनं मृगारिपीठस्थं छत्रत्रयमहाछदम्। चतुरास्यं महाशस्यं विशेष्यं त्रिजगत्पतिम् ॥१०८॥

इस समय समवसरण उनके साथ ही था। उसकी विभूति का कोई ठिकाना न था। छत्र, चमर, सिंहासन, भामण्डल, (शरीर की कान्ति का पूर), फूलों की बरसा, अशोकवृक्ष, दिव्यध्वनि और हजारों दुंदुभि बाजों का शब्द इन आठ प्रातिहार्यों से वह और भी सुशोभित था। उसमें आने-जाने वाले लोगों के कोलाहल शब्द से दशों दिशायें गूंज रही थीं और देवता-गण द्वारा ले आये गये गौतम आदि गणधर भी वहाँ भगवान् की सेवा में उपस्थित थे। तात्पर्य यह कि उस वक्त की शोभा अपूर्व थी ॥९८-१००॥

मगध उत्तम गुणों से भरपूर और एक मनोहर देश है। धर्मात्मा और सत्पुरुषों का वह निवास है, अतः ऐसा जान पड़ता है कि देवता-गण का निवास-स्थान स्वर्गलोक ही है। उसमें राजगृह नामक एक सुन्दर नगर है। राजगृह में भारी विशाल और मनोहर राज-मन्दिर बने हुए हैं, जिनसे वह ऐसा जान पड़ता है मानो इन्द्र का पुर ही है। श्रेणिक वहाँ के राजा थे। वे उत्तम श्रेणी के पुरुष थे, गुणों के भण्डार और सम्यग्दृष्टि थे। उदार-चित्त थे, प्रतापी और भारी ऐश्वर्य वाले थे। उनकी महारानी का नाम चेलिनी था। चेलिनी पर वे बहुत लाड़-प्यार करते थे। एक दिन उनके पास यह खबर आई कि विपुलाचल पर्वत पर वीर प्रभु आये है। इस शुभ समाचार से वे बहुत प्रसन्न हुए और उसी वक्त वीर प्रभु की वन्दना को गये, जिस भाँति आदिनाथ प्रभु के शुभ आगमन को सुन कर उनकी वन्दना को उदार आशय भरत चक्रवर्ती गये थे ॥१०१-१०४॥

इस समय चार प्रकार की सेना या यों कि चतुरंगी सेना महाराज के साथ-साथ थी। सजे-धजे घोड़े, सुन्दर लम्बे मोटे दाँतों वाले हाथी, भाँति-भाँति की वस्तुओं से सजे हुए रथ और मनोहारी नृत्य करते हुए पयादे थे। भाँति-भाँति के बाजों की ध्वनि से सब दिशायें गूंज रही थीं। बन्दीजन महाराज के यश को गाते जा रहे थे। सारांश यह कि उस समय का दृश्य अपूर्व ही था। थोड़े ही समय में महाराज वीर प्रभु के पास पहुँचे और वहाँ वे हाथी पर से उतर पड़े एवं छत्र, चमर आदि राज-चिह्नों को वहीं छोड़कर उनकी सभा में पहुँचे ॥१०५-१०७॥

वहाँ जाकर उन्होंने तीन लोक के नाथ वीर प्रभु को एक मनोहर सिंहासन पर विराजे हुए देखा।

नतामरनराधीशमीशानं शंसितव्रतम्। नत्वाभ्यर्च्य स्तुतिं कर्तुं प्रारेभे स इलापतिः ॥१०९॥
स्तुत्यं स्तोतारमात्मानं स्तुतिं स्तुतिफलं पुनः। नृपो ज्ञात्वा समारेभे स्तुतिं वीरजिनेशिनः ॥११०॥
भगवन् देवदेवेश विभो भुवनसत्पते। त्वां स्तोतुं कः क्षमो दक्षः शक्तः शक्रसमोऽपि च ॥१११॥
चिद्रूपं चित्तनिर्मुक्तं विभुं चेन्द्रियवर्जितम्। निर्मलं निर्मलाकारं गन्धज्ञं गन्धवर्जितम् ॥११२॥
अरूपं रूपवेत्तारं नीरसं रसवित्स्तुतम्। रसज्ञं ज्ञातसर्वस्वं त्वां स्तवीमि जगत्पतिम् ॥११३॥
बाल्ये रतिपतिः क्षिप्तः क्षिप्रं क्षेमंकरेण भोः। त्वया लोकितलोकेन विपुलाचलपालिना ॥११४॥
बाल्यक्रीडाविधौ देव नागीभूतात्सुपर्वणः। त्वं निर्जित्य जितारातिर्वीर त्वं समुपाश्रितः ॥११५॥
बालखेलासमारूढं नभःस्था वीक्ष्य योगिनः। द्वापराकरनाशेन सन्मतिं त्वां च तुष्टुवुः ॥११६॥

उनके शिर पर छत्र-त्रय सुशोभित थे। वे और-और देवों से भिन्न वीतराग रूप में थे और वहाँ सभी सभ्यगण उनकी और उनके तपश्चरण आदि कर्तव्यों की पुनः-पुनः प्रशंसा करते थे एवं राजा-महाराजा और देवता गण उन्हें नमस्कार कर उनके चरणों की धूलि को अपने मस्तक पर चढ़ते थे, उनकी पूजा-वन्दना करते थे। वीर प्रभु को देखकर महाराज ने उनकी वन्दना की और भक्तिभाव से उन्हें नमस्कार किया। इसके बाद स्तुत्य (स्तुति योग्य), स्तोता (स्तुति-कर्ता), स्तुति (गुण-गान) और उसका फल इन चारों बातों को जान कर उन्होंने स्तुति करना आरम्भ किया ॥१०८-११०॥

हे तीन लोक के स्वामी! और देवों के देव वीरप्रभु! आपके गुण अपार है, अतएव उनको गाने के लिए इन्द्र जैसा भारी शक्ति वाला भी जब असमर्थ है तब मुझ जैसे मन्द बुद्धियों की तो ताकत ही क्या है जो आपके गुणों का गान कर सके परन्तु तो भी आपकी भक्ति के वश हो मैं आपके गुणों का कुछ गान करता हूँ। देवाधिदेव भगवान्! आप चित्त रहित होकर भी चैतन्य-स्वरूप हैं, इन्द्रियों से रहित और विभु हैं, कर्म-मल रहित निर्मल हैं। रूप, रस, गंध आदि से रहित होकर भी उनके जानने वाले हैं ॥१११-११३॥

सभी पदार्थों को हमेशा जानने वाले सर्वज्ञ हैं। तीन लोक के पति हैं। हे वीर प्रभु! मैं आपकी वन्दना कर आपको नमस्कार करता हूँ। इस विपुलाचल को सुशोभित कर आपने यहाँ लोक अलोक प्रकाशित किया है, अतः आप जीव मात्र को पाप से बचाने वाले एक रक्षक हैं ॥११४॥

हे प्रभु! मैं आपकी कहाँ तक तारीफ करूँ, आपने बालपन में ही तो काम जैसे वीर को वश में कर लिया और खेल-कूद के वक्त सांपों का भेष बना-बनाकर जो देवता-गण आपके पास आये थे उन्हें तथा और-और शत्रुओं को जीत कर आपने अपने 'वीर' नाम को सार्थक कर दिखाया ॥११५॥

हे भगवन्! एक दिन आप खेल रहे थे और इसी समय वहाँ आकाशगामी कोई योगीजन आ निकले। उन्होंने आपको खेलते हुए देखा और देखते ही उनका एक भारी सन्देह दूर हो गया, जो उनके हृदय में कीले की भाँति चुभ रहा था। इसी कारण उन्होंने आपको सन्मति कहा और आपकी भारी भक्ति की-पूजा-प्रशंसा की ॥११६॥

शंकरस्त्वां समावीक्ष्य योगस्थं योगिनं जगौ। कृतोपसर्गो निश्चाल्यं महावीर इति स्फुटम् ॥११७॥
वर्धमानमहाज्ञानो वर्धमानो भवान्मतः। स्तुत्वेति तं नरेड् भक्त्योपाविशन्नरसंसदि ॥११८॥
तावता भगवान्वीरो व्याजहार परां गिरम्। ताल्वोष्ठकण्ठचलनामुक्तामक्षरवर्जिताम् ॥११९॥
राजन् धर्मे मतिं धत्स्व धर्मो द्वेधा दयामयः। अनगारसहागार भेदेन भेदमाश्रितः ॥१२०॥
नैर्ग्रन्थ्यमृषिसद्ग्रन्थ्यं नैर्ग्रन्थ्यं परमं तपः। नैर्ग्रन्थ्यं परमं ध्यानं नैग्रन्थ्यं ध्येयमेव च ॥१२१॥
नैर्ग्रन्थ्यं परमं ज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं परमो गुणः। नैर्ग्रन्थ्यं प्रथमं प्रोक्तं ज्ञेयं सन्मुनिगोचरम् ॥१२२॥
श्राद्धश्रेयः श्रुतं शीलतपोदानसुभावनैः। नाकं साकं सुखैर्दत्ते चतुर्धा सुधृतं ध्रुवम् ॥१२३॥
शीलं च सत्स्वभावोऽत्र शीलं च व्रतरक्षणम्। ब्रह्मचर्यात्मकं शीलं शीलं सद्गुणपालनम् ॥१२४॥
तपस्तपनमेवात्र देहस्येन्द्रियदर्पिणः। इन्द्रियार्थनिवृत्तेस्तत्षोढा बाह्यं तथान्तरम् ॥१२५॥
दानं दत्तिस्त्रिधा पात्रे स्वस्य शुद्ध्या चतुर्विधम्। भोगभूमिफलाधारं तदाहारादिभेदगम् ॥१२६॥

इसी तरह मुनि-अवस्था में आप एक दिन ध्यानस्थ थे। उस समय आपके ऊपर शंकर की दृष्टि जा पड़ी। उसने क्रोध में आ आपको भारी उपसर्ग किया, पर वह आपको रंच मात्र भी न चला सका। तब उसने आपको महावीर कहा और आप की खूब स्तुति की। आप का ज्ञान-चंद्र पूर्ण वृद्धिंगत है, इसलिए आप वर्द्धमान हैं। इस भाँति पूर्ण भक्तिभाव से भगवान् का स्तवन कर श्रेणिक महाराज जाकर मनुष्यों के कोठे में बैठ गये ॥११७-११८॥

पश्चात् वीरप्रभु ने कंठ, तालु आदि की क्रिया के बिना ही निरक्षरी दिव्यध्वनि के द्वारा धर्म का उपदेश करना आरम्भ किया ॥११९॥ वे कहने लगे कि राजन्! धर्म में जी लगाओ। धर्म दया को कहते है। इस दयाधर्म के दो भेद है, एक मुनिधर्म और दूसरा श्रावकधर्म। पहले धर्म में तिल-तुष मात्र भी, परिग्रह नहीं होता। उसमें निर्ग्रन्थता ही प्रधान है। निर्ग्रन्थता-ममता-भाव का अभाव ही मुनियों का सर्वस्व है। वही दुर्द्धर तप है। वही उत्तम ध्यान है। निर्मल-ज्ञान और उत्तम गुण भी वही है। उसके बिना मुनि मुनि ही नहीं कहला सकता और इसलिए मुनिधर्म में उसे पहला स्थान मिला है। पर इसका धारण करना बहुत कठिन है ॥१२०-१२२॥

अब श्रावकधर्म को सुनिए। इसके शील, तप, दान और भावना ये चार भेद हैं। इसकी पालने से स्वर्ग-सुख मिलता है। शील ब्रह्मचर्य को कहते हैं। यह आत्मा का सच्चा स्वभाव है। इसके द्वारा और-और व्रतों की रक्षा होती है। बहुत क्या कहा जावे, इसके होने पर और-और गुण बिना परिश्रम ही प्राप्त हो जाते है। इस कारण इसे अवश्य पालना चाहिए। तप-इन्द्रियाँ को उनके विषयों से हटाकर वश में करने को या यों कि शरीर को वश में कर लेने को तप कहते हैं। वह बाह्य और अभ्यन्तर भेद से छः-छः प्रकार का है। दान-मन-वचन-काय की शुद्धि-पूर्वक उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्र के अर्थ-धन खर्च करने को दान कहते हैं। इसके आहार, औषध, शास्त्र और अभय ये चार भेद हैं। इसका फल भोगभूमि है। पर इतना विशेष है कि जैसे उत्तम आदि पात्रों के लिए दान दिया जायेगा वैसा ही उत्तम आदि भोगभूमिरूप फल भी मिलेगा ॥१२३-१२६॥

भावनं जिनधर्मस्य चिद्रूपस्य निजात्मनः। स्वहृदः शुद्धता चाथ भावना साभिधीयते ॥१२७॥
इति धर्मस्य सर्वस्वं श्रुत्वा भूपो जिनोदितम्। द्रङ्गं जिगमिषुर्द्राक् स ननाम जिनपुङ्गवम् ॥१२८॥
पुरं नृपो जगामाशु सेवितो नरनायकैः। सुरेशैः सेवितः स्वामी वीरश्च परनीवृतम् ॥१२९॥
रेमे भूपः सुचेलिन्या चलच्चारुसुचेतसा। जिनश्चेतनया चित्ते चिन्त्यमानस्वभावया ॥१३०॥
ददौ दानं स निःस्वेभ्यः सातसिद्ध्यर्थमञ्जसा। वीरोऽपि ध्वनिना ध्रौव्यं वृषं सत्सातसिद्धये ॥१३१॥
वर्धमानोऽथ सद्देशे कोशले कुरुजाङ्गले। अङ्गे वङ्गे कलिङ्गे च काश्मीरे कौङ्कणे तथा ॥१३२॥
महाराष्ट्रे च सौराष्ट्रे भेदपाटे सुभोटके। मालवे मालवे देशे कर्णाटे कर्णकोशले ॥१३३॥
पराभीरे सुगम्भीरे विराटे विजहार च। बोधयन्बुधसद्राशिं जिनः सद्धर्मदेशनैः ॥१३४॥
पुनः स मगधे देशे प्रतिबोधनपण्डितः। वैभारं भूषयामास भास्वांश्चोदयपर्वतम् ॥१३५॥
वनपालो जिनेशस्य विभूतिं वाक्पथातिगाम्। वीक्ष्य विस्मयमापन्नो जगाम राजमन्दिरम् ॥१३६॥
नृपं सिंहासनासीनं प्रकीर्णाकीर्णसद्भुजम्। छत्रव्रातगतादित्यतापं पापविवर्जितम् ॥१३७॥

भावना-जिनधर्म के मनन और चैतन्य-स्वरूप आत्मा की या यों कि हृदय की शुद्धि का नाम भावना है। भावना से आत्म-बल बढ़ता है। इस भाँति प्रभु ने धर्म का उपदेश किया। जिसको सुन कर भव्यजीव बहुत सुखी हुए। इसके बाद महाराज को नगर जाने की इच्छा हुई और वे प्रभु को प्रणाम कर वापस चले आये। बाद में नरेन्द्रों और देवताओं द्वारा सेवित वीरप्रभु ने भी और-और देशों में धर्म का उपदेश करने के लिए वहाँ से विहार किया। कुछ काल बाद महाराज अपने नगर को जा पहुँचे और वहाँ वे चेलिनी के साथ आमोद-प्रमोद से काल बिताने लगे। चेलिनी रानी बड़े उदार दिल की थी। वह चंचल स्वभाव वाली और स्वभाव से ही हमेशा वीरप्रभु का ध्यान किया करती थी। इधर दीन-दुखी जीवों को सुखी बनाने के लिए महाराज हमेशा दान देते थे और उधर संसार-ताप से संतप्त जीवों को शान्ति पहुँचाने के लिए वीरप्रभु अपनी दिव्यवाणी के द्वारा धर्म का उपदेश करते थे। धीरे-धीरे वीरप्रभु ने बहुत से आर्य देशों में विहार किया और सब जगह धर्म का उपदेश कर संसार ताप से संतप्त जीवों का ताप बुझाया-उन्हें शान्ति दी ॥१२७-१३१॥ वीर भगवान् ने जिन-जिन आर्य देशों में विहार किया था वे ये हैं कौशल, कुरुजांगल, अंग, वंग, कलिंग-काश्मीर, कोंकण, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, भेदपाट, सुभोटक, मालवा, कर्नाट, कर्णकौशल, पराभीर, सुगंभीर और विराट ॥१३२-१३४॥

इसके बाद मगधदेश को प्रतिबोधने के लिए भगवान् दुबारा विपुलाचल पर्वत पर आये और वहाँ वे ऐसे शोभित हुए मानो पूर्व दिशा में उदयाचल पर सूरज का उदय ही हुआ है ॥१३५॥

कुछ समय बाद इधर-उधर घूमता-फिरता वनपाल वहाँ आया और वीरप्रभु की वचन-अगोचर विभूति को देखकर अचम्भे में पड़ गया। वह सोचने लगा। कि यह क्या बात है! थोड़ी ही देर में वह सब बातें समझ गया और सब ऋतुओं के फल-फूल लेकर इस शुभ समाचार के साथ राजमंदिर पहुँचा। वहाँ पुण्यवान् महाराज एक मनोहर सिंहासन पर विराजे थे और देश-विदेशों से आई हुई

नानानीवृत्समायातप्राभृते दत्तलोचनम्। मागधव्रातसंगीतगणद्गुणकदम्बकम् ॥१३८॥
कृपाणकरकौलीन्यराजन्यशतसंस्तुतम्। सूर्यचन्द्राभसौरूप्यकुण्डलाभ्यां सुशोभितम् ॥१३९॥
मुकुटस्य मयूखेन लिखितं स्वं नभस्तले। हसन्तं हारिहारस्य किरणेन पराञ्जनान् ॥१४०॥
कटकाङ्गदकेयूरकान्त्या कृन्तिततामसम्। दन्तज्योत्स्नासमूहेन कलयन्तं च भूतलम् ॥१४१॥
दौवारिकनिर्देशेन वनपालो महीभुजम्। वीक्ष्य नत्वा च विज्ञप्तिं चर्करीति स्म सस्मयः ॥१४२॥
राजंस्त्रिजगतां नाथो नाथान्वयसमुद्भवः। भूषयामास वैभारं भूषयन्तं भुवस्तलम् ॥१४३॥
यत्प्रभावान्महाव्याघ्री निघ्नचित्ता सविघ्निका। पस्पर्श सौरभेयीणां सन्तानं स्वसुतेच्छया ॥१४४॥
महागजगजारीणां शावकाः सुखलिप्सया। रम्यारामेषु चान्योन्यं रमन्ते यत्प्रभावतः ॥१४५॥
नागनाकुलवृन्दानि ददते स्वहितेच्छया। स्वस्वस्थाने स्थितिं मुक्तवैरा यस्य समागमात् ॥१४६॥
मार्जारमूषका मत्ताः क्रीडन्ति क्रीडनोद्यताः। परस्परं प्रभावेण बान्धवा इव यस्य च ॥१४७॥
पद्माकराः सदाशुष्का जाताः संजीवनान्विताः। मरालकोककादम्बकलरावा यतो जिनात् ॥१४८॥
शुष्काः शालाः समाकीर्णाः फलपुष्पसुपल्लवै :। फलभारभराकीर्णा नमन्तीव जिनेशिनम् ॥१४९॥

भेटों की देख-भाल करते थे। उनके ऊपर एक अपूर्व छत्र लगा हुआ था, जो धूप की बाधा को दूर करता था। उनकी लम्बी और मजबूत भुजाएँ उनके पराक्रम को कहती थीं। गाथक-गण संगीत द्वारा उनका गुणगान करते थे। सैकड़ों कुलीन राजा-महाराजा हाथ में तलवार ले-ले सेवा में उपस्थित हो उनका यश गाते थे। उनके दोनों कुण्डल ऐसे जान पड़ते थे मानों वे चाँद और सूरज ही हैं। उनके मुकुट की किरणें सब ओर फैल रही थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानों महाराज उनके द्वारा आकाश-पट पर अपना चित्र ही लिख रहे हैं। उनके मनोहर हार की कान्ति सब ओर विस्तृत हो रही थी, जान पड़ता था कि वह सब लोगों की हँसी उड़ा रही है। अपने कड़े, अँगद और बाजूबंदों की कान्ति द्वारा वे अँधेरे को दूर करते थे और दाँतों की उज्ज्वल किरण से पृथ्वी-तल को उज्ज्वल करते थे। इतने में द्वारपाल की आज्ञा से वनपाल भीतर आया और सब ऋतुओं के फल-फूल महाराज को भेंट कर तथा उन्हें नमस्कार कर हर्ष के साथ बोला ॥१३६-१४२॥

हे देवों के देव! आज वन में विपुलाचल पर्वत पर वीरप्रभु आये हैं। वे नाथवंश के दीपक हैं, पृथ्वी के तिलक और स्वामी हैं। राजन्! यह सब उन्हीं का माहात्म्य है जो आज वन में क्रूर-चित्त और जीवों को महान् संकट में डालने वाली व्याघ्री भी अपने बच्चे की चाह से गाय के बछड़े पर प्रेम करती है तथा सिंह और हाथी के बच्चे अपने जातीय वैर-विरोध को भूल कर सुख की इच्छा से एक जगह खेलते हैं। साँप और नौला हित की इच्छा से एक दूसरे को अपने पास स्थान देते है-एक जगह किलोलें करते हैं। बिल्ली और चूहा भाई-बन्धुओं की तरह साथ-साथ खेलने को तैयार हैं तथा यह उन्हीं महात्मा का प्रभाव है कि जो ताल-तलैयाँ बरसों से सूखी पड़ी थीं, वे आज जल से लबालब भर गई हैं और कोक, हंस आदि पक्षी उन पर कलरव शब्द करते हैं तथा बहुत दिनों के सूखे हुए ताल वृक्ष भी आज फल-फूल और पत्तों से लहलहा उठे हैं, फल-फूलों के भार से पृथ्वी तक नीचे झुक गये

अकालकल्पिताकल्पफलपुष्पभरान्विताः। महीरुहा महेड्मान्या मीयन्ते स्म जिनेशिनः ॥१५०॥
इति तस्य प्रभावं भो! नानाकालसमुद्भवैः। फलैः पुष्पैरहं वीक्ष्य प्राभृतं कृतवांस्तव ॥१५१॥
इत्यानन्दभराद्भूपः पुलकाङ्कितविग्रहः। श्रुत्वा तद्वचनं रम्यं जहर्ष हर्षनिस्वनः ॥१५२॥

दत्त्वा तस्मै भुवनपतये सारवित्तं स भक्त्या
गत्वा सप्तोत्तरसुविधिना सत्पदानि प्रहृष्टः।
नत्वा तस्यां दिशि जिनपदाम्भोजयुग्मं प्रपेदे
स्थानं नानानृपगणयुतस्तत्पदं वन्दनेच्छः ॥१५३॥
वीरो विश्वगुणाश्रितो गुणगणा वीरं श्रिताः सिद्धये
वीरेणैव विधीयते व्रतचयः स्वस्त्यस्तु वीराय च।
वीराद्वर्तत एव धर्मनिचयो वीरस्य सिद्धिर्वरा
वीरे पाति जगत्त्रयं जितमिदं संजायते निश्चितम् ॥१५४॥

इति श्रीपाण्डवपुराणे महाभारतनाम्नि भट्टारकश्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपालसाहाय्यसापेक्षे श्रेणिकजिनवन्दनोत्साहवर्णनं नाम प्रथमं पर्व ॥१॥

हैं। जान पड़ता है कि वे पृथ्वी तक नीचे झुककर भगवान् को नमस्कार ही करते हैं। इसके सिवा राजन्! यह जो और-और सब अकाल में ही फल-पुष्प आ गये हैं इससे जान पड़ता है कि ये सब वृक्ष अपने आपको अहमिन्द्र मान फल-पुष्प ले-ले कर प्रभु की सेवा और भक्ति करने को ही उपस्थित हुए हैं। महाराज! सब ॠतुओं के फल-पुष्पों को एक साथ आया देखकर पहले तो मुझे अचंभा हुआ, पर पीछे उन प्रभु का माहात्म्य जान सब ॠतुओं के फल-फूलों को लेकर मैं आपकी सेवा में आया हूँ ॥१४३-१५१॥

इस शुभ समाचार को सुनकर महाराज के हर्ष का कुछ पार न रहा। उनके रोमाञ्च हो आये और मुँह प्रसन्न हो उठा। इस समय महाराज ने संदेशा लाने वाले वनपाल को खूब धन-सम्पत्ति दी उसे मालामाल कर दिया और आप सिंहासन को छोड़ जिस दिशा में वीरप्रभु थे उस ओर को सात पग आगे गये तथा वहाँ से उन्होंने अनेक राजाओं के साथ-साध वीरप्रभु को विनीत भाव से नमस्कार किया। बाद वे अपने स्थान पर आ बैठे। इस वक्त वीरप्रभु की वन्दना के लिए वे बहुत ही उत्सुक हो रहे थे। वीरप्रभु गुणों के आश्रय हैं, उनको गुणों ने इस अभिप्राय से अपना आश्रय बनाया कि जिसमें वे (गुण) सारे संसार में प्रसिद्ध हो जायें। वीरप्रभु ने ही व्रतों का उपदेश किया है और उन्होंने ही धर्म-तीर्थ को चलाया है तथा वे सिद्धि के स्वामी और संसार भर के रक्षक हैं एवं संसारी जीवों के मोह-मद को उतारने वाले हैं। उन वीरप्रभु के लिए स्वस्ति हो ॥१५२-१५४॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में जिनवंदना के उत्साह का वर्णन करने वाला पहला पर्व समाप्त हुआ ॥१॥

❑ ❑ ❑

द्वितीयं पर्व

नौमि वीरं महावीरं विजिताखिलवैरिणम्। भवपायोधिसंप्राप्तपारं परमपावनम् ॥१॥
अथानन्दभरेणैवानन्दभेरीं स नादिनीम्। दापयामास दानेन नन्दिताखिलविष्टपः ॥२॥
श्रुत्वानन्देन भेरीं तां लोका यात्रार्थसिद्धये। सज्जाः संनाहसंबद्धा संबोभुवति ते स्म वै ॥३॥
सादिनो मोदतो मङ्क्षु पर्याणं घोटकेषु च। रोपयन्ति स्म रागेण चलच्चामरचारुषु ॥४॥
दन्तिनो दन्तघातेन दारयन्तश्च दिग्गजान्। समर्थकुथसंबद्धाश्चेक्रीयन्ते स्म तज्जनैः ॥५॥
रथिनो रथचक्रेण चक्रेणालंकृतेन च। वाजिवारनिबद्धेन संभेजू राजमन्दिरम् ॥६॥
याप्ययानस्थिताः केचित्सौरभेयाश्रिताः परे। क्रमेलकसमारूढाः संप्रापुस्तद्गृहाङ्गणम् ॥७॥
खङ्गखेटकसद्हस्ताः कुन्तकोटिकराः परे। केचिच्छक्तिसमासक्ताः पत्तयस्तं प्रपेदिरे ॥८॥
नर्तक्यो नर्तनोद्युक्ता नटपेटकपूरिताः। नरीनृतति सद्वक्त्रास्तत्पुरः सस्मयाः पराः ॥९॥
इत्थं समग्रसामग्रया संगतोऽद्भुतविक्रमः। रेजे राजा रमाधीशो राजराज इवापरः ॥१०॥
निर्भयेनाभयेनापि वारिषेणसुतेन च। चेलिन्या सह संतस्थे जिनं वन्दितुमीश्वरः ॥११॥
दन्तावलाद्वलोपेतः संप्राप्य जिनसंनिधिम्। समुत्तीर्य सुवेगेन विवेश समवसृतिम् ॥१२॥

उन परम पवित्र और महावीर वीरप्रभु को नमस्कार है जो सम्पूर्ण वैरियों पर विजय-लाभ कर संसार-समुद्र को पार कर चुके हैं ॥१॥

इसके बाद हर्ष से गद्गद् हो महाराज ने संसार को आनंद देने वाली आनंद भेरी बजवाई और दान देकर सभी प्रजा की अमन-चैन में कर दिया। भेरी के शब्द को सुनते ही अपने-अपने मनोरथों की सिद्धि की इच्छा से सब लोग वस्त्र, आभूषण, गहने-गाँठे पहिन कर यात्रा के लिए तैयार हुए। सईसों ने हर्षित होकर हलती-चलती हुई सुन्दर किसवार वाले घोड़ों पर मनोहर पलाण रखे। महावतों ने दंत-प्रहार से दिग्गजों को भी डराने वाले सुन्दर हाथियों पर मनोहर झूलें डाले। सारथी-गण मनोहर पहियों वाले रथों में सुन्दर-सुन्दर घोड़ों की जोतकर उन्हें राज मन्दिर में ले आये और पियादे-गण कोई पालकी पर, कोई बैलों पर और कोई ऊँटों पर सवार हो-हो कर सब राजबाड़े के चौक में आ उपस्थित हुए। उनके हाथों में ढाल, तलवार, माला और शक्ति आदि कई एक हथियार थे और चाँद जैसे सुन्दर मुँह वाले, गर्वयुक्त नर्तकी-गण नटों को साथ लिये हुए नृत्य करने को तैयार हो-होकर आये तथा महाराज के आगे नृत्य करने लगे। इस भाँति महाराज को सभी सामग्री सुलभ थी। उनका पराक्रम अद्भुत था और वे लक्ष्मी के स्वामी थे। अतः जान पड़ता था कि वे दूसरे कुबेर ही हैं। कारण कुबेर भी अद्भुत पराक्रमी और लक्ष्मी का पति होता है। इस तरह सज-धज कर तैयार हो, वे निर्भय अभयकुमार और पवित्र वारिषेणकुमार को साथ लेकर वीरप्रभु की वन्दना की गये। इस समय उनके साथ जिनभक्त चेलिनी भी थी। जब उद्यान पास आ गया तब वे हाथी पर से उतर पड़े एवं जल्दी से वीरप्रभु के समवसरण में जा पहुँचे ॥२-१२॥

दर्शं दर्शं दयाधीशं नामं नामं स तत्पदम्। स्थायं स्थायं स्थिरं स्थाने शुश्राव श्रेयसः श्रुतिम् ॥१३॥
समुत्थाय ततो राजा गोतमं गौतमं गुरुम्। गुणाग्रण्यं प्रवन्द्यासावाचष्टे स्म धराधवः ॥१४॥
भगवन्नमितानेकनराधिप महामुने। आलोकं लोकितार्थस्ते ज्ञानालोको विलोकते ॥१५॥
अगम्यं न हि किंचित्ते वस्तुजालं महामते। त्वज्ज्ञानाब्धौ जगत्सर्वं जलबिन्दूयते यते ॥१६॥
त्वदायत्ता सदा विद्या सर्वलोकप्रदीपिका। यस्यां सर्वं जगन्नाथ नित्यशो गोष्पदायते ॥१७॥
ऋद्धयो वृद्धिसंबद्धा महर्षेश्च तवाधिप। बीजबुद्धिं प्रपन्नस्य मनःपर्यययोगिनः ॥१८॥
पदानुसारिता तेऽद्य परमावधिवेदिनः। सर्वार्थवेदिनी विद्या शोभते गगनेऽर्कवत् ॥१९॥
सर्वौषधिसमृद्धस्य पररोगापहारिणः। परोपकारिता ते क्व सर्ववाचामगोचरा ॥२०॥
चारणर्द्ध्या चरच्चारो विहायसि भवान्महान्। अवतो जीववृन्दानि क्व न ते परमा दया ॥२१॥
अक्षीणर्द्धिपदप्राप्तेरियत्ता न च विद्यते। ऋद्धीनां तव ताराणां प्रमाणं गगने यथा ॥२२॥
द्वापरो द्वापरे काले मम क्व व्यवतिष्ठते। त्वत्प्रसादात्किमाध्मातो वह्निः शोध्यं न शोधयेत् ॥२३॥
त्वमद्य परमो नाथस्त्वमद्य परमो गुरुः। त्वमद्य शरणं देव त्वमद्य परमो मुनिः ॥२४॥

वहाँ उन्होंने वीरप्रभु को जी भर देखकर बार-बार नमस्कार किया। बाद सबके सब अपने योग्य स्थान में जा स्थिर-चित्त हो बैठ गये और सबने ध्यान देकर धर्म का उपदेश सुना ॥१३॥

इसके बाद महाराज खड़े हुए और उन्होंने ज्ञानी गण-नायक गौतम गुरु की वन्दना कर उनका यों गुण-गान आरम्भ किया। भगवन्! आप महाभूति हैं। राजा-महाराजा सभी आपकी पूजा-स्तुति करते हैं। आपके ज्ञान-रूप आलोक में सभी पदार्थ एक साथ झलकते है, दीख पड़ते हैं। प्रभो आपके लिए कोई भी वस्तु अगम्य नहीं है क्योंकि आपका ज्ञान तो एक बड़े भारी समुद्र के बराबर है और यह सारा संसार उसमें एक बूँद की तरह है। हे नाथ! आपके पास वह उत्तम विद्या है जो सारे संसार पर अपना प्रकाश डालती है, उसमें यह सारा संसार हमेशा गाय के खुर के बराबर झलकता है तथा हे महर्षि! आप बहुत-सी वृद्धिंगत ऋद्धियों के धारक हैं, बीज ऋद्धि से युक्त और मनःपर्ययज्ञानी हैं, पादानुसारिणी ऋद्धि वाले और परमावधिज्ञान के धारक हैं। आप में सभी पदार्थों को जानने वाली विद्या है जो निर्मल आकाश में सूरज की भाँति शोभा पाती है। सभी जीवों के सभी रोगों को दूर करने वाली सर्वौषधिऋद्धि के आप स्वामी हैं और इसलिए कहा जाता है कि आपकी परोपकारिता वचनातीत है ॥१४-२०॥

आप चारणऋद्धि के बल से आकाश में चलते हैं और मार्ग के जीव-जन्तुओं की पीड़ा बचाते हैं, अतः आप परम दयालु-दया-स्तंभ हैं। इसके सिवा अक्षीण ऋद्धि भी आपको है। बहुत कहाँ तक कहें, आकाश के तारों की भाँति आपकी ऋद्धियों की कुछ गिनती नहीं है ॥२१-२२॥

कृपासिन्धु भगवन्! मुझे एक सन्देह है और साथ ही आशा तथा विश्वास है कि वह आपके प्रसाद से अब मेरे हृदय से निकल जायेगा, उसे अब मेरे हृदय में स्थान नहीं मिलेगा, जिस तरह जलती हुई आग से हर एक चीज का मैल निकल जाता है और उसमें फिर उसे स्थान नहीं पाता क्योंकि प्रभो! इस संसार में आप ही उत्तम हैं, सबके गुरु और आश्रय हैं, महामुनि, सर्वज्ञ-पुत्र और सर्वज्ञ शिष्य हैं।

सर्वज्ञपुत्र सर्वज्ञदेश्य सर्वज्ञवत्सल। त्वत्तः सर्वं बुभुत्सेऽहं नानालोकहितावहम् ॥२५॥
प्रसीद पुरुषश्रेष्ठ दयां कुरु दयापर। चरितं श्रोतुमिच्छामि पाण्डवानां कुरूद्भुवाम् ॥२६॥
पाण्डवाः कौरवाः ख्याताः क्षितौ क्षितिपसेविताः। कस्मिन्वंशे समुत्पन्ना वदेति च विदांवर ॥२७॥
कुर्वन्वयसमुत्पत्तिर्युगे कस्मिन्नजायत। के के नराश्च संजातास्तद्वंशे वसुधातले ॥२८॥
के के तीर्थंकरास्तीर्थ्याः सुतीर्थपथपण्डिताः। के के च चक्रिणो वंशे कुरूणां गुणगौरवे ॥२९॥
नाथात्र श्रूयते शास्त्रे परकीये कथान्तरम्। तद्वन्ध्यासुतसौरूप्यवर्णनाभं विभाति मे ॥३०॥
तथा हि शांतनो राजा युद्धार्थं क्वापि यातवान्। तत्र स्थितः स्वकामिन्या रजःकालं विवेद सः ॥३१॥
स्वरेतो रतिदानाय निषिच्य ताम्रभाजने। संमुद्रन्य तत्स भूमीशो बबन्ध श्येनकन्धरे ॥३२॥
स पत्री प्रेषितस्तेन स्वजायां प्रति सत्वरम्। अटन्पथि समायासीद्गङ्गोपरि सुलीलया ॥३३॥
तत्रान्यः श्येनको मार्गे दृष्ट्वा तं पत्रिणं रुषा। आयान्तं पातयामास छित्त्वा सुयुध्य ताम्रकम् ॥३४॥
मत्सीमुखेऽपतत्तच्च सरेतः स्थितिमाप च। पुनस्तज्जठरे गर्भो बभूव तत ऊर्जितः ॥३५॥
स्त्रीत्वं गतस्तदा भ्रूणः पूर्णे मासि कदाचन। मात्सिकेन च सा मत्सी दृष्टा लब्धा विदारिता ॥३६॥

हे सर्वज्ञ! आपसे मैं बहुत कुछ जानना चाहता हूँ और उससे और लोगों का भी हित होगा क्योंकि वह सबके लिए उपयोगी है। हे पुरुषोत्तम! प्रसन्न हो कर मुझ पर दया करो। दयानिधे! मैं कुरुवंश के दीपक पाण्डवों का चरित सुनना चाहता हूँ। सुना जाता है कि पाण्डव लोग कौरव थे और बहुत से राजा महाराजा उनके सेवक थे। इसमें मुझे यह सन्देह है कि वे कौन से वंश में पैदा हुए ? कुरुवंश किस युग में हुआ या चला ? इसके सिवा गुण और गौरव के धारक कुरुवंश में पृथ्वी पर कौन-कौन से प्रसिद्ध पुरुषों ने जन्म पाया ? और उस वंश में धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक और जगत्-पूज्य कौन-कौन तीर्थंकर और चक्रवर्ती उत्पन्न हुए ? ॥२३-२९॥

नाथ! अन्यमत के शास्त्रों में जो पाण्डवों का चरित पाया जाता हैं वह तो सर्वथा बांझ स्त्री के पुत्र की सुन्दरता का वर्णन है, मिथ्या है। उसमें कुछ भी सार नहीं है। सुनिए। काशी का शांतनु राजा कहीं युद्ध के लिए गया था। वहाँ उसे अपनी प्रिया के ऋतु समय की याद हो आई और उसने उसे रति-दान देने के लिए अपना वीर्य भेजने का विचार किया। उसने एक ताँबे का बर्तन मंगाया और उसमें वीर्य रखकर उसके मुँह पर अपने नाम की मुहर लगा दी तथा उसको एक श्येन पक्षी के गले में बाँधकर अपनी प्रिया के पास ले जाने के लिए पक्षी को काशी भेज दिया वह लीला मात्र में ही मार्ग को तय कर गंगा नदी के तट पर जा पहुँचा। उसे देखकर उस पर एक दूसरा श्येन पक्षी झपट पड़ा। दोनों की आपस में खूब छेड़-छाड़ हुई और परस्पर की नूँचा-नूँच में वह वर्तन उस पक्षी के गले से छूटकर गंगा में जा पड़ा और टूट-फूट गया ॥३०-३४॥

उसमें जो वीर्य था वह दैवयोग से एक मछली के उदर में चला गया, एवं उसके उदर में ठहर कर वह गर्भ के रूप में परिणत हो गया। तात्पर्य यह कि उस वीर्य से एक मछली गर्भवती हो गई। गर्भ के नौ महीने पूरे हो ही चुके थे कि दैवयोग से उस मछली पर एक दिन किसी धीवर की दृष्टि पड़

ततस्तज्जठरात्तूर्णं निर्गता मत्स्यगन्धिका। मत्स्यगन्धाख्यया ख्याता नारी पूतिकलेवरा ॥३७॥
दौर्गन्ध्याद्धीवरेणैषा गङ्गाकूले निवासिता। द्रोणीवाहनकृत्येन जीविता यौवनोन्नता ॥३८॥
कदाचिदृषिणा पारासरेण नावि संस्थिता। सा संगं संगिता भेजे भ्रूणं कर्मवशाल्लघु ॥३९॥
तेन योजनगन्धा सा दीर्घेणानेहसा कृता। सुतं व्यासाभिधं जज्ञे रूपिणं नयकोविदम् ॥४०॥
जन्मानन्तरतस्तूर्णं व्यासो वेदाङ्गपारगः। जनकान्तिकमापासौ तपोऽर्थं तपसावृतः ॥४१॥
शान्तनेन सुशान्तेन दृष्ट्वा योजनगन्धिका। उपयेमे सुतौ लेभे सा चित्रं च विचित्रकम् ॥४२॥
शान्तनोश्च सुवीर्येण जाता सा सुततामगात्। पुनर्विवाह्य सा तेन सुता जाया कथं कृता ॥४३॥
तौ च चित्रविचित्राख्यौ प्राप्तपाणिप्रपीडनौ। मृते तातेऽथ संप्राप्तराज्यौ तौ मृतिमापतुः ॥४४॥
राज्यस्थित्यर्थमानीतो व्यासो योजनगन्धया। राज्यस्य स्थितये तेन गर्ह्यं कर्म समावृतम् ॥४५॥
धृतराष्ट्रस्य चोत्पत्तिरन्धस्य व्यासतः कथम्। पाण्डोः कुष्ठाभिभूतस्य चोत्पत्तिस्तत एव हि ॥४६॥

गई। उसने उसे पकड़ कर चीर डाला। उस वक्त उसके गर्भ से एक लड़की हुई जो कि संसार में मत्स्यगंधा के नाम से प्रसिद्ध है। मत्स्यगंधा के शरीर से बदबू बहुत आती थी। इस कारण उस धीवर ने उसे नदी के तट पर ही वसा दिया था। वह वहीं रहती थी और नौका चला-चलाकर अपनी उदर पूर्ति किया करती थी। धीरे-धीरे वह युवती हुई ॥३५-३८॥

दैवयोग से एक दिन नौका में जाते हुए पाराशर ऋषि के साथ उसका समागम हो गया। उसने व्यास जैसे सुन्दर और वेद-वेदांग के ज्ञाता पुत्र को जन्म दिया। व्यास बालकपन में ही तप तपने के लिए अपने पिता पाराशर ऋषि के पास चले गये ॥३९-४१॥

एक दिन शांत-चित्त शांतनु राजा की दृष्टि उस मत्स्यगंधा के ऊपर जा पड़ी और वह उसके ऊपर निछावर हो गया तथा मोह के वश होकर उसने उसके साथ विवाह कर लिया। कुछ काल बाद शांतनु के सम्बन्ध से उसके दो पुत्र पैदा हुए। एक चित्र और दूसरा विचित्र। चित्र का ब्याह अंबा और विचित्र का ब्याह अंबिका के साथ हुआ। इन दोनों की अंबालिका नामक एक दासी थी। दैवयोग से थोड़े ही समय में शांतनु राजा का परलोक हो गया और चित्र-विचित्र दोनों भाई राज-पाट के मालिक हुए। काल की गति विकराल है। उस पर किसी का जोर नहीं चलता। वह दुष्ट कुछ ही काल में चित्र-विचित्र को भी निगल गया। इनके कोई सन्तान न थी, अतः राज-पाट सब सूना हो गया। तब मत्स्यगंधा ने राज-काज चलाने के लिए व्यास को बुलाया। वे आये और राज-पाट का सम्बन्ध पाकर उन्होंने भारी-भारी कुकर्म किये ॥४२-४५॥

वे कहने लगे कि गन्धिके! मेरी बात सुनो जो सभी के हित की है। वह यह कि यदि तुम्हारी दोनों वधुएँ और उनकी दासी मेरे आगे ही लज्जा छोड़कर नंगी निकल जायें तो वे अवश्य ही गर्भवती होगी या यों कि वे गर्भधारण करेंगी। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। तुम मेरी बात पर विश्वास रखकर ऐसा करो। गन्धिका ने वैसा ही किया और तीनों गर्भवती हो गई। धीरे-धीरे जब गर्भ के दिन पूरे हुए तब अंबा और अंबिका ने धृतराष्ट्र, अन्धक और कुष्ठ रोगी पाण्डु को जन्म दिया तथा अंबालिका ने

विदुरस्य पुनस्तस्मादुत्पत्तिः श्रूयते प्रभो। चित्रस्य च विचित्रस्य भार्यासु रक्तमानसात् ॥४७॥
गान्धारी गदिता साध्वी शतसंख्यैरजैः समम्। विवाह्य मारितैः पित्रा यदुवंशोद्भवेन च ॥४८॥
ते स्तभा मृतिमापन्ना भूतीभूतास्तया समम्। भोगसंयोगरङ्गाढ्या जातास्तत्कथमुच्यताम् ॥४९॥
ततस्तस्यां सुगर्भाणामुत्पत्तिः श्रूयते कथम्। देवैर्मनुष्यनारीणां संगमः किमु जायते ॥५०॥
गर्भोत्पत्तिस्ततस्तस्याः संजाताकर्ण्यते प्रभो। अपूर्णे मासि गर्भाणां तेषां पातः समाभवत् ॥५१॥
पतन्तस्ते पुनर्गर्भाः कर्पासे विनियोजिताः। रक्षितास्ते पुनः पूर्णे मासि पूर्णत्वमागताः ॥५२॥
दुर्योधनादयो जाताः कौरवास्ते महोन्नताः। गान्धार्यां धृतराष्ट्रेण पुनर्विवाहमङ्गलम् ॥५३॥
गोलकेन समं भाति चैतत्खपुष्पवर्णनम्। एनं पुराणपन्थानं कथं लोका हि मन्वते ॥५४॥
पाण्डुना गोलकेनापि श्वेतकुष्ठेन कुष्ठिना। कुन्ती मद्री च संप्राप्ता विवाहवरमङ्गलम् ॥५५॥
एकदा वरनारीभ्यां पाण्डुराखण्डलोपमः। मृगयायां मृगादीनां मारणाय वनेऽगमत् ॥५६॥
ते सज्जनाः सदा सन्तः सर्वजीवदयापराः। मृगयायां मृगान्घ्नन्ति चैतत्किं सांप्रतं प्रभो ॥५७॥
मृगीभूय वने तत्र तापसद्वन्द्वमुत्तमम्। सुरतक्रीडनासक्तं जघान पाण्डुपण्डितः ॥५८॥

विदुर को पैदा किया। भगवन्! अब कहिए कि जो यह सुना जाता है कि अंबा-अंबिका में आसक्त-चित्त व्यास से इनकी उत्पत्ति हुई, यह कहाँ तक सत्य हैं ? ॥४६-४७॥

गांधारी का सौ अज आदि राजाओं के साथ विवाह हुआ और फिर भी उसे सती कहा है, यह कहाँ तक ठीक है? तथा सुना जाता है कि अज आदि को उनके पिता यदुवंशी राजा भोजक-वृष्टि ने मार डाला तब वे मरकर भूत हुए और भूतपर्याय में ही उन्होंने गांधारी के साथ समागम किया। यह भी एक विचित्र बात है और प्रश्न उठता है कि क्या मनुष्यनी के साथ देव भी समागम करते है ? भारी अचम्भे की बात तो यह कि भूतों के समागम से उसने गर्भ भी धारण किया, पर उसका वह गर्भ अधूरे दिनों का ही गिर पड़ा। बाद वह कपास में रखकर बढ़ाया गया और नौ महीने पूरे हो चुकने पर उससे दुर्योधन आदि कौरवों की उत्पत्ति हुई ? इसके बाद गांधारी का गोलक (विधवा से उत्पन्न हुए जार-पुत्र) धृतराष्ट्र के साथ पुनर्विवाह हो गया। हे देव! यह सब कथा आकाश के फूल की प्रशंसा की भाँति निष्फल-व्यर्थ है। इसके कहने या सुनने से कुछ भी लाभ की आशा नहीं। पर न जाने लोग फिर भी ऐसी मनगढ़न्त कथा पर कैसे विश्वास करते हैं ॥४८-५४॥

सफेद कुष्ठ वाले और गोलक पाण्डु का विवाह कुन्ती और माद्री के साथ हुआ बताया जाता है। एक दिन इन्द्र के जैसी शोभा का धारक पाण्डु राजा अपनी दोनों भार्याओं को साथ लेकर वन में शिकार के लिए गया और उसने हिरण जैसे गरीब और मूक पशुओं को मारने का इरादा किया। हे प्रभो! यह बात बड़ी खटकती हैं कि कौरव लोग भारी दयालु और सज्जन थे, फिर भी वे दीन-हीन पशुओं को वध करने का इरादा करें यह उनका काम कहाँ तक उचित है ? उसी वन में दो तपस्वी मृग का रूप धर कर मैथुन-क्रिया में आसक्त चित्त हो रहे थे। इतने में बाण-विद्या-विशारद पाण्डु ने उन पर बाण छोड़ा। यहाँ यह शंका होती है कि क्या मनुष्य भी मृग का रूप बना सकते हैं? और एक धर्मात्मा

मृगत्वे हि मनुष्याणां योग्यता जायते कथम्। मृगादिमारणं राज्ञो धार्मिकस्य कथं भवेत् ॥५९॥
बाणेनापि मृगो विद्धो नृपेण मृतिमाप च। सुरती तत्स्त्रिया दत्तः शापो राज्ञ इति ध्रुवम् ॥६०॥
मन्नाथवत्तवापि स्याद्युवतीसंगमक्षणे। मृतिः कष्टेति संलब्धशापी भूपो बभूव च ॥६१॥
कुन्त्या कर्णेन संलब्धः कर्णः किं सूर्यसंगतः। नराः कर्णोद्भवा नाथ नेक्षिताश्च क्षितौ क्वचित् ॥६२॥
ततः कुन्ती सुधर्मेण सुरतासक्तमानसा। दधे गर्भं ततो लेभे युधिष्ठिरतनूद्भवम् ॥६३॥
वायुना जभिता कुन्ती लेभे भीमं भयातिगम्। मघोना मैथुनं प्राप्तार्जुनं चार्जुनसत्प्रभम् ॥६४॥
मद्री सन्मुद्रया युक्ता याश्विनेयसुरश्रिता। नकुलं सहदेवं च सा लेभे सद्गुणौ सुतौ ॥६५॥
कुण्डाश्च पाण्डवाः स्वामिन् संबोभुवति भूतले। कथं सत्पुरुषाणां च समुत्पत्तिर्वदेदृशी ॥६६॥
भीमो महाबली बुद्धः प्रज्ञापारमितः कथम्। दशमान्यन्नमाभुङ्क्ते स्वल्पाहारो महान्यतः ॥६७॥
गङ्गायाः सरितो जातो गाङ्गेयः कथमुच्यते। यदि नद्या मनुष्याणामुत्पत्तिः किं नराम्बया ॥६८॥

राजा मृग जैसे मूक पशुओं पर बाण चलाकर उन्हें दुख दे, यह कहाँ तक उचित कर्तव्य है ? उस बाण के द्वारा वेधा जाकर जब मृग मारा गया तब मृगी बहुत ही दुखी हुई और मैथुन-क्रिया में आसक्त-चित्त उस मृगी ने राजा को यह शाप दिया कि मेरे पति की तरह तुम भी अपनी प्रिया के साथ समागम करते समय ही काल के मुँह में जाओगे-मरोगे। इस शाप को सुनकर राजा को बहुत दुख हुआ और उसने उसी वक्त प्रतिज्ञा की कि मैं आज से जन्म भर स्त्री के साथ समागम ही नहीं करूँगा ॥५५-६१॥

भगवन्! और भी सुना जाता है कि सूरज के सम्बन्ध से कुन्ती ने अपने कर्ण द्वारा कर्ण को जन्म दिया, पर आज तक कहीं कान से पैदा हुए मनुष्य देखने में नहीं आये। तब कहिए यह कहाँ तक सम्भव बात है ? इसके बाद कुन्ती का सुधर्म के साथ समागम हुआ जिससे उसे गर्भ रहा और उसने युधिष्ठिर जैसे योद्धा पुत्र को जन्म दिया एवं कुन्ती ने वायु के समागम से निर्भय भीम और इन्द्र के समागम से अर्जुन (चाँदी) के समान प्रभा वाले अर्जुन को पैदा किया ॥६२-६४॥ इसी प्रकार रूप-श्री से युक्त माद्री ने भी आश्विनेय सुर के सम्बन्ध से नकुल और सहदेव को जन्म दिया। ये दोनों उत्तम गुणों के भण्डार थे। इन सबको किसी भी बात की कमी न थी। हे प्रभो! इस कहानी से जान पड़ता है कि पाण्डव लोग कुंड थे-सधवा से उत्पन्न हुए जार-पुत्र थे। अब बताइए कि ऐसे सत्पुरुषों की इस भाँति उत्पत्ति क्यों हुई ? यह बात सच्ची है या मिथ्या ? ॥६५-६६॥

भीम भारी बलवान्, समझदार और बुद्धि का सागर था तथा वास्तव में उसका आहार भी बहुत कम था, पर न जाने लोग क्यों कहते है कि भीम दस मानी अन्न रोज खाता था और भी सुनते हैं कि गांगेय ऋषि गंगानदी से पैदा हुए ? परन्तु हे नाथ! यहाँ यह तर्क उठता है कि नदियों से यदि मनुष्यों की उत्पत्ति होने लगे तो फिर कोई विवाह ही क्यों करेगा और घर-गृहस्थी के झंझट में ही काहे को फँसेगा ॥६७-६८॥

द्रौपदी रूपभूषाढ्या साध्वी शीलव्रतान्विता। पञ्चापि पाण्डवान्भ्रातॄन्कथं सेवेत सेवनी ॥६९॥
यदा युधिष्ठिरासक्ता सान्यान्सर्वांश्च पाण्डवान्। देवरान्सुतसंतुल्यान्कथं भुङ्क्ते पुनः शुभा ॥७०॥
यदान्यपाण्डवासक्ता पुनर्ज्येष्ठं युधिष्ठिरम्। पितृप्रायं कथं नित्यं भुङ्क्ते साधो विडम्बना ॥७१॥
एतत्सर्वं मुने भाति सिकतापीडनोपमम्। तैलार्थं च घृतार्थं वा यथा सलिलमन्थनम् ॥७२॥
शिलायां वापनं बीजरोहणार्थं वरं न हि। तथा परपुराणार्थो नाथ नार्थी भवेल्लघु ॥७३॥
गाङ्गेयस्य च माहात्म्यं गाङ्गेयसमसत्प्रभम्। द्रोणाचार्यबलाख्यानं ख्याहि भीमपराक्रमम् ॥७४॥
हरिवंशसमुत्पत्तिं द्वारावतीनिवेशनम्। हरेर्नेमेर्बलाख्यानं जरासन्धविनाशनम् ॥७५॥
कुरूणां पाण्डुपुत्राणां वैरं वैरस्य कारणम्। विदेशगमनं पाण्डुपुत्राणां पुनरागमम् ॥७६॥
द्रौपदीहरणं चैवावाचीदिङ्मथुरास्थितिम्। विष्णोश्च मरणे तेषामागमं नेमिसंनिधौ ॥७७॥

कहते हैं कि द्रौपदी बहुत ही सुन्दरी थी, सती थी, शील को अखण्ड पालती थी परन्तु फिर भी वह पाँचों पाण्डवों को भोगती थी। हे नाथ! कहिए कि जब वह सती थी तो उसके पाँच पति कैसे हो सकते हैं ? और कदाचित् हों भी तो ऐसी हालत में वह सती कहाँ रही ? यह बात परस्पर विरुद्ध है। दूसरी बात यह कि जब वह युधिष्ठिर के साथ कामासक्त होती थी उस समय और-और पाण्डव उसके देवर हुए, जो पुत्र के बराबर होते है। फिर वह उनके साथ कैसे रमती थी ? जब वह और-और पाण्डवों के साथ काम-क्रीड़ा करती थी उस वक्त युधिष्ठिर उसके जेठ हुए, जो कि पिता से कम नहीं होता। ऐसी हालत में वह युधिष्ठिर को कैसे भोग सकती थी। यह सब बड़े ही अचंभे की कहानी है ॥६९-७१॥

हे भगवन्! इस कथा को कहकर या सुनकर कुछ भी फल की इच्छा करना बालू को पेलकर तेल और जल को बिलोकर घी की इच्छा करना है। तात्पर्य यह कि जैसे बालू को तेल के लिए पेलना और पानी को घी के लिए बिलोना व्यर्थ है वैसे ही यह कहानी भी व्यर्थ का वाग्जाल है। इसमें कुछ भी सार और सच्चाई नहीं। तब इसको कहने या सुनने से फल की आशा ही क्या हो सकती है या यों कि जिस तरह फल की आशा कर शिला पर बीज बोना किसी काम का नहीं उसी तरह मनोरथ-सिद्धि की लालसा से ऐसी कथा बताने वाले पुराण को कहना या सुनना भी किसी प्रयोजन का नहीं ॥७२-७३॥

हे प्रभो! मेरे हृदय में कुछ और भी सन्देह उठ रहे हैं, अतः आपसे निवेदन है कि आप नीचे लिखी बातों को समझा कर उन्हें दूर कीजिए और संसार का हित कीजिए। १. गंगा के जल के समान-स्वच्छ गांगेय ऋषि का माहात्म्य, २. द्रोणाचार्य का पराक्रम, ३. भीम का पराक्रम, ४. हरिवंश की उत्पत्ति, ५. द्वारिकापुरी की रचना, ६. कृष्ण और नेमिनाथ का बल, ७. जरासंध का सत्तानाश, ८. कौरव और पाण्डवों का वैर, ९. तथा उनके वैर का कारण, १०. पाण्डवों का विदेश जाना और फिर वापस लौटना, ११. द्रौपदी का हरण, १२. उत्तर मथुरा की हालत, १३. कृष्ण का मरण होने पर पाण्डवों का

अटनं झटिति प्रायः पूर्वसर्वभवोद्भवम्। वर्णनं द्रौपदीपञ्चभर्तृलाञ्छनकालिकाम् ॥७८॥
दीक्षणं पाण्डुपुत्राणां शत्रुंजयसमागमम्। परीषहजयाख्यानं त्रयाणां केवलोद्गमम् ॥७९॥
निर्वाणार्थपथप्राप्तिं पञ्चानुत्तरवासिताम्। द्वयोरेतत्समाख्याहि सर्वं सार्वं शिवोद्यत ॥८०॥
इतीमां नृपतेः प्रश्नमालां संशीतिनाशिनीम्। सर्वजीवहितोद्युक्तां श्रुत्वा प्रोवाच सद्गणी ॥८१॥
तद्भाषाजलदो भव्यसस्यान्सिञ्चंश्च नर्तयन्। जजृम्भे जिततापार्तिः परमः शिष्यबर्हिणः ॥८२॥
तद्दन्तज्योत्स्नया सर्वान्सभ्यान्सच्छुभसंगतान्। क्षालयन्स चकास्ति स्म क्षालिताशेषकिल्विषः ॥८३॥
तेजसा सोऽपरं पीठं कुर्वन्सत्तेजसा वृतः। चकासे चेतनारूढः प्ररूढगुणसंपदः ॥८४॥
समीपस्थाः सुशिष्याश्च श्रुत्वा तं प्रश्नमुत्तमम्। हर्षोत्कण्ठितसर्वाङ्गा अजायन्ताप्तसत्क्षणाः ॥८५॥
अभाषन्त तदा सर्व ऋषयः सुरसत्तमाः। तत्पुराणं प्रसिद्धार्थमिच्छन्तः श्रोतुमञ्जसा ॥८६॥

नेमिनाथ स्वामी के पास आना, १४. पाण्डवों के पूर्वभव, १५. द्रौपदी का पंच भरतारीपने का कलंक, १६. पाण्डवों की दीक्षा, १७. पाण्डवों का शत्रुंजय पर्वत पर जाना, १८. वहाँ घोर परीषहों का सहना, १९. तीन पाण्डवों को केवलज्ञान होना और उनका मोक्ष जाना, २०. दो पाण्डवों का पंच अनुत्तर में अहमिन्द्र पद पाना। हे देव! इन प्रश्नों के समाधान को सुनकर सभी जीव सुखी होंगे, अतः हे सबके हितैषी और सबके हित के लिए तैयार रहने वाले प्रभो! आप इनका शीघ्र ही समाधान कीजिए क्योंकि आपको छोड़कर और कोई भी इन प्रश्नों को हल नहीं कर सकता। इस प्रकार वीरप्रभु की सभा में श्रेणिक महाराज ने बहुत से प्रश्न किये। उनके प्रश्न संदेह को मिटाने वाले और सबके हितकारी हैं ॥७४-८१॥

इसके बाद जब गौतम गुरु उत्तर में बोलने लगे तब संसार-ताप को दूर करने वाली उनकी दिव्यवाणी को सुनकर भव्य पुरुषों को बहुत आनंद हुआ, वे हर्ष से गद्‌गद् हो गये, जैसे सूरज के ताप को मिटाने वाले मेघों का निमित्त पाकर अन्न के खेत हरे-भरे हो जाते हैं। इसी तरह मेघ के शब्द को सुनकर मयूर की तरह शिष्य-गण भी उनकी वाणी को सुनकर नाचने लग गये। तात्पर्य यह कि उन्हें बहुत ही हर्ष हुआ। उस समय गौतम भगवान् के दाँतों की स्वच्छ किरणें जाकर सभी सभाजनों के ऊपर पड़ती थीं, अतः ऐसा जान पड़ता था कि वे स्वभाव से ही पवित्र-चित्त सभासदों को और भी पवित्र बना देने के लिए स्नान ही करा रही हैं। गौतम प्रभु निष्पाप पवित्र आत्मा थे, तेजस्वी थे, उनका तेज चारों ओर फैल रहा था। वे अपने तेज से घिरे हुए अपूर्व ही शोभा को धारण कर रहे थे। वे आत्म-स्वरूप में लीन और गुणों के भण्डार थे। गौतम गुरु के चारों तरफ जो और-और शिष्य-गण विराजे थे वे श्रेणिक राजा के प्रश्नों को सुनकर बहुत ही हर्षित हुए, कारण पाण्डवों के चरित को सुनने का उन्हें अच्छा मौका आ मिला था तथा वहाँ जो देवतों द्वारा पूजे जाने वाले और-और ऋषि-गण बैठे थे वे महाराज के प्रश्नों को सुनकर कहने लगे कि प्रसिद्ध पाण्डव पुराण को सुनने की हमारी बहुत दिनों से इच्छा थी, आशा है कि वह अब पूरी हो जायेगी ॥८२-८६॥

राजन्मगधनीवृत्य नाशिताशेषशात्रवः। सद्दृष्टे मिष्टवाक्यौघ भविष्यत्तीर्थकारक ॥८७॥
अनुयोगः कृतो यस्तु त्वया सद्दृष्टिचेतसा। सोऽस्माकं प्रीतिदः पुण्यपाकोद्भूतिसुकारकः ॥८८॥
अस्माकं मतमेतद्धि पुराणार्थोद्यतात्मनाम्। यत्पुराणनराणां भो पुराणं श्रूयते शुभम् ॥८९॥
अस्माकं संशयध्वान्तध्वंसाद् ब्रध्नायसे नृप। गुणगौरवदानेन गुरूणां त्वं गुरूयसे ॥९०॥
हितकृच्च हितार्थानां प्रश्नात्वं सर्वदेहिनाम्। मिथ्यारोगविनाशेन सदा वैद्यायसे स्फुटम् ॥९१॥
पाण्डवानां पुराणार्थं श्रोतुकामा वयं पुरा। स एव भवता पृष्टः केषां हर्षाय नो भवेत् ॥९२॥
पुराणश्रवणाश्रेयः श्रूयते जिनशासने। त्वत्तस्तच्छ्रवणं नूनं भविता भवनाशनम् ॥९३॥
भरताद्याः पुरा जाता भारते भरतेश्वराः। पुराणश्रवणात्प्राप्ता देशावधिमहाविदम् ॥९४॥
विष्णुर्नेमिसभायां च पुराणं पुण्यदेहिनाम्। आकर्ण्याशु बबन्धात्र तीर्थकृत्त्वं सुतीर्थकृत् ॥९५॥
त्वमपि प्राप्य वीरेशं निशम्यागमसत्कथाम्। भवितात्र महापद्मः प्रथमस्तीर्थनायकः ॥९६॥
अत एव पुराणार्थं पावनं त्वत्प्रसादतः। श्रोष्यामः सिद्धये सत्यं गुणिसंगाद् गुणो भवेत् ॥९७॥
अगण्यगुणगौरत्वं वात्सल्यं जिनशासने। साधर्मिकमहास्नेहो विद्यते भूपते त्वयि ॥९८॥

राजन्! आपने मगध देश के बहुत से शत्रुओं की जीत लिया है, आप सम्यग्दर्शन से युक्त और मिष्टभाषी हैं तथा भावी तीर्थंकर हैं। आपके प्रश्नों को सुनकर हमें बहुत खुशी हुई और हमारे पुण्योदय की भी उद्भूति हुई। हमारी बहुत इच्छा थी कि हम पुराण-पुरुषों के पुराण को सुने और वह पुराण आज हम सुन रहे हैं। इसके सिवा और क्या खुशी की बात होगी। राजन्! आपने हमारे सन्देह रूप अँधेरे को हटा दिया, इसलिए आप सूरज हैं, आपने हमारे गुणों को गौरव दिया, अतः आप गुरु से भी गुरु हैं, अपने हित चाहने वाले पुरुषों के हित का प्रश्न किया, इसलिए आप हितैषी हैं और जीवों के मिथ्यात्व-रोग को दूर करते हैं, इसलिए परोपकारी सच्चे वैद्य हैं। जिनधर्म में कहा है कि पुराणों को सुनने से आत्मा का कल्याण होता है ॥८७-९२॥

इस समय लोग इस पुराण को आपके निमित्त से सुन ही रहे हैं। तब यही कहना होगा कि हमारा कल्याण करने वाले हैं-संसार की सत्ता नाश करने वाले हैं। इस भारत वर्ष में पहले भरत आदि बहुत से इसके स्वामी हो गये हैं। उन्होंने पुराण को सुनकर देशावधि नाम महान् ज्ञान को पाया था। कृष्ण नारायण ने नेमिनाथ भगवान् की सभा में पुराण पुरुषों के चरित को सुनकर उसी समय तीर्थंकर नामकर्म को बाँधा था, जिसके प्रभाव से वे धर्म-तीर्थ को चलाने वाले तीर्थंकर भगवान् होंगे और उसी तरह आप भी आज वीरप्रभु की सभा में आगम में कही हुई सत्कथाओं को सुन रहे हैं, अतएव आप भी आगे उत्सर्पिणी काल में महापद्म नाम प्रथम तीर्थंकर होंगे। यह सब पुराण पुरुषों की कथा कहने या सुनने का ही प्रभाव है। राजन्! अब देखो कि हम भी तुम्हारे निमित्त से इस पवित्र पुराण को सुनते हैं और आशा है कि हमारे मनोरथ की भी सिद्धि होगी। सच है गुणी पुरुषों की संगति से गुणों का लाभ होता ही है। राजन्! आपमें अगणित गुण है और वे सभी-के-सभी गौरव-युक्त हैं। जिनागम में आपका अटूट प्रेम है। आप धर्मात्मा और धर्मात्माओं के साथ गाय-बछड़े की भाँति प्रीति रखने वाले

त्वत्समो न गुणी भूपो दृष्टो नैव च दृश्यते। गुणज्ञता जगत्पूज्या गुणी सर्वत्र मान्यते ॥९९॥
इति प्रशंसयामासुर्भूपालं ते महर्षयः। मणिवद् गुणतो मान्यो महतां लघुरप्यहो ॥१००॥
ततो गम्भीरया वाचा वाग्मी विद्वज्जनैर्नुतः। गौतमो गणभृद्गम्यो जगाद जगतां गुरुः ॥१०१॥
साधु साधु त्वया पृष्टं श्रेणिक श्रुतिकोविद। व्याख्यास्यामि क्षितौ ख्यातं यत्पृष्टं तत्समासतः ॥१०२॥
भरतेऽत्र महीपाल भोगभूमिस्थितिक्षये। पल्यस्य चाष्टमे भागे तृतीयस्याप्यनेहसः ॥१०३॥
उद्धृते मनवो जाताश्चतुर्दश दिगीश्वराः। अनेककुलकर्तारः कलाकलापकोविदाः ॥१०४॥
प्रतिश्रुत्प्रथमस्तत्र सन्मतिर्द्वितीयो मतः। क्षेमंकरः क्षेमधरः सीम्नः करधरौ स्मृतौ ॥१०५॥
विपुलाद्वाहनश्चक्षुष्मान्यशस्व्यभिचन्द्रकः। चन्द्राभो मरुदेवश्च प्रसेनजित्त्रयोदशः ॥१०६॥
चतुर्दशस्तु नाभीश एते कुलकरा मताः। हा मा धिक्कारदण्डैश्च स्वपदापन्निवारकाः ॥१०७॥
नाभिना मरुदेवी च संप्राप्ता पाणिपीडनम्। तदेन्द्रेण सुवासार्थमयोध्यापूस्तयोः कृता ॥१०८॥
इन्द्राज्ञया जिनेशेऽत्रावतरिष्यति वर्षणम्। षण्मासे किन्नरेशानो रत्नानां विदधे वरम् ॥१०९॥

हैं। आपके समान गुणों राजा न तो देखा और न इस समय देख ही पड़ता है। सच है गुणज्ञता को सभी पूजते हैं और गुणी का सब जगह आदर होता है। इस प्रकार उन महर्षियों ने महाराज की खूब ही प्रशंसा की। सच है मणियों के समागम से सूत की तरह गुणों के निमित्त से छोटा-सा पुरुष भी बड़े-बड़े महात्माओं द्वारा गण्य-मान्य हो जाता है ॥९३-१००॥

इसके बाद विद्वानों द्वारा पूजे जाने वाले और जगत् के गुरु वाचस्पति गौतम गणधर अपनी गंभीर ध्वनि से कहने लगे कि श्रेणिक महाराज! तुमने बहुत अच्छी शंका पूछी। हे शास्त्र-विशारद! तुमने जो संसार-प्रसिद्ध बात पूछी है उसको अब हम थोड़े में कहते है। तुम सावधान चित्त हो कर सुनो ॥१०१-१०२॥

इस भरत क्षेत्र में पहले भोगभूमि थी और कल्पवृक्षों के निमित्त से लोगों का मन चाहे आराम से काल गुजरता था। पर धीरे-धीरे जब भोग-भूमि का क्षय आने लगा और तीसरे काल का पल्य का कुल आठवाँ भाग काल बाकी रह गया तब चौदह कुलकर उत्पन्न हुए। वे दिगीश्वर थे अर्थात् यद्यपि तेरह कुलकरों का राजा-प्रजा का कुछ भी सम्बन्ध न था, पर तो भी लोगों में वे मुख्य गिने जाते थे। वे बहुत-सी कला-चतुराईयों को जानते थे और उन्होंने अनेक कुलों की व्यवस्था की थी। उनके नाम थे-प्रतिश्रुत, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विपुलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित् तथा नाभिराज। इन्होंने हा, मा और धिक् इन तीन दंडों को नियत किया था और इन्हीं के द्वारा लोगों पर हिंसक जन्तुओं आदि के निमित्त से जो आपत्तियाँ आती थीं उन्हें ये दूर करते थे ॥१०३-१०७॥

चौदहवें कुलकर नाभिराजा का ब्याह मरुदेवी के साथ हुआ। इसी समय से इनके रह ने के लिए इन्द्र ने आकर अयोध्या नगरी की रचना की और कुबेर को आज्ञा की कि यहाँ पर भगवान् आदिनाथ जन्म लेंगे, इसलिए तुम अभी से यहाँ रत्नों की बरसा करो। इन्द्र की आज्ञा को शिरोधार्य कर कुबेर

सर्वार्थसिद्धितो देवश्च्युत आषाढकृष्णके। द्वितीयायां तदा गर्भे दधे देवीसुशोधिते ॥११०॥
षट्पञ्चाशत्कुमारीभिः सेव्यमाना मुहुर्मुहुः। गर्भेण शुशुभे सापि मणिनाकरभूमिवत् ॥१११॥
नवमासेष्वतीतेषु सा सूते स्म सुतं शुभम्। चैत्रकृष्णनवम्यां तु शुक्तिका मौक्तिकं यथा ॥११२॥
जातमात्रः सुरेन्द्राणां कम्पयामास सज्जिनः। विष्टराणि न को वेत्ति महतां चरितं भुवि ॥११३॥
तज्जन्मक्षणसंक्षुब्धाः क्षणेन जिष्णवोऽखिलाः। आगत्य जन्मकल्याणं विदधुर्धृतिमागताः ॥११४॥
इन्द्र ऐरावणारूढो नानासुरसमन्वितः। स्थित्वा नाभ्यालयद्वारि वरिष्ठारिष्टसद्मनि ॥११५॥
शचीं शुचिसमाकारां प्रेषयामास मानिताम्। जिनं गुणघनं कम्रं समानेतुं स्वभक्तितः ॥११६॥
जिष्णुजाया गता तत्र प्रच्छन्नाङ्गी जिनेश्वरम्। शयनीये समालोक्य निजाम्बासहितं नता ॥११७॥
तुष्टाव तुष्टिसंपुष्टा विशिष्टेष्टगुणं जिनम्। सा शची हर्षपूर्णाङ्गी गुणगौरवसन्मतिः ॥११८॥
जिनाम्बां संनियोज्याशु शाम्बरीनिद्रया तदा। शिशुं मायामयं चान्यं मुक्त्वा जग्राह तं जिनम् ॥११९॥

ने वहाँ बराबर पंद्रह महीने रत्नों की बरसा की तथा देवियों ने आकर गर्भशोधन आदि क्रियाएँ कीं। इसी समय सर्वार्थसिद्धि नाम विमान से एक देव चयकर आषाढ़ वदि दोज के दिन मरुदेवी के गर्भ में आया। भगवान् को गर्भ में धारण किये हुए मरुदेवी ऐसी जान पड़ती थी मानों रत्नों को भीतर रखने वाली पृथ्वी ही है। तात्पर्य यह कि वह उस वक्त रत्नों की खानि की तरह शोभती थी। भगवान् की माता मरुदेवी की छप्पन देवकुमारियाँ सदा काल सेवा करती थीं। उनका काल अमन-चैन के साथ बीतता था। जब आसानी से नौ महीने पूरे हो गये तब उन्होंने चैत सुदि नौमी के दिन भगवान् आदिनाथ प्रभु को जन्म दिया, जैसे सीप अमूल्य मोतियों को पैदा करती है। आदिनाथ प्रभु का जन्म सबको शुभ-कल्याण का निमित्त हुआ ॥१०८-१११॥

भगवान् का जन्म होते ही देवताओं के सिंहासन हिल गये-उनके वहाँ हल-चल मच गई। सच है सत्पुरुषों के चरित की सभी को सूचना मिल जाती है। इसके बाद अवधिज्ञान द्वारा भगवान् का जन्म जानकर देवता-गण उसी वक्त स्वर्ग से चलकर थोड़ी ही देर में अयोध्या नगरी में आ पहुँचे। वहाँ आकर सभी देवता-गण और ऐरावत हाथी पर चढ़ा हुआ इन्द्र तो नाभिराजा के महल के द्वार पर खड़ा रह गया और सुन्दर रूप की सीमा मानिनी इन्द्राणी को उसने मनोहर प्रसूति-गृह में भगवान् को ले आने के लिए भेजा ॥११२-११५॥

भक्तिभाव से भरी हुई इन्द्राणी गुप्तरूप से भीतर गई और वहाँ उसने गुणों के भण्डार और मनोहर आदिनाथ प्रभु को एक अनोखी शय्या पर लेटे हुए देखा। उसने माता-सहित उन्हें नमस्कार किया। उत्तम और इष्ट गुणों के पुंज भगवान् को देखकर इन्द्राणी का हृदय बहुत ही सन्तुष्ट हुआ। हर्ष के मारे उसका सारा शरीर रोमांचित हो गया ॥११६-११७॥

उसने भगवान् के गुणों के गौरव को अच्छी तरह समझा इसके बाद वह भगवान् की माता को माया की नींद में सुलाकर और उनके पास माया-मय बालक को लिटाकर आप प्रभु को लेकर बाहर

सुदुर्लभं तदासाद्य तद्गात्रस्पर्शमाशु सा। जहर्ष हृष्टचेतस्का तदाननविलोकनात् ॥१२०॥
विडौजसः करेऽधात्त[१] बिडौजःप्राणवल्लभा। प्राचीवोदयशैलस्य शृङ्गे बालार्कमुक्तमम् ॥१२१॥
ततः सुरैः समं श्रीमान्सुरेन्द्रः शिशुसंयुतः। अगान्मेरुगिरेः शृङ्गं नानावाद्यकृतोत्सवः ॥१२२॥
पाण्डुके पाण्डुकायां स बिडौजा बहुभिः सुरैः। शिलायां विष्टरे बालं रोपयामास तं मुदा ॥१२३॥
ततः क्षीराब्धितः क्षुब्धादानीतार्जुनसत्कुटैः। सहस्रसंख्यैः सजलैः शक्रो ह्यस्नापयज्जिनम् ॥१२४॥
स्नापयित्वा जिनं स्तुत्वा कृत्वा भूषणभूषितम्। योजयामास तं भक्त्या वृत्रहा वृषभाख्यया ॥१२५॥
समाप्य जन्मकल्याणं समारोप्य गजोत्तमे। शतयज्वा यजन्बालमाजगाम पुरं वरम् ॥१२६॥
नाभिपार्श्वस्थितां चार्वीं मरुदेवीं महादराम्। ददर्श मघवा मानी मायानिद्रावियोजिताम् ॥१२७॥
नत्वा नाभिं ददौ तस्यै बालं बालार्कसंनिभम्। कथां स कथयामास मेरुजां नामजां पुनः ॥१२८॥
ननाट नाटकैर्नाट्यं नटीनटशतोत्कटः। विकटं सुघटं शक्रः शचीभिः सहितः सुखी ॥१२९॥
निवेद्य रक्षणे रक्षान्समक्षं जिनपस्य वै। शतयज्वा ययौ नाकं गृहीत्वाज्ञां नरेशिनः ॥१३०॥
ववृधे वृद्धिसंपन्नः समृद्धो बोधनत्रयैः। विबुधैः सेव्यपादोऽसौ कुमारत्वं समासदत् ॥१३१॥

चली आई। इस वक्त भगवान् के शरीर का अत्यन्त दुर्लभ स्पर्श कर और उनके मुख कमल का दर्शन कर इन्द्राणी को असीम हर्ष हुआ। उसने भगवान् को बाहर लाकर इन्द्र के हाथों में सौंप दिया। उस वक्त प्रभु ऐसे जान पड़े मानों पूर्व दिशा में उदयाचल पर उदय को प्राप्त हुए सूरज ही हैं। इसके बाद श्रीमान् सुरेन्द्र देवता-गण के साथ-साथ बालक प्रभु को लेकर गाजे-बाजे के साथ खूब उत्सव करता हुआ सुमेरु पर्वत के शिखर पर जा पहुँचा। वहाँ पाण्डुकवन की पाण्डुक शिला पर-जो अनादि कालीन सिंहासन है बहुत से देवों के साथ-साथ इन्द्र ने आदि प्रभु को विराजमान किया ॥११८-१२३॥

इसके बाद देवता-गण जल लाने को क्षीरसागर गये, जिससे उसमें हलचल मच गई। वहाँ से वे सोने के एक हजार कलश भर कर लाये। उन कलशों के द्वारा इन्द्र ने भगवान् को स्नान कराया और उन्हें दिव्य वस्त्राभूषण पहना कर उनकी भारी भक्ति-स्तुति की और प्रभु का ऋषभ नाम रक्खा। इस प्रकार जन्म कल्याणक को पूराकर सुरेन्द्र प्रभु को गजोत्तम ऐरावत हाथी पर सवार कर उनकी पूजा-भक्ति करता हुआ अयोध्या पुरी में ले आया ॥१२४-१२६॥

वहाँ आकर उसने माया-निद्रा से रहित मरुदेवी को-जो कि नाभिराजा के पास बैठी हुई थीं-बड़ी भारी आदर की दृष्टि से देखा और नाभिराजा को नमस्कार कर बाल-सूरज श्री आदिप्रभु को माता की गोद में दे दिया। इसके बाद उसने सुमेरु पर्वत की सारी कथा कह सुनाई और भगवान् का जो नाम रक्खा था वह भी बताया। इसके बाद सैकड़ों नटी-नटों से भी उत्तम नृत्य करने वाले इन्द्र ने आनन्द में आकर इंद्राणी के साथ-साथ खूब ही नृत्य किया और प्रभु की सेवा-सँभाल करने को चतुर-चतुर देवताओं को वहीं छोड़कर, नाभिराजा की आज्ञा लेकर वह स्वर्ग चला गया ॥१२७-१३०॥

भगवान् के चरण कमलों की देवता-गण हमेशा भारी भक्ति से सेवा करते थे। प्रभु तीन ज्ञान

---

१. स करे धत्ते।

क्रमेण यौवनोद्भासी भासिताखिलदिक्चयः। वृषभो वृषभो भाति भूरिभव्यपरिष्कृतः ॥१३२॥
इन्द्रेण नाभिभूपेन यशस्वत्या सुनन्दया। जिनेशः कारयामास सबुधः पाणिपीडनम् ॥१३३॥
कल्पवृक्षक्षये क्षीणास्तावता सकलाः प्रजाः। अभ्येत्य नाभिभूपालं पूत्कुर्वन्ति स्म सस्मयाः ॥१३४॥
राजन् राजन्वतीं कुर्वन्वसुधां वसुधातले। क्षीणाः क्षुधा समाक्रान्ता वयं भोज्यं विना प्रभो ॥१३५॥
कल्पवृक्षाः क्षयं क्षिप्रं संयाता जनकोपमाः। इदानीं तदभावे हि किं विधास्याम उत्सुकाः ॥१३६॥
निशम्य मतिमान्वाचं कृपणां कृपणात्मनां। नाभिः संप्रेषयामास नाभिजं तान्सुशिक्षितान् ॥१३७॥
अभ्येत्य नाभिजं भक्त्या विज्ञप्तिं युक्तिसंगताम्। चक्रुः क्षुधाभराक्रान्ता नम्रा नम्रमुखा नराः ॥१३८॥
देव देवेशसंस्तुत्य त्वद्गर्भोत्सवसंक्षणे। क्षणेन त्रिदशैः क्लृप्ता हेमवृष्टिः सुवृष्टिवत् ॥१३९॥
तया न विद्यते विद्वन् दारिद्र्यं क्व गतं नृणाम्। इदानीं च क्षुधा नाथ यथा याति तथा कुरु ॥१४०॥
त्वदाज्ञापालकाः पुण्याः सुपर्वाणः सुपावनाः। अतः किं दुर्लभं देव वर्तते तव सांप्रतम् ॥१४१॥

के स्वामी थे। धीरे-धीरे कुछ समय बीत जाने पर प्रभु ने कुमार अवस्था में पैर रखा और क्रम से जब वे यौवन अवस्था में आये उस समय उनके तेज से दशों दिशाएँ प्रकाश-मय हो गई। भगवान् का जीवन धर्ममय था, अतः वे हमेशा भव्य जीवों से घिरे रहते थे। कुछ समय के बाद प्रभु ने इन्द्र और नाभिराजा की प्रेरणा से यशस्वती और सुनंदा के साथ ब्याह किया ॥१३१-१३३॥

प्रभु का समय बड़े सुख से बीतने लगा। इसी समय प्रजा पर भारी कष्ट आकर उपस्थित हुआ। धीरे-धीरे सब कल्पवृक्ष नष्ट हो गये। यह देख लोगों को बहुत अचंभा हुआ और वे जीविका के बिना दुखी होकर नाभिराजा के पास आये तथा उनसे निवेदन करने लगे कि राजन्! हम लोग खाने-पीने के बिना बहुत दुखी हो रहे हैं। देखिए, हमारे शरीर कितने कृश हो गये हैं और हमारे हृदय में एक भारी हलचल-सी मच रही है। इसलिए हम सब आपसे विनती करते हैं कि आप हमारे दुखों को दूर कर हमें सुखी बनाइए। हे नाथ! जो कल्पवृक्ष हमें पिता की भाँति पालते-पोसते थे, वे न जाने क्यों हमारे देखते-देखते ही बिला गये। उनके बिना अब हम लोग बहुत ही दुखी हो रहे हैं-हमें जीविका का कुछ भी उपाय नहीं सूझता ॥१३४-१३६॥

उन दीन-दुखी जीवों की पुकार को सुनकर बुद्धिशाली नाभिराजा ने उन्हें बहुत कुछ समझाया-बुझाया और बाद आदिनाथ भगवान् के पास भेज दिया। भूख के मारे वे मुरझा रहे थे, शर्म के मार से उनके मस्तक नीचे को झुक गये थे। वहाँ से चलकर वे भगवान् के पास आये और भगवान् को उन्होंने अपनी सारी कहानी कह सुनाई ॥१३७-१३८॥

उन्होंने कहा कि हे देव! हे देवेश और संस्तुत्य! आपके गर्भोत्सव के समय देवताओं ने मूसलाधार जल की बरसा की भाँति रत्नों की बरसा की थी, जिससे उस वक्त हम लोगों को अपनी दरिद्रता का कुछ भान न हुआ था। वह अब न जाने कहाँ चली गई। हे नाथ! इस समय आप कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे हमारी भूख भाग जाये और हम सब सुखी हो जायें। प्रभो! पुण्यात्मा और

सति त्वयि मरिष्यामस्तव देव कृपा कथं। अतः पाहि पवित्रास्मान्क्षुधार्त्तान् क्षीणविग्रहान् ॥१४२॥
तेषां दीनं वचः श्रुत्वा दयावान्भगवानभूत्। दीनान्दृष्ट्वा हि कस्यात्र दया नो जायते लघु ॥१४३॥
उवाच वृषभो धीमान्कृपया कृपणान्प्रति। महीरुहा महीपृष्ठे मह्यन्ते महितैर्गुणैः ॥१४४॥
ते भोज्याः खल्वभोज्याश्च वर्तन्ते विविधा द्रुमाः। तत्र तान्प्रथमान्भोज्यानाद्रियन्ते नरोत्तमाः ॥१४५॥
वृक्षा वल्लयस्तृणान्येव सुवनस्पतयोऽखिलाः। भोज्याभोज्यादिभेदेन भिद्यन्ते विबुधा जनाः ॥१४६॥
रसाला लाङ्गलीवृक्षा जम्बीरा जम्बवस्तथा। राजादनाश्च खर्जूराः पनसाः कदलीद्रुमाः ॥१४७॥
मातुलिङ्गा मधूकाश्च नारङ्गाः क्रमुकास्तथा। तिन्दुकाश्च कपित्थाश्च बदर्यश्चिञ्चिणीद्रवः ॥१४८॥
भल्लातक्यश्च चार्वाद्या भोज्या ज्ञेयाश्च श्रीफलाः। वल्लयस्तु गोस्तनीमुख्याः कुष्माण्डिन्यश्च चिर्भटाः ॥१४९॥
इत्याद्या बहवो वल्लयो भोज्याश्चान्याः पराः स्मृताः। व्रीहयः शालयो मुद्गा राजमाषाश्च माषकाः ॥१५०॥
गोधूमाः सर्षपाश्चैलास्तिलाः श्यामाककङ्गवः। कोद्रवाश्च मसूराश्च वल्लाश्च हरिमन्थकाः ॥१५१॥
यवा धानास्त्रिपुटका आढकाश्च कुलत्थकाः। वेणवा वनमुद्गाश्च नीवारप्रमुखा इमे ॥१५२॥
धान्यभेदाः सदा भोज्या भोजने क्षुद्विहानये। पचनं भाण्डभेदाश्च दर्शितास्तेन धीमता ॥१५३॥
असिर्मषी कृषिर्विद्या वाणिज्यं पशुपालनम्। एवं षट्कर्मसंघातं वृषभस्तानुपादिशत् ॥१५४॥

पवित्र देवता-गण भी जब आपकी आज्ञा को मानते हैं-शिरोधार्य करते हैं तब फिर इस वक्त आपको दुर्लभ ही क्या है। यदि आप चाहें तो एक क्षण में ही हमें धन-दौलत से सुखी बना सकते हैं। देव! यदि आपके होते हुए भी हम लोग मर गये तो आपकी दयालुता कहाँ रहेगी! इसलिए हे पवित्र! आप हमारी रक्षा करो, हमें बचाओ। भूख के मारे हम लोगों के शरीर बहुत कृश हो गये हैं-प्राण निकलते हैं। उनके दीन वचनों को सुनकर प्रभु का हृदय दया से भर आया। सच है गरीबों को देखकर सभी को दया आ जाती है ॥१३९-१४३॥

इसके उत्तर में तीन ज्ञान के धारक प्रभु ने कहा कि पृथ्वी पर अनेक जाति के वृक्ष हैं और उनमें अनेक प्रकार के गुण हैं। तुम लोग उनको उपयोग में लाओ। वृक्षों में कुछ तो खाने के काम के हैं और कुछ नहीं भी हैं। इसलिए तुम लोग पहले उन वृक्षों का आदर करो जो तुम्हारे खाने के काम के हैं और ऐसा ही उत्तम पुरुष करते हैं। देखो, वृक्ष, बेल और तृण ये तीन वनस्पतियाँ है और इन्हीं के खाने योग्य और न खाने योग्य ऐसे दो भेद हैं। वृक्षों में नीचे लिखे वृक्ष आदि खाने के योग्य हैं। उनके नाम सुनो-आम, नालिकेर, नीबू, जाँबू, केला, बिजौरा, मधुपुष्प, नारंगी, कमरख, तैंदू, कैथ, बेर, आँवला, चारोली, श्रीफल इत्यादि वृक्ष, दाख, कुष्मांडी और चिर्भटा इत्यादि लताएँ, ब्रीहि, शालि, मूँग, राजमाष, उड़द, गेहूँ, सरसों, कोदों, मसूर, चना, जौ, धान, तुअर इत्यादि अन्न-भूख को दूर करने के लिए इन चीजों को काम में लाना चाहिए। अन्न के भेदों को समझा कर प्रभु ने उनके पकाने की विधि बताई और मिट्टी आदि के बर्तनों से काम लेना बताकर उनके भेद बताये ॥१४४-१५३॥

असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और पशुपालन इन छह कार्यों का भी भगवान् ने उपदेश

भरतादिसुपुत्राणां शतैकं शास्ति शिक्षया। स ब्राह्मीसुन्दरीपुत्र्यौ लेभे लब्धकलागुणे ॥१५५॥
सुमुहूर्तेऽथ शक्रेण नाभिर्देवं वरासने। संरोप्य स्थापयामास राज्ये प्राज्ये प्रजाहिते ॥१५६॥
ततो देवश्च देवेशं देशस्थापनहेतवे। आदिदेश विदां मान्यो विदेह इव भारते ॥१५७॥
नीवृतः कोशलाद्याश्च निर्मितास्तेन धीमता। ग्रामो वृत्यावृतो रम्यपुरं शालेन संवृतम् ॥१५८॥
नद्यद्रिवेष्टितं खेटं कर्वटं पर्वतैर्वृतम्। ग्रामपञ्चशतोपेतं मटम्बं मण्डितं जनैः ॥१५९॥
पत्तनं बहुरत्नानां योनीभूतं महोन्नतम्। सिन्धुसागरवेलाभिर्युतं द्रोणं मतं जनैः ॥१६०॥
वाहनं पर्वतारूढमेवं भेदाः प्रतिष्ठिताः। वर्णास्त्रयो वरास्तेन क्षत्रिया वैश्यसञ्ज्ञकाः ॥१६१॥
शूद्रा अशुचिसंपन्नाः स्थापिताः सद्धिया इमे। एवं च निर्मिते वर्णे क्षात्रभेदमतः शृणु ॥१६२॥
क्षत्रियाणां सुगोत्राणि व्यधायिषत वेधसा। चत्वारि चतुरेणैव राजस्थितिसुसिद्धये ॥१६३॥
सुवागिक्ष्वाकुराद्यस्तु द्वितीयः कौरवो मतः। हरिवंशस्तृतीयस्तु चतुर्थो नाथनामभाक् ॥१६४॥
कौरवे कौरवे वंशे राजानौ रम्यलक्षणौ। प्रवरौ सोमश्रेयांसौ स्थापितौ वृषभेशिना ॥१६५॥
अथ नीवृन्महाख्यातः कुरुजाङ्गलनामभाक्। नानारम्यगुणोपेतो भाति भूमण्डले भृशम् ॥१६६॥

किया। इसके बाद प्रभु ने भरत आदि अपने एक सौ एक पुत्रों को शिक्षा दी और ब्राह्मी, सुन्दरी इन दोनों पुत्रियों की भाँति-भाँति की कलाएँ सिखाईं ॥१५४-१५५॥

इसके बाद शुभ मुहूर्त में इन्द्र के साथ-साथ नाभिराजा ने प्रभु को प्रजा के हित के लिए उत्तम राज-सिंहासन पर बैठाकर उनका राज्याभिषेक किया। राज-पाट को सँभालते ही विद्वानों द्वारा पूजे जाने वाले प्रभु ने इन्द्र को आज्ञा दी कि तुम विदेह की भाँति यहाँ भी देशों की रचना करो ॥१५६-१५७॥ प्रभु की आज्ञा पाते ही इन्द्र ने कौशल आदि देशों की रचना की और उनकी नीचे लिखे माफिक व्यवस्था की। उसका वर्णन सुनिए। जिसके चारों ओर बाड़ हो वह गाँव और जिसके सब ओर कोट फिरा हो वह पुर है। नदी और पहाड़ के बीच में जो हो उसे खेट तथा चारों ओर से पर्वतों के द्वारा घिरे हुए को कर्वट कहते हैं। जिससे पाँच सौ गाँव लगते हैं उसे मटंब और जिसमें रत्नों की खानें हों उसे पत्तन कहते हैं। जो समुद्र के किनारे से भिड़ा हो। वह द्रोण और जो पर्वत के ऊपर हो वह वाहन है ॥१५८-१६१॥

इसके सिवा प्रभु ने तीन वर्णों की व्यवस्था की। वे वर्ण है-क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जिनका आचरण गिरा हुआ था उन्हें भगवान् ने शूद्र कहा तथा उत्तम आचरण वालों को उनके कम-बढ़ आचरण को लेकर वैश्य और क्षत्रिय कहा। इस प्रकार की वर्ण-व्यवस्था करके प्रभु ने जो क्षत्रियों के भेद किये थे उन्हें सुनिए। वे चार हैं। मिष्टभाषी इक्ष्वाकु, कौरव, हरिवंश और नाथवंश। इसके सिवा प्रभु ने संसार-प्रसिद्ध कौरववंश में उत्तम लक्षणों के धारक दो श्रेष्ठ राजाओं की स्थापना की। उनके नाम थे सोम और श्रेयांस ॥१६२-१६५॥

कुरुजांगल नाम एक प्रसिद्ध देश है। वह भूमण्डल का भूषण और उत्तम गुणों का भण्डार है। वहाँ की जमीन में एक अपूर्व गुण है। वह यह कि उसमें बिना बोये-जोते ही धान्य पैदा होता है। उस धान्य द्वारा लोगों को भारी सुख होता है। अतएव कहा जाता है कि वह उत्तम गुणों का खजाना

भूगुणैर्बहुभूमीशोऽनन्तशर्मप्रदायकैः। अकृष्टपच्यधान्यौघैर्धत्ते यः सुगुणान्भृशम् ॥१६७॥
यत्र क्षेत्राणि धान्यौघैः कालत्रयसमुद्भवैः। भृतानि भान्ति भूभर्तुः कोष्ठागाराणि वा भृशम् ॥१६८॥
कुलीनाः सफला रम्या भोगानां साधनं शुभाः। यत्रारण्यश्रियो रेजू रामा इव महीपतेः ॥१६९॥
ग्रामाः कुक्कुटसंपात्या रम्या रम्यैर्जनैर्भृताः। राजन्ते स्म महाधामश्रेणिलक्षा महोत्कटाः ॥१७०॥
सरांसि सर्वसंतापहारीण्यमृतसंचयैः। स्वच्छानि यत्र शोभन्ते ध्यानानीव महामुनेः ॥१७१॥
शालय पक्वसंवेद्याः स्वकालस्थायिनो वराः। फलप्रदा विराजन्ते यत्र कर्मोदया इव ॥१७२॥
जञ्जन्यन्ते जना यत्र नाकात्पाकात् वृषस्य वै। त्यागिनस्त्यक्तदुष्टत्वमात्सर्यामर्षभावकाः ॥१७३॥
दन्ध्वन्यन्ते वने वृक्षा सफलाः फलदायिनः। ददत्यध्वजनानां ये फलानि फलकाङ्क्षिणाम् ॥१७४॥
नराः सुरसमाकारा वृक्षाः फलभरोन्नताः। कल्पानोकहसादृश्या यत्र भान्ति शुभालयाः ॥१७५॥
लावण्येन सूरूपेण कलया ध्वनिना पुनः। यत्रत्यास्तर्जयन्त्येव योषितः सुरयोषितः ॥१७६॥
नगरोपान्त्यदेशेषु कृता धान्यसुराशयः। भान्तीव यत्र गिरयः सूरविश्रामहेतवे ॥१७७॥

है। वहाँ के खेतों में तीनों ऋतुओं के उत्पन्न हुए अन्न के ढेर के ढेर लगे रहते हैं, जिनसे वे खेत ऐसे देख पड़ते हैं मानो अन्न से भरपूर राजा के कोठे ही हैं। वहाँ के वन की श्री (शोभा) एक महारानी के साथ तुलना करती है। महारानी कुलीन और सुन्दरी होती है वह भी कुलीन (पृथ्वी में मिली हुई) और सुन्दरी है। महारानी सफला (बाल-बच्चों वाली) और शुभ होती हैं वह भी सफला (फलों वाली) और शुभ-अच्छे फल देने वाली है। महारानी राजा के भोगों को साधती है वह सभी लोगों के भोगों को साधती है, उन्हें फल देती है ॥१६६-१६९॥

वहाँ के गाँव बिल्कुल पास-पास है। वे इतने कि एक गाँव से दूसरे गाँव में मुर्गा उड़कर जा सकता है। उनमें बड़े-बड़े सत्पुरुषों का निवास है और बड़ी ऊँची तथा मन को मोहने वाली महलों की लाखों कतारें बनीं हुई हैं। वहाँ के तालाब अपने अमृत जैसे मीठे और स्वच्छ जल से लोगों के संताप को दूर करते हैं। वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो मुनिजनों के ध्यान ही हैं। कारण ध्यान भी तो संसार-ताप को हरता है और निर्मल होता है ॥१७०-१७१॥

वहाँ के धान्य कर्मों के उदय की तरह नियत समय पर अपना फल देते हैं। वहाँ कभी अकाल नहीं पड़ने पाता। पुण्य के उदय से वहाँ स्वर्ग के देव आकर जन्म लेते है और वे भव्य दुष्टता, मात्सर्य, क्रोध आदि भावों से रहित त्यागी सरीखे होते हैं एवं वहाँ के वन में फले हुए वृक्ष, पक्षियों के द्वारा कल-कल शब्द करके पथिक लोगों को बुलाते हैं और जो जैसे फलों को चाहते है उन्हें वैसे फल देते है। अतः उन वृक्षों को कल्पवृक्ष भी कह सकते है। वहाँ के सभी मनुष्य सुन्दर है तथा सभी वृक्ष फलों से लदे हुए है, जिससे वे कल्पवृक्षों की समता करते है। वहाँ के जिनालय भारी-भारी ऊँचे हैं, मनोहर और धर्म के दाता हैं। वहाँ की स्त्रियाँ अपने रूप-लावण्य, कला और सुर से देवांगनाओं को भी जीतती है, उन्हें नीचा दिखाती हैं, लजा देती हैं। वहाँ के नगरों के पास में अन्न की बड़ी-बड़ी ढेरियाँ लगी रहती हैं। वे ऐसी जान पड़ती हैं मानों सूरज को विश्राम देने के लिए पहाड़ ही खड़े किये गये

रम्यारामप्रदेशेषु द्रोणेपर्वतमस्तके। पत्तने नगरे यत्र भान्ति प्रसादपङ्क्तयः ॥१७८॥
गम्भीराणि मनोज्ञानि सरसान्यत्र भान्ति वै। तृष्णाघ्नानि सपद्मानि चेतांसीव सरांसि च ॥१७९॥
सपद्मा मदनोद्दीप्तास्तिलकाढ्याः फलावहाः। सपुष्पा यत्र राजन्ते रामा आरामका इव ॥१८०॥
क्षेत्रेषु व्रीहयो यत्र फलभारेण सन्नताः। कुर्वाणाः पथिकानां वा प्राघूर्णाय नतिं बभुः ॥१८१॥
देशानामाधिपत्यं यो दधान इव संबभौ। विभूत्या चामरैर्गेहैः सदातपनिवारणैः ॥१८२॥
कुरुभूमिसमत्वेन कुरुजाङ्गलनामभाक्। कुरुते कर्मनैपुण्यं यः कलाकाण्डसंविदाम् ॥१८३॥
हस्तिनागपुरं तत्र हस्तिसंहतिसंगतम्। हन्त्यहङ्कारकारित्वमहितानां च यत्सदा ॥१८४॥
यत्र प्राकारकूटेषु धृतमुक्ताफलानि वा। तारा रेजुः प्रथ्यायां हेमकुम्भायते विधुः ॥१८५॥
यत्खातिका विषाकीर्णा मणियुक्ता भयावहा। सेवागतेन शेषेण यथा मुक्ता निचोलिका ॥१८६॥

है वहाँ के बगीचों, द्रोणों, पत्तनों, वाहनों और नगरों में महलों की मनोहर कतारें बनी हुई हैं। वहाँ के तालाब चित्त के साथ तुलना करते हैं क्योंकि चित्त गंभीर और मनोज्ञ (मन से जानने वाला) होता है वे भी गहरे और मनोज्ञ-सुन्दर है। चित्त सरस (रसों को जानने वाला) और तृष्णा को घातने वाला होता है वे भी सरस-मीठे जल वाले और प्यास को बुझाने वाले हैं एवं चित्त सपद्म (कमलाकार) होता है और वे कमलों वाले हैं ॥१७२-१७९॥

वहाँ के बगीचे स्त्रियों के तुल्य हैं। स्त्रियाँ सुन्दर, काम की उद्दीपक और तिलक लगाए होती हैं वे भी सुन्दर, काम के उत्तेजक और तिलक के वृक्षों से युक्त हैं। स्त्रियाँ सपुष्पा (रजोधर्म वाली) और सफला (बाल-बच्चों वाली) होती है वे भी फल और पुष्पों वाले है। तात्पर्य यह कि वे बहुत ही मनोहर और सुखदाता हैं ॥१८०॥

वहाँ के खेतों में जो धान्य फल के भार से नम गये है वह ऐसे जान पड़ते है मानों अपने पास बुलाने के लिए पथिक लोगों को नमस्कार ही करते हैं। इससे अधिक उनकी और क्या तारीफ की जाये। वह देश अपनी विभूति और आताप को दूर करने वाले महलों की कतारों से ऐसा जान पड़ता है मानों सब देशों का अधिपति ही है। उसकी भूमि देवकुरु, उत्तरकुरु भोगभूमि के जैसी है और इसलिए उसे कुरुजांगल कहते हैं। इस देश को देखने से भारत के कला-कोविदों की चतुराई का चित्र हृदय पर खिंचे बिना नहीं रहता। सारांश यह कि वह देश सब तरह से सुन्दर और सम्पत्ति का खजाना है ॥१८१-१८३॥

कुरुजांगल देश में हाथियों के समूह से भरपूर एक हस्तिनागपुर नाम नगर है। वह दुष्ट, अभिमानी पुरुषों के घमंड को एक मिनट में ही चकनाचूर कर देता है। वहाँ के कोट के कंगूरों पर आकर तारागण ऐसे जान पड़ने लगते है मानो जड़े हुए मुक्ताफल ही हैं और कोट के दरवाजों पर जो गुमटियाँ बनी हुई है उन पर आकर वाद सोने के कलश-सा देख पड़ने लगता है ॥१८४-१८५॥

विष-जल से भरी हुई और मणियों से जड़ी हुई वहाँ की खाई ऐसी जान पड़ती है मानो नगर की सेवा को आये हुए शेषनाग द्वारा छोड़ी हुई भयावती काँचुली ही है। कारण वह भी विष से परिपूर्ण और मणियों के जैसी जड़ी हुई चित्र-विचित्र छोटे-छोटे दानों वाली होती है। वहाँ जो

सतां यद्विशिखा ब्रूते मार्गं रोहावरोहणैः। स्वर्गस्याधोगतेर्नित्यं स्फीता सद्भूमिका वरा ॥१८७॥
यत्रत्यजिनसद्मानि भव्यानाकार्य केवलम्। केतुहस्तेन वादित्रनादेनाहुर्बुधोत्तमाः ॥१८८॥
यथास्माकं महोच्चत्वं तथा पुण्यवतां नृणाम्। शृङ्गाग्रलग्नसद्दण्डकिङ्किणीनादतः स्फुटम् ॥१८९॥
दानिनो धनिनो लोका ज्ञानिनो जितमत्सराः। परर्द्धिमहिमोपेता यत्र तिष्ठन्ति वत्सलाः ॥१९०॥
भङ्गो यत्र कचेष्वेव चापल्यं वरयोषिताम्। नेत्रे याच्ञा सतां यत्र पाणिग्रहणयुक्तिषु ॥१९१॥
मृदङ्गे ताडनं यत्र मदनत्वमनोकुहे। पतनं वृक्षपर्णेषु लोपः क्विप्प्रत्यये पुनः ॥१९२॥
स्पर्धा दानोद्भवा यत्र कामिचेतोऽपहारता। चौर्यं स्त्रीषु ततो भीतिः कामिनां कामवासिनाम् ॥१९३॥
पुष्पाणां हरणं यत्र निम्नत्वं नाभिमण्डले। प्रस्तरे विरसत्वं च नान्यत्र कुत्रचिद्भुवि ॥१९४॥

सत्पुरुषों की अटारियाँ बनी हुई हैं, उनकी भूमि बहुत ही मनोहर है और उनमें जो सत्पुरुष रहते हैं उनके चढ़ने और उतरने से वे ऐसी मालूम पड़ती हैं मानों नरक और स्वर्ग को जाने का रास्ता ही बताती है ॥१८६-१८७॥

वहाँ के जिनालय बहुत ऊँचे हैं। उनके शिखरों में ध्वजाएँ लगी हुई हैं और उनमें हमेशा ही बाजे बजा करते हैं, जिससे ऐसा जान पड़ता है कि वे ध्वजारूप हाथों और बाजों के शब्दों के द्वारा भव्य जीवों को ही बुलाते हैं और शिखरों के ऊपरी भाग में लगे हुए दण्डों की घंटियों के झुन-झुन शब्दों के द्वारा उनसे यही कहते हैं कि हे भव्यजनो! पुण्य का संचय करो, उसके प्रभाव से तुम लोग हमारे बराबर ऊँचे-उन्नत हो जाओगे। वहाँ के सभी लोग दानी है, धनी और ज्ञानी है तथा मान-मत्सर से रहित और उत्तम ऋद्धियों से युक्त हैं। वे महिमाशाली हैं और एक दूसरे से गाय-बछड़े की तरह प्रीति रखने वाले हैं। वहाँ भंग (टेढ़ापन) केवल वालों में है, नर-नारियों में नहीं है। चंचलता उत्तम स्त्रियों में ही है और किसी में नहीं है। नेत्र ही नवीन वधू के मुख देखने को याचना करते हैं और कोई माँगता-भिखारी नहीं है। केवल मृदंग ही वहाँ ताड़े जाते हैं परन्तु अपराध करके कोई ताड़ना नहीं पाता। वहाँ मदन जाति के वृक्ष तो है, पर मदन-कामदेव का बोलबाला नहीं है। केवल वृक्षों से पत्तों का पतन होता है परन्तु उत्तम अवस्था से नीचे कोई नहीं गिरता। वहाँ के सत्पुरुषों में दान देने के लिए तो चढ़ा-ऊपरी देख पड़ती है, पर और-और कामों में नहीं। कामी पुरुषों के चित्त को तो स्त्रियों चुराती हैं परन्तु इसके सिवा वहाँ और चोरी नहीं होती, वहाँ चोर-लवाड़ पुरुष ही नहीं है एवं कामी पुरुष ही केवल स्त्रियों से डरते हैं और किसी को वहाँ-डर-भय नहीं है। पुष्प ही वृक्षों पर से हरे जाते हैं, इसके सिवा कोई किसी को चीज को नहीं हरता। वहाँ यदि नीचता (गहराई) है तो नाभिमण्डल में है, पुरुष कोई भी नीच नहीं है। वहाँ केवल व्याकरण-शास्त्र में तो क्विप प्रत्यय का लोप-विनाश सुना जाता है, पर और कहीं भी विनाश शब्द का प्रयोग नहीं होता। वहाँ के पत्थर तो अवश्य नीरस है, पर पुरुष कोई भी नीरस-रूखे स्वभाव वाले नहीं हैं। वहाँ सभी पुरुष ज्ञानी हैं, कोई मूर्ख नहीं है। वहाँ की सभी स्त्रियाँ शीलवती हैं, कोई दु:शीला नहीं है। वहाँ के वृक्ष हमेशा

नरा ज्ञानविहीना न नाशीला योषितः क्वचित्। वृक्षाः फलातिगा नैव वर्तन्ते यत्र भासुराः ॥१९५॥
सेवते यत्र भोगीन्द्रो हारिप्राकारसंमिषात्। भयादिति जगत्सर्वं वशीकृतमनेन वा ॥१९६॥
त्रिवर्गफलसंभूतां भूतिं भुञ्जन्ति यत्र च। धनाकीर्णा जना धीराः शर्मशाखिफलावहाः ॥१९७॥
शोकं पङ्कसमुद्भूतं नालोकन्ते स्म ते क्वचित्। दानादिकर्मनिर्णाशिदुरिता यत्र संशुभाः ॥१९८॥
यत्खातिका महानीलसरोजश्रेणिलोचनैः। ईक्षते गृहसंचारिशोभां नेत्रविकाशिकाम् ॥१९९॥
पण्यवीथीकृतोत्तुङ्गरत्नराशावितस्ततः। पर्यटन्यत्र संप्राप्त्यै प्रचुरं च परीषणम् ॥२००॥
दधद्धीरो जनो वैश्यो रेजे दीधितिमण्डितः। मेराविव सुनक्षत्रगणो गुणविभूषितः ॥२०१॥
जिनचैत्यमहापूजां नित्याष्टाह्निकसंज्ञिकाम्। कुर्वते शर्मणे यत्र लोका मङ्गलसिद्धये ॥२०२॥
दीपा यत्र प्रजायन्ते मङ्गलार्थं गृहे निशि। योषिन्मुखमहाचन्द्रप्रकाशे ध्वान्तनाशिनि ॥२०३॥
यत्रापणौ सुताम्बूलपङ्के मग्ना जना अपि। मदोद्धता न गन्तुं वै शक्नुवन्ति क्षणं स्थिताः ॥२०४॥

फलों से लदे रहते हैं। तात्पर्य यह कि वह देश सब तरह शोभा का स्थान है। उसका कोट बहुत मनोहर और सारे संसार को वश में करने वाला है ॥१८८-१९५॥

जान पड़ता है कि भय के मारे कोट का रूप धर कर शेष नाग ही उसकी सेवा करता है। वहाँ के सभी धन वाले धीर-वीर हैं। उन्हें पुण्य का पूर्ण फल प्राप्त है। वे हमेशा धर्म, अर्थ और काम का यथायोग्य सेवन करते हैं और उनके फल को भोगते हैं। वे दान, पूजा आदि सत्कर्मों के द्वारा पापकर्मों का नाश किया करते हैं। अतः पाप-कर्मों के उदय से होने वाले रोग-शोक उनके पास ही नहीं फटक पाते। उनके सभी काम शुभ होते हैं और वे हमेशा अमन-चैन से रहा करते हैं। वहाँ की खाई में नीले कमलों की बहुत-सी कतारें हैं और वे कमल फूले हुए हैं। जान पड़ता है कि वह खाई एकदम अपने बहुत से नेत्रों को खोलकर अपने मध्यभाग की शोभा को ही देख रही है। उसके मध्यभाग में जो वहाँ के महलों की परछाई आकर पड़ती है उससे उसकी अपूर्व शोभा देखने के ही योग्य है। उसको देखने से नेत्र खिल उठते हैं। वहाँ के बाजार में रत्नों की बहुत-सी राशियों लगी हुई हैं। अतः रत्नों को खरीदने के लिए वहाँ रुपया आदि मूल धन ले-लेकर बहुत से व्यापारी लोग आते हैं और रत्नों की जाँच करते हुए इधर से उधर डोलते फिरते देखे जाते हैं। उस समय रत्नों में उनका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है और उन पर जो रत्नों की किरणें आकर पड़ती हैं उससे वे बहुत ही शोभा पाते हैं, जिस तरह अपने तेज से विभूषित तारागण सुमेरु के इधर-उधर घूमते-फिरते सुशोभित होते हैं। वहाँ के लोग कल्याण और मंगल की सिद्धि के लिए जिनेन्द्र भगवान् की नित्य और अठाई के दिनों में पूजा किया करते हैं और कुदेवों से वे दूर रहते हैं ॥१९६-२०२॥

वहाँ की स्त्रियों के मुँह चाँद के समतुल्य हैं और वे ही रात में अँधेरे को हटा देते हैं, अतएव वहाँ रात में जो दीपक जलाये जाते हैं वे केवल मंगल के लिए ही जलाये जाते हैं, अँधेरा हटा ने को नहीं! वहाँ की नर-नारियाँ पान खाने की भारी शौकीन हैं, इसलिए वहाँ के बाजारों में पानों की पीकों से इतना भारी कीचड़ मच जाता है कि उसमें यदि कोई मदोन्मत्त हाथी भी आकर फँस जाये

योषिच्चरणसंलग्नमृगनाभिसुगन्धतः। आगताः षट्पदा यत्र पूत्कुर्वन्तीति वादिनः ॥२०५॥
भोः कामिनः शुभं सारं वधूचरणपङ्कजम्। वयं यथा तथा यूयं सेवध्वं च सुखाप्तये ॥२०६॥
तत्राथ वृषभेशेन कुरुवंशविभूषणौ। नरेन्द्रौ स्थापितौ यत्र सोमश्रेयांसौ तौ वरो ॥२०७॥
तत्र सोमस्य सोमास्या लसल्लक्ष्मीमती सती। लक्ष्मीमती प्रिया चासीत्प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥२०८॥
योल्लसत्पदविन्यासालङ्कारपरिभूषिता। गूढार्था सद्गुणा रम्या त्यक्तदोषेव भारती ॥२०९॥
मञ्जूषेव समस्तस्यालङ्कारस्य स्फुरत्प्रभा। सच्छवेः सगुणस्यापि या भाति भुवनत्रये ॥२१०॥
स्फुरत्कुण्डलकेयूरताराहारा समुद्रिका। समेखला शुभाकारा शोभते योपमातिगा ॥२११॥
चन्द्रानना कुरङ्गाक्षी चन्द्रखण्डललाटिका। पक्वश्रीफलसंछन्नपयोधरा बभौ च या ॥२१२॥
नितम्बिनीगणानां या सीमां कर्तुं विनिर्मिता। वेधसा विधिवत्सर्वां सामग्रीमनुभूय वै ॥२१३॥

तो उसका वहाँ से निकलना कठिन पड़ जाता है। वहाँ की स्त्रियाँ अपने पाँवों में खूब ही कस्तूरी लगाती हैं जिसकी खुशबू से उनके पास भौरों के समुदाय के समुदाय उड़े हुए चले आते हैं और वे पुकार-पुकार कर कामीजनों को कहते हैं कि जिस तरह हम लोग स्त्रियों के शुभ और सार चरण-कमलों की सेवा करते हैं यदि सुख चाहते हो तो तुम भी हमारी तरह उनके चरण-कमलों की सेवा करो ॥२०३-२०६॥

वहाँ आदिनाथ प्रभु ने दो राजों की स्थापना की। वे दोनों कुरुवंश के भूषण थे, उत्तम पुरुष और भाई-भाई थे। उनके नाम थे सोमप्रभ और श्रेयांस। सोमप्रभ की रानी का नाम लक्ष्मीमती था। वह चाँद जैसे सुन्दर मुँह वाली और सुन्दरता की सीमा थी, सती थी। वह सोमप्रभ महाराज को प्राणों से भी कहीं अधिक प्यारी थी। लोग उसको सरस्वती की उपमा देते थे क्योंकि जिस तरह सरस्वती में मनोहर पदों का विन्यास होता है और अलंकार आदि होते हैं उसी तरह वह भी मनोहर पादों का विन्यास करती हुई चलती थी और भाँति-भाँति के अलंकार-गहने-गाँठे से विभूषित थी। सरस्वती में गूढ़ अर्थ और उत्तम-उत्तम गुण होते हैं वह भी गूढ़ अभिप्राय वाली थी और उसमें भी अनेक उत्तम-उत्तम गुण थे। सरस्वती निर्दोष और लोगों को रमाने वाली होती है वह भी दोष-रहित और लोगों को सुख देने वाली थी। तात्पर्य यह कि वह गुणों-सूतों से गोये गये और मनोहर गहनों की चमकती हुई पिटारी-सी जान पड़ती थी क्योंकि उसका शरीर बहुत सुन्दर और चमकीला था। उसमें बहुत से गुण और भूषण थे। उसके कुण्डल और केयूरों की अद्भुत ही शोभा थी। उसके गले का हार मन को मोहने वाला था। उसके हाथों की अंगुलियों में सुन्दर अँगूठियों और कमर में मनोहर करधनी थी। बहुत क्या कहा जावे वह उपमा रहित थी। उसको किसी भी वस्तु की उपमा नहीं दी जा सकती थी। उसका मुँह चन्द्र के जैसा और नेत्र मृग के जैसे थे। मस्तक आधे चाँद की तरह था तथा पके हुए नारियल के समान स्थूल और सुन्दर उसके कुच थे। सारांश यह कि उसकी शोभा सब तरह से बढ़ी-चढ़ी हुई थी। उसको देखकर ऐसा भान होता था कि मानों ब्रह्मा ने पहले संसार की रचना कर खूब ही अनुभव किया और पीछे से इसकी रचना कर स्त्रियों की सुन्दरता की सीमा ही बाँध दी है। सोमप्रभ और लक्ष्मीमती के बड़े

तयोः सुतः सदा श्रीमाञ्शत्रुपक्षक्षयंकरः। जयाभिधो जयश्रीकः साक्षाज्जय इवापरः ॥२१४॥
अथ श्रीवृषभो भाति वसुधां वसुधां बुधः। सुधामयीं प्रकुर्वाणो नानानीतिसमन्विताम् ॥२१५॥
सुनासीराज्ञया नृत्यं निर्मितुं नटपेटकैः। नीलाञ्जसा समायासीज्जिनाग्रे सह सद्गुणा ॥२१६॥
नृत्यन्ती सा जिनस्याग्रे हावभावविचक्षणा। चञ्चला चञ्चलेवाभाद्गगने गुणगुण्ठिता ॥२१७॥
वीणावंशविनोदेन तरला ताललास्यगा। काकलीकलनासक्ता ननर्त लेखनर्तकी ॥२१८॥
तदा सभ्याः शुभाकारां नटन्तीं तां निरीक्ष्य च। चित्रिता इव संभेजुः कामवस्थां वचोऽतिगाम् ॥२१९॥
तत्क्षणे क्षणदेवासीददृदया सायुषः क्षये। लास्यं विलयमापन्नं वृक्षवन्मूलसंक्षये ॥२२०॥
ज्ञात्वा जिनेश्वरस्तस्या विपत्तिं विपदातिगः। निर्वेदं वेदयन्दिव्यं विवेद जगतः स्थितिम् ॥२२१॥
आजवंजवजीवानां जीवनं हि विनश्वरम्। जीवनं हस्तगं यद्वत् दृष्टनष्टं क्षणान्तरे ॥२२२॥
अहो केऽत्र भवे जीवाः स्थास्नवो विहितागसः। दृश्यन्ते जलदा यद्वत्कथमत्र स्थितौ मतिः ॥२२३॥
इत्यालोच्य चिरं चित्ते चैतन्यगतचेतनः। राज्ये निवेशयामास भरतं भरताधिपम् ॥२२४॥

पुत्र का नाम जय था। वह रूपशाली और शत्रुदल का घातक था, विजय-लक्ष्मी का पति था। अधिक क्या कहा जाये वह साक्षात् जय की मूर्ति ही था ॥२०७-२१४॥

भगवान् आदिनाथ इस समय पृथ्वीतल पर नीति का प्रचार कर रहे थे। उन्होंने रत्न आदि धन की खान पृथ्वी को सुधामयी बना दिया था, उसमें सब जगह सुख फैला दिया था। वे प्रजा का शासन करते हुए अपूर्व शोभा पाते थे। एक समय इन्द्र की आज्ञा से गंधर्व-सहित नीलांजना नाम की एक गुणवती अप्सरा आई और प्रभु के आगे नृत्य करने लगी ॥२१५-२१६॥

वह बड़ी चतुराई से हाव-भाव दिखाती थी तथा बिजली की भाँति चंचल थी। कभी आकाश में जाती और कभी पृथ्वी पर आती थी एवं उसमें बहुत से गुण थे। वह वीणा और बांसुरी के विनोद से चंचल होती हुई ताल के अनुसार नृत्य करती थी और कभी-कभी सुन्दर आलाप भी लेती थी। इस प्रकार उस देवांगना ने खूब ही नाच किया। जिसको देखकर वहाँ बैठे हुए सभी सभासद चित्र में लिखे से रह गये। उनकी एक ऐसी विचित्र हालत हो गई कि जिसका कहना वचनों से बाहर है। दैवयोग से नृत्य करते करते ही उसी वक्त उस नीलांजना की आयु पूरी हो गई और वह देखते देखते ही अदृश्य हो गई और नाच भी उसी समय बन्द हो गया, जैसे जड़ों के उखड़ जाने पर वृक्ष हो जाता है ॥२१७-२२०॥

उसके मरण को और-और सभासद तो न जान पाया, पर प्रभु जान गये इसके बाद विपत्ति रहित, निर्भय परिणामी प्रभु संसार से विरक्त होकर उसकी स्थिति पर यों विचार करने लगे कि संसारी जीवों का जीवन चुल्लू के जल की भाँति धीरे-धीरे बिखर जाने वाला है। फिर आश्चर्य है कि मेघों की तरह विला जाने वाले इस जीवन पर पाप-कर्म के अधीन हो ये जीव क्यों नित्यता का विश्वास करते हैं और हमेशा उसकी अपनी सम्पत्ति समझकर संसार-समुद्र में गोते लगाया करते हैं। इस प्रकार सोच विचार कर आत्मा का अनुभव करने वाले उन प्रभु ने भरत को बुला उन्हें भारतवर्ष का राज दिया, वली बाहुबली की मनोरम पोदनपुर का राज-पाट संभलाया तथा अपने और-और पुत्रों को और-

सुरम्ये पोदने बाहुबलिनं बलशालिनम्। सोऽस्थापयत्तथा शेषान्सुतान्नीवृति नीवृति ॥२२५॥
संस्नाप्य स सुरैर्नीतो याप्ययानेन युक्तिमान्। वनं भूषणभारेण भूषितो भरतादिभिः ॥२२६॥
वटाधःस्थितिमासाद्य नवम्यां चैत्रकृष्णके। दिदीक्षे कृतकेशादिलुञ्चनो भगवाञ्जिनः ॥२२७॥
षण्मासान्स स्थितो योगे योगी विक्षिप्तकल्मषः। उद्भीभूतो महाभूतसेवितः प्रोषधावृतः ॥२२८॥
संहृत्य स निजं योगं योगे पूर्णे विनिर्ययौ। अनाश्वान्विश्वसंदृश्यो विश्वलोकनमस्कृतः ॥२२९॥
न्यादस्यापि विधिं लोका अजानानाः कथंचन। दृष्ट्वा तं हर्षिणश्चक्रुर्जिनपादनमस्कृतिम् ॥२३०॥
विहरन्तं परं ज्येष्ठं द्रङ्गे द्रङ्गे च नीवृति। गृहे गृहे क्रमेणाशूडावुडावुडुनाथवत् ॥२३१॥
जनास्तं वाजिनं वर्यं दन्तिनं दशनोन्नतम्। कन्यामन्नं च वसनं मणिं मुक्ताफलं फलम् ॥२३२॥
भूषणं दूषणातीतमासनं शयनान्वितम्। कुसुमानि सुगन्धीनि ढौकयन्ति स्म तत्पुरः ॥२३३॥
षण्मासान्मौनसंपन्नः कृतेर्यापथवीक्षणः। क्षणेन विहरन्नाप हस्तिनागपुरान्तिकम् ॥२३४॥
अथ श्रेयान् श्रियोपेतः पुरेशो निशि निश्चलम्। सुप्तः शय्यातले श्रीमान्ददर्श स्वप्नसंचयम् ॥२३५॥
सुराद्रिं कल्पवृक्षं च हिमांशुं च दिवाकरम्। पारावारं सुगम्भीरं जजागार विलोक्य सः ॥२३६॥

और देशों का अधिपति बना आप निश्चिन्त हो गये। इसी समय देवता-गण आये और प्रभु को स्नान-भूषण से सजाकर, पालकी में सवार कर वन को ले चले। इस वक्त भाँति-भाँति के भूषणों से विभूषित आदि प्रभु के साथ भरत आदि हजारों राजा भी थे। जंगल में जा प्रभु को उन्होंने वहाँ एक बड़ के वृक्ष के नीचे विराजमान किया। इसके बाद प्रभु ने केशलोंच आदि क्रियाओं को करके चैत वदी नौमी के दिन जैनेश्वरी दीक्षा धारण की ॥२२१-२२७॥

इसके बाद उन निष्पाप प्रभु ने छह महीने के लिए योग धारण किया और उपवासों से युक्त तथा संसार द्वारा सेवित वे प्रभु उस वक्त तेजो-मय हो गये। उनका तेज सब ओर फैल गया। भगवान् तेज के पुंज और संसार के लिए दर्शनीय थे। जब योग का समय समाप्त हुआ तब प्रभु ने वहाँ से चल कर बहुत से देशों में, नगर-नगर में, घर-घर बिहार किया, जैसे एक-एक तारागण के पास चन्द्रमा विहार करता है परन्तु उन्हें कहीं भी पारणा करने का योग न मिला। मिले कहाँ से, उस वक्त सारे संसार में कोई आहार देने की विधि ही न जानता था। जहाँ-जहाँ प्रभु जाते थे वहाँ-वहाँ के लोग हर्ष के भरे दौड़-दौड़कर उनके पैरों पर पड़ जाते थे तथा कई लोग प्रभु को भेंट करने की उत्तम-उत्तम चीजें-घोड़ा, हाथी, रत्न वगैरह लाते थे, कन्या, अन्न और वस्त्र ले-लेकर प्रभु के आगे आते थे एवं कोई निर्दोष भूषण, आसन, शयन और सुगन्धित पुष्प ला-लाकर उनके सन्मुख रखते थे। इस तरह प्रभु ने मौन धर कर ईर्यापथ शुद्धि से छह महीने तक विहार किया, पर कही भी उन्हें आहार का योग न मिल सका। इसके बाद वे विहार करते हस्तिनागपुर आये ॥२२८-२३४॥

हस्तिनागपुर के राजा श्रेयांस थे। वे बड़े भाग्यशाली थे। रात का समय था। वे निःशक हो शय्या पर सुख से सोये हुए थे। उस वक्त उन्होंने स्वप्न में सुमेरु पर्वत, कल्पवृक्ष, चाँद, सूरज तथा गहरा समुद्र देखा। स्वप्न देखने के बाद वे जागे और उन्होंने सब स्वप्नों को जैसा का तैसा सोमप्रभ

सोमप्रभाय तत्सर्वं स निवेदयति स्म हि। सोऽवोचन्मेरुतस्तुङ्गः कल्पद्रोः कल्पदायकः ॥२३७॥
हिमांशोर्जगदाह्लादी भास्करात्स प्रतापवान्। अकूपारात्परादृष्टपारः कोऽपि महान्नरः ॥२३८॥
समटिष्यति सुस्पष्टमावयोर्वेश्मनि स्फुटम्। तावता मध्यदिवसे समाट स च तद्गृहे ॥२३९॥
तद्दर्शनसमानन्दाज्जातपूर्वभवस्मृतिः। श्रेयान्सोमप्रभेणामा पपात जिनपद्युगम् ॥२४०॥
विधिना विधिवद्राधे तृतीयादिवसे स च। मधुरेक्षुरसेनास्य कारयामास पारणम् ॥२४१॥
तत्क्षणेक्षणसंदीप्ता रत्नवृष्टिर्गृहाङ्गणे। बभूव तस्यागाद्देवो वनं मौनी महामनाः ॥२४२॥
जिनः सहस्त्रवर्षान्ते फाल्गुनैकादशीदिने। कृष्णपक्षेऽथ संप्रापत्केवलज्ञानमद्भुतम् ॥२४३॥
चक्रोत्पत्त्या नरेन्द्रोऽसौ भरतो भारतं खलु। संसाधयितुमुद्युक्तो बभूव बलमण्डितः ॥२४४॥
जयं च कौरवाधीशमाहूयास्थापयत्तराम्। स सेनानीपदे रत्नं सहस्त्रसुररक्षितम् ॥२४५॥
स चक्री सैन्यचक्रेण सहस्त्रषष्टिवर्षणैः। संसाध्य भारतं क्षेत्रं विनीतामाजगाम च ॥२४६॥
जयो मेघेश्वरांल्लेखाञ्जित्वा मेघस्वराभिधाम्। लब्धवान्भरताधीशाद्राज्ये गजपुरे स्थितः ॥२४७॥

महाराज से कह सुनाया। सोमप्रभ ने उत्तर में कहा कि सुमेरु को देखने से ऊँचा, कल्पवृक्ष को देखने से उसी के समान दाता, चन्द्रमा के देखने से उसके समान ही संसार को शान्ति देने वाला और सूरज को देखने से प्रतापी एवं समुद्र को देखने से संसार-समुद्र से पार जाने वाला कोई महान् पुरुष नियम से आज अपने घर आयेगा। इसके बाद दो पहर के समय सचमुच ही प्रभु उनके घर आ पहुँचे ॥२३५-२३९॥

प्रभु को देखते ही श्रेयांस को बहुत हर्ष हुआ। उन्हें अपने पिछले भव की याद हो आई। उन्हें यह भी स्मरण हो आया कि दिगम्बर मुनियों को किस विधि से आहार दिया जाता है। फिर क्या था, वे सोमप्रभ सहित प्रभु के चरणों में पड़ गये और उन्होंने वैशाख सुदी तीज के दिन प्रभु को साँट के मधुर रस का आहार दिया। भगवान् को आहार देने के प्रभाव से उनके यहाँ रत्नों की बरसा हुई। आहार लेकर मौनी और महामना प्रभु वहाँ से वन को चले गये और घोर तप तपने लगे। इसके बाद एक हजार वर्ष में प्रभु को केवलज्ञान प्राप्त हुआ-वे केवली हो गये ॥२४०-२४३॥

इधर भरत महाराज की आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई और वे बहुत-सी सेना को साथ लेकर भारतवर्ष को अधीन करने के लिए तैयार हुए। उस समय भरत ने कौरव कुलदीपक जय को बुलाया और उन्हें सेनापति का पद दिया। चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में से सेनापति एक रत्न है। इस रत्न की हजार देव रक्षा करते हैं। इसके बाद भरत चक्रवर्ती ने दिग्विजय करना आरम्भ किया और साठ हजार वर्ष में सारे भरत-क्षेत्र को अपने अधीन कर लिया एवं दिग्विजय का अन्त होने पर वे वापस अयोध्या नगरी में आ पहुँचे। सेनापति जय ने मेघेश्वर देवताओं को बड़ी बहादुरी से जीता था, जिससे प्रसन्न होकर चक्रवर्ती ने उनका नाम भी मेघेश्वर रख दिया। इसके बाद जय अपने राज्य गजपुर में आये और वहाँ अमन-चैन से रहने लगे। उन मेघेश्वर जय की जय हो, जो शुद्धमना हैं,

मेघस्वरः शुद्धमना मनोहरो जीयान्महाशत्रुजये कृतोद्यमः।
नीत्या निरस्तदुरितो जयनामधेयः सच्चक्रवर्तिहृदयाम्बुजसप्तसप्तिः ॥२४८॥
जित्वा मेघसुरान्सुरेन्द्रसमतां भंजे स भव्योत्तमः
हत्वा वैरिगणान्गुणेन सुगुणी दीप्यञ्जयाख्यो जयी।
सेनानीमणिरुत्तमो नरसुरैः संसेव्यपादाम्बुजो
धर्मस्यैव विजृम्भितेन भुवने मान्यो जनो जायते ॥२४९॥
इति भट्टारकश्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म०श्रीपालसाहाय्यसापेक्षे श्रीपाण्डवपुराणे
महाभारतनाम्नि जयस्य सेनापतिपदप्राप्तिवर्णनं नाम द्वितीयं पर्व ॥२॥

मनोहर रूप की राशि हैं, बड़े-बड़े प्रचंड शत्रुओं पर विजय-लाभ करने को उद्यत हैं। जिन्होंने राज-नीति के द्वारा वैरियों के समूह के समूह नष्ट-भ्रष्ट कर दिये और जो चक्रवर्ती के हृदय को प्रफुल्लित करने के लिए सूरज हैं एवं जिन्होंने मेघेश्वर को जीतकर सुरेन्द्र की समता की और अपने अखण्ड पराक्रम से वैरियों पर विजय पाई। जो सच्चे गुणों के भण्डार और तेज के पुंज है। जयशील होने के कारण से ही जिन्हें जय कहते हैं। जो सेनापति-रत्न हैं तथा देवता-गण और महान् पुरुष जिनकी सेवा करते हैं।

यहाँ ग्रन्थकार कहते है कि संसार में धर्म के फल से ही पुरुष गण्य-मान्य होते हैं पूज्य तथा उत्तम-उत्तम पद पाते हैं। इस कारण जीवमात्र का पहला कर्तव्य है कि वह हमेशा धर्म का ध्यान रखे ॥२४४-२४९॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में जयकुमार को सेनापति पद-प्राप्ति का वर्णन करने वाला दूसरा पर्व समाप्त हुआ ॥२॥

❑ ❑ ❑

तृतीयं पर्व

जिनं नौमि जितारातिं वृषभं वृषलाञ्छनम्। वृषभं वृषदातारं वृषार्थिजनसेवितम् ॥१॥
अथ सोमप्रभस्यान्ये सुताश्च विजयादयः। गुणैर्विजज्ञिरे रम्याश्चतुर्दशमनूपमाः ॥२॥
तैः पञ्चदशभिः पुत्रै रेजे राजा सुराजवत्। अन्यदा कायभोगेषु विरक्तोऽभूद्विशांपतिः ॥३॥
विभज्य राज्यं संयोज्य धुर्ये शौर्योर्जिते जये। गत्वा स वृषभस्यान्ते दीक्षित्वा मोक्षमन्वभूत् ॥४॥
नृपत्वं श्रेयसा सार्धमन्वभूत्स यथा पुरा। एकदा स विहारार्थं बाह्योद्यानं गतो घनम् ॥५॥
तत्रासीनं मुनिं लोक्यं शीलगुप्तं ननाम सः। शृण्वन्धर्मं स्थितेनामा नागयुग्मेन तत्र च ॥६॥
प्रत्याविशत्पुरीं तुष्टो विशिष्टवृषवर्धितः। कदाचित्स घनारम्भे प्रचण्डवज्रपाततः ॥७॥
मृतः शान्तिं समापन्नो नागो नागामरोऽजनि। अन्यदा गजमारुह्य तद्वनं पुनराप सः ॥८॥
सार्धं श्रुतवतीं नागीं धर्मं राजात्र चात्मना। दृष्ट्वा काकोदरेणामा कृतकोपं विजातिना ॥९॥
जघानेन्दीवरेणासौ जम्पती तौ धिगित्यरम्। नश्यन्तौ पत्तयः काष्ठैर्लोष्ठैरघ्नन्समे तदा ॥१०॥
दुश्चरित्राय को नात्र राजकोपे हि कुप्यति। वेदनाकुलधीर्मृत्वा नागः स निर्जरान्वितः ॥११॥

उन आदिनाथ प्रभु को नमस्कार है जो बैल के चिह्न से युक्त हैं, धर्ममय और धर्म के दाता हैं तथा धर्म के अर्थी पुरुष जिनकी सेवा करते हैं और जो वैरियों पर विजय-लाभ कर चुके हैं ॥१॥

सेनापति जय के सिवा सोमप्रभ महाराज के विजय आदि चौदह पुत्र और थे। वे सब के सब गुणों के भण्डार और मनोहर रूप वाले थे। वे ऐ से जान पड़ते थे मानों चौदह कुलकर ही हैं। इन पंद्रह पुत्रों के द्वारा श्रीमान् सोमप्रभ महाराज इन्द्र जैसे सुशोभित थे। एक समय किसी निमित्त को पाकर वे संसार, भोग आदि से विरत हो गये। उन्होंने अपना सारा राज-पाट अपने पुत्रों को सौंपकर शूरवीर जय को उन सबका मुखिया बना दिया। इसके बाद वे ऋषभप्रभु के पास गये और उनसे दीक्षा लेकर दिगम्बर हो गये एवं कुछ काल में कर्मजाल को तोड़कर वे मोक्ष-महल में जा विराजे ॥२-४॥

इधर जय अपने चाचा श्रेयांस के साथ-साथ पहले की भाँति ही राजसुख भोगने लगे। एक दिन वे विहार के लिए एक घने जंगल में गये। उन्होंने वहाँ बैठे हुए एक मुनि को देख नमस्कार किया। मुनि का नाम शीलगुप्त था। जय ने एक नाग और नागिनी के साथ-साथ उनसे धर्म का उपदेश सुना। धर्म को सुनकर उनका चित्त बहुत संतुष्ट हुआ। इसके बाद वे नगर को चले आये। बर्षा ऋतु का आरम्भ ही था कि उस समय अकस्मात् वज्रपात के द्वारा वह नाग शान्त-चित्त से मरकर नागकुमार जाति का देव हुआ। इसके बाद एक दिन हाथी पर सवार हो जय महाराज फिर दुबारा उसी वन में गये। वहाँ जाकर उन्होंने उसी नागिनी को, जिसने कि उनके साथ-साथ पहले धर्म का उपदेश सुना था, एक नीच जाति के काकोदर (साँप) के साथ क्रीड़ा करते हुए देखा। इस पर उन्हें बहुत क्रोध आया। उन्होंने क्रीड़ा-कमल के द्वारा उन दोनों को मारा तथा धिक्कार दिया। राजा को मारते देख इधर-उधर से आ-आकर उनके सभी सिपाहियों ने भी उन्हें लकड़ी, पत्थर आदि के द्वारा मारना शुरू किया। सच है राजा का कोप होने पर नीच चरित वालों पर सभी कोप करते हैं। कोई भी उनकी तारीफ नहीं करता। मार

तदा बभूव गङ्गायां कालीति जलदेवता। पश्चात्तापहता सापि धर्मं ध्यात्वा स्वमानसे ॥१२॥
स्वनागस्य प्रिया भूत्वा राज्ञः स्वमृतिमाह च। जातकोपोऽमरो हन्तुं जयं तद्गृहमासदत् ॥१३॥
सहन्ते न ननु स्त्रीणां तिर्यञ्चोऽपि पराभवम्। जयो रात्रौ वसन्गेहं श्रीमत्याः कौतुकं प्रिये ॥१४॥
शृण्वेकं दृष्टमित्याख्यत्तन्नाग्यखिलचेष्टितम्। अहं कुतः कुतो धर्मः संसर्गादस्य सोऽभवत् ॥१५॥
ममेह सिद्धिपर्यन्तो नान्यत्सत्संगमाद्धितम्। ध्यात्वेति मुक्तकोपोऽसौ कृतज्ञो जयमुत्तमम् ॥१६॥
रत्नैः संपूज्य स्वस्यापि प्रपञ्चं न्यगदत्सुरः। स्मर्तव्योऽहं स्वकार्येऽपीत्युक्त्वा स्वगृहमासदत् ॥१७॥
जयोऽपि चक्रिणा सार्धमाक्रम्य क्रमतो दिशः। विक्रमी क्रमणं मुक्त्वा संयमीव शमं श्रितः ॥१८॥
अथ काश्यभिधो देशो विकाशी विष्टपेऽखिले। भोगभूमिक्षयाद्भोगभूमिः साक्षादिवाभवत् ॥१९॥
वाराणसी पुरी तत्रामानैः सौधैरिवाहसत्। स्वर्विमानानि संजित्य शुभां तामामरीं पुरीम् ॥२०॥

से काकोदर बहुत ही व्याकुल हुआ और निर्जरा सहित मर कर गंगा नदी में काली नाम की जलदेवता हुआ और यह नागिनी भी पछताती हुई तथा अपने मन में धर्म का चिन्तन करती हुई मरी और अपने नाग की, जो कि नागकुमार देव हुआ था, प्रिया हुई। उसने नागकुमार से जय के द्वारा हुई अपनी मौत का सारा हाल कहा, जिसको सुन कर नागकुमार को बहुत क्रोध आया और वह उसी वक्त जय की मारने की इच्छा से उनके महल में पहुँचा ॥५-१३॥

सच है पशु भी अपनी स्त्री के तिरस्कार को नहीं सह सकता, उसे भी क्रोध हो आता है। रात का समय था और जय अपनी प्रिया लक्ष्मीमती के साथ महल में बातचीत कर रहे थे। वे कर रहे–प्रिये! मैंने आज एक बड़ा कौतुक देखा है, उसे सुनो। इतनी बातचीत के बाद उन्होंने उस नागिनी की सारी कथा लक्ष्मीमती को कह सुनाई। जय की बात सुनकर वह देव सोचने लगा कि कहाँ तो मैं एक पशु था और कहाँ यह धर्म जिसके प्रभाव से देव हो गया। यदि विचार से देखा जाये तो कहना होगा कि मोक्ष की सिद्धि तक इस संसार में सत्संग के सिवा कोई दूसरा हितैषी नहीं है। इस विचार के साथ ही क्रोध उसके हृदय से निकल कर भाग गया और वह बिल्कुल शांत-चित्त हो गया। इसके बाद कृतज्ञ और महापुरुष जय की उस देव ने रत्नों के द्वारा खूब पूजा की और उनको अपनी सारी कथा कह सुनाई। इसके सिवा उसने महाराज से निवेदन किया कि राजन्! काम पड़ने पर मुझे याद करना। मैं उसी वक्त आपकी सेवा में उपस्थित हो जाऊँगा। इतना कहकर वह देव अपने स्थान को चला गया। इधर चक्रवर्ती के साथ-साथ जयकुमार जब सभी दिशाओं को वश कर चुके-उन पर विजय पा चुके तब उन्होंने आक्रमण करना छोड़ दिया और वे एकदम संयमी मुनि की तरह शान्त-चित्त हो समता भाव धारण कर अमन-चैन से अपना समय बिताने लगे ॥१४-१८॥

काशी नाम का एक मनोहर देश है। वह सारे संसार में प्रसिद्ध है। जान पड़ता है कि मानों भोगभूमि सब जगह से नष्ट होकर यहीं आ गई है। वह साक्षात् भोगभूमि ही है। काशी में एक बनारस नगरी है। वह विशाल और स्वच्छ महलों का स्थान है। उसके भवन स्वर्ग के विमानों से भी बढ़े-चढ़े हैं। जान पड़ता है कि वह महलों की विशालता और स्वच्छता से स्वर्ग के विमानों को जीत कर

तत्पतिः कम्पितारातिरकम्पनो बभूव च। पूर्वोपार्जितपुण्यस्य वर्धनं रक्षणं श्रियः ॥२१॥
तत्प्रिया सुप्रभादेवी सुप्रभा हिमगोरिव। प्रभाकुमुदखण्डानि दधती विपुलश्रिया ॥२२॥
सहस्त्रं तत्सुता जाताः स्फुरन्तश्चांशवो रवेः। हेमाङ्गदसुकेतुश्रीसुकान्ताद्या इवोन्नताः ॥२३॥
तयोः सुलोचनालक्ष्मीवत्यौ पुत्र्यौ बभूवतुः। हिमवत्पद्मयोर्गङ्गासिन्धू वानु ततः शुभे ॥२४॥
सुलोचना परा पुत्री सुलोचना कलागुणैः। मनोरमा यथा लक्ष्मीश्चन्द्रिकेव जगत्प्रिया ॥२५॥
सुमत्याख्याभवत्तस्या धात्री सर्वगुणान् कलाः। अवर्धयन्निशा शुक्ला रेखायाः शशिनो यथा ॥२६॥
रम्भास्तम्भोरुकत्वेन सा रम्भा भाषिता बुधैः। तिलोत्तमसमूहेन तिलोत्तमैव सा मता ॥२७॥
भ्राजिष्णुकेशभारेण सुकेशी कथिता जनैः। परमैश्वर्ययोगेन सेन्द्राणीसमतां गता ॥२८॥
फाल्गुनेऽष्टाह्निकायां सा संपूज्य जिनपुङ्गवान्। कृतोपवासा तन्वङ्गी शेषां दातुं नृपं गता ॥२९॥
सोऽपि तां तत्करां दृष्ट्वोत्थाय तद्दत्तशेषिकाम्। कृताञ्जलिः समाधाय न्यधत्त शिरसि स्वयम् ॥३०॥
उपवासपरिक्षीणा पुत्रि त्वं पारणाकृते। सदनं याहि वेगेनेति तां सोऽपि व्यसर्जयत् ॥३१॥

अमरावती की हंसी उड़ाती है। वहाँ के राजा अकंपन थे। उनके तेज के मारे शत्रुगण थर-थर काँपते थे। वे पूर्वोपार्जित पुण्यकर्म को बढ़ाते थे, उसकी रक्षा भी करते थे। उनकी प्रिया का नाम सुप्रभा देवी था। सुप्रभा देवी के शरीर की प्रभा चाँद के तुल्य थी। वह अपनी विपुल श्री के द्वारा कुमुद के फूलों की प्रभा को धारण करती थी। अकंपन और सुप्रभा के हजार पुत्र थे और वे सबके सब सूरज की भाँति तेज वाले थे, उन्नतिशाली थे। उनके नाम थे-हेमांगद, सुकेत, श्रीसुकांत इत्यादि। इनके सिवा उनके सुलोचना और लक्ष्मीमती ये दो पुत्रियाँ थीं। ये दोनों हिमवत और पद्मद्रह से उत्पन्न हुई गंगा और सिंधु की समता करती थीं तथा उनसे भी श्रेष्ठ थीं। बड़ी पुत्री सुलोचना वास्तव में सुलोचना-सुन्दर नेत्रों वाली ही थी। कला और गुणों के द्वारा मन को मोहने वाली चंद्रमा की शोभा के समान थी क्योंकि उसमें भी नाना कलाएँ और गुण थे। अतएव वह संसार भर की प्यारी थी-उसे सभी प्रेमदृष्टि से देखते थे। सुमति नाम की उसकी एक धाय थी, जो उसके गुण और कलाओं को बढ़ाने की हमेशा ही चेष्टा किया करती थी। जैसे उजेली रात चाँद की कला को सदा ही बढ़ाती रहती है। इसकी जाँघें रंभा-केले के समान थीं, अतः लोग इसे रंभा कहते थे। देवांगना-गण इसे देवांगना ही मानता था। इसका केश-पास भारी सुशोभित था, इसलिए लोग इसे सुकेशी कहा करते थे। बहुत क्या कहें, अपने ऐश्वर्य के द्वारा वह इन्द्राणी के जैसी देख पड़ती थी ॥१९-२८॥

फाल्गुन को अठाई का समय था। उस वक्त सुलोचना ने बड़ी भक्ति से जिनदेव की पूजा की और व्रत लिया। व्रत-उपवास से उसका शरीर कृश हो गया था। पूजा-पाठ पूराकर वह प्रभु की आसिका देने के लिए राजा के पास पहुँची। राजा उसके हाथों में आसिका को देखकर उठा और दोनों हाथों की अंजलि बनाकर उसने आसिका को बड़े भक्तिभाव से लिया तथा लेकर अपने मस्तक पर चढ़ाया। इसके बाद राजा ने कहा कि पुत्री! उपवास से तेरा शरीर बहुत मुरझा रहा है, इसलिए तू जल्दी से महल को जा और पारणा कर ले ॥२९-३१॥

संपूर्णयौवनां बालां वीक्ष्य भूपः स्वमन्त्रिणः। पराञ्श्रुतार्थसिद्धार्थसर्वार्थसुमतिश्रुतीन् ॥३२॥
आहूयेति समापृच्छत्कस्मै देयेति कन्यका। श्रुतार्थः प्राह भूपेशात्र भारतस्य मण्डनम् ॥३३॥
भरतस्य सुतो धीमानर्ककीर्तिर्वरो मतः। कुलं रूपं वयो विद्यावृत्तं श्रीः पौरुषादिकम् ॥३४॥
यद्वरेषु विलोक्येत तत्सर्वं तत्र पिण्डितं। सिद्धार्थोऽत्रावदत्सर्वमस्तु किं च कनीयसः ॥३५॥
ज्यायसा सह संबन्धं नेच्छन्ति विबुधा जनाः। प्रभञ्जनो रथचरो बलिर्वज्ञायुधस्तथा ॥३६॥
मेघस्वरो भूमिभुजस्तथान्ये सन्ति भूमिपाः। तेषु यत्राशयो वोऽस्ति तस्मै कन्येति दीयताम् ॥३७॥
सर्वार्थः सिद्धसर्वार्थः श्रुत्वोवाच वचो वरम्। भूगोचरेण संबन्धः स नः पूर्वं हि विद्यते ॥३८॥
विद्याधरेण सम्बन्धोऽपूर्वोऽस्त्वस्याः सुखप्रदः। श्रुत्वेति सुमतिः प्राह युक्तमेतन्न सांप्रतम् ॥३९॥
स्वयंवरविधिः कार्यः किंतु सर्वसुखावहः। श्रुत्वेत्यकम्पनो धीमान्वरमाह निवेद्य च ॥४०॥
सुप्रभाया इदं कार्यं तथा हेमाङ्गदस्य च। समानेतुं महीपालानादिदेश वचोहरान् ॥४१॥

इतना कहकर राजा ने उसे तो विदाकर दिया, पर आप स्वयं इस सोच-विचार में उलझ गया कि सुलोचना अब युवती हो गई है, इसका विवाह कर देना चाहिए। इस प्रश्न को जब वह स्वयं हल न कर सका तब उसने श्रुतार्थ, सिद्धार्थ, सर्वार्थ और सुमति इन चारों मंत्रियों को बुलाया और उनके सामने यह प्रश्न रक्खा कि सुलोचना किसे देना चाहिए। इस प्रश्न को सुनकर श्रुतार्थ बोला कि भारतभूषण भरत चक्रवर्ती का अर्ककीर्ति नाम जो पुत्र है वह इस कन्या के लिए एक उत्तम वर है क्योंकि कुल, रूप, अवस्था, विद्या, चरित्र, धन और पुरुषार्थ आदि जो-जो वर में देखने की बातें है वे सब उसमें पाई जाती हैं। श्रुतार्थ की इस सम्मति को सुनकर सिद्धार्थ कहने लगा कि आपकी कही हुई सब बातें अर्ककीर्ति में हैं यह तो ठीक है, परन्तु सामान्य पुरुष का एक बड़े पुरुष के साथ सम्बन्ध होना उचित नहीं जान पड़ता। इसको विद्वान् लोग आदर की दृष्टि से नहीं देखते। राजन्! आपकी बराबरी वाले प्रभंजन, रथचर, बलि, वज्रायुध तथा मेघेश्वर भूमिभुज आदि बहुत से और-और राजा हैं। उनमें जिसकी आप उचित समझें उसको कन्या दें ॥३२-३७॥

सिद्धार्थ की सम्मति को सुनकर सिद्ध-साधक सर्वार्थ नाम मंत्री ने कहा कि राजन्! भूमिगोचरों के साथ तो पहले से ही सम्बन्ध होता चला आता है, पर विद्याधरों के साथ अब तक कोई सम्बन्ध नहीं हुआ। अतः मेरी सम्मति है कि आप किसी योग्य विद्याधर के साथ ही इस सम्बन्ध को स्थिर कीजिए। इस अपूर्व सम्बन्ध से हम सबको और कन्या को बहुत ही सुख प्राप्त होगा। सबकी सम्मति सुनकर पीछे से सुमति मंत्री बोला कि मेरी सम्मति है कि और-और बातों की अपेक्षा इस वक्त स्वयंवर-विधि करना ही ठीक होगा और उससे सबको सुख-शान्ति भी मिलेगी। सुमति की इस सम्मति को सुनकर बुद्धिमान् अकंपन ने कहा कि बहुत अच्छा स्वयंवर ही होना चाहिए। इस समय अकंपन ने सुप्रभा और हेमांगद की भी सम्मति ली और स्वयंवर करना ही निश्चित किया। इसके बाद अकंपन ने सब राजाओं के पास पत्र दे-देकर दूत भेजे और स्वयंवर में आने के लिए उनसे आग्रह किया ॥३८-४१॥

तदा ज्ञात्वा सुसंबन्धं विचित्राङ्गदसंज्ञकः। सौधर्मादागतो देवोऽकम्पनं प्रत्यभाषत ॥४२॥
स्वयंवरविधिं तस्या वीक्षितुं वयमागताः। इत्युक्त्वोपपुरे भागे ब्रह्मस्थानोत्तरे पुरे ॥४३॥
प्राङ्मुखं सर्वतोभद्रं प्रासादं बहुभूमिकम्। विधाय विधिवद्धीमांस्तं परीत्य विशुद्धदृक् ॥४४॥
मुदा निष्पादयमास स्वयंवरसुमण्डपम्। ततो महीभृतः सर्वे त्रिसमुद्रान्तरस्थिताः ॥४५॥
तल्लेखार्थं परिज्ञाय प्रापुर्वाणारसीं पुरीम्। स्वोचितेषु नृपास्तत्र स्थानेषु स्थितिभाजिनः ॥४६॥
सुलोचनाथ सिद्धार्चां चर्चयित्वा समग्रहीत्। सिद्धशेषां कृतस्नाना कृतनेपथ्यमण्डना ॥४७॥
रथे महेन्द्रदत्ताख्यः कञ्चुकी तां समाययौ। आरोप्य मण्डपे कन्यां रूपेण जितसद्रतिम् ॥४८॥
तदा पुरात्समागत्य कृती जितपुरंदरः। सुप्रभासहितो राजा सोऽस्थान्मण्डपसंनिधिम् ॥४९॥
समस्तकटकं सम्यक् संनाह्य सानुजो बली। हेमाङ्गदः समायासीत्प्रीत्या च परितो मुदा ॥५०॥
स्थित्वा महेन्द्रदत्तोऽपि रत्नमालाधरो रथे। सुलोचनामुवाचेति दर्शयन्खगनायकान् ॥५१॥
कन्येऽयं च नमेः पुत्रो दक्षिणश्रेणिनायकः। सुनमी रोचते तुभ्यं व्रियतां व्रियतामिति ॥५२॥

जयकुमार और सुलोचना के भावी शुभ सम्बन्ध को जानकर इसी समय पहले स्वर्ग से एक देव आया। उसका नाम था चित्रांगद। वह अकंपन के पास आ कहने लगा कि मैं सुलोचना के स्वयंवर को देखने की इच्छा से यहाँ आया हूँ। यह कह कर उस देव ने नगर के पास में ही जो एक ब्रह्म स्थान बना हुआ था, उससे उत्तर की ओर पूर्व मुख वाला बहुत विशाल सर्वतोभद्र नामक महल बनाया और उसके चारों ओर सुन्दर स्वयंवर मंडप की-जैसी होनी चाहिए रचना की। वह देव सम्यग्दृष्टि था, बुद्धिमान् और शुद्ध-चित्त था। उसने जितना कुछ काम किया था वह सब हर्ष के साथ और उत्तम रीति से किया था। तात्पर्य यह कि उसने स्वयंवर की अपूर्व और विधिपूर्वक रचना की थी। दूत-गण गये और जाकर उन्होंने राजाओं-महाराजाओं को अकंपन के पत्र दिये। राज-गण पत्र के द्वारा अकंपन राजा के भीतरी भाव को समझकर स्वयंवर के लिए आये। प्रायः तीन समुद्र के भीतर-भीतर के सभी राजा-गण बनारस में आ उपस्थित हुए, एवं समय पर स्वयंवर मंडप में अपने-अपने योग्य स्थानों पर आ विराजे ॥४२-४६॥

उधर सुलोचना ने स्नान आदि से निपट कर सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और गहने गाँठे पहिने तथा सिद्ध परमात्मा की पूजा कर उनकी आसिका को मस्तक पर चढ़ाया। इसके बाद महेन्द्रदत्त नाम कंचुकी उसे रथ में बैठाकर स्वयंवर मंडप में लाया। सुलोचना अपने रूप से रति को भी नीचा दिखाती थी। इस समय सुप्रभा देवी-सहित अकंपन महाराज भी वहाँ आये और वे एक ओर स्वयंवर मंडप के पास में ही बैठ गये। जान पड़ता था कि इन्द्राणी को साथ लेकर इन्द्र ही स्वर्ग से स्वयंवर देखने को आया है। इनके सिवा चतुरंगी सेना और छोटे भाइयों को साथ लेकर हेमांगद भी वहाँ आ पहुँचा। हेमांगद का स्वच्छ हृदय प्रीति और प्रमोद से खूब भर रहा था। थोड़ी ही देर में सुलोचना का रथ मंडप में आ पहुँचा। कंचुकी ने रथ को रोका। सुलोचना रथ से उतरकर मंडप में आई। इसके बाद जब सुलोचना वरमाल हाथ में ले पतिवरण को चली तब कंचुकी ने उन विद्याधर राजाओं को दिखाकर सुलोचना से कहा कि पुत्री! यह नमि का पुत्र सुनमि है। यह दक्षिण श्रेणी का

अयं सुविनमी राजोत्तरश्रेणिखगाधिपः। सुनमेः संततिश्चान्ये खगास्तेन निदर्शिताः ॥५३॥
कञ्चुकी दर्शयन्नेवं दर्शयामास भूमिपम्। अर्काभमर्ककीर्त्याख्यं चक्रिपुत्रं स्फुरद्गुणम् ॥५४॥
साथ मुक्त्वार्ककीर्त्यादीनजेया जयमागता। मुक्त्वाखिलान्द्रुमांश्चूतं वसन्ते कोकिला यथा ॥५५॥
तत्र रक्तं मनो मत्वा तस्याः प्रोवाच कञ्चुकी। जयोऽयं जगति ख्यातः सोमप्रभसुतः शुभः ॥५६॥
अस्य रूपं कथं वर्ण्यं यदेतदतिमन्मथम्। स आदर्शेऽर्पणीयः किं हस्तः कङ्कणलोकने ॥५७॥
उत्तरे भरते देवाञ्जित्वा मेघकुमारकान्। कृतोऽनेन मृगेड्नादो जिततन्मेघसुस्वनः ॥५८॥
चक्रिणा स्वभुजाभ्यां हि बबन्धे वीरपट्टकम्। चक्रे मेघस्वराख्यास्य हृष्ट्वा सेनापतीकृते ॥५९॥
तदा जन्मान्तरस्नेहाद् दृष्ट्वा तं सुन्दराकृतिम्। कुन्दाभांस्तद्गुणांश्रुत्वा मुमुदे सा च मानिनी ॥६०॥
समुत्क्षिप्य रथादेषा कन्या कञ्चुकिनः करात्। रत्नमालां समादाय चिक्षेप तत्सुकन्धरे ॥६१॥
तदा च सर्वतूर्याणामुदतिष्ठन्महास्वरः। कन्यासामान्यमुत्साहं दिक्कन्याः श्रावयन्निव ॥६२॥
साधु साधु कृतं सर्वे कन्ययाघोषयन्निति। साधवो वीक्ष्य योग्यत्वं साधुकारं वदन्त्यहो ॥६३॥

राजा है। यदि तुम चाहो तो इसे वरो। यह सुनमि का पुत्र सुवन है। यह उत्तर श्रेणी का राजा है। इस तरह उसने क्रमशः सभी विद्याधरों का सुलोचना को परिचय कराया। इसी प्रकार और-और सभी राजाओं, महाराजाओं का परिचय देता हुआ वह सूरज की प्रभा के समान प्रभा वाले भरत चक्रवर्ती के पुत्र, गुणों के भण्डार कुमार अर्ककार्ति के पास पहुँचा। वहाँ जा उसने सुलोचना को उनका परिचय दिया ॥४३-५४॥

पर वह अर्ककीर्ति आदि सभी राजाओं को छोड़ती हुई अन्त में किसी से भी नहीं जीते जाने वाले जयकुमार के पास पहुँची जिस तरह कोयल वसन्त ऋतु में और-और सभी वृक्षों को छोड़कर आम के पेड़ पर जा पहुँचती है। सुलोचना को जय में आसक्त-चित्त देख कंचुकी बोला कि पुत्री! ये जगत् प्रसिद्ध जय महाराज हैं। सोमप्रभ महाराज के पुत्र है। इनका सौंदर्य वचनातीत है। कामदेव के सौंदर्य से भी बढ़ा-चढ़ा है। देखती तो हो, हाथ के कंकण को दर्पण की जरूरत ही क्या है। उत्तर भारतवर्ष में इन्होंने मेघेश्वर देवों को जीतकर जो सिंहनाद किया था। वह मेघेश्वर देवताओं के शब्द को भी जीतता था। उस समय खुश होकर भरत चक्री ने अपने दोनों हाथों से इनके सिर पर 'वीर-पदक' बाँधा था और इनका मेघेश्वर नाम रखा था। इतना सुनकर पूर्वभव के प्रेम से वह मानिनी उस सुन्दर कृति और कुन्द के समान स्वच्छ गुणों वाले जय को देखकर और उनकी तारीफ सुनकर बहुत ही हर्षित हुई ॥५५-६०॥

उसने वरमाला जय के गले में डाल दी। उस समय होने वाले बाजों के महान् शब्द से दशों दिशायें गूंज उठीं। जान पड़ता था कि बाजों का शब्द कन्या के अपूर्व उत्साह को दिक्कन्याओं तक पहुँचा रहा है उन्हें सुना रहा है ॥६१-६२॥

सब लोग एकदम घोषणा करने लगे कि कन्या ने बहुत ही अच्छा किया जो जय को वरा एवं साधुजन उसकी पुरुष-परीक्षा की योग्यता को देखकर उसे साधुवाद देने लगे परन्तु अर्ककीर्ति के

तदा दुर्मर्षणः कश्चिदर्ककीर्त्यनुजीवकः। कोपादुद्दीपयन्भूपान्प्राह सर्वासहिष्णुकः ॥६४॥
अकम्पनो वृथा युष्मानाहूयासञ्जयज्जये। कन्यां विधित्सुर्वो दीर्घां पराभूतिं युगावधिम् ॥६५॥
इत्युक्त्वा चक्रिणः पुत्रं सव्रीडं प्राप्य चाब्रवीत्। तत्त्वां स्वगेहमानीय कृतं दौष्ट्यमनेन च ॥६६॥
त्वं हि चक्रिसुतः श्रीमाञ्जयोऽयं तव सेवकः। त्वां हित्वास्मै ददे कन्यानेन दौष्ट्यं महत्कृतम् ॥६७॥
इत्यसन्धुक्षयद्भर्तुर्वचोवातैः क्रुधानलम्। मामधिक्षिप्य कन्येयं दत्तानेन दुरात्मना ॥६८॥
वीरपट्टस्तदा सोढश्चक्रिणो भयतो मया। मालां सहे कथं चाद्य सर्वसौभाग्यहारिणीम् ॥६९॥
इति निर्मुक्तमर्यादो हेयादेयविमूढधीः। सोऽविचार्याचलद्योध्दुं कल्पान्तजलदोपमः ॥७०॥
अनवद्यमतिर्मन्त्री मन्त्रिलक्षणलक्षितः। न्याय्यं पथ्यं वचो वक्तुमर्ककीर्तिं प्रचक्रमे ॥७१॥
धर्मतीर्थं भवद्वंशाद्दानतीर्थं कुरूद्भवात्। तव तस्यापि सम्बन्धो वर्तते स्वामिभृत्ययोः ॥७२॥
अन्ययोषाभिलाषस्य पौर्व्यं त्वं मा कृथा वृथा। अवश्यमेषाप्यानीता न भार्या ते भविष्यति ॥७३॥

खोटी सम्मति देने वाले एक कर्मचारी से यह सब बातें न सही गई और उसने अर्ककीर्ति को भड़काकर कहा कि महाराज! अकंपन यदि जय को ही कन्या देना चाहते थे तो उन्होंने हम सबको व्यर्थ ही यहाँ बुलाकर हमारा तिरस्कार क्यों किया, जो संसार में युगों तक व्यापक रहेगा। यह सुनकर अर्ककीर्ति कुछ लज्जित हुए। उन्होंने अपना मस्तक नीचा कर लिया। यह देख उस कर्मचारी ने और भी जोश की आग फूँकना शुरू किया। वह बोला अकंपन ने आपको अपने घर बुलाकर आपके साथ में बड़ी भारी दुष्टता की है। विचारिए तो सही कि कहाँ तो आप चक्रवर्ती के पुत्र श्रीमान् और कहाँ यह जय आपका सेवक। इस बात का अकंपन ने कुछ भी सोच-विचार न किया और आपके होते हुए भी आपको छोड़कर इस सेवक को कन्या दे दी। अकंपन ने आपके साथ दुष्टता ही नहीं की, किन्तु भारी नीचता भी की है, जो कि अक्षम्य है। इस प्रकार भड़काने वाली वचन-रूप-वायु के द्वारा अर्ककीर्ति की क्रोधाग्नि खूब ही धधक उठी। वह बोला कि इस दुष्टात्मा ने मेरे होते हुए भी मुझे छोड़कर मेरे सेवक को कन्या दी, यह बड़ा भारी अपराध किया। इसे इसका फल अवश्य ही चखाना चाहिए। उस वक्त तो पिताजी के भय से मैंने जय को 'वीर-पदक' का प्रदान करना सह लिया था। पर इस समय सभी सौभाग्य को हरने वाली इस माला की क्षति को मैं क्यों कर सह सकता हूँ। क्रोध के वश हो जाने के कारण अर्ककीर्ति ने इस तरह सभी मान-मर्यादा तोड़ दी-हेय-उपादेय का ज्ञान उसके हृदय से कूचकर गया और वह एकदम युद्ध करने को तैयार हो गया। जान पड़ता था कि मानों प्रलयकाल का मेघ ही उमड़ रहा है क्योंकि प्रलयकाल का मेघ भी हेय-उपादेय रहित और मर्यादा रहित होता है ॥६३-७०॥

इसके बाद अनवद्यमति मंत्री ने, जो कि मंत्री के सभी लक्षणों से युक्त था, अर्ककीर्ति को न्याय-युक्त और हितकर वचनों द्वारा समझाना शुरू किया। राजन्! आपके वंश से धर्म-तीर्थ चला और जय के वंश से दान-तीर्थ। इस अपेक्षा से तो आप और जय बराबर ही है। दूसरी बात यह कि आपका और जय का स्वामी-भृत्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। अतएव आपको अपना कुछ भी पराभव नहीं समझना

यशः स्थास्नु प्रतापाढ्यं जयस्य स्याद्यथा दिनम्। मलीमसापकीर्तिस्ते स्थायिन्यत्र निशेव वै ॥७४॥
मा मंस्थाः साधनं सर्वं ममैतदिति वे बुधः। भूपाला बहवोऽप्यत्र सन्ति तत्पक्षगामिनः ॥७५॥
दुःप्रापं तत्त्वया पुम्भिः पुरुषार्थत्रयं महत्। अर्जितं न्यायमुल्लङ्घ्य वृथा तत्किं विनाशयेः ॥७६॥
भूभुजां सन्ति कन्यादिरत्नान्यन्यानि भूतले। तानि सर्वाणि रत्नैश्चानयामि तेऽद्य निश्चितम् ॥७७॥
स्वयंवरविधौ नैव नियमोऽयं विवाह्यते। मान्यो नायं लघुः किंतु कन्येष्टो यो वरः स च ॥७८॥
इति न्याय्यं वचस्तस्य हृदये न स्थितिं व्यधात्। यद्वत्पयःकणो मुक्तो युक्त्या सन्नलिनीदले ॥७९॥
एवमुल्लङ्घ्य मन्त्रीशं दुर्ग्रहार्तो महाकुधीः। स्वसेनपं समाहूय प्रत्यासन्नपराभवः ॥८०॥
सर्वेषां च महीपानां प्रकथ्य रणनिश्चयम्। भेरीं संदापयामास जगत्त्रयभयावहाम् ॥८१॥
भेरीरवं समाकर्ण्य नृपाः सर्वे रणोत्सुकाः। नटद्भटकरास्फोटचटुलारावनिष्ठुराः ॥८२॥

चाहिए। राजन्! पहले तो पराई स्त्री की चाह करना ही अनुचित है और दूसरे यदि लड़-भिड़कर जबरदस्ती सुलोचना लाई भी जायेगी तो निश्चय है कि वह आपकी भार्या न होगी, भले ही अपने प्राण खो बैठे। उस वक्त प्रताप-पूर्ण जय का यश संसार में दिन की तरह हमेशा स्थित रहेगा और रात की तरह संसार भर में आपकी अपकीर्ति फैल जायेगी। राजन्! जल्दी मत कीजिए, अभी युद्ध के लिए तैयारी मत कीजिए। यह मत समझिए कि मैं ही बलवान् हूँ और मेरे पास ही सब साधन है किन्तु उधर अकंपन के पक्ष में भी बहुत से राजा हैं और उनके पास में काफी साधन भी है। राजन्! धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पुरुषार्थों की प्राप्ति होना पुरुषों के लिए कोई आसान बात नहीं है परन्तु इन तीनों को आप साध चुके हैं और बहुत आसानी से। पर अब न्याय को लाँघकर उनका व्यर्थ ही सत्यानाश मत कीजिए। देखिए, संसार में बहुत से राजा हैं और उनके यहाँ बहुत से कन्यारत्न है। मैं निश्चय से कहता हूँ कि उन कन्यारत्नों को ला-लाकर आपके भण्डार में जमा कर दूँगा। इस बात में आप बिल्कुल ही संदेह न करें। यह स्वयंवर-विधि है। इसमें यह नियम नहीं है कि मान्य पुरुष के गले में ही वरमाला डाली जाये और गरीब के गले में न डाली जाये किन्तु कन्या के ऊपर ही सब बात निर्भर है। वह जिसे चाहे पसंद करे। तात्पर्य यह कि जिसको कन्या पसंद करेगी वही उसका वर होगा।

इस प्रकार न्याय-पूर्ण वचनों के द्वारा मंत्री ने बहुत कुछ समझाया बुझाया, पर अर्ककीर्ति के हृदय पर उसका कुछ भी असर न पड़ा, जिस तरह कि अनेक युक्तियों से कमलिनी के पत्ते पर डाला हुआ जल का एक कण भी नहीं ठहरता ॥७१-७९॥

उस कुबुद्धि, हठी और तिरस्कार के पात्र राजा ने मंत्री की इस अमूल्य सम्मति की कुछ भी परवाह न की और सेनापति को बुलाकर अपने पक्ष के तमाम राजाओं से लड़ाई के दृढ़ निश्चय को कह सुनाया एवं सब कुछ ठीक-ठाक करके उस दुराग्रही ने थोड़ी ही देर में तीन लोक को डरा देने वाली रणभेरी बजवा दी ॥८०-८१॥

भेरी के शब्द को सुनकर सभी राज-गण युद्ध के लिए उत्सुक हो उठे और चलते हुए भटों के हाथों के चंचल शब्दों के द्वारा अपनी निठुरता दिखलाने लगे। सब सेना तैयार होकर क्रम से चलने

नागाः समन्तात्संनद्धाश्चेलुः प्रागचलोपमाः। संग्रामाब्धेस्तरङ्गाभास्तुरङ्गास्तु सगर्वकाः ॥८३॥
चक्रचीत्कारसंचारा रथाश्चेलुः सवाजिनः। चण्डकोदण्डकुन्तासिकरास्तदनु पत्तयः ॥८४॥
गजं विजयधोषाख्यमर्ककीर्तिः सुकीर्तिमान्। समारूह्य चचालासावकम्पननृपं प्रति ॥८५॥
श्रुत्वा वार्तामिमां भूप आलोच्य सचिवैःसह। अर्ककीर्तिं समदिक्षद् दूतं स प्राप्य तं जगौ ॥८६॥
तवार्ककीर्ते किं युक्तमेवं सीमातिलङ्घनम्। प्रसीद चक्रिपुत्र त्वं तन्मा कार्षीर्मृषागमम् ॥८७॥
इत्युक्तमप्यशान्तं तं ज्ञात्वा प्रत्येत्य तत्तथा। आश्ववाजीगमत्सर्वं दूतोऽकम्पनभूपतिम् ॥८८॥
शृङ्खलालिङ्गनोद्युक्तमिदानीमिव वानरम्। बध्द्वाऽनेष्ये कुमारं तं परदाराभिलाषिणम् ॥८९॥
इत्युक्त्वा स जयो मेघकुमारविजयार्जितम्। मेघघोषाभिधां भेरीं दापयामास सत्वरम् ॥९०॥
तच्छब्दाकर्णनात्सर्वे घूर्णितार्णवसंनिभाः। दन्तावला मदेनेवोत्तुङ्गाश्चेलुर्मदिष्णवः ॥९१॥
खनन्तः कुं स्वनन्तश्च वायुवेगाः सुवाजिनः। पूर्णसर्वायुधरथाः प्रनृत्यद्ध्वजबाहवः ॥९२॥

लगी। सबसे आगे पर्वत के बराबर ऊँचे और सजे हुए हाथी चले जाते थे। हाथियों के पीछे युद्ध-समुद्र की तरंगों की तरह चंचल और पलाण आदि से सुशोभित घोड़े चलते थे। घोड़ों के पीछे चीत्कार शब्द करते हुए रथ और उनके बाद पयादे-गण चलते थे। पयादों के हाथों में भाँति-भाँति के हथियार थे। किसी के हाथ में दंड था, कोई धनुष और कोई भाला लिये था एवं किसी के हाथ में तलवार थी। इस प्रकार सेना के साथ अर्ककीर्ति विजयघोष नाम हाथी पर सवार होकर अकंपन महाराज पर जा चढ़ा ॥८२-८५॥

अकंपन ने जब इस समाचार को सुना तब मंत्रियों से सलाह कर अर्ककीर्ति के पास एक दूत भेजा। दूत ने जाकर अर्ककीर्ति से कहा कि कुमार! इस तरह मान-मर्यादा को लाँघना आपकी शोभा नहीं देता। हे चक्रिपुत्र! आप रंज को छोड़कर प्रसन्न होइए, व्यर्थ का झगड़ा मत छेड़िए। जहाँ तक बन सका दूत ने बहुत कुछ नम्र निवेदन किया, पर जब अर्ककीर्ति पर उसका कुछ भी असर न हुआ तब वह लाचार हो वापस लौट आया और उसने जैसा का तैसा सब हाल अकंपन महाराज को सुना दिया ॥८६-८८॥

वह सब सुनकर जय ने कहा कि कोई फिकर की बात नहीं, मैं उस परस्त्री-लंपट को साँकल से पकड़ने के लिए तैयार हुए बन्दर की भाँति एक मिनट में ही बाँध दूँगा। इसके बाद जय ने वह मेघघोषा नाम भेरी बजवाई, जिसको कि उन्होंने मेघकुमार को जीतकर प्राप्त किया था। तात्पर्य यह कि इधर से जयकुमार ने भी युद्ध की घोषणा कर दी ॥८९-९०॥

भेरी के शब्द को सुनते ही जयकुमार की सेना भी चल पड़ी। लहराते हुए समुद्र की भाँति मत वाले हाथी चलते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानों मद से घूमते हैं एवं पृथ्वी को अपनी टापों के द्वारा खोदते और हींसते हुए वायु के वेग की भाँति चंचल शीघ्रगामी घोड़े और सभी हथियारों से भरपूर रथ-समूह चलने लगे। रथों के ऊपर ध्वजाएँ फहराती थीं, जिनसे ऐसा जान पड़ता था कि मानों वे और-और मनुष्यों को युद्ध के लिए ही बुलाती हैं। इसी तरह पयादेगण भी आमोद-प्रमोद के साथ युद्धस्थान

पदातयः परं प्रीत्या पेतुस्तत्संयुगं प्रति। योषितोऽप्यभटायन्त तत्र का वर्णना परा ॥९३॥
अकम्पोऽकम्पनोऽरातिं संयुगे कम्पयन्ययौ। सूर्यमित्रः सुकेतुश्च जयवर्माथ श्रीधरः ॥९४॥
देवकीर्तिश्च मुकुटबद्धा जग्मुर्जयं प्रति। नाथसोमान्वयाश्चान्ये भूपास्तं परिवव्रिरे ॥९५॥
मेघप्रभोऽर्धविद्येशैर्विद्याधीशस्तमासदत्। विरच्य मकरव्यूहं रेजे मेघस्वरस्तदा ॥९६॥
चक्रव्यूहं विरच्याशु सोऽर्ककीर्तिर्जयत्यलम्। सुनमिप्रमुखाः खेटास्ताक्ष्र्यव्यूहमरीरचन् ॥९७॥
अष्टचन्द्राः खगाश्चक्रिपुत्रं च परिवव्रिरे। ततो भटा भटैः सार्धं योयुध्यन्ते रणाङ्गणे ॥९८॥
विपक्षहृदयं भित्त्वा शरास्तेषां विशन्ति च। दण्डादण्डि भटा भेजुःखड्गाखड्गि कचाकचि ॥९९॥
कुन्ताकुन्ति तयोर्युद्धं गदागदि शराशरि। मुशलामुशलि क्षिप्रं हलाहलि शिलाशिलि ॥१००॥
विशिखाश्चार्ककीर्तीनां ज्वलज्ज्वालाशिखोपमाः। जयानां योधमुख्यानां बिभिदुर्हृदयानि वै ॥१०१॥
विलोक्य स्वबलं क्षिप्तं स तदा सानुजो जयः। वज्रकाण्डं धनुर्लात्वा समारेभे महाहवम् ॥१०२॥
वादिनेव जयेनोच्चैः क्षिप्रं कीर्तिं जिघृक्षुणा। प्रतिपक्षः प्रतिक्षिप्तः शास्त्रैः शास्त्रैर्जिगीषुणा ॥१०३॥

में पहुँच ने को उद्यत हो गये। इस समय वहाँ की स्त्रियाँ भी भटों का काम करती थीं ॥९१-९३॥

वहाँ का और क्या वर्णन किया जा सकता है एवं अपनी सेना को साथ लेकर स्वयं अकंप और वैरियों को थर-थर कँपाने वाले अकंपन भी युद्धस्थल में शत्रु से जा भिड़े। इसी समय सूर्यमित्र, सुकेतु, जयवर्मा, श्रीधर और देवकीर्ति आदि मुकुटबद्ध राजा तथा और-और नाथवंशी, सोमवंशी राजा जय से आ मिले। इनके सिवा अर्द्ध विद्येशों को साथ लेकर मेघप्रभ नाम विद्याधर भी जय की सहायता को आया। तात्पर्य यह कि जय का पक्ष भी बहुत प्रबल था। इस वक्त मेघेश्वर (जय) ने मकरव्यूह रचा, जिससे उनकी अपूर्व ही शोभा हो गई ॥९४-९६॥

यह देख अर्ककीर्ति ने चक्रव्यूह की रचना की और जय के मकरव्यूह को भेद डाला। इसके बाद सुनमि आदि विद्याधरों ने, जो अर्ककीर्ति के पक्ष में थे, ताक्ष्र्यव्यूह की रचना की। इसी समय अष्टचंद्र आदि विद्याधर लोग भी अर्ककीर्ति की ओर आ पहुँचे। रणस्थल में एक दूसरे योद्धाओं के साथ प्रचंड युद्ध होने लगा ॥९७-९८॥

दोनों ओर के बाण शत्रुओं के हृदय को भेदने लगे। योद्धाओं में दंडों, तलवारों, भालों, गदों, शरों, मूशलों, हलों और शिलाओं के द्वारा तथा एक दूसरे के वालों की खेंचातानी के द्वारा खूब ही घमासान युद्ध हुआ ॥९९-१००॥

इधर अर्ककीर्ति ने जलती हुई आग की शिखा के समान तीक्ष्ण बाणों के द्वारा शत्रुदल के वीरों के हृदयों को छेद-भेद डाला, जिसको देखकर जयकुमार ने अपने छोटे भाइयों को साथ ले वज्रकांड धनुष के द्वारा भीषण युद्ध किया और थोड़ी-सी देर में ही शत्रुदल के वीरों को शस्त्र-प्रहार द्वारा तहस-नहस कर दिया, जिस तरह कीर्ति और विजय का अभिलाषी वादी शास्त्र की युक्तियों द्वारा प्रतिवादी को परास्त कर देता है। इसके बाद आकाश में जाकर जय के पक्ष के विद्याधरों ने शत्रुपक्ष के

खेचराः खेचरान्क्षिप्रं क्षिपन्ति गगने गताः। विद्यियुद्धग्रहग्रस्ता भेजुः संगरसंगरम् ॥१०४॥
समवेगैः समं मुक्तैर्बाणैर्गगनभूचरैः। अभ्रेऽन्योन्यमुखालग्नैः स्थितं कतिपयक्षणान् ॥१०५॥
सानुजोऽथ जयस्तावदाविःकृत्य यमाकृतिम्। हयमारुह्य पञ्चास्यमिव योध्दुं समुद्ययौ ॥१०६॥
जयन्तं ते जयं वीक्ष्य समं पेतू रणोद्यताः। सर्वेऽपि युद्धशौण्डीरा अभ्यग्नि शलभा यथा ॥१०७॥
लङ्घयित्वा गजानीकं कुमारो जयमारुणत्। विजयार्धगजाधीशं जय आरुह्य युद्धवान् ॥१०८॥
अरिंजयाख्यमारुह्य रथं श्वेताश्वयोजितम्। गृहीत्वा वज्रकाण्डं च दत्तं यच्चक्रिणा द्वयम् ॥१०९॥
बन्दिवृन्देन संस्तुत्यः समुत्थाप्य महाध्वजम्। अर्ककीर्तिर्जयं लेभे जयलक्ष्मीसमुत्सुकः ॥११०॥
जयो ज्यास्फालनं कृत्वा कृतान्तसमविक्रमः। गजानां भीषणस्तस्थौ दिशामप्याहरन्मदम् ॥१११॥
जयोऽपि शरसंघातैरर्ककीर्तिं गतप्रभम्। चक्रे घनाघनः सूर्यं यथा विगतरश्मिकम् ॥११२॥
अच्छैत्सीच्छत्रमस्त्राणि ध्वजं च दुर्जयो जयः। अर्ककीर्तेर्महौद्धत्यं हतवान्हतिकोविदः ॥११३॥
अष्टचन्द्रास्तदागत्य जयस्येष्टं न्यवारयन्। भुजबल्यादयोऽभीयुर्योध्दुं हेमाङ्गदं रुषा ॥११४॥

विद्याधरों का खूब ही तिरस्कार किया और वे विद्यायुद्ध के अभिमान से हमेशा के लिए युद्ध की प्रतिज्ञा करने लगे ॥१०१-१०४॥

उन्होंने कहा कि हम हमेशा तुम लोगों से युद्ध करने को तैयार हैं, कभी पीछा पैर देने वाले नहीं। इस वक्त नीचे से भूमिगोचरी और ऊपर से विद्याधर लोग बराबर बल से बाणों को छोड़ रहे थे, जिससे कि वे बीच में ही एक दूसरे के मुँह से टकरा कर रह जाते थे, किसी को हानि नहीं पहुँचा पाते थे। उनके विद्याबल का यह एक नमूना है। इसके बाद जयकुमार ने भाईयों सहित यम का रूप बनाया और वे सबके सब घोड़ों पर चढ़कर सिंह की तरह शत्रुदल के साथ युद्ध करने लगे। इस समय जय की जीत होने लगी, जिसको देखकर और-और सभी युद्ध कुशल वीर उन पर एकदम टूट पड़े, जिस तरह से आग पर पतंगे एकदम आ गिरते हैं। इसके बाद हाथियों की सेना को लाँघकर अर्ककीर्ति ने जय के ऊपर आक्रमण किया। जय ने भी विजयार्द्ध नाम के गजोत्तम पर सवार हो उसके साथ युद्ध आरंभ किया-कुछ भी उठा न रखा। चक्रवर्ती ने अर्ककीर्ति को दो वस्तुएँ दी थीं, एक वज्रकांड धनुष और दूसरा सफेद घोड़ों वाला रथ। इस समय अर्ककीर्ति ने इन दोनों से काम लिया। जयलक्ष्मी को पाने के लिए उत्सुक अर्ककीर्ति के कुछ विजय चिह्न दिखने लगे-उसने विजय की ध्वजा-सी फहरा दी। यह देख बन्दीजन आकर उसकी स्तुति करने लगे। अर्ककीर्ति की विजय होती देख यम के तुल्य पराक्रमी जय ने वज्रकांड धनुष द्वारा बात की बात ने दिग्गजों के मद को नष्टकर बाणों के समूह द्वारा अर्ककीर्ति को प्रभा रहित कर दिया, जिस तरह मेघमाला सूरज को तेज रहित कर देती है ॥१०५-११२॥

जय ने अर्ककर्ति के शस्त्र, ध्वजा, छत्र, चमर आदि सभी राजचिह्न भेद डाले और साथ में ही उसकी उद्धतता का भी इलाज कर दिया ॥११३॥

यह देखकर अष्टचंद्र वगैरह राजे रणकोविद जय के इष्ट का विघात करने को तैयार हुए परन्तु

सभ्रतारं हरिव्यूहं हरिव्यूहा इवापरे। सानुजोऽनन्तसेनोऽपि प्राप मेघस्वरानुजान् ॥११५॥
अन्योन्यं च तयोर्भूपाः कोपकम्पितविग्रहाः। अभिपेतुर्जयो योध्दुं संनद्धो रोषमानसः ॥११६॥
मित्रनागसुरो ज्ञात्वा विष्टराकम्पतो जयम्। नागपाशं शरं चार्धचन्द्रं दत्त्वा गतोऽप्यसौ ॥११७॥
कौरवो बाणमादाय वज्रकाण्डे न्ययोजयत्। रथानथाष्टचन्द्राणां ससारथीनभस्मयत् ॥११८॥
छिन्नदन्तकरो हस्तीव यमो वा हृतायुधः। भग्नमानः कुमारोऽस्थाद्धिक्कष्टं चेष्टितं विधेः ॥११९॥
विधिज्ञो विधिवत्पुत्रं चक्रिणः समजीग्रहत्। तस्याप्यासीदवस्थेयमुन्मार्गः कं न पीडयेत् ॥१२०॥
पतद्भास्करसंकाशमर्ककीर्तिं गतायुधम्। स्वरथे स्थापयित्वा स आरुरोह द्विपं स्वयम् ॥१२१॥
विपक्षखचरान्भूपान्नागपाशेन पाशितान्। नियन्त्र्य निर्जितारातिः संन्यस्थात्सिंहविक्रमः ॥१२२॥
इति प्राप्तजये तस्मिन्वृष्टिः सुमनसां दिवः। पपात सुरसंघेभ्यो जयारावविमिश्रिता ॥१२३॥
रणावनिं स आलोक्य कारयामास सर्वतः। मृतानां प्रेतसंस्कारं जीवतां जीवनक्रियाम् ॥१२४॥

वे उसका बाल भी बाँका न कर सके। उधर भुजबली आदि राजा हेमांगद के साथ लड़ने को तैयार हुए। वे ऐसे जान पड़ते थे मानों सिंहों का समूह ही है और हेमांगद के भाई वगैरह जो सिंह की तरह लड़ने को तैयार थे, उनसे लड़ने को आये एवं अपने छोटे भाइयों को साथ लिए हुए अनंतसेन आया और जय के भाइयों के साथ आ भिड़ा। दोनों पक्ष के राजाओं में खूब ही लड़ाई हुई। क्रोध के मारे दोनों पक्ष के राजा काँपते थे। यह सब हाल देखकर जय को खूब ही रोष आया और वह एकदम उन पर टूट पड़ा ॥११४-११६॥

जय के पुण्य प्रताप से इसी समय उस नागकुमार का, जिसका कि पहले जिक्र आ चुका है, आसन डगमगाने लगा, जिससे उसने जय के संकट को जान लिया। वह उसी वक्त आया और जय को नागपाश और अर्धचन्द्र शर देकर चला गया ॥११७॥

फिर क्या था, बाण को पाते ही जय ने उसको वज्रकांड धनुष्य पर चढ़ाया और अष्टचन्द्र आदि को रथ सहित भस्म कर दिया। यह देख कुमार का अभिमान नष्ट हो गया, जिस तरह दाँत और सूँड़ के कट जाने पर हाथी और हथियार छिन जाने पर यम निर्मद हो जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि कर्म की चेष्टा बड़ी कष्ट-मय होती है। इसके बाद विधि के ज्ञाता जय ने सरलता के साथ अर्ककीर्ति को पकड़ लिया। देखो, जो अर्ककीर्ति एक भारी गणमान्य पुरुष था उसी की आज यह हालत हो गई। सच है, मार्ग को छोड़कर जो औधे रास्ते से जाता है वह अवश्य ही दुखी होता है। इसके बाद अस्त होते हुए सूरज के समान प्रभा रहित अर्ककीर्ति को जय ने रथ में बैठा कर आप स्वयं हाथी पर सवार हुआ। अर्ककीर्ति के सिवा जय ने उसके अनुयायी और-और विद्याधरों को भी नागपाश से बाँध लिया था। इस प्रकार शत्रुओं पर विजय लाभकर सिंह के समान पराक्रमी राजा जय बड़ा सुखी हुआ ॥११८-१२२॥

जब देवताओं को जय के जीत की खबर लगी तब उन्होंने आकाश से फूलों की बर्षा की और जयध्वनि से दशों दिशाओं को शब्दमय कर दिया। इसके बाद जय ने रणस्थल का निरीक्षण किया

जयोऽप्यकम्पनेनामा प्राविशत्सर्वसंपदाम्। पुरीं पुरजनाकीर्णां लसत्केतनशोभिताम् ॥१२५॥
रक्षितान्धृतभूपालान्कुमारं च नियोगिभिः। आश्वास्याश्वासकुशलैर्यथास्थानमवापयत् ॥१२६॥
विनाशो विश्वविघ्नानां जिनादिति ववन्दिरे। संपूज्य स्तुतिभिः स्तुत्वा जिनं ते स्वस्थितिं गताः ॥१२७॥
विद्याधरधराधीशान् विपाशीकृत्य कृत्यवित्। विश्वान्विश्वासयामास तद्योग्यैः समुदीरितैः ॥१२८॥
अकम्पनजयौ नत्वा कुमारं विहितस्तुती। अभाषेतां भृशं भक्त्या भव्यौ भद्रमनोरथौ ॥१२९॥
अस्मद्वंशौ च युष्माभिर्विहितौ वर्धितौ सदा। न यास्यतः क्षयं त्वत्तो यतो वः सेवका वयम् ॥१३०॥
सुतबन्धुपदातीनामपराधशतान्यपि। महात्मानः क्षमन्ते हि तेषां तद्धि विभूषणम् ॥१३१॥
अपराधः कृतोऽस्माभिरेकोऽयमविवेकिभिः। बन्धुभृत्या वयं वस्तत्कुमार क्षन्तुमर्हसि ॥१३२॥
सुलोचनेति का वार्ता सर्वस्वं नस्तवैव तत्। चेन्निषिद्धस्त्वया पूर्वं क्रियते किं स्वयंवरः ॥१३३॥
त्वमग्निनेव केनापि पापिना विश्वजीवकः। उष्णीकृतोऽसि प्रत्यस्माज् शीतीभव सुवारिवत् ॥१३४॥

और मरे हुए वीरों की दग्ध क्रिया तथा जीते हुओं की जीवन क्रिया अर्थात् औषधि वगैरह का प्रबंध किया। यह सब किये बाद जय अकंपन महाराज के साथ-साथ काशी आये। काशी मनुष्यों से भरपूर और लहलहाती हुई ध्वजाओं से सुशोभित थी और भाँति-भाँति की सम्पत्ति से सजाई गई थी, जान पड़ता था कि जय की जीत की खुशी में नगरी ने अपनी काया ही पलट डाली है। वहाँ पहुँच कर जय ने पकड़े हुए राजाओं और अर्ककीर्ति को चतुर पुरुषों के द्वारा आश्वासन दिलवाकर उन्हें उनके योग्य स्थान पर ठहराया। इसके बाद जय वगैरह ने यह समझ कर कि सब विघ्न बाधाओं का नाश जिनेन्द्र देव के प्रसाद से ही होता है, उनकी पूजा-वन्दना की और भाँति-भाँति की स्तुतियों द्वारा उनकी स्तुति की। बाद सबके सब अपने-अपने स्थान को चले गये। वहाँ जाकर जय और अकंपन ने पकड़े हुए राजाओं और विद्याधरों को छोड़ दिया और योग्य मीठे वचनों द्वारा उनके हृदयों में विश्वास करा दिया कि तुम लोग किसी भी तरह की चिन्ता मत करो ॥१२३-१२८॥

इसके बाद भव्य और सरलचित्त जय और अकंपन ने अर्ककीर्ति कुमार की स्तुति कर उन्हें नमस्कार किया और कहा कि कुमार! हमारे कुलों को आपने ही बढ़ाया, पाला तथा पोषा है। फिर ये कुल आपके ही द्वारा कैसे नष्ट हो सकते थे। इसलिए ऐसा हुआ। वास्तव में आपकी हार नहीं हुई। हम सब लोग तो आपके ही सेवक है और एक बात यह कि सुत, बंधु तथा सिपाही वगैरह से चाहे सौ अपराध ही क्यों न हो जायें, महापुरुष सभी माफ कर देते हैं क्योंकि वास्तव में उत्तम पुरुषों का क्षमा ही भूषण है। कुमार! हम अविवेकियों से आपका एक अपराध हो गया है, पर हम आपके सेवक है, इसलिए आप हमें क्षमा प्रदान कर दें। हमारी यही अभ्यर्थना है। प्रभो! एक सुलोचना की तो बात ही क्या हैं, यह सर्वस्व ही आपका है और हम भी आपके हैं। यदि आपको सुलोचना की चाह ही थी तो पहले से ही स्वयंवर विधि को रोक देना चाहिए था ॥१२९-१३३॥

पर वास्तव में ऐसा भाव आपका न था क्योंकि आप तो विश्व के पालक हैं किन्तु किसी दुष्ट पुरुष ने आपको आग की तरह भड़का दिया और उसी से यह सब ऐसा हुआ है। अस्तु, अब आपसे

इति प्रसाद्य संतोष्य समारोप्य महाद्विपम्। अर्ककीर्तिं पुरस्कृत्य भेजे खेचरभूचरैः ॥१३५॥
सर्वार्थसंपदं दत्त्वाक्षमालामर्ककीर्तये। स तं विसर्जयामास लक्ष्मीमत्यपराभिधाम् ॥१३६॥
अपरांश्च नराधीशान्संतोष्य गजवाजिभिः। प्रेषयामास ते सर्वे जग्मुः स्वं स्वं पुरं प्रति ॥१३७॥
तदा नागासुरो भूत्या समेत्य समपादयत्। सुलोचनाविवाहं च जयेन सुजयेशिना ॥१३८॥
जयोऽकम्पनभूपेनालोच्य रत्नाद्युपायनैः। सुमुखाख्यं नरं प्रीत्यै चक्रेशं प्रत्यजीगमत् ॥१३९॥
गत्वासौ प्राभृतं मुक्त्वा प्रणम्य निभृताञ्जलिः। चक्रेशं चर्करीति स्म विज्ञप्तिं विनयान्वितः ॥१४०॥
अकंपनो भयादेवं विज्ञप्तिं कुरुते प्रभो। स्वयंवरविधानेन तस्मै तां प्रददौ मुदा ॥१४१॥
तत्रागत्य कुमारोऽपि सर्वं प्रागनुमत्य तत्। केनापि कोपितः क्रुद्धः संगरं विदधे ध्रुवम् ॥१४२॥
विज्ञातमेव देवेन सर्वं चावधिचक्षुषा। कर्तव्यं क्रियतां यन्नो वधः क्लेशोऽर्थसंहृतिः ॥१४३॥
इति प्रश्रयिणीं वाणीं निगद्य सुमुखः स्थितः। उवाच वचनं चक्री परचक्रभयंकरः ॥१४४॥
अकंपनैः किमित्येवमुक्त्वा संप्रहितो भवान्। पुरुभ्यो निर्विशेषास्ते सर्वज्येष्ठाश्च सांप्रतम् ॥१४५॥

यही नम्र प्रार्थना है कि आप हमारे ऊपर ठंडे जल को भाँति ही ठंडे हो जाइए। इसके बाद अकंपन ने अर्ककीर्ति को बहुत सम्पति दी और लक्ष्मीमती नाम पुत्री का उसके साथ ब्याह कर दिया। इस तरह अकंपन बड़े आदर के साथ अर्ककीर्ति को सन्तुष्ट कर और हाथी पर चढ़ा बहुत से राजाओं महाराजाओं सहित उसके देश को रवाना कर दिया एवं और-और राजाओं को भी हाथी घोड़े आदि की भेंट द्वारा सन्तुष्ट कर उन्हें विदा दी। वे भी सब अपने-अपने नगर को चले गये। इसके बाद बड़े भारी ठाट-बाट के साथ वह नागकुमार आया और उसने जयशील जयकुमार के साथ भली-भाँति सुलोचना का विवाह करवाया। देखो, यह सब पुण्य का ही माहात्म्य है जो देवता-गण भी सेवा में आकर उपस्थित हो जाते हैं ॥१३४-१३८॥

इसके बाद जय ने अकंपन की सम्मति से रत्न आदि भेंट देकर सुमुख नाम एक दूत को चक्रवर्ती के पास भेजा। वह गया और चक्रवर्ती के सामने रत्न आदि भेंट रखकर तथा उन्हें हाथ जोड़ प्रणाम कर नम्रता-पूर्वक बोला ॥१३९-१४०॥

प्रभो! अकंपन महाराज आपके डर से आपको यह जताना चाहते है कि मैंने स्वयंवर विधि करके जयकुमार को अपनी सुलोचना नाम कन्या दी है। स्वयंवर में आने की कुमार ने भी कृपा की थी और जब कन्या ने जय के गले में वरमाला डाली तब उन्होंने अपनी सम्मति भी प्रगट की थी। पर पीछे से न जाने किसी पापी ने कुमार के कान भर दिये, जिससे वे क्रुद्ध हो गये और उन्होंने युद्ध छेड़ दिया। वह सब हाल श्रीमान् ने अवधिज्ञान-चक्षु के द्वारा प्रत्यक्ष ही देखा है। हे प्रभो! अब जो कर्तव्य हो सो कीजिए, जिसमें हमारी अर्थ-क्षति न हो और हमें क्लेश भी न पहुँचे, एवं हम मारे न जाए। इस प्रकार दीनता भरे वचनों द्वारा नम्र निवेदन कर चुकने पर दूत तो एक ओर बैठ गया और परचक्र को भय देने वाले चक्रवर्ती ने उत्तर में यों कहना शुरू किया कि अकंपन ने ऐसे नम्र वचनों को लेकर तुम्हें व्यर्थ ही भेजा क्योंकि वे बड़े हैं, अतएव मेरे लिए आदिनाथ प्रभु से कम नहीं हैं।

मोक्षमार्गस्य पुरवो गुरवो दानसंततेः। श्रेयांसश्चक्रवर्तित्वे यथेहास्म्यहमग्रणीः ॥१४६॥
स्वयंवरविधातारो नाभविष्यंस्त्वकम्पनाः। कः प्रवर्तयितान्योऽस्य मार्गस्य यदि निश्चितम् ॥१४७॥
पथः पुरातनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान्। कुर्वते नूतनान्सन्तः पूज्याः सद्भिस्त एव हि ॥१४८॥
अकीर्तिमर्ककीर्तिर्मे कीर्तनीयामकीर्तिषु। अकार्षीदायुगं चेह मधुव्रतमलीमसाम् ॥१४९॥
संतोष्येति स विश्वेशः सुमुखं प्राहिणोत्स च। गत्वा तयोः पदं नत्वा सर्वं पूर्वमचीकथत् ॥१५०॥
सुलोचनाजयौ तत्र चिक्रीडतुश्चिरं सुखम्। पुनस्तौ स्वपुरं गन्तुमीहेते जननोदितौ ॥१५१॥
अकम्पनं निवेद्यासौ पूजितो गजवाजिभिः। अनुगङ्गं जगामाशु वृतः श्वशुरबांधवैः ॥१५२॥
तत्र गङ्गानदीतीरे संस्थाप्य वरवाहिनीम्। आप्तैः कतिपयैः सार्धं प्रत्ययोध्यां ययौ जयः ॥१५३॥
अर्ककीर्त्यादिभिर्भूपैस्तस्य संमुखमागतैः। सहायोध्यां विवेशासौ मघवेवामरीं पुरीम् ॥१५४॥
मध्येसभं सभानाथं नत्वासौ चक्रवर्तिनम्। निर्दिष्टभूतलेऽतिष्ठज्जयो जयविराजितः ॥१५५॥
ऊचे स चक्रिणा तूर्णं वधूर्विधुमुखी किमु। नानीता तां वयं द्रष्टुं वर्तामहे समुत्सुकाः ॥१५६॥
अकम्पनेन नाहूतास्त्वद्विवाहोत्सवे नवे। वयं युक्तमिदं किं भोः सनाभिभ्यो बहिःकृताः ॥१५७॥

जिस तरह आदिनाथ प्रभु मोक्षमार्ग के प्रवर्तक गुरु हैं, दान की प्रवृत्ति करने वाले श्रेयांस राजा है तथा चक्रवर्तीपने का मैं अगुआ हूँ उसी तरह वे भी तो स्वयंवर-विधि के विधाता है-चलाने वाले हैं। यदि आज वे न होते तो स्वयंवर-विधि को कौन चलाता, यह बात तो निश्चित ही हैं। यहाँ भोगभूमि होने से जो पुराने मार्ग लुप्तप्राय हो गये थे उनको जिन सत्पुरुषों ने फिर से प्रचलित किया है, उनमें नयापन डाला है वे सारे संसार के पूज्य हैं। ऐसे पुण्य प्रसंग पर अर्ककीर्ति ने जो वहाँ अन्याय से लड़ाई की उससे उसने युग-पर्यन्त के लिए मेरे यश में धब्बा लगा दिया, अपयशी पुरुषों में मेरी गिनती करवा दी। इस प्रकार चक्रवर्ती ने दूत को समझा-बुझाकर वापस लौटा दिया। उसने वापस आकर अकंपन और जय को नमस्कार कर चक्रवर्ती के जैसे के तैसे वचन उन्हें कह सुनाये ॥१४१-१५०॥

इस प्रकार चक्रवर्ती का उत्तर सुन वे बड़े प्रसन्न हुए। इसके बाद कुछ काल तक जयकुमार और सुलोचना ने वहीं सुख से निवास कर बाद अपने नगर को जाने की इच्छा की और अकंपन महाराज को अपनी इच्छा कह सुनाई। अकंपन ने हाथी घोड़ों आदि से खूब सम्मान कर उन्हें विदा किया और साथ में हेमांगद आदि राजाओं को भेजा। सुर और बन्धुवर्ग से घिरे हुए दोनों दम्पति गंगातट पर आये। वहाँ आकर उन्होंने सब सेना को तो वहीं ठहरा दिया और आप कितने ही उत्तम पुरुषों को साथ लेकर अयोध्या नगरी को गये ॥१५१-१५३॥

वहाँ नगरी से बाहर आकर अर्ककीर्ति आदि ने उनकी खूब अगवानी की और उन्हें वे नगरी में लाये। जिस समय जय ने अर्ककीर्ति आदि के साथ-साथ नगरी में प्रवेश किया उस समय ऐसा भान होता था कि बहुत से देवताओं के साथ-साथ इन्द्र ही अमरावती में प्रवेश कर रहा है। वे सीधे राजसभा में गये और सभानायक चक्रवर्ती को नमस्कार कर उनके दिखाये हुए स्थान पर जा बैठे। चक्रवर्ती ने कहा कि जय, तुम चन्द्रवदनी वधू को यहाँ क्यों नहीं लाये। हम उसके देखने को बहुत ही उत्सुक हैं। क्या करें, अकंपन ने तो इस बिल्कुल नये विवाह-महोत्सव में हमें निमंत्रण ही नहीं

अहं त्वत्पितृस्थानीयो मां पुरस्कृत्य कन्यका। त्वयासौ परिणेतव्या त्वं तद्विस्मृतवानसि ॥१५८॥
इत्यपूर्ववचोवादैस्तर्पितश्चक्रवर्तिना। लब्धमानो महामानं तं प्रणम्य जयो ययौ ॥१५९॥
समारुह्य गजं सद्यः स गङ्गातटमासदत्। ईप्सुर्मनःप्रियां द्रष्टुं स्वप्राणेभ्यो गरीयसीम् ॥१६०॥
शुष्कवृक्षस्य शाखाग्रे संमुखीभूय भास्वतः। ब्रुवन्तं ध्वांक्षमावीक्ष्य कान्ताया भयचिन्तया ॥१६१॥
मूर्च्छितः स समाश्वास्य तद्योग्यवरवस्तुभिः। सुरदेवेन मा भैषीर्भार्यायामिति सान्त्वितः ॥१६२॥
प्रमाणीकृत्य तद्वाक्यमतीर्थ्येनोदयद्गजम्। उत्पुष्करं स्फुरद्दन्तं तरन्तं मकराकृतिम् ॥१६३॥
दन्तिनं वीक्ष्य पूर्वोक्ता सरय्वाः संगमेऽग्रहीत्। कालीदेवी स्वदेशस्थः क्षुद्रोऽपि महतां बली ॥१६४॥
गजराजं निमज्जन्तं दृष्ट्वा हेमाङ्गदादयः। तटस्थिताः सहापेतुः ससंभ्रमं महाह्रदम् ॥१६५॥
सुलोचनार्हतो गोत्रं समाधाय स्वमानसे। त्यक्ताहारशरीरादिरुपसर्गावसानकम् ॥१६६॥
प्राविदशद्बहुभिः सार्धं गङ्गां गङ्गेव देवताम्। ज्ञात्वाथासनकम्पेन गंगाकूटाधिवासिनी ॥१६७॥

दिया। बताओ तो सही क्या यह बात ठीक है। क्या उन्होंने इस लोगों को बन्धुओं से बाहर कर दिया है। अस्तु जो हो, परन्तु तुम्हारे लिए तो मैं पिता के तुल्य हूँ, तुम्हें तो मुझे अगुआ बना कर ही अपना विवाह करना था, पर तुम भी हमें भूल गये, तुमने भी तो निमंत्रण नहीं दिया। इस प्रकार की अपूर्व-अपूर्व बातें कह कर चक्रवर्ती ने उन्हें सन्तुष्ट किया और उनका योग्य आव-आदर किया। इसके बाद जय महामना चक्रवर्ती को नमस्कार कर वापस लौट आये ॥१५४-१५९॥

हाथी पर सवार हो शीघ्र ही गंगातट पर जा पहुँचे। वे प्राणों से भी कहीं अधिक प्यारी सुलोचना को देखने लिए उत्सुक हो रहे थे। इतने में ही उन्होंने सूखे वृक्ष की डाली पर सूरज की ओर मुँह किये बैठे हुए एक कौवे की बोली सुनी। उसे सुनते ही उन्हें अपनी प्रिया के सम्बन्ध में कोई भारी अनिष्ट की शंका हुई और मूर्च्छा आ गई। वे बेहोश हो गये। उनकी यह दशा देख उसी नागकुमार ने आकर शीतल-सुगन्धित वस्तुओं के उपचार से उन्हें सचेत किया और कहा कि आप सुलोचना की चिन्ता न करें, वह सब तरह से सुखी है। जय ने उसके वचनों पर विश्वास कर शीघ्रता के कारण बिना घाट के ही ऊभट मार्ग द्वारा हाथी की गंगा में उतार दिया। हाथी के दाँत सुन्दर और चमकीले थे। वह जल में सूँड उठाए ऐसा भान होता था मानो तैरता हुआ मगर ही है। पाठक भूले न होंगे कि काकोदर मरकर गंगा में कालीदेवी हुआ था। धीरे-धीरे जब वह हाथी बीच धार में पहुँचा तब उस कालीदेवी ने उसे रोक दिया, जिससे वह आगे जाने को असमर्थ हो गया। सच है अपने स्थान पर निर्बल भी बल दिखाने लग जाता है ॥१६०-१६४॥

ज्यों ही हाथी की काली ने पकड़ा, त्यों ही वह जल में डूबने लगा। उसको डूबता हुआ देखकर हेमांगद आदि जो गंगातट पर खड़े थे, शीघ्र ही गंगा में कूद पड़े। उधर सुलोचना भी आहार, शरीर आदि से ममता भाव को छोड़कर सभी उपद्रवों को दूर करने वाले ''णमो अरहंताणं'' मंत्र का जाप करने लगी और बहुत से सखी जनों के साथ-साथ वह भी गंगा के भीतर उतर पड़ी। इसी गंगातट पर एक गंगा नाम देवी रहती थी। सहसा आसन के कम्पायमान होने से सब हाल जानकर

तानानयत्तटं सर्वानागत्य खलकालिकाम्। संतर्ज्य जयमासज्ज्य जये पुण्याज्जयो भवेत् ॥१६८॥
गङ्गातीरे विकृत्याशु सदनं सर्वसंपदा। रत्नपीठे समाधायापूजयत्सा सुलोचनाम् ॥१६९॥
अवरुद्धामरेशस्य त्वया दत्तनमस्कृतेः। त्वत्प्रसादादहं जज्ञे प्रिया गङ्गाधिदेवता ॥१७०॥
जयस्तदुक्तमाकर्ण्य किमित्याह सुलोचना। उपविन्ध्याद्रिभूपोऽभूद्विन्ध्यपुर्यां तु तद्ध्वजः ॥१७१॥
प्रियङ्गुश्रीः प्रिया तस्य विन्ध्यश्रीश्च तयोः सुता। तत्पिता तां गुणान्सर्वाञ्शिक्षितुं मां समर्पयत् ॥१७२॥
मया सह मयि स्नेहात्क्रीडन्ती सैकदाहिना। वसन्ततिलकोद्याने दष्टादायि मया तदा ॥१७३॥
नमस्कारमहामन्त्रो भावयन्त्यत्र सा मृता। जातेयं स्नेहिनी देवी मयि धर्मानुरागतः ॥१७४॥
जय आकर्ण्य तत्सर्वं गङ्गादेवीं विसर्ज्य च। सपताकं निजावासं प्राविशत्सप्रियः प्रियी ॥१७५॥
नीत्वा निशां स तत्रैव प्रातरुत्थाय ब्रध्नवत्। अनुगङ्गं प्रयान्प्रेम्णा संप्राप स्वपुरं परम् ॥१७६॥

वह उसी वक्त वहाँ आई और गंगा से सबको सही सलामत निकाल कर उसने किनारे पर पहुँचा दिया एवं उसने दुष्ट काली को खूब ही ताड़ना दी और उसे जयकुमार के पास लाई। सच है पुण्य-योग से सब जगह जीत ही जीत होती है ॥१६५-१६८॥

इसके बाद गंगादेवी ने नदी के तट पर सभी सम्पत्ति से भरपूर एक मनोहर महल बनाया और उसमें एक मनोहर सिंहासन पर सुलोचना को बैठाकर उसने उसकी बड़ी भक्ति से सेवा-पूजा की। इसके बाद वह बोली कि वसन्ततिलक नाम उद्यान में जब मुझे साँप ने काट खाया था तब आपने मुझे नमस्कार मंत्र दिया था। अतः आपकी ही कृपा से मैं यहाँ गंगा की अधिष्ठात्री और सौधर्म इन्द्र को नियोगिनी देवी हुई हूँ ॥१६९-१७०॥

देवी! यह सब आपके दिये हुए मंत्र से ही हुआ है, अतः मैं आपकी चिर कृतज्ञ हूँ। यह सब सुन जयकुमार ने सुलोचना को कहा कि प्रिये! इसकी सारी कहानी कहो। उत्तर में सुलोचना ने यों कहना आरम्भ किया कि विंध्याचल पर्वत पर एक विंध्यपुरी नाम नगरी है। वहाँ विंध्यध्वज राजा राज्य करते हैं। उनकी रानी का नाम प्रियंगुश्री है। उनके एक विंध्यश्री नाम कन्या थी। विंध्यध्वज ने उस कन्या को सभी गुण-सम्पन्न बनाने के लिए मेरे पास भेज दिया। मेरा उस पर और उसका मुझ पर पूरा स्नेह था। एक दिन हम दोनों वसंततिलक नाम उद्यान में क्रीड़ा कर रही थीं। दैवयोग से इतने में उसे एक साँप ने काट खाया और वह उसी वक्त बेहोश हो गई। उस वक्त मैंने उसे नमस्कार मंत्र दिया तथा उसका माहात्म्य भी समझा दिया। बाद कुछ देर में वह उस मंत्र का जाप करती हुई मर गई और यहाँ आकर यह गंगादेवी हुई। इसने उसी धर्मानुराग से मुझ पर यह स्नेह दिखाया है। यह सब कहानी सुनकर जय ने गंगादेवी को विदा कर आप फहराती हुई ध्वजाओं वाले उसके बनाए हुए मनोहर महल में गये ॥१७१-१७५॥

वहाँ रात पूरी कर सबेरे वे सूरज की तरह उठे और गंगा के किनारे-किनारे चलकर शीघ्र ही हस्तिनागपुर आ पहुँचे। हस्तिनागपुर अपनी सुन्दर सामग्री से मनुष्य-सा जान पड़ता था। मनुष्य के

पताकाचलहस्ताढ्यं हेमकुम्भास्यशोभनम्। महातोरणवक्षस्कं गवाक्षाक्षीणचक्षुषम् ॥१७७॥
हटद्धटितस्वट्टालीकटीतटसमाश्रितम्। शातकुम्भमहास्तम्भसत्पादं रत्नसन्नखम् ॥१७८॥
पुरं नरमिवालोक्य सल्लीलालीविलोकितम्। सुलोचनायुतो भेजे जयो जय इवापरः ॥१७९॥
विवेश पत्तनं पत्न्या पुरुपुत्र इवापरः। निश्छद्म सुखसद्धामाध्यासीत्स्वसदनं जयः ॥१८०॥
सुलोचनामुखाम्भोजभ्रमरो भ्रातृभिः सह। पालयन्निखिलां क्षोणीं रेजेऽसौ सुरराडिव ॥१८१॥
प्रासादमेकदारुह्य गच्छन्तौ खगदम्पती। दृष्ट्वा प्रभावती मेऽहो क्वेति जल्पन्मुमूर्च्छ सः ॥१८२॥
तथा कलरवद्वन्द्वं वीक्ष्य जातिस्मरान्विता। हो मे रतिवरेत्युक्त्वा सापि मूर्च्छामुपागमत् ॥१८३॥
हिमचन्दनसंमिश्रवार्भिस्तन्मूर्च्छनासुखम्। अवारयत्परीवारस्तमो वा रत्नदीधितिः ॥१८४॥
प्रबुद्धौ तौ स्मयाक्रान्तौ दृष्ट्वा लोकान्सुविह्वलान्। विदित्वा पूर्वजन्मानि सोऽभाणीत्स्वप्रियां प्रति ॥१८५॥
प्रिये जन्मान्तरावाप्तं वृत्तान्तं विश्वमावयोः। व्यावर्ण्येदमदः शान्तं कुरु कौतुकसंगतम् ॥१८६॥

हाथ होते हैं, इसके उड़ती हुई पताकाएँ ही हाथ थीं। मनुष्य के मुख होता है, इसके सुवर्ण कलश ही सुन्दर मुख था। पुरुष के वक्षःस्थल होता है, इसके बड़े-बड़े तोरण ही वक्षःस्थल जैसे थे। मनुष्य के नेत्र होते है, उसके झरोखे ही नेत्र थे। मनुष्य के कटिभाग, पैर और नख होते हैं, उसके भी गुमटियों के नीचे की गहराई-सी जो होती है वह कटिभाग और खंभे पाँव तथा उनमें जड़े हुए रत्न ही नख थे एवं मनुष्य के स्त्री होती है, उसके भी सत्पुरुषों की संख्यारूपी स्त्री थी। बहुत क्या कहें, इस नगर की अपूर्व ही शोभा थी। सब तरह से सजे-धजे हस्तिनागपुर को देखकर जय महाराज बहुत ही सन्तुष्ट हुए। वे सुलोचना सहित वहाँ ऐसे शोभते थे मानों जय का अवतार ही है। जय ने नगर में उसी तरह प्रवेश किया, जिस तरह कि चक्रवर्ती अयोध्या नगरी में प्रवेश करता है एवं वहाँ वे सच्चे सुखों को देने वाली अपनी प्रिया के साथ-साथ सुख से सुन्दर महलों में निवास करने लगे। सुलोचना के मुख-कमल के भ्रमर के जैसे जय अपने छोटे भाइयों सहित पृथ्वी का पालन करते हुए इन्द्र के जैसे शोभते थे ॥१७६-१८१॥

एक दिन जय महाराज ने महल के ऊपर से एक कबूतरों के जोड़े को देखा और उसे देखते ही, ''मेरी प्रभावती कहाँ है'' यह कहकर वे बेहोश हो गये तथा मीठी-मीठी ध्वनि करने वाले उन कबूतरों को देखकर सुलोचना को भी जातिस्मरण हो आया एवं वह भी हा, ''मेरा रतिवर कहाँ है'' यह कह मूर्च्छित हो गई। उस समय सभी कुटुम्ब-परिवार के लोग इकट्ठे हो गये और उन्होंने चंदन आदि शीतल वस्तुओं के उपचार द्वारा उनकी मूर्छा को दूर किया, जिस तरह रत्नों की ज्योति अँधेरे को दूरकर देती है ॥१८२-१८४॥

वे दोनों जब सचेत हुए तब उन्हें अपने परिवार के लोगों की, विह्वलता देखकर बहुत ही अचंभा हुआ और साथ ही पिछले भवों का स्मरण हो आया। जय ने सुलोचना से कहा कि प्रिये! अपने पिछले जन्मों का सारा हाल सुनाकर इन सबके कौतुक को मिटाओ। अपने प्रियतम की आज्ञा पाकर वह मिष्टभाषिणी यों कहने लगी ॥१८५-१८६॥

साज्ञापिता प्रियेणेति बभाषे कलभाषिणी। इह जम्बूमति द्वीपे पुष्कलावत्यभिख्यया ॥१८७॥
प्राग्विदेहे श्रुते देशे मृणालादिवती पुरी। सुकेतुस्तत्र भूपालो वैश्येशो रतिकर्मकः ॥१८८॥
कनकश्रीः प्रिया तस्य भवदेवः सुतस्तयोः। श्रीदत्तश्चापरस्तत्र वणिक् तस्यातिवल्लभा ॥१८९॥
विमलश्रीस्तयोः ख्याता रतिवेगा सुता सती। तथान्योऽशोकदेवाख्यो जिनदत्ताप्रियो वणिक् ॥१९०॥
सुकान्तस्तनयो जातस्तयोर्धर्मार्थमानसः। भवदेवविवाहार्थं रतिवेगा च याचिता ॥१९१॥
पितृभ्यां तत्पितृभ्यां च तथेत्यङ्गीकृतं तदा। भवदेवस्य दुर्वृत्त्या दुर्मुखाख्याप्यजायत ॥१९२॥
व्यापारार्थमटन्देशान्तरे स स्वजिघृक्षुकः। श्रीदत्तेनेति संप्रोक्तो विवाहविधये स्फुटम् ॥१९३॥
अटाट्यसे वणिज्यायै विवाहस्य च का गतिः। द्वादशाब्दावधिं कृत्वेति स देशान्तरं ययौ ॥१९४॥
तन्मर्यादात्यये तस्याः पितृभ्यां परमोत्सवैः। सुकान्ताय समादायि रतिवेगा रतिप्रदा ॥१९५॥
देशान्तरात्समागत्य तद्वार्ताश्रवणाद्भृशम्। दुर्मुखे कुपिते भीत्वा तदानीं तद्वधूवरम् ॥१९६॥
वने धान्यकमालाख्ये प्राप्य सर्पसरोवरम्। स्थितस्य शक्तिषेणस्य व्रजित्वा शरणं ययौ ॥१९७॥

''जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह में एक पुष्कलावती देश है। उसमें मृणालवती नाम पुरी है। वहाँ के राजा सुकेतु थे। इसी नगरी में एक रतिवर्मा नाम सेठ रहते थे। उनकी स्त्री का नाम कनकश्री और पुत्र का नाम भवदेव था। यहाँ श्रीदत्त नाम एक वैश्य और थे। उनकी स्त्री का नाम विमलश्री और पुत्री का नाम रतिवेगा था। वह सती थी एवं अशोकदेव नाम एक तीसरे सेठ और यहीं रहते थे। उनकी स्त्री का नाम जिनदत्ता और पुत्र का नाम सुकान्त था। वह हमेशा धर्म-कर्म में लगा रहता था। एक बार भवदेव के माता-पिता ने उसके लिए रतिवेगा के माता-पिता से उसकी याचना की और उन्हें इस काम में सफलता भी प्राप्त हुई। भवदेव का चाल-चलन खराब था, इसलिए लोग उसे दुर्मुख भी कहा करते थे ॥१८७-१९२॥

एक समय धन कमाने की इच्छा से जब भवदेव दूसरे देश को जा रहा था तब श्रीदत्त ने उससे विवाह के सम्बन्ध में कहा कि अब इस समय तो आप व्यापार के लिए जा रहे है, पर यह तो बताइए कि विवाह कब तक रुका रहेगा। इस पर वह बारह वर्ष की प्रतिज्ञा करके परदेश को चला गया ॥१९३-१९४॥

वह कह गया कि यदि मैं बारह वर्ष में पीछा न आऊँ तो इस कन्या का ब्याह तुम दूसरे के साथ में कर देना। दैवयोग से ऐसा ही हुआ। धीरे-धीरे बारह वर्ष पूरे हो गये, पर वह वापस न आया। आखिर रतिवेगा के पिता श्रीदत्त ने बड़े भारी ठाट-बाट के साथ अपनी कन्या का ब्याह अशोक के सुकांत नाम पुत्र के साथ कर दिया। रतिवेगा साक्षात् रति ही थी। इसके बाद जब भवदेव परदेश से घर आया और उसने रतिवेगा के ब्याह की चर्चा सुनी तब वह बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने सुकान्त तथा रतिवेगा को मार डालने का निश्चय किया। जिसको सुनकर डर के मारे सुकान्त रतिवेगा को साथ लेकर वन में चला गया। वहाँ सरोवर पर शक्तिषेण नाम का एक राजा ठहरा हुआ था। वे उसकी शरण में गये। पीछे से दुर्मुख भी उन्हें मारने के लिए वहीं आ पहुँचा। पर वहाँ जब उसका कुछ भी

दुर्मुखोऽनुगतस्तत्र बद्धवैरो वधूवरम्। हन्तुं श्रीशक्तिषेणस्य नृपस्य निवृतो भयात् ॥१९८॥
शक्तिषेणं ददद्दानं दृष्ट्वा संभाव्य भावनाम्। वधूवरं सुखेनास्थाच्चारणाय सुभावतः ॥१९९॥
कदाचिद्भवदेवेन निर्दग्धं च वधूवरम्। दुर्मुखाख्यः खलो ध्वस्तः कदाचित्तन्महाभटैः ॥२००॥
अथात्र पुण्डरीकिण्यां प्रजापालो महीपतिः। श्रेष्ठी कुबेरमित्राख्यस्तस्यासीद्राजवल्लभः ॥२०१॥
द्वात्रिंशद्धनवत्याद्याः प्रियास्तस्याभवन्वरः। तद्गेहेऽभूद्रतिवरः कपोतस्तु सुकान्तकः ॥२०२॥
रतिवेगाचरी जाता रतिषेणा कपोतिका। पारापतद्वयं तत्र तिष्ठत्तद्गृहसंभवात् ॥२०३॥
तण्डुलादींश्चरच्चित्रं सुखं भेजे भवार्थदम्। कदाचिच्छ्रेष्ठिनो गेहे चारणद्वयमागमत् ॥२०४॥
आगतं तद्युगं वीक्ष्य दम्पती तौ मुदा हृदा। तदास्थापयतां भावादाहारार्थं कृतोद्यमौ ॥२०५॥
कपोतमिथुनं तावज्जङ्घाचारणयोर्द्वयम्। विलोक्य परिस्पृश्यात्र पक्षैस्तत्पदमानमत् ॥२०६॥
तद्दृष्टमात्रविज्ञातप्राग्भवं तत्समीपताम्। प्राप्तं कपोतमिथुनं तद्दानं पूर्वजं स्मरत् ॥२०७॥
तत्र दानानुमोदेन समुपार्ज्य वृषं वरम्। भिक्षायै तौ कपोतौ च ग्रामान्तरमुपागतौ ॥२०८॥
भवदेवचरेणानुबद्धवैरेण पापिना। मार्जारिणोत्थकोपेन मारितौ तौ कदाचन ॥२०९॥

वश न चला तब वह शक्तिषेण राजा के भय से वापस लौट आया। दैवयोग से इसी समय शक्तिषेण के डेरे पर चारण मुनि आहार के लिए आये और शक्तिषेण ने उन्हें शुद्ध भावों से आहार दिया तथा उनकी खूब पूजा-भक्ति की। यह देखकर वे दोनों दम्पती बहुत आनन्दित हुए और बारह भावनाओं का चिंतन करते हुए सुख से वहीं पर रहने लगे। इसके बाद मौका पाकर उन दोनों दम्पती को भवदेव ने आग लगाकर जला डाला और मौका मिलने पर शक्तिषेण के भटों ने उसे भी मार डाला ॥१९५-२००॥

पूर्वविदेह की पुण्डरीकनी नगरी में-जिस समय का यह जिक्र है उस समय प्रजापाल राजा राज्य करता था और वहीं पर एक कुबेरमित्र नाम सेठ रहता था। सेठ पर राजा की पूरी कृपादृष्टि थी। सेठ की बत्तीस स्त्रियाँ थीं। उनमें धनवती मुख्य थी। सेठ के घर पर सुकान्त का जीव रतिवर नाम कबूतर और रतिवेगा का जीव रतिषेणा नाम उसकी कबूतरी हुई। वे दोनों सेठ के घर में बिखरे हुए चावलों को चुग कर सांसारिक विचित्र सुखों का अनुभव करते हुए सुख-चैन से अपना काल बिताते थे। एक समय सेठ के घर आहार के लिए दो चारण मुनि आये। उन्हें देखकर उन दम्पती का हृदय हर्ष से गद्गद् हो उठा और उन्होंने शुद्ध भावों से मुनि को आहार के लिए पड़गाहा तथा बड़ी भक्ति से आहार दिया। उस समय उन कबूतरों की दृष्टि भी उन मुनियों के ऊपर पड़ी। उन्होंने मुनियों के चरण-कमलों का दर्शन कर उन्हें नमस्कार किया। मुनियों को देखते ही उन दोनों को अपने पिछले भवों का स्मरण हो आया। उन्हें पहले भव के मुनि दान की याद हो आई, जो कि शक्तिषेण राजा ने दिया था। मुनियों के पास आकर उन्होंने मुनिदान की खूब अनुमोदना की और उसके प्रभाव से पुण्यबन्ध किया। एक दिन दाना चुगने के लिए वे कपोत-दम्पती किसी दूसरे गाँव गये हुए थे। वहाँ उनका शत्रु पापी भवदेव का जीव बिलाव हुआ था। वह इन्हें देखते ही क्रोध में आ मारकर खा गया ॥२०१-२०९॥

तद्देशविजयस्यार्धदक्षिणश्रेणिसंश्रिते। गान्धारविषये शीरवत्यभून्नगरी परा ॥२१०॥
तच्छास्तादित्यगत्याख्यस्तस्यासीच्च शशिप्रभा। सुदेवी तत्सुतः पारापतो हिरण्यवर्मकः ॥२११॥
तस्मिन्नेवोत्तरश्रेण्यां गौरीदेशेऽभवत्पुरे। राजा भोगपुरे वायुरथो विद्याधराधिपः ॥२१२॥
तस्य स्वयंप्रभा राज्ञ्या रतिषेणा प्रभावती। जाता यौवनसंक्रान्तां दृष्ट्वा कन्यां प्रभावतीम् ॥२१३॥
कस्मै देयेयमित्याख्यत्खगेशो मन्त्रिणस्तदा। सर्वे संमन्त्र्य मन्त्रीशाः स्वयंवरविधिं जगुः ॥२१४॥
आकारिताः क्षणात्खेटा अटिता मण्डपे परे। कन्यार्थिनस्तयाकस्माद्व्व्रिरे न निमित्ततः ॥२१५॥
पितृभ्यां तत्समालोक्य सा पृष्टावीवदत्स्फुटम्। यो जयेद् गतियुद्धे मां मालां तस्य गले व्यधाम् ॥२१६॥
पुनः स्वयंवरारम्भे रभराभस्यरञ्जिता। सिद्धकूटजिनागारात्पुरो मालामपातयत् ॥२१७॥
त्रिःपरीत्य महामेरोरस्पृष्टां भूतलं खगाः। ग्रहीतुमक्षमास्तां हि त्रपायुक्ता गृहं ययुः ॥२१८॥
ततो हिरण्यवर्मागाद्गतिसंगरसंगवित्। निर्जिता तेन तत्कण्ठे मालामारोपयच्च सा ॥२१९॥

वहीं विजयार्द्ध की दक्षिण श्रेणी में एक गांधार देश है। उसमें शीरवती नाम नगरी है। वहाँ का राजा आदित्यगति था। आदित्यगति की स्त्री का नाम शशिप्रभा था उसके गर्भ से वह कबूतर हिरण्यवर्मा नाम पुत्र हुआ ॥२१०-२११॥

वहीं विजायर्द्ध की उत्तर श्रेणी में एक गौरी देश है। उसमें भोगपुर नाम नगर है। वहाँ का वायुरथ विद्याधर राजा था। उसकी रानी का नाम स्वयंप्रभा था। उसके गर्भ से वह रतिषेणा नाम कबूतरी प्रभावती नाम पुत्री हुई। एक दिन राजा ने देखा कि प्रभावती युवती हो गई हैं, उसका किसी योग्य वर के साथ ब्याह कर देना चाहिए। इस प्रश्न को हल करने के लिए उसने मंत्रियों को बुलाया और उनसे पूछा कि प्रभावती किसे देना चाहिए। सब मंत्रियों ने विचार करके कहा कि महाराज! सबकी सम्मति है कि स्वयंवर-विधि करनी चाहिए। राजा ने उनकी इस सम्मति को स्वीकार किया और उसके अनुसार कार्य आरम्भ कर दिया। देश-विदेश से विद्याधर राजा बुलाये गये और जो-जो कन्या के अर्थी थे वे सब आकर वहाँ उपस्थित हो गये। स्वयंवर के समय सब स्वयंवर मंडप में आकर अपने योग्य स्थानों पर बैठे। प्रभावती वरमाला ले पतिवरण को मंडप में आई, पर उसने किसी को भी न वरा-पसंद न किया ॥२१२-२१५॥

यह देख उसके माता-पिता ने उससे पूछा कि पुत्री यह क्या बात है ? कन्या ने उत्तर में कहा कि जो कोई मुझे गति-युद्ध में जीत लेगा में उसी के गले में वरमाला डालूँगी। इसके बाद दूसरे दिन फिर स्वयंवर हुआ। उस समय प्रभावती ने सिद्धकूट चैत्यालय के शिखर पर से माला नीचे को डाली। पर किसी ने भी वहाँ बने हुए मेरु की तीन प्रदक्षिणा देकर उस माला को बीच ही में न ले पाया। तब सब लज्जित हो अपने-अपने घर को चले गये। इसके बाद हिरण्यवर्मा आया। वह गतियुद्ध में बहुत ही प्रवीण था। उसने मेरु की तीन परिक्रमा देकर बीच ही में माला की हाथों में ले लिया। यह देख प्रभावती ने बड़ी खुशी से उसके कंठ में वरमाला पहना दी। इसके बाद

विवाहविधिना कन्यामुपयेमे खगात्मजः। सिद्धकूटालये प्राप्तकल्याणपरमोत्सवः ॥२२०॥
काले गच्छति कस्मिंश्चित्कपोतद्वयवीक्षणात्। ज्ञातप्राग्भवसंबन्धा विरक्ताभूत्प्रभावती ॥२२१॥
प्रभावत्या परिपृष्टः परमौषधिचारणः। स्वपूर्वभवसंबन्धं श्रुत्वैतदाह योगिराट् ॥२२२॥
वधूवरादिसंबन्धं श्रुत्वा श्रीमुनिपुङ्गवात्। परस्परमहास्नेहावभूतां तौ खगीखगौ ॥२२३॥
अथादित्यगतिर्वीक्ष्य विशरारुं सुवारिदम्। राज्ये हिरण्यवर्माणं स्थापयित्वाग्रहीत्तपः ॥२२४॥
राज्यं प्राज्यं प्रकुर्वाणः खेचरश्चरणोज्वलः। कुतश्चिद्विरतः स्वर्णवर्मणेऽदान्निजं पदम् ॥२२५॥
ततोऽवतीर्य भूभागं श्रीपुरं प्राप्य सद्गुरोः। श्रीपालात्संयमं लेभे विलुब्धो बुधसेवितः ॥२२६॥
तन्मात्रा गुणवत्यास्तु दीक्षां प्राप्ता प्रभावती। तन्वती तनुसंतापं तपसा श्रुतचेतसा ॥२२७॥
विहरन्तौ तकौ प्राप्तौ पुरीं च पुण्डरीकिणीम्। श्रेष्ठिवध्वा प्रभावत्यार्यिकाथ ददृशे क्वचित् ॥२२८॥
इयं केति तदा पृष्टा गणिनी प्रियदत्तया। मम चित्ते परा प्रीतिरस्या उपरि तत्कथम् ॥२२९॥
किं न स्मरसि कापोतयुगं तत्र भवद्गहे। रतिषेणाहमित्येतच्छ्रुत्वा सा विस्मितावदत् ॥२३०॥

हिरण्यवर्मा ने सिद्धकूट चैत्यालय में जाकर भगवान् के स्तवन आदि कल्याणकारी उत्सव के साथ विधिपूर्वक प्रभावती का पाणिग्रहण किया ॥२१६-२२०॥

इसके कुछ दिनों बाद एक दिन प्रभावती ने एक कबूतरों के जोड़े को उड़ते देखा। उसे देखते ही उसे अपने पिछले भवों की याद हो आई और उसके परिणाम विरक्त हो गये। उस समय प्रभावती ने एक चारण मुनि से पूछा कि प्रभो! मेरे पिछले भवों की कथा कहिए। मुनि ने उत्तर में पीछे लिखी हुई वधू-वर आदि की सभी कथा कह दी। उसे सुनकर प्रभावती और हिरण्यवर्मा में गाढ़ प्रीति उत्पन्न हो गई ॥२२१-२२३॥

एक दिन आदित्यगति नष्ट होते हुए बादलों को देखकर विरक्त हो गया और हिरण्यवर्मा को राज्य देकर उसने जिनदीक्षा धारण कर ली। हिरण्यवर्मा ने बढ़ी उत्तमता के साथ बहुत दिनों तक राज्य किया, परन्तु कुछ काल बाद किसी निमित्त को पा वह भी विरक्त हो गया। उसने अपने पुत्र स्वर्णवर्मा को राज्य देकर आप स्वयं पैदल श्रीपुर आ श्रीपाल नाम मुनि से दीक्षित हो गया। वह बड़ा निर्लोभी था, देवता-गण उसकी सेवा करते थे। अपने स्वामी को प्रव्रजित देख प्रभावती ने भी गुणवती नाम आर्यिका से जिनदीक्षा ले ली और कायक्लेश तप तथा शास्त्र-चिन्तन के द्वारा वह शरीर को सुखाने लगी। कुछ समय बाद हिरण्यवर्मा और प्रभावती दोनों ने वहाँ से विहार किया और विहार करते-करते वे पुंडरीकनी नगरी में आये। वहाँ प्रभावती को देखकर प्रियदत्ता सेठानी ने संघ की गुराणी से पूछा कि यह कौन है और इसके ऊपर जो मेरे हृदय में प्रबल स्नेह हो आया है इसका क्या कारण है ? यह सुनकर प्रभावती ने कहा कि क्या तुम्हें अपने घर में रहने वाले उस कपोत-युगल की याद नहीं है। मैं वही तो हूँ जी तुम्हारे घर में रतिषेणा नाम कबूतरी थी। यह सुनकर सेठानी बोली कि और वह रतिवर कहाँ है ? प्रभावती ने कहा कि वह भी मरकर विद्याधरों का ईश्वर हुआ था। अब मुनि होकर विहार करता हुआ यहीं आया है ॥२२४-२३०॥

क्वासौ रतिवरोऽद्येति सोऽपि विद्याधरेश्वरः। मुनिर्हिरण्यवर्मात्रागतोऽस्तीति च सावदत् ॥२३१॥
प्रियदत्ता मुनिं नत्वा प्रभावत्युपदेशतः। अदीक्षत क्षमापन्ना विरक्तेः फलमीदृशम् ॥२३२॥
मुनिर्हिरण्यवर्माथ कदाचिच्चितिभूतले। अहानि सप्त संगीर्य समस्थात्प्रतिमास्थितः ॥२३३॥
दास्याश्च प्रियदत्तायास्तद्यतेः प्राक्तनं भवम्। स मार्जारचरोऽश्रौषीद्विद्युच्चौरः प्रदुष्टधीः ॥२३४॥
विभङ्गावधिना ज्ञात्वा प्रतिमायोगमास्थितम्। तं च प्रभावतीं नीत्वा चितिकायां स चाक्षिपत् ॥२३५॥
तौ तत्राग्निसमुत्पन्नान्सोढ्वा शुद्धौ परीषहान्। हित्वा प्राणान्गतौ नाकं विकस्वरमुखाम्बुजौ ॥२३६॥
स्वर्णवर्माथ तं ज्ञात्वा विद्युच्चरस्य मारणम्। करिष्यामीति तज्ज्ञात्वावधिबोधेन तौ सुरौ ॥२३७॥
रूपं संयमिनोर्लात्वागत्याबोधयतां सुतम्। प्रदायाभरणं तस्मै दिव्यरूपौ गतौ दिवि ॥२३८॥
लोकयन्तौ तकौ लोकान्स्वर्गिणौ भीमयोगिनम्। वीक्ष्य प्राष्टां च तौ धर्मं शर्मधर्मार्थसाधनम् ॥२३९॥
धर्मो जीवदयाः धर्मः सत्यवाक् संयमस्थितिः। धर्मस्तद्वचनं श्रुत्वा मुनिरित्येवमब्रवीत् ॥२४०॥
हेतुना केन सद्दीक्षा गृहीता वद वेदवित्। सोऽवोचत्पुण्डरीकिण्यां भीमोऽहं दुर्गते कुले ॥२४१॥

उसका नाम है हिरण्यवर्मा। प्रियदत्ता ने मुनि के पास जाकर उन्हें नमस्कार किया। इसके बाद वह भी प्रभावती के उपदेश से आर्यिका हो गई। वह बड़ी क्षमा गुण की धारक थी। सच है वैराग्य का फल ही ऐसा है। इसके बाद एक दिन हिरण्यवर्मा मुनि ने सात दिन के लिए मसान भूमि में ध्यान लगाया। इधर उस मार्जार के जीव दुष्ट-बुद्धि विद्युच्चोर ने प्रियदत्ता की दासी के मुँह से उन मुनिराज के पिछले भवों का हाल सुन रक्खा था। अतः विभंगावधि ज्ञान से उन्हें ध्यानस्थ जानकर वह वहाँ आया और उसने हिरण्यवर्मा तथा प्रभावती को एक साथ जलती हुई चिता में झोंक दिया। उस समय आग की कठिन परीषह को शुद्ध भावों से सहकर वे दोनों मरे और पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में देव हुए ॥२३१-२३६॥

यह बात जब स्वर्णवर्मा के कान में पड़ी तब उसने विद्युच्चोर को मार डालने का निश्चय किया परन्तु अवधिज्ञान द्वारा स्वर्णवर्मा के इस विचार को जानकर मुनि का रूप बना वे दोनों देव आये और उन्होंने पुत्र को समझा-बुझा कर शांत कर दिया। इसके बाद दिव्यरूप धारी स्वर्णवर्मा को दिव्य वस्त्र-आभूषण वगैरह भेंट कर वे स्वर्ग को चले गये ॥२३७-२३८॥

एक दिन उन देवों ने भीम महामुनि को देखकर, उन्हें नमस्कार कर उनसे धर्म का उपदेश सुना। मुनि ने कहा कि यह धर्म दया, सत्य और संयम-मय है। इससे जीवों का कल्याण होता है और उन्हें इससे मन चाहे पदार्थों की प्राप्ति होती है। इस पर देव ने कहा कि हे वेद के ज्ञाता! यह कहिए कि आपके दीक्षित हो जाने में क्या कारण है। इसके उत्तर में मुनि ने कहा कि मैं पुण्डरीकनी नगरी में एक दरिद्र कुल में पैदा हुआ था। मेरा नाम भीम है। एक समय मौका पाकर मैंने एक मुनिराज से आठ मूलगुणों और व्रतों को ग्रहण किया तथा घर जाकर यह सब हाल पिताजी को कह सुनाया। वे मुझसे बहुत ही नाराज हुए। उन्होंने मुझे बहुत कुछ समझाया, पर मैंने उनकी एक बात न मानी क्योंकि मुझे जातिस्मरण द्वारा अपने पिछले भव मालूम हो चुके थे। मैं विरक्त हो दीक्षित हो गया-

एकदा मुनितो मत्वा वृषं मूलगुणाष्टकम्। व्रतं चाग्रहिषं पित्रे कथितं तन्मयाखिलम् ॥२४२॥
श्रुत्वा पिता क्रुधाक्रान्तो बोधितो बहुहेतुना। दिदीक्षे च मया क्षिप्रं जातजातिस्मरात्मना ॥२४३॥
अहं पूर्वभवेऽभूवं भवदेवो वणिक्सुतः। बद्धवैरो निहन्तारं रतिवेगसुकान्तयोः ॥२४४॥
पारापतभवेऽप्याखुभुजा तद्युगलं हतम्। विद्युच्चौरत्वमासाद्य हतौ तौ खगदम्पती ॥२४५॥
तदयोदयविघ्नात्मा निरये दुःखपूरिते। अपतं तन्महादुःखं पापात्किं किं न जायते ॥२४६॥
ततोऽहं निर्गतो भीमो भीमोऽभूवं भवं भ्रमन्। श्रुत्वा सुरौ कथां तस्य प्रबुद्धौ शुद्धमानसौ ॥२४७॥
गतौ तौ त्रिदशावासे सातसागरसाधकौ। देवदेवीसमासंगरङ्गगाढाङ्गसंगतौ ॥२४८॥
अथासौ पुण्डरीकिण्यां भीमो भयविमुक्तधीः। भावयन्भावनां भव्यो भवभ्रमणभीतधीः ॥२४९॥
अधःकरणसत्कृत्या प्रापूर्वकरणोद्यतः। कृत्वानिवृत्तिकरणं कृन्तति स्म स्वकिल्बिषम् ॥२५०॥
क्षायिकं दर्शनं लब्ध्वा चारित्रं क्षायिकं पुनः। विघ्नौघघनसद्वायुर्घातिसंघातघातकृत् ॥२५१॥
लब्ध्वा केवलसज्ज्ञानमघातिक्षयतोऽगमत्। भीमो भीतिविमुक्तात्मा मोक्षं सौख्यमयं परम् ॥२५२॥
आवामपि तदा नाथ वन्दनायै गतौ लघु। इदं श्रुत्वा गतौ वीक्ष्य त्रिदिवं त्रिदशाञ्चितम् ॥२५३॥
आवां ततः समुत्पन्नौ भारते भरताग्रणीः। सोमात्मजो भवाञ्जज्ञे जयो जयविराजितः ॥२५४॥

दिगम्बर साधु बन गया। मैं, अपने पहले भव में भवदेव नाम वैश्य-पुत्र था। इस भव में मैंने वैर-विरोध के कारण रतिवेगा और सुकान्त को मार डाला था। इसके बाद मरकर जब वे कबूतर हुए तब मैं मार्जार हुआ और मार्जार के भव में भी मैंने उन्हें मार खाया। इसके बाद वे हिरण्यवर्मा और प्रभावती हुए तथा मैं विद्युच्चोर हुआ। इस बार भी मैंने उन्हें जलती हुई आग में डाल कर जला डाला था। उस पाप महापाप के कारण मैं दुखों के स्थान नरक में जा पड़ा और वहाँ मुझे बड़े भारी दुख भोगने पड़े। सच है पाप से जीवों को सभी दुख सहने पड़ते हैं। नरक से निकल कर मुझे संसार में जो चक्कर लगाना पड़ा है उसके भय से मेरा आत्मा अब भी अत्यन्त भयभीत हो रहा है। इस विचित्र कथा को सुन उन देवों को सब बातों का ज्ञान हो गया। वे संसार को बहुत ही बुरा समझने लगे। इसके बाद राग-रंग में मस्त और साता-वेदनीय-रूप सागर में गोते लगाने वाले वे देव स्वर्ग को चले गये ॥२३९-२४७॥

उनके चले जाने बाद निर्भय, परन्तु फिर भी संसार से भयभीत भीम महामुनि ने बारह भावनाओं का चिन्तन कर और अधःकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण परिणामों के द्वारा पाप-कर्मों को हल्का कर क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक-चारित्र प्राप्त किया एवं विघ्न बाधा-रूप मेघों को उड़ाने के लिए वायु के समान और घाति-कर्मों के घातक उन महामुनि ने केवलज्ञान प्राप्त कर तथा कुछ समय बाद अघाति कर्मों की भी घात कर वे मोक्ष के अनंत सुख के भोक्ता हो गये ॥२४८-२५२॥

यहाँ सुलोचना जयकुमार को याद दिलाती है कि हे नाथ! उस समय हम भी उन महामुनि की वन्दना को गये थे और वन्दना कर वापस स्वर्ग को चले गये थे। इसके बाद स्वर्ग से चयकर हम लोग इस भरत क्षेत्र में पैदा हुए हैं। आप भरत चक्रवर्ती के सेनापति और सोमप्रभ राजा के पुत्र हुए,

अकम्पितः कृपोपेतः कम्पितारातिमण्डलः। कम्रः कम्रं परं प्रीत्या हापयन्भात्यकम्पनः ॥२५५॥
तत उत्पत्तिमात्मीयां प्रतीही परमेश्वर। भवान्प्रभावतीं खेटामुक्त्वा मूर्च्छामुपागतः ॥२५६॥
पारापतभवोत्पन्नं रतिवेगं स्वपक्षिणम्। स्मृत्वा चोक्त्वा गता मूर्च्छामहं हूर्च्छाछिदाविदा ॥२५७॥
एवं क्रीडाकरौ कम्रौ व्रीडावारविराजितौ। दम्पतित्वमितावावां जातौ जातिस्मरान्वितौ ॥२५८॥
इहागताविति व्यक्तं सा प्रोवाच सुलोचना। जयोऽतुषत्प्रियावाक्यात्कः स्त्रीवाचा न तुष्यति ॥२५९॥
एवं सुखेन भुञ्जानौ भोगं कालं विनिन्यतुः। विद्याधरभवावाप्तनानाविद्यासमाश्रितौ ॥२६०॥
विद्याप्रभावतस्तौ द्वौ मेरौ च कुलपर्वते। विहरन्तौ सुभेजाते सातं संसारसारजम्। ॥२६१॥
कैलासशैलजे रम्ये वने मेघस्वरो गतः। तदा सुलोचनाभ्यर्णादसौ किंचिदपासरत् ॥२६२॥
तदेन्द्रेण सभामध्ये जयस्य शीलशंसनम्। तत्प्रियायाश्च संचक्रे तच्छुश्राव रविप्रभः ॥२६३॥
असहिष्णुः सुरो देवीं काञ्चनाख्यामजीगमत्। सा तं प्राप्य समाचख्यौ क्षेत्रेऽस्मिन्भारते वरे ॥२६४॥
विजयार्द्धोत्तरश्रेण्यां पुरे रत्नपुरेऽप्यभूत्। राजा पिङ्गलगन्धारो भामिनी तस्य सुप्रभा ॥२६५॥

एवं जयलक्ष्मी के भी पति हुए और मैं महाराज अकंपन की पुत्री हुई, जिनके भय से शत्रु लोग काँपते हैं, जो परम दयालु हैं, सुन्दर रूप वाले हैं तथा जो दूसरों से नष्ट न होने वाले प्रजा के कष्टों को प्रीति से दूर करने वाले हैं। नाथ! यही कारण है कि आज कबूतरों के जोड़े को देखकर आप तो 'हा प्रभावती' कहकर मूर्छित हो गये और मैं उसी भव के अपने स्वामी रतिवेग को याद कर 'हा रतिवेग' कह मूर्छित हो गई। इस प्रकार यहाँ हम क्रीड़ा करने वाले सुन्दर और लज्जाशील दम्पती हुए है और निमित्त पाकर इस समय हमें जाति-स्मरण भी हो गया है।'' इस प्रकार सुलोचना ने पूर्व भव की सब बातें कह सुनाई, जिन्हें सुनकर जयकुमार को बड़ा सन्तोष हुआ। सच है स्त्री के वचनों से कौन प्रसन्न नहीं होता। इसके बाद वे मन चाहे भोगों को भोगते हुए सुख-चैन से काल बिताने लगे। इनके पास विद्याधर के भव में प्राप्त की हुई बहुत-सी विद्यायें थीं, जिनके प्रभाव से वे मेरु और कुलाचलों पर जहाँ चाहते जाकर क्रीड़ा करते थे और सांसारिक सुखों का स्वाद लेते थे ॥२५३-२६०॥

एक बार जयकुमार क्रीड़ा के लिए कैलाश पर्वत के मनोहर वन में गये और वहाँ सुलोचना को एक स्थान पर छोड़कर स्वयं कुछ दूर निकल गये। दैवयोग से इसी समय इन्द्र ने अपनी सभा में जयकुमार के शीलव्रत की बड़ी बड़ाई की और सुलोचना के पातिव्रत्य को सराहा। इन्द्र के द्वारा की गई उनकी वह प्रशंसा रविप्रभ नाम एक देव से न सही गई और उसने उसी समय कांचना नाम की एक अप्सरा की जय के पास भेजा। वह जय के पास आकर कहने लगी—इसी भरतक्षेत्र के विजयार्द्ध की उत्तर श्रेणी में एक रत्नपुर नाम नगर है। वहाँ का राजा पिंगलगांधार है। उसकी रानी का नाम सुप्रभा है और पुत्री का नाम विद्युत्प्रभा। मैं वही विद्युत्प्रभा हूँ। मेरा ब्याह राजा नमि के साथ में हुआ था। एक दिन मैंने पुण्ययोग से मेरु के नन्दन वन में आपको क्रीड़ा करते हुए देखा। तभी से मैं आपके लिए बहुत उत्सुक हूँ। मेरे चित्त पर आपका चित्र खिच गया है। दुर्भाग्य से इतने दिनों

विद्युत्प्रभा तयो:पुत्री नमेर्भार्याभवं पुनः। त्वां मेरुनन्दने वीक्ष्य क्रीडन्तं सोत्सुकाप्यहम् ॥२६६॥
ततः प्रभृति मच्चित्ते त्वमभूर्लिखिताकृतिः। दैवतस्त्वं च दृष्टोऽसि मां धारय सुखाप्तये ॥२६७॥
तद्‌दुष्टचेष्टितं दृष्ट्वा मा मंस्थाः पापमीदृशम्। पराङ्गनापरित्यागव्रतं स्वीकृतवानहम् ॥२६८॥
निर्भर्त्सिता महीशेन साभूत्कोपनकम्पिता। उपात्तराक्षसीवेषा तं समुद्धृत्य गत्वरी ॥२६९॥
पुष्पावचयसंसक्तसुलोचनाभितर्जिता। भीता सा काञ्चना तस्याः शीलमाहात्म्यतो गता ॥२७०॥
अदृश्यतां सुराः शीलवत्या यान्ति भयं ननु। गत्वा सा स्वामिनं नत्वा चक्रे तच्छीलशंसनम् ॥२७१॥
रविप्रभः समागत्य विस्मयात्तावुभौ नतः। समाख्याय स्ववृत्तान्तं युवाभ्यां क्षम्यतामिति ॥२७२॥
संपूज्य वस्त्रसद्रत्नैः स्वर्गलोकं समासदत्। विहृत्य कान्तयारण्ये पुरं निवृत्य सोऽगमत् ॥२७३॥
बभूव नमितानेकनृपवृन्दो महोदयः। अन्यदा स समुत्पन्नबोधिर्मेघस्वरो नृपः ॥२७४॥
आदिनाथं समासाद्य वन्दित्वा श्रुतवान्वृषम्। विरक्तो भवभोगेष्वनन्तवीर्यं सुतं धृतम् ॥२७५॥
शिवंकरमहादेव्या अभ्यषिञ्चन्निजे पदे। सर्वसंगं परित्यज्य संयमं बहुभिर्नृपैः ॥२७६॥

तक आपके दर्शन का मौका न मिला। पुण्य के उदय से आज फिर आपके दर्शन हो गये। अतः हे जय! मुझे स्वीकार कर मेरे साथ मनचाहे सुख भोगो ॥२६१-२६६॥

विद्युत्प्रभा की इस प्रकार दुष्ट चेष्टा देखकर जय ने कहा कि तुम ऐसा पाप मत विचारो, मैं परस्त्री का त्यागी हूँ। तुम यहाँ से अभी चली जाओ। इस प्रकार जय ने उसे खूब डाटा-डपटा। यह देख विद्युत्प्रभा को बड़ा क्रोध आया। वह राक्षसी का रूप बना जय पर उपद्रव करने लगी परन्तु उस दुष्टा का जब जय पर कुछ वश न चला तब वह वहाँ से भाग कर सुलोचना के पास पहुँची। सुलोचना ने भी उसे खूब फटकारा। अन्त में वह उसके शील के माहात्म्य से डरकर क्षणभर में अदृश्य हो गई। देखा, शील-व्रतधारियों से देव भी डरते हैं। स्वर्ग में जाकर उसने स्वामी को नमस्कार किया और जयकुमार तथा सुलोचना के शील की बड़ी प्रशंसा की ॥२६७-२७१॥

सुनकर रविप्रभ को बड़ा आश्चर्य हुआ। इसके बाद उसने स्वयं आकर बड़े विनय से उन दम्पती को नमस्कार किया और उन्हें अपना सारा हाल कह सुनाया और कहा कि आपका मैं अपराधी हूँ। आप मुझे क्षमा करें। इसके बाद वह उन दम्पती को रत्नाभरण और दिव्यवस्त्र भेंट कर स्वर्ग को चला गया। इधर जयकुमार भी अपनी कान्ता के साथ-साथ नगर को चले आये ॥२७२॥

एक बार अनेक राजाओं द्वारा सेवित जयकुमार का संसार की विचित्र गति पर ध्यान गया, संसार की अनित्यता का उनकी बुद्धि पर चित्र खिच गया। उन्होंने आदिनाथ प्रभु के पास जाकर ध्यानपूर्वक धर्म का उपदेश सुना तथा संसार-देह-भोगों से विरक्त होकर शिवंकर महादेवी के साथ-साथ अपने अनंतवीर्य नाम पुत्र का राज्याभिषेक कर उन्हें अपने पद पर बैठाया और स्वयं सब परिग्रह को छोड़कर बहुत से राजाओं के साथ-साथ दिगम्बर हो गये। इसके बाद थोड़े ही दिनों में सात ऋद्धियाँ तथा मनःपर्ययज्ञान लाभ कर वे आदिनाथ भगवान् के इकहत्तरवें गणधर हुए। क्रम से घातिकर्मों के नाश से उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया ॥२७३-२७६॥

अग्रहीत्सिद्धसप्तर्द्धिश्चतुर्ज्ञानविराजितः। अभूद्गणधरो भर्तुरेकसप्ततिसंख्यकः। ॥२७७॥
सुलोचना वियोगार्ता विरक्ता च सुभद्रया। चक्रिपत्न्या समं ब्राह्मीसमीपे व्रतमग्रहीत् ॥२७८॥
कृत्वा तपो विमानेऽनुत्तरेऽभूत्साच्युतेऽमरः। ततः श्रीवृषभश्रेष्ठो विहृत्य निवृतोऽखिलान् ॥२७९॥
धर्मोपदेशदानेन सिञ्चन्भव्यजनावलीम्। कैलासशिखरं प्राप्य चतुर्दशदिनानि वै ॥२८०॥
मुक्तसंगसमायोगो निरस्ताखिलयोगकः। माघकृष्णचतुर्दश्यां भगवान्भास्करोदये ॥२८१॥
पल्यङ्कासनसंरूढप्राङ्मुखः क्षिप्तकल्मषः। शरीरत्रितयापाये जगाम पदमव्ययम् ॥२८२॥
तदा सुरासुराः सर्वे निर्वाणपरमोत्सवम्। चक्रुः सुकृतकर्माणि कुर्वन्तः सिद्धिसिद्धये ॥२८३॥
जयोऽपि प्राप्तकैवल्यबोधनो घातिघातनात्। अघातिक्षयतः प्राप शिवस्थानं शिवोन्नतम् ॥२८४॥
जयो जयतु जित्वरो जगति जैनशास्त्रार्थवित् घनाघनसमः सदा सकलवैरिदावानले।
मनोमलविशोधनो विपुलशुद्धिसंपादकः। सुकौरवशिरोमणिः सुभगभवयवारस्तुतः ॥२८५॥
इति वृषभजिनेशे प्राप्तनिर्वाणदेशे सुघटितसुघटार्थे प्रोद्धृतप्राणिसार्थे।
भरतभवनभोगी शुद्धसंवेगयोगी भरतनरपपालो यातु मोक्षं दयालुः ॥२८६॥

इति त्रैविद्यविद्या-विशदभट्टारक-श्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपालसाहाय्यसापेक्षे
श्रीपाण्डवपुराणे महाभारतनाम्नि जयसुलोचनोपाख्यानवर्णनं नाम तृतीयं पर्व ॥३॥

इधर पति-वियोग से पीड़ित सुलोचना ने भी विरक्त होकर सुभद्रा नाम भरत की पत्नी के साथ-साथ ब्राह्मी आर्या के पास आर्यिका के व्रत ग्रहण कर लिये और तप कर वह अच्युत स्वर्ग के अनुत्तर विमान में देव हो गई ॥२७७-२७८॥

इसके बाद ऋषभप्रभु ने सम्पूर्ण देशों में विहार कर धर्म का उपदेश किया और धीरे-धीरे सब जगह की भव्यजन-रूप वनश्रेणी को सींचकर कैलाश पर्वत पर पहुँचे। वहाँ प्रभु ने चौदह दिन तक मुक्ति का कारण योग धारण कर योगनिरोध किया और माघवदी चौदस को प्रातःकाल, पूर्व मुख कर निष्पाप आदिप्रभु पद्मासन से औदारिक शरीर छोड़कर अव्यय मोक्षपद को प्राप्त हो गये। उस समय सब सुर-असुरों ने आकर प्रभु का निर्वाण महोत्सव मनाया और सिद्धि लाभ की इच्छा से पुण्य-बंध किया। इसके बाद जय भी अघाति कर्मों का नाश कर कल्याण-मय मोक्ष-अवस्था के भोक्ता हो गये ॥२७९-२८३॥

उन जय की जय हो जो संसार के विजेता और सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता हैं, शत्रु-रूप आग को बुझाने के लिए मेघ हैं, मनोमल को शोधने वाले और विपुल शुद्धि के सम्पादक हैं तथा जो कौरवों के शिरोमणि हैं और सब भव्य-जन जिन की स्तुति करते हैं। इस प्रकार तत्त्वों के स्वरूप को बताकर और अनन्त जीवों को संसार से पार कर भगवान् आदिनाथ निर्वाण को चले गये। अब भवभोगी और शुद्ध संवेगयोगी दयालु भरत महाराज मोक्ष-अवस्था लाभ करें ॥२८४-२८६॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचंद्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में जयकुमार सुलोचना की कथा वर्णन करने वाला तीसरा पर्व समाप्त हुआ ॥३॥

❑ ❑ ❑

चतुर्थ पर्व

प्रथमं पृथुजीवानां प्रथमानमहोदयम्। प्रथमं पृथुतां प्राप्तं पप्रथे तद्गुणैर्जिनम् ॥१॥
अथ जज्ञे क्रमाद्राजानन्तवीर्यात्कुरुर्महान्। कुरुवंशनभश्चन्द्रः कुरुचन्द्रस्ततोऽजनि ॥२॥
तस्माच्छुभंकरः श्रीमान्धृतिकारी धृतिंकरः। एवं नृपेष्वतीतेषु बहुसंख्येष्वनुक्रमात् ॥३॥
धृतदेवस्ततो जज्ञे गङ्गदेवो गुणाकरः। धृतिमित्रादयश्चान्ये राजानो बहवोऽभवन् ॥४॥
धृतिक्षेमोऽक्षयीख्यातः सुव्रतश्च ततः परः। व्रातमन्दरनामाथ श्रीचन्द्रः कुलचन्द्रमाः ॥५॥
सुप्रतिष्ठादयो भूपा बहवः स्वर्गगामिनः। भ्रमघोषस्ततो जज्ञे हरिघोषो हरिध्वजः ॥६॥
रविघोषो महावीर्यः पृथ्वीनाथः परः पृथुः। गजवाहनभूपाद्या व्यतीयुः शतशो नृपाः ॥७॥
विजयाख्योऽभवत्तस्मात्सनत्कुमारभूपतिः। सुकुमारस्ततो जातस्तस्माद्वरकुमारकः ॥८॥
विश्वो वैश्वानरस्तस्माद्विश्वध्वजो महीपतिः। बृहत्केतुः सुकेतुत्वं गतो नृपतिसंहतौ ॥९॥
अथ श्रीविश्वसेनस्य सुतः शान्तिजिनो महान्। चरितं तस्य संक्षिप्य वक्ष्ये क्षेमंकरं सताम् ॥१०॥
मध्ये भरतमाभाति विजयार्धो महाचलः। तदवाच्यां पुरं श्रेण्यां रथनूपुरसंज्ञकम् ॥११॥
ज्वलनादिजटी तस्य पतिर्विद्याधराग्रणीः। वायुवेगाभवत्तस्य वायुवेगा सुभामिनी ॥१२॥
अर्ककीर्तिस्तयोः सूनुः स्वकीर्त्या व्याप्तविष्टपः। स्वयंप्रभा सुता चासील्लक्ष्मीरिव सुशोभया ॥१३॥

उन आदिनाथ प्रभु के गुणों का मैं स्मरण करता हूँ जो पुराणपुरुषों में उत्तम है, जिनका अभ्युदय संसार-प्रसिद्ध है और जो उत्तम अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं ॥१॥

जय के बाद आकाश में चन्द्रमा की भाँति कुरुवंश में अनन्तवीर्य राजा हुआ। इसके बाद कुरुचंद्र, शुभंकर, धीरवीर धृतिंकर, धृतिदेव और गुणों का पुंज गुणदेव राजा हुआ। इनके बाद धृतिमित्र आदि और-और बहुत से राजाओं ने अपने जन्म से कुरुवंश को अलंकृत किया। बाद सुप्रतिष्ठ आदि कई एक स्वर्गगामी पुण्यवान् राजा हुए। अनंतर भ्रमघोष, हरिघोष, हरिध्वज, रविघोष, महावीर्य, पृथ्वीनाथ प्रथु, गजवाहन आदि सैकड़ों राजाओं के हो चुकने पर विजय नरेश हुए। यह संसार-प्रसिद्ध और जयश्री के पति थे। इनके बाद सनत्कुमार, सुकुमार, वीरकुमार, विश्व, वैश्वनर, विश्वध्वज और ध्वजा के जैसा वृहत्केतु आदि बहुत से कर्मवीर राजाओं ने इस वंश में जन्म लिया। बाद विश्वसेन महाराज ने इस वंश का मुख उज्ज्वल किया। इन्हीं के यहाँ परमपूज्य सोलहवें तीर्थंकर श्रीशान्तिनाथ भगवान् का जन्म हुआ है। अब थोड़े में श्री शान्तिनाथ प्रभु का चरित लिखा जाता है। यह सत्पुरुषों को सच्चा मार्ग सुझाने वाला और परम पवित्र है। उसे सुनिए ॥२-१०॥

भरतक्षेत्र के बीच में एक विजयार्द्ध पर्वत है। इसकी दक्षिण श्रेणी में रथनूपुर नगर है। वहाँ का राजा ज्वलनजटी था। वह विद्याधरों का अगुआ और सब गुण-सम्पन्न था। उसकी रानी का नाम वायुवेगा था। वह वायु के वेग की तरह चंचल और सुन्दरी थी। ज्वलनजटी और वायुवेगा के एक पुत्र था। उसका नाम अर्ककीर्ति था। वह भी संसार-प्रसिद्ध था-उसकी कीर्ति सारे संसार में व्याप्त थी तथा इनके स्वयंप्रभा नामक एक पुत्री भी थी जो अपनी शोभा से लक्ष्मी की बराबरी करती थी ॥११-१३॥

अथान्येद्युर्जगन्नन्दनाभिनन्दनयोगिनौ। मनोहरवने ज्ञात्वा स्थितौ स वन्दितुं गतः ॥१४॥
वन्दित्वा धर्ममाकर्ण्य सम्यग्दर्शनमाददे। चारणौ स पुनर्नत्वा प्रत्येत्य प्राविशत्पुरम् ॥१५॥
स्वयंप्रभा समादाय धर्मं तत्रैकदा मुदा। पर्वोपवासिनी क्षीणा जिनानभ्यर्च्य भक्तितः ॥१६॥
तत्पादद्वन्द्वसंश्लिष्टपुष्पशेषां समर्पयत्। पित्रे स तां समावीक्ष्य यौवनोन्नतिशालिनीम् ॥१७॥
कस्मै देया सुचिन्त्येति प्राह्वयन्मन्त्रिणोऽखिलान्। प्रस्तुतार्थे नृपेणोक्ते सुश्रुतः प्राह सुश्रुती। १८॥
अथोत्तरमहाश्रेण्यामलकापुरि भूपतिः। बर्हिग्रीवः प्रिया नीलाञ्जना तस्य तयोः सुताः ॥१९॥
अश्वग्रीवो नीलकण्ठो वज्रकण्ठो महाबलः। अश्वग्रीवस्य कनकचित्रादेवी तयोः सुताः ॥२०॥
शतानि पञ्च परमा मन्त्र्यस्य हरिश्मश्रुकः। शतबिन्दुर्निमित्तज्ञस्त्रिखण्डभरतेशितुः ॥२१॥
तस्मै संपूर्णराज्याय कन्या देया सुखाप्तये। सुश्रुतोक्तं श्रुतं श्रुत्वा बभाषे च बहुश्रुतः ॥२२॥
युक्तमुक्तं पुनः किंत्वश्वग्रीवश्च वयोऽधिकः। तस्मै दत्ता सुता नित्यं यतः स्याद्भोगवर्जिता ॥२३॥

एक दिन राजा को खबर लगी कि वन में जगनंदन और अभिनंदन नाम दो मुनीश्वर आये हैं। खबर पाते ही वह उनकी वन्दना के लिए वन में गया। वहाँ पहुँच कर उसने मुनीश्वरों की वन्दना की और उनसे धर्म का उपदेश सुना तथा सम्यग्दर्शन ग्रहण किया। उसके साथ स्वयंप्रभा ने भी धर्म धारण किया। इसके बाद ज्वलनजटी मुनीश्वरों को नमस्कार कर नगर को वापस लौट आया ॥१४-१५॥

इसके बाद एक बार पर्व के दिनों में स्वयंप्रभा ने बड़े आनन्द के साथ उपवास किया। यद्यपि उपवास से उसका शरीर कृश हो गया था तो भी उसकी शोभा अपूर्व थी। स्वयंप्रभा ने जिनेन्द्र देव की बड़ी भक्ति से पूजा की और उनके चरण कमलों की शेषा लाकर अपने पिता को प्रदान की। पिता ने उसे भक्ति के साथ मस्तक पर चढ़ाया। उस समय स्वयंप्रभा के पिता ज्वलनजटी ने देखा कि अब कन्या युवती हो गई है, इसका किसी उत्तम वर के साथ विवाह कर देना योग्य है। इसके बाद ही उसके मन में प्रश्न उठा कि स्वयंप्रभा जैसी सुन्दरी कन्या किसे दी जानी चाहिए। इस प्रश्न को जब वह स्वयं हल न कर सका तब उसने अपने मंत्रिवर्ग को बुलाया और उनसे कन्या देने के सम्बन्ध में सलाह पूछी। इस पर शास्त्रज्ञ सुश्रुत नाम मंत्री ने कहा ॥१६-१८॥

महाराज! इसी विजयार्द्ध की उत्तर श्रेणी में एक अलकापुरी नाम नगरी है। वहाँ का राजा मयूरग्रीव है। उसकी रानी का नाम नीलांजना है। उनके कई एक पुत्र हैं। वे सब महान् बली हैं। उनके नाम अश्वग्रीव, नीलकंठ और वज्रकंठ इत्यादि हैं। अश्वग्रीव की स्त्री का नाम कनकचित्रा है। अश्वग्रीव और कनकचित्रा के पाँच सौ पुत्र हैं। अश्वग्रीव का हरिश्मश्रुक नाम मंत्री और शतबिन्दु नामक निमित्तक है। वह तीन खण्ड पृथ्वी का स्वामी है। मेरी सम्मति है कि आप अश्वग्रीव जैसे विस्तृत राज्य वाले राजा को कन्या दें, तो कन्या को सुख होगा और आपको भी शान्ति मिलेगी। सुश्रुत की बातों को सुनकर बहुश्रुत नाम मंत्री ने कहा ॥१९-२२॥

तुम्हारा कहना ठीक हैं परन्तु अश्वग्रीव की अवस्था अधिक है, अतएव यदि उसे कन्या दी जायेगी तो सम्भव है कि वह भोगों से वंचित रह जाये अर्थात् हमेशा सौभाग्यवती न रहे–वैधव्य जैसे

तदुक्तम् –
आभिजात्यमरोगित्वं वयः शीलं श्रुतं वपुः। लक्ष्मीः पक्षः परीवारो वरे नव गुणाः स्मृताः ॥२४॥
ततोऽन्यं वरमन्विष्य कथयामि नराधिप। येन स्पष्टसुदृष्टेन शिष्टास्तिष्ठन्ति पुष्टये ॥२५॥
पुरे खवल्लभे सिंहरथो मेघपुरे नृपः। कुशेशयरथश्चित्रपुरेऽरिंजयभूपतिः ॥२६॥
अश्वद्रङ्गे हेमरथो रत्नपुरे धनंजयः। एतेष्वन्यतमायेयं देया कन्या शुभावहा ॥२७॥
श्रुत्वा वचः शुभं तस्य प्रोवाच श्रुतसागरः। कन्यावरो वरः कश्चित्कथ्यते श्रूयतां लघु ॥२८॥
द्रङ्गे सुरेन्द्रकान्तारे उदक्श्रेणिनिवासिनि। मेघवाहनभूपस्य प्रियासीन्मेघमालिनी ॥२९॥
विद्युत्प्रभस्तयोः पुत्रो ज्योतिर्माला परा सुता। सिद्धकूटं गतो मेघवाहनस्तत्र दृष्टवान् ॥३०॥
चारणं वरधर्माख्यं नत्वा स श्रुतवान्वृषम्। स्वसूनोः प्राक्तने पृष्टे भवे प्रोवाच चारणः ॥३१॥
प्राग्विदेहेऽस्ति विषयो द्वीपेऽत्र वत्सकावती। प्रभाकरी पुरी राज्ञो नन्दनस्य च नन्दनः ॥३२॥
वीरो विजयभद्राख्यो जयसेनास्य वल्लभा। अन्यदा स पतद्वीक्ष्य फलं च विपिने गतः ॥३३॥
वैराग्यं स्वं गुरुं प्राप्य पिहितास्रवसंज्ञकम्। चतुःसहस्रभूपालैः संयमं संयमी ययौ ॥३४॥

महान् संकट में पड़ जाय। देखो! वर में ये नौ गुण तो अवश्य ही होने चाहिए। उच्च जाति, नीरोगता, योग्य आयु, शील, शास्त्र का ज्ञान, सुन्दर सुडौल शरीर, धन-दौलत, पक्ष और कुटुम्ब। अश्वग्रीव में इनमें की बहुत-सी बातें नहीं है, इसलिए यह स्वयंप्रभा के योग्य नहीं है। दूसरा और कोई वर खोजा जाना चाहिए। कारण, स्पष्ट देख-भालकर ही सत्पुरुष सन्तुष्ट होते हैं और अपनी कन्या प्रदान करते है ॥२३-२५॥

सुश्रुत ने फिर कहा कि महाराज! और देखिए, गगनवल्लभ पुर में सिंहरथ, मेघपुर में पद्मरथ, चित्रपुर में अरिंजय, अश्वपुर में हेमरथ, रत्नपुर में धनंजय इत्यादि बहुत से राजा है। इनमें से जो आपकी पसंद पड़े उसे पुण्यवती और सौभाग्यशालिनी प्रभावती को दीजिए। यह सुनकर श्रुतसागर नाम मंत्री ने कहा कि महाराज! स्वयंप्रभा के योग्य घर मैं बताता हूँ, सुनिए ॥२६-२८॥

इसी विजयार्द्ध की उत्तर श्रेणी में सुरेन्द्रकान्त नगर है। वहाँ के राजा का नाम मेघवाहन है। उसकी रानी का नाम मेघमालिनी है। उनके विद्युत्प्रभ नाम पुत्र और ज्योतिर्माला नाम एक कन्या है। एक दिन मेघवाहन सिद्धकूट चैत्यालय गया और वहाँ उसने एक चारण मुनि को देखा। उनका नाम वरधर्म था। उन्हें नमस्कार कर उसने उनसे धर्म का उपदेश सुना और अपने पुत्र विद्युत्प्रभ के पिछले भवों का हाल पूछा। मुनिराज ने कहा कि–''जम्बूद्वीप के पूर्वविदह में एक वत्स्यकावती देश है। उसमें प्रभापुरी नाम नगरी है। वहाँ का राजा नंदन था। उसके पुत्र का नाम विजयभद्र था। वह वीर और प्रतापी था। उसकी भार्या का नाम जयसेना था। एक दिन विजयभद्र क्रीड़ा के लिए उद्यान में गया और वहाँ एक फल को पेड़ से नीचे पड़ता हुआ देखकर वह विरक्त हो गया तथा पिहितास्रव मुनि के पास जा, चार हजार राजाओं के साथ-साथ उसने जैनेन्द्री दीक्षा धारण कर ली-वह दिगम्बर यति हो गया एवं वह कुछ काल में मरकर शान्त भावें के प्रभाव से माहेन्द्र स्वर्ग के चक्रक नाम विमान में देव हुआ। वहाँ

मृत्वा माहेन्द्रकल्पेऽगाद्विमाने चक्रके ततः। सप्तसागरमाजीव्य च्युत्वा त्वत्सुततां गतः ॥३५॥
प्रयास्यति स निर्वाणमिति तत्र गतेन तत्। मया श्रुतं ततस्तस्मै देया कन्या प्रयत्नतः ॥३६॥
ज्योतिर्मालां ग्रहीष्यामस्तत्पुत्रीमर्ककीर्तये। इति श्रुत्वा वचस्तस्य सुमतिः सचिवोऽवदत् ॥३७॥
कन्याया याचकाः सन्ति खगाः सर्वे सहस्रशः। कन्यायां ते प्रदत्तायामस्मै यास्यन्ति वैरिताम् ॥३८॥
श्रेयान्स्वयंवरस्तस्मादित्युक्त्वा विरराम सः। अनुमन्य तदेवाशु सर्वे ते तेन प्रेषिताः ॥३९॥
संभिन्नश्रोतृनामानं पुराणार्थप्रवेदिनम्। अप्राक्षीत्स समाहूय स्वयंप्रभायै वरं परम् ॥४०॥
सोऽवोचच्छृणु शास्त्रेऽत्र श्रुतं तत्कथ्यते मया। सुरम्यविषये ख्याते पोदनाख्ये पुरे परे ॥४१॥
नृपः प्रजापतिस्तस्य जाया भद्रा मृगावती। भद्रायां विजयो जज्ञे मृगावत्यास्त्रिपृष्ठकः ॥४२॥
भवितारौ बलकृष्णौ श्रेयस्तीर्थे महाबलौ। हत्वाश्वग्रीवशत्रुं चाद्यौ त्रिखण्डपति च तौ ॥४३॥
त्रिपृष्टस्तु भवं भ्रान्त्वा भावी तीर्थकरोऽन्तिमः। अतः कन्या त्रिपृष्टाय देया त्रिखण्डभोगिने ॥४४॥
कन्या तस्य मनो हृत्वा भूयात्कल्याणभागिनी। भवतो भवितानेन सर्वविद्याधरेशिता ॥४५॥
इति तस्य वचो धृत्वा चित्तेऽसौ तमपूजयत्। इन्द्राख्यदूतमाहूय लेखप्राभृतसंयुतम् ॥४६॥

उसकी सात सागर की आयु हुई। वह वहाँ से चयकर अब यह तेरा पुत्र विद्युत्प्रभ हुआ है और यह थोड़े ही समय में मोक्ष जायेगा।'' मैं भी उस समय वहीं पर था। पिहितास्त्रव मुनि के मुख से यह हाल मैंने स्वयं सुना है। अतः मेरी सम्मति है कि उसे ही कन्या देना योग्य है और ज्योतिर्माला नाम की जो उसकी पुत्री है वह अपने कुमार अर्ककीर्ति के योग्य है। इसलिए उसे हम अर्ककीर्ति के निमित्त ले लेंगे। श्रुतसागर के इन वचनों को सुनकर सुमति मंत्री ने कहा कि राजन्! स्वयंप्रभा को प्रायः सभी विद्याधर चाहते हैं। इसलिए अपनी खुशी से किसी एक को दे देने पर वे बड़ा वैर-विरोध खड़ा करेंगे, अतः स्वयंवर करना सबसे उत्तम और ठीक होगा। यह कह कर सुमति चुप हो गया। राजा ने उसकी बात स्वीकार कर मंत्री वर्ग को विदा किया। इसके बाद राजा ने संभिन्नश्रोतृ नाम एक पौराणिक को बुलाकर उससे पूछा कि पंडितजी स्वयंप्रभा का वर कौन होगा। यह सुन पौराणिक ने कहा कि मैं शास्त्र के आधार से जो कुछ कहता हूँ उसे आप ध्यान से सुनिए। सुरम्य देश में एक पोदनपुर नगर है। उसका राजा प्रजापति है। उसकी दो रानियाँ हैं। एक भद्रा और दूसरी मृगावती। भद्रा के पुत्र का नाम विजय और मृगावती के पुत्र का नाम त्रिपृष्ट है। वे दोनों ग्यारहवें तीर्थंकर के तीर्थ में, नारायण और बलभद्र होने वाले हैं। वे महान् बली और अश्वग्रीव को मारकर तीन खण्ड के पति होने वाले है एवं त्रिपृष्ठ संसार परिभ्रमण कर अन्तिम तीर्थंकर होगा। अतः तीन खण्ड के भोक्ता त्रिपृष्ठ को ही कन्या देनी चाहिए। यह कन्या उसके मन को मोह कर कल्याण की भगिनी बनेगी और उसके निमित्त से आप सब विद्याधरों के स्वामी बनेंगे ॥२९-४५॥

पौराणिक के इन वचनों को सुनकर राजा ने उसका खूब सत्कार किया और उसके वचनों पर निश्चय कर किया। इसके बाद राजा ने उसी समय इन्द्र नाम दूत को बुलाया और उसे पत्र तथा भेंट

प्राहिणोच्छिक्षया युक्तं भूपः प्रजापतिं प्रति। जयगुप्तात्पुरा ज्ञातं निमित्तज्ञाच्चिरात्स्फुटम् ॥४७॥
स्वयंप्रभापतिर्भावी त्रिपृष्ठ इति भूभुजा। दूतोऽथ राजसदनं स प्रविष्टः सभालये ॥४८॥
योग्यासने स्थितस्तस्मै दत्तवान्वरप्राभृतम्। दूतः प्रोवाच विनयान्नृपं प्रति कृतादरः ॥४९॥
स्वयंप्रभाख्यया लक्ष्म्या त्रिपृष्ठो व्रियतामिति। शुश्राव सकलं वृत्तं वाचयित्वा च वाचिकम् ॥५०॥
प्रतिप्राभृतकं दत्त्वा तं प्रपूज्य वचोहरम्। तथेति प्रतिपद्यासौ विससर्ज प्रजापतिः ॥५१॥
गत्वा स सत्वरं दूतो रथनूपुरभूमिपम्। प्रणम्य सर्वकार्यस्य सिद्धिं युक्त्या व्यजिज्ञपत् ॥५२॥
विभूत्या नगरं प्राप्तं विद्येशं स प्रजापतिः। गत्वा सम्मुखमानीयास्थापयद्योगमण्डपे ॥५३॥
विवाहोचितकार्येण ददौ तस्मै स्वयंप्रभाम्। सिंहाहिताक्ष्र्यविद्याश्च खगः साधयितुं ददौ ॥५४॥
अश्वग्रीवपुरेऽभूवन्नुत्पातास्त्रिविधाः परे। अभूतपूर्वांस्तान्दृष्ट्वा जना भीतिमगुस्तदा ॥५५॥
शतबिन्दुं निमित्तज्ञमश्वग्रीवः समाह्वयत्। किमेतदिति संपृष्टे स ब्रूते स्म च तत्फलम् ॥५६॥
सिन्धुदेशे हतो येन मृगारिः सत्पराक्रमः। येनाहारि हठात्त्वां च प्राभृतं प्रति प्रेषितम् ॥५७॥

दे तथा सब बातें समझा कर प्रजापति महाराज के पास भेजा क्योंकि जयगुप्त नामक निमित्तज्ञानी से वह पहले ही सुन चुका था कि स्वयंप्रभा का वर त्रिपृष्ठ नारायण होगा। दूत राजमहल के सभा भवन में पहुँचा और वर के लिए जो भेंट ले गया था, उसे उसने प्रजापति महाराज के सामने रख दी तथा उनके हाथ में पत्र देकर विनय-पूर्वक कहा कि देव! ज्वलनजटी महाराज की इच्छा है कि उनकी स्वयंप्रभा नाम लक्ष्मी के जैसी कन्या को त्रिपृष्ठ ग्रहण करें। इसके बाद पत्र के द्वारा पूरा हाल जान कर प्रजापति ने दूत का खूब आदर-सत्कार किया और बदले की भेंट देकर उससे कहा कि ''जैसी तुम्हारे महाराज की इच्छा है वैसा ही होगा'' ॥४६-५१॥

दूत वहाँ से विदा होकर वापस रथनूपुर आया और उसने सारी कार्यसिद्धि को बड़ी युक्ति के साथ महाराज को कह सुनाया ॥५२॥ इसके बाद बड़ी भारी विभूति और ठाटबाट के साथ ज्वलनजटी स्वयंप्रभा को लेकर पोदनपुर पहुँचे। उनका आना जानकर प्रजापति अगवानी के लिए नगर के बाहर आये और बड़े आदर के साथ ज्वलनजटी को नगर में ले गये। वहीं उन्होंने एक सुन्दर सुहावने मंडप में उन्हें ठहराया। इसके बाद ज्वलनजटी ने विवाह की सब विधि यथायोग्य समाप्त कर त्रिपृष्ठ के लिए कन्या प्रदान की और साथ ही सिंहविद्या, नागविद्या तथा ताक्ष्र्यविद्या ये तीन विद्यायें दीं। इसी समय उत्तर श्रेणी की अलकापुरी में जहाँ पर अश्वग्रीव रहता था, तीन भाँति के उपद्रव हुए। दिव्य, भौम और अन्तरीक्ष। पहले कभी नहीं हुए ऐसे इन अपूर्व उपद्रवों को देखकर वहाँ के लोग बहुत ही व्याकुल हुए। उस समय अन्वग्रीव ने शतबिन्दु निमित्तज्ञानी को बुलाया और उससे पूछा कि बताओ, इन उपद्रवों का फल क्या है ? शतबिन्दु ने कहा ॥५३-५५॥

जिसने सिंधुदेश में सिंह को मारकर अपना पराक्रम दिखाया, जिसने आपके पास आती हुई भेंट को जबरदस्ती रास्ते में ही छीन लिया और ज्वलनजटी खगेश्वर की स्वयंप्रभा नाम कन्या को जिस धीरवीर ने वरा उसके द्वारा आपको क्षोभ प्राप्त होगा-आप दुखी होंगे। इसलिए आप उसे

स्वयंप्रभाभिधं रत्नं येनादायि खगेश्वरात्। ततस्ते क्षोभनं नूनं भविता चेक्ष्यतां स हि॥५८॥
सोऽवादीन्मन्त्रिणस्तूर्णं युष्माभिः स समीक्ष्यताम्। विषाङ्कुरवदुच्छेद्यः सोऽन्यथा दुःखकृत्खलः॥५९॥
सर्वमन्विष्य तत्रापि निगूढैः प्रेषितैर्जनैः। शतबिन्दूक्तमाचिन्त्य तन्मृगारिवधादिकम्॥६०॥
त्रिपृष्ठो नाम दर्पिष्ठः स परीक्ष्यः क्षितौ महान्। इत्युक्तं च महादूतौ चिन्तागतिमनोगती॥६१॥
त्रिपृष्ठं प्रेषयामासाश्वग्रीवो भयसंयुतः। तौ गत्वा नृपतिं नत्वा दृष्ट्वा प्राभृतपूर्वकम्॥६२॥
निवेद्यागमनं युक्त्या प्रोचतुर्विनयान्वितौ। खगेश्वरेण भूप त्वमधुना ज्ञापितोऽस्यहो॥६३॥
एष्याम्यहं रथावर्ताद्रिं ममानु भवानिति। त्वां नेतुमागतावावामारोप्याज्ञां स्वमूर्धनि॥६४॥
आगन्तव्यं त्वयेत्युक्ते जगाद सोऽपि कोपतः। उष्ट्रग्रीवाः खरग्रीवा अश्वग्रीवा नराः क्वचित्॥६५॥
न दृष्टा इत्ययुक्तं तावूचतुः खगनायकम्। अवमन्तुं सर्वलोकाभ्यर्च्यं युक्तं न ते द्रुतम्॥६६॥
इत्युक्ते सोऽवदत्स्वामी खगेट् ते पक्षसंयुतः। एष्याम्यहं न तं द्रष्टुमित्यब्रूतां च तौ नृपम्॥६७॥
वक्तुं दर्पादिदं युक्तं नादृष्ट्वा चक्रनायकम्। यत्कोपान्न स्थितिर्देहे कौ कश्च स्थातुमर्हति॥६८॥
निशम्येति तयोर्वाक्यमवादीत्स भवत्पतिः। चक्री ते कुम्भकारः किं घटकृत्कारुकाग्रणीः॥६९॥

खोजकर पहले से ही अपना प्रबन्ध कर उसके नाश का यत्न कीजिए। यह सुन अश्वग्रीव ने उसी समय मंत्रियों को आज्ञा दी कि तुम लोग उस शत्रु की जल्दी खोज करो और विष के अंकुर की तरह उसे जड़ से उखाड़कर फेंक दो, नहीं तो वह पीछे बहुत दुख देगा॥५६-५९॥

मंत्रियों की सलाह से गूढ़चर लोग पोदनपुर भेजे गये। वहाँ उन्होंने तलाश किया और शतबिन्दु की बताई हुई सिंहवध आदि बातों पर से यह निश्चय किया कि आत्माभिमानी यह त्रिपृष्ठ ही हमारे महाराज का शत्रु है। इसी के निमित्त से सब उपद्रव हो रहे हैं। इतना पता लेकर वे वापस आये और उन्होंने राजा को अपने दिल का सब हाल कह सुनाया, जिसे सुन अश्वग्रीव और भी भयभीत हुआ। उसने त्रिपृष्ठ के पास चिंतागति और मनोगति नामक दो दूतों को भेजा। वे दोनों त्रिपृष्ठ के पास पहुँचे तथा उन्हें भेंट दे, नमस्कार कर बड़े आदर के साथ बोले कि राजन्! विद्याधरों के अधिपति अश्वग्रीव ने आपके लिए यह आज्ञा की है कि मैं रथावर्त पर्वत पर आता हूँ और आप भी वहाँ आकर मुझसे मिलें। इसलिए हम लोग आपको लेने के लिए आये हैं। कृपाकर आप चलिए। इस पर त्रिपृष्ठ ने क्रोध भरे शब्दों में कहा कि मैंने आज तक उष्ट्रग्रीव, खरग्रीव और अश्वग्रीव वाले मनुष्य कहीं नहीं देखे, फिर यह घोड़े कैसी गर्दन वाला मनुष्य कहाँ से आया। त्रिपृष्ठ की व्यंग्योक्ति सुनकर दूतों ने कहा कि यह आपका ख्याल गलत है। एक विद्याधरों के स्वामी और सारे संसार द्वारा पूजे जाने वाले पुरुषोत्तम के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग करना आपको शोभा नहीं देता। इस पर त्रिपृष्ठ ने कहा कि यदि तुम्हारा स्वामी आकाश में चलने वाला विद्याधर है तो वह पक्ष-युक्त पक्षी होगा, उसको देखने के लिए मुझे अवकाश नहीं-मैं नहीं आ सकता। इसके उत्तर में दूतों ने कहा कि हमारा स्वामी चक्रनायक है। उन्हें देखे बिना अभिमान में भूल कर ऐसी ऊँटपटाँग बातें बकना ठीक नहीं है। उनके कोप से शरीर में रहना तक कठिन हो जाता है तब पृथ्वी पर तो रह ही कौन सकता है। दूतों के ऐसे

किं प्रेष्यं तस्य चेत्युक्ते तौ सक्रोधाववोचताम्। चक्रिभोग्यमिदं कन्यारत्नं किं तेऽद्य जीर्यति ॥७०॥
ज्वलनादिजटी कोऽसौ कः प्रजापतिनामभाक्। क्रुद्धे चक्रिणि चेत्युक्त्वा गतौ दूतौ ततः क्रुधा ॥७१॥
प्राप्याश्वग्रीवमानम्याकुण्ठौ भूपविचेष्टितम्। प्रोचतुस्तत्खगेट् श्रुत्वा स्फालयामास दुन्दुभिम् ॥७२॥
जगद्व्यापिनमाकर्ण्य भेरीनादं जगुर्नृपाः। क्रुद्धे चक्रिणि कस्तिष्ठेद्भूमौ भीतिभरावहः ॥७३॥
रथावर्तमगाच्चक्री चतुरङ्गबलैस्तदा। जजृम्भिरे ककुब्दाहा उल्कापाताश्चचाल भूः ॥७४॥
विदित्वैतत्सुतौ तत्र प्रतीयतुः प्रजापतेः। सेनयोरुभयोस्तत्र सङ्गरः समभून्महान् ॥७५॥
हयग्रीवमगात्कोपात्त्रिपृष्ठो युद्धसन्नधीः। हयकण्ठोऽपि तं पूर्ववैराद्योद्धुं समुद्यतः ॥७६॥
समाच्छादयतः सेनां तौ बाणैर्बलिनौ बलात्। सामान्यशस्त्रयुद्धेन जेतुं तावितरेतरम् ॥७७॥
आरेभाते क्षमौ तौ च विद्यायुद्धं बलोद्धतौ। चिरं युध्द्वाश्वग्रीवस्तु व्यर्थविद्याबलः क्रुधा ॥७८॥
अभ्यरि क्षिप्तवांश्चक्रं तदेवादाय केशवः। तेनाश्वग्रीवसद्ग्रीवामच्छिनद्बलतो बली ॥७९॥

कठोर वचनों को सुनकर त्रिपृष्ठ ने कहा कि यदि तुम्हारा स्वामी चक्रनायक है तो वह घड़ा बनाने वाला कारीगरों का अगुआ कुम्हार है। उसके लिए क्या तो भेजा जाये और क्या उससे मेल-मिलाप किया जाय। यह सुन दूतों ने क्रोध भरे शब्दों में कहा कि जिस कन्यारत्न को आपने अपना भोग्य पदार्थ बना लिया है वह क्या आपको पच जायेगा? नहीं, कभी नहीं। ज्वलनजटी और प्रजापति कौन खेत का मूली हैं और चक्रवर्ती के क्रोध के आगे वे क्या कर सकते हैं ॥६०-७१॥

इतना कहकर वे दोनों कुबुद्धि दूत वापस लौट आये और अश्वग्रीव के पास आ, उसे नमस्कार कर उन्होंने त्रिपृष्ठ ने जो कुछ कहा था वह सब ज्यों का त्यों कह सुनाया, जिसे सुनकर अश्वग्रीव के क्रोध का पारा बहुत ही चढ़ गया और उसने रणभेरी बजवा दी। संसार भर में फैलने वाले भेरी के शब्द को सुनकर सभी राजा-गण अश्वग्रीव की सेवा में आ उपस्थित हुए क्योंकि चक्रवर्ती के क्रोध के मारे सभी भयभीत हो डर के भार से दब जाते हैं। पृथ्वी पर कोई भी सुख-चैन से नहीं रह सकता ॥७२-७३॥

इसके बाद अश्वग्रीव चतुरंगसेना के साथ रथावर्त पर्वत की ओर रवाना हुआ। इस समय दशों दिशायें आग उगलने लगीं। उल्कापात होने लगा और पृथ्वी काँपने लगी। अश्वग्रीव को आया जान प्रजापति के दोनों पुत्र भी आ पहुँचे। दोनों ओर की सेना में बढ़ा भयंकर युद्ध हुआ। यह देख त्रिपृष्ठ को बहुत क्रोध आया। यह आग बबूला हो गया और अश्वग्रीव पर स्वयं ही जा चढ़ा। उधर से अश्वग्रीव भी पहले जन्म के वैर के कारण लड़ने को तैयार ही था। दोनों ने खूब बाणों की बरसा की, जिससे सारी सेना बिल्कुल बाणमय देख पड़ने लगी। इस तरह उन दानों में सामान्य शस्त्रों द्वारा बहुत ही युद्ध हुआ, पर जब एक दूसरे को कोई भी न जीत सका तब उन शक्तिशालियों ने विद्यायुद्ध करना आरम्भ किया। विद्यायुद्ध करते हुए भी बहुत देर हो गई और अश्वग्रीव का विद्याबल व्यर्थ जाने लगा। तब क्रोध में आकर अश्वग्रीव ने वैरी पर चक्र चलाया। चक्र तीन प्रदक्षिणा कर दैवयोग से त्रिपृष्ठ के हाथ में आ गया। अन्त में उस बली त्रिपृष्ठ ने उसी चक्र के द्वारा अश्वग्रीव की गर्दन

त्रिपृष्ठविजयौ जातौ भरतार्धपती परौ। खेचरैर्व्यन्तरैर्भूपैर्मागधैः कृतपूजनौ ॥८०॥
रथनूपुरनाथाय द्वयोः श्रेण्योरवातरत्। प्रभुत्वं किं न जायेत महदाश्रयतोऽच्युतः ॥८१॥
खड्गः शङ्खो धनुश्चक्रं दण्डः शक्तिर्गदाभवन्। सप्त रत्नानि सद्विष्णो रक्षितानि मरुद्गणैः ॥८२॥
रत्नमाला गदा दीप्यद्रामस्य मुशलं हलम्। चत्वारीमानि रत्नानि जज्ञिरे भाविनिर्वृतेः ॥८३॥
सहस्रद्व्यष्टदेव्यस्तु विष्णोः स्वयंप्रभादयः। रामस्याष्टसहस्राणिशीलरूपगुणान्विताः ॥८४॥
प्रजापतिः सुतां ज्योतिर्मालां दत्त्वार्ककीर्तये। प्राप प्रीतिं परां युक्त्या विवाहेन महोत्सवैः ॥८५॥
तयोरमिततेजास्तुक् सुतारा च सुताभवत्। विष्णोः श्रीविजयः पुत्रः परो विजयभद्रकः ॥८६॥
सुता ज्योतिःप्रभा नाम्नी स्वयंप्रभासमुद्भवा। प्रजापतिर्भवाद्भीतो गत्वाथ पिहितास्रवम् ॥८७॥
आदाज्जैनश्वरीं दीक्षां क्रमान्मोक्षं समासदत्। तच्छ्रुत्वा खेचरेन्द्रोऽपि राज्यं न्यस्यार्ककीर्तये ॥८८॥
जगन्नन्दनसामीप्ये दीक्षामाप जगन्नुताम्। सोऽगमत्परमं ध्यानं ततश्च परमं पदम् ॥८९॥
ज्योतिःप्रभा कदाचिच्च त्रिपृष्ठस्य सुता परा। स्वयंवरविधानेन वव्रे चामिततेजसम् ॥९०॥

काट कर उसे धराशायी बना दिया। इस प्रकार विजय और त्रिगृष्ठ आधे भरतक्षेत्र के अधिपति हुए और विद्याबल, राजा-महाराजा, व्यंतर और मागध सभी उनकी सेवा करने लगे। इसके बाद त्रिपृष्ठ ने ज्वलनजटी को दीनों श्रेणियों का स्वामी बना दिया। सच है बड़े पुरुषों के आश्रय से सभी प्रभुता प्राप्त हो जाती है, कुछ दुर्लभ नहीं रह जाता ॥७४-८१॥

इसके बाद पूर्व पुण्य के उदय से त्रिपृष्ठ नारायण को खड्ग, शंख, धनुष, चक्र, दंड, शक्ति, गदा ये सात रत्न और विजय बलभद्र को रत्नमाला, गदा, मुशल और हल ये चार रत्न प्राप्त हुए। इन रत्नों की हजारों देवता-गण सेवा करते हैं ॥८२-८३॥

त्रिपृष्ठ की सोलह हजार रानियाँ थीं, उनमें से पट्टरानी का सौभाग्य स्वयंप्रभा को ही प्राप्त था। विजय की आठ हजार रानियाँ थीं। वे सभी शीलवती, रूपवती और गुणों की खान थीं ॥८४॥

इसके बाद प्रजापति राजा ने भी अपनी ज्योतिर्माला नाम पुत्री का विवाह बड़े भारी ठाट-बाट से ज्वलनजटी के पुत्र अर्ककीर्ति के साथ कर दिया। इससे दोनों राजाओं में परस्पर खूब गाढ़ी प्रीति हो गई। अर्ककीर्ति और ज्योतिर्माला के अमिततेज नाम का पुत्र और सुतारा नाम की पुत्री हुई। इसी भाँति त्रिपृष्ठ और स्वयंप्रभा के भी श्रीविजय और विजयभद्र नाम दो पुत्र तथा ज्योतिःप्रभा नाम एक कन्या हुई ॥८५॥

इसके बाद किसी निमित्त को पाकर प्रजापति संसार-विषयभोगों से उदास हो गये और पिहितास्रव मुनि के पास जैनेन्द्री दीक्षा धारण कर तथा तप के द्वारा कर्मों का नाश कर मोक्षधाम को चले गये। यह सुन ज्वलनजटी भी अर्ककीर्ति पर राज-भार डाल कर जगत्-नंदन मुनि के पास दिगम्बरी दीक्षा ले परम ध्यान के प्रभाव से परम पद के स्वामी हो गये ॥८६-८९॥

इसके बाद जब ज्योतिःप्रभा का स्वयंवर रचा गया तब उसने अमिततेज को वरा, उसके गले में वरमाला डाली और अर्ककीर्ति की पुत्री सुतारा ने अपने स्वयंवर में श्रीविजय पर आसक्त हो उसके

खगपुत्री सुतारा सुस्वयंवरविधानतः। स्वयं रागवती वव्रे वरं श्रीविजयं वरम् ॥९१॥
भुक्त्वा चिरं महाराज्यं विष्णुश्चायुःक्षये गतः। सप्तमं भूतलं राज्यं बलःश्रीविजये न्यधात् ॥९२॥
न्यस्य विजयभद्राय यौवराज्यं हलायुधः। चक्रिशोकाकुलो गत्वा स्वर्णकुम्भसमीपताम् ॥९३॥
सहस्रैः सप्तभिर्भूपैर्ययौ संयममुत्तमम्। निर्मूल्य घातिकर्माणि केवल्यासीत्परोदयः ॥९४॥
अर्ककीर्तिस्तदाकर्ण्य संस्थाप्यामिततेजसम्। राज्ये विपुलमत्याख्यचारणादग्रहीत्तपः ॥९५॥
नष्टकर्मा गतो मुक्तिं तयोरविकले परे। शर्मणामिततेजःश्रीविजयाख्यनृपालयोः ॥९६॥
गच्छति प्रचुरे काले कश्चित्पोदनपत्तने। साशीर्वादः समागत्य प्रोवाच नृपतिं प्रति ॥९७॥
सावधानो धराधीश भूत्वा मद्वचनं शृणु। सप्तमेऽह्नि तरां मूर्ध्नि पोदनाधिपतेरितः ॥९८॥
पतिष्यति महावज्रमुपायस्तत्र चिन्त्यताम्। इत्याकर्ण्य तदा प्राह युवराजो महाक्रुधा ॥९९॥
पतिता तव शीर्षे किं वद कोविद वै तदा। श्रुत्वावादीन्निमित्तज्ञ इति भूपेश मूर्धनि ॥१००॥
पतिता रत्नवृष्टिर्मे महाभिषेकपूर्वकम्। साहंकारं निशम्यैतत्स राजा विस्मयी जगौ ॥१०१॥
भद्रात्र स्थीयतां तावच्छृणु त्वं किंचिदुच्यते। किं गुरुः ख्याहि किं गोत्रः किं शास्त्रः किं निमित्तकः ॥१०२॥

गले में वरमाला डाली। स्वयंवर के बाद दोनों का परस्पर में खूब धूमधाम के साथ विवाह महोत्सव किया गया ॥९०-९१॥

इसके बाद बहुत दिन तक राज-सुख भोग आयु का अन्त होने पर नारायण मरकर सातवें नरक गया और विजय बलभद्र ने श्रीविजय को राज-पद देकर विजयभद्र को युवराज बनाया तथा वह स्वयं भाई के शोक से व्याकुल हो स्वर्ण कुंभ मुनि के पास दीक्षित हो गया। उसके साथ में सात हजार राजाओं ने भी संयम को ग्रहण किया एवं थोड़े ही समय में घातिया कर्मों को नाशकर वह परमोदय का धारक केवली हो गया ॥९२-९४॥

यह सुन अर्ककीर्ति भी अमिततेज को राज-भार सौंपकर विपुलमति मुनिराज के चरणों में तपस्वी हो गया। इसके बाद अमिततेज और अर्ककीर्ति ने बहुत काल तक अविकल राज-सुख भोगा। उन्हें कोई बात की चिन्ता न हुई ॥९५॥

एक दिन पोदनपुर के नरेश की सभा में एक नया मनुष्य आया और राजा को आशीर्वाद देकर बोला कि राजन्! मेरी बात जरा ध्यान से सुनिए। आज से सातवें दिन आपके पोदनपुर के राजा के मस्तक पर महावज्र की बरसा होगी, इसलिए उससे बचने का कुछ उपाय कीजिए। यह सुन क्रोध में आ विजयभद्र युवराज ने कहा कि पंडितजी! यह तो बताओ कि उस समय तुम्हारे मस्तक पर काहे की बरसा होगी। इस पर उस निमित्तज्ञानी ने अहंकार भरे शब्दों में कहा कि महाराज! सुनिए- उस समय मेरे मस्तक पर अभिषेक पूर्वक रत्नों की बरसा होगी। उसके इन वचनों को सुन श्रीविजय को बड़ा अचंभा हुआ। उन्होंने कहा कि भद्र! यहाँ आओ, बैठो, मेरी बात सुनो। बताओ कि तुम्हारा गुरु कौन हैं और कौन गोत्र में तुम्हारा जन्म हुआ है ? तुमने कौन-कौन शास्त्र पढ़े या देखे हैं और किस निमित्त से तुमने यह बात जानी है ? तुम्हारा नाम क्या है ? ॥९६-१०२॥

किमाख्यः किं निमित्तोऽयमादेशः कथ्यतामिति। स जगौ कुण्डले द्रङ्गे राजा सिंहरथो महान् ॥१०३॥
पुरोधाः सुरगुर्वाख्यः शिष्यस्तस्य विशारदः। तदन्तेवासिना दीक्षां गृहीत्वा हलिना समम् ॥१०४॥
मयाष्टाङ्गनिमित्तान्यधीतानि च श्रुतानि च। तानि कानीति संप्रश्नेऽन्तरीक्षं भौममङ्गगम् ॥१०५॥
लक्षणं व्यञ्जनं छिन्नं स्वरः स्वप्नोऽष्टधेति च। तल्लक्षणानि भेदांश्च प्रोच्याहं क्षुत्तृषाकुलः ॥१०६॥
मुक्तदीक्षः सदादुःखी पद्मिनीखेटमाययौ। मातुलस्तत्र मे सोमशर्मा चन्द्राननां सुताम् ॥१०७॥
हिरण्यलोमासंजातां तस्याहं परिणीतवान्। वित्तोपार्जनमुन्मुच्य निमित्ताभ्यासरञ्जितः ॥१०८॥
मां निरीक्ष्य प्रिया खिन्ना तातदत्तवसुक्षयात्। भोजनावसरेऽन्येद्युर्वित्तमेतत्त्वयार्जितम् ॥१०९॥
मद्वराटकवृन्दं चेत्यमत्रे रोषतोऽक्षिपत्। वज्रपातस्तदा मूर्ध्नि पोदनेशस्य निश्चितम् ॥११०॥
रञ्जितस्फटिके तत्र तपनाभीषुसंनिधिम्। भार्याक्षिप्तकरक्षालजलधारां च पश्यता ॥१११॥
निश्चित्यात्मयथालाभं तोषाभिषवपूर्वकम्। अयं चामोघजिह्वाख्यस्तवादेशो मया कृतः ॥११२॥
श्रुत्वेति तं विसर्ज्यासौ भूपश्चिन्तासमाकुलः। आहूय मन्त्रिणोऽपृच्छद्वृत्तमेतद्भयावहम् ॥११३॥

इनके उत्तर में उस निमित्तज्ञ ने कहा कि कुण्डलपुर नाम नगर में सिंहरथ नाम राजा है। उसके पुरोहित का नाम सुरगुरु है। उसका मैं शिष्य हूँ। मैंने विजय बलभद्र के साथ दीक्षा लेकर अष्टांग निमित्त-शास्त्रों की पढ़ा है। अन्तरिक्ष, भौम, अंग, लक्षण, व्यंजन, छिन्न, स्वर और स्वप्न। इनके लक्षण और भेद मुझे सब मालूम हैं। कुछ समय बाद भूख से व्याकुल हो मैंने दीक्षा छोड़ दी और हमेशा दुखी होकर इधर-उधर घूमने-फिरने लगा। कुछ काल बाद मैं पद्मिनी खेट नाम नगर में आया। वहाँ सोमशर्मा नाम मेरा मामा रहता था। उसकी स्त्री का नाम हिरण्यलोमा था। उसके चंद्रानना नाम की एक कन्या थी। उस कन्या का मेरे मामा ने मेरे साथ विवाह कर दिया और साथ में कुछ धन भी दिया। तब तो मैंने सब चिन्ता छोड़ दी और धन कमाने आदि बातों पर कुछ भी ध्यान न दे निमित्त-शास्त्र के अध्ययन में अपना मन लगाया। धीरे-धीरे मेरे मामा का दिया हुआ जब सब धन खर्च हो चुका तब मेरी स्त्री बहुत खिन्न हुई और एक दिन भोजन के समय उसने क्रोध भरे शब्दों में मुझसे कहा कि क्या यह धन तुम्हीं ने कमाया था। यह कहकर उसने क्रोध के साथ निमित्त ज्ञान की बातें जानने के उपयोग में आने वाली कोड़ियों को मेरे सामने फेंक दीं, जो वहीं पड़ी हुई थीं। उनसे मैंने यह निश्चय किया कि पोदनपुर के नरेश के मस्तक पर वज्रपात होगा और जो भोजन करने की स्फटिक की थाली में प्रतिबिम्बित मेरी मूर्ति पर सूरज की किरणें पड़ रही थीं तथा उसी समय मेरी मूर्ति पर मेरी स्त्री ने हाथ धोने के जल की जो धारा डाल दी थी उससे मैंने यह जाना कि मुझे अभिषेक पूर्वक राज-लाभ होगा। मेरा नाम अमोघजिह्व है। मैंने ऊपर कहे हुए निमित्त से जानकर ही आपको सूचना दी है। दूसरा और कोई कारण नहीं ॥१०३-११२॥

यह सुन राजा ने उसे तो विदा कर दिया और बाद कुछ सोच-विचार कर मंत्रियों को बुलाया। उनसे उसने कहा कि एक बड़ा भयंकर समाचार है और वह यह है कि आज से सातवें दिन पोदनपुर के राजा के ऊपर वज्रपात होगा ॥११३॥

श्रुत्वैतत्सुमतिः प्राह त्वां समुद्रजलान्तरे। संस्थाप्य लोहमञ्जूषामध्ये मुञ्चे च रक्षितुम् ॥११४॥
सुबुद्धिरिति तच्छ्रुत्वा बभाषे तत्र संभयम्। मत्स्यजं विजयार्धस्य निदधामो गुहान्तरे ॥११५॥
तदाकर्ण्य वचोऽवादीत्सचिवो बुद्धिसागरः। अर्थाख्यानं प्रसिद्धार्थं कथ्यमानं निशम्यताम् ॥११६॥
परिव्राट् सोमनामा च वसन्सिंहपुरे खलः। वादार्थी जिनदासेन निर्जितो मृतिमाप च ॥११७॥
बभूव महिषो भारचिरवाहवशीकृतः। उपेक्षितो विशक्तिश्च जातजातिस्मृतिस्तदा ॥११८॥
बद्धवैरो मृतोऽप्यासीच्छ्मशाने राक्षसः खलः। कुम्भभीमौ नृपौ तत्र कुंभस्य पाचकः पटुः ॥११९॥
दत्ते सुसंस्कृते खाद्ये भूपस्तत्स्वादलोलुपः। ब्रूते स्मेदं त्वया तेनानेतव्यं च तथा कृतम् ॥१२१॥
रसायनादिपाकाख्यस्तद्भोग्यं पिशितं सदा। दत्तेस्म चैकदा कुम्भभूपाय नरमांसके॥१२०॥
लोका ज्ञात्वेति संचिन्त्य दुष्टोऽयं नरभक्षकः। निःकाश्यो नगरात्तूर्णं स त्यक्तः सचिवादिभिः ॥१२२॥
कदाचित्पाचकं हत्वा साधयित्वा स राक्षसम्। पूर्वोक्तं भक्षयामास प्रजा बभ्राम तत्पुरम् ॥१२३॥

यह सुन सुमति मंत्री बोला कि इसके लिए कोई चिन्ता करने की बात नहीं है। आपको हम एक लोहे के सन्दूक में बन्द करके समुद्र के भीतर छोड़ देंगे, इससे आपकी रक्षा हो जायेगी। इस पर सुबुद्धि ने कहा कि समुद्र में तो मगर मच्छ के निगल जाने का भय है, इसलिए वहाँ न छोड़कर आपको विजयार्द्ध की गुफा में हम लोग छिपा देंगे। उनकी ये बातें सुनकर बुद्धिसागर मंत्री बोला कि मैं एक प्रसिद्ध कहानी कहता हूँ, उसे सुनिए ॥११४-११६॥

सिंहपुर में एक दुष्ट तपस्वी रहता था। उसका नाम सोम था। वह वाद-विवाद का बहुत प्रेमी था। एक दिन शास्त्रार्थ में उसे जिनदास ने जीत लिया, जिससे वह बहुत लज्जित और दुखी हुआ तथा खोटे परिणाम से मरकर भैंसा हुआ। उसका स्वामी उस पर बिल्कुल दया नहीं करता था किन्तु उसे हमेशा ही बोझा ढोने के काम में लगाये रखता था। बोझा ढोने के कारण वह धीरे-धीरे दुबला हो गया। उस समय उसे अपने पहले भवों की याद हो आई और वह वहाँ से भी वैर बाँधकर मरा और मसान भूमि में दुष्ट राक्षस हुआ। सिंहपुर में दो राजा थे, एक भीम और दूसरा कुंभ। कुंभ का रसोइया बहुत ही चतुर था। लोग उसको रसायन पाक नाम से पुकारते थे। वह हमेशा राजा को मांस पकाकर खाने के लिए देता था। एक दिन उसने राजा की मनुष्य का मांस पकाकर खिलाया। वह राजा को बहुत स्वादिष्ट मालूम पड़ा। राजा लोलुपता के वश हो रसोइया से बोला कि तुझे रोज ऐसा ही अच्छा मांस पकाना चाहिए। रसोइया जी हाँ, हुजूर कहकर उस दिन से मनुष्य का मांस पका-पकाकर राजा को खिलाने लगा। जब यह बात शहर के लोगों को मालूम पड़ी कि यह दुष्ट राजा मनुष्य-भक्षक है तब उन्होंने एकता करके उसे नगर से बाहर निकाल दिया। मंत्री वगैरह ने भी उस दुष्ट का साथ न दिया ॥११७-१२२॥

केवल उसके साथ एक मात्र रसोइया रह गया। दुष्ट राजा ने एक दिन उसे भी मारकर खा डाला। अब वह पहले कहे हुए राक्षस की आराधना कर उसकी सहायता से प्रजा के लोगों को मार-मारकर खाने लगा और नगर के बाहर घूमने लगा। उस समय लोग बहुत ही भयभीत हुए। उन्होंने

**संत्रस्ताः सकलाः पौराः संत्यज्य तत्पुरं तदा। कुम्भकारकटं कृत्वा पुरं तत्रेति संस्थितिम् ॥१२४॥
व्यधुर्भीता नरं चैकं तथा च शकटौदनम्। खादान्यमानवानां हि रक्षणं कुरु राक्षस ॥१२५॥
तत्रैव वाडवश्चण्डकौशिकस्तत्प्रिया परा। सोमश्रीर्भूतमाराध्य मौण्ड्यकौशिकसत्सुतम् ॥१२६॥
लेभे कुम्भस्य भोज्याय दातुं तं शकटस्थितम्। नीयमानं च कुम्भेन सह वीक्ष्य च खादितुम् ॥१२७॥
दण्डहस्तैस्तदा भूताः कुम्भं निर्भर्त्स्यं तं बिले। क्षिप्तं शयुर्जगालाशु द्विजं कर्मविपाकतः ॥१२८॥
विजयार्धगुहायां हि कथं निक्षिप्यते नृपः। श्रुत्वा तद्वचनं पथ्यं जगाद मतिसागरः ॥१२९॥
वज्रपातस्तु भूपस्य प्रोक्तो नैमित्तिकेन न। किंतु पोदननाथस्य चातोऽन्यः क्षिप्यतामिति ॥१३०॥
सर्वे शशंसुस्तद्बुद्धिं युक्तां युक्तिविशारदाः। मन्त्रिणः प्रतिबिम्बं तु कृत्वा भौपं नृपासने ॥१३१॥
निवेश्य सकला नेमुः पोदनाधीशसद्धिया। नरेशोऽस्थात्परित्यज्य राज्यं प्रारब्धपूजनः ॥१३२॥
ददद्दानं जिनागारे शान्तिकर्मकृतोत्सवः। सप्तमेऽह्नि पपाताशु वज्रं बिम्बस्य मूर्धनि ॥१३३॥**

सिंहपुर में रहना ही छोड़ दिया और कुंभकारपुर नामक पुर को बसाकर वे वहाँ रहने लगे। उन्होंने दुखी हो कहा कि हे राक्षस! तू प्रति दिन एक आदमी और एक गाड़ी अन्न ले लिया कर परन्तु और-और मनुष्यों पर तो दयादृष्टि कर ॥१२३-१२५॥

वहीं पर एक चंडकौशिक नाम वाड़व (जाति) रहता था। उसकी स्त्री का नाम सोमश्री था। सोमश्री के भूतों की सेवा-उपासना के प्रभाव से मौड्यकौशिक नाम पुत्र हुआ था। क्रमशः राक्षस के पास जाने की मौड्यकौशिक की भी बारी आई। प्रतिदिन की तरह अन्न की गाड़ी के साथ वह भेजा गया। वह कुंभ के पास पहुँचा। उसे देखकर कुंभ उसको खाने के लिए झपटा। तब भूतों से न रहा गया। वे कुंभ पर टूट पड़े और उन्होंने कुंभ की डंडों, लातों और हाथों से खूब खबर ली और उसे ले जाकर एक अजगर के बिल में डाल दिया। अजगर उसे एक क्षण में ही निगल गया। जबकि कर्म के निमित्त से ही सब कुछ होता है ॥१२६-१२८॥

तब बताओ कि राजा को विजयार्द्ध की गुफा में डालने से भी क्या लाभ होगा। मेरी सम्मति है कि जैसा कर्म का उदय होगा वैसा तो होकर ही रहेगा फिर ऊट पटांग उपायों को काम में लाने से फल ही क्या है? यह सुन मतिसागर ने हितकर वचनों में कहा कि निमित्तज्ञानी ने वज्रपात का होना पोदनपुर के राजा के ऊपर बताया है, किसी खास के ऊपर तो बताया ही नहीं है। तब दुख और रंज की कोई बात ही नहीं है। सात दिन के लिए किसी और व्यक्ति को राजा बनाकर सिंहासन पर बैठा दिया जाना चाहिए। यह सुन युक्ति-विशारद सभी मंत्रियों ने मतिसागर की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। इसके बाद सबकी सम्मति से राज-सिंहासन पर राजा के प्रतिबिंब की स्थापना कर दी गई। सबने ''यही पोदनपुर का स्वामी है'' इस बुद्धि से उसे नमस्कार किया और उसकी आज्ञा शिरोधार्य की। उधर राजा श्रीविजय ने राज-काज छोड़-छाड़कर प्रभु की सेवा-भक्ति में मन लगाया। वे गरीबी को दान देने लगे और मन्दिरों में शान्ति का देने वाला शान्ति महोत्सव करने लगे। धीरे-धीरे सातवां दिन आया और निमित्तज्ञानी के कहे अनुसार राजा के प्रतिबिम्ब पर वज्रपात हुआ ॥१२९-१३३॥

तस्मिन्नुपद्रवे नष्टे सहर्षाः पुरवासिनः। नानानकैर्नटीनाट्यैर्नराश्चक्रुर्महोत्सवम् ॥१३४॥
नैमित्तिकाय ग्रामाणां पद्मिनीखेटसंयुतम्। शतं प्रपूज्य वस्त्राद्यैर्ददुर्दीप्तमहोत्सवाः ॥१३५॥
शातकुम्भमयैः कुम्भैरभिषिच्य महीपतिम्। समारोप्यासनेऽमात्याः सुराज्ये प्रत्यतिष्ठिपन् ॥१३६॥
एकदा मातुरादाय विद्यामाकाशगामिनीम्। सुतारया समं ज्योतिर्वनं रन्तुं जगाम सः ॥१३७॥
यथेष्टमिष्टसंशिलष्टश्चिक्रीड कान्तया नृपः। अथो चमरचञ्चाख्यपुर्यामिन्द्राशनिः पतिः ॥१३८॥
आसुरीशः सुतस्तस्याशनिघोषः सुघोषवान्। संसाध्य भ्रामरीं विद्यां पुरं गच्छन्यदृच्छया ॥१३९॥
सुतारां लक्षणैर्लक्ष्यां वीक्ष्य तां लातुमुद्यतः। मायामृगं महीशस्य रन्तुं स प्राहिणोच्छलात् ॥१४०॥
तं वीक्ष्य सुतरां तारा नृत्यन्तं संजगौ पतिम्। रमण त्वं मृगं रम्यं रमणाय समानय ॥१४१॥
तदा भूपे मृगं लातुं प्रयात्यशनिघोषकः। नृपरूपं समादाय जगौ तस्याः पुरःस्थितः ॥१४२॥
एहि यावः पुरं यावत्प्रयात्यस्तं दिवाकरः। इत्युक्त्वा तां विमाने स संरोप्यागान्नभस्तले ॥१४३॥
रूपं सोऽदर्शयद्गत्वान्तरे कामी सुखी निजम्। कोऽयं किं रूपमालोक्य विह्वला सेति वाजनि ॥१४४॥
निवृत्तो भूपतिर्मायामृगे याते स्थितोऽपराम्। तदुक्तवरवेतालीं सुताराररूपधारिणीम् ॥१४५॥

जब सब उपद्रव शान्त हो चुका तब शहर के लोगों ने भाँति-भाँति के बाजों और नटी नटों के नृत्य-गान के द्वारा खूब महोत्सव किया और उस निमित्तज्ञानी को पद्मिनीखेट सहित सौ गाँव भेंट देकर वस्त्र-आभूषणों से उसका खूब आदर सत्कार किया ॥१३४-१३५॥

इसके बाद मंत्रियों ने सोने के कलशों से अभिषेक कर श्रीविजय को धूमधाम के साथ फिर राज-सिंहासन पर विराजमान कर दिया। उन्हें फिर अपना राजा बना लिया। एक दिन अपनी माता स्वयंप्रभा से आकाशगामिनी विद्या लेकर वह सुतारा सहित ज्योतिर्वन में क्रीड़ा करने को गये ॥१३६-१३७॥

वहाँ उन्होंने सुतारा के साथ खूब मनचाही क्रीड़ा की। चमरचंचा पुरी का राजा इन्द्राशनि था। उसका अशनिघोष नामक एक पुत्र था। वह सूरज पर्यन्त का स्वामी था और बड़ा मीठा बोलने वाला था। वह भ्रामरीविद्या को साध कर वन से अपने शहर को वापस लौटा जा रहा था। इतने में उसकी दृष्टि नाना लक्षणों से युक्त सुतारा रानी पर जा पड़ी। उसे देखकर उसका मन ललचा गया और वह उसे ले जाने के लिए उद्यत हो गया। उसने छल से राजा के सन्मुख एक माया-मय मृग छोड़ा। वह नृत्य करता हुआ बहुत ही मनोहर जान पड़ता था। उसे देखकर मनोरमा सुतारा ने पतिदेव से कहा कि हे प्रिय! आप इस सुन्दर हिरण को दिल बहलाने के लिए पकड़ लाइए। सुतारा के कहने पर राजा तो मृग को पकड़ लाने के लिए चला गया और इधर अशनिघोष ने राजा का रूप धर कर सुतारा के पास आकर कहा कि प्रिये! आओ कुछ जल्दी है, अतएव सूर्यास्त के पहले-पहले हम नगर को पहुँच जाएँ। इतना कहकर वह सुतारा को विमान में बैठाकर आकाश मार्ग से ले चला ॥१३८-१४३॥

कुछ दूर पहुँचकर उस कामी ने अपना वास्तव रूप प्रगट किया, जिसको देखकर सुतारा बड़ी चिन्तित हुई। वह सोचने लगी कि यह कौन है ? उधर जब वह माया-मय मृग राजा के हाथ न आया और बहुत दूर निकल गया तब श्रीविजय वापस लौटकर उसी स्थान पर आये, जहाँ वे सुतारा को छोड़

दष्टा कुर्कुटनागेन स्थिताहमितिभाषिणीम्। म्रियमाणामिवालोक्य व्याकुलात्मा नृपोऽजनि ॥१४६॥
मन्त्रौषधमणिप्रायैर्ज्ञातवान्विषमं विषम्। मर्तुं तया समं भूपश्चितौ तां समरोपयत् ॥१४७॥
सूर्यकान्तसमुद्भूतवह्निनाज्वालयत्तकाम्। तत्र झम्पां प्रकर्तुं स आरुरोह समाकुलः ॥१४८॥
तावता खचरौ क्षिप्रं खादायातौ नृपान्तिकम्। विच्छेदिनीं परां विद्यां मुक्त्वा चिच्छेद तां खगः ॥१४९॥
वामपादेन चैकेन ताडिता स्थातुमक्षमा। स्वरूपं प्रकटीकृत्य सागमत्क्वाप्यदृश्यताम् ॥१५०॥
एतच्छ्रीविजयो दृष्ट्वा विस्मयव्याप्तमानसः। किमेतत्खेचरौ प्राह प्राहतुस्तौ च तत्कथाम् ॥१५१॥
भरते खचरावासे दक्षिणश्रेणिवासिनि। ज्योतिःप्रभे पुरे भूमीट् संभिन्नोऽहं मम प्रिया ॥१५२॥
सुप्रिया सर्वकल्याणी सुतो दीपशिखः सुखी। रथनूपुरनाथेन गत्वा मत्स्वामिनाप्यहम् ॥१५३॥
तलान्तशिखरोद्याने विहृत्य व्याहृतः क्षणात्। खे गच्छन्व्योमयानं हि गच्छद्वीक्ष्य परं महत् ॥१५४॥
शुश्रावेति श्रुतिं क्व मे भूपः श्रीविजयो जयी। रथनूपुरनाथ त्वं मां पाहि परमेश्वर ॥१५५॥
गत्वाहं तत्र चाख्यं कस्त्वममूं कां हरस्यहो। इत्युक्ते सोऽगदीत्क्रोधाद्विद्येशोऽशनिघोषकः ॥१५६॥

गये थे। वहाँ उन्होंने बैताली विद्या को सुतारा के रूप में बैठी हुई देखा, जो अशनिघोष की आज्ञा से वहाँ सुतारा का रूप धर कर बैठी थी और यह कह रही थी कि मुझे कुक्कर नाम सर्प ने काट खाया है। उसे देखकर मालूम पड़ता था मानो वह मर रही है। उसे इस दशा में देखकर श्रीविजय बड़े व्याकुल हुए। उन्होंने मणि, मंत्र, औषध आदि के बहुत से उपचार किये पर जब कुछ भी फल न हुआ तब समझा कि यह विष बड़ा विषम और प्राणों को हरने वाला है। इसका उतरना बहुत ही कठिन है। अन्त में वह भी उसके साथ मरने को तैयार हो गये। उन्होंने चिता बनाकर उस पर सुतारा को रख दिया और सूर्यकान्त मणि से आग जलाकर चिता को सुलगा दिया। इसके बाद वह स्वयं आकुल हो चिता में कूदने के लिए पैर रखने को ही थे ॥१४४-१४८॥

इतने में आकाश से उनके पास दो विद्याधर आ पहुँचे, और उन्होंने विच्छेदिनी विद्या के द्वारा उस वैताली विद्या को नष्टकर अपने बायें पैर से उसके एक जोर की ठोकर लगाई, जिसे न सह कर वह अपना वास्तविक रूप प्रगट कर उसी समय अदृश्य हो गई ॥१४९-१५०॥

यह देख श्रीविजय को बहुत ही अचंभा हुआ। उन्होंने विद्याधरों से पूछा कि यह बात क्या है? उन्होंने उसकी कथा इस भाँति कहना प्रारंभ की ॥१५१॥

भरतक्षेत्र के विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में एक ज्योतिःप्रभपुर नाम नगर है। वहाँ का मैं राजा हूँ। मेरा नाम संभिन्न है। मेरी प्यारी स्त्री का नाम सर्वकल्याणी है और यह द्वीपशिख नाम मेरा सुखी और सुकुमार पुत्र है। रथनूपुर के राजा अमिततेज हमारे स्वामी हैं। मैं उनके साथ-साथ शिखरतल उद्यान में क्रीड़ा करने के लिए गया था। वहाँ से लौटकर आकाश-मार्ग से जाते हुए मैंने एक बड़ा भारी विमान जाते देखा और यह आर्तवाणी सुनी कि मेरा स्वामी जयी श्रीविजय नरेश कहाँ है ? हे रथनूपुर के स्वामी अमिततेज! तुम मेरी रक्षा करो। यहाँ आकर अपना प्रभाव दिखाओ। यह सुन मैं उस विमान के पास गया और उसमें बैठे हुए व्यक्ति को नमस्कार कर मैंने पूछा कि तुम

सोऽहं चमरचञ्चेशो बलादेनां हरामि भोः। भवतोरस्ति शक्तिश्चेदिमां मोचयतं ध्रुवम् ॥१५७॥
श्रुत्वेति मत्प्रभोरेषानुजानेनाद्य नीयते। कथं गच्छामि हन्म्येनमिति योद्धुं समुद्यतः ॥१५८॥
मां संवीक्ष्य सुताराख्यद्युद्धं त्वं मा कृथा वृथा। याहि ज्योतिर्वने भूपं स्थितं पोदननायकम् ॥१५९॥
मदवस्थां समाख्याहि प्रेषितोऽहं तयेति च। इयं त्वच्छत्रुसंदिष्टदेवतेत्यादराहृतः ॥१६०॥
ततः श्रुत्वेति भूमिशोऽगदीत्खेचर सत्वरम्। इदं वृत्तं समाख्याहि गत्वा पोदनपत्तने ॥१६१॥
जनन्यनुजबन्धूनामित्युक्तेऽसौ खगेश्वरः। प्राहिणोत्पोदनं सद्यः पुत्रं दीपशिखं तदा ॥१६२॥
पोदनेऽपि बहूत्पातजृम्भणं समजायत। तद्वीक्ष्यामोघजिह्वाख्यो जयगुप्तश्च प्रश्नितः ॥१६३॥
भूपतेर्भयमुत्पन्नं किंचित्तदपि निर्गतम्। इदानीं कुशलालापी कश्चिदायास्यति स्फुटम् ॥१६४॥
स्वस्था भवत भीतिं मा यातेति संजगौ गिरा। स्वयंप्रभादयस्तुष्टा यावत्तिष्ठन्ति तद्गिरा ॥१६५॥
तावता नभसो दीपशिखः संभूष्य भूतलम्। स्वयंप्रभां प्रणम्यासौ सुतस्याचीकथत्कथाम् ॥१६६॥
क्षेमी श्रीविजयो भीतिर्भवद्भिर्मुच्यतामिति। तद्वृत्तं सर्वमाख्यातं सुताराहरणादिजम् ॥१६७॥

कौन हो और यह कौन है? जिसे तुम बलात् लिये जाते हो। यह सुन अशनिघोष क्रुद्ध हो बोला कि मेरा नाम अशनिघोष है, मैं विद्याधर हूँ और चमरचंच पुर का राजा हूँ। यह सुतारा है और इसे मैं जबरदस्ती हरे लिये जाता हूँ। यदि तुममें शक्ति हो तो तुम दोनों इसे छुड़ाने का प्रयत्न करो ॥१५२-१५७॥

सुनकर मैंने सोचा कि यह मेरे स्वामी की बहिन है और इसे यह हरे लिये जाता है। ऐसे समय मेरा चुप रहना ठीक नहीं है। इसे मारकर मैं इसकी रक्षा अवश्य करूँगा। इतना सोचकर मैं युद्ध को तैयार हो गया। मुझे युद्ध के लिए उद्यत देख सुतारा बोली कि तुम युद्ध मत छेड़ो किन्तु ज्योतिर्वन में पोदनपुर-नायक मेरे पति श्रीविजय हैं, उनके पास जाकर उनसे मेरा सब हाल कह दो। अतः मैं सुतारा का भेजा हुआ यहाँ आपके पास आया हूँ और जो यहाँ सुतारा बैठी थी वह सुतारा न थी किन्तु अशनिघोष की सिखाई हुई वैताली विद्या उसके रूप में थी। इसलिए वह मेरी ताड़ना से भाग गई है। यह सुन राजा ने उस विद्याधर से कहा कि, कृपाकर तुम पोदनपुर जाकर वहाँ मेरी माता, छोटे भाई और बन्धुओं से यह सब समाचार कह दो। राजा के कहने से विद्याधर ने उसी समय अपने पुत्र द्वीपशिख को जो उसी के साथ था, शीघ्र ही पोदनपुर भेज दिया ॥१५८-१६२॥

उधर पोदनपुर में भी इस समय बड़े उपद्रव हो रहे थे। उनको देखकर वहाँ अमोघजिह्व और जयगुप्त नामक निमित्तज्ञानियों से पूछा गया कि इन उपद्रवों का क्या फल है ? उन्होंने कहा कि श्रीविजय नरेश पर कोई आपत्ति आई थी परन्तु वह अब कुछ दूर हो गई है तथा अभी थोड़ी देर में ही कोई उनकी कुशल-बात लेकर यहाँ आयेगा। तुम स्वस्थ हो, भय मत करो। निमित्तज्ञानी के इन वचनों को सुनकर स्वयंप्रभा आदि सब सन्तुष्ट होकर पहले की भाँति ही अपने काम-काज करने लगे। इतने में ही आकाश से द्वीपशिख पृथ्वीतल पर आया और उसने स्वयंप्रभा को प्रणाम कर उससे विजयनरेश की सब कथा कह कर कहा कि श्रीविजय नरेश कुशल हैं, आप लोग किसी प्रकार की चिन्ता न करें। इसके बाद द्वीपशिख ने सुतारा के हरे जाने आदि का सब हाल कहा, जिसको सुनकर स्वयंप्रभा

तदाकर्णनमात्रेण दावदग्धलतोपमा। निर्वाणासक्तदीपस्य विगताभा शिखा यथा ॥१६८॥
घनध्वानश्रुतेर्हंसी शोकिनीव स्वयंप्रभा। तदानीं निर्गता रङ्गच्चतुरङ्गबलोद्धता ॥१६९॥
सखगा ससुता याता वनं तां वीक्ष्य दूरतः। आयान्तीं स समागत्यानमत्सानुजमातरम् ॥१७०॥
सा सदुःखेति संवीक्ष्य प्रोवाचोत्तिष्ठ पत्तनम्। यावः श्रीविजयाद्यास्ते संययुः स्वपुरं तदा ॥१७१॥
तत्र पुत्रं सुखासीनं सुताराहरणादिकम्। सापृच्छत्सोऽब्रवीन्मातः संभिन्नाख्यः खगोऽप्ययम् ॥१७२॥
उपकारकरो धीमान्सेवकोऽमिततेजसः। अनेन यत्कृतं तत्को गदितुं भुवि संक्षमः ॥१७३॥
मात्रा समं सुसंमन्त्र्यानुजं पोदनरक्षणे। मुक्त्वा ययौ विमानेन नगरं रथनूपुरम् ॥१७४॥
ज्ञात्वाथामिततेजाश्च स्वसारं ससुतां पितुः। गत्वा संमुखमानीयास्थापयत्स्वपुरे स्थिरम् ॥१७५॥
प्राघुर्णकविधिं प्राप्ता प्राह दम्भोलिघोषजम्। वृत्तं श्रुत्वा खगो दूतं मारीचं प्राहिणोद्द्विषम् ॥१७६॥
स गत्वाशनिघोषस्य जातां दुष्टां खलां गिरम्। निशम्यागत्य निर्वेद्य सुस्थितामिततेजसे ॥१७७॥
संमन्त्र्य मन्त्रिभिः सत्रं तमुच्छेत्तुं समुद्यतः। निजाम्नायसमायातविद्यात्रयं स संददे ॥१७८॥

दावानल से जली हुई बेल के समान मुरझा गई अथवा बुझते हुए दीये की प्रभा रहित शिखा के समान तेजहीन हो गई, या यों कहिए कि जिस तरह मेघ की ध्वनि को सुनकर हंसिनी शोक में डूब जाती है उसी तरह वह भी पुत्रवधू के हरे जाने को सुनकर बहुत शोकाकुल हुई। इसके बाद ही वह विद्याधरों तथा पुत्रों को साथ लेकर चतुरंग सेना-सहित उसी वन में पहुँची जहाँ श्रीविजय थे। अपनी माता स्वयंप्रभा को आती हुई देखकर उसके पास आ श्रीविजय ने उसे छोटे भाइयों-सहित नमस्कार किया ॥१६३-१७०॥

दुःखिनी माता ने पुत्र को देखकर कहा कि उठो, वत्स उठो, घर को चलो और शोक छोड़ो। माता की आज्ञा से श्रीविजय आदि सब नगर को लौट आये ॥१७१॥

वहाँ आकर जब पुत्र शान्तचित्त हुआ तब स्वयंप्रभा ने उससे सुतारा के हरे जाने का सारा हाल पूछा। श्रीविजय ने माता से सबका सब हाल जैसा का तैसा कहकर कहा कि माता! यह संभिन्न विद्याधर हम लोगों का बड़ा उपकारी है। यह बुद्धिमान् अमिततेज का सेवक है। इसने हमारे साथ जो कुछ उपकार किया है वह वचनातीत है ॥१७२-१७३॥

इसके बाद श्रीविजय, माता और अपने छोटे भाई विजयभद्र से सलाहकर तथा विजयभद्र को पोदनपुर की रक्षा के लिए छोड़कर माता के साथ विमान में बैठ रथनूपुर पहुँचे ॥१७४॥

पुत्र-सहित अपनी बुआ को आया जान कर अमिततेज अगवानी के लिए नगर के बाहर आया और उन्हें ले जाकर उसने एक उत्तम स्थान में ठहराया ॥१७५॥

इसके बाद स्वयंप्रभा ने अमिततेज के पास आकर उससे अशनिघोष का सारा हाल कहा। उसे सुनकर अमिततेज ने अशनिघोष के पास अपना दूत भेजा। दूत का नाम मरीचि था। वह अशनिघोष के पास पहुँचा। अशनिघोष ने उसे निष्ठुर और कर्कश वचन कहकर फटकारा। दूत ने वापस आकर अशनिघोष के जैसे के तैसे वचन अमिततेज से कहे। इसके बाद अमिततेज ने मंत्रियों से सलाहकर

भूपाय युद्धवीर्यास्त्रवारणे बंधमोचनम्। रश्मिवेगसुवेगादिसुतैः पञ्चशतैः समम् ॥१७९॥
पोदनेशं च संप्रेष्य शत्रोरुपरि ज्यायसा। सहस्त्ररश्मिना सार्धं ह्रीमन्तं खचरो गतः ॥१८०॥
विद्याछेदनसंयुक्तं महाज्वालाह्वयं परम्। संजयन्तांह्रिमूले स विद्यां साधयितुं स्थितः ॥१८१॥
दुष्टेनाशनिघोषेण श्रुत्वा श्रीविजयागमम्। रश्मिवेगादिभिः शत्रुयुद्धाय प्रेषिताश्च ते ॥१८२॥
सुघोषः शतघोषोऽथ सहस्त्रादिसुघोषकः। भूपेन खचरैः सत्रं सर्वे भङ्गं समापिताः ॥१८३॥
आसुरेय इमं श्रुत्वा क्रुद्धो युद्धार्थमीयिवान्। युद्धे श्रीविजयो बाणानेनं कर्तुं द्विधामुचत् ॥१८४॥
भ्रामरीविद्यया बाणाद् द्विरूपः सोऽप्यजायत। द्विगुणत्वं गतोऽप्येवं पुनस्तैस्तेन खण्डितः ॥१८५॥
वज्रघोषमयो जातः संग्रामः समगात्तदा। सर्वसाधितविद्योऽसौ रथनूपुरभूपतिः ॥१८६॥
महाज्वालाप्रभावेन युद्ध्वा मासार्धमेव च। नष्टविद्यो ननाशाशु वज्रघोषः परंतपः ॥१८७॥
नाभेयाद्रौ स्थितं देवं विजयाख्यजिनेश्वरम्। गत्वा भीत्वा सभायां स स्थितस्तावन्नृपादयः ॥१८८॥
अनुगत्वा विलोक्याशु मानस्तम्भं गलन्मदाः। जिनं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणेमुर्मूर्धपाणयः ॥१८९॥

अशनिघोष का नाश करने का संकल्प किया और श्रीविजय को युद्धवीर्य, अस्त्रवारण और बंधमोचन ये तीन विद्यायें जो उसकी परम्परा से चली आ रही थीं, देकर तथा रस्मिवेग, सुवेग आदि पुत्रों को साथ भेजकर उसे शत्रु के साथ युद्ध करने को भेजा और स्वयं सहस्त्र नाम अपने बड़े पुत्र को साथ ले ह्रीमंत पर्वत पर गया और वहाँ संजयंत मुनि के चरणों में बैठकर अन्य विद्याओं को नष्ट करने वाली महाज्वाला नाम की विद्या सिद्ध करने लगा ॥१७६-१८१॥

इधर दुष्ट अशनिघोष ने श्रीविजय को आया सुनकर रस्मिवेग आदि के साथ युद्ध करने को सुद्योष, शतघोष और सहस्त्रघोष आदि अपने पुत्रों को भेजा। वे सब श्रीविजय के विद्याधरों के साथ लड़ाई में मारे गये ॥१८२-१८३॥

यह सुन अशनिघोष को बहुत क्रोध आया। तब वह स्वयं युद्ध के लिए आ चढ़ा। दोनों में घमासान युद्ध होने लगा। युद्धभूमि कोलाहल से पूर्ण हो गई। वैरी के शरीर को खण्ड-खण्ड करने के लिए श्रीविजय जो बाण छोड़ता था, उन्हें अशनिघोष भ्रामरीविद्या के बल से नष्टकर अपने दूने रूप बनाता जाता था। इसी तरह ज्यों-ज्यों श्रीविजय बाणों के द्वारा उसके शरीर को खण्ड-खण्ड करता जाता था त्यों-त्यों वह अपने रूपों को अनेक बनाता जाता था। थोड़ी ही देर में सारा युद्धस्थल अशनिघोष-मय देख पड़ने लगा। उधर से सब विद्याओं का स्वामी रथनूपुर का अधिपति अमिततेज भी महाज्वाला विद्या को सिद्ध कर युद्धस्थल में आ पहुँचा और पंद्रह दिन बराबर युद्ध कर उसने महाज्वाला के प्रभाव से अशनिघोष की सारी विद्याएँ नष्टकर दीं। तब अशनिघोष बहुत ही लज्जित हुआ और वहाँ से भागकर वह भय के मारे कैलाश पर्वत पर विजय भगवान् की सभा में जा छिपा। उसके पीछे-पीछे और-और राजगण भी उसके पकड़ने को वहाँ जा पहुँचे। पर वे सब मानस्तंभों को देखते ही मान-रहित ही शान्तचित्त हो गये, उनका जो कुछ वैर-विरोध था वह सब मिट गया। उन्होंने भगवान् की तीन प्रदक्षिणा देकर उन्हें नमस्कार किया और सबके सब एक साथ बैठ गये।

मुक्तवैरास्तदा सर्वे तत्रासिषत ते समम्। तदासुरी समागत्य सुतारां द्रुतमानयत् ॥१९०॥
मत्पुत्रस्यापराधं भो युवां क्षन्तुं समर्हतम्। साभाष्येत्यार्पयत्तां श्रीविजयामिततेजसोः ॥१९१॥
ततः खगपतिपृष्ठं धर्मं प्रोवाच तीर्थराट्। सम्यक्त्वव्रततत्त्वार्थं श्रुत्वा भूपोऽब्रवीदिति ॥१९२॥
सुतारा मेऽनुजानेन हृता वै केन हेतुना। इति पृष्टो विशिष्टः सोऽवादीद्देवो नृपं प्रति ॥१९३॥
भरते मागधे देशेऽचलग्रामे निवासभृत्। अग्निलास्त्रीपतिर्विप्रो विदितो धरणीजटः ॥१९४॥
तत्सुताविन्द्रभूत्यग्निभूतौ जातौ मनोहरौ। दासेरः कपिलस्तस्य वेदाध्ययनसक्तधीः ॥१९५॥
तं वेदार्थविदं मत्वा विप्रो हि निरजीगमत्। विषण्णः कपिलस्तस्माद्ययौ रत्नपुरं परम् ॥१९६॥
वेदाध्ययनयुक्ताय सत्यभामां च सत्यकिः। विप्रो जम्बूद्भवां पुत्रीं विधिनास्मै समार्पयत् ॥१९७॥
तं राजपूजितं स्वाढ्यं श्रुत्वा च धरणीजटः। निःस्वत्वहानयेऽयासीद्दुःखी कपिलसंनिधिम् ॥१९८॥
कपिलो दूरतो वीक्ष्य समुत्थायानमत्तकम्। जनकोऽयं जनान्वक्ति मम सोऽपि तथावदत् ॥१९९॥

इसी समय वहाँ अशनिघोष की माता आसुरी भी साथ में सुतारा को लेकर आ गई। वह उनसे बोली कि मेरे पुत्र का जो अपराध हुआ है उसे आप दोनों ही क्षमा करो। इतना कहकर उसने श्रीविजय और अमिततेज को सुतारा सौंप दी ॥१८४-१९१॥

इसके बाद अमिततेज के पूछने पर विजय भगवान् धर्म का उपदेश करने लगे। उन्होंने सम्यग्दर्शन व्रत और तत्त्वों का व्याख्यान किया। उसे सुनकर अमिततेज ने पूछा कि भगवन्! यह बताइए कि अशनिघोष ने मेरी बहिन सुतारा को क्यों हरा ? इसके उत्तर में भगवान् बोले कि मैं इसका कारण बताता हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो। भरतक्षेत्र के मगधदेश में अचलग्राम नामक एक गाँव है। वहाँ एक धरणीधर नाम ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम अग्निला था। उसके इन्द्रभूति और अग्निभूति नाम दो पुत्र हुए। वे बहुत सुन्दर थे। इनके सिवाय धरणीधर के एक दासी पुत्र भी था। उसका नाम था कपिल। वह हमेशा वेद के पढ़ने में लगा रहता था। थोड़े ही समय में वह वेद का अच्छा जानकार पण्डित हो गया। उसे ऐसा देखकर ईर्ष्या से धरणीधर ने घर से निकाल दिया। पिता के इस बर्ताव से वह बहुत खेदखिन्न हुआ। घर से निकल कर थोड़े ही दिनों में वह रत्नपुर पहुँचा ॥१९२-१९६॥

वहाँ एक सत्यकि नाम ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम जाम्बू था। उसके एक सत्यभामा नाम पुत्री थी। एक दिन कपिल को देखकर सत्यकि ने सोचा कि यह लड़का वेद का पाठी अच्छा विद्वान् है। इसके साथ कन्या ब्याह देना योग्य और शास्त्र के अनुकूल है। इसके बाद उसने कपिल के साथ विधि-पूर्वक सत्यभामा का विवाह कर दिया। कपिल वहाँ रहकर थोड़े ही दिनों में खूब धनी हो गया। राजा की ओर से भी उसकी पूछताछ होने लगी। जब धरणीधर ने सुना कि कपिल खूब धनाढ्य और राज्यमान हो गया है तब वह दरिद्री दरिद्रता नष्ट करने के लिए उसके पास रत्नपुर आया ॥१९७-१९८॥

कपिल ने उसे दूर से आता देख उठकर नमस्कार किया और लोगों में ऐसी प्रसिद्धि कर दी कि

धनवस्त्रादिकं लात्वा तुष्टोऽसौ निःस्वनाशतः। एकदा सत्यभामा तं पूजयित्वा धनादिभिः ॥२००॥
भक्त्या परोक्षतोऽप्राक्षीत्पुत्रोऽयं वा न ते वद। समादाय धनं विप्रः प्रकथ्य तद्विचेष्टितम् ॥२०१॥
अगाद्देशान्तरं शीघ्रं धनं किं न करोति वै। अथ सा शरणं श्रान्ता गता श्रीषेणभूपतेः ॥२०२॥
स्त्री सिंहनन्दिता यस्य नन्दिता चापरा प्रिया। इन्द्रोपेन्द्राख्यया ख्यातौ तयोः पुत्रौ महाप्रभौ ॥२०३॥
सत्यभामा नृपस्याग्रे वृत्तं भर्तृसमुद्भवम्। अवीवदन्नृपो ज्ञात्वा नगरात्तं निराकरोत् ॥२०४॥
श्रीषेणोऽपि कदाचिच्च चारणद्वन्द्वमागतम्। ननामामितगत्याख्यारिंजयाख्यं स्ववेश्मनि ॥२०५॥
ताभ्यां दत्त्वान्नदानं स समुपार्ज्य महाशुभम्। देवीभ्यामनुमोदेन दानस्य सत्यभामया ॥२०६॥
भोगभूम्याः परं चायुरवापुस्ते शुभाः शुभम्। कौशाम्ब्यामथ विख्यातो महाबलमहीपतिः ॥२०७॥
श्रीमती वल्लभा तस्य श्रीकान्ता तत्सुता शुभा। इन्द्रसेनाय तां भूपो विवाहविधये ददौ ॥२०८॥
सामान्यवनिता तत्र तया सार्धं समागता। सोपेन्द्रसेनं संलुब्धा जाता कर्मविपाकतः ॥२०९॥
इन्द्रस्तथात्वमाकर्ण्य क्रुद्धो युद्धाय नद्धवान्। उद्यानवर्तिनोर्युद्धं तयोराकर्ण्य भूमिपः ॥२१०॥

यह मेरा पिता है। धरणीधर ने भी लोगों से यही कहा कि यह मेरा प्रिय पुत्र है। कपिल ने धरणीधर को धन, वस्त्र, आभूषण आदि खूब सम्पत्ति दी जिससे उसकी दरिद्रता दूर हो गई और वह एक भला मानस बन गया। एक दिन सत्यभामा ने धन, वस्त्र आदि से धरणीधर का खूब आदर सत्कार कर भक्तिभाव दिखाते हुए एकान्त में पूछा कि कपिलजी क्या सचमुच ही ये आपके पुत्र हैं? धरणीधर लोभ के वश कपिल की सारी कथा सत्यभामा को सुना कर उसी समय दूसरे देश को रवाना हो गया। सच है धन मनुष्य से क्या-क्या काम नहीं करा लेता ॥१९९-२०२॥

रथनूपुर का राजा श्रीषेण था। उसकी दो रानियाँ थीं। एक सिंहनंदिता और दूसरी आनंदिता। उसके इन्द्र और उपेंद्र नाम दो पुत्र थे ॥२०३॥ पति के ऐसे चरित को सुनकर सत्यभामा श्रीषेण की शरण में आई और उसने महाराज से अपने पति का सारा हाल जैसा सुना था कह दिया, जिसको सुनकर राजा ने कपिल को शहर बाहर निकाल देने की आज्ञा दे दी। एक दिन श्रीषेण के यहाँ दो चारण मुनि आये। उनके नाम अमितगति और अरिंजय थे। उनको राजा ने पड़गाहा और नमस्कार आदि कर विधि-पूर्वक आहार दिया, जिससे राजा को अतिशय पुण्य-लाभ हुआ। श्रीषेण की दोनों रानियों और सत्यभामा ने दान की अनुमोदना की, जिसके प्रभाव से उन्होंने राजा के साथ-साथ उत्तम भोगभूमि की तीन पल्य की आयु का बंध किया ॥२०४-२०६॥

कौशाम्बी का राजा महाबल था। उसकी रानी का नाम श्रीमती था। उसके एक श्रीकान्ता नाम की पुत्री थी। महाबल ने श्रीकान्ता का विवाह इन्द्रसेन के साथ कर दिया था और श्रीकान्ता के साथ इन्द्र को एक दासी प्रदान की थी। दैवयोग से वह दासी उपेन्द्रसेन पर आसक्त हो गई। यह बात जब इन्द्रसेन के कानों पहुँची तब उसे बड़ा क्रोध आया और वह उपेन्द्र के साथ युद्ध करने को तैयार हो गया। दोनों भाई-भाई में युद्ध की तैयारी सुनकर श्रीषेण उनकी लड़ाई निपटाने के लिए उनके पास गया। उन्हें बहुत कुछ समझाया, पर वह सफल न हुआ। तब उसे बहुत ग्लानि हुई और अपना कहना

तन्निवारयितुं नैव शक्तो निर्वेदमानसः। आज्ञोल्लंघनदुःखेनाघ्राय पद्मं विषाविलम् ॥२११॥
मृतिं ययौ तदा देव्यौ सत्यभामा च तन्मृतेः। विधाय तद्विधिं साध्व्यः समीयुर्विगतासुताम् ॥२१२॥
धातकीखण्डपूर्वार्धकुरुषूत्तरगेषु च। तदा तौ दम्पती भूपोऽभूतां च सिंहनन्दिता ॥२१३॥
अनिन्दिता बभूवार्यः सत्यभामा च भामिनी। सर्वेऽपि ते सुखं तस्थुस्तत्र भोगभरान्विताः ॥२१४॥
तत्र पल्यत्रयं भुक्त्वा भोगान्भोगार्थिनो मृताः। श्रीषेणस्तत्र सौधर्मे विमाने श्रीप्रभोऽभवत् ॥२१५॥
विद्युत्प्रभा तथा सिंहनन्दितासीत्तदङ्गना। अनिन्दिताभवद्देवो विमाने विमलप्रभः ॥२१६॥
शुक्लप्रभाभिधा देवी ब्राह्मणी विमलप्रभे। पञ्चपल्योपमायुष्काःशर्मासेदुः समुन्नताः ॥२१७॥
श्रीषेणः प्रच्युतस्तस्मादर्ककीर्तिसुतो भवान्। जाता ज्योतिःप्रभा कान्ता या पूर्वं सिंहनन्दिता ॥२१८॥
अनिन्दिताचरो देवोऽजनि श्रीविजयो महान्। सत्यभामा सुतारासीत्कपिलः प्राक्तनः खलः ॥२१९॥
बभ्राम भवकान्तारं पापात्किं जायते शुभम्। वने स भूतरमण ऐरावतीसरित्तटे ॥२२०॥
तापसाश्रमसंवासिकौशिकात्समजायत। सुतश्चपलवेगाया मृगशृङ्गोऽपि तापसः ॥२२१॥
दृष्ट्वा चपलवेगस्य विभूतिं खेचरेशितुः। निदानमकरोन्मूढोऽशनिघोषस्ततच्युतः ॥२२२॥

न मानने के कारण दुख से उसने स्वयं विष का फूल सूँघकर आत्महत्या कर ली। श्रीषेण की यह दशा देख दोनों रानियों और सत्यभामा ने भी विषफूल सूँघकर आत्मघात कर लिया ॥२०७-२१२॥

श्रीषेण और रानी सिंहनंदिता का जीव मरकर धातकीखण्ड द्वीप की उत्तरकुरु नाम उत्तम भोगभूमि में युगल उत्पन्न हुए एवं अनिंदिता और सत्यभामा के जीव भी युगल उत्पन्न हुए। इनमें अनिंदिता का जीव तो स्त्रीलिंग छेद कर पुरुष हुआ था और सत्यभामा उसकी स्त्री हुई थी ॥२१३-२१४॥

उनकी आयु तीन पल्य की थी। वे सबके सब वहाँ कल्पवृक्षों के सुख भोगते थे और सुखचैन से अपना समय बिताते थे। आयु पूरी होने पर मरकर शेष पुण्य के प्रभाव से वे देव गति में गये। श्रीषेण का जीव सौधर्म स्वर्ग में श्रीप्रभ नाम देव हुआ और सिंहनंदिता का जीव उसकी विद्युत्प्रभा नाम देवी हुई एवं अनिंदिता का जीव विमलप्रभ विमान में भवदेव नाम देव और सत्यभामा का जीव उसी विमान में शुक्लप्रभा नाम उसकी देवी हुई। उनकी आयु पाँच पल्य की थी। आयु-पर्यन्त स्वर्ग के सुखों को भोगकर वे वहाँ से चयकर श्रीषेण का जीव तो तुम अमिततेज हुए हो और सिंहनंदिता का जीव ज्योतिःप्रभा नाम तुम्हारी कान्ता हुई है एवं अनिंदिता का जीव श्रीविजय और सत्यभामा का जीव सुतारा हुई है ॥२१५-२१९॥

उधर उस दुष्ट कपिल के जीव ने बहुत काल तक संसार परिभ्रमण कर अनन्त दुख उठाये। सच है पाप से जीवों को घोरातिघोर दुख उठाने पड़ते हैं। भूतरमण वन में ऐरावती नदी के किनारे तापसियों का एक आश्रम था। उसमें एक कौशिक नाम तापस रहता था। उसकी स्त्री का नाम चपलवेगा था। कपिल का जीव उसके वहाँ मृगशृंग नाम पुत्र हुआ। वह भी तापस हो गया ॥२२०-२२१॥

एक दिन मृगशृंग ने चपलवेग नाम विद्याधरों के राजा की विभूति को देखकर यह निदान किया

जातोऽयं स्नेहतस्तारां सुतारां चाग्रहीद् हटात्। भवे त्वं पञ्चमे भावी चक्रवर्ती जिनेश्वरः ॥२२३॥
श्रुत्वेत्यशनिघोषाख्यो जनन्यस्य स्वयंप्रभा। सुताराप्रमुखाश्चान्ये जगृहुः संयमं परम् ॥२२४॥
प्रवन्द्य ते जिनं जग्मुश्चक्रवर्तिसुतादयः। स्वं स्वं पुरं पताकाढ्यं विद्येशामिततेजसा ॥२२५॥
पर्वसु प्रोषधं कुर्वन्नर्ककीर्तिसुतः शुभः। प्रायश्चित्तं चरन्योग्यं पूजया पूजयञ्जिनम् ॥२२६॥
ददद्दानं सुपात्रेभ्यः शृण्वन्धर्मकथां पराम्। निर्दोषं निर्मलं शान्तं सम्यक्त्वं श्रितवाञ्शमी ॥२२७॥
प्रजानां पितृवत्पाता संयमीव शमं श्रितः। धर्म्यं प्रावर्तयत्कर्म लोकद्वयहितोद्यतः ॥२२८॥
प्रज्ञप्तिः स्तम्भनी वह्निजलयोः कामरूपिणी। विश्वप्रकाशिका विद्या प्राप्रतीघातकामिनी ॥२२९॥
आकाशगामिनी चान्योत्पातिनी च वशंकरा। आवेशनी शत्रुदमा तथा प्रस्थापनी परा ॥२३०॥
आवर्तनी प्रहरणी प्रमोहिनी विपाटिनी। संक्रामणी संग्रहणी भञ्जनी च प्रवर्तनी ॥२३१॥
प्रहापनी प्रमादिन्या प्रभावती पलायिनी। निक्षेपणी च चाण्डाली शबरी च परा स्मृता ॥२३२॥
गौरी खट्वाङ्गिका श्रीमद्गुण्या च शतसंकुला। मातङ्गी रोहिणी ख्याता कूष्माण्डी वरवेगिका ॥२३३॥
महावेगा मनोवेगा चण्डवेगा लघूकरी। पर्णलध्वी च चपलवेगा वेगावती मता ॥२३४॥

कि अगले भव में मैं इसके यहाँ पुत्र-जन्म धारण करूँ। राजन्! निदान के प्रभाव से वह मृगशृंग ही चपलवेग के यहाँ यह अशनिघोष नाम पुत्र हुआ है। इसको हित-अहित का कुछ भी विचार नहीं है। उसी स्नेह के वशीभूत हो इसने सुन्दरी सुतारा को हरा था ॥२२२-२२३॥

अमिततेज! तुम इस भव से पाँचवें भव में चक्रवर्ती, तीर्थंकर और कामदेव इन तीन पदों के धारी महात्मा होओगे। यह कथा सुनकर अशनिघोष, स्वयंप्रभा और सुतारा आदि तथा और बहुत से सत्पुरुष उस समय संयम धारण कर साधु हो गये ॥२२४॥

इसके बाद भगवान् को नमस्कार कर श्रीविजय आदि सब अमिततेज के साथ ध्वजा, तोरणों से सुसज्जित अपने-अपने नगरों को चले आये। नगर में आकर अमिततेज ने धर्म-साधन में अधिक मन लगाया। वे पर्व के दिनों में उपवास करते अपने किये हुए अपराधों का प्रायश्चित लेते, भगवान् की पूजा और स्तुति में दत्तचित्त रहते, पात्रों को दान देते तथा हमेशा धर्मकथा में लीन रहते। ऐसा करते-करते उन्हें निर्मल और निर्दोष सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई थी ॥२२५-२२७॥

वे बड़े मंदकषायी और प्रेम से पिता की तरह प्रजा का पालन करते थे, मुनियों की भाँति शान्तचित्त और धर्म-कर्म में लीन तथा उभय लोक सम्बन्धी हित के इच्छुक थे। वे बहुत-सी विद्याओं के भण्डार थे, जो कुल और जाति के निमित्त से उन्हें प्राप्त हुई थीं। उनके नाम सुनिए। प्रज्ञप्ति, आग और जल को थाँभने वाली स्तंभिनी, कामरूपिणी, विश्वप्रकाशिका, अप्रतिघात-कामिनी, आकाशगामिनी, उत्पत्तिनी, वशंकरी, आवेशिनी, शत्रुदमा, प्रस्थापनी, आवर्तनी, प्रहरणी, प्रमोहनी, विपाटिनी, संक्रामणी, संग्रणी, भंजनी, प्रवर्तिनी, प्रतापनी, प्रभावती, पलायिनी, निक्षेपिणी, चांडाली, शवरी, गौरी, खट्वांगिका, श्रीमृदुगुणी, शतसंकुला, मातंगी, रोहिणी, कुष्मांडी, वरवेगिका, महावेगा, मनोवेगा, चंडवेगा, लघुकरी, पर्णलध्वी, चपलवेगा, वेगावती, महाज्वाला, शीतवैतालिका,

महाज्वालाभिधा शीतोष्णादिवैतालिके मते। सर्वविद्यासमुच्छेदा तथा बन्धप्रमोचनी ॥२३५॥
प्रहारावरणी युद्धवीर्या च भ्रामरी खगम्। भोगिन्याद्याः श्रिता विद्याः कुलजातिप्रसाधिताः ॥२३६॥
तासां श्रेण्योर्द्वयोश्चाधिपत्येन विदितो भुवि। भुञ्जन्भोगान्कदाचिच्च दत्वा दानं मुनीशिने ॥२३७॥
प्रापद्दमवराख्यायाश्चर्यपञ्चकमम्बरे। चारणायान्यदामिततेजःश्रीविजयौ वने ॥२३८॥
सुरदेवगुरू दृष्ट्वा नत्वा च मुनिपुङ्गवौ। श्रुत्वा धर्मं ततोऽप्राक्षीत्पुनः श्रीविजयी नतः ॥२३९॥
आत्मनो भवसंबन्धं पितुश्च भगवान्मुनिः। श्रुत्वा प्राह भवांस्तस्य पितुश्च विश्वनन्दिनः ॥२४०॥
तन्माहात्म्यं निशम्यासौ तत्पदाप्तनिदानकः। भूचरैः खचरैः सेव्यौ भेजतुस्तौ सुखामृतम् ॥२४१॥
पार्श्वे विपुलविमलमत्योः श्रुत्वा मुनीशयोः। मासमात्रं महीनाथावायुर्धर्मदयोद्यतौ ॥२४२॥
दत्त्वार्कतेजसे खेटः श्रीदत्ताय महीपतिः। राज्यमाष्टाह्निकीं पूजां कृत्वा नन्दनपार्श्वगे ॥२४३॥
चन्दने मुनिसंगेन प्रायोपगमनोद्यतौ। वने संन्यस्य स्वप्राणान्विसर्जतुरुत्तमान् ॥२४४॥
कल्पे त्रयोदशे नन्द्यावर्तेऽभूद्रविचूलकः। खगः श्रीविजयोऽप्यत्र स्वस्तिके मणिचूलकः ॥२४५॥

उष्णतालिका, सर्वविद्या-समुच्छेदा, बंधप्रमोचिनी, प्रहारावरणी, युद्धवीर्या, चामरी और योगिनी इत्यादि। वे इन विद्याओं और दोनों श्रेणियों के स्वामी थे एवं संसार-प्रसिद्ध थे। पुण्य के उदय से उन्हें भोग-विलास की सब सामग्री यथेष्ट प्राप्त थी। एक दिन पुण्य-योग से उनके यहाँ दमवर नाम चारण मुनि आहार को आये। अमिततेज ने उन्हें विधि-पूर्वक आहार-दान दिया, जिसके प्रभाव से उनके यहाँ पंचाश्चर्य की वर्षा हुई ॥२२८-२३८॥

एक समय अमिततेज और श्रीविजय दोनों वन में विहार के लिए गये हुए थे। वहाँ उन्होंने सुरगुरु और देवगुरु नाम दो महर्षियों को देखा। दोनों ने मुनियों को भक्तिभाव से नमस्कार कर उनसे धर्म का उपदेश सुना। इसके बाद श्रीविजय ने उनसे नम्रता भरे शब्दों में पूछा कि प्रभो! मेरी और मेरे पिता की पूर्वभव को कथा कहिए। मुनिराज ने श्रीविजय के पूर्वभवों का और त्रिपृष्ट नारायण के विश्वनन्दि के भव से लेकर कई एक भवों का वर्णन किया ॥२३९-२४०॥

श्रीविजय ने पिता के माहात्म्य को सुनकर उनके पद की प्राप्ति का निदान बाँधा। बाद खेचरों और भूचरों द्वारा सेवित वे दोनों अपने-अपने नगर को चले आये और वहाँ सुखामृत का पान करते हुए सुख से काल बिताने लगे ॥२४१॥

एक बार इन दोनों ने विपुलमति और विमलमति नाम मुनीश्वरों के मुख-कमल से यह सुना कि उनकी आयु अब केवल एक ही महीने की शेष रह गई है। यह सुन वे और भी श्रद्धाभक्ति के साथ तन-मन से धर्मपालन करने लगे। इसके बाद अमिततेज ने अर्कतेज को और श्रीविजय ने श्रीदत्त को राज-पाट सौंपकर भक्ति से अष्टाह्निक पूजा की और दोनों नंदनवन के पास के चंदनवन में गये। वहाँ उन्होंने मुनियों के समागम में प्रायोपगमन नाम संन्यास धारण किया और शान्त परिणामों से प्राणों का त्याग कर वे स्वर्ग में देव हुए ॥२४२-२४४॥

अमिततेज का जीव तेरहवें स्वर्ग के नंद्यावर्त विमान में रविचूलक और श्रीविजय का जीव

विंशतिं सागरान्भुक्त्वा जीवितं तौ ततो मृतौ। द्वीपेऽत्र प्राग्विदेहाख्ये सद्वत्सकावतीति च ॥२४६॥
देशे प्रभावतीपुर्याः पत्युः स्तिमितसागरात्। वसुंधर्यां सुतो जज्ञे रविचूलोऽपराजितः ॥२४७॥
स्वस्तिकाद्विच्युतो देवो मणिचूलोऽप्यभूत्सुतः। श्रीमाननन्तवीर्याख्यो देव्यामनुमतौ ततः ॥२४८॥
नित्योदयौ जगन्नेत्रकमलाकरभास्करौ। पद्मानन्दकरौ तौ च रेजतुः प्राप्तयौवनौ ॥२४९॥
भूपः कुतश्चिदासाद्य वैराग्यमात्मजौ तकौ। तदैव स समाहूय राज्ये संस्थाप्य निर्गतः ॥२५०॥
स्वयंप्रभजिनस्यान्ते प्रायासीत्संयमं नृपः। धरणेन्द्रर्द्धिमालोक्य तत्पदाप्तिनिदानवान् ॥२५१॥
मृत्वा धरणेशितां प्राप सुखघ्नं धिग्निदानकम्। अपराजितभूपालोऽनन्तवीर्यो महामनाः ॥२५२॥
इन्द्रप्रतीन्द्रवत्तौ च दधतुश्च वसुंधराम्। एकदा बर्बरी ख्याता नटी चान्या चिलातिका ॥२५३॥
प्राभृतीकृत्य केनापि प्रेषिते ते सुखावहे। भूपौ तौ भूरिभूमीशभूषितप्रान्तभूतलौ ॥२५४॥
तयोर्नृत्यं स्थितौ द्रष्टुमायासीन्नारदस्तदा। नृत्यासंगात्कुमाराभ्यां न दृष्टः स विधेः सुतः ॥२५५॥
जाज्वलत्कोपसंतप्तः शुचिचण्डांशुवत्तपन्। दमितारिसभां प्राप्य नारदो देहिदुःखदः ॥२५६॥

उसी स्वर्ग के स्वस्तिक विमान में मणिचूलक नाम देव हुआ। वहाँ उनकी बीस सागर की आयु हुई। आयुपर्यन्त सुख भोगकर वे वहाँ से चयकर इसी जम्बूदीप के पूर्व विदेह में वत्सकावती देश की प्रभाकरी नगरी में स्तिमितसागर राजा के यहाँ पुत्र हुए। स्तिमितसागर की दो रानियाँ थीं, एक वसुंधरा और दूसरी अनुमति। इनमें से वसुंधरा के गर्भ से रविचूलक का जीव अपराजित और अनुमति के गर्भ से मणिचूलक का जीव अनंतवीर्य पुत्र हुआ। वे दोनों जगत् के नेत्र-कमलों को प्रफुल्लित करने वाले और सदाकाल ही उदित रहने वाले सूरज थे, लक्ष्मी को आनन्द देने वाले और धीर-वीर थे। जब वे दोनों युवा हुए तब स्तिमितसागर किसी कारणवश संसार-भोगों से विरक्त हो, पुत्रों पर राज-भार डाल, वन में जा स्वयंप्रभ गुरु के पास दीक्षित हो गया। दैवयोग से एक दिन स्तिमितसागर ने धरणेन्द्र की विभूति देखी और उसके पाने का निदान किया। निदान के प्रभाव से वह मरकर धरणेन्द्र ही हुआ। ग्रन्थकार कहते हैं कि आत्मिक सुख को नष्ट करने वाले निदान बंध को धिक्कार है ॥२४५-२५१॥

इधर अपराजित और अनंतवीर्य पृथ्वी का भरण-पोषण करते हुए इन्द्र और प्रतीन्द्र के जैसे सुशोभित होते थे। एक दिन उनकी सेवा में किसी राजा ने बर्बरी और चिलातिका नाम की दो नर्तकी भेजीं। वे बहुत ही मनोहारी सुखदाई नृत्य करती थीं। उनका नृत्य देखने को और-और बहुत से राजाओं के साथ वे दोनों भाई भी नाट्यशाला में बैठे हुए थे। उस समय उनकी अपूर्व ही शोभा थी। दैवयोग से उसी समय उन्हें देखने को वहाँ नारद आये परन्तु अपराजित और अनन्तवीर्य का उपयोग नृत्य की ओर लग रहा था, इसलिए उन्होंने नारद को न देख पाया ॥२५२-२५५॥

इससे अपना अपमान समझ नारद जल-भुनकर आग-बबूला हो गये और उसी समय कुँवार मास के सूरज की तरह तपते हुए जीवों का अनिष्ट करने वाले नारद दमतारि प्रतिनारायण के नगर में पहुँचे। दमतारि सिंहासन पर विराजमान था। बहुत से सभ्यगण उसकी सेवा में उपस्थित थे। वह

तत्र विष्टरसन्निष्ठं विशिष्टं शिष्टसेवितम्। गरिष्ठमिष्टसंदिष्टसेवं तं वीक्ष्य खाङ्गणात् ॥२५७॥
अवतीर्याशिषं दत्वा स्थिते तस्मिन्खगाधिपः। तमभ्युत्थाननत्याद्यैः संमान्यास्थापयत्पदे ॥२५८॥
दमितारिरवोचत्तं भवन्तो भक्तवत्सलाः। भव्या भवभ्रमं भेत्तुं भान्तो भूतविभूतिदाः ॥२५९॥
किं कार्यं हेतुना केनागमनं ब्रूत वः प्रभो। इत्याकर्ण्य वचोऽवादीन्नारदः शृणु खेचर ॥२६०॥
त्वदर्थं सारभूतानि वस्तून्यालोकयन्भ्रमन्। दृष्ट्वा च नर्तकीयुग्मं रम्भोर्वशीसमं महत् ॥२६१॥
अस्थानस्थं भवद्योग्यमनिष्टं सोढुमक्षमः। आयातोऽहं कथं सोढः पादे चूडामणिः स्थितः ॥२६२॥
खगापराजितानन्तवीर्यगेहे न शोभते। तच्छोभते भवद्गेहे रङ्कन्यालयवन्मणिः ॥२६३॥
श्रुत्वासौ प्राहिणोद्दूतं सोपहारं स्फुरद्गुणम्। गत्वा दूतः प्रभाकर्यां वीक्ष्य तौ नरपुङ्गवौ ॥२६४॥
मुक्त्वोपायनमाचख्यौ युवां पाति खगाधिराट्। श्रीमता तेन देवेन प्रेषितोऽहं युवां प्रति ॥२६५॥
याचितं नर्तकीयुग्मं दातव्यं प्रीतये ततः। निशम्येदं तकौ दूतं प्रहित्याहूय मन्त्रिणः ॥२६६॥

महापुरुष बहुत गौरव-युक्त था। मनोरथ की सिद्धि की लालसा से सभी जन आ-आ कर उसकी उपासना-सेवा करते थे। उसको देखकर नारदजी आकाश से पृथ्वीतल पर उतरे और दमतारि को शुभ आशीर्वाद देकर सभामण्डप में आ खड़े हुए। उन्हें देखते ही राजा सिंहासन छोड़कर उठ खड़ा हुआ और उसने नमस्कार कर उन्हें बड़े आव-आदर के साथ मनोहर सिंहासन पर बैठाया। इसके बाद दमतारि बोला, महाराज! आप भक्तों पर प्रेम की दृष्टि से देखने वाले भव्योत्तम हैं, संसार-परिभ्रमण को मिटाने वाले और जीवों को विभूति देकर सुखी करने वाले हैं, एवं आप सब तरह सुशोभित हैं। कहिए कि आज आपका यहाँ पधारना कैसे हुआ। यह सुन नारदजी बोले, राजन्! सुनिए। मैं हमेशा आपके योग्य सारभूत और उत्तम पदार्थों की खोज में इधर-उधर घूमा करता हूँ। मैंने कल रंभा और उर्वशी के समान दो नर्तकियों को प्रभाकरीपुरी के राजा अपराजित और अनंतवीर्य की सभा में नृत्य करते हुए देखा और इसी समाचार को लेकर मैं आपके पास आया हूँ। कारण वे दोनों आपके ही योग्य हैं। अतः मुझसे यह अनिष्ट सहन नहीं हुआ और मैं शीघ्र ही यहाँ चला आया हूँ। सभी मानते हैं कि शिरोधार्य चूड़ामणि रत्न यदि पैर में पहिन लिया जाए तो किसी को भी सहन न होगा। राजन्! जिस तरह अमूल्य मणि रंक-दरिद्री पुरुष के यहाँ शोभा नहीं पाता, वह राजाओं, रईसों, साहूकारों के यहाँ ही शोभित होता है उसी तरह वे नर्तकी भी अपराजित और अनंतवीर्य के यहाँ शोभा नहीं पाती, वे आप जैसे महापुरुष के यहाँ ही शोभा पावेगी ॥२५६-२६३॥

यह सुन दमतारि ने उसी समय कुछ भेंट देकर दूत को अपराजित और अनंतवीर्य के पास भेजा, जो बहुत ही चतुर और समयोचित कार्यों में कुशल था। प्रभाकरीपुरी में पहुँचकर उसने उन पुरुषोत्तमों को सभामंडप में बैठे हुए देखा और उनके आगे भेंट रखकर उन्हें नमस्कार किया तथा कहा कि राजन्! आप महानुभावों के लिए दमतारि प्रतिनारायण ने कुशल का संदेशा भेजा है तथा मुझे आपके पास भेजकर आपसे उन दो नर्तकियों की याचना की है जो कि आपके पास हैं। कृपाकर आप उन दोनों-वर्वरी और चिलातिका-नर्तकियों को उन्हें दे दीजिए। इससे परस्पर में बहुत ही

किं कार्यमिति पृच्छन्तौ स्थितौ तत्पुण्ययोगतः। तृतीयभवविद्याश्च संप्राप्ताः स्वं निरूप्य च ॥२६७॥
विपक्षक्षयसंलक्ष्याः स्थितास्तत्कार्यकारिकाः। निधाय मन्त्रिणं तत्र नर्तकीवेषधारिणौ ॥२६८॥
निर्गतौ सह दूतेन तौ प्राप्तौ शिवमन्दिरम्। विधीयमानं तन्नृत्यं नृपो वीक्ष्य स्फुरद्‌गुणम् ॥२६९॥
विस्मितः शिक्षितुं ताभ्यां समदात्कनकश्रियम्। तामादाय यथायोग्यं गीतनृत्तकलाविदम् ॥२७०॥
अनन्तवीर्यसंरक्तां चक्रतुस्ते सुभाविनीम्। तद्रक्तां तां समादाय नर्तक्यौ जग्मतुर्दिवि ॥२७१॥
श्रुत्वाथ खेचरो वार्तां प्रेषयामास सद्‌भटान्। बलिना तेन युद्धेन भङ्गं नीताः क्षणान्तरे ॥२७२॥
प्रेषितांश्च पुनर्भग्नान्वीक्ष्योत्तस्थौ खगो युधि। नर्तक्योर्न प्रभावोऽयं चिन्तयन्निति निष्ठुरम् ॥२७३॥
संप्राप्तविद्यया रामो युयुधे युद्धविक्रमी। अनन्तवीर्यमालोक्यं चिरं युद्‌ध्वा खगाधिपः ॥२७४॥
मुमोच चक्रमाक्रम्य चक्रिचक्रभयप्रदम्। तं परीत्य स्थितं हस्ते तेन तेन खगो हतः ॥२७५॥
ततः खगाः समागत्य सर्वे नेमुस्त्रिखण्डपौ। खचरैः सह संपत्त्या चेलतुस्तौ प्रभाकरीम् ॥२७६॥

गाढ़ी प्रीति हो जायेगी। यह सुन उन दोनों ने दूत को तो बाहर भेज दिया और मंत्रियों को भीतर बुलाकर उनसे पूछा कि इस समय क्या कर्तव्य है ? इतने में पुण्ययोग से अमिततेज के भव में जो-जो विद्यायें प्राप्त थीं वे सब आकर अपराजित से कहने लगीं कि हम शत्रु को तहस-नहस करने के लिए समर्थ हैं। आप किसी भी तरह की चिन्ता न करें। इतना कह-कर वे विद्याएँ अपराजित का काम करने को उद्यत हो गई। तब वे दोनों भाई प्रभाकरी राजधानी की रक्षा के लिए मंत्री को नियत कर तथा स्वयं नर्तकियों का रूप बनाकर दूत के साथ-साथ वहाँ से शिवमन्दिरपुर को चल पड़े और थोड़ी ही देर में वहाँ जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने दमतारि के सामने बहुत ही उत्तम नृत्य किया, जिसको देखकर उसे बहुत अचम्भा हुआ। खुश होकर उसने नृत्यकला सीखने के लिए अपनी कनकश्री पुत्री को उनके साथ कर दिया-उन्हें सौंप दिया। वे नर्तकी-रूपधारी कनकश्री को ले गये और उन्होंने उसे यथायोग्य नृत्य गीत आदि बहुत-सी कलायें सिखा दीं। दैवयोग से वह कन्या अनंतवीर्य पर आसक्त हो गई। तब वे दोनों उसे लेकर आकाश में चले गये ॥२६४-२७१॥

यह सब समाचार सुनकर दमतारि ने बहुत से योद्धाओं को भेजा परन्तु अपराजित ने उन्हें एक मिनट में ही मार भगाया। तब क्रुद्ध होकर दमतारि ने और-और सुभटों को भेजने की योजना की, पर वे भी अपराजित के सामने न ठहर सके। आखिर वह स्वयं ही युद्ध करने को तैयार हुआ और सोचने लगा कि यह नर्तकियों का प्रभाव नहीं है किन्तु कुछ छल है। इसके बाद पूर्वभव की प्राप्त हुई विद्याओं के द्वारा अपराजित ने दमतारि के साथ खूब ही घमासान युद्ध किया तथा दमतारि के साथ अनंतवीर्य का भी बहुत देर तक युद्ध हुआ। आखिर में क्रुद्ध हो दमतारि ने चक्रियों को भी डरा देने वाला चक्र लिया और उसे अनंतवीर्य पर चलाया। पुण्ययोग से वह अनंतवीये की प्रदक्षिणा देकर उसके हाथ में आ पहुँचा और उसी के द्वारा अनंतवीर्य ने दमतारि का काम तमाम कर दिया, उसे मार डाला। उस समय सभी विद्याधर आये और उन तीन खण्ड के स्वामियों की प्रणाम करने लगे। इसके बाद विद्याधरों और अतुल सम्पत्ति सहित वे प्रभाकरी पुरी को वापस लौटे। मार्ग में

गच्छन्तौ मार्गतो दृष्ट्वा जिनं कीर्तिधराह्वयम्। नत्वा श्रुत्वा च सद्धर्मं कनकश्रीभवान्तरान् ॥२७७॥
श्रुतवन्तौ निशम्यासौ प्राव्राजीद्रागमुक्तधीः। तां प्रशस्य जिनं नत्वा निर्गतौ समवसृतेः ॥२७८॥

बुधजननतपादौ दीप्यदाप्तप्रमोदौ निहतरिपुविवादौ मुक्तसर्वापवादौ।
प्रतिगतविविषादौ लब्धधर्मप्रसादौ कृतसुकृतनिनादौ जग्मतुस्तां नृपौ तौ ॥२७९॥

जित्वाजय्यं जगामाजिगमिषुबलिनं शत्रुपक्षं क्षणेन
यः सद्विव्यापराद्याजितमिति सुभगं नामधेयं स जीयात्।
हत्वा वीर्यं सुवीर्याद्दमितरिपुपतेः शौर्यधुर्योऽप्यनन्त-
वीर्यो भाति प्रभावाद्वृषविशदमतेः सर्वशक्तिप्रदेष्टुः ॥२८०॥

इति त्रैविद्यविद्याविशदभट्टारकश्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म॰श्रीपालसाहाय्यसापेक्षे श्रीपाण्डवपुराणे भारतनाम्नि शान्तिनाथभवषट्कवर्णनं नाम चतुर्थं पर्व ॥४॥

आते हुए उन्होंने कीर्तिधर नाम जिन भगवान् को देखा और उन्हें नमस्कार कर उनसे धर्म का उपदेश सुना तथा कनकश्री के भवों को भी पूछा ॥२७२-२७७॥

अपने पूर्वभवों को सुन कनकश्री विरक्त हो गई और उसने आर्यिका के व्रत ग्रहण कर लिये। इसके बाद वे दोनों कनकश्री की प्रशंसा और भगवान् की वन्दना कर समवसरण से बाहर आये और प्रभाकरी पुरी को रवाना हुए। अपराजित और अनंतवीर्य की देवता-गण आ-आकर सेवा करते थे। उनके चरणों में नमते थे। वे हमेशा आमोद-प्रमोद से रहते थे, कभी खेदखिन्न नहीं होते थे। उनका कोई भी वैरी नहीं रहा था। वे सर्वथा निंदा आदि अपवादों से रहित थे, उनका कोई निंदक न था एवं वे विषाद-रहित और धर्म के फल को प्राप्त कर चुके थे तथा पुण्य का पटह पीटते थे कि देखी पुण्य का ऐसा फल मिलता है। जिसने बड़े बलवान सेना वाले अजेय शत्रुओं पर भी क्षणभर में विजय-लाभ कर अपना अपराजित नाम सार्थक कर दिखाया वह अपराजित बलदेव जयवन्त हो और जिसने अपने वीर्य से दमतारि प्रतिनारायण के वीर्य को नष्ट कर दिया और जो शूरवीरों में श्रेष्ठ है, सभी शक्तिओं को दिखाने वाले और धर्म-मय वह अनंतवीर्य प्रतिनारायण सर्वज्ञ के प्रभाव से सुशोभित हो ॥२७८-२८०॥

इस प्रकार ब्रह्म॰ श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में श्री शान्तिनाथ के छह भवों का वर्णन करने वाला चौथा पर्व समाप्त हुआ ॥४॥

❑ ❑ ❑

पञ्चमं पर्व

अजितं जितकर्मारिमपराजितमर्थतः। जितजेयं यजे युक्त्या विराजितजनार्चितम् ॥१॥
त्रिखण्डस्याधिपत्यं च विधाय विविधैः सुखैः। केशवः प्राविशत्प्रान्ते पापाद्रत्नप्रभावनिम् ॥२॥
बलोऽप्यनन्तसेनाय राज्यं दत्त्वा यशोधरात्। प्राव्राज्य तृतीयं बोधं प्राप्य संन्यस्य मासकम् ॥३॥
अच्युताधीश्वरो जज्ञेऽनन्तवीर्यस्तु नारकः। धरणेन्द्रात्पितुः प्राप्य सम्यक्त्वं दृढमानसः ॥४॥
संख्यातवर्षसंजीवी प्रच्युत्य प्रासदद्भुवम्। भरतेऽस्मिन्खेचराद्र्युदक्छ्रेणौ व्योमवल्लभे ॥५॥
मेघवाहनराजासीत्तत्प्रिया मेघमालिनी। तत्सुतो मेघनादाख्यः सोऽभूच्छ्रेणीद्वयाधिपः ॥६॥
प्रज्ञप्तिं साधयन्विद्यां मन्दरे नन्दने वने। दरीदृष्टोऽच्युतेशेन बोधितो लब्धबोधकः ॥७॥
प्राव्राज्य नन्दनाख्याद्रौ प्रतिमायोगमासदत्। अश्वग्रीवानुजो भ्रान्त्वा सुकण्ठोऽभूद्भवार्णवे ॥८॥
असुरत्वं समापन्नो वीक्ष्यैनं मुनिमुत्तमम्। व्यधत्त बहुधा क्रोधादुपसर्गं न सोऽचलत् ॥९॥

उन अजितनाथ प्रभु की मैं विधिपूर्वक वन्दना-स्तुति करता हूँ जो कामदेव को जीतने वाले और अपराजित-किसी से नहीं जीते जाने वाले हैं तथा जीत ने योग्य सभी शत्रुओं पर जो विजय-लाभ कर चुके हैं और महान् पुरुष जिनकी पूजा-स्तुति करते हैं ॥१॥

इसके बाद तीन खण्ड के राज-पाट को पाकर अनंतवीर्य ने सब प्रकार के सुखों को अमन-चैन से भोगा और आयु का अन्त होने पर वह पाप के फल से रत्नप्रभा नाम नरक की पहली पृथ्वी में नारकी हुआ तथा अपराजित अजितसेन को राज-काज सँभलाकर यशोधर मुनि के पास दिगम्बर हो गया और अवधिज्ञानरूपी निधि को प्राप्त कर उसने एक महीने के लिए संन्यास धारण कर लिया, जिसके प्रभाव से वह अच्युत स्वर्ग का स्वामी इन्द्र हुआ और वह अनंतवीर्य का जीव जो कि पहले नरक में नारकी हुआ था, पूर्वभव के पिता धरणेन्द्र के सम्बोधने से सम्यग्दृष्टि हो गया। उसने मन की चपलता को छोड़कर धर्म पर अटल विश्वास जमाया और संख्यात वर्ष की आयु को पूरी कर वहाँ से निकला और फिर इसी मध्यलोक में आ गया। इसी भरतक्षेत्र के विजयार्द्ध की उत्तरश्रेणी में एक व्योमवल्लभ नामक नगर है। वहाँ का राजा मेघवाहन था। उसकी रानी का मेघमालिनी नाम था। वह अनंतवीर्य का जीव नरक से आकर उनके यहाँ मेघनाद नामक दोनों श्रेणियों का स्वामी पुत्ररत्न पैदा हुआ ॥२-६॥

एक समय वह सुमेरु के नंदनवन में गया और वहाँ प्रज्ञप्ति विद्या को साधने लगा। इतने में उसके ऊपर उसके पूर्वभव के बड़े भाई अच्युत इन्द्र की दृष्टि पड़ी। तब प्रेम के वश हो वह आया और उसने मेघनाद को खूब समझाया। पुण्ययोग से उसके समझाने से वह समझ गया और दीक्षित हो नंदन नामक पर्वत पर प्रतिमायोग लगाकर ध्यानस्थ हो गया। पाठकों को अभी अश्वग्रीव की कथा भूली न होगी। उसका छोटा भाई सुकंठ संसार-समुद्र में चक्कर लगा कर असुर जाति का देव हुआ था। दैवयोग से वह वहाँ से निकला और मेघनाद मुनि को ध्यानस्थ देख उसे बड़ा क्रोध आया। उसने मुनि पर घोरातिघोर उपसर्ग किये। पर वह रंचमात्र भी उन्हें न डिगा सका। इस समय मुनि ने उपसर्गों

सोढोपसर्गः संन्यस्य सोऽच्युतेऽगात्प्रतीन्द्रताम्। मघोना सह संप्राप सातमच्युतसंभवम् ॥१०॥
प्रच्युत्याच्युतनाथः प्राग्द्वीपेऽत्र प्राग्विदेहके। देशे च मङ्गलावत्यां नगरे रत्नसंचये ॥११॥
राज्यां कनकमालायां राज्ञः क्षेमंकरस्य च। वज्रायुधाभिधो धीमानौरस्योऽभूत्सुलक्षणः ॥१२॥
आधानप्रीतिसुप्रीतिधृतिमोदक्रियान्वितः। वदनेन्दुप्रभाजालसंध्वस्ततिमिरोत्करः ॥१३॥
नवं वयो दधानोऽसौ राज्यलक्ष्म्या परिष्कृतः। प्रतीन्द्रस्तत्सुतो जज्ञे सहस्रायुधसंज्ञकः ॥१४॥
श्रीषेणा भामिनी तस्य साक्षाच्छ्रीरिव शालिनी। शान्त्यन्तकनकः सूनुस्तयोः सुकनकच्छविः ॥१५॥
पुत्रपौत्रादिभिः क्षेमंकरो राज्यकरोऽप्यभात्। एकदैशानकल्पेशो वज्रायुधसुदर्शनम् ॥१६॥
स्तुवन्सदसि संतस्थौ गुणाधारं स्फुरद्गुणम्। अक्षमस्तत्स्तवं सोढुं लेखो विचित्रचूलकः ॥१७॥
वज्रायुधं बुधः प्राप्य कृतरूपविपर्ययः। यथोचित्तं महीनाथं वादकण्डूययावदत् ॥१८॥
राजन् जीवादितत्त्वानां विद्वानसि विचारणे। ब्रूहि पर्यायिणो भिन्नः पर्यायः किं विपर्ययः ॥१९॥
चेद्भिन्नः शून्यतावाप्तिरभावाच्च तयोर्ध्रुवम्। एकत्वसंगरेऽप्येतन्न युक्तिघटनामटेत् ॥२०॥

को समता भाव से सहा जिससे वह अच्युत स्वर्ग में जा प्रतीन्द्र हो गया और वहाँ पूर्व भव के बड़े भाई इन्द्र के साथ सोलहवें स्वर्ग के अपूर्व सुख भोगने लगा ॥७-१०॥

वहाँ की आयु को पूरी कर पहले वहाँ से इन्द्र चया और जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह के मंगलावती देश में रत्नसंचयपुर के राजा क्षेमंकर की रानी कनकमाला के गर्भ से वज्रायुध नाम उत्तम लक्षणों वाला पुत्र उत्पन्न हुआ। वह आधान, प्रीति, सुप्रीति, वृत्ति और मोद इत्यादि क्रियाओं से युक्त था। उसका मुख-चन्द्र अपनी प्रभा के द्वारा अंधेरे को दूर करता था। नवीन अवस्था में ही उसका ब्याह राजलक्ष्मी नाम राजपुत्री के साथ हो गया तथा अनंतवीर्य का जीव जो प्रतीन्द्र था, वहाँ से चया और वज्रायुध तथा राजलक्ष्मी के यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम रखा गया सहस्रायुध ॥११-१४॥

सहस्रायुध की भामिनी का नाम श्रीषेणा था। वह साक्षात् लक्ष्मी ही थी, सुन्दर-रूप लावण्य वाली थी। सहस्रायुध और श्रीषेणा के कनकशान्ति नाम पुत्र हुआ। वह तपे हुए सोने की कान्ति के समान कान्ति वाला था। इस प्रकार पुत्र-पौत्र आदि के साथ क्षेमंकर राजा सुखचैन से राज सुख भोगता था ॥१५-१६॥

एक दिन दूसरे स्वर्ग के इन्द्र ने अपनी सभा में वज्रायुध के दृढ़ सम्यक्त्व की खूब ही प्रशंसा की और कहा कि वज्रायुध गुणों का आधार है। सम्यक्त्व के निमित्त से उसके सभी गुणों का विकास हो गया है। पर यह प्रशंसा विचित्रचूलक नामक एक देव से न सही गई और वह पंडित का भेष बनाकर वज्रायुध के पास पहुँचा और वाद की इच्छा से वह उससे कहने लगा ॥१७-१८॥

राजन्! सुना है कि आप जीवादि तत्त्वों के विचार में बड़े पण्डित हैं। कहिए कि जीव आदि से पर्याय भिन्न होती है या अभिन्न? यदि भिन्न होती है तब तो पर्याय निराधार और पर्यायी कूटस्थ ठहरता है, ये दोनों ही बातें नहीं बन सकती और शून्यवाद आकर उपस्थित होता है। कहो कि जीव आदि से पर्याय अभिन्न होती है तो यह पर्याय है और यह पर्यायी (जीवादि) है, यह भेद व्यवहार ही सर्वथा मिट जाता है ॥१९-२०॥

जीवो वा पर्ययो वा स्यादन्योन्यागोचरत्वतः। चेदस्तु द्रव्यमेकं ते पर्याया बहवो मताः ॥२१॥
एकात्मकं जगत्सर्वमित्येवं संसृतेः क्षितिः। पुण्यपापफलावाप्तिः कथं संजायते नृणाम् ॥२२॥
बन्धनाभाव एव स्यान्मोक्षाभावो भवेन्ननु। नित्ये च क्षणिके चाथ भवेदर्थक्रियाच्युतिः ॥२३॥
तदभावे न सत्त्वं स्यात्सत्त्वाभावे न वस्तुता। कल्पनामात्रमत्रैवं जीवादीनां तु मा कथा ॥२४॥
तदोक्तमिति तच्छ्रुत्वा नृपो वज्रायुधोऽभ्यधात्। शृणु सौगत सुस्वान्ते मतिं कृत्वाथ मद्वचः ॥२५॥
क्षणिकैकान्तपक्षेऽन्यपक्षे चैतद्धि दूषणम्। सर्वथाभेदवादस्तु निरस्यो भेदवादवत् ॥२६॥
स्याद्वादं वदतां पुंसां पुण्यपापास्त्रवो भवेत्। ततो बन्धस्य संसिद्धिस्तदभावे शिवं भवेत् ॥२७॥
एवं सिद्धः सुनिर्णीतासंभवद्बाधकत्वतः। स्याद्वादः सर्वदा सर्ववस्तूनां विशदात्मकः ॥२८॥
एवं पराजितो लेखः संख्याप्य निजवृत्तकम्। संपूज्य वस्त्रदानाद्यैस्तमगाद् द्वितीयां दिवम् ॥२९॥
लब्धबोधिरथो क्षेमंकरः क्षेमंकरो भुवि। प्राप्तलौकान्तिकस्तोत्रः प्रव्रज्यायै समुद्यतः ॥३०॥

जबकि एक का दूसरे में समावेश नहीं होता, तब जीव आदि अथवा पर्याय दो में से एक को ही मानना योग्य है। यदि इस पर यह कि द्रव्य तो एक ही है, केवल उसकी पर्यायें अनेक देख पड़ती तो आपके कहने से सारा संसार एक रूप ही हो जायेगा और जो यह नाना रूप देख पड़ता है वह कुछ भी बनेगा एवं लोगों को पुण्य-पाप का फल भी नहीं मिलेगा और बन्ध भी न होगा तथा उसके अभाव में मोक्ष भी नहीं बन सकेगा एवं यह प्रश्न उठता है कि वह द्रव्य नित्य है या क्षणिक? इन दोनों पक्षों में ही वस्तु में अर्थक्रिया नहीं बनेगी और अर्थक्रिया के अभाव में वस्तु की सत्ता के अभाव से वस्तु कुछ भी नहीं ठहरेगी। इसलिए जीव आदि पदार्थों की केवलमात्र कल्पना है। राजन्! ऐसी झूठी कपोलकल्पित बातों में आप मत फँसो। इनमें कुछ भी तत्त्व नहीं है। उसके इन वचनों की सुनकर वज्रायुध ने कहा कि विद्वान्! सुनिए, जरा मेरे वचनों पर ध्यान दीजिए ॥२१-२५॥

क्षणिक एकान्त और नित्य एकान्त पक्ष में ये दोष आते हैं। इसी तरह सर्वथा भेदवाद और सर्वथा अभेदवाद में दोष देख पड़ते हैं। पर स्याद्वादमत को मानने वालों के यहाँ ये दोष नहीं आते। उनके यहाँ पुण्य-पाप का आस्त्रव होकर बंध होता है और फिर बंध के अभाव से मोक्ष अवस्था प्राप्त होती है। यदि इस पर यह पूछा जाये कि स्याद्वाद की सिद्धि कैसे होती है तो यह उत्तर दिया जायेगा कि स्याद्वाद के सम्बन्ध में निर्णय करके देखा जा चुका है, कोई भी बाधक उसके विषय में उपस्थित नहीं होता क्योंकि यह स्याद्वाद हमेशा ही सब पदार्थों में मौजूद रहता है ॥२६-२८॥

राजा के इस प्रकार के उत्तर को सुनकर वह देव हार मान गया और अपनी वहाँ आने की कहानी को सुनाकर तथा दिव्य वस्त्र-आभूषणों द्वारा वज्रायुध की पूजा कर स्वर्ग को चला गया। इसके बाद पृथ्वी की रक्षा करने वाला क्षेमंकर राजा प्रतिबोध को प्राप्त हुआ और बारह भावनाओं पर विचार करने लगा। इतने में पाँचवें ब्रह्म स्वर्ग से लौकान्तिक देव आये और उन्होंने क्षेमंकर राजा के वैराग्य की खूब तारीफ की तथा भक्ति-स्तुति की ॥२९-३०॥

राज्ये वज्रायुधं न्यस्य दिदीक्षे वनसंगतः। कालेन प्राप्तकैवल्यो बभासे तीर्थराड्विभुः ॥३१॥
अथ वज्रायुधो धीमान्धृतराज्यधुरो ध्रुवम्। मधौ मधुरसल्लापे वनं रन्तुं गतो नृपः ॥३२॥
स्वदेवीभिः स्वयं रन्त्वा सुदर्शनजलाशये। जलक्रीडां प्रकुर्वाणे तस्मिंस्तं शिलयाप्यधात् ॥३३॥
कश्चिद्विद्याधरो दुष्टो नागपाशेन तं नृपम्। अबध्नात्तत्क्षणं चक्रे शिलां स शतखण्डताम् ॥३४॥
हस्तेन नागपाशं च विपाशीकृतवांस्तदा। एष पौर्वभवः शत्रुर्विद्युद्दंष्ट्रः पलायितः ॥३५॥
भूपोऽपि सह देवीभिः प्रविश्य स्वपुरं स्थितः। धर्मेण तस्य चोत्पन्नं रत्नं सुनिधिभिः समम् ॥३६॥
चक्रवर्तिश्रियं भेजे स भोगव्याप्तमानसः। षट्खण्डमण्डितां पाति पृथ्वीं तस्मिन्नरेश्वरे ॥३७॥
विजयार्धाद्र्यपाक्श्रेण्यां पत्तने शिवमन्दिरे। मेघवाहनभूपोऽस्य विमलाख्या प्रिया शुभा ॥३८॥
पुत्री कनकमालेति तयोर्विवाहपूर्वकम्। प्रिया कनकशान्तेश्च सा जाता सुखदायिनी ॥३९॥
स्तोकसारपुरेशस्य जयसेनाप्रियापतेः। सुता वसन्तसेनाख्या समुद्रसेनभूपतेः ॥४०॥
बभूवास्य प्रिया ताभ्यां सुखी कनकशान्तिवाक्। कदाचिद्वनखेलार्थं कुमारो वनितासखः ॥४१॥
वनं गतः समद्राक्षीन्मुनिं च विमलप्रभम्। नत्वा तद्वदनाच्छ्रुत्वा वृषं वैराग्यमानसः ॥४२॥

इसके बाद क्षेमंकर ने वज्रायुध को बुलाया और उस पर राज-भार डाल कर आप वन में जाकर दिगम्बर हो गया। थोड़े ही समय में उसे केवलज्ञान लाभ हो गया। उस समय वह विभु तीर्थंकर भगवान् खूब ही सुशोभित होते थे। इसके बाद वसन्त का समय आया और कामदेव का प्रभाव बढ़ने लगा। तब बुद्धिमान् वज्रायुध राजा वन-क्रीड़ा को गया ॥३१-३२॥

वहाँ वह अपनी रानियों के साथ सुदर्शन नाम के सरोवर में जल-क्रीड़ा कर रहा था। इसी समय किसी दुष्ट विद्याधर ने उसके ऊपर एक पत्थर की शिला डाल दी और आकर उसे नागपांश द्वारा बाँध लिया। परन्तु उस बली ने हाथ से ही उस शिला के उसी समय खण्ड-खण्ड कर दिये और नागपाश को भी नष्टकर दिया ॥३३-३४॥

तब पूर्वभव का वैरी वह विद्युद्दंष्ट्र चुपके से भाग गया और राजा अपनी देवियों के साथ-साथ नगर को चला आया तथा वहाँ सुख से रहने लगा। कुछ काल में धर्म के प्रभाव से उसके यहाँ निधियों सहित चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई और वह चक्रवर्ती की लक्ष्मी को सुख-चैन से भोगने लगा। उसका मन हमेशा भोगों से भरपूर रहता था। जिस समय वज्रायुध छहों खण्ड का निर्विघ्न राज्य करता था। उस समय विजयार्द्ध की दक्षिण श्रेणी में शिवमन्दिर नाम नगर का विमलवाहन नाम राजा था। उसकी प्रिया का नाम विमला था। वह शुभ लक्षणों वाली थी। उसके कनकमाला नाम एक पुत्री हुई। वह कनकशान्ति के साथ में ब्याह दी गई। स्तोकसारपुर के राजा समुद्रसेन और उसकी रानी जयसेना के एक वसन्तसेना नाम की कन्या थी। वह भी कनकशान्ति के साथ ब्याही गई ॥३५-४०॥

इन दोनों भार्याओं को पाकर कनकशान्ति अमनचैन से सांसारिक सुख भोगने लगा। एक दिन कनकशान्ति कुमार अपनी दोनों भार्याओं को साथ लेकर क्रीड़ा के लिए वन में गया था ॥४१॥

वहाँ उसने विमलप्रभ नाम मुनीश्वर को देखा और उन्हें नमस्कार कर उनसे धर्म का उपदेश

दिदीक्षे तत्क्षणे राज्ञ्यौ विमलागणिनीं श्रिते। अदीक्षेतां तपोयुक्ते युक्तं तत्कुलयोषिताम् ॥४३॥
सिद्धाचलस्थितो योगी प्रतिमायोगधारकः। सोढ्वा खगोपसर्गान्स प्राप्तकेवलबोधनः ॥४४॥
चक्री कैवल्यमालोक्य नप्तुर्निर्विण्णमानसः। सहस्रायुधपुत्राय राज्यं दत्त्वा विनिर्गतः ॥४५॥
श्रीक्षेमंकरमर्हन्तं प्राप्य दीक्षां समग्रहीत्। योगी सिद्धगिरौ वर्षं प्रतिमायोगमाश्रितः ॥४६॥
वल्मीकाश्रितपादान्त आकण्ठारूढसल्लतः। अश्वग्रीवसुतौ रत्नकण्ठरत्नायुधौ भवान् ॥४७॥
भ्रान्त्वा भूत्वा सुरौ चातिबलमहाबलौ पुनः। तमभ्येत्योपसर्गं तौ कर्तुकामा विघातनम् ॥४८॥
रम्भातिलोत्तमाभ्यां तौ तर्जितौ प्रपलायितौ। ते तं गत्वा यतिं नत्वा समभ्यचर्य दिवं गते ॥४९॥
स सहस्रायुधः पुत्रे राज्यं शान्तबलिन्यथ। किंचिद् हेतोः समारोप्य दिदीक्षे पिहितास्रवात् ॥५०॥
योगावसाने संप्राप्य वैभाराद्रिमसूंस्तकौ। अत्याष्टां च सुदीक्षेष्टौ वरिष्ठौ क्लिष्टनिग्रहौ ॥५१॥
ऊर्ध्वग्रैवेयकाधोविमाने सौमनसे च तौ। एकोनत्रिंशदब्ध्यायुर्धरौ जातौ सुरोत्तमौ ॥५२॥

सुना एवं धर्म को सुनकर उसका मन वैराग्य से लिप्त हो गया और उसी समय उसने जैनेन्द्री दीक्षा धारण कर ली। अपने पति को दीक्षित हुआ देखकर कनकमाला और वसन्तसेना भी विमला नाम आर्यिका से जिनदीक्षा लेकर तप करने लगी। ग्रन्थकार कहते हैं कि कुलवती स्त्रियों को ऐसा ही करना चाहिए ॥४२-४३॥

एक दिन कनकशान्ति योगी सिद्धाचल पर ध्यान लगाये हुए था। वहाँ उसे विद्याधरों ने बड़े उपसर्ग किये। पर वह उन उपसर्गों से रंचमात्र भी न टला, जिससे उसे केवलज्ञान हो गया-वह केवली हो गया ॥४४॥

अपने पोते को केवलज्ञान हुआ देखकर वज्रायुध चक्रवर्ती भी संसार-देह-भोगों से विरक्त हो गया और सहस्रायुध को राज-पाट सौंपकर, घर से निकल, क्षेमंकर भगवान् के पास जा दीक्षित हो गया-उसने दीक्षा ले ली और सिद्धाचल पर एक वर्ष के लिए प्रतिमायोग धारण कर वह ध्यानस्थ हो गया ॥४५-४६॥

इस समय वज्रायुध के पैरों तक साँपों ने बामी बना ली थी और कंठ तक उसे बेलों ने वेढ़ लिया था। उधर अश्वग्रीव के रत्नकंठ और रत्नायुध दो पुत्र संसार में परिभ्रमण कर अतिबल और महाबल नामक दो असुर हुए थे। वे वज्रायुध के पास आये और उसे बड़ा कष्ट देने लगे एवं रंभा और तिलोत्तमा का रूप बना-बनाकर उसका ध्यान से मन चलाने को उद्यत हुए परन्तु वह ध्यान से बिल्कुल ही नहीं चला। यह देख वे चुप-चाप भाग गये। इसके बाद वे प्रकट होकर वज्रायुध के पास आये और उसकी पूजा-भक्ति एवं उसे नमस्कार कर स्वर्ग को चले गये ॥४७-४९॥

इधर कोई वैराग्य का निमित्त पा सहस्रायुध भी विरक्त हो गया और शान्तबली को राज-पाट सँभला कर उसने पिहितास्रव मुनि से जिनदीक्षा ले ली-वह भी दिगम्बर बन गया ॥५०॥

इसके बाद ध्यान समाप्त होने पर वज्रायुध और सहस्रायुध दोनों साथ-साथ विपुलाचल पर्वत पर आये और शान्त परिणामों से उन्होंने प्राणों का त्याग किया, जिससे वे निष्पाप ऊर्ध्व ग्रैवेयक के

मृत्वा वज्रायुधः श्रीमान् द्वीपेऽत्र प्राग्विदेहके। देशे च पुष्कलावत्यां पुर्यस्ति पुण्डरीकिणी ॥५३॥
पतिर्घनरथस्तस्याः प्रिया तस्य मनोहरा। तयोर्मेघरथः सूनुर्जातो जातमहोत्सवः ॥५४॥
अहमिन्द्रः परस्तस्य सूनुर्दृढरथाह्वयः। मनोरमाभवो जातो ववृधाते च तौ सुतौ ॥५५॥
जनको ज्येष्ठपुत्रस्य प्रियमित्रामनोरमे। वल्लभे विदधेऽन्यस्य सुमतिं चित्तवल्लभाम् ॥५६॥
आत्मजः प्रियमित्रायां समभून्नन्दिवर्धनः। वरसेनः सुमत्यां च सूनुर्दृढरथस्य च ॥५७॥
एवं स्वपुत्रपौत्राद्यैर्युतो घनरथो नृपः। रेजे मेरुरिवात्यर्थं ताराचन्द्रदिवाकरैः ॥५८॥
देवो घनरथो मुक्त्वा राज्यं मेघरथे सुते। दिदीक्षे प्राप्तकल्याणः स्वयमेव स्वयंगुरुः ॥५९॥
उच्छेद्य घातिकर्माणि स प्राप केवलोद्गमम्। अथ मेघरथो देवरमणोद्यानमाविशत् ॥६०॥
स्वदेवीभिर्विहृत्यास्थाच्चन्द्रकान्तशिलातले। खेचरः कश्चन व्योम्नि गच्छंस्तस्योपरि स्थितः ॥६१॥
निरुद्धव्योमयानः सन्पश्यन्भूपं शिलास्थितम्। तमुत्थापयितुं रोषात्तदधः संप्रविष्टवान् ॥६२॥

सौमनस नाम अधो विमान में उनतीस सागर की आयु वाले हँसमुख उत्तम देव हुए एवं आयुपर्यन्त वहाँ के सुखों को भोग कर वज्रायुध का जीव चया और जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिनी नगरी में घनरथ नाम राजा की मनोहरा नाम रानी के गर्भ से मेघरथ नाम पुत्र हुआ ॥५१-५४॥

मेघरथ के जन्म-समय घनरथ ने बड़ा भारी महोत्सव किया एवं घनरथ राजा की मनोरमा रानी के गर्भ से सहस्रायुध का जीव जो अहमिन्द्र था, वह दृढ़रथ नाम पुत्र उत्पन्न हुआ ॥५५॥

दोनों क्रम-क्रम से बढ़ने लगे। जब वे युवा हुए तब घनरथ ने उनका विवाह महोत्सव किया। मेघरथ का ब्याह प्रियमित्रा और मनोरमा के साथ हुआ और दृढ़रथ का मनमोहिनी सुमति के साथ कुछ काल में मेघरथ की प्रियमित्रा नाम की भार्या ने नन्दिवर्द्धन नामक पुत्र को जन्म दिया और दृढ़रथ की सुमति नाम की भार्या ने वरसेन नामक पुत्र को इस प्रकार पुत्र, पौत्र आदि सम्पत्ति से घनरथ ऐसा जान पड़ता था। मानों तारा-गण, चाँद और सूरज से युक्त सुमेरु पर्वत ही है ॥५६-५८॥

एक समय घनरथ ने किसी कारण से उदास हो मेघरथ को राज-पाट सौंप कर जैनेन्द्री दीक्षा धारण कर ली। उसके दीक्षा समय लौकान्तिक देव आये तथा और-और देवतागण ने आकर उसका दीक्षा-कल्याणक किया। वह अपना आप ही गुरु था-तीर्थंकर था। उसने थोड़ी ही देर में घाति कर्मों को घात कर केवलज्ञान-निधि प्राप्त कर ली-वह केवली हो गया ॥५९-६०॥

इसके बाद एक समय मेघरथ राजा देवरमण नाम उद्यान में अपनी रानियों को साथ लेकर क्रीड़ा करने को गया था। वहाँ जाकर वह एक चंद्रकान्त शिला पर बैठ गया। इतने में आकाशमार्ग से जाता हुआ एक विद्याधर वहाँ से आ निकला ॥६१॥

वहाँ उसका विमान रुक गया। उस वक्त उसने शिला पर बैठे हुए मेघरथ को देखा और देखते ही वह क्रोध से लाल पीला हो गया तथा शिला-सहित राजा को उठाने के लिये विद्याबल से वह उस शिला के नीचे घुस गया ॥६२॥

नृपोऽङ्गुष्ठाग्रदेशेन ज्ञात्वा तं तां न्यपीडयत्। खगः शिलाभराक्रान्तस्तत्सोढुमक्षमोऽरुदत् ॥६३॥
तदा तत्खेचरी श्रुत्वा क्रन्दनं स्वपतेः परम्। श्रीमेघरथमाश्रित्य भर्तृभिक्षामयाचत ॥६४॥
उत्थापितक्रमः पृष्टः कान्तया प्रियमित्रया। किमेतदिति संप्राह विजयार्धालके पुरे ॥६५॥
विद्युद्दंष्ट्रपतेर्भार्यानिलवेगा सुतस्तयोः। नृपः सिंहरथो देवं वन्दित्वामितवाहनम् ॥६६॥
अटन्ममोपरि प्रेक्ष्य विमानं गतरंहसम्। दिशो विलोक्य मां प्रेक्ष्य स्वदर्पात्कोपकम्पितः ॥६७॥
अस्माञ्शिलातलेनामा प्रोत्थापयितुमुद्यतः। पीडितोऽयं यदङ्गुष्ठेनैवाप्तास्य मनोरमा ॥६८॥
इत्यन्योन्यं स संतोष्य प्रेषितस्तेन खेचरः। कदाचित्स नृपो दत्त्वा दानं दमवरेशिने ॥६९॥
चारणाय समापासौ पञ्चाश्चर्यं चरंस्तपः। आष्टाह्निकविधिं भक्त्या विधाय प्रोषधं श्रितः ॥७०॥
प्रतिमायोगतो ध्यायन्रात्रौ ध्यानं स्थितोऽद्रिवत्। ईशानेन्द्रः परिज्ञायैतन्मरुत्सदसि स्थितः ॥७१॥

यह बात राजा को भी मालूम पड़ गई और उसने उस शिला को अपने पाँव के अँगूठे के अग्रभाग से कुछ दवा दिया। तब वह विद्याधर उस शिला के भार को सहने के लिए असमर्थ हो चिल्लाने लगा ॥६३॥

उस वक्त उसकी रोने की आवाज को उसकी स्त्री ने सुना और वह उसी समय मेघरथ की शरण में आयी तथा पति के जीवन की भिक्षा माँगने लगी ॥६४॥

मेघरथ ने तब शिलापर से अपने बल को बिल्कुल हटा लिया। यह देखकर प्रियमित्रा ने मेधरथ को पूछा कि प्रिय! यह क्या बात है ॥६५॥

उत्तर में मेघरथ ने कहा कि विजयार्द्ध पर्वत पर एक अलकपुर है। उसका राजा है विद्युद्दृष्ट्र और रानी है अनिलवेगा। उन दोनों का पुत्र यह सिंहरथ हैं। यह विमलवाहन मुनि की वन्दना को गया था ॥६६॥

अब वहाँ से वापस घर को जा रहा है। अभी थोड़ी देर पहले इसका विमान आपसे आप ही यहाँ रुक गया था। तब इसने इधर-उधर देख भाल की और मुझे देखकर गर्व से क्रोध किया तथा आग बबूला हो मुझ-सहित शिला उठाने के लिए यह इस शिला के नीचे घुस गया। मुझे मालूम होते ही मैंने उसी वक्त इस शिला को अपने पैर के अँगूठे से दबा दिया। तब भार को न सह सकने के कारण यह चिल्लाया। जिसको सुन इसके जीवन की भिक्षा के लिए यह इसकी मनोरमा नाम स्त्री आई है। इस प्रकार सब हाल कहकर तथा उस विद्याधर को संतोष दिलाकर उन्होंने उसे वहाँ से रवाना किया ॥६७-६८॥

एक समय मेघरथ राजा ने दमवर नाम चारणमुनि को आहार दिया, जिसके प्रभाव से उसके यहाँ देवताओं ने पाँच अचम्भे की बातें कीं। यह राजा हमेशा शक्ति-अनुसार तप करता था। अष्टाह्निक पर्व आया। राजा ने विधिपूर्वक भगवान् की पूजा वगैरह से खूब ही उत्सव किया और प्रोषधोपवास व्रत लिया तथा रात के वक्त प्रतिमायोग धर कर वह मेरु की तरह अचल हो ध्यानस्थ हो गया ॥६९-७१॥

तवाद्य परमं धैर्यं नमस्तुभ्यं चिदात्मने। आत्मध्यानरतायैवं संसारासातभीमुषे ॥७२॥
इति स्तुतिरवं श्रुत्वा सुराः शतमुखं जगुः। कः स्तुतो देव इत्युक्ते प्रोवाच स सुरान्प्रति ॥७३॥
नृपो मेघरथः शुद्धदृष्टिः प्रतिमया स्थितः। पूज्यः पूज्यगुणो ज्ञानी मयास्तीति नमस्कृतः ॥७४॥
अतिरूपासुरूपाख्ये तदुक्तं सोढुमक्षमे। आगते विभ्रमैर्हावैर्विलासैर्गीतनर्तनैः ॥७५॥
भावैः प्रजल्पनैश्चान्यैर्न तं चालयितुं क्षमा। विद्युल्लतेव देवाद्रिं यथा निश्चलमुत्तमम् ॥७६॥
ऐशानोक्तं दृढं मत्वा नत्वा ते स्थानमीयतुः। एकदैशानकल्पेशः सदोमध्ये व्यवर्णयत् ॥७७॥
रूपं च प्रियमित्रायाः समाकर्ण्य समागते। रतिषेणारतीदेव्यौ साक्षात्तद्रूपमीक्षितुम् ॥७८॥
मज्जनावसरे ते तां गन्धतैलाक्तदेहिकाम्। निर्भूषणां विवसनां निरूप्यावोचतां वचः ॥७९॥
शृङ्गारसहितायास्तु कीदृग्रूपं भविष्यति। ततः कन्याकृतिं कृत्वा चतुरे चतुरं वचः ॥८०॥
अवोचतां तके देवि त्वद्रूपं द्रष्टुमागते। सा संकल्पितकल्पाढ्या गन्धपुष्पोपशोभिता ॥८१॥
ताभ्यां वीक्ष्य निजं शीर्षं धूनितं सैक्ष्य तज्जगौ। किमेतदिति ते देव्यावूचतुश्चतुरे शृणु ॥८२॥
यद्रूपं वर्णितं तथ्यमीशानेशेन तत्तथा। यत्स्नानसमये दृष्टं तदिदानीं न विद्यते ॥८३॥

इसी समय ईशान इन्द्र अपनी सभा में बैठा था। उसने वहाँ से मेघरथ को ध्यानस्थ देखा और उसकी स्तुति करना आरम्भ की कि आज आपका परम धैर्य है। इसलिए सारे संसार की असाता को मिटाने वाले आत्मध्यान में लीन और चिदात्मा–आपको मेरा प्रणाम है। यह सुन देवताओं ने इन्द्र को कहा कि हे देव! आप किसकी स्तुति कर रहे हैं। यह सुन इन्द्र ने उत्तर में कहा कि शुद्ध सम्यग्दृष्टि मेघरथ राजा प्रतिमायोग में लीन हो रहा है। वह ज्ञानी उत्तम गुणों का भण्डार होने से पूज्य है। इसलिए मैंने उसे नमस्कार किया है ॥७२–७४॥

इन्द्र की यह बात अतिरूपा और सुरूपा नाम की दो देवियों से न सही गई और वे उसी वक्त मेघरथ के पास पहुँचीं। वहाँ उन्होंने विभ्रम, हाव–भाव, विलास, गीत–नृत्य आदि भाँति–भाँति की चेष्टाएँ कीं, पर वे उसे चला न सकीं, जिस तरह अचल और उत्तम मेरु बिजली के द्वारा रंचमात्र भी नहीं चलता। तब उन्हें इन्द्र की बातों पर पक्का विश्वास हो गया और वे मेघरथ को नमस्कार कर अपने स्थान को चली आई ॥७५– ७७॥

इसी तरह एक दिन सभा में ईशान इन्द्र ने प्रियमित्रा के रूप की प्रशंसा की। जिसको सुनकर रतिषेण और रति नाम की दो देवियाँ साक्षात् उसके रूप को देखने के लिए आई और स्नान के समय में सुगन्धित तैल आदि से मले गये भूषण–वस्त्र रहित उसके सुन्दर शरीर को देखकर वे कहने लगीं कि जब इस समय इसका रूप ऐसा सुन्दर है तब श्रृंगार आदि करने पर कैसा सुन्दर होगा। इसके बाद उन्होंने कन्या का रूप बनाया और वे चतुराई से कहने लगीं कि देवी! हम तुम्हारा रूप देखने को आई हैं। इसके बाद रानी ने अपने वस्त्र–आभूषण वगैरह पहिने और सुगन्धित पुष्प वगैरह गूंथे ॥७८–८१॥

उस समय उसका रूप देखकर वे देवियों अपना माथा पीटने लगीं। यह देख उनसे रानी ने पूछा कि यह बात क्या है? वे कहने लगीं कि चतुरे! सुनो, ईशान इन्द्र ने तुम्हारे रूप की जैसी प्रशंसा की थी वह वैसा ही है परन्तु स्नान के वक्त जो शोभा थी वह इस वक्त नहीं है ॥८२–८३॥

इत्युदीर्य निगीर्य स्वं ते देव्यौ दिवमीयतु:। क्षणक्षयात्स्वरूपस्य विरक्ताश्वासिता प्रिया ॥८४॥
सहदीक्षेति वाक्येन नृपेण विरतात्मना। अथैकदा समुद्यानं मनोहरमगान्नृप: ॥८५॥
स्वगुरुं जिनमानम्य स्थितं सिंहासने स्थित:। अप्राक्षीच्छ्रेयसे श्रेय: संस्कृतं क्रियया कृती ॥८६॥
अवादीद्देवदेवेशो राजदेव विदां वर। श्रावकाध्ययनप्रोक्तामष्टोत्तरशतक्रियाम् ॥८७॥
त्रिपंचाशत् क्रियास्तत्र गर्भान्वयसमाह्वया:। गर्भाधानादिनिर्वाणपर्यन्तविधिवेदिका: ॥८८॥
दीक्षान्वयक्रियाश्चाष्टचत्वारिंशदुदीरिता:। सुदीक्षादिनिवृत्त्यन्तनिर्वाणपदसाधिका: ॥८९॥
कर्त्रन्वयक्रिया: सप्त सत्सिद्धान्तवचोवहा:। सुदृक्स्वरूपमेतासां विधानं फलमप्यद: ॥९०॥
श्रुत्वा श्राद्धस्य सद्धर्मं घनं घनरथोदितम्। नत्वा मेघरथोऽवोचद्विरक्तोऽनुजमुन्नतम् ॥९१॥
गृहाण राज्यमेतद्धि स्थास्यामि तपसे वनम्। इत्युक्ते सोऽवदद्वाक्यं तित्यक्षु: क्षिप्रत: क्षितिम् ॥९२॥
भो राज्ये यस्त्वया दृष्टो दोषोऽदर्शि मयापि स:। गृहीत्वा त्यज्यते यच्च प्राक्तस्याग्रहणं वरम् ॥९३॥
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्। विमुखे सुमुखे तस्मिन्निति राजा स्वसूनवे ॥९४॥

इतना कह कर वे देवियों तो अपने स्थान को चली आईं और इधर रानी को अपने रूप को क्षणक्षयी जान कर वैराग्य हो आया, तब उसे राजा ने आश्वासन दिया और कहा कि हम तुम दोनों साथ-साथ ही दीक्षा लेंगे क्योंकि मेरा दिल भी उदास हो रहा है। एक दिन राजा मनोहर नाम उद्यान को गया। वहाँ उसने अपने पिता घनरथ नाम प्रभु के दर्शन किये और उन्हें नमस्कार किया ॥८४-८५॥

वे एक मनोहर सिंहासन पर विराजे हुए बहुत ही सुशोभित होते थे। राजा बैठ गया और उस कृती ने कल्याण की वाञ्छा से पूछा कि भगवन्! क्रिया-संस्कार से क्या लाभ है? इस पर प्रभु ने उत्तर दिया कि राजन्! सुनिए। श्रावकाध्ययन में जो १०८ क्रियायें बताई हैं उनमें से ५३ क्रियायें तो गर्भान्वय नाम से पुकारी जाती हैं और वे गर्भ से लेकर मरण तक की विधि को बताती हैं। ४८ क्रियायें दीक्षान्वय नाम से पुकारी जाती है और वे दीक्षा से लेकर निर्वाण तक की साधने वाली हैं और सात कर्त्रन्वय क्रियायें हैं ॥८६-८९॥

वे सिद्धान्त को बताती हैं। इन क्रियाओं से आत्मा का बल बढ़ता है, उसमें नये-नये संस्कार पैदा होते हैं, जिनसे अच्छी-अच्छी भावनायें पैदा होती हैं ॥९०॥

इस तरह घनरथ प्रभु के कहे हुए क्रियाओं के विधान-स्वरूप और फल को तथा श्रावकधर्म को सुनकर वह आत्म-दृष्टि विरक्त हो गया और अपने छोटे भाई दृढ़रथ से उसने कहा कि तुम राज-पाट को संभालो, मैं अब तपों को तपूँगा ॥९१-९२॥

इस पर शीघ्र ही परिग्रह को छोड़ने की चाह रखने वाला दृढ़रथ कहने लगा कि भाई! राज-काज में आपको जो-जो दोष देख पड़ते हैं, उनकी मैं भी तो देख रहा हूँ। इससे मैं यह सोचता हूँ कि पहले ग्रहण कर पीछे छोड़ने की अपेक्षा पहले से ग्रहण ही न करूँ, यही अच्छा है। कारण कि कीचड़ लगा कर धोने की अपेक्षा उसको पहले से नहीं लगाना ही बुद्धिमान् लोग अच्छा मानते हैं। इस तरह की बातचीत से अपने हँसमुख छोटे भाई को राज से विरक्त जान कर मेघरथ ने मेघसेन नाम अपने पुत्र को बुलाया और उसे राज-पाट सँभला दिया ॥९३-९४॥

मेघसेनाय राज्यं स दत्त्वा सप्तसहस्त्रकैः। भूपैश्च सानुजो जज्ञे संयमी संयमोद्यतः ॥९५॥
एकादशाङ्गविद्धीरो भावनाः षोडशात्मिकाः। भावयन्नर्थकृत्तीर्थकृत्त्वं कर्म बबन्ध सः ॥९६॥
दृढो दृढरथेनामा नभस्तिलकभूभृति। अत्याक्षीन्मासमात्रं स शरीराहारकिल्बिषम् ॥९७॥
तौ प्राणान्ते गतप्राणौ प्रपेदातेऽहमिन्द्रताम्। सर्वार्थसिद्धिसद्धाम्नि शुक्ललेश्यौ स्फुरत्प्रभौ ॥९८॥
त्रयस्त्रिंशत्समुद्रायुर्जीवनौ श्वासमाश्रितौ। सार्धषोडशभिर्मासैः संगतामृतवल्भनौ ॥९९॥
त्रयस्त्रिंशत्सहस्त्राब्दैर्निःप्रवीचारसत्सुखौ। लोकनाडीस्थितप्रेङ्क्ष्योग्यद्रव्यावधीक्षणौ ॥१००॥
तावत्सद्विक्रियौ तौ द्वौ रेजतुर्हस्तमुच्छ्रितौ। अनन्तरभवप्राप्यमोक्षलक्ष्मीसमागमौ ॥१०१॥
अथ जम्बूमति द्वीपे भरते कुरुजाङ्गले। हस्तिनागपुरे राजा विश्वसेनो विदांवरः ॥१०२॥
ऐरावती प्रिया तस्य तरत्तारा सुलोचना। श्रीह्रीधृत्यादिदेवीड्या दिव्यलावण्यधारिणी ॥१०३॥
शयाना शयने रात्रौ स्वप्नानैक्षिष्ट षोडश। विशन्तं वदने तुङ्गं दन्तिनं साप्यजागरीत् ॥१०४॥
तदा मेघरथो देवो दिवश्च्युत्वा तमिस्त्रके। नभस्ये सप्तमीघस्रे तत्कुक्षिक्षेत्रमासदत् ॥१०५॥

इसके बाद वह सात हजार राजाओं और अपने छोटे भाई सहित दिगम्बर हो गया, उसने संयम को ग्रहण कर लिया और थोड़े ही समय में वह द्वादशांग का परिगामी श्रुतकेवली हो गया। उसने सोलह कारण भावनाओं को भाकर तीर्थंकर नाम कर्म का बंध किया एवं वह दृढ़, दृढ़रथ के साथ-साथ नमस्तिलक पर्वत पर गया और वहाँ दोनों ने शरीर-आहार आदि से ममता भाव को त्याग कर एक महीने के लिए संन्यास धारण किया तथा अन्त समय में प्राणों को त्यागकर वे सर्वार्थसिद्धि नाम विमान में अहमिन्द्र हुए। वहाँ उनका शरीर स्फटिक के समान स्वच्छ और स्फुरायमान प्रभा वाला हुआ। तैंतीस सागर की उनकी आयु हुई। साढ़े सोलह महीने में वे श्वासोच्छ्वास लेते थे और मनचाहा अमृत का आहार करते थे, सो भी तैंतीस हजार वर्ष बीत चुकने पर एक बार। उनके मैथुन-क्रिया स्त्री-संभोग रहित उत्तम सुख था और लोकनाड़ी के भीतर सब जगह अपने योग्य द्रव्य को विषय करने वाला उनके अवधिज्ञान था, जिसके द्वारा वे लोक भर की बातों को जानते थे तथा उनके विहार करने की विक्रिया-शक्ति भी उतनी ही थी। एक हाथ का ऊँचा उनका शरीर था और इस भव के बाद मनुष्य का भव पाकर उसी से वे मोक्ष जाने वाले थे ॥९५-१०१॥

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक कुरुजांगल नामक देश है, उसमें हस्तनापुर नाम का नगर है। वहाँ का राजा विश्वसेन था। वह बड़ा चतुर था, नीति का ज्ञाता था ॥१०२॥

उसकी रानी का नाम था ऐरादेवी। वह बहुत सुन्दरी और सुन्दर नेत्रों वाली थी तथा श्री, ह्री, धृति आदि देवियों से भी उसका पहला नम्बर था। वह रूपलावण्य की एक सीमा ही थी ॥१०३॥

रात का वक्त था और वह शय्या पर सुख की नींद में सोई हुई थी। उस वक्त उसने सोलह स्वप्नों और मुँह में प्रवेश करते हुए एक उन्नत हाथी को देखा। इस समय मेघरथ का जीव जो अहमिंद्र था वह सर्वार्थसिद्धि से चयकर उसके गर्भ में आया। उस दिन भादों वदी सातें थी ॥१०४-१०५॥

उन्निद्रा सा समुन्मुद्रा नेपथ्यार्पितविग्रहा। दत्तदानकरा भासा कल्पवल्लीव जङ्गमा ॥१०६॥
नत्वा नाथं स्वनाथात्तमाना मान्या सुमानिनी। पृष्ट्वा मत्वा सुस्वप्नानां फलानि मुमुदे मुहुः ॥१०७॥
तदा चतुर्विधा बुद्ध्वा नाकेशा नाकिभिः समं। स्वर्गावतारकल्याणं संप्राप्य समवर्तयन् ॥१०८॥
वर्धमाने तदा भ्रूणे वर्धमानमहोदया। दयावती दयांचक्रे दानं सा दीप्तदेहिका ॥१०९॥
मासान्पञ्चदशायातमणिवृष्ट्याप्तपूजना। ज्येष्ठे कृष्णचतुर्दश्यां सासूत सुतमुत्तमम् ॥११०॥
तज्जन्मतो महाशंखभेरीभारातिघण्टिकाः। स्वरा जजृम्भिरे देवसद्मसु जन्मसूचकाः ॥१११॥
प्रीत्या प्रेत्याप्रमाणास्ते सुपर्वाणाः सजिष्णुकाः। मन्दिरात्सुन्दरं देवं गृहीत्वा मन्दरं ययुः ॥११२॥
वृषा वृषार्थी संस्थाप्य जिनं तत्र महाघटैः। संस्नाप्य स्तुतिभिः स्तुत्वा गेहे मात्रे समार्पयत् ॥११३॥
लक्षवर्षसमायुष्कः शान्तीशो यौवनोन्नतः। चत्वारिंशत्सुचापोच्चाचलाङ्गो वरलक्षणः ॥११४॥
अथो दृढरथस्तस्माद्यशस्वत्यां च्युतोऽजनि। विश्वसेनात्सुतश्चक्रायुधो भूरिनरैः स्तुतः ॥११५॥

इसके बाद वह जगी और शय्या से उठी तथा प्रभात की क्रियाओं से निपटकर और वस्त्र-आभूषण वगैरह पहनकर हर्षित होती हुई पतिदेव के पास गई। उस समय उसने बहुत दान किया, जिससे कि उसके हाथों की अपूर्व ही शोभा थी। वह उस वक्त चलती हुई कल्पवेल-सी जान पड़ती थी। स्वामी ने उसे आदर के साथ आधे सिंहासन पर बैठाया और उसका बहुत आदर किया। इसके बाद उस मानिनी रानी ने स्वामी से अपने रात वाले स्वप्नों का फल पूछा ॥१०६-१०७॥

उत्तर में स्वामी ने कहा कि इन स्वप्नों से जान पड़ता है कि तुम्हारे गर्भ से संसार का उद्धारक कोई महात्मा जन्म लेगा। यह सुनकर वह बहुत ही हर्षित हुई। इसके बाद अवधिज्ञान द्वारा भगवान् को गर्भ में आया जान चतुरंग सेना सहित इन्द्रगण आये और प्रभु का स्वर्गावतरण-कल्याण बड़ी भारी धूमधाम के साथ कर अपने-अपने स्थान को चले गये ॥१०८॥

इसके बाद रानी का ज्यों-ज्यों गर्भ वृद्धिंगत होता जाता था त्यों-त्यों उसका प्रभाव बढ़ता जाता था, शरीर दीप्त होता जाता था और वह दया वाली दया और दान में रक्त होती जाती थी। उसकी देवता-गण पन्द्रह महीने से रत्नों की बरसा द्वारा सेवा उपासना कर रहे थे। उस देवी ने जेठ वदी चौदस के दिन उत्तम सुत रत्न को जन्म दिया ॥१०९-११०॥

प्रभु का जन्म होते ही देवों के यहाँ आपसे आप बिना बजाये महाशंख, भेरी सिंहनाद, घंटा आदि बाजों के शब्द हुए, जिनसे उन्हें भगवान् के जन्म की सूचना मिल गई ॥१११॥

खबर पाते ही हर्ष से भरे हुए देवता-गण सहित इन्द्र-गण आये और विश्वसेन महाराज के महल से सुन्दर रूप वाले प्रभु को लेकर सुमेरु पर्वत पर गये। वहाँ धर्म के प्रेमी इन्द्र ने प्रभु को सिंहासन पर विराजमान कर सुवर्ण के कलशों से उनका अभिषेक किया, एवं बड़ी भक्ति से उनकी प्रशंसा-स्तुति की। वहाँ से वापस आकर इन्द्र ने प्रभु को उनकी माता की गोद में दिया॥११२-११३॥

प्रभु की आयु एक लाख वर्ष की थी। उनका नाम शान्तिनाथ था। उनका शरीर चालीस धनुष ऊँचा था, अचल था, उत्तम लक्षणों वाला था तथा यौवन से उन्नत था। इसके बाद दृढ़रथ सर्वार्थसिद्धि से चयकर उसी विश्वसेन राजा की यशस्वती रानी के गर्भ से चक्रायुध नाम पुत्र हुआ ॥११४-११५॥

कुलशीलकलारूपवयःसौभाग्यभूषिताः। तत्पिता कन्यकास्तेन यौवने समयोजयत् ॥११६॥
पितृदत्तमहाराज्यो जिनो रेजे जितार्कभः। कालेन जातश्चक्रेशो जितषट्खण्डभूमिपः ॥११७॥
शस्त्रगेहेऽभवंश्चक्रच्छत्रदण्डासयः पराः। तस्य लक्ष्मीगृहे चर्म चूडारत्नं च काकिणी ॥११८॥
पुरोधोगृहसेनास्थपतयो हास्तिने पुरे। विजयार्धे कनत्कन्यागजाश्वा बोभुवत्यपि ॥११९॥
एवं राज्यं प्रकुर्वाणो दर्पणे दर्पदर्पितः। छायाद्वयं विलोक्यागाद्विरक्तिं रतिमुक्तधीः॥ १२०॥
प्राप्तलौकान्तिकस्तोत्रः कृतदेवाभिषेचनः। नानालङ्कारसंभासी शिबिकासमवस्थितः॥ १२१॥
सहस्राम्रवनावासी शोभनीयशिलास्थितः। पञ्चमुष्टिभिरुल्लुञ्च्य कचाञ्ज्येष्ठस्य तामसे॥ १२२॥
चतुर्दश्यामपराह्णेऽभून्मुनिः षष्ठोपवासभृत्। चक्रायुधादिसद्राजसहस्रैः सह संयमी ॥१२३॥
मनःपर्ययबोधेन पारणे मंदिरं परम्। प्रविष्टाय सुमित्रेण तस्मै ददेऽन्नमुत्तमम् ॥१२४॥

चक्रायुध की बहुत से पुरुष सेवा करते थे। उसकी स्तुति करते थे। इसके बाद विश्वसेन राजा ने कुल, शील, कला, रूप और अवस्था, सौभाग्य आदि से विभूषित बहुत-सी कन्याओं के साथ शान्तिनाथ प्रभु का ब्याह किया और उन्हें राज-पद दे दिया। इस समय प्रभु सूरज की सभा को भी जीतते थे। इसके कुछ काल बाद उनकी आयुधशाला में चक्ररत्न पैदा हुआ, जिसके द्वारा उन्होंने छह खण्डों पर विजय किया, सभी राजाओं को जीत लिया एवं उनके शस्त्रगृह में चक्र, छत्र, दंड, असि और लक्ष्मीगृह में चर्म, चूड़ामणि काकिणी तथा हस्तिनागपुर में पुरोहित, गृहपति, सेनापति, स्थपति तथा विजयार्द्ध में कन्या, हाथी और घोड़ा ये १४ रत्न उत्पन्न हुए ॥११६-११९॥

इस प्रकार की अतुल विभूति को पाकर शान्तिनाथ प्रभु ने बहुत काल तक सुख-चैन से राज किया। एक दिन प्रभु खूब ही अभिमान से भरे हुए, दर्पण में अपना मुँह देख रहे थे। उस वक्त उन्होंने अपनी मूर्ति को पहले किसी और रूप में और फिर बाद में किसी और ही रूप में देखा। तब इसी निमित्त से वे संसार से उदास हो गये और उनका जो विषयों में राग था वह उनसे कोसों दूर भाग गया ॥१२०॥

इतने में स्वर्ग से लौकान्तिक देव आये और उन्होंने प्रभु का स्तोत्र करके अपना नियोग पूरा किया। इसके बाद देवता-गण के साथ-साथ इन्द्र वगैरह आये और प्रभु का अभिषेक कर उन्होंने उन्हें भाँति-भाँति के वस्त्र-आभूषण पहनाये तथा पालकी में बैठा कर वे उन्हें सहस्राभुवन में ले गये और वहाँ एक शिला पर विराजमान किया। इस समय प्रभु ने पंचमुष्टि केशलोंच किया तथा वस्त्र आभूषण वगैरह सब उतार कर, उनसे ममत्व छोड़ वे दिगम्बर हो गये ॥१२१-१२२॥

इस दिन जेठ वदी चौदस थी और दोपहर का समय था। इसी दिन प्रभु के साथ-साथ चक्रायुध आदि हजारों और-और राजाओं ने भी संयम को धारण किया ॥१२३॥

इस समय प्रभु ने दो दिनों के उपवास के बाद आहार लेने की प्रतिज्ञा की। दीक्षा लेते ही प्रभु को मनःपर्ययज्ञान हो गया और वे चार ज्ञान के धारी हो गये। इसके बाद पारणा के लिए वे शिवमन्दिरपुर गये और वहाँ उन्हें सुमित्र राजा ने शुद्ध आहार दिया ॥१२४॥

कदाचित्पूर्वसंप्रोक्तवनमासाद्य भ्रातृभिः। षष्ठोपवासभृत्तस्थौ प्राङ्मुखो ध्यानसन्मुखः ॥१२५॥
षोडशाब्दसुछद्मस्थ्यमुक्तः केवलमाप सः। पौषेऽथ धवले पक्षे दशम्यां च दिनात्यये ॥१२६॥
चक्रायुधादयस्तस्य षट्त्रिंशद्गणपा बभुः। द्विषड्भिश्च सभासभ्यैः समवसृतिसंस्थितैः ॥१२७॥
विजहार महीं रम्यां स सुरासुरसंस्तुतः। मासमात्रावशेषायुः सम्मेदाद्रिं समाश्रितः ॥१२८॥
ज्येष्ठकृष्णचतुर्दश्यां सिद्धिस्थानमगाज्जिनः। चक्रायुधादयो धीरा हत्वा कर्मकदम्बकम् ॥१२९॥
ध्यायन्तस्तद्गुणांस्तूर्णं जग्मुः स्वं स्थानमुत्तमाः। नराश्च तद्गुणासक्ता आसेदुः स्वस्वपत्तनम् ॥१३०॥

इति जिनवरवंशे कौरवेऽभाज्जिनेशः सुरपतिशतसेव्यश्चक्रिचक्रार्च्यपादः।
गुणगणसगुणार्च्यो ध्वस्तकामादिशत्रुः वरविजयसमाटच्चक्ररत्नः सुतीर्थेट् ॥१३१॥

यद्रूपेण मनोहरेण जगतां नाथाः सुमोहं गताः
कीर्तिस्फूर्तिसुमूर्तितूर्तिसदनं यो नीतिविद्यालयः।
शान्तीशो वरनाथचक्रपदवीं प्राप्तो मनोभूपद-
स्तीर्थेशो वरसार्थतीर्थकरणे दक्षः सुपक्षोऽवतात् ॥१३२॥

एक दिन सहस्राभुवन में भाइयों सहित छह उपवासों को एक साथ करने वाले वे प्रभु पूर्व दिशा को मुँह कर ध्यानस्थ हो गये। प्रभु सोलह वर्ष तक छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानी रहे। बाद उन्हें पौष सुदी दसमी के दिन साम के समय केवलज्ञान हो गया ॥१२५-१२६॥

भगवान् के चक्रायुध आदि छत्तीस गणधर हुए। उनके समवसरण में बारह सभायें थीं और वे सब सभ्यों से भरपूर थीं। इसके बाद सुर-असुरों द्वारा सेवित उन प्रभु ने पृथ्वीतल पर विहार किया। जब उनकी एक महीने की आयु शेष रह गई तब वे सम्मेदशिखर पर पहुँचे और जेठ वदी चौदस के दिन सिद्ध-स्थान में जा विराजे तथा चक्रायुध आदि धीर-वीर नौ हजार मुनिगण, कर्मसमूह को नाश कर निर्वाण को प्राप्त हुए ॥१२७-१२९॥

इस वक्त सुर-असुरों ने आकर सबका निर्वाण महोत्सव किया तथा प्रभु के गुणों का स्मरण कर वे सब अपने-अपने स्थान को चले गये एवं वहाँ और-और महापुरुष जो महोत्सव में शामिल हुए थे, वे भी प्रभु के गुणों का स्मरण करते हुए अपने-अपने नगरों को गये ॥१३०॥

इस तरह आदि जिनवर के द्वारा स्थापित कौरव-वंश में इन्द्रों द्वारा पूज्य श्री शान्तिनाथ प्रभु का जन्म हुआ। शान्तिनाथ प्रभु के चरण-कमलों में चक्रवर्ती भी आकर नमस्कार करते हैं। वे गुणों के भण्डार और गुणवालों के द्वारा पूजे जाने वाले हैं, काम आदि शत्रुओं के नाशक और विजय लक्ष्मी के पति हैं, चक्ररत्न के स्वामी हैं, धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर हैं ॥१३१॥

उनके सुन्दर रूप को देखकर जगत् पति भी मोहित हो जाते हैं। वे कीर्ति, स्फूर्ति, सुमूर्ति के सदन हैं, एवं नीति-विद्या के आलय हैं, चक्रवर्ती हैं, कामदेव हैं और उत्तम एवं सार्थ तीर्थ के चलाने के कारण तीर्थंकर हैं। तात्पर्य यह कि वे दक्ष तीन पदवी के धारक हैं तथा जिनका पक्ष सच्चा और हितैषी है। वे शान्ति के स्वामी शान्तिनाथ प्रभु मेरी रक्षा करें ॥१३२॥

शान्तिः शान्तिकरः सुदृष्टिसदनं शान्तिं श्रिताः शान्तिना
सन्तः सारशिवं शिवार्थजनकं तस्मै नमः शान्तये।
शान्तेः सातशतं सुसुप्तिहरणं शान्तेः शुभाः सद्गुणाः
शान्तौ स्वान्तमिदं सृजामि सततं शान्ते सुखं मे सृज ॥१३३॥

इति भट्टारकश्रीशुभचंद्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपालसाहाय्यसापेक्षे श्रीपाण्डवपुराणे महाभारतनाम्नि श्रीशान्तिपुराणव्यावर्णनं नाम पञ्चमं पर्व ॥५॥

शान्तिनाथ प्रभु शान्ति के कर्ता और शान्ति के स्थान हैं। उनके निमित्त से सत्पुरुष शान्ति को पाते हैं। वे मोक्ष के दाता और स्वयं मोक्षमार्ग पर चलने वाले हैं। उनके निमित्त से जीवों को सैकड़ों सुख मिलते हैं, उनके मोह का नाश होता है और उन्हें उत्तम उत्तम गुण प्राप्त होते हैं। उन शान्तिनाथ प्रभु के लिए मेरा नमस्कार है। मैं उन शान्तिनाथ स्वामी को अपने मनोमन्दिर में विराजमान करता हूँ। वे मुझे सुख दें ॥१३३॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में श्री शान्तिनाथपुराण का वर्णन करने वाला पाँचवा पर्व समाप्त हुआ॥५॥

❑ ❑ ❑

षष्ठं पर्व

कुन्थुं कुन्थ्वादिजीवानां कुन्थनान्मुक्तमानसम्। सुपथ्यं भव्यजीवानां वन्दे सत्पथपातिनाम् ॥१॥
अथ शान्तिसुतः श्रीमान्नारायणसमाह्वयः। शान्तिवर्धनसंज्ञस्तु शान्तिचन्द्रस्ततोऽभवत् ॥२॥
चन्द्रचिह्नः कुरुश्चेति कुरुवंशसमुद्भवाः। एवं बहुष्वतीतेषु शूरसेनो नृपोऽभवत् ॥३॥
यस्मिन्राज्यं प्रकुर्वाणेऽभूवन्नानासुनीतयः। ईतयः क्वापि संनष्टा घस्रे तारागणा इव ॥४॥
स शूरः शूरताधीशः शूरसहस्रसंयुतः। सूराभः केवलो यस्य रसोऽभूच्छूरसंश्रितः ॥५॥
यत्प्रतापात्परे भूपा हित्वा पत्तनसज्जनान्। दरीषु दरसंदीप्ताः शेरते शयनातिगाः ॥६॥
श्रीकान्ता कामिनी तस्य श्रीवत्कान्ता गुणाब्धितः। जाता भ्रात्रिन्दुसद्वक्त्रा जगदानन्ददायिनी ॥७॥
तारागणो गुणाकृष्टश्चक्षुस्तारापराजितः। यस्या नखमिषान्नूनं सेवते शिवसिद्धये ॥८॥
यद्वक्त्रचन्द्रमावीक्ष्य पद्मा सद्मातिगा सदा। जलेषु शेरते यस्माद्विरोधश्चन्द्रपद्मयोः ॥९॥

कुंथुनाथ भगवान् को प्रणाम है, जो कुंथु आदि जीवों की रक्षा करने वाले और भव्य-जीवों को उत्तम मार्ग में लगाने वाले है, उनके हितैषी हैं। शान्तिनाथ प्रभु के बाद कुरुवंश में उनका पुत्र श्रीमान् नारायण नाम राजा हुआ। इसके बाद शान्तिवर्द्धन और उसका पुत्र शान्तिचन्द्र नाम राजा हुआ ॥१-२॥

इनके बाद चन्द्रचिह्न और कुरु राजा ने इस वंश को आभारी किया एवं इन राजाओं के बाद इस वंश में और-और बहुत से राजा हुए। इसके बाद सूरसेन नाम एक प्रतापी राजा ने इसकी शोभा बढ़ाई। उसके समय सब जगह नीति से काम लिया जाता था। कहीं भी किसी को ईति-भीति नहीं सताती थी। तात्पर्य यह कि वहाँ ईति-भीति नहीं थी, जैसे दिन में तारा-गण नहीं होते ॥३-४॥

वह शूर था, शूरवीरों का स्वामी था। उसकी हजारों शूरवीर सेवा करते थे। उसके शरीर की आभा सूरज की प्रभा से कम न थी। उसका इतना बढ़ा-चढ़ा पराक्रम था कि बड़े-बड़े शूरवीर भी आकर उसका आश्रय लेते थे। उसके प्रताप से शत्रु राजा अपने-अपने नगरों को छोड़कर वन में जा छिपते थे और वहाँ वे शय्या के बिना ही गुफाओं के अँधेरे में सोते थे ॥५-६॥

उसकी भार्या का नाम था श्रीकान्ता। उसका शरीर लक्ष्मी के शरीर जैसा था। वह लक्ष्मी के साथ तुलना करती थी। लक्ष्मी समुद्र से पैदा हुई है। वह गुणों के समुद्र से पैदा हुई थी। लक्ष्मी का अपने भाई चाँद के समान मुख था। इसका भी चाँद जैसा मुख था। लक्ष्मी सारे संसार को आनंद देती है। यह भी जगत् भर को आनंद देने वाली थी। श्रीकान्ता के नख बड़े सुन्दर थे, जान पड़ता था कि मानों इसके नेत्रों के तारों द्वारा जीते गये और इसके गुणों द्वारा खींचे गये तारा-गण ही हैं और सुखी होने की इच्छा से वे नखों के छल से इसकी सेवा करते हैं ॥७-८॥

इसके मुख-रूपी चन्द्रमा को देखकर कमल बहुत ही लज्जित हुए, अतएव वे छाया आदि के बिना ही जल में रहने लगे तथा जान पड़ता है कि इसी से चन्द्रमा और कमलों में परस्पर विरोध हो गया है। इसके गले में चमकीला और मनोहर हार पड़ा हुआ था, जो कुचों के बीच से लटकता

यद्वक्षोजमहाकुम्भौ सेवते हि निधीच्छया। स्फुरन्मनोहरो हारो नागवन्नागमार्थिनौ ॥१०॥
यत्सेवावधिसंबद्धाः श्र्यादयोऽमरयोषितः। कुर्वन्ति सर्वकार्याणि पुण्यात्किं हि दुरासदम् ॥११॥
धनधाराधरो धीरो धनदो हि यदङ्गणे। जलवद्रत्नधारां च वर्षतीति महाद्भुतम् ॥१२॥
रत्नधाराधरत्वेन वसुधाख्यां गता धरा। यत्र गर्भोत्सवे तत्किं यन्नाभूत्प्रमदावहम् ॥१३॥
सैकदा षोडशस्वप्नान्निशापश्चिमयामके। सुप्ताथ शयनेऽद्राक्षीन्नृपपत्नी नृपालिका ॥१४॥
विदित्वा वाद्यनादेन प्रातः साऽन्तःसुखावहा। कृतनित्यक्रिया स्नात्वा मिलन्मङ्गलमण्डना ॥१५॥
स्वसेवापरसंसक्ता द्योतयन्ती सदोनभः। विद्युल्लतेव चाद्राक्षीद्भूपं जीमूतवत्स्थितम् ॥१६॥
नृपासनार्धमासीना नत्वा तत्पादपङ्कजम्। व्यज्ञासीत्स्वप्नसंघातमघविघ्नौघघातकम् ॥१७॥
विदित्वा तत्फलं भूपोऽवधिवीक्षणतः क्षणात्। क्रमतः क्रमसंभावि फलं तेषामवर्णयत् ॥१८॥
श्रुत्वा वचोंऽशुना स्पृष्टा तत्स्फुरद्वदनाम्बुजा। अब्जिनीवास्त्रसंस्पर्शादतुषच्चोष्णदीधितेः ॥१९॥
श्रावणे बहुले पक्षे दशम्यां संदधे च्युतम्। सर्वार्थसिद्धितो देवं देवीगर्भे सुशोधिते ॥२०॥

था। जान पड़ता था कि जैसे पूर्व भव के रागभाव के कारण निधि की इच्छा से साँप धन के खजाने पर बैठ जाता है उसी तरह से यह हार भी निधि-शोभा की इच्छा से इन कुचरूपी महान् कुंभों की सेवा करता है। श्री आदि देवियाँ हमेशा ही श्रीकान्ता की सेवा में उपस्थित रहा करती थीं और उसके सभी काम-काज करती थीं। सच है कि पुण्य के योग से कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रह जाती। अचम्भे की बात तो यह है कि धीर-वीर और धन का मेघ-कुबेर उसके आँगन में जल की तरह रत्नों की बरसा करता था। उस समय रत्नों की बरसा से सारी पृथ्वी में धन-ही-धन हो गया था। कहीं भी कोई दरिद्री न था और पृथ्वी का वसुधा नाम सफल हो गया था। प्रभु के गर्भोत्सव के समय ऐसा कोई भी काम न हुआ जो जीवों को प्रमोद का देने वाला न हो ॥९-१३॥

एक दिन श्रीकान्ता सुख की नींद में सोई हुई थी। रात का पिछला पहर था। उस समय उस देवी ने सोलह स्वप्नों को देखा। मनुष्यों को पालने-पोषने वाली वह सबेरे भाँति-भाँति के बाजों की आवाज को सुनकर सेज से उठी। इस समय उसके हृदय में बड़ा हर्ष हो रहा था। उसने प्रभात की नित्य क्रियाएँ कीं, स्नान किया तथा वस्त्र, मंगल-रूप आभूषण आदि पहने और सभा में पहुँची। उस समय सभा ऐसी शोभने लगी जैसा कि बिजली से आकाश सुशोभित होता है ॥१४-१६॥

वहाँ वह राजा को नमस्कार कर आधे सिंहासन पर जाकर बैठ गई और विघ्न-बाधाओं को हरने वाले उन स्वप्नों को उसने जैसा का तैसा राजा से कह दिया] उन्हें सुनकर राजा ने अवधिज्ञान द्वारा उनका फल जान लिया और क्रम से होने वाले उनके फल को रानी से कह दिया ॥१७-१८॥

उस समय राजा के वचन-रूप किरणों के स्पर्श से रानी का मुख-कमल खिल उठा, जिस तरह सूरज की किरणों के संसर्ग से कमल खिल जाते हैं। इसके बाद सावन वदी दसमी के दिन रानी ने सर्वार्थसिद्धि से चयकर आये हुए एक देव को देवियों द्वारा शोधे हुए अपने गर्भ में धारण किया ॥१९-२०॥

बिडौजा जडतामुक्तो ज्ञात्वा तद्गर्भसंभवम्। समाट्य घटनानिष्ठस्तत्कल्याणं तदाकरोत् ॥२१॥
सा मुक्ताफलवद्गर्भं शुक्तिकेव समुज्वला। दधती धाम संदीप्ता द्योतते स्म स्मयावहा ॥२२॥
दीप्तदेवीगणैः सेव्या सेव्यार्थफलदायिनी। प्रश्निता गूढकाव्याद्यै रेजे सा रत्नखानिवत् ॥२३॥
सारः कः संसृतौ देवि सुखं किं चाभिधीयते। शर्माशर्मकरं किं हि वदाद्याक्षरतः पृथक् ॥२४॥
यतो जना घना नित्यं जंजन्यन्ते भवावनौ। ततोऽद्य गर्भभावेन तद्धि दुःखकरं नृणाम् ॥२५॥
सुर्यात्का जायते लोके का स्थिता विदुषां मुखे। अर्जुनः कीदृशः का स्याद्गङ्गा भागीरथीति च ॥२६॥
एवं प्रश्नोत्तरेऽसूत सा सुतं प्राग्यथा रविम्। नवमे मासि वैशाखे शुक्लपक्षादिमे दिने ॥२७॥
मेघवाहनमुख्यास्ते समागत्य सुरासुराः। नयन्ति स्म जिनं मेरुमूर्धानं चोर्ध्वगामिनः ॥२८॥
पीठे संस्थाप्य संपठ्य सत्पाठं पठनोद्यताः। क्षीराब्धिवारिभिर्देवा अभ्यषिञ्चञ्जिनोत्तमम् ॥२९॥
संज्ञया कुन्थुमाज्ञाय समानीय पुरे सुराः। पित्रोः समर्पयामासुर्मघवप्रमुखाः सुराः ॥३०॥

प्रभु के गर्भ-समय को जानकर देवताओं-सहित ज्ञानी इन्द्र आया और उसने गर्भोत्सव की खूब ही धूम मचाई-चहल-पहल की। मुक्ताफल को धारण करने वाली निर्मल सीप की तरह श्रीकान्ता प्रभु को गर्भ में लिये हुए बड़ी शोभा पाती थी। उस समय उसका शरीर तेज-मय हो गया था परन्तु उसको गर्व रंचमात्र भी न थी। सुन्दरी देवांगनाएँ उसकी हमेशा सेवा करती थीं और वह सेवा के फल को देती थी अर्थात् उसकी सेवा से उन्हें स्वयमेव ही फल मिलता था ॥२१-२३॥

देवियाँ उससे काव्यों का गूढ़ गूढ़ अर्थ पूछती थीं कि देवी! संसार में सार क्या है? सुख किसे कहते हैं ? और जीवों को सुख-दुख देने वाला कौन है? एक बात यह है कि इन प्रश्नों के ऐसे उत्तर बताइये, जिनका कि पहला अक्षर ही भिन्न-भिन्न हो और सब अक्षर एक ही हों। रानी ने उत्तर दिया कि संसार में धर्म सार है। शर्म-कल्याण को सुख कहते हैं और अपने शुभ-अशुभ भावों से इकट्ठे किये हुए पुण्य-पाप कर्म ही जीवों को सुख-दुख देते हैं। कर्म के निमित्त से वे बंधते और जन्म लेते है। कर्म के बड़े संकट को सहते हैं एवं कर्म के निमित्त से ही जीवों को सांसारिक सुख होता है। इसके बाद फिर भी देवियों ने पूछा कि देवी! सूर्य से क्या उत्पन्न होता है? विद्वानों के मुँह में क्या रहता है? अर्जुन किसे कहते हैं ? और गंगा किसे कहते हैं? रानी ने उत्तर में कहा भागीरथी। तात्पर्य यह कि सूरज से भा-आभा उत्पन्न होती है। विद्वानों के मुँह में गी-वाणी-सरस्वती रहती है। अर्जुन रथी को कहते हैं और गंगा भागीरथी को कहते हैं ॥२४-२६॥

इस तरह प्रभु की माता का दिल बहलाने के लिए देवियाँ प्रश्न करती थीं और माता उत्तर देती थी। इसके बाद जब नौ महीना पूरे हो गये तब उस देवी ने वैशाख सुदी पड़वा के दिन पुत्ररत्न को जन्म दिया, जिस भाँति पूरब दिशा सूरज को जन्म देती है। प्रभु का जन्म जानकर इसी समय स्वर्ग से इन्द्र आदि देवता-गण आये और वे आकाशगामी प्रभु को सुमेरु पर्वत की शिखर पर ले गये ॥२७-२८॥

वहाँ उन्हें सिंहासन पर विराजमान कर और भाँति-भाँति के उत्तम पाठों को पढ़कर उनकी स्तुति की और क्षीरसागर का जल लाकर उनका अभिषेक किया। उनका कुंथुनाथ नाम रखा। इसके बाद वे उन्हें वापस नगर को ले आये और उनके माता-पिता को सौंप दिया ॥२९-३०॥

यौवने वर्धमानः स वर्धमानगुणोदयः। पञ्चत्रिंशद्धनुःकायो निष्टप्ताष्टापदद्युतिः ॥३१॥
स्फुरत्पञ्चसहस्रोनलक्षसंवत्सरस्थितिः। प्राप्तराज्यपदो भोगान्भुञ्जन् भद्रभरावहः ॥३२॥
चक्रलक्ष्मीं समासाद्य समभूच्चक्रलाञ्छनः। स्मृतपूर्वभवज्ञानो व्यरंसीद्भवतः स च ॥३३॥
ज्ञात्वा लौकान्तिका देवास्तादृशं तं स्तवस्तवैः। स्तुत्वा दीक्षोद्यतं नत्वा समगुः पञ्चमीं दिवम् ॥३४॥
पुत्रे नियुक्तराज्योऽसौ विजयाशिबिकां श्रितः। देवेन्द्रैः सह संप्रापत्सहेतुकवनं वरम् ॥३५॥
जन्मनो दिवसे षष्ठोपवासी तत्र भूमिपैः। सहस्रैर्लुञ्चनोद्युक्तैरयासीत्संयमं विभुः ॥३६॥
तत्पुरे धर्ममित्राख्यः पारणाह्नि ददौ मुदा। तस्मै च पायसं सोऽतः प्रापदाश्चर्यपञ्चकम् ॥३७॥
नीत्वा षोडश वर्षाणि छाद्मस्थ्येन सहेतुके। वने षष्ठोपवासी स तिलकद्रुममूलगः ॥३८॥
चैत्रज्योत्स्नापराह्णे च तृतीयायां समुद्यमी। घातिकर्मक्षयं कृत्वा कैवल्यमुदपादयत् ॥३९॥
सुरासुरनरैः पूज्यः समवसृतिसंस्थितः। स्वयंभ्वाद्यैर्गणेशैश्च पञ्चत्रिंशद्भिरीडितः ॥४०॥
सुपूर्वसंविदः सप्तशतान्यस्य यतीश्वराः। शिष्याः शतैकपञ्चाशत्त्रिपञ्चाशत्सहस्रकाः ॥४१॥

क्रम-क्रम से बढ़कर प्रभु ने यौवन-अवस्था में पैर रक्खा। इस समय प्रभु के सभी गुण वृद्धिंगत थे। उनके शरीर की ऊँचाई पैंतीस धनुष थी। उनकी कान्ति तपाये हुए सोने सरीखी थी। प्रभु की आयु पाँच हजार वर्ष कम एक लाख वर्ष की थी। कुछ काल बाद प्रभु का राज्याभिषेक हुआ और नीति से प्रजा-पालन करते हुए वे राज-सुख भोगने लगे ॥३१-३२॥

इसके बाद उनकी आयुधशाला में चक्र रत्न की उत्पत्ति हुई, जिसको पाकर वे छहों खण्ड के राजा चक्रवर्ती हो गये। एक दिन उन्हें अपने पिछले भव की याद हो आई और वे संसार से विरक्त हो गये। यह जान पाँचवें ब्रह्मस्वर्ग से लौकान्तिक देव आये और संसार से उदास-चित्त प्रभु की उन्होंने स्तुति की। इसके बाद प्रभु को दीक्षा लेने को तैयार देख वे प्रभु की स्तुति पूजा कर अपने स्थान को चले गये ॥३३-३४॥

इसके बाद प्रभु अपने पुत्र को राज-पाट संभला कर विजया नाम पालकी में सवार हो देवेन्द्रों के साथ-साथ सहेतुक वन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने केशलोंच कर हजारों राजाओं के साथ-साथ संयम को धारण किया और उसी दिन से उन्होंने छह दिन के बाद आहार लेने की हमेशा के लिए प्रतिज्ञा की ॥३५-३६॥

वहीं हस्तिनागपुर में धर्ममित्र नाम एक श्रावक रहता था। उसने पारणा के दिन प्रभु को खीर का आहार दिया, जिससे उसके घर पाँच अचम्भे की बातें हुई एवं प्रभु सहेतुक वन में सोलह वर्ष छद्मस्थ-अवस्था में रहे। बाद तिलक वृक्ष के नीचे बैठे हुए उन उद्यमशील प्रभु ने घातिकर्मों का नाशकर चैत सुदी तीज के दिन शाम के समय केवल-ज्ञान लाभ किया ॥३७-३९॥

इस समय कुबेर ने आकर प्रभु के समवसरण की रचना की और सुर-असुर तथा मनुष्य गण आ-आकर उनकी वन्दना-स्तुति करने लगे। प्रभु की सेवा में स्वयम्भू आदि पैंतीस गणधर उपस्थित थे। उनके समवसरण में सात सौ यतीश्वर और तिरेपन हजार एक सौ पचास शिष्य थे ॥४०-४१॥

तृतीयावगमास्तस्य पञ्चवर्गशतानि वै। त्रयस्त्रिंशच्छतं तस्य केवलाः केवलेक्षणाः ॥४२॥
विक्रियर्द्धिसमृध्द्याढ्याः खद्वयैकेन्द्रियोक्तयः। चतुर्थज्ञानिनोऽभूवन्खनभस्त्रित्रिसंख्यकाः ॥४३॥
वादिनो वादजेतारः पञ्चाशत्द्विसहस्त्रकाः। सर्वे षष्टिसहस्त्राणि तस्याभूवन्यतीश्वराः ॥४४॥
खपञ्चाग्निनभाःषट्कभाविन्याद्यार्यिकाः शुभाः। लक्षद्वयं च श्राद्धानां द्विलक्षाः श्राविका मताः ॥४५॥
असंख्या देवदेव्यस्तु तिर्यञ्चः संख्ययान्विताः। एवं संघेन देवेशो विजहाराखिलां क्षितिम् ॥४६॥
मासमुक्तक्रियः प्राप सम्मेदाद्रिं सहस्त्रकैः। मुनिभिः समगान्मुक्तिं क्षीणकर्मा यतीश्वरः ॥४७॥
वैशाखे शुक्लपक्षस्यादिमे घस्त्रे जिने गते। सिद्धिं ज्ञात्वा जिनं सिद्धमापुरुत्कण्ठिताः सुराः ॥४८॥
कुर्वाणास्ते सुनिर्वाणपूजां गीर्वाणनायकाः। नामं नाममगुः स्वर्गं स्तावं स्तावं गुणान्विभोः ॥४९॥

आसीद्यः प्राग्विदेहे नृपमुकुटतटीघृष्टषादारविन्दो
दक्षो वै सिंहपूर्वो रथ इति नृपतिः सिद्धसर्वार्थसिद्धिः।
कुन्थुः कुन्थ्वाख्यजीवप्रमुखसुखदयादायको नायकस्तात्
चक्री तीर्थंकरोऽसौ वरगुणमतये कामदेवो वरो वः ॥५०॥

दो हजार पाँच सौ अवधि-ज्ञानी और तैंतीस हजार केवलज्ञानी थे। पाँच हजार एक सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक और मनःपर्यय ज्ञानी तैंतीस सौ थे एवं वाद-विजेता वादी दो हजार पचास थे। सब मिला कर कुल साठ हजार यतीश्वर थे तथा ६० हजार तीन सौ पचास आर्यिकाएँ थीं। दो लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं ॥४२-४५॥

इसी तरह असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यंच थे। इस प्रकार संघ-सहित प्रभु ने सब पृथ्वीतल पर विहार किया। अन्त में विहार करते-करते वे हजारों मुनियों सहित सम्मेदाचल पर पहुँचे। वहाँ प्रभु ने एक महीने तक योगनिरोध किया और सम्पूर्ण शेष कर्मों को नाश कर वे मोक्ष-स्थान को चले गये। प्रभु के साथ-साथ और-और बहुत से मुनि भी मोक्ष-अवस्था को प्राप्त हुए ॥४६-४७॥

उस दिन वैशाख सुदी पड़वा थी। प्रभु का निर्वाण जान उत्कंठित हुए बहुत से देव आये। उन्होंने प्रभु का खूब निर्वाण-महोत्सव मनाया और प्रभु को नमस्कार किया। इसके बाद प्रभु के गुणों को स्मरण करते हुए इन्द्र आदि सभी देवता-गण वहाँ से स्वर्ग को चले गये ॥४८-४९॥

जो पहले, पूर्व विदेह में राजाओं के मुकुटों के तट से स्पर्शित हैं चरणकमल जिसके ऐसा वैभवशाली सिंहरथ नाम राजा था और वहाँ से फिर सर्वार्थसिद्धि को गया एवं सर्वार्थसिद्धि विमान से चयकर जो कुंथु आदि जीवों की दया के पालक और उनको सुख देने वाले कुंथुनाथ प्रभु हुए। कुंथुनाथ प्रभु चक्रवर्ती, तीर्थंकर और कामदेव इन तीन पदों के धारक हुए वे हमें उत्तम-उत्तम गुणों का दान दें और हमारी पुष्टि करें ॥५०॥

जो पाप-रूपी वैरियों पर विजय-लाभ करने वाले हैं, कामदेव को मथ कर चकनाचूर करने वाले हैं, एवं जो पृथ्वीतल पर धर्म का प्रचार करने वाले और तीन लोक द्वारा पूजे जाने वाले हैं, वे

पुष्यत्पापारिकुन्थुर्वरमथनमितो मीनकेतोः सुकेतो
धर्ता धर्मे धरित्रीं त्रिभुवनमहितः कुन्थुनाथः सुनाथः।
कुन्थ्वादीनां दयाढ्यो वरपथपथिकस्तीर्थराट् चक्रराजः
शुम्भत्सौभाग्यभर्ता भववनदहनः पातु पापात्स युष्मान् ॥५१॥

इति भट्टारकश्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपालसाहाय्यसापेक्षे श्रीपाण्डवपुराणे महा भारत-नाम्नि श्रीकुन्थुनाथपुराणप्ररूपणं नाम षष्ठं पर्व ॥६॥

कुंथुनाथ भगवान् तुम्हारी रक्षा करें। जो कुंथु आदि जीवों की दया से भरपूर है, उत्तम मार्ग के पथिक और तीर्थंकर हैं, चक्रवर्ती हैं और पुण्य के भण्डार को भरने वाले हैं तथा संसार-रूप वन को जला देने वाले हैं वे प्रभु सबको सुख दें ॥५१॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में श्री कुन्थुनाथ तीर्थंकर के पुराण का वर्णन करने वाला छटवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥६॥

❑ ❑ ❑

सप्तमं पर्व

अरं विजितकर्मारिं सारचक्रेशचर्चितम्। सारं सर्वगुणाधारं नौमि तीर्थकरं वरम् ॥१॥
एवं भूपेष्वतीतेषु तत्र राजा सुदर्शनः। सुदर्शनः प्रिया तस्य मित्रसेनाभवत्सती ॥२॥
वसुधारादिभिर्मान्या दृष्टषोडशस्वप्निका। फाल्गुने सा तृतीयायां सिते गर्भं दधे शुभम् ॥३॥
स्वर्गावतारकल्याणं सुपर्वाणश्चतुर्विधाः। कुर्वाणाः परमोत्साहं नत्वा तत्पितरौ ययुः ॥४॥
अदभ्रभ्रूणसंभारा भारत्यक्ता नृपप्रिया। मार्गशीर्षे सितेऽसूत चतुर्दश्यां सुतं परम् ॥५॥
त्रिविधावगमोद्भासी जिनः संस्नापितः सुरैः। मेरौ प्राप्तारसन्नामा संप्राप्तो यौवनं क्रमात् ॥६॥
त्रिंशच्चापतनूत्सेधश्चारुचामीकरद्युतिः। चतुर्भिरधिकाशीतिसहस्राब्दायुरूर्जितः ॥७॥
स कन्यानां सहस्रैश्च पाणिपीडनमाप्तवान्। प्राप्तराज्योदयो धीमान् सुरकोटिनमस्कृतः ॥८॥
चक्ररत्ने समुत्पन्ने चक्रे चक्रेश्वरो नतान्। नृपतीन् ननु द्वात्रिंशत्सहस्रसंख्यकान्कृती ॥९॥
अष्टादशसुकोटीनां घोटकानां घटाश्रितः। चतुर्भिरधिकाशीतिसुलक्षानेकपाधिपः ॥१०॥

मैं उन अर जिन को नमस्कार करता हूँ जो कर्म-शत्रुओं पर विजय-लाभ करने वाले हैं, चक्रवर्ती आदि जिन की पूजा करते हैं, जो सभी गुणों के आधार और सार है तथा जो तीर्थंकर हैं सारे संसार से उत्कृष्ट हैं ॥१॥

इस तरह और-और बहुत से राजाओं के हो चुकने पर कुरुवंश में एक सुन्दराकृति सुदर्शन नाम राजा हुआ। उसकी प्रिया का नाम था मित्रसेना। वह सती थी। श्री आदि देवियाँ उसकी सेवा करती थीं। उसके निमित्त से पृथ्वी पर धन की धारा पड़ती थी ॥२॥

एक दिन उसने सोलह स्वप्नों को देखा और फाल्गुन सुदी तीज के दिन गर्भ को धारण किया। उसका गर्भ संसार के लिए शुभ था, कल्याण का दाता था। उसी समय प्रभु का स्वर्गावतरण कल्याणक करने को चार निकाय के देवता-गण आये। परम उत्साह से उन्होंने उत्सव किया ॥३-४॥

इसके बाद प्रभु के माता-पिता को नमस्कार कर वे स्वर्ग-स्थान को चले गये। यद्यपि उस निर्मल गर्भ का बहुत भार था तो भी मित्रसेना को यह भार कुछ भी न जान पड़ता था। इसके बाद गर्भ के दिन पूरे हो जाने पर अगहन सुदी चौदस के दिन उसने पुत्ररत्न को जन्म दिया ॥५॥

जन्म से ही प्रभु तीन ज्ञान के धारक थे। वे तीर्थंकर थे। इसी समय स्वर्ग से इन्द्र आदि देवता-गण आये और प्रभु को सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहाँ उन्होंने प्रभु को सुवर्ण के कलशों से स्नान कराया और उनका अर नाम रखा। क्रम-क्रम से कुछ काल बाद प्रभु युवा-अवस्था को प्राप्त हुए। उनका शरीर तीस धनुष ऊँचा था, तपाये हुए सोने की सी कान्ति वाला था। उनकी आयु चौरासी हजार वर्ष की थी। प्रभु का हजारों कन्यायों के साथ ब्याह हुआ। इसके कुछ काल बाद वे राजा हुए। देवता-गण हमेशा आ-आकर नमस्कार करते थे ॥६-८॥

कुछ समय बाद उनकी आयुधशाला में चक्र-रत्न उत्पन्न हुआ, जिसके द्वारा अर जिन ने बत्तीस हजार राजाओं को अपने अधीन किया, उन्हें नमाया। वे अर चक्रवर्ती पुण्यात्मा और कृतकृत्य थे।

तावतां रथवृन्दानां पप्रथे नाथतां पृथुम्। द्वात्रिंशतां सहस्त्राणां देशानां प्रभूतामितः ॥११॥
षण्णवतिसहस्त्राणां नारीणां भोगभोजकः। द्वासप्ततिसहस्त्राणि पुराणि पाति पावनः ॥१२॥
नवाग्रनवतिद्रोणसहस्त्रप्रभुतां गतः। पत्तनान्यष्टचत्वारिंशत्सहस्त्राणि चास्य वै ॥१३॥
खेटानां च सहस्त्राणि षोडशैवाभवन्विभोः। कोटिषण्णवतिग्रामाग्रण्यं स गतवान्महान् ॥१४॥
षट्पञ्चाशत्समुद्रान्तर्द्वीपपालनतत्परः। चतुर्दशसहस्त्राणां वाहनानां हि रक्षकः ॥१५॥
द्वात्रिंशत्सुसहस्त्राणां नाटकानां निरीक्षकः। स्थालीनां कोटिसंख्यानां भाजनानां च भाजनम् ॥१६॥
त्रिकोटिगोकुलैः कोटिहलैः सोऽभूत्परिग्रही। कुक्षिवासाः शतान्यस्य सप्ताभूवन्नरेशितुः ॥१७॥
घना दुर्गाटवी तस्य सहस्त्राण्यष्टसप्ततिः। अष्टादशसहस्त्रोक्तम्लेच्छराजनतस्य च ॥१८॥
निधयो नव तस्यासन् रत्नानि च चतुर्दश। चक्रिणश्चरणत्राणे पादुके विषमोचिके ॥१९॥
अभेद्याख्यं तनुत्राणं रथश्चास्याजितंजयः। वज्रकाण्डं धनुः प्रोक्तममोघाख्याः शराः स्मृताः ॥२०॥
शक्तिस्तु वज्रतुण्डाख्या कुन्तः सिंहाटको मतः। असिरत्नं सुनन्दाख्यं खेटं भूतमुखं मतम् ॥२१॥
चक्रं सुदर्शनं चण्डवेगो दण्डः सुदण्डकृत्। वज्रमयं चर्मरत्नं चिंतामणिस्तु काकिणी ॥२२॥
पवनंजयनामाश्वो हस्ती विजयपर्वतः। आनन्दिन्यो महाभेर्यो द्वादशेति जिनेशितुः ॥२३॥
तावन्तस्तस्य विजयघोषाख्याः पटहा मताः। एवमृद्ध्या समृद्धः स व्यरंसीत्तु कदाचन ॥२४॥
अरविन्दकुमाराय दत्त्वा राज्यं स्वसूनवे। लौकान्तिकसुरोद्दिष्टपथः सत्पथदेशकः ॥२५॥

उनके यह अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी लाख हाथी तथा चौरासी लाख ही रथ थे। वे इतनी विभूति के स्वामी थे। इसके सिवा वे बत्तीस हजार देशों के स्वामी थे ॥९-११॥

छियानवें हजार स्त्रियों के भोक्ता थे, बहत्तर हजार पुरों के रक्षक थे एवं निन्यानवें हजार द्रोण और अड़तालीस हजार पत्तनों के वे मालिक थे। उन प्रभु के सोलह हजार खेट और छियानवें हजार गाँव थे एवं वे चौदह हजार वाहनों और समुद्रपर्यन्त द्वीपों का पालन करते थे ॥१२-१५॥

वे बत्तीस हजार नाटकों को देखते थे। उनके यहाँ एक करोड़ थालियाँ, तीन करोड़ गायें और एक करोड़ हल थे। सात सौ कुक्षिवास और अठत्तर सौ अटवी-दुर्ग थे। उनको अठारह हजार म्लेच्छ राजा नमस्कार करते थे। उनके यहाँ नौ निधियाँ और चौदह रत्न थे। उनके चरणों की रक्षा करने वाली उनके यहाँ दो खड़ाउएँ थीं जो विष-विकार को दूर करती थीं। चक्रवर्ती का अभेद्य नाम कवच और अजितंजय नाम रथ था। वज्रकांड नाम धनुष और अमोघ नाम शर थे ॥१६-२०॥

उनके वज्रतुंडा नाम शक्ति और सिंहाटक नाम भाला था। सुनंदा नाम तलवार और भूतमुख नाम खेट-ढाल थी। सुदर्शन नाम चक्र और चंडवेग नाम दंड था, जो दुष्ट प्रजा को दंड देता था। वज्रमयी चर्मरत्न, चिंतामणि और काकिणी रत्न थे। पवनंजय नाम घोड़ा और विजय-पर्वत नाम हाथी था एवं उनके यहाँ आनंद देने वाली बारह भेरियाँ थीं और बारह विजयघोष नाम नगाड़े थे। इस प्रकार की ऋद्धि वाले प्रभु एक दिन किसी वैराग्य के निमित्त को पाकर विरक्त हो गये और उन्होंने अरविंदकुमार को सारा राज-पाट सौंप दिया। इसी समय अपना नियोग पूरा करने को लौकान्तिक देव आये और उन्होंने प्रभु के आगे मार्ग का निर्देश किया ॥२१-२५॥

वैजयन्त्याख्यशिबिकां प्राप्य त्रिदशवेष्टितः। सहेतुकवने वन्यवृत्तिः षष्ठोपवासभृत् ॥२६॥
दशम्यां मार्गशीर्षस्य शुक्ले सहस्रभूमिपैः। प्राव्राजीद्राजतः पूज्यो देवानामरदेवराट् ॥२७॥
चतुर्बुद्धिधरो धीमान्पारणाह्न्यपराजितात्। नृपाच्चक्रपुरे प्राप पारणं परमोद्यतः ॥२८॥
संवाह्य षोडशाब्द्न्स छाद्मस्थ्येन सुछद्मगः। जघान घातिसंघातं व्यघो विघ्नघ्न इत्यरः ॥२९॥
कार्तिके द्वादशीघस्रे सिते चूततरोरधः। षष्ठोपवासतो बोधं पञ्चमं स समासदत् ॥३०॥
तदा सुरासुराश्चक्रुः सेवां ज्ञानोद्गमे वराः। समवसृतिसंस्थस्य जिनारस्यारिघातिनः ॥३१॥
चैत्रकृष्णान्तघस्त्रे स सम्मेदे मासमात्रकम्। मुक्तक्रियः सहस्त्रेण मुनीनां मुक्तिमाप्तवान् ॥३२॥
निर्वाणं च प्रकुर्वाणाः सुपर्वाणः सुरावगाः। कल्याणं कल्पनामुक्ता मुमुचुस्तस्य पाप्मनः ॥३३॥

जीयाञ्जिनारो विगतारिवारः सुरेन्द्रवृन्दारकवन्द्यपादः।
किरन्कलारः सुसभाजनेशो वृषं वृषात्मा वृषभो गरिष्ठः ॥३४॥
योऽभूद् भूपोऽद्भूतात्मा धनपतिशुभवाक् प्राङ्मुनीनां पतिश्च
पश्चाज्ज्यायाञ्जितात्मा जयजितविधुरः संजयन्ते विमाने।

इसके बाद सच्चे मार्ग को बताने वाले वे प्रभु वैजयन्ती नाम पालकी में सवार हो देवता-गण के साथ-साथ सहेतुक वन में गये। वहाँ उन्होंने वन्यवृत्ति अर्थात् दिगम्बर मुद्रा धारण की। तात्पर्य यह कि अगहन सुदी दसमी के दिन हजारों राजाओं-सहित वे देवताओं द्वारा सेवित और इंद्र के स्वामी प्रभु दीक्षित हो गये और उन्होंने छह उपवासों के बाद आहार लेने की प्रतिज्ञा की ॥२६-२७॥

बाद चार ज्ञान के धारक उन बुद्धिमान् स्वामी ने पारणा के दिन चक्रपुर में अपराजित राजा के यहाँ पारणा किया। प्रभु ने सोलह वर्ष छद्मस्थावस्था में बिताये। बाद घाति कर्मों को घातकर निष्पाप और विघ्नबाधा से रहित वे प्रभु, आम के वृक्ष के नीचे बैठे हुए कार्तिक सुदी बारस के दिन षष्ठोपवास के प्रभाव से केवलज्ञानी हुए ॥२८-३०॥

उस समय सुर-असुर सभी आये और उन्होंने भगवान् के पंचम ज्ञान की पूजा की और घातिकर्मों के अरि-वैरी अर जिन का समवसरण रचा। इसके बाद सम्मेदशिखर पर योगनिरोध कर हजारों मुनियों-सहित वे चैत वदी अमावस के दिन मोक्ष-महल में जा विराजे। इस समय देवता-गण आये और उन्होंने मीठे-मीठे शब्दों द्वारा प्रभु का गुण-गान किया और विकल्प जालों को छोड़कर निर्द्वंद्व हो उनका निर्वाण महोत्सव मनाया-जिससे उनकी आत्मा पवित्र हो गई, उनका पाप-मल हल्का हो गया ॥३१-३३॥

उन अर जिन की जय हो जो वैरियों के समूह को जीतने वाले है, जिनके चरण-कमलों की सुरेन्द्रों के समूह भी पूजा करते हैं, जो सब विद्याओं के भण्डार हैं, जो भव्य जीवों को धर्म का उपदेश करते है और जी धर्म-मय और धर्म से सुशोभित परमात्मा हैं। जो महात्मा पहले धनपति नाम राजा थे वह बाद मुनियों में श्रेष्ठ मुनीश्वर हुए और आत्म-संयम तथा शत्रुओं पर विजय पाने के प्रभाव से संजयंत विमान में देवतों के अधिपति अहमिन्द्र हुए। वहाँ से चयकर भरतक्षेत्र में धर्मात्माओं के पति धर्मराज-तीर्थंकर हुए! अर जिन तीर्थंकर, सम्पूर्ण मनुष्यों के स्वामी चक्रवर्ती और कामदेव थे।

देवानामाधिपत्यं गत इह सुपतिर्धर्मिणां धर्मराजः
सोऽव्याद्युष्माञ्जिनेन्द्रो निखिलनरपतिः कामदेवो वरारः ॥३५॥
अरनाथसुतः श्रीमानरविन्दो नृपो मतः। सुचारश्च ततः शूरो भूपः पद्मरथो रथी ॥३६॥
ततो मेघरथस्तस्य जाया पद्मावती श्रुता। विष्णुपद्मरथौ पुत्रौ तयोरास्तां महाबलौ ॥३७॥
व्यघो मेघरथो धीमान्प्राव्राजीद्विष्णुना सह। पश्चात्पद्मरथो राज्यमलंचक्रे कृपाङ्कुरः ॥३८॥
अवन्तीविषये रम्योज्जयिन्यां भूपतिर्महान्। श्रीवर्मा मंत्रिणस्तस्य चत्वारः प्रथमो बली ॥३९॥
बृहस्पतिश्च प्रह्लादो नमुचिर्वादकोविदाः। वाडवा वादकण्डूयाविडम्बितमनोरथाः ॥४०॥
एकदाकम्पनस्तत्रागत्य संघैः स्थितो वने। वादे निवारितास्तेन भाविज्ञानेन सद्रुचा ॥४१॥
तद्वन्दनार्थं गच्छन्तं संघं वीक्ष्य नृपो जगौ। किमर्थं याति लोकोऽयं वन्दनार्थं मुनेरिति ॥४२॥
मन्त्रिभिर्भूपतिर्भक्त्या वन्दितुं तान् गतस्तदा। वन्दितैस्तैर्नरेन्द्रेण नाशीर्दत्ता शुभप्रदा ॥४३॥

तात्पर्य यह कि वे तीर्थंकर, चक्रवर्ती और कामदेव इन तीन पदों के धारक थे। वे तुम्हारी रक्षा करें ॥३४-३५॥

अरनाथ प्रभु के बाद अरविंद नाम उनका पुत्र राजा हुआ। उसके बाद शूर, पद्मरथ और रथी राज-पाट के भोक्ता राजा हुए। रथी के बाद उसका मेघरथ नाम पुत्र राजा हुआ। उसकी प्रिया का नाम पद्मावती था। पद्मावती के गर्भ से विष्णु और पद्मरथ नाम दो पुत्र उत्पन्न हुए। वे दोनों महान् बली थे। एक समय निष्पाप और बुद्धिमान् मेघरथ राजा किसी निमित्त को पाकर विष्णु नाम पुत्र-सहित दिगम्बर हो गया। उसके पीछे दयालु पद्मरथ कुरुजांगल देश के हस्तिनागपुर का राजा हुआ, उसने हस्तिनागपुर के राज-सिंहासन को अलंकृत किया ॥३६-३८॥

इसी समय अवन्ती देश में उज्जैनी नगरी का श्रीवर्मा नाम राजा था और उसके चार मंत्री थे। उनके नाम क्रम से बलि, बृहस्पति, मल्हाद और नमुचि थे। वे वाद-विवाद करने में बहुत कुशल थे। उनकी जाति वाड़व थी। वाद की इच्छा से उनका दिल हमेशा ही डावाडोल रहा करता था ॥३९-४०॥

एक दिन उज्जैनी में अकंपन-आचार्य आये। उनके साथ और सौ मुनि थे। वे सब वहाँ आकर वन में ठहरे। भविष्य के ज्ञाता अकंपन मुनि ने उसी वक्त सब मुनियों को वादविवाद करने के लिए मनाकर दिया। मुनियों को आया जान सभी नगरवासी उनकी वन्दना को वन में आये। उन्हें जाते हुए देखकर राजा ने कहा कि ये लोग कहाँ जाते हैं? इसके उत्तर में मंत्रियों ने कहा कि ये सब लोग मुनीश्वरों की वन्दना को जा रहे हैं। यह सुन राजा के हृदय में भी भक्ति का संचार हो आया और वह भी उसी समय वन्दना के लिए चला ॥४१-४२॥

वन में जाकर उसने मुनियों की वन्दना की। पर मुनियों ने बदले में राजा को शुभाशीर्वाद न दिया। यह देख राजा से मंत्रियों ने कहा कि राजन् निश्चय से ये लोग कोरे बैल हैं, इनमें कुछ भी ज्ञान नहीं है। इसके बाद वे सब वहाँ से राजा के साथ-साथ चले आये। दैवयोग मार्ग में आते हुए उन्हें एक श्रुतसागर नाम बाल मुनि देख पड़े। उन्हें देखकर मंत्रियों ने हँसी उड़ाते हुए कहा कि राजन्,

बलीवर्दा इमे नूनमित्युक्त्वा मन्त्रिणो गताः। नृपैर्मार्गे मुनिं बालं ददृशुः श्रुतसागरम् ॥४४॥
अनड्वांस्तरुणश्चायमित्याकर्ण्य निराकृताः। मुनिना ते सुवादेन सोऽपि गत्वागदीद्गुरुम् ॥४५॥
गुरुणाकथि भो वत्स वादस्थाने स्थितिं कुरु। निशायामन्यथा घातः संघस्य भविता लघु ॥४६॥
तथा तेन कृते रात्रौ ते खला हन्तुमुद्यताः। गच्छन्तः पथि तं वीक्ष्य प्रहर्तुं सायुधाः स्थिताः ॥४७॥
पुरदेवतया तेऽत्र स्तम्भितास्त्रस्तचेतसः। उत्खातोद्भूतखड्गेन कुर्वन्तस्तोरणश्रियम् ॥४८॥
प्रभाते वीक्ष्य भूपेन ते तथा पुरतोऽखिलाः। चक्रीवत्सु समारोप्य मुण्डयित्वा च मस्तकान् ॥४९॥
निष्कासितास्ततः पद्मरथं नागपुरे गताः। विनीता रक्षिता राज्ञा दत्त्वा मन्त्रिपदं महत् ॥५०॥
प्रत्यन्तवासिसंक्षोभे समुद्भूतमहाभये। सचिवो विविधोपायैस्तं रिपुं समजीग्रहत् ॥५१॥
तुष्टेन तेन संदिष्टमिष्टं संयाच्यतामिति। सप्तघस्त्रमहं कर्तुं राज्यमिच्छामि सद्बलिः ॥५२॥

यह एक युवा बैल है ॥४३-४४॥

यह सुन मुनि ने मंत्रियों के साथ बहुत विवाद किया और उन्हें हरा दिया, जिससे वे बहुत ही लजाये। इसके बाद मुनि अपने स्थान को चले आये और वहाँ उन्होंने जैसा का तैसा सब हाल गुरुवर्य को कह सुनाया ॥४५॥

इस पर गुरुवर्य ने कहा कि वत्स! तुम जाओ और जहाँ वाद-विवाद हुआ है वहीं जाकर रात भर ठहरो, नहीं तो सब संघ की आपत्ति में पड़ना पड़ेगा॥४६॥

गुरु की इस आज्ञा को शिरोधार्य कर श्रुतसागर गये और जहाँ वाद-विवाद हुआ था वहीं पहुँचे। रात के वक्त वे दुष्ट उन्हें मारने को चले। वे जा रहे थे इतने में मार्ग में वाद के स्थल पर उन्हें सहसा वे ही मुनि देख पड़े। उन्हें देखते ही उन दुष्टों के क्रोध का पारा चढ़ गया और वे हथियारों द्वारा उन्हें मारने को तैयार हो गये। उन्होंने मुनि के ऊपर ज्यों ही हथियार छोड़ें त्यों ही पुर देवता ने आकर उन्हें बीच में ही रोक दिया, उनके हथियार कील दिये। तब वे बहुत घबड़ाये। उनका चित्त बहुत ही व्याकुल हुआ और अचंभे की बात यह हुई कि उन्होंने जो मुनि को मारने के लिए उन पर तलवारें उठाई थीं उनसे उन मुनि के ऊपर तोरण जैसी अपूर्व शोभा हो गई। सबेरा हुआ। राजा को खबर लगी। राजा ने वहाँ आकर उन्हें दुष्कृत्य में प्रवृत्ति करने के कारण कीले हुए खंभे से खड़े देखे ॥४७-४८॥

राजा बहुत बिगड़ा। उसने उनका सिर मुड़ाकर गधे पर चढ़ा शहर से बाहर निकलवा दिया। वहाँ से वे राजा पद्मरथ के पास हस्तिनागपुर गये और उन्होंने पद्मरथ के साथ बहुत नम्रता का व्यवहार किया, जिससे उसने उन्हें अपना मंत्री बना लिया और उनकी सब तरह रक्षा की ॥४९-५०॥

इसके बाद एक समय पद्मरथ के एक शत्रु राजा ने उसे बहुत ही डर दिखाया जिससे पद्मरथ बड़ा भयभीत हुआ और प्रजा में भी कोलाहल मच गया। उस वक्त बलि मंत्री ने नाना युक्तियों द्वारा शत्रु को पकड़ लिया। इससे राजा पद्मरथ उस पर बहुत ही प्रसन्न हुआ और उसने उसे आज्ञा की कि इस समय तुम जो जी चाहे माँगो। इस पर बलि ने कहा कि महाराज, मैं सात दिन के लिए आपका राज्य चाहता हूँ ॥५१-५२॥

आहेति मोहतस्तेन तथाभ्युपगतं मुदा। दत्तराज्यो बलिर्दते स्म दानं दानवो यथा ॥५३॥
अकम्पनोऽथ योगीन्द्रो योगिभिर्योगजुष्टये। वर्षायोगं च जग्राह वारयन्मुनिमण्डलीम् ॥५४॥
अभिवादं न वक्तव्यं भवद्भिर्वादिभिः सह। अन्यथानर्थसंपातो भविता भवतामिति ॥५५॥
बलिर्बलेन तं रुष्टो वृत्या संवृत्य यागिभिः। यज्ञेन तापनं चक्रे तेषां धूम्रध्वजात्मना ॥५६॥
विष्णुर्ज्ञात्वोपसर्गं तं गत्वा पद्मरथं नृपम्। वीतरागासने रूढमगदीदीरणान्वितः ॥५७॥
राज्येऽभिवन्दिते पूज्ये त्वया स्थितेन दुर्जयः। मन्त्री नियन्त्र्यते नैव कथं कथय कोविद ॥५८॥
भूपतिः प्राह सप्ताहो राज्यं दत्तं मयाधुना। न निवारयितुं शक्यो भवद्भिर्वार्यतामिति ॥५९॥
न विदन्ति खलाः क्षिप्रमखिलं न्यायचेष्टितम्। खलत्वं त्वयि संप्राप्तं यतः पूज्येष्वनादरः ॥६०॥
निषेत्स्याम्यहमेनं वै पापिष्ठं पटुतातिगम्। इति वामनको भूत्वा यागभूमिं स आसदत् ॥६१॥

राजा तो उस पर मोहित हो ही चुका था, अतः उसने सात दिन के लिए उसे राज्य देना स्वीकार कर लिया। इसके बाद एक समय विहार करते-करते अकंपन आचार्य सात सौ मुनियों के संघ-सहित वहाँ आ गये और योग की सिद्धि के लिए उन्होंने वर्षाऋतु में भी वहीं रहना स्वीकार किया तथा उन्होंने सब योगियों से यह भी कह दिया कि आप लोग वादियों से वाद-विवाद नहीं करना, नहीं तो बड़ा-भारी संताप भोगना पड़ेगा ॥५३-५५॥

मुनियों के आने की खबर बलि को मालूम हुई तब वह राजा के पास गया और उसने पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार उससे सात दिन के लिए राज्य माँगा। राजा ने भी उसे सात दिन को राजा बना दिया। राज्य पाकर बलि कुबेर की तरह खूब ही धन लुटाने लगा और उसने जाकर सात सौ मुनियों-सहित अकंपनाचार्य को सेना के द्वारा वेढ़ लिया। कारण, वह उन साधुओं पर पहले से ही रुष्ट था। वह अग्निमय यज्ञ करवा कर उन्हें संताप देने लगा ॥५६॥

यह खबर जब विष्णुकुमार मुनि को लगी तब वे चलकर उदासीन भाव को धारण करने वाले पद्मरथ राजा के पास आये और उससे उन्होंने प्रेरणा कर कहा कि सत्पुरुषों द्वारा वन्दित और पूजित इस राज्य-पद पर स्थित होकर भी आप इस दुर्जन मंत्री को अन्याय से क्यों नहीं रोकते। हे कोविद! मेरे इस प्रश्न का आप जल्दी से उत्तर दीजिए। राजा ने उत्तर में कहा कि मैं सात दिन के लिए बलि को राज-पाट दे चुका हूँ। इसलिए अब मैं उसको रोक नहीं सकता। हाँ! यदि आप रोक सकते हैं तो भले ही रोक दीजिए ॥५७-५९॥

इसके उत्तर में विष्णुकुमार ने कहा कि दुष्ट पुरुष जल्दी से न्याय के रहस्य को नहीं पहिचान सकते। राजन्! न जाने तुम में यह खलता कहाँ से आ गई, जो तुम पूज्य पुरुषों का अनादर होते हुए भी नहीं चेतते ॥६०॥

इसमें सन्देह नहीं कि मैं तो इस पापिष्ट और चतुराई-विमूढ़ पुरुष को इस अन्याय से रोकूँगा ही। इतनी बातचीत के बाद विष्णुकुमार ने वामन का रूप बनाया और वे उसी वक्त यज्ञभूमि में पहुँचे। वहाँ उस वामन ने अपने को ब्राह्मण वर्ण का बतलाया। वह कहने लगा कि मैं वेद-वेदांग

विप्राकारधरो धीरोऽभ्यधाद्वाचं बलिं प्रति। वेदार्थविद् द्विजश्चाहं त्वं दाता वाञ्छितार्थदः ॥६२॥
सोऽभाणीत्सबलो विप्रो यत्तुभ्यं रोचते लघु। याचस्व वाञ्छितं वित्तं पात्रे दत्तं सुखाय हि ॥६३॥
विष्णुर्वाचमुवाचेति देयं मे चरणैस्त्रिभिः। प्रमितं भूतलं मत्वा सर्वेऽवोचन्महादराः ॥६४॥
स्तोकं किं याचितं विप्र यतो दाता महाबलिः। बहुनालं करे वारि दीयतां विष्णुराजगौ ॥६५॥
तथा कृते मुनिर्विष्णुर्विष्टपं वेष्टितं हृदा। विक्रियर्द्धिप्रभावेनाकार्षीद्रूपं समुन्नतम् ॥६६॥
पादं प्रसार्य पादैकं दीर्घाङ्गो मेरुमूर्धनि। द्वितीयं मानुषाद्रौ च ददौ दीप्ततपाः पदम् ॥६७॥
तदा सुरासुराः प्राहुः सवीणा नारदादयः। संगीतिगीतनोद्युक्ताः पादौ संहर संहर ॥६८॥
सद्यः प्रसादयामासुर्मुनिं चामरचामराः। तुष्टा घोषासुघोषाख्ये महाघोषां वरस्वराम् ॥६९॥
वीणां घोषवतीं चान्यां ददुः खगनरेशिनाम्। तथा त्वं याचितो विप्रवरेणापि ममाधुना ॥७०॥
चरणस्य तृतीयस्य नावकाश इति ब्रुवन्। बद्ध्वा बली बलिं विष्णुरुद्दध्रे कोपसंगतः ॥७१॥
तदुद्दिष्टो निराकार्षीदुपसर्गं निसर्गतः। बलिर्बलिमुनीनां च कुर्वन् रक्षाविधिं वरम् ॥७२॥

का पारगामी द्विज हूँ, वेद के अर्थ को खूब समझता हूँ और आप मनोरथ को सिद्ध करने वाले दाता हैं। अतः मुझे भी कुछ दान दीजिए ॥६१-६२॥

यह सुन वह बलि राजा बोला कि जो तुम्हारा जी चाहे सो तुम माँग ली। मैं अवश्य दूँगा क्योंकि पात्र में द्रव्य देने से बदले में सुख मिलता है॥६३॥ इस पर विष्णु ने कहा कि मुझे केवल तीन पग भूमि चाहिए। इस पर वहाँ जितने लोग बैठे थे सब-के-सब बोल उठे कि विप्र! तुमने इतनी थोड़ी-सी याचना क्यों की। देखो, यह बलि राजा तो कुबेर की तरह महान् दानी राजा है। फिर आपकी यह तनिक-सी याचना कुछ ठीक-सी नहीं मालूम पड़ती। विष्णु बोला कि राजन्! बहुत बातचीत से कोई लाभ नहीं। बस, आप तो अब संकल्प-धारा छोड़िए ॥६४-६५॥

इसके बाद तीन पग पृथ्वी का संकल्प हुआ और संकल्प के बाद ही विष्णुकुमार ने सारे संसार को घेरने के लिए विक्रियाऋद्धि के द्वारा बड़ा भारी रूप बना लिया॥६६॥

इसके बाद उसने पाँव फैलाकर एक पाँव को सुमेरु के शिखर पर रक्खा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर रक्खा। उस समय सुर-असुर और नारद आदि सभी वीणा ले-ले कर संगीत द्वारा उनका यशोगान करने को उद्यत हुए। वे कहने लगे कि विभो! अब पाँव खींच लो, पाँव खींच लो एवं चामर जाति के देवताओं ने वीणा बजाकर मुनि को प्रसन्न किया। उन्होंने सन्तुष्ट होकर विद्याधर राजाओं को घोषा, सुघोषा, महाघोषा और घोषवती आदि वीणाएँ दीं ॥६७-६९॥

राजन्! इसी प्रकार आपने भी मुझे प्रसन्न होकर तीन पग पृथ्वी दी थी। अब बताइए कि मैं तीसरा पग किधर से नापूँ। तात्पर्य यह कि अब आप मेरे तीसरे पग को भी अवकाश दीजिये। कारण, अब यहाँ कहीं पैर रखने को अवकाश नहीं सूझता। इतना कहकर क्रोध में आ बलशाली विष्णुकुमार ने राजा बलि की बाँध लिया वह जो मुनियों को उपद्रव कर रहा था उसको एक मिनट में अनायास ही वारण कर दिया और योगियों की रक्षा कर ली। बाद उस बली बलि राजा ने भी

निषेध्याधर्ममात्मीयं वृषं जग्राह ग्राहितः। बलिर्विष्णुर्जगामाशु स्थानं धर्मप्रभावकः ॥७३॥
क्रमेण विक्रमी पद्मनाभो महादिपद्मकः। सुपद्मश्च ततः कीर्तिः सुकीर्तिर्वसुकीर्तिवाक् ॥७४॥
वासुकिश्च व्यतीतेषु भूपेष्वेवं च भूरिषु। शान्तनुः शान्तियुक्तात्मा कौरवः कौरवाग्रणीः ॥७५॥
सवकी तत्प्रिया प्रीता सीता वा रामभूभुजः। पराशरमहीशस्तु तयोः सूनुरभूद्बली ॥७६॥
अथ रत्नपुरे जह्नुर्जिष्णुर्विद्याधराधिपः। तस्य पुत्री पवित्राङ्गी गङ्गाऽभूद्गुणगौरवा ॥७७॥
सत्यवाणिनिमित्तज्ञवचसा जह्नुना सुता। पराशराय सा प्रीत्या वितीर्णा विधिवद्ध्रुवम् ॥७८॥
हर्षात्तां स समासाद्य सुन्दरे मन्दिरे महान्। रेमे कामं सुकप्राङ्गो मनोजमहिमश्रितः ॥७९॥
सा सुतं सुभगं लेभे गाङ्गेयं गुरुसंनिभम्। स क्रमेणाक्रमन्विद्यां ववृधे बालचन्द्रवत् ॥८०॥
अध्यगीष्ट धनुर्वेदं शरव्यच्छेदनोद्यतः। चारणश्रमणाल्लेभे दयाधर्मं स सातदम् ॥८१॥
नृपोऽथ सूनवे तस्मै यौवराज्यपदं ददौ। योग्यं सुतं वा शिष्यं वा नयन्ति गुरवः श्रियम् ॥८२॥
अन्यदा यमुनातीरे रममाणो मनोहराम्। ईक्षांचक्रे चकोराक्षीं कन्यां नावि निषेदुषीम् ॥८३॥

मुनियों की रक्षा की और अधर्म को रोककर उत्तम रीति से धर्म को धारण किया, जो कि उसके योग्य था। इसके बाद संसार में धर्म के प्रभाव को फैलाने वाले वह विष्णुकुमार मुनि अपने स्थान को चले गए। पद्मरथ राजा के बाद क्रम से पद्मनाभ, महापद्म, सुपद्म और कीर्ति, सुकीर्ति, वसुकीर्ति, वासुकि आदि बहुत से राजा हुए। इसके बाद शांतनु नाम राजा हुआ, जो शक्ति वाला और कौरवों में अगुआ था, पृथ्वी को सुखी करने वाला था। उसकी प्रिया का नाम था सबकी। वह रामचन्द्र की सीता की भाँति सती थी। उसके गर्भ से शांतनु राजा के पारासर नाम एक पुत्र पैदा हुआ, जो बहुत बली था। रत्नपुर में जयी जन्हु नाम एक राजा था। वह विद्याधर था। उसके गंगा नाम की एक पुत्री थी। वह पवित्र शरीर वाली और गुणों की खान थी ॥७०-७७॥

एक समय जन्हु ने सत्यवाणी नाम किसी निमित्तज्ञानी से उसके विवाह के सम्बन्ध में पूछा और उसके कहे अनुसार गंगा का ब्याह पारासर के साथ में कर दिया। गंगा जैसी पत्नी को पाकर पारासर को बहुत ही हर्ष हुआ। वह मनोहर शरीर वाला तथा काम की महिमा से भरपूर राजकुमार उसके साथ-साथ सुन्दर-सुन्दर महलों में मनचाही क्रीड़ा करने लगा। कुछ काल बाद उसके यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम रक्खा गया गांगेय। वह बृहस्पति के तुल्य था। धीरे-धीरे वह दोज के चाँद की तरह बढ़ने लगा और क्रम-क्रम से उसने सभी विद्याएँ सीख ली ॥७७-८०॥

वह धनुषविद्या में बहुत निपुण था और चाहे जैसा ही निशाना क्यों न हो, एक मिनट में ही छेद डालता था। एक दिन पुण्ययोग से उसने एक चारणमुनि के मुख से धर्म का उपदेश सुना और सभी सुख देने वाले दया धर्म को यथाशक्ति ग्रहण भी किया। इसके बाद पारासर राजा ने उसे युवराज बना दिया। सच है कि योग्य पुत्र को पिता और योग्य शिष्य को गुरु अपनी सारी सम्पत्ति दे डालता है, तब युवराज पद की तो बात ही क्या है ॥८१-८२॥

एक समय पारासर यमुना नदी के किनारे क्रीड़ा के लिए गया था। वहाँ उसने नौका में बैठी

स तद्रूपेण भूपालो हृतचेता जगाविति। कासि त्वं कस्य तनया तामेत्य मदनोत्सुकः ॥८४॥
सा जगाद नरेन्द्राहं यमुनातटवासिनः। नौतन्त्राधिपतेः पुत्री कन्या गुणवतीति च ॥८५॥
पित्राज्ञया तरीं तूर्णं वाहयाम्यहमम्भसि। भवेत्कन्या कुलीनानां पित्रादेशवशंवदा ॥८६॥
तदर्थी तत्पितुः पार्श्वे क्षणेन क्षितिपो ययौ। स्वागतक्रिययानन्द्य धीवरेण स मानितः ॥८७॥
भूपोऽभाषिष्ट शिष्टं तमिष्टं मे सहचारिणी। सुता गुणवती तेऽद्य भूयाच्छ्रुत्वेति स जगौ ॥८८॥
परं पतिं वरामेनां न तुभ्यं दातुमुत्सहे। गाङ्गेयो नन्दनस्तेऽस्ति राज्यार्हः सपराक्रमः ॥८९॥
सति तस्मिन्सुराज्यार्हे मत्पुत्र्यास्तनयः कथम्। भावी राज्यधरस्तेनानयालं कथया विभो ॥९०॥
इत्थं युक्त्या निषिद्धः स म्लानवक्त्रो गृहं ययौ। वैवर्ण्यमुखमालोक्य गाङ्गेयः पितुराकुलः ॥९१॥
विनयातिक्रमः किं मे किमाज्ञालङ्घि केनचित्। किं वा सस्मार मे मातुर्यन्मे श्याममुखः पिता ॥९२॥
एवं विमृश्य पप्रच्छ सोऽमात्यं विजने जयी। ततो निःशेषमाज्ञाय सोऽगमन्नौपतेर्गृहम् ॥९३॥

हुई चकोर जैसे सुन्दर नेत्रों वाली एक मनोरमा कन्या को देखा। उसको देखते ही पारासर का मन मोहित हो गया, वह उस पर निछावर हो गया और कामासक्त हो वह उसके पास जाकर कहने लगा कि तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो ? वह बोली कि राजन्! मैं यहीं गंगातट पर निवास करने वाले मल्लाहों के अधिपति की पुत्री हूँ और मेरा नाम है गुणवती ॥८३-८५॥

मैं अपने पिता की आज्ञा से हमेशा यहाँ नौका चलाया करती हूँ क्योंकि कुलीन कन्याएँ कभी माता-पिता के प्रतिकूल नहीं होतीं। यह सुन पारासर राजा कन्या की चाह वश वह उसी समय उसके पिता के पास गया। पारासर को आता देख धीवर ने उसका बड़ा आव-आदर के साथ स्वागत किया, जिससे पारासर को बहुत ही खुशी हुई। इसके बाद राजा ने उस शिष्टाचारी को अपना मनोरथ कह सुनाया कि तुम्हारी गुणवती पुत्री को मैं अपनी सहचारिणी बनाना चाहता हूँ॥८६-८८॥

यह सुन धीवर ने कहा-राजन्! इस पतिवरा कन्या के देने को तुम्हारे लिए मेरा उत्साह नहीं होता। कारण, तुम्हारे राज-पाट को सँभालने के लिए गांगेय नाम एक पराक्रमी पुत्र मौजूद है॥८९॥ तब आप ही बताइये कि मेरी कन्या से जो सन्तान होगी वह गांगेय के होते हुए क्या कभी राज-पाट को भोग सकेगी ? अतः राजन्! आप इस सम्बन्ध की बातचीत ही मत छेड़िए ॥९०॥

इस प्रकार उस धीवर ने जब युक्ति से कन्या देने का निषेध किया तो राजा का मुँह मुरझा गया-चेहरा उतर गया और आखिर वह अपने घर को चला आया। अपने पिता का मुरझाया हुआ चेहरा देखकर गांगेय बहुत व्याकुल हुआ ॥९१॥

वह सोचने लगा कि क्या मैंने इनका कुछ अविनय किया है ? या और किसी ने इनकी आज्ञा भंग की है ? या इन्हें मेरी माता का स्मरण हो आया है ? क्यों इनका मुँह काला-सा देख पड़ता है। इस प्रकार के ऊहापोह के बाद जब वह कुछ भी निश्चय न कर सका तब उस जयी ने एकान्त में मंत्री से पूछा कि आज महाराज का मुँह मलिन क्यों हो रहा है ? इसके उत्तर में मंत्री ने गांगेय को सारा कच्चा हाल कह सुनाया ॥९२-९३॥

जगौ गाङ्गेय इत्येतद्धीवरं धीवरो ध्रुवम्। भूपं निराकृथा यत्तत्सुष्ठु नानुष्ठितं त्वया ॥९४॥
अभाणीन्नौपतिः प्रीतः कुमार शृणु कारणम्। सोन्धकूपे क्षिपेत्पुत्रीं सापत्न्येयं ददीत यः ॥९५॥
त्वं नृरत्न सपत्नोऽसि येषां तेषां शिवं कुतः। जाग्रत्यसहने सिंहे सुखायन्ते कियन्मृगाः ॥९६॥
कुमार मम दौहित्रो यस्तु भावी कथंचन। दूरे महोदयस्तस्य समीपे विपदः पुनः ॥९७॥
त्वां समुत्सृज्य राज्यश्रीर्ननु किं वृणुते परम्। हित्वा वार्द्धिं महासिन्धुः प्रसरः किं प्रसर्पति ॥९८॥
मातामह जगादैवं गाङ्गेयस्ते महान्भ्रमः। भिदेलिमा हि प्रकृतिः कुरुवंशान्यवंशयोः ॥९९॥
भवेत्स्वभावो न ह्येकः कलहंसबकोटयोः। गङ्गातो मे महामाता नाम्ना गुणवती सती ॥१००॥
एकां शृणु प्रतिज्ञां मे बाहुमुत्क्षिप्य जल्पतः। गुणवत्यास्तनूजस्य राज्यं नान्यस्य कस्यचित् ॥१०१॥
आह वै धीवरः स्वामिन् भवितारस्तवात्मजाः। न तेऽन्यस्य सहिष्यन्ते राज्यमूर्जिततेजसः ॥१०२॥
गाङ्गेयस्तद्वचः श्रुत्वा जगाद विशदाशयः। एतामपि तवेदानीं चिन्तां व्यपनयाम्यहम् ॥१०३॥
शृणु त्वं व्योम्नि शृण्वन्तु सिद्धगन्धर्वखेचराः। आजन्मतो मयोपात्तं ब्रह्मचर्यमतः परम् ॥१०४॥

तब गांगेय उसी वक्त उस धीवर के घर गया और धीवर को कहने लगा कि तुमने जो राजा का अनादर किया। यह अच्छा नहीं किया। उत्तर में वह धीवर बोला कि कुमार इसका कारण सुनिए। वह यह कि जो सौत का पुत्र होते हुए भी अपनी कन्या देता है वह अपनी प्राणों से प्यारी पुत्री को अँधेरे कुँए में ही ढकेल देता है। हे नररत्न! जिसके तुम सरीखे सौत-पुत्र मौजूद हो, तुम्हीं कहो कि मेरी कन्या के पुत्र को कैसे सुख हो सकता है ? क्या सिंह के होते हुए मृग-गण भी सुखी हो सकते हैं? ॥९४-९६॥

कुमार! मेरी पुत्री की भावी सन्तान किसी तरह भी राज्य को नहीं भोग सकेगी किन्तु उल्टी आपत्ति में फँस जायेगी। क्योंकि तुम्हें छोड़कर राजलक्ष्मी दूसरे के पास नहीं जा सकती, वह दूसरे को पसंद नहीं कर सकती जैसे कि समुद्र को छोड़कर नदियों तालाब में गिरना पसंद नहीं करतीं। इस पर गांगेय ने अपने भावी मातामह को यों समझाना आरम्भ किया कि यह केवल मात्र आपका भ्रम है क्योंकि और-और वंशों से इस कुरुवंश का निराला ही स्वभाव है। बताइए कि कहीं हंस और बगुले का भी एक स्वभाव हो सकता है और भी सुनिए कि मैं गुणवती सती को अपनी माता से भी कहीं अधिक आदर की दृष्टि से देखूँगा ॥९७-१००॥

इसके बाद गांगेय ने हाथ उठाकर कहा कि मैं प्रतिज्ञा करता हूँ ''जो गुणवती का पुत्र होगा उसे ही राज्य मिलेगा किसी दूसरे को नहीं मिलेगा'' इसके अनंतर धीवर ने कहा- ''हे स्वामिन्, आपके जो उत्कृष्ट तेजस्वी पुत्र होंगे वे अन्य की राज्य प्राप्ति सहन नहीं करेंगे'' ॥१०१-१०२॥

अतः फिर भी वही प्रश्न खड़ा होता है कि गुणवती की सन्तान राज्य से वंचित ही रह जायेगी। यह सुनते ही गांगेय उसके अभिप्राय को ताड़ गया और कहने लगा कि तुम्हारी इस चिन्ता को भी मैं अभी-अभी मिटाये देता हूँ। यहाँ तुम और आकाश में सिद्ध, गंधर्व, विद्याधर वगैरह सभी सुनो कि आज से मैं जन्म भर के लिए ब्रह्मचारी होता हूँ, ब्रह्मचर्य लेता हैं ॥१०३-१०४॥

ततो दुहितरं कुर्वन्नाहूयोत्संगसंगिनीम्। धीवरो धीधनो धृत्या जगाद जाह्नवीसुतम् ॥१०५॥
गुणग्रामैकवास्तव्यो नास्त्येव त्वत्समः पुमान्। पितुरर्थे कृथाः सद्यो यद्ब्रह्मव्रतधारणम् ॥१०६॥
वृत्तान्तमेकमाख्यामि कुमाराकर्णय ध्रुवम्। एकदा यमुनाकूले विश्रामाय समागमम् ॥१०७॥
अशोकानोकुहतले सश्रीकामुज्झितां वराम्। केनापि पापिनाद्राक्षं तदात्वजातबालिकाम् ॥१०८॥
अपत्यमनपत्योऽहं स्पृहयालुरहर्निशम्। सुरूपां तामुपादातुं प्रवृत्तोऽस्मि सविस्मयः ॥१०९॥
तदा सरस्वती व्योम्नि प्रोल्ललासेति सत्वरम्। अस्ति स्वस्तिमये रत्नपुरे रत्नाङ्गदो नृपः ॥११०॥
तस्य रत्नवतीकुक्षिजातेयं सुतरां सुता। खेचरेणापहृत्यात्र विमुक्ता पितृवैरिणा ॥१११॥
इत्थं श्रुत्वानपत्यायाः प्रियायास्तामुपानयम्। गुणवत्याख्यया वृद्धा सेयं कृत्रिमपुत्रिका ॥११२॥
तदिदानीमुपादास्त्वं मत्सुतां तातहेतवे। इत्युक्तस्तां समादाय जगाम निजपत्तने ॥११३॥
विवाहविधिना पित्रे स भक्त्या तामयोजयत्। तामाप्य स सुखी भूतो निः स्वो निधिमिवाद्भुतम् ॥११४॥
तस्याः पराभिधा ख्याता गन्धैर्योजनगन्धिका। तयोः सुतो वराभ्यासो व्यासोऽभूद्व्यसनातिगः ॥११५॥
पापह्रासनधर्मालोः सभासभ्येश्वरस्थितेः। सुभद्रा भाभिनी तस्य सुभद्रा भद्रभावका ॥११६॥

इतनी बातचीत के बाद धीवर ने कन्या को बुलाया और अपनी गोद में बैठा लिया। इसके बाद उस बुद्धिशाली ने गांगेय से कहा कि तुमने जो पिता के मनोरथ को साधने के लिये ब्रह्मचर्य व्रत लिया है इससे जान पड़ता है कि संसार में तुम बड़े गुणवान् हो। दूसरे मैं तुमसे एक कहानी कहता हूँ। उसे तुम सावधान चित्त हो सुनो ॥१०५-१०६॥

एक दिन मैं विश्राम के अर्थ यमुना नदी के तट पर गया था। वहाँ मैंने अशोक वृक्ष के नीचे सुन्दर रूप वाली तथा उसी समय की पैदा हुई और किसी पापी द्वारा वहाँ छोड़ दी गई एक कन्या को देखा। मेरे कोई सन्तान न थी, इसलिए मैं हमेशा सन्तान की स्पृहा में लगा रहता था। मैं उस सुरूपा कन्या को लेने के लिये कुछ अचम्भे के साथ प्रवृत्त हुआ ॥१०७-१०९॥

तब आकाशवाणी हुई कि रत्नपुर के राजा रत्नांगद की रानी रत्नवती के गर्भ से यह कन्या उत्पन्न हुई और इसे यहाँ रत्नांगद के वैरी किसी खेचर-विद्याधर ने लाकर डाल दी है ॥११०-१११॥

यह सुन मैंने निःशंक भाव से उसे उठा लिया और लाकर अपनी निःसन्तान प्रिया की गोद में दे दी तथा उसका नाम गुणवती रख दिया ॥११२॥

वह मेरे यहाँ पलकर सयानी हो गई। वही यह मेरी पुत्री है। तुम मेरी इस पुत्री को अपने पिता शांतनु राजा के लिए ग्रहण करो। इसके बाद गांगेय गुणवती को लेकर अपने नगर को लौट आया और वहाँ उसने विधिपूर्वक उसका अपने पिता के साथ ब्याह कर दिया। गुणवती पत्नी को पाकर शांतनु बड़ा सुखी हुआ, जैसे कि गरीब पुरुष भारी खजाने को पाकर सुखी होता है ॥११३-११४॥

गुणवती को गंधिका और योजनगंधिका भी कहते हैं। कुछ काल बाद उसके गर्भ से खोटी आदतों से रहित और उत्तम अभ्यास करने वाला एक व्यास नाम पुत्र पैदा हुआ ॥११५॥

वह पाप को घटाने वाला धर्मात्मा था। सबका स्वामी था। उसकी भामिनी का नाम था

सुतास्त्रयः पुनर्व्याससुभद्रयोः शुभाकराः। धृतराष्ट्रस्तथा पाण्डुर्विदुरस्ते बलोद्धताः ॥११७॥
भरते हरिवर्षाख्ये देशे भोगपुरे बभौ। भोगेन निर्जितं भोगिपुरं येन महात्विषा ॥११८॥
अथादिदेवनिर्णीतो हरिवंशकुलो महान्। नृपः प्रभञ्जनस्तत्र समासीत्सुखसागरः ॥११९॥
मृकण्डूस्तत्प्रिया रूपलावण्यभरभूषिता। पीनस्तनी सुजघना शचीवेन्द्रस्य संबभौ ॥१२०॥
कौशाम्ब्यामथ यः श्रेष्ठी सुमुखः सुमुखी धनी। वीरदत्तप्रियायाश्च हर्ता द्रव्यादिवञ्चनैः ॥१२१॥
वनमालाभिधानायाः स काले मुनिदानतः। प्रभञ्जनसुतः सिंहकेतुरासीज्जितार्कभः ॥१२२॥
तत्रैव शीलनगरे वज्रघोषो महीपतिः। सुप्रभा वनिता तस्य मनोनयननन्दिनी ॥१२३॥
वनमालाचरा जाता तयोः पुत्री सुरूपिणी। विद्युन्मालाभिधा सिंहकेतुना च विवाहिता ॥१२४॥
वीरदत्तचरेणैव चित्राङ्गदसुरेण तौ। वैराद्धृतौ वने क्रीडां कुर्वाणौ कर्मयोगतः ॥१२५॥
सूर्यप्रभेण देवेन तन्मित्रेण निवारितः। हन्तुकामः स निक्षिप्य चम्पायास्तौ गतौ वने ॥१२६॥
तद्भूपे चन्द्रकीर्त्याख्ये विपुत्रे च मृते सति। कृताभिषेकौ तौ तत्र दन्तिना राज्यमापतुः ॥१२७॥

सुभद्रा। वह बड़ी भद्र थी। उसके गर्भ से तीन पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम थे क्रम से धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर। ये तीनों बहुत ही सुन्दर थे। बड़े बली और बल से उद्धत थे ॥११६-११७॥

भरतक्षेत्र के हरिवर्ष नाम देश में एक भोगपुर नाम नगर है। वह अतिशय शोभाशाली है। उसमें सभी भोग-सामग्री मौजूद है, जिससे वह इन्द्र आदि देवता-गण के स्वर्ग-स्थान को भी जीतता है। आदिनाथ प्रभु द्वारा स्थापित हरिवंश का प्रभंजन नाम का वहाँ राजा था। उसे सभी सुख प्राप्त थे। वह सुख का सागर था। उसकी प्रिया का नाम था मृकंडू। वह रूपवती, लावण्यवती और भाँति-भाँति के भूषणों से विभूषित थी। उसके गोल और कठिन स्तन थे तथा केले के खंभे की तरह सुन्दर जाँघें थीं। अधिक कहाँ तक कहा जावे वह इन्द्र की शची से किसी भी बात में कम न थी ॥११८-१२०॥

कौशाम्बी नगरी में एक सेठ रहता था। उसका नाम था सुमुख। वह सुन्दर मुख वाला और धनी था। उसने किसी वक्त धन-दौलत के लोभ में आ वनमाला नाम वीरदत्त की स्त्री को हर लिया था। एक समय उसने मुनि को आहार दान दिया, जिसके प्रभाव से वह मरकर प्रभंजन राजा के यहाँ सिंहकेतु नाम पुत्र उत्पन्न हुआ। वह अपने तेज से सूरज को भी जीतता था ॥१२१-१२२॥

उसी हरिवर्ष देश के शीलनगर में वज्रघोष नाम एक राजा था। उसकी प्रिया का नाम था सुप्रभा। उसके गर्भ से वनमाला का जीव विद्युत्प्रभा नाम पुत्री उत्पन्न हुई। वह सुन्दर रूप वाली और मन तथा नेत्रों को आनंद देने वाली थी। कुछ काल बाद उसका विवाह सिंहकेतु के साथ हो गया। उधर वह वीरदत्त मरकर चित्रांगद नाम देव हुआ। एक दिन सिंहकेतु और विद्युत्प्रभा दोनों वन में क्रीड़ा कर रहे थे। उन दम्पती को उस चित्रांगद नाम देव ने हर लिया। वह उन दोनों को मारना ही चाहता था कि उसके मित्र सूर्यप्रभ देव ने उसे मारने से रोक दिया और वह मान भी गया। तात्पर्य यह कि उसने उन्हें मारा नहीं किन्तु चम्पानगरी के वन में छोड़ दिया ॥१२३-१२६॥

फिर वे दोनों देव स्वर्ग को चले गये। दैवयोग से इसी समय चंपानगरी का चंद्रकीर्ति नाम राजा

सिंहकेतुः स्ववृत्तान्तमाख्यच्च पुरतस्तदा। लोकानामथ लोकैश्च हर्षितः संप्रपूजितः ॥१२८॥
मृकण्डुवास्तनयोऽयं वै मार्कण्डेय इति श्रुतः। सुतो हरिगिरिर्हेमगिरिर्वसुगिरिस्ततः ॥१२९॥
तदन्वये गतेऽप्येवं सूरवीरौ महीपती। अथ सूरो नराधीशो वल्लभा सुरसुन्दरी ॥१३०॥
तस्यासीत्सुरसुन्दर्याः सौन्दर्येण समा सदा। तयोरन्धकवृष्ट्याख्यस्तनयो नयमार्गवित् ॥१३१॥
तस्य भद्रा परा पत्नी सभद्रा भद्रतां गता। चन्द्रवक्त्रा सुवक्षोजा वीक्षितक्षिप्तसज्जना ॥१३२॥
तयोः शुभाः सदा ख्यातास्तनया नयिनो दश। विशाला भालसच्छोभा दशधर्मा इवाभवन् ॥१३३॥
समुद्रविजयश्चाद्यस्ततः स्तिमितसागरः। हिमवांस्तृतीयस्तुर्यो विजयो विजयोऽचलः ॥१३४॥
धारणः पूरणाभिख्यः सुमुखश्चाभिनन्दनः। दशमो वसुदेवाख्यो वसुदेवमहाबलः ॥१३५॥
सुता कुन्ती कलाक्रान्ता कुचकुम्भमहाभरा। पूर्णचन्द्राभवदना नितम्बौन्नत्यधारिणी ॥१३६॥
करग्राहिकटिः कान्त्या सदा कृन्तिततामसा। विकटाक्षसुधाधारा जित्वरी सुरयोषिताम् ॥१३७॥
द्वितीया तत्सुता मद्री मुद्रितानङ्गसद्रसा। कटाक्षाक्षिप्तविबुधा बुधसांनिध्यधारिणी ॥१३८॥

मर गया था। उसके कोई भी सन्तान न थी। अतः राजा के निश्चय के लिए हाथी छोड़ा गया। हाथी वन में आया और उसने इन दम्पती का अभिषेक किया। इन्हें वहाँ का राज-पद मिल गया। उस समय सिंहकेतु ने अपना सारा हाल वहाँ के लोगों से कहा, जिसको सुनकर वे बहुत हर्षित हुए और उन्होंने सिंहुकेतु की खूब पूजा-स्तुति की तथा मृकंडू का पुत्र होने से उन्होंने उसका मार्कण्डेय नाम प्रसिद्ध किया। इसके बाद हरिगिरि, हेमगिरि, वसुगिरि आदि राजाओं की वंशपरम्परा चली। उसके बाद सूर और वीर ये दो भाई-भाई राजा हुए। सूर की रानी का नाम सुरसुन्दरी था। वह अपनी सुन्दरता से देवांगनाओं की समता करती थी। कुछ काल बाद सूर और सुरसुन्दरी के अन्धकवृष्टि नाम नीति का ज्ञाता एक पुत्र पैदा हुआ ॥१२७-१३१॥

उसकी भार्या का नाम था भद्रा। वह बड़ी भद्र थी और कल्याण के मार्ग पर चलने वाली थी। उसका मुख चाँद के जैसा था। कुच मनोहर थे। दृष्टि चंचल थी, जिसके लोगों पर पड़ते ही उनका दिल चंचल हो उठता था। अन्धकवृष्टि के भद्रा के गर्भ से दस पुत्र उत्पन्न हुए। वे सभी नीति के ज्ञाता थे। प्रसिद्ध और उत्तम पुरुष थे। उनका मस्तक विशाल और सुन्दर था। बहुत क्या कहें वे दसधर्म से देख पड़ते थे ॥१३२-१३३॥

उनके क्रम से नाम थे-समुद्रविजय, स्तिमितसागर, हिमवत्, विजय, अचल, धारण, पूरण, सुवीर, अभिनंदन और वसुदेव। वसुदेव वास्तव में वसुदेव-धनदेव ही था, महाबलि और सुभट था एवं अंधकवृष्टि के दो पुत्रियाँ हुई। एक कुन्ती और दूसरी मद्री। कुन्ती नाना कलाओं में निपुण और कुचरूपी कुंभो के भार से नम्र थी। पूरे चाँद के समान सुन्दर उसका मुख था और उन्नत नितम्ब थे तथा कमर बिल्कुल पतली थी। वह अपने शरीर की कान्ति के द्वारा हमेशा अंधेरे को दूर करती थी। अपनी कटाक्ष रूप सुधा धारा से देवांगनाओं को भी जीतती थी ॥१३४-१३७॥

मद्री भी मूर्तिमान् अनंग-कामदेव की समता करती थी। जान पड़ता था कि अनंग ने यह

समुद्रविजयादीनां प्रियाः प्रीतिरसा मिथः। कथ्यन्ते क्रमतो नूनं शृणु श्रेणिक सांप्रतम् ॥१३९॥
शिवादेवी शिवाकारा धृतिधात्री धृतिस्वरा। स्वयंप्रभा प्रभाभारा सुनीता नीतिमानसा ॥१४०॥
सीता सीतासमाकारा प्रियवाक्प्रियभाषिणी। प्रभावती प्रभाभूषा कलिङ्गी कनकोज्ज्वला ॥१४१॥
सुप्रभा सुप्रभा चेति नवानां क्रमतः प्रियाः। मथुरायां सुवीरस्य प्रिया पद्मावती प्रिया ॥१४२॥
सुतो भोजकवृष्ट्याख्यस्तयोस्तस्य वरानना। सुमतिः प्रेयसी जज्ञे सुमतिः सुमनास्तयोः ॥१४३॥
उग्रसेनमहासेनदेवसेनाभिधास्त्रयः। जजृम्भिरे जनानन्दा नन्दनानन्ददायिनः ॥१४४॥
तत्सुता गुणगन्धारी गन्धारी धृतिधारिका। पूर्णचन्द्रानना नम्रा पटुपीनपयोधरा ॥१४५॥
उग्रसेनादिभूपानां पत्न्यः पद्मावती शुभा। महासेना परा देवी देवसेना मुदावहा ॥१४६॥
अथ राजगृहे राजा राजराजविराजितः। राजते राजशार्दूलो बृहद्रथसमाह्वयः ॥१४७॥
भामिनी श्रीमती तस्य श्रीमती श्रीरिवापरा। तयोः सुतः सुतीव्रांशुर्जरासंधो नरेश्वरः ॥१४८॥
त्रिखण्डभरताधीशो नराधीशैः सुसेवितः। नवमः प्रतिवैकुण्ठो विकुण्ठः शठशातने ॥१४९॥

शरीर ही धारण कर लिया है। वह अपने कटाक्षों से देवों और पंडितों को भी जीतती थी एवं देवताओं की बराबरी करती थी। यहाँ गणधर प्रभु कहते हैं कि श्रेणिक! अब हम क्रम से समुद्रविजय आदि की परस्पर में प्रीति रखने वाली प्रियाओं के नाम कहते हैं। सो तुम सुनो ॥१३८-१३९॥

सुख को खान शिवादेवी, गंभीर स्वर वाली धृतिधात्री, सुन्दर प्रभा वाली स्वयंप्रभा, नीति से चलने वाली सुनीता, सीता के समान ही सुन्दराकृति सीता, मीठे वचन बोलने वाली प्रियंवाक, प्रभारूप भूषण वाली प्रभावती, सोने की तरह उज्ज्वल कलिंगी, सुन्दर प्रभा वाली सुप्रभा ये क्रम से नौ स्त्रियों के नाम हैं ॥१४०-१४१॥

समुद्रविजय आदि का सुवीर नाम एक भाई मथुरा में रहता था। उसकी प्रिया का नाम था पद्मावती। सुवीर और पद्मावती के भोजकवृष्टि नाम एक पुत्र था। उसकी प्रेयसी का नाम सुमति था। वह सुन्दर मुख वाली और उत्तम ज्ञान वाली थी। उसका मन बहुत निर्मल था। भोजकवृष्टि के सुमति प्रिया के गर्भ से उग्रसेन, महासेन और देवसेन नाम तीन पुत्र उत्पन्न हुए। वे लोगों को आनंद देने वाले और अपनी बहन को खुश करने वाले थे। उनकी बहन का नाम था गांधारी। वह बड़ी धीरवीर और गुणों की खान थी। पूरे चाँद के समान सुन्दर उसका मुख था। वह नम्र और चतुरा थी, गोल और कठोर कुचों वाली थी। उग्रसेन आदि की स्त्रियों के क्रम से पद्मावती, महासेना और देवसेना ये नाम थे। ये तीनों ही हँसमुखी थीं ॥१४२-१४६॥

राजगृह का राजा वृहद्रथ था। वह इन्द्र जैसा सुशोभित था। उसकी सभा में बड़े-बड़े राजा महाराजा उपस्थित रहते थे। वह राज-सिंह था। उसकी भामिनी का नाम था श्रीमती। वह बहुत ही सुन्दरी थी। जान पड़ता था कि वह दूसरी लक्ष्मी ही है। वृहद्रथ और श्रीमती के एक जरासंध नाम पुत्र हुआ। वह भी बहुत प्रतापी और तेजस्वी था तथा भरतक्षेत्र के तीन खण्डों का स्वामी था। राजाओं के राजा भी उसकी सेवा करते थे। वह प्रतिनारायण था। शठों की शठता का वह बहुत अच्छा इलाज करता था ॥१४७-१४९॥

धृतराष्ट्रेण राष्ट्राणां राज्ञा कुन्ती सकुन्तला। पाण्डवे याचिता तोषाद्विवाहार्थमथान्यदा ॥१५०॥
कुन्ती पित्रा सुतैः सार्धं विमृश्य हृदि संदधे। पाण्डुदोषाय नो देया पाण्डवे चेति निश्चितम् ॥१५१॥
बहुशः प्रार्थितोऽप्येवं न ददौ तां हि यादवः। सरावः कौरवो मौनं तदा ध्यात्वा हृदि स्थितः ॥१५२॥
भूपस्तद्रूपसंसक्तः पाण्डुराखण्डलोपमः। न मेने मानसे श्रीमान् कामः स्वास्थ्यं रतिं विना ॥१५३॥
पाण्डुः पाण्डुत्वमापन्नस्तां स्मरन्मानसे महान्। ज्वरीव विह्वलो वेगवानभूद्भूतवेशवत् ॥१५४॥
तद्वियोगाशनिध्वस्तः शालवद् ध्वंससन्मुखः। पाण्डुराजो रराजासौ न भस्मवच्च पाण्डुरः ॥१५५॥
अन्यदा पाण्डुरः पाण्डुर्वने रन्तुं लतागृहे। प्राप्योपहारशय्याढ्ये मुद्रिकां दृष्टवान्गतः ॥१५६॥
अगृह्णान्मुद्रिकां यावत्तावत्कश्चित्खगेश्वरः। पश्यन्नितस्ततोऽयासीत्पाण्डुस्तं पृष्टवानिति ॥१५७॥
किं विलोक्यं त्वयालोक्य कल्पते लोककल्पन। तदेति खेचरोऽवोचल्लोकिता मुद्रिका मया ॥१५८॥
प्रदर्श्य पाण्डुना सापि बभाषे खेचराधिपम्। भवतां महतां मान्य मुद्रिकावीक्षणं किमु ॥१५९॥
अनु चात्र खगाधीश मुद्रिका विस्मृता कथम्। अलीलपद्वियच्चारी विचारचतुरक्षणः ॥१६०॥

एक समय व्यास ने कुन्ती के पिता अंधकवृष्टि से पाण्डु के लिए सुकेशी कुन्ती की याचना की। तब अंधकवृष्टि ने इस पर अपने पुत्रों के साथ एकान्त में विचार किया और यह निश्चय किया कि पाण्डु को कुष्ठ रोग है, इसलिए उसे कन्या देना योग्य नहीं। इसके बाद पहले की भाँति व्यास ने कुन्ती के सम्बन्ध में अंधकवृष्टि से बार-बार प्रार्थना की परन्तु उसे सफलता प्राप्त न हुई। तात्पर्य यह कि अंधकवृष्टि ने पाण्डु के लिए कुन्ती का देना स्वीकार न किया। आखिर व्यास अपने चित्त में धीरज धर कर चुप रह गया ॥१५०-१५२॥

उधर इन्द्र जैसी विभूति का धारक पाण्डु राजा कुन्ती के रूप पर निछावर हो चुका था। उसके बिना उसे एक मिनट भी चैन न थी, जैसे कि रति के बिना कामदेव को कल नहीं पड़ती। पाण्डुता का स्थान पाण्डु राजा कुन्ती का स्मरण करता-करता ज्वर वाले पुरुष की तरह विह्वल और भूतग्रस्त पुरुष की भाँति अस्थिर-चित्त हो गया था। कुन्ती के वियोग से उसका शरीर झुलस सा गया था, जैसे वज्रपात से शालवृक्ष झुलस जाता है परन्तु तो भी उसके भस्म की भाँति पाण्डु के शरीर की अपूर्व ही शोभा थी ॥१५३-१५५॥

एक दिन पाण्डु वन में क्रीड़ा के लिए गया और वहाँ वह फूलों के उपहार की शय्या वाले लतामंडप में क्रीड़ा करने लगा। इतने में वहाँ पड़ी हुई उसे एक अँगूठी देख पड़ी। वह उसके पास गया और उसने उसे उठा लिया। इसी समय इधर-उधर कुछ देखते फिरते हुए किसी विद्याधर पर पाण्डु की दृष्टि जा पड़ी ॥१५६-१५७॥

उसे देखकर पाण्डु ने पूछा कि भाई, तुम क्या खोजते फिरते हो ? उत्तर में विद्याधर ने कहा कि मैं मेरी अंगूठी खोजता हूँ। यह सुन पाण्डु ने उसे अंगूठी दिखा कर कहा कि महान् पुरुषों द्वारा मान्य और विद्याधरों के अधिपति! आप अंगूठी खोजने का कष्ट काहे को उठाते हैं, आपकी अँगूठी तो यह है। हे खगपति! कहिए कि आपकी यह अँगूठी खो कैसे गई थी ? इस पर विचारशील

विजयार्धधरावासी वज्रमाली वियच्चरः। प्रियासखः सुखं रन्तुमत्रायासं वने घने ॥१६१॥
रन्त्वात्र गच्छता छिद्रान्मुद्रिका पतिता करात्। विस्मृत्य गगने वेगाद्गतेन च मया स्मृता ॥१६२॥
तामिष्टां द्रष्टुकामेन परावृत्त्यागतं मया। अकाण्डे पाण्डुराख्यच्चानया का क्रियते क्रिया ॥१६३॥
खग आख्यत्तदाख्यानं मुद्रेयं कामरूपिणी। यथेष्टरूपदा रम्या निरूप्या रूपदायिनी ॥१६४॥
मित्रैवं चेत्त्वया देया साहानि कानिचित्करे। स्थीयतां स्थायिनी पश्चात्सिद्धे कार्ये तु दास्यते ॥१६५॥
प्रार्थितो वज्रमाली तां परकार्यकरो वरः। अदात्तस्मै यतोऽप्रार्थ्यो मेघो दत्ते जलं महान् ॥१६६॥
कौरवः करसंक्रान्तमुद्रिकः सूर्यपत्तनम्। सूरभूपकृतावासं कदाचिदगमत्त्वरा ॥१६७॥
ततोऽदृश्यवपू रात्रौ प्रविश्यान्तःपुरान्तरे। कुन्तीनिकेतनं सोऽगात्तद्रूपं हृदि संवहन् ॥१६८॥
तत्रासनसमारूढा गूढाङ्गी दृढसद्रतिः। कुन्ती कुन्तीव कामस्य किरत्कोमलकायिका ॥१६९॥
दोर्दण्डेन विदण्ड्यासौ मदनं मदनातुरा। धत्ते हृदि मदोन्मादमोदिनी मन्द्रमानसा ॥१७०॥

विद्याधर बोला कि मैं विजयार्द्ध पर्वत का निवासी वज्रमाली नाम विद्याधर हूँ। मैं अपनी प्राणप्यारी के साथ इस सघन वन में सुख-क्रीड़ा करने को आया था और क्रीड़ाकर जब यहाँ से वापस लौटा उस समय भूल से विमान के किसी छिद्र द्वारा मेरी यह अँगूठी गिर गई। मुझे इसकी खबर न पड़ी और मैं वेग से विमान लिये चला गया। पीछे जब कुछ देर में याद आई तब उस प्राणप्यारी अँगूठी को खोजने के लिए मैं लौटकर यहाँ आया हूँ। उसकी बात पूरी ही न हो पाई थी कि बीच में ही पाण्डु बोल उठा कि इसके द्वारा आप कौन-सा काम साधते हैं ॥१५८-१६३॥

विद्याधर ने कहा कि यह अँगूठी मनचाही वस्तु देने वाली है। इसके द्वारा जैसा रूप चाहें बना सकते है। यह यथेष्ट रूप को देने वाली है। यह सुन पाण्डु कहने लगा कि मित्र! यदि यह ऐसी है तो कुछ दिनों के लिए मुझे दे दीजिए। मैं इसे हमेशा अपने हाथ की अँगुली में पहनूँगा और पीछे कार्य सिद्ध हो जाने पर आपकी वापस दे दूँगा ॥१६४-१६५॥

इस तरह की प्रार्थना करने पर उस परोपकारी वज्रमाली विद्याधर ने पाण्डु को वह अँगूठी दे दी। उसने विचारा कि जड़ मेघ तो बिना याचना के ही दूसरों को मीठा-ठंडा-जल पिलाते हैं और मैं चेतन होकर यदि याचना करने पर भी अँगूठी न दूँ तो मैं जड़ मेघों से भी गया बीता हो जाऊँगा ॥१६६॥

अँगूठी को उँगली में पहिन कर वह सूरीपुर को चला गया, जहाँ कि सूर राजा रहता था। वहाँ रात के वक्त उसने अँगूठी के प्रभाव से अदृश्य रूप बनाकर अन्तःपुर के रनवास में प्रवेश किया तथा कुन्ती के रूप की मन ही मन कल्पना करता हुआ वह उसके महल में पहुँचा। कुन्ती आसन पर बैठी हुई थी। सुन्दर वस्त्र पहिने थी। उसका शरीर सुडौल, कोमल और रूप लावण्य वाला था। वह कामदेव की रति के समान ही देख पड़ती थी ॥१६७-१६९॥

उसने कामदेव को अपने भुजारूप दंडों से विशेष दंड वाला कर दिया था, अतएव काम के जोर से वह मदनातुर हो रही थी, उसके हृदय में कामदेव बस गया था। यह मद के उन्माद से

यस्याः पीनपयोवाहभाराद्भारनितम्बतः। मध्येकटि कृशा चाभून्मध्यस्थः को न सीदति ॥१७१॥
अनङ्गो युगपज्जित्वा जगज्जिष्णुर्भ्रमन्स्थिरम्। स्थितो यस्यास्स्तने नो चेत्तत्स्पर्शात्प्रगटः स किम् ॥१७२॥
यस्याश्च जघनं घ्रात्वा मदनो जीवनं दधे। पद्मवत्पद्मसंचारी तद्रसः षट्पदो यथा ॥१७३॥
चित्रं चित्ररसाप्येषा विचित्राकारधारिणी। विचित्रमृगनेत्राभा नरनेत्रैणबन्धिका ॥१७४॥
विनानया क्षणः क्षीणः क्षीयते मे कथं द्रुतम्। इत्याध्याय बभूवासौ प्रकटाङ्गो गलन्मदः ॥१७५॥
निरूप्य तं निशानाथवदनं सदनं रुचः। कुन्ती कम्पितगाढाङ्गी चकम्पे सपयोधरा ॥१७६॥
यल्ललाटे निविष्टः किमष्टमीमृगलाञ्छनः। यन्मूर्ध्न्ययं धम्मिलाख्यः कामवह्निशिखा ननु ॥१७७॥
यत्कपोललसद्भित्तौ कामोऽचित्रीयत स्फुटम्। अन्यथा वीक्ष्य तौ योषाकाममुद्दीपयेत्कथम् ॥१७८॥
यस्य वक्षःस्थले लक्ष्मी रमते हारसंमिषात्। नो चेत्तद्धृदयं वीक्ष्य लक्ष्मीवान्ना कथं भवेत् ॥१७९॥
यद्भुजौ भोज्यनारीणां भुजङ्गाविव पाशकौ। ययोर्लोकनतो लोके बद्धा इव कथं स्त्रियः ॥१८०॥
यस्यास्ये वाक्सदा शेते इन्दिरा हृत्सुमन्दिरे। सुषमा वपुषि स्थास्याम्यहं कुत्रास्य भागतः ॥१८१॥
किं सूरः किं शशी किंवा मघवा दर्पदर्पितः। कन्दर्पः सर्पनाथः किमेष किं किन्नरीपतिः ॥१८२॥

विलक्षण ही विनोद करती थी। उसका मन बहुत गंभीर था। सारांश यह है कि यह सब बातें उसमें थीं, पर वह इनको अपने गहरे मन के सिवा किसी के कर्ण-कुहर में नहीं जाने देती थी ॥१७०॥

उसके गोल और कठिन कुचों के भार और भारी नितम्बों के भार से उसकी कमर बिल्कुल पतली हो गई थी। ठीक ही है कि चाहे कोई भी हो, जो मध्यस्थ होता है उसे तकलीफ सहनी ही पड़ती है ॥१७१॥

जयशील अनंग-कामदेव जब सारे संसार को एकदम जीत चुका और उसे कहीं भी रहने को जगह न रही तब घूमता फिरता वह इसके पास आया और इसके कुचों में स्थिर हो गया। यदि ऐसा नहीं हो तो फिर कुचों के स्पर्श से वह प्रकट क्यों हो आता है ॥१७२॥

ऐसी प्रसिद्धि है कि महादेव ने काम को जला डाला था परन्तु काम फिर भी लोगों को पीड़ा देता है। अतः यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वह जीवित कैसे हो गया ? इसके उत्तर में कवि उत्प्रेक्षा करता है कि कुन्ती के जघन-स्थल को सूंघकर कामदेव जीवित हो गया है, जैसे कमलों पर उड़ने वाला भौंरा उनके रस को पीकर होश में आ जाता है। यह अचम्भे की बात है कि चित्र के जैसी लिखी हुई होकर भी वह विचित्र आकारों को धारण करती थी। उसके नेत्र चित्र में लिखे हुए हरिण के नेत्रों कैसी आभा वाले थे परन्तु फिर भी वे मनुष्य के नेत्र रूप हरिणों को बाँध लेते थे। यह सब देख-कर पाण्डु ने सोचा कि इसके बिना मैं अब अपना व्यर्थ ही समय खो रहा हूँ और वह एकदम मानमद छोड़कर प्रकट हो गया। इस समय चंद्र जैसे मुँह वाले और कान्ति के सदन पाण्डु को देखकर कुन्ती का दृढ़ शरीर कुचों-सहित काँप गया। वह उसकी सुन्दरता देखकर विचार करने लगी कि इसका ललाट ही इतना कान्तिशाली है या इसमें अष्टमी का आधा चाँद खचित हो रहा है। इसके शिर पर यह केश-पास है या काम-अग्नि की शिखा है। इसके सुन्दर कपोल-रूप भीतों में

ध्यायन्तीति हृदा दध्यौ किमर्थमयमागितः। मद्धाम्नि सीमसंपन्ने दुर्लङ्घ्ये विघ्नपातिनी ॥१८३॥
साह साहससंपन्ना साहसिन् सहसा स्वयम्। मत्सद्म छद्मना केन प्रविष्टस्त्वं ककः कथम् ॥१८४॥
निशम्येति श्रमी चोक्तं परिरम्भणजृम्भणः। उवाच वचनं वाग्मी विदितार्थः कृतार्थवित् ॥१८५॥
सुश्रोणि श्रोतुमिच्छा चेत् स्वच्छं गच्छ मनोमलात्। वदामि विदिते वीरे वरार्हे त्वां पतिंवरे ॥१८६॥
कुरुजाङ्गलसद्देशहस्तिनागनरेशिनः। धृतराष्ट्रस्य भ्राताहं क्षितौ ख्यातः शमी क्षमी ॥१८७॥
स पाण्डुपण्डितो विद्धि स्वपाण्डुगण्डमण्डलः। अखण्डिताज्ञ ऐश्येनाखण्डलप्रतिमोऽप्यहम् ॥१८८॥
चित्तं योगीव प्रद्युम्नो रतिं रामां च कामराट्। स्मरन्स्मरातुरश्चाये त्वां त्वदधीनचेतनः ॥१८९॥
सा जगौ तच्छ्रुतं श्रुत्वा नाथाहमविवाहिता। इत्थं जाते जने याति सापवादापकीर्तिताम् ॥१९०॥

कामदेव ही चित्रित हो रहा है क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो तो इसके कपोलों को देखकर स्त्रियों का काम उद्दीप्त क्यों हो जाता है। इसके वक्षःस्थल में हार के छल से लक्ष्मी ही रमती है, क्रीड़ा करती है। यदि ऐसा नहीं हो तो फिर इसके हृदय को पाकर अर्थात् इसके मन में स्थान पाकर पुरुष लक्ष्मी वाले क्यों हो जाते हैं। इसकी दोनों भुजाएँ भोग ने योग्य स्त्रियों को बाँधने के लिये मानों दो पाश ही हैं। ऐसा न हो तो फिर उन भुजाओं को देखकर स्त्रियाँ बँधी सी क्यों हो जाती हैं। कुन्ती विचारती है कि इसके मुँह में तो सरस्वती रहती है-सोती है, हृदय-मन्दिर में लक्ष्मी निवास करती है तथा शरीर में शोभा रहती है। अब मैं इसके किस भाग में रहूँगी-स्थान पाऊँगी। तात्पर्य यह कि इसके सभी स्थान तो और-और ने घेर लिये हैं, अब मुझे कहाँ जगह मिलेगी, मैं कहाँ रहूँगी। यह सूरज है कि चाँद हैं, इन्द्र है या घमंडी काम है, धरणेन्द्र है कि किन्नर देव है। यह सीमा युक्त, दुर्लघ्य और विघ्न-बाधाओं से रहित मेरे मन्दिरों कैसे और किस लिये आया है। इतना सोच विचार कर उसने साहस के साथ कहा कि हे साहसशाली! आप कौन हैं और किस कपट से मेरे महल में आये हैं। कुन्ती के इन वचनों को सुनकर उसके आलिंगन के लिये जंभाई लेता हुआ श्रमी, वाग्मी, तत्त्वज्ञ और कृतज्ञ पाण्डु बोला कि हे सुश्रोणि! यदि तुम्हें सुनने की इच्छा हो तो मन के मैंल को दूर कर सुनो। पतिंवरे, प्रसिद्धे और वीरे! मैं तुमको सब हाल सुनता हूँ। जरा ध्यान देकर सुनो ॥१७३-१८६॥

कुरुजांगल देश में एक हस्तिनागपुर नाम नगर है। वहाँ धृतराष्ट्र राजा रहते हैं। मैं उनका छोटा भाई हूँ। मुझे सब कोई जानते हैं। मैं समता-भाव को और क्षमा को धारण करने वाला हूँ ॥१८७॥

लोग मुझे पाण्डु पण्डित कहते हैं क्योंकि मेरे में संसार भर की पाण्डुता आकर इकट्ठी हो गई है। मेरी आज्ञा को कोई लाँघ नहीं सकता और ऐश्वर्य में दखल नहीं दे सकता ॥१८८॥

अतः मैं इन्द्र के तुल्य हूँ और जिस तरह योगी जन आत्मा का, कामदेव रति का और कामी पुरुष स्त्री का स्मरण करते हैं उसी तरह तुम्हारा स्मरण करता हुआ, कामातुर हो मैं तुम्हारे पास आया हूँ। मेरा मन बिल्कुल तुम्हारे अधीन हो चुका है, वह अब मेरे वश में नहीं है। पाण्डु के इन वचनों को गौर के साथ सुन चुकने पर वह बोली कि राजन्! मैं अभी बिना ब्याही हूँ। अतः यदि इस समय यह कार्य होगा तो लोगों में बहुत अफवाह उड़ेगी और बड़ी बदनामी होगी ॥१८९-१९०॥

पितृवाक्यं विना वीरा किं वृणोति स्वयंवरम्। नायुक्तमिति वक्तव्यं वक्तव्यं सर्वसंगतम् ॥१९१॥
सोऽवादीद्वेदनाविष्टो मदनस्य तु कामिनी। त्वन्नामाक्षरसन्मन्त्राकृष्टोऽत्रागतवानहम् ॥१९२॥
कामाज्ञालङ्घनाद्भीरु भीतिर्बेभिद्यते मनः। तद्भीत्या मरणावाप्तिः कामिनां पीडितात्मनाम् ॥१९३॥
मद्वचो हृदये धत्स्व त्रपावलीं च कर्तय। लोकापवादतो भीता मा भूर्भूतार्थवेदिनी ॥१९४॥
कामदन्तावलः काममुन्मदिष्णुर्मदोद्धतः। सन्नीतिदन्तिपातारमुल्लङ्घ्य स्वेच्छया व्रजेत् ॥१९५॥
तावत्त्रपालता लोके तावद्धर्ममहीरुहः। तावच्छास्त्रज्ञता यावत्कामदन्ती न कुप्यति ॥१९६॥
स्वदेहं देहि वा हस्ते मृत्युं मे सुकरे कुरु। वदने वदनं धत्स्व कामिनामीदृशी गतिः ॥१९७॥
मनो देहि वचो देहि देहं देहि दयानिधे। दत्तं विना न संतुष्टिर्यतोऽर्थी दानतः सुखी ॥१९८॥
यदीत्थं रोचते तुभ्यं माररोचिष्णुसन्मते। मदनोन्मादनक्रीडां कुरु क्रीडाक्रियोद्यते ॥१९९॥

दूसरी बात यह कि पिता की आज्ञा के बिना वीरा और कुलवती कन्याएँ अपने आप किसी को अपना वर भी नहीं बनातीं। इसलिए आप इस अयुक्त बात को न कह कर जो सर्व-सम्मत हो वही बात कहिए। इस पर काम की पीड़ा से पीड़ित पाण्डु ने उत्तर में कहा कि कामिनि, तुम्हारे नाम के 'कुन्ती' इन दो अक्षरों के मंत्र द्वारा खींचा गया तो मैं यहाँ तक आया हूँ और यदि इस समय काम की आज्ञा को लाँघू तो हे भीरु! मुझे बहुत डर लगता है कि काम न जाने मुझे आज्ञा भंग की क्या सजा देगा ॥१९१-१९३॥

यह मेरे हृदय को जर्जरित किये डालता है। कामदेव के भय से काम से पीड़ित हुए पुरुषों की मृत्यु तक हो जाती है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इसलिए तुम मेरे वचनों को अपने हृदय में स्थान दो और वहाँ से लज्जा-रूपी बेल की जड़ को उखाड़ दो। वास्तव बात को जानने वाली होकर भी तुम लोकापवाद का भय करती हो ॥१९४॥

देवी, मदोन्मत्त काम-रूपी हाथी मद से उद्धत होकर नीति-रूप अंकुश को नहीं मानता और स्वच्छन्द हो इधर-उधर जहाँ उसका मन चाहता-घूमता है और भी सुनो कि तभी तक लोक-लाज रहती है, तभी तक धर्म-वृक्ष हराभरा रहता है और तभी तक शास्त्रज्ञान रहता है जब तक कि काम-रूप हाथी कोप नहीं करता, उद्धत नहीं होता ॥१९५-१९६॥

बस, अब बहुत बातचीत से कोई लाभ नहीं किन्तु अन्तिम बात यह है कि या तो अपने शरीर को मेरे हाथ में दे दो या मेरी मृत्यु को अपने हाथ में ले लो। देवी, तुम डरो मत, आलिंगन दो। यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं कि देखो, कामी पुरुषों की ऐसी गति होती है। वे योग्य-अयोग्य का कुछ भी विचार नहीं करते-उनके हृदय से विवेक कूच कर जाता है। पाण्डु कहता है कि दयाधर्म को पालने वाली देवी, अब देर मत करो किन्तु जल्दी से मन दो, वचन दो और काम भी दे डालो क्योंकि तुम्हारे दिये हुए दान के बिना अब मुझे कल नहीं पड़ती, सन्तोष नहीं होता। क्या तुम्हें ज्ञात नहीं कि अर्थी पुरुष दान से ही सुखी होते हैं। काम से रुचि रखने वाली और उत्तम बुद्धि वाली देवी, यदि तुम्हें मेरा यह कहना रुचता हो तो तुम जल्दी से काम के मद को दूर करने वाली क्रीड़ा करो ॥१९७-१९९॥

दातारं प्रति कामार्थी याति दाता तदर्थिने। दत्ते यतः कृती याच्ञाभङ्गो न शोभते भुवि ॥२००॥
घूर्णिते घूर्णनं मुक्त्वा प्राघूर्णकविधिं भज। प्राघूर्णकोऽस्म्यहं देवि याच्ञाभङ्गं विधेहि मा ॥२०१॥
आकर्णाभ्यर्णमर्यादं मारश्चापं च ताडयेत्। पञ्चबाणैर्नरं नारी संताड्य ताडनोद्यतः ॥२०२॥
तावत्त्रपा कुलं तावत्तावद्भीतिः परा स्थितिः। तावत्पिता जनस्तावद्यावन्मारो न कुप्यति ॥२०३॥
त्रपाजवनिकां भित्त्वा तौ प्रमत्तौ मदातुरौ। चेष्टेते चेष्टया युक्तौ वियुक्तौ कालतोऽखिलात् ॥२०४॥
स तस्याः कण्ठमुद्ग्राहं गृहीत्वा चुम्बनोद्यतः। वदनाम्बुजमारोप्य यथा पद्मं मधुव्रतः ॥२०५॥
इन्दिन्दिर इवोन्मत्तः पद्माघ्राणनमात्रतः। तस्या आस्यं समाघ्राय लब्धपूर्वं तुतोष सः ॥२०६॥
तद्वस्त्राकुञ्चनं कुर्वन्प्रसारणपरायणः। भेजे भोगं भुजाभ्यां स समालिङ्ग्य मुहुर्मुहुः ॥२०७॥
कुचकुम्भौ करौ तस्यास्तस्य नागाविवोन्नतौ। सेवेते स्म यथा रक्तौ निधी लब्धसुखौ खलु ॥२०८॥
स वक्षोजवने तस्या रेमे रामापरायणः। वियोगतार्क्ष्यसंभीतो यथाहिश्चन्दने वने ॥२०९॥

देखो, इच्छा वाला पुरुष दाता के पास जाता है और दाता उसकी इच्छा को पूरी करता है। इसमें यही एक कारण है कि याचना भंग करना संसार में शोभा नहीं पाता-इसे लोग अच्छा नहीं कहते। हे घूर्णिते! अब तो तुम आलस को छोड़ दो और मेरी प्राघूर्णक विधि-पाहुनगत करो क्योंकि मैं तुम्हारा प्राघूर्णक-पाहुना हूँ। देखो, अब मेरी याचना को भंग मत करो। कामदेव बहुत ही निष्ठुर है, वह हमेशा ही नर-नारियों को दुख देने के लिये तैयार रहता है और अपने धनुष को कान तक खींचकर पाँच बाणों द्वारा उन्हें दुख दिया करता है और इसीलिये यह कहा जाता है कि तभी तक लाज और कुल रहता है, तभी तक भय और मर्यादा रहती है तथा तभी तक माता-पिता और परिवार की आन रहती है जब तक कि कामदेव कोप नहीं करता ॥२००-२०३॥

इतनी बात-चीत के बाद उन दोनों ने मदातुर होकर, लाज-रूपी परदे को छेद-भेद डाला और बहुत काल के वियोग के कारण उस समय सारी काम चेष्टायें कीं ॥२०४॥

पाण्डु ने कुन्ती के गले में हाथ डाल दिया और जिस तरह कमल को भौंरा चूमता है उसी तरह-उसके मुँह पर अपना मुँह रखकर वह उसका चुम्बन लेने लगा। वह कमल की गंध को सूंघ लेने मात्र से उन्मत्त हुए भौंरे की तरह उसके अपूर्व मुँह की गंध को सूंघकर बड़ा सन्तुष्ट हुआ-उन्मत्त सा हो गया। वह उसके वस्त्र को कभी सिकोड़ देता और कभी फैला देता। इस तरह दोनों भुजाओं से उसका बार-बार आलिंगन कर वह उसके साथ भोग-क्रीड़ा करने लगा। हाथी के कुंभस्थल की तरह ऊँचे उसके दोनों कुच-रूप कुंभों पर पाण्डु के दोनों हाथ ऐसे जान पड़ते थे मानों वे निधि के लोभी सुखी और आसक्त दो पुरुष ही इन कुंभों की सेवा करते हैं। वियोग-रूपी गरुड़ से डरा हुआ और स्त्री में दत्तचित्त वह उसके कुच-रूप वन में क्रीड़ा करने लगा, जैसे गरुड़ से डरा हुआ साँप चंदन-वन में क्रीड़ा करता हैं। वह कभी उछलता, कभी चुम्बन लेता, कभी हास-विलास और कभी और-और क्रीड़ायें करता था। वे दोनों एक दूसरे के ऊपर आसक्त होकर बहुत ही प्रसन्न हुए और एक ऐसे विचित्र भाव को प्राप्त हो गये, जो कि वचनों से बाहर है। उन दोनों ने एक दूसरे का

वल्गनैश्चुम्बनैर्हासैर्विलासैः क्रीडनैस्ततैः। तौ भावं मेजतुर्भक्तौ कमपि प्रीतमानसौ ॥२१०॥
कियत्कालं समालिङ्ग्यालिङ्गनैः स्पर्शनैः सुखम्। वदना घ्राणनोद्युक्तौ तौ लभेतां सुजृम्भणौ ॥२११॥
एवं कामसुखेनासौ प्रीणयित्वाथ प्रेयसीम्। पिप्रिये प्रीणितः प्राज्ञः प्रियया को न तुष्यति ॥२१२॥
इत्थं प्रच्छन्नदेहोऽसावस्वस्थः प्रतिवासरम्। ममागत्य तया साकं निःशङ्कः स्थितिमातनोत् ॥२१३॥
धात्र्या दृष्ट्यान्यदा दृष्टः स कुन्त्या कृतसंगमः। कोऽयं कस्मात्समायातः किमर्थमिति चिन्तितम् ॥२१४॥
गते तस्मिन्समाचष्टे विशिष्टा स्पष्टलोचना। धात्री धृतिविनिर्मुक्ता कुन्तीं कुन्ताग्रमानसा ॥२१५॥
पुत्रि चित्रमिदं ब्रूहि चलच्चेतोविदारणम्। कोऽयं कुतः समायाति प्रतिघस्त्रं तव गृहे ॥२१६॥
इति पृष्टा महाकष्टादनिष्टस्वान्तधारिणी। आचख्यौ सा चलच्चक्षुश्चञ्चला चलदेहिका ॥२१७॥
समाकर्णय कर्णाभ्यां कृतिं मे विकृताकृतिम्। कर्मणा कलितः कामी कुरुते किं न दुष्करम् ॥२१८॥
कर्मणा कलिताः के के न नष्टाः क्लिष्टमानसाः। नानानीतिसमायुक्ता यथा प्राग्रावणादयः ॥२१९॥
अघटं घटयत्येव सुघटं घटनातिगम्। कर्मेदं घटयत्येवाचिन्तितं चतुरैर्जनैः ॥२२०॥

आलिंगन और स्पर्शन करके कुछ काल तक सुख का अनुभव किया। वे परस्पर में एक दूसरे के मुंह को सूँघते थे और जँभाई लेते थे। इस प्रकार काम-सुख से प्यारी प्रेयसी को प्रसन्न कर वह पाण्डु पण्डित स्वयं भी खूब प्रसन्न हुआ। ठीक ही है, प्रिया से किसे संतोष नहीं होता। इस तरह अदृश्य-रूप को बनाकर वह अपवित्र हमेशा ही कुन्ती के यहाँ आता-जाता रहा और निःशंक होकर उसके साथ काम-क्रीड़ा करता रहा ॥२०५-२१३॥

एक दिन दैवयोग से कुन्ती के साथ बैठे हुए उसे कुन्ती की धाय ने प्रत्यक्ष आँखों देख लिया और वह मन ही मन सोचने लगी कि यह कौन है ? कहाँ से और किसलिये यहाँ आता है ? ॥२१४॥

इसके बाद जब वह चला गया तब कुछ बनावटी-सी नाराजगी को दिखाकर, अधीर हो, उस धाय ने व्यग्र मन से कुन्ती को पूछा कि पुत्री, एक अचम्भे की बात है, जो मेरे चित्त को चंचल और विदीर्ण करे डालती है। कह तो सही, यह कौन है ? और हर दिन कहाँ से तेरे पास आता है? यह सुनकर कुन्ती के मन में बड़ी घबराहट हुई। उसकी नेत्र चंचल हो गये। शरीर बिल्कुल अचल हो गया। उसमें लहू का संचार बन्द हो गया। वह कुछ लड़खड़ाती हुई जुबान से, बड़े कष्ट के साध, बोली कि माता! तुम मेरी इस खोटी कृति को कान देकर सुनो। मैं तुमसे जैसी की तैसी बात कहे देती हूँ। बात यह है कि कर्म के वश होकर कामी पुरुष चाहे जैसे दुष्कृत्यों को भी कर डालते हैं। देखो, कर्म के अधीन होकर किस-किस ने कष्ट नहीं उठाया और कौन-कौन नष्ट-भ्रष्ट नहीं हुए। रावण आदि तो नीति के अच्छे ज्ञाता थे परन्तु कर्म के झकोरे से वे भी न बचे-उनको भी आपत्ति का सामना करना पड़ा। माता, कर्म के निमित्त से नहीं होने वाली घटना तो हो जाती है और होने वाली आसान से आसान भी घटना दूर चली जाती है। कर्म के सम्बन्ध में कहाँ तक कहा जावे, इनके निमित्त से वे-वे काम हो जाते हैं, जिनका बड़े-बड़े महात्मा और चतुर पुरुषों ने भी कभी स्वप्न में विचार नहीं किया ॥२१५-२२०॥

धात्रि संध्यावसानेऽयमकस्मादागतः पुमान्। मत्सांन्निध्यं विधेर्योगाद्विधिः किं न करोति हि ॥२२१॥
एजिता जयनिर्मुक्ता निर्गता खलकर्मणा। जितानेनाजितस्वान्ताहं सुभोगार्थदर्शिना ॥२२२॥
कुरुजाङ्गलदेशेशो व्यासराजसुतोऽप्ययम्। मद्रूपाकर्णनासक्तः पाण्डुरापाण्डुरद्युतिः ॥२२३॥
मुद्रया रूपमुन्मुद्र्य लब्धयोद्यानमन्दिरे। आयासीदत्र सांनिध्ये मम भोगार्थमानसः ॥२२४॥
प्राह धात्री धराकम्पं कम्पयन्तीं निजां तनूम्। विरूपकमिदं पुत्रि किं कृतं कामचेतसा ॥२२५॥
बाला वृद्धा प्रबुद्धा च विकलाङ्गी सयौवना। युवतिर्नरतो वर्ज्याऽन्यथानिष्टसमागमः ॥२२६॥
बाले बलेन संभुक्तानेनेति मनुजाः किमु। वेत्स्यन्ति कथयिष्यन्त्यनया दुःकर्म ही कृतम् ॥२२७॥
अनेन कर्मणा कन्ये कुलं कुवलयोज्ज्वलम्। निःकलङ्कं तवाद्यापि सकलङ्कं भविष्यति ॥२२८॥
यदि वेत्स्यन्ति वेगेनेंदं विदो जनकादयः। विरूपकं तदा काम्ये किं कार्यं च भविष्यति ॥२२९॥
समङ्गमेजया जाता जातनिःश्वासभाजिनी। सगद्गदस्वरा प्राह कुन्ती कुञ्चितविग्रहा ॥२३०॥

माता, एक दिन संध्या के बाद अकस्मात् ही कर्म का प्रेरा यह पुरुष मेरे पास आया। ठीक ही है, कि कर्म क्या-क्या नहीं करता ॥२२१॥

मेरी और इसकी परस्पर में बातचीत हुई। उस समय मैं कर्म की प्रेरी हुई अचल चित्त वाली होकर भी इस भोगार्थदर्शी महान् पुरुष के द्वारा जीती गई। तात्पर्य यह कि बातचीत में उसने मुझे अपनी ओर झुका लिया, पर मैं उसे अपनी ओर न झुका सकी। यह कुरुदेश के राजा व्यास का पुत्र है। इसे पाण्डु पण्डित कहते है। इसकी आकृति-युति बिल्कुल पाण्डु (सफेद) है, जान पड़ता है कि इसलिए इसका नाम पाण्डु पड़ा है। यह मेरे रूप को सुनकर मुझ पर बड़ा आसक्त चित्त था। इतने में उद्यान-मन्दिर में इसे वज्रमाली विद्याधर द्वारा एक इच्छित रूप देने वाली अंगूठी मिल गई। उस अँगूठी के प्रभाव से अदृश्य रूप बनाकर, मेरे साथ रमने की इच्छा से, यह मेरे पास आया था ॥२२२-२२४॥

कुन्ती के ऐसे वचनों को सुनते ही धाय का सारा शरीर काँप उठा और शरीर-कम्प के सम्बन्ध से पृथ्वी भी हिल गई। वह बोली के प्यारी पुत्री, दुष्ट काम के वश हो तुमने यह क्या विरूप कर डाला है। देखो, नीति के विद्वानों ने कैसी अच्छी शिक्षा दी है कि स्त्री चाहे बाला हो चाहे वृद्धा, लिखी पढ़ी हो चाहे निरी अपढ़, अंग-हीन हो चाहे युवती और, कैसी ही सुन्दरी क्यों न हो उसे पुरुष से हमेशा दूर ही रहना चाहिए। नहीं तो कभी न कभी अवश्य ही अनिष्ट होगा ॥२२५-२२६॥

बाले! भला इस बात को लोग क्या जानेंगे कि इस पुरुष ने ही कन्या के साथ जबरदस्ती की है और कन्या सर्वथा निर्दोष है। वे तो यही कहेंगे कि कन्या ने यह बहुत बुरा काम किया है। इसके सिवा इस दुष्कर्म से कमल की तरह स्वच्छ और कलंक-रहित तुम्हारे कुल में भी तो कलंक लग जायेगा और यह तो बताओ कि जब इस दुष्कृत्य को पिता वगैरह विचारशील पुरुष सुन पायेंगे तब तुम्हारी और मेरी दोनों की ही क्या दशा होगी ? ॥२२७-२२९॥

यह सुनते ही कुन्ती का शरीर काँपने लगा और देखते ही देखते सिकुड़ गया, एवं उसकी

उपमातर्महामातर्युक्तसर्वार्थकोविदे। करवाणि किमद्याहं कथं कथय कामदे ॥२३१॥
वाचं यच्छ कुरु स्वच्छां सच्छीलच्छलितात्मिकाम्। अनिच्छन्तीं हि मां छिद्रं वत्से गच्छ दयां मयि ॥२३२॥
ऋते मृतेर्न चेयर्ति ममार्तिः कृन्तकीर्तिका। आत्मनोऽतो मृतिं तूर्णं कीर्तयिष्यामि सत्वरम् ॥२३३॥
मृत्यून्मुखं मुखं वीक्ष्य धात्री तस्या धृतात्मिका। जगाद जगदानन्दं ददती सदया द्रुतम् ॥२३४॥
भयं मा भज भोगाढ्ये स्वास्थ्यं गच्छ मनोहरे। यथा ते स्वास्थ्यसंपत्तिः करवाणि तथाप्यहम् ॥२३५॥
समाश्वास्येति तां धात्री विधात्री धृतिसाधनम्। धाम्नि धामसमुद्दीप्तां धारयन्ती स्थितिं व्यधात् ॥२३६॥
दोषस्याच्छादनं धात्री तस्या सर्वत्र बुद्धितः। कुर्वन्ती समयं किंचिन्निनाय नयकोविदा ॥२३७॥
अथ तद्योगतस्तस्या भ्रूणभावो बभूव च। ववृधे क्रमतो भ्रूणो विविधभ्रान्तिभासतः ॥२३८॥
कठिनं जठरं तस्यास्त्रिवलीभङ्गवर्जितम्। गर्भस्य प्रथमं चिह्नं कुर्वन्प्रकटमुद्बभौ ॥२३९॥
लपनं पाण्डिमोपेतं सन्निष्ठीवननिष्ठुरम्। तुच्छजल्पनसंकल्पमभूत्तस्याः शुभेक्षणम् ॥२४०॥
स्तनकुम्भौ कञ्चुकाख्यसमाच्छादनच्छादितौ। तत्प्रभावाद्धिरण्याभौ तस्या रेजतुरुन्नतौ ॥२४१॥

कान्ति वगैरह सब ही विदा हो गई। वह बड़ी डरी और निसासें छोड़ने लगी तथा गद्‌गद् हो दीन स्वर में कहने लगी कि माता, तुमने मुझे पाला और पोषा है, अतः तुम माता से भी बढ़ कर मेरी महा माता हो और सभी योग्य-अयोग्य बातों को जानती-समझती हो। इसलिए मेरे ऊपर कृपा कर तुम इस वक्त मुझे मेरा कर्तव्य बताओ। इसी में मेरी भलाई है। तुम सभी तरह मेरे मनोरथों को पूरा करने के लिए समर्थ हो, अतः इस समय अब तुम मेरे छल-प्रपंच को मत देखी किन्तु मेरे दुःशील को पवित्र करो-सुधारो और दया का परिचय दो। माता, मरने के सिवाय अब और तरह मेरी पीड़ा नहीं जा सकती, इसलिए अब मैं शीघ्र ही अपने प्राण पखेरुओं को उड़ा देने की कोशिश करूँगी। कुंती के ऐसे भारी दुख भरे शब्दों को सुनकर धीरा और सभी को आनंद देने वाली वह धाय बोली कि मनमोहनी प्यारी पुत्री, तुम कुछ भी भय और चिन्ता मत करो, दिली मैल को धो डालो तथा भरोसा कर लो कि जिस उपाय से तुम्हारी भलाई होगी मैं वही उपाय सोच निकालूँगी। तुम्हें इस सम्बन्ध में तनिक भी चिन्ता नहीं करना चाहिए। तुम तो सुख के साथ अपना समय बिताओ। धाय धैर्य देने में बहुत ही दक्ष थी। उसने उक्त प्रकार कुंती को खूब साहस दिया और आप स्वयं राज-महल में रहकर अपना समय बिताने लगी ॥२३०-२३६॥

इसके बाद नय-नीति को जानने वाली उस धाय ने कुंती के दोषों को जहाँ तक बन सका बहुत दिनों तक छिपाया। धीरे-धीरे कुछ ही दिनों में पाण्डु के सम्बन्ध से कुन्ती गर्भवती हो गई और धीरे-धीरे उसका गर्भ वृद्धिंगत होने लगा। इस समय गर्भ को देखकर लोगों को भाँति-भाँति की भ्रांति होती थी और वह गर्भ भी अपूर्व शोभा पाता था। गर्भ के प्रभाव से कुछ ही काल में कुन्ती का उदर कड़ा पड़ गया और त्रिबली मिट गई। इस तरह उसके गर्भ का पहला चिह्न प्रकट दीख पड़ने लगा। उसका मुँह पीला पड़ गया। थूक अधिक आने लगा। बोल-चाल कम हो गया एवं उसके नेत्र सुन्दर-सुहावने देख पड़ने लगे। साड़ी के आँचल से प्रच्छन्न (ढके हुए) कुच-कुंभ उन्नत और सोने की आभा जैसे पीले हो गये

सपल्लवा यथा वल्ली संचिता सलिलोत्करैः। तथा सा गर्भभारेण स्तनभारोद्धरा बभौ ॥२४२॥
भ्रूणभारश्रमश्रान्तां कुन्तीं वीक्ष्य कदाचन। जनकौ खेदितस्वान्तौ तां धात्रीं प्रति चाहतुः ॥२४३॥
निष्ठुरे दुष्टतानिष्ठे कनिष्ठेऽनिष्टसंगते। अनिष्टमीदृशं कुन्त्याः कारितं केन च त्वया ॥२४४॥
कुलं प्रविपुलं कुल्याः कल्मषीकुर्वते ध्रुवम्। सुता वध्वश्च निःशङ्का विटसंसर्गदोषतः ॥२४५॥
समर्पिता सदा चेयं तव रक्षणहेतवे। दक्षे रक्षा त्वयेदृक्षा समक्षं विहिता लघु ॥२४६॥
यद्दोषतो नरेन्द्राणां सदस्सु वयमाकुलाः। अधोमुखा भविष्यामो मषीमार्जितदेहकाः ॥२४७॥
नदी च पातयेत्कूलं नारी पातयते कुलम्। स्त्री नदीवदिदं सत्यं रससंस्कारसंगिनी ॥२४८॥
नागानां च नखीनां च नारीणां दुष्टचेतसाम्। विश्वासो नैव कर्तव्यो रक्षितानां महाजनैः ॥२४९॥
स्त्रियःसदा न विश्वास्यास्ता उन्मत्ता विशेषतः। नाग्यः खादन्ति कोपेन यद्वत्किं खेदिताः पुनः ॥२५०॥
आत्मजा रक्षणे दत्ता त्वां त्वया चेदृशं कृतम्। दुग्धरक्षाविधौ यद्वन्मार्जारी च पिबेत्पयः ॥२५१॥

एवं जिस तरह जल से सींची गई वेल, फूल और पत्तों द्वारा शोभा पाने लगती है उसी तरह गर्भ-भार से कुचों के भार को वहन करने वाली कुन्ती भी शोभा पाती थी ॥२३८-२४२॥

एक दिन दैवयोग से गर्भ-भार के श्रम से थकी हुई कुन्ती को उसके माता-पिता ने देख लिया। देखकर वे बड़े चिन्तित हुए। धाय से वे बोले कि क्योंरी तू बड़ी दुष्ट है, तुझे नाम मात्र दया नहीं। हे नीच और अनिष्टों को पैदा करने वाली, तूने कुन्ती से यह अनिष्ट किस पुरुष के समागम से करवाया ॥२४३-२४४॥

क्या तू नहीं जानती कि पुत्री और पुत्र-वधू ये दोनों चाहे कितने ही ऊँचे कुल की क्यों न हों यदि स्वतंत्र रहेंगी तो जार-संसर्ग द्वारा पवित्र से भी पवित्र कुल में कलंक लगा देंगी और इसी विचार से ही हमने रक्षा के लिए इसे तेरे सुपुर्द किया था। पर तूने ऐसी रक्षा की, जो प्रकट ही दीख पड़ती है। यह इतनी बड़ी गलती हुई है कि इसके सम्बन्ध से राजाओं महाराजाओं की सभा में हमें नीचा मुँह करना पड़ेगा और लाज के मारे हमारे शरीर पर स्याही फिर जायेगी एवं इससे हमें बहुत दुख उठाना पड़ेगा ॥२४५-२४७॥

नीति के विद्वानों ने कहा है कि स्त्री नदी के तुल्य होती है, कारण कि रस-संस्कार (जलप्रवाह) के द्वारा जिस तरह नदी अपने किनारों को गिरा देती है उसी तरह, शृंगारादि रस और संस्कारों के द्वारा स्त्री भी अपने कुल को दाग लगा देती है ॥२४८॥

इसलिए चाहे वे बड़े-बड़े पुरुषों के द्वारा ही रक्षित क्यों न हों, पर तो भी नागिन, नख वाले पशुपक्षी, नारी और दुष्ट पुरुष इनका भूलकर भी भरोसा नहीं करना चाहिए और इसलिए कहा जाता है कि पुरुषों को स्त्री का कभी भरोसा नहीं करना चाहिए और जब वह कामासक्त हो तब तो उसकी छाँव भी अपने ऊपर नहीं पड़ने देना चाहिए। जरा सोच कर तो देख कि स्वभाव से ही लोगों को सताने वाली नागिन कष्ट दिये जाने पर कभी विश्वास करने योग्य हो सकती है ? अरी दुष्टा! अब तू ही विचार कि हमने तो, पुत्री को रक्षा के लिए तेरे सुपुर्द किया था और तूने बिना विचारे ही

इत्थमुक्ते दराक्रान्ता विक्रान्तिकृतिवर्जिता। सकम्पा स्वेदिला धात्री गतच्छाया जगाविति ॥२५२॥
अशरण्यशरण्यस्त्वं यादवान्वयपालक। कृपां कृत्वावधानेन विज्ञाप्यं श्रूयतां त्वया ॥२५३॥
कुन्त्या दोषो न राजेन्द्र न दोषो मम जातुचित्। केवलं कर्मणो दोषस्तन्नरः किं न नाटयेत् ॥२५४॥
कुरुजाङ्गलदेशस्य स्वामी कौरववंशजः। पाण्डुराखण्डलाकारोऽखण्डितान्वयपालकः ॥२५५॥
कुन्तीप्रार्थनसंलुब्धः क्षुब्धस्तद्रूपचक्षुषा। विश्रब्धः सोऽनया रन्तुं स्तब्धः कामविकारतः ॥२५६॥
कदाचित्कुन्तिकावेश्म प्रविष्टो विष्टपोन्नतः। करे स मुद्रिकां कृत्वा नानारूपविकारिणीम् ॥२५७॥
मन्मुक्तयैकया साकं कन्यया करपीडनम्। चक्रे क्रौरवराजेन्द्रो रहस्युरसि दत्तया ॥२५८॥
प्रतिघस्त्रं तया सार्धं स रेमे रमणीयतां। गतो दृष्टो मया पृष्टा सा ब्रूते स्म यथातथम् ॥२५९॥
एतावत्कालपर्यन्तं रक्षिताच्छादिता मया। अतः प्रभृति नो जाने यद्युक्तं तद्विधेहि भोः ॥२६०॥

बिल्ली वाली कहावत कर दिखाई। वह यह कि यदि बिल्ली को रक्षा के लिए दूध सौंप दिया जाये तो वह रक्षा की जगह स्वयं ही उसे भक्षण कर जायेगी। सो ही तूने किया। यह तेरा कृत्य सर्वथा अक्षम्य है। कुन्ती के माता-पिता के ऐसे डाट-डपट भरे शब्द को सुनकर धाय बड़ी भयभीत हुई। उसे कुछ भी उपाय न सूझ पड़। उसका सारा शरीर थरथर काँपने लगा और पसीने से बिल्कुल ही तर हो गया। उसके मुँह की सारी चमक-दमक नष्ट हो गई। वह जैसे-तैसे बोली कि राजन्, आप अशरणों के लिये शरण है, यादव कुल के पालक हैं, दयालु और धर्मात्मा हैं। कृपाकर सावधान चित्त हो मेरी एक प्रार्थना सुन लीजिये ॥२४९-२५३॥

राजेन्द्र! इसमें न तो कुन्ती का अपराध है और न मेरा ही किन्तु अपराध है पूर्वभव में किये हुए कर्म का। पूर्वकृत कर्म जीवों को नट की तरह जैसा चाहते नचाते हैं। महाराज सुनिए। कुरुजांगल देश में पाण्डु नाम एक राजा है। वह कौरव-वंशी और इन्द्र के जैसी विभूति का धारक है और अखण्ड रीति से अपने कुल की रक्षा करता है ॥२५४-२५५॥

एक बार वह कुन्ती के रूप पर आसक्त हो गया और उसके बिना बड़ा क्षोभ को प्राप्त हुआ। उसके पिता ने कुन्ती के लिये आपसे बहुत बार प्रार्थना की, पर आपने उस पर जब कुछ भी ध्यान नहीं दिया तब वह स्वयं ही कुन्ती से प्रार्थना करने और उसके साथ रमने का उपाय सोचने लगा। कारण, उसके हृदय में कुन्ती के निमित्त से हमेशा ही कामअग्नि धधका करती थी। दैवयोग से इसी बीच में एक दिन वन में उसकी वज्रमाली विद्याधर से भेंट हो गई और उसके द्वारा भाँति-भाँति के रूप को देने वाली एक अँगूठी भी मिल गई। अँगूठी को हाथ में पहनकर वह वहाँ से चला और सूरीपुर पहुँचा। वहाँ रात के वक्त उसने अदृश्य रूप बनाया और वह कुन्ती के महल में पहुँच गया। उस समय कुन्ती वहाँ अकेली ही थी। उसके पास न तो मैं थी और न दूसरी कोई दासी वगैरह थी। ऐसी हालत में एकान्त पाकर वह सुन्दराकृति कौरव-वंशी राजा हृदय में बसने वाली कुन्ती के साथ गांधर्व ब्याह कर उसके साथ प्रति दिन रमने लगा ॥२५६-२५९॥

एक दिन एकाएक उसे मैंने कुन्ती के महल में देख लिया और कुन्ती से उसका सब हाल

निशम्य दम्पती तौ च विमृश्येति स्वमानसे। आच्छाद्यतामयं दोष इति तावूचतुः स्वयम् ॥२६१॥
आच्छादिता तथाप्येषा किंवदन्ती क्षितौ गता। तैलबिन्दुर्यथा मुक्तस्तोये विस्तीर्णतां व्रजेत् ॥२६२॥
अथ सा सुषुवे पुत्रमुद्यन्मित्रसमप्रभम्। पूर्णे मासे महाशोभं शुम्भद्भाभारभूषणम् ॥२६३॥
तदा पुरे जना ज्ञात्वा सुतं जातं सविस्मयाः। राजभीत्या व्यधुर्वार्तां कर्णे कर्णे च तस्य हि ॥२६४॥
कुन्तीपिता तदा ज्ञात्वा किंवदन्तीं सुतस्य च। कर्णजाहं गतां चक्रे कर्णाख्यं तं जनस्य च ॥२६५॥
संमन्त्र्य मन्त्रिभिः सार्धं मञ्जूषास्थमकारयत्। अर्कभं कुण्डलोपेतं सरत्नकवचं नृपः ॥२६६॥
कर्णाख्याक्षरसद्गर्भपत्रोपेतं सवित्तकम्। मुमोच सूर्यतनयाप्रवाहे वहनत्वरे ॥२६७॥
कालिन्दीतरिसंनिष्ठा पुरी चम्पापुरी परा। सौधाग्रलग्नसद्भर्मकुम्भा बाभायते च या ॥२६८॥
या केतुहस्तवारेणाह्वयन्तीव सुरासुरान्। नरावतारमुत्कृष्टं वाञ्छतः स्वच्छमानसान् ॥२६९॥

पूछा। उस समय कुन्ती ने उसका जो हाल मुझे कहा था वह मैंने जैसा का तैसा आपको सुना दिया है। राजन्! इतने दिनों तक तो मैंने पुत्री की भरसक रक्षा की और उसके इस दोष को भी प्रकट नहीं होने दिया परन्तु अब मेरे वश की बात नहीं रही। अतः इस सम्बन्ध में अब आप जैसा उचित समझें वैसा करें ॥२६०॥

धाय के इन वचनों को सुन उन दम्पती ने परस्पर में विचार किया और उत्तर में यह कहा कि तू इस दोष को गुप्त रख, देख, कहीं यह प्रकट न हो जाय। इसके बाद उस धाय ने कन्या के इस दोष को दबाने का खूब प्रयत्न किया, पर उसे कुछ भी सफलता न हुई। लोगों के कानोंकान सब जगह वह फैल ही गई, जिस तरह जल में छोड़ी हुई तेल की बूंद सब जल में फैल जाती है ॥२६१-२६२॥

इसके बाद धीरे-धीरे जब नौ महीना पूरे हो गये तब कुन्ती ने पुत्र को जन्म दिया। पुत्र बाल सूरज की प्रभा की तरह प्रभा वाला था। उसके शरीर की बड़ी शोभा थी। वह कान्ति के पूर से विभूषित था। पुत्र का जन्म होते ही सूरीपुर में सब जगह उसकी खबर फैल गई परन्तु राजा के डर के मारे कोई भी खुले मन से इस बात को न कह सका। सब गुपचुप कानोंकान एक दूसरे को कहते थे ॥२६३-२६४॥

धीरे-धीरे यह किंवदन्ती कुन्ती के पिता के कान में भी जा पड़ी और उन्हें यह मालूम हो गया कि सबने इस बात को जान लिया है। उन्होंने जन्म की बात कानोंकान सब जगह फैलने के कारण उस पुत्र का नाम कर्ण रख दिया तथा मंत्रियों की सलाह से उसे कुंडल वगैरह भूषण और रत्न-खचित कवच पहनाकर एक सन्दूक में बन्द कर दिया और उसी में कर्ण नाम लिखकर एक पत्र तथा कुछ द्रव्य भी रख दिया। इसके बाद उस सन्दूक को तेजी से बहते हुए यमुना नदी के प्रवाह में छुड़वा दिया। यमुना नदी के बिल्कुल किनारे चम्पापुरी नाम की एक नगरी है। उसके महलों के ऊपरी भाग में सोने के सुन्दर कलश लगे हुए हैं, जिनसे वह बहुत सुशोभित है ॥२६५-२६८॥

वहाँ के मन्दिरों पर ध्वजायें फहराती हैं, जिनसे ऐसा भान होता है कि मानो ध्वजा-रूप हाथों के इशारे से नगरी उत्तम नर-जन्म को चाहने वाले और शुद्धमना सुर-असुरों को बुलाती है।

पातालवाहिनीसूरतनया परिखाभवत्। यस्याः कृष्णेव संछेत्तुं रुषा पातालवासिनः ॥२७०॥
विशिखासख्यसंपन्नो हिमांशुर्यत्र वर्तते। विश्रान्तः स्थितिसिद्ध्यर्थं महान् हि महतः सखा ॥२७१॥
यस्याः शृङ्गाग्रसंभिन्नश्चन्द्रो धत्ते सुरन्ध्रतः। रन्ध्रं रश्मिकलापाढ्यो निश्छिद्रोऽपि प्रभासुरः ॥२७२॥
यत्प्रासादशिखोत्तम्भिरत्नकुम्भाः सुतामसम्। नैशं च मानसं घ्नन्ति मध्यस्था जिनसत्तमाः ॥२७३॥
श्रीवासुपूज्यसद्गर्भसूतिकल्याणपावनी। योपान्तवनसद्दीक्षाज्ञाननिर्वाणभाजिनी ॥२७४॥
अङ्गदेशाङ्गतां प्राप्ता नानाङ्गिगणसंगिनी। अगण्यपुण्यसंगीर्णा रम्भोरूभीरुभासुरा ॥२७५॥
भामिनीभासुरास्येन छिन्दन्तीव हिमांशुना। तामसं या सदा भाति सदोद्योतोन्मुखी खलु ॥२७६॥
दानिनो यत्र सद्दानं दत्त्वा दानार्थमञ्जसा। पात्रेभ्यो रत्नसद्धर्षं लभन्ते लाभभासुराः ॥२७७॥
तत्पतिः पालितोनेकसविवेकजनोत्करः। प्रतापपातितागण्यवैगुण्यजनसंश्रयः ॥२७८॥
भानुर्नाम्ना गुणैर्भानुर्ब्रध्नभानुसमद्युतिः। शत्रुदारुक्षये चित्रभानुर्भानुः प्रतापतः ॥२७९॥
भानुभानुः क्षयं याति तमिस्त्रायां कदाचन। नायं दीप्त्या प्रतापेन सदोद्द्योतितदिङ्मुखः ॥२८०॥

चम्पानगरी के चारों ओर जो खाई है, वह ऐसी जान पड़ती है कि मानो यह पाताल लोक में बहने वाली यमुना नदी ही है और पाताल-वासियों पर रुष्ट होकर वह यहाँ आ गई है ॥२६९-२७०॥

यद्यपि चाँद रस्मियों के समुदाय से भरपूर है, भासुर और छिद्र-रहित है परन्तु तो भी वहाँ के ऊँचे शिखरों वाले मन्दिरों से घिस जाने के कारण वह छिद्र वाला-सा देख पड़ता है। वहाँ के मन्दिरों के शिखर बड़े ऊँचे हैं, इसलिए उनके साथ चन्द्रमा की मित्रता हो गई और इसी कारण वह अब विश्राम के लिये वहाँ आकर ठहरता है। ठीक ही है कि बड़ों के साथ ही बड़ों की मित्रता हो पाती है। इसका तात्पर्य यह है कि वहाँ के मंदिर-महल बड़े-बड़े ऊँचे हैं ॥२७१-२७३॥

वहाँ वासुपूज्य प्रभु के गर्भ और जन्म ये दो कल्याणक हुए है, अतः वह पुरी पवित्र है। इसके सिवा उसके पास के वन में दीक्षा ले केवलज्ञान लाभकर कई भव्यजीव मोक्ष-महल में जा विराजे हैं। वह नगरी अंगदेश में है और उसमें भाँति-भाँति के पुरुषों का निवास है। वह अगणित गुणों वाली और केले के थंभ के समान सुन्दर जाँघों वाली स्त्रियों से भासुर है, एवं स्त्रियों के भासुर मुख-चंद्र के द्वारा अँधेरे को दूरकर हमेशा ही उद्योत-रूप रहा करती है। वहाँ के दानी पुरुष हमेशा ही पात्रों को दान देते हैं और लाभ के निमित्त से प्रकाशरूप होकर रत्न और हर्ष को पाते हैं ॥२७४-२७७॥

ऐसी अपूर्व नगरी का पालक राजा था भानु। वह हमेशा विवेकी और शिष्टजनों की रक्षा करता था और दुष्टों का निग्रह करता था। उसके प्रताप से डरकर जो लोग उदासीन हो जाते थे उन विरक्त पुरुषों का वह आश्रय था। उसमें बहुत गुण थे, अतः वह उनसे भानु के जैसी सुशोभित था। सूरज की किरणों जैसी उसके शरीर की कान्ति थी। वह शत्रु-रूप ईंधन को जला डालने को अग्नि था और प्रताप में सूरज के जैसा था। उसमें सूरज से भी यह विशेषता थी कि सूरज का तो रात में अस्तित्व नहीं रहता और यह कभी प्रताप और दीप्ति से हीन नहीं होता था, हमेशा ही उदित रहता था-दसों दिशाओं को तेजोमय बनाये रखता था। वह इतना बड़ा दानी था कि उसके दिये दान को

यद्दानतो जनास्तूर्णं कल्पवृक्षं विसस्मरुः। चिन्तामणौ मतिं तेनुः कामधेनौ न नाप्यहो ॥२८१॥
वेत्ता शास्त्रविदां मान्यो योद्धा युद्धविदां मतः। योऽभूत्प्रतापपारीणः शत्रुदर्पसुशातनः ॥२८२॥
तत्पत्नी प्रेमसंपूर्णा राधा याराध्य देवतां। लब्धलक्ष्मीरिवानन्ददायिनी सुखदा शुभा ॥२८३॥
यस्या रूपं गुणा यस्या यस्याः सौभाग्यमुन्नतम्। यस्या दीप्तिरिदं सर्वं विदुषा केन वर्ण्यते ॥२८४॥
नृपस्य हृदये लग्ना वाग्देवीव विराजते। सालङ्कारा सुरीतिज्ञा निर्दोषा या गुणान्विता ॥२८५॥
या रम्भेव परा रम्भा रम्भास्तम्भोरुभासिनी। रंरभ्यते शुभाभोगभोगैर्विभ्रमवीक्षणा ॥२८६॥
पतिसंपत्तिसंपन्ना विपत्तिविमुखोन्मुखा। अरातिसंततित्यक्ता यानपत्यैव केवलम् ॥२८७॥
अथैकदा धराधीशो दैवज्ञं दैववेदकम्। समाहूय तमप्राक्षीत्सुतो मे भविता न वा ॥२८८॥
सोऽप्यष्टाङ्गनिमित्तज्ञो विचार्य निजचेतसि। प्रोवाच वचनं वाग्मी श्रुत्वेति नृपतेर्वचः ॥२८९॥

पाकर लोग कल्पवृक्षों को भी भूल जाते थे एवं इसके होते हुए वे न तो चिंतामणि को याद करते थे और न कामधेनु की ही। वह बड़ा ज्ञानी था। बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ भी उसे विद्वान् मानते थे। वह युद्धकला में कुशल योद्धा था, प्रतापशाली और शत्रु-पक्ष का विध्वंसक था ॥२७८-२८२॥

उसकी प्रिया का नाम था राधा। राधा के लिए भानु ने देवताओं की आराधना की थी। तब कहीं वह उसे मिली थी। वह भी प्रेम की अन्तिम सीमा ही थी। लोग उसे लक्ष्मी की उपमा देते थे। कारण कि जैसे लक्ष्मी लोगों को आनंद देकर सुखी बनाती है वैसे ही वह भी प्रजा को आनंद देकर सुखी करती थी। तात्पर्य यह कि उसकी कृपा से प्रजा का समय सुख-चैन से बीतता था। लक्ष्मी को लोग शुभ मानते हैं। वह भी शुभ थी, उसके दर्शन से लोगों के अभीष्ट की सिद्धि होती थी ॥२८३॥

सच तो यह है कि उसके रूप-लावण्य, कान्ति-कला, गुण-चतुराई और अटूट सौभाग्य की कोई विद्वान् तारीफ ही नहीं कर सकता है। वह भानु के हृदय से लगी हुई सरस्वती-सी जान पड़ती थी क्योंकि सरस्वती में अलंकार वगैरह होते हैं, वह भी अलंकार-भूषण वगैरह पहिने थी। सरस्वती सुरीतियाँ बताती है, वह भी अपनी चाल-ढाल से लोगों को सुरीतियाँ बताती थी। सरस्वती निर्दोष और गुणवती होती है, वह भी दोषरहित और गुणों से युक्त थी ॥२८४-२८५॥

सरस्वती लोगों के हृदय-मन्दिर में रहती है, वह भी राजा के हृदय-मंदिर में निवास करती थी। वह रंभा के जैसी सुन्दर थी, यही नहीं किन्तु उससे भी बढ़कर सुन्दर थी। उसकी जाँघें केले के थंभे के जैसी सुन्दर थीं। उसकी दृष्टि लोगों के मन में विभ्रम पैदा करती थी। वह भोगों से पूर्ण और मन को मोहित करने वाली होने के कारण इन्द्र की इन्द्राणी जैसी शोभती थी। वह बड़ी सम्पत्तिशालिनी थी। विपत्ति उसके पास भी न फटकती थी। यह सब कुछ होने पर भी दैवदुर्विपाक से उसके कोई सन्तान नहीं थी ॥२८६-२८७॥

एक दिन राजा ने एक निमित्तज्ञानी को बुलाया और पूछा कि मेरे यहाँ पुत्र पैदा होगा या नहीं? इस प्रश्न को सुनकर अष्टांग-निमित्त के पंडित और वाग्मी उस निमित्तज्ञानी ने सोचकर कहा कि हे सूरज के जैसे प्रतापशाली और प्रजा-पालक महाराज, मैं निमित्त-ज्ञान से आपके इस प्रश्न का

भानुमान्भानुरद्य त्वं भानो मद्वचनं स्फुटम्। समाकर्णय शब्देन निमित्तेन वदाम्यहम् ॥२९०॥
यदा ते यमुनातीरे मञ्जूषार्भकसंगतिः। ततस्ते भविता नूनं तनूजो जनितादरः ॥२९१॥
सार्भका साथ मञ्जूषा वहन्ती यमुनाजले। चम्पाभ्यर्णतटे टंक्ये टीकते स्म कदाचन ॥२९२॥
तामागतां तटे श्रुत्वा नृपोऽनैषीत्स्वसेवकैः। तां दृष्ट्वाथ समुद्घाट्य ददर्शार्भकमद्भुतम् ॥२९३॥
तमङ्के स समारोप्य प्रति राधामवीवदत्। नैमित्तिकवचश्चित्ते चिन्तयंश्चतुरोचितम् ॥२९४॥
राधे शुद्धविधानज्ञे समृद्धे बुद्धिपारगे। गृहाणेमं सुतं सारं रूपनिर्जितभास्करम् ॥२९५॥
निशम्येति वचस्तस्य कर्णकण्डूयने रता। जग्राह भर्तृवाक्येन सुतं सोत्कण्ठिताशया ॥२९६॥
कर्णकण्डूयनं तस्याः सुतसंग्रहणक्षणे। वीक्ष्य बालस्य कर्णाख्यां व्यधात्तत्रापि भूपतिः ॥२९७॥
ववृधे बालकस्तत्र कलया शोभया श्रिया। कौमुद्या तामसातीतः कुमुदो बालचन्द्रवत् ॥२९८॥

इति शुभपरिपाकात्प्राप्तसौभाग्यभारः सकलविबुधसेव्यो दिव्यदेहः सुदीव्यन्।
विदितसकलशास्त्रो लक्षणैर्लक्षिताङ्गः श्रुतिमतिरतिभायात्कर्णनामा कुमारः ॥२९९॥

उत्तर देता हूँ, उसे सावधान चित्त होकर सुनिए। यमुना नदी के किनारे तुम्हें एक संदूक मिलेगी। उसमें से एक सुन्दर बालक निकलेगा, जो सारे संसार द्वारा मान्य होगा ॥२८८-२९१॥

इसके बाद कुछ काल बीत चुकने पर ऐसा ही हुआ और एक सन्दूक यमुना नदी के प्रवाह में बहती हुई किनारे आकर लगी ॥२९२॥

सन्दूक को बहकर आने का समाचार सुनकर बहुत से नौकर-चाकरों को साथ ले राजा वहाँ आया और उसने सन्दूक को जल से बाहर निकलवाया। इसके बाद उसे खोलकर देखने पर उसमें एक अद्भुत बालक पड़ा हुआ मिला। उसे उठाकर राजा ने अपनी गोद में ले लिया और निमित्तज्ञानी के वचनों पर गहरी दृष्टि से विचार कर वह रानी से बोला कि प्रिय राधे, तुम शुद्ध विचारों को अपने हृदय में स्थान देती हो, समृद्ध और बुद्धि के पारंगत हो, अतः अपने तेज से सूरज को भी लज्जित करने वाले इस अतीव मनोहर बालक को ग्रहण करो, गोद में लो ॥२९३-२९५॥

स्वामी के इन वचनों को सुनकर रानी बड़ी प्रसन्न हुई। उसने बड़े हर्ष के साथ उस बालक को अपनी गोद में ले लिया ॥२९६॥

उसे लेते समय रानी अपने कानों की खुजा रही थी, अतएव राजा ने उसका कर्ण नाम प्रसिद्ध किया। राजा भानु के यहाँ कर्ण कला, शोभा, लक्ष्मी, आदि से सब प्रकार बढ़ने लगा। उसका तामस-अज्ञान नष्ट होकर वह सारी पृथ्वी को आनन्द देने लगा। जैसे दोज का चाँद बढ़कर और धीरे-धीरे तामस-अँधेरे को नष्ट कर लोगों को आनंद देने लगता है ॥२९७-२९८॥

पुण्योदय से जिसे ऐसा सौभाग्य प्राप्त है, सारे देवता-गण जिसकी सेवा करते हैं और जिसका शरीर दिव्य है, जो सकल शास्त्रों का ज्ञाता है, जिसकी शास्त्र के विषय में हमेशा ही शुभमति रहती है वह कर्ण सारे संसार में सुशोभित हो ॥२९९॥

शास्त्राकर्णनकोविदः किल कलाकीर्तीश्वरः कान्तिमान्।
कारुण्याङ्कसमाकुलो कलकृपासंकीर्णचेता यथा
कुन्त्याः कोमलकामिनीसुखकरः कम्रः कनीयान्कृती
कानीनः कमलाकरोऽसुपङ्कजे पुत्रः श्रियाऽभाद्रविः ॥३००॥

इति श्रीपाण्डवपुराणे महाभारतनाम्नि भट्टारकश्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपाल साहाय्यसापेक्षे श्रीकर्णकुमारोत्पत्तिवर्णनं नाम सप्तमं पर्व ॥७॥

जो शास्त्र-श्रवण में दक्ष है, कला और कीर्ति का स्वामी है, कान्ति-शाली और करुणा-भाव से पूरित है, जिसका चित्त हमेशा ही दया से भीगा रहता है, जो कुन्ती का पुत्र तथा-कोमल कामिनी-जनों को सुख देने वाला है, मनोहर और सुकृती है, लक्ष्मी का स्थान और प्राणी-रूप कमलों को विकसित करने के लिए सूरज है वह कर्ण अपनी श्री-कान्ति से सुशोभित हो ॥३००॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में कर्णकुमार की उत्पत्ति का वर्णन करने वाला सप्तम पर्व समाप्त हुआ ॥७॥

❑ ❑ ❑

अष्टमं पर्व

शंभवं संभवध्वंसधातारं शंभवं जिनम्। संभवध्वंसिनं वन्दे संभवत्सातसागरम् ॥१॥
श्रृणु श्रेणिक लोकानां महती मूढता मता। ईदृशः कथ्यते कर्णः कर्णजः कथ्यते जनैः ॥२॥
कर्णजाहं गतत्वेन वचसा जन्मसंभवे। मात्रन्वये समाख्यातः कर्णः श्रीकर्षणोद्यतः ॥३॥
सुराधाकर्णकण्डूयाक्षणे भूपात्समाददे। बालकं तेन तत्रापि स कर्णः कथितो जनैः ॥४॥
यदि कर्णस्य चोत्पत्तिः कर्णात्संजायते लघुः। अतोऽन्येषां कथं जन्म न संबोभूयते भुवि ॥५॥
कर्णतो नासिकायाश्च मानवानां कथंचन। न दृष्टं न श्रुतं जन्म कर्णस्य च कथं भवेत् ॥६॥
कर्णतो जन्म कालेन नोपनीपद्यते नृणाम्। गोश्रृङ्गतो भवेद् दुग्धं न कदाचिज्जगत्त्रये ॥७॥
वन्ध्यातः सुतसंभूतिः शिलातः सस्यसंभवः। गगनात्कुसुमोत्पत्तिः शशाच्च श्रृङ्गसंभवः ॥८॥
पृदाकुवक्त्रतः शुद्धा संपनीपद्यते सुधा। एतत्सर्वं यथा न स्यात्कर्णात्कर्णोद्भवस्तथा ॥९॥
व्योमाब्जसौरभाख्यानसदृशः कर्णसंभवः। ततः कर्णस्य संभूतिः शुद्धा विज्ञायतां त्वया ॥१०॥

उन शंभवनाथ प्रभु को नमस्कार है, जो सुख के दाता और पाप के विध्वंसक हैं, जो संसार से पार उतारने वाले हैं, सुख के सागर हैं ॥१॥

यहाँ गणधर प्रभु कहते हैं कि हे श्रेणिक, लोग बड़े मूर्ख हैं, जो इस तरह से पैदा हुए कर्ण की कान से उत्पत्ति बताते है। उसके जन्म की बात लोगों में कानों-कान चली थी, इसलिए तो माता के कुल में उस सुन्दराकृति का कर्ण नाम पड़ा और चंपानगरी में राजा भानु ने जिस समय अपनी रानी को इसे सौंपा उस समय वह कान खुजाती थी, अतएव वहाँ भी कान खुजाने के निमित्त से भानु नरेश ने उसका कर्ण नाम रख दिया। दूसरी बात यह है कि जो लोग जबर्दस्ती कर्ण की कान से ही उत्पत्ति बताते हैं उन्हें इस बात पर भी तो विचार करना चाहिये कि यदि कान से ही कर्ण की उत्पत्ति हुई हो तो अब भी पृथ्वी पर कान, आँख, नाक वगैरह से मनुष्यों की उत्पत्ति क्यों नहीं होती। दूसरी बात यह है कि जब आज तक कान वगैरह से कभी मनुष्यों की उत्पत्ति न तो सुनी गई और न देखी ही गई तब फिर कान से कर्ण की उत्पत्ति कैसे हो गई ? ॥२-६॥

यह बात उचित नहीं जान पड़ती। देखो, जिस तरह गाय के सींग से कभी भी दूध नहीं निकल सकता उसी तरह से तीन काल में भी कान से कभी मनुष्य पैदा नहीं हो सकता और भी सुनिए, जिस प्रकार बाँझ स्त्री से पुत्र, पत्थर पर अन्न, आकाश में फूल और गधे के मस्तक में सींग, साँप के मुँह से अमृत की उत्पत्ति होना असम्भव है उसी प्रकार कान से कर्ण की उत्पत्ति होना और कहना भी असम्भव हैं। यदि ऐसा सम्भव होता तो दुनिया विवाह वगैरह की झंझटों में कभी न फँसती, किन्तु कान से कर्ण जैसे पुत्रों की उत्पत्ति करके ही पुत्र वाली बन जाती। राजन्, कान से कर्ण की उत्पत्ति बताना, यह सब आकाश के फूल की सुन्दरता का ही वर्णन है! इसमें कुछ भी सार और सत्य अंश नहीं है। अतः हमने जैसी कर्ण की उत्पत्ति पहले बताई है वही सत्य है और सार है। तुम वैसा ही विश्वास करो ॥७-१०॥

सूर्यसेवनतः कुन्त्या जातः पुत्रस्तु कर्णवाक्। तन्मृषात्र नरस्त्रीणां कुतः सूर्येण संगमः ॥११॥
भानुना पालितो यस्मात्तस्मात्सूर्यसुतोऽप्ययम्। नन्दगोपसुतः कृष्णो यथा गोपाल उच्यते ॥१२॥
अथ पाण्डवभूपानां कौरवाणां विशेषतः। यथाशास्त्रं यथालोकमुत्पत्तिः कथ्यते तथा ॥१३॥
एकदान्धकवृष्टिश्च तनयैर्नयपेशलैः। सार्धं विचारयामास कुन्त्याः पाणिप्रपीडनम् ॥१४॥
यद्यन्येभ्यः प्रदीयेत कुन्ती स्याद्दोषदूषिता। तादृशीं तां परिज्ञाय न ग्रहिष्यन्ति चापरे ॥१५॥
पटवे पाण्डवे पुत्री प्रदेयातः शुभाप्तये। इति मन्त्रिणमाकृत्य तत्र ते निश्चयं व्यधुः ॥१६॥
धृतमर्त्यान्यसन्नाम्ने व्यासाय वरप्राभृतैः। दूतं संप्रेषयामास सलेखं मुखरं क्षमम् ॥१७॥
स गत्वा क्रमतः प्राप्य सदः कौरवभूपतेः। दौवारिकेण संदिष्टो ददर्श दूरतो नृपम् ॥१८॥
मृगेन्द्रासनमारुढं हसन्तमिव भूमिपान्। सोत्कर्षं भावयन्तं वा चलच्चामरवीजनैः ॥१९॥
भूषयन्तं नभोभागं सदातपनिवारणैः। भानोर्निश्छिद्रमालोकं कुर्वन्तं वा तिरस्कृतम् ॥२०॥
भान्तं प्राभृतलक्षैश्च निधानैरिव दर्शितैः। भूमिदेव्याः समुद्भासिभूषणैरिव भूषणैः ॥२१॥

सूरज के समागम से कुन्ती के कान द्वारा कर्ण की उत्पत्ति होना निरी झूठी बात है। भली मनुष्यनी के साथ सूरज का समागम ही कैसे हो सकता है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि फिर कर्ण को सूर्यसुत क्यों कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि चंपानगरी के राजा भानु ने इसका पालन-पोषण किया था और भानु का दूसरा नाम सूरज भी है, इसलिए सूर्यसुत नाम से इसकी प्रसिद्धि हो गई। जिस तरह कि नंद गोप नामक ग्वाल के यहाँ पालन-पोषण होने के कारण लोग कृष्ण नारायण को भी गोपाल कह कर पुकारते हैं ॥११-१२॥

अब कौरव-पाण्डवों की शास्त्र और लोक के अनुसार विस्तार से उत्पत्ति बताई जाती है। सुनिए, एक समय अंधकवृष्टि ने नय-नीति के ज्ञाता अपने पुत्रों के साथ कुन्ती के विवाह सम्बन्ध में विचार किया। उस समय यह बात उपस्थित हुई कि यदि पाण्डु के सिवा दूसरे को कुन्ती दी जायेगी तो वह व्यभिचारिणी कही जायेगी और एक बात यह भी है कि उसे ऐसा सुनकर कोई दूसरा ग्रहण भी नहीं करेगा ॥१३-१५॥

इसलिए अच्छा इसी में है कि पाण्डु को ही कन्या दी जाय। विचार कर अन्त में उन्होंने पाण्डु को ही पुत्री देने का निश्चय किया और उसी समय वर के योग्य भेंट तथा पत्र देकर एक विज्ञ और सहनशील दूत को व्यास के पास रवाना किया। वह थोड़े ही समय में कौरवों के राजा व्यास की सभा में पहुँचा। वहाँ द्वारपाल की आज्ञा से भीतर जाकर दूर से उसने राजा का दर्शन किया। राजा सिंहासन पर विराजे थे। जान पड़ता था कि मानी वे और-और राजाओं को हँस रहे है, या अपने उत्कर्ष की भावना करते हैं। उनके ऊपर जो चमर ढुलते थे उनसे वे आकाश के कुछ हिस्से को विभूषित करते थे। उनके ऊपर छत्र लगा हुआ था। वह सूरज के प्रकाश को उनके ऊपर नहीं आने देता था, वह सूरज का तिरस्कार करता था ॥१६-२०॥

उनके आगे देश-विदेश के राजा लोगों द्वारा भेजी हुई भेंटों के ढेर के ढेर लगे हुए थे, जिनसे

जगत्पतेर्जगज्ज्येष्ठं कुण्डलैः कर्णसंगतैः। मण्डितं चन्द्रसूर्याणां मण्डलैरिव संनुतम् ॥२२॥
नानामागधवृन्देन वादिना यशसः श्रुतेः। ब्रुवाणेन यशो राज्ञो दिशान्तस्थितदिग्गजान् ॥२३॥
क्षरन्तं वाक्षरैः क्षिप्रं सुधाराशिं रसोद्गमम्। वीक्षणैर्वीक्षयन्तं च कटाक्षक्षेपदीक्षितैः ॥२४॥
गृह्णन्तमिव स्वात्मीयाञ्जनान्यदृच्छया स्थितान्। हसन्तमिव हास्येन शत्रून्सेवासमागतान् ॥२५॥
बिभ्रतं पाणिपद्मेन कृपाणं कृपणान्परान्। भीषयन्तं मुदा दानं ददतं स्वमहोन्नतिम् ॥२६॥
दर्शयन्तं महोद्योगं युक्तैर्वाक्यैर्विचारणाम्। कुर्वाणं किंचिकीर्षुश्चेति विस्मयकरं नृणाम् ॥२७॥
इति दौवारिकेणासौ दर्शितं भूभुजां पतिम्। मुक्त्वा ननाम दूतेशः सपायनमुपायनम् ॥२८॥
नाथ सूरिपुरीनाथोऽन्धकवृष्णिरुदीरितः। शास्ति सर्वां प्रजां यद्वन्मरुत्वान्सुरपद्धतिम् ॥२९॥
तेनाहं प्रेषितोऽभ्यर्णं तूर्णं ते पाण्डुना सह। सोत्सवं स्नेहयुक्तेन कुन्त्या विवाहमिच्छता ॥३०॥
श्रुत्वा भूपो वचः प्राह युक्तं कोऽत्र न वाञ्छति। मुद्रिका मणिना योगं यान्ती केन निवार्यते ॥३१॥

उनकी अपूर्व ही शोभा हो रही थी। वे ढेर ऐसे जान पड़ते थे कि मानो राजा लोगों द्वारा दिखाने के लिये भेजे गये उनके खजाने ही हैं या पृथ्वी देवी के सुन्दर भूषणों के जैसे वे राजा के अपूर्व भूषण ही रखे हैं। राजा व्यास सारे संसार में उत्कृष्ट थे। वे कानों में मनोहर कुंडल पहिने हुए थे। जान पड़ता था मानो वे चाँद और सूरज के दो मण्डल ही हैं और वे कुंडलों का रूप धर कर इनकी सेवा ही करते है एवं जैसे वादी शास्त्र के यश को गाते है वैसे ही भाँति-भाँति के मागधों द्वारा उनके यश दिग्गजों तक पहुँचाए जा रहे थे, मानो वे उन मागधों के द्वारा उनकी वाणी से अमृत की बरसा करवा रहे थे। वे कटाक्ष-पात की दीक्षा से दीक्षित नेत्रों के द्वारा रसीली गंभीर दृष्टि से लोगों की ओर देखते थे, जान पड़ता था कि वे उन्हें अपने बन्धुओं की भाँति अपनाते हैं। वे सेवा में आये हुए शत्रुओं को मनचाही दृष्टि से हँस से रहे थे ॥२१-२५॥

उनके हाथ में एक तीखी तलवार थी, जिसे देखकर लोभी पुरुष भयभीत होते थे। वे हर्ष के साथ दान देते थे, लोगों को अपनी नम्रता दिखाते थे। वे महान् उद्योगी थे और हर एक बात पर युक्ति द्वारा विचार करते थे। उनका हृदय बड़ा गंभीर था। वे जब तक किसी काम को कर न गुजरते थे तब तक कोई भी उनकी बात की जान न पाता था कि इस समय महाराज क्या करना चाहते हैं। उनके कार्यों को देखकर सब अचम्भा करके रह जाते थे ॥२६-२७॥

दूत ने आगे बढ़कर, द्वारपाल द्वारा दिखाये हुए पृथ्वीपतियों के पति व्यास महाराज के आगे भेंट रखी और उन्हें नमस्कार किया। इसके बाद वह बोला कि राजन्, सूरीपुर के राजा अंधकवृष्टि को सब कोई जानता है। वे देवताओं पर इन्द्र की तरह सुख-पूर्वक अपनी प्रजा पर शासन करते हैं। प्रभो! उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है। वे चाहते हैं कि आपके राजकुमार पाण्डु के साथ मेरी पुत्री कुन्ती का ब्याह हो ॥२८-२९॥

दूत के इन वचनों को सुनकर राजा ने कहा कि जो बात युक्त है उसे कौन नहीं चाहेगा। भला, अँगूठी और मणि का संयोग किस बुद्धिमान् को पसंद नहीं पड़ेगा। व्यासजी को तो पहले ही से

तत्रासक्तं सुतं जानन्पुनः प्रोवाच भूपतिः। यत्र सूरीपुरेशस्य मनस्तत्रोद्यता वयम् ॥३२॥
इति सर्वसमक्षं हि सत्यंकारं व्यधान्नृपः। तयोर्विवाहसिद्ध्यर्थं क्षणेन क्षणसंगतः ॥३३॥
ततो दूतं स संमान्य वस्त्रैराभरणैस्तथा। निर्णय्य लग्नदिवसं प्राहिणोत्प्राभृतैः समम् ॥३४॥
अथ पाण्डुकुमारोऽसौ विवाहाय विनिर्ययौ। नानालङ्करणोपेतो नानाभूपालवेष्टितः ॥३५॥
पाण्डुः पाण्डुरछत्रेणाखण्डाखण्डलसत्प्रभः। वदद्वाद्यसुनादाढ्यो वीजितस्तु प्रकीर्णकैः ॥३६॥
धरामुपरि कुर्वाणस्तुरंगमखुरोत्थितैः। रजोभी रञ्जयञ्लोकान् रेजे राजा सुराजवत् ॥३७॥
पप्रथे प्रथिमानं स रथैः सारथिसंयुतैः। सार्थैः समर्थतां नीतैर्मन्दिरैरिव जङ्गमैः ॥३८॥
दन्तिनो दन्तघातेन घातयन्तो धराधरान्। सार्धं नेतुं तदा नेदुर्नादयन्तो हि दिग्गजान् ॥३९॥
मित्राणि छत्रछन्नानि मित्रमण्डलभानि च। मोदान्मुमुदिरे तेन सार्धगामित्वसद्धिया ॥४०॥
आनकाः कामुका नेदुरिवाच्छादनछादिताः। कराङ्गुलिप्रिया बाढं गाढालिङ्गनतत्पराः ॥४१॥

मालूम था कि कुन्ती को पाण्डु चाहता है। उन्होंने दूत से कहा कि जैसी सूरीपुर के ईश अंधकवृष्टि की मनसा है वैसी ही हमारी भी है, उनकी इच्छा के अनुसार हम तैयार हैं। व्यास ने इसी समय पाण्डु और कुन्ती के ब्याह की सिद्धि के लिये बड़ा भारी महोत्सव किया और सब सभासदों के आगे प्रतिज्ञा की कि पाण्डु के लिए मुझे कुन्ती लेना स्वीकार है ॥३०-३३॥

इसके बाद नाना प्रकार के वस्त्र और आभूषणों के द्वारा उन्होंने दूत का खूब आदर किया और लग्न-दिन का निर्णय करके भेंट सहित उसे सूरीपुर को रवाना कर दिया।

इसके बाद पाण्डुकुमार विवाह के लिए सूरीपुर जाने को हस्तिनापुर से निकला। वह नाना प्रकार के बहुमूल्य गहने पहिने था और उसके साथ कितने ही राजागण थे ॥३४-३५॥

उसके सिर पर सफेद छत्र लगा हुआ था, जिससे कि वह इन्द्र के जैसा शोभता था। उसके आगे-आगे नाना प्रकार के बाजे बजते जाते थे, जिनसे सभी दिशाएँ शब्दमय हो रही थीं। प्रकीर्णक-जन उसके ऊपर चमर ढोरते थे, जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानों सारी पृथ्वी पर एक वही श्रेष्ठ पुरुष हैं, चमर उसकी इस उत्तमता को ही जता रहे हैं ॥३६॥

पाण्डु के घोड़ों की टापों से जो धूल उड़कर लोगों को धूसरित कर रही थी उससे जान पड़ता था कि वह लोगों को जान-बूझकर धूल से रंजित कर विवाह के आनंद को प्रकट कर रही है। इस समय वह इन्द्र के जैसा शोभता था, इन्द्र से किसी भी बात में कम न था। इस समय पाण्डु के साथ जो सजे हुए और सारथियों-सहित रथ-समूह जा रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानों जंगम मन्दिर ही है और वे चलने योग्य हो गये है। दाँतों के प्रहार से पहाड़ों को भी गिरा देने वाले और अपनी ध्वनि से दिशाओं को प्रतिध्वनित करने वाले हाथी चिंघाड़ रहे थे। छत्ता लगाये हुए मित्र मण्डल-जो मित्र (सूरज) मण्डल की तरह सुशोभित था साथ जाने की खुशी से हर्षित हो रहा था ॥३७-४०॥

नगाड़े-रूप कामी पुरुष यद्यपि वस्त्र वगैरह से प्रच्छन्न थे, उनके सब ओर कपड़े की झालर लगी थी पर तो भी वे अँगुली-रूपी प्रिया के गाढ़ आलिंगन से शब्द कर रहे थे। तात्पर्य यह कि प्रिया

नेटुर्नटगणा नित्यं नटीभिः पटवस्तदा। रम्भानृत्यं समुत्साहे कोपान्निरसितुं यथा ॥४२॥
जग्रन्थुर्ग्रन्थगीतानि गन्धर्वा गर्वगुण्ठिताः। विवाहसमये जेतुं हाहातुम्बरनारदान् ॥४३॥
मङ्गलानि सुकामिन्यो गायन्ति स्म शुभस्वनैः। विवाहगमने तस्य जेतुं देवाङ्गना इव ॥४४॥
मात्रा मङ्गलकर्तव्यं सिद्धशेषां समाश्रितः। नीतोऽसौ निर्जगामाशु विवाहार्थं कृतोत्सवः ॥४५॥
मार्गे कश्चिदुवाचेदं पश्य भूप प्रियामिव। शालिनीं कमलाकीर्णां नदन्तीं च नदीं पराम् ॥४६॥
विलोकय धराधीशमचलं त्वामिवोन्नतम्। सवंशं पार्थिवोपेतं सत्पादाश्रितसद्गुणम् ॥४७॥
नाथ नृत्यन्ति मार्गेऽस्मिन्विवाहोत्सविनो मुदा। मयूरीभिर्मयूराश्च सुनटीभिर्यथा नटाः ॥४८॥
महीरुहा महाच्छायाः सफलाः पल्लवादिनः। प्राघूर्ण्यं कुर्वते तेऽद्य भवन्तो वा समुन्नताः ॥४९॥
कोलं पश्य महापङ्कमग्नं मलकुलाविलम्। तमोमूर्तिं वनान्तस्थं विपक्षमिव तेऽधुना ॥५०॥

के आलिंगन की खुशी में उनसे चुप न रहा गया और इसीलिए वे शब्द कर रहे थे एवं चतुर नट-गण अपनी नटियों के साथ-साथ उनके आगे-आगे नृत्य कर रहे थे। जान पड़ता था कि मानों वे उत्साह में आ कोप से देवांगनाओं के नाच को ही नीचा दिखा रहे हैं ॥४१-४२॥

इसी समय हा हा, तुम्बर नारदों की जीतने के लिये अभिमान से भरे हुए गंधर्व-गण विवाह के समय गाने की उत्तम-उत्तम गीत गूंथ रहे थे। पाण्डु को जाते समय सौभाग्यवती स्त्रियाँ मनोहर स्वरों में मंगल पाठ पढ़ रही थीं, मानो वे देवांगनाओं को जीतने की ही कोशिश करती थीं। इसके बाद पाण्डु की माता सुभद्रा ने पाण्डु की मंगल आरती उतारी और उसे सिद्ध भगवान् की आसिका दी। इस प्रकार के उत्सव-पूर्वक पाण्डु विवाह के लिए हस्तिनापुर से सूरीपुर को चला ॥४३-४५॥

रास्ते में पाण्डु को उसके सेवकजन प्रकृति की शोभा दिखाते जाते थे कि कुमार देखिए, यह कमलों से पूर्ण और शब्द करती हुई नदी सुन्दर प्रिया की तरह कैसी मनोहर देख पड़ती है क्योंकि प्रिया भी कमलों के भूषण पहनती है और मीठी बात करती है। इधर देखिए, यह अचल धराधीश (पहाड़) आपके समान ही उन्नत वंश (बॉस और दूसरे पक्ष में वंश) वाला है, राजाओं से युक्त है क्योंकि शत्रुओं के भय के मारे राजा-गण यहीं आश्रय पाते है। इसके उत्तम पाद (नीचा भाग और चरण) हैं और इसमें उत्तम-उत्तम गुण हैं। तात्पर्य यह कि यह आपसे किसी भी बात में कम नहीं है। नाथ और भी देखिए कि मार्ग में विवाह का उत्सव मनाने के लिए हर्षित मयूरगण अपनी-अपनी मयूरी के साथ कैसा सुन्दर नृत्य कर रहे हैं। जान पड़ता है कि नटियों के साथ-साथ उत्तम नर-गण ही नाच रहे हैं और सघन छाया वाले ये वृक्ष फल और पत्तों के भार से पीड़ित हो रहे हैं, अतएव आपको पाहुनगत करके अपना भार हलका करना चाहते हैं, जान पड़ता है, ये इसलिए आपको फल और छाया वगैरह दे रहे हैं। सो ठीक ही है कि अपनी बराबरी वाले की सभी पाहुनगत करते हैं। ये जब आप जैसे ही उन्नत और फल-फूलों वाले हैं फिर आपका स्वागत क्यों न करें। ये सुअर देखो, कीचड़ में कैसे लोट रहे हैं, मिट्टी से बिल्कुल ही लथपथ हो रहे हैं और वन में रहने वाली अँधेरे की खासी मूर्ति सी देख पड़ते हैं। राजन्! ये आपके शत्रु ही आपके प्रताप से यहाँ आ छिपे हैं। इस तरह देवताओं, विमानों

एवं पश्यन्कुमारोऽसौ मार्गान्स्वर्गानिवापरान्। सबुधान्सविमानान्सतिलोत्तमांश्चचाल सः ॥५१॥
आगच्छन्तं परिज्ञाय कौरवं यादवेश्वरः। सन्मुखं सन्मुखीभूतविधिर्वेगात्समागमत् ॥५२॥
अथ तौ च समाश्लिष्य मिलितौ नम्रमस्तकौ। कुशलालापसंबद्धौ चेलतुः स्वां पुरीं प्रति ॥५३॥
या तोरणमहापादा नम्रकेतुसुबाहुका। नटन्तीव महानाट्या मातरिश्वनटादृता ॥५४॥
शातकुम्भमहाकुम्भशुम्भच्छोभाभिराजिता। क्वचिन्मङ्गलसद्गीतिपूर्णपूर्णस्तनी वरा ॥५५॥
रङ्गरङ्गावलीपूर्णस्वस्तिका च क्वचित्क्वचित्। स्वस्तिसंपूर्णसत्तूर्णनरराजविराजिता ॥५६॥
याह्वयन्तीव भूपालान्प्रासादोद्भूतसद्रवैः। गायन्तीव सदा गानं कामिनीगीतसंगमात् ॥५७॥
हसन्तीव सदा नाकं द्वारबद्धसुमाल्यकैः। चन्द्रकान्तोपला यत्राकाण्डे चन्द्रांशुपीडिताः ॥५८॥
मुञ्चन्ति जलसंघातान्नाटयन्तः शिखावलान्। कुर्वन्तो जनतानन्दं मेघा इव गृहस्थिताः ॥५९॥
प्रतिबिम्बं स्वमालोक्य यत्र स्फटिकभित्तिषु। सपत्नीदरतो नार्यो घ्नन्त्यस्तद्धसिता जनैः ॥६०॥

और तिलोत्तमा से भरे पूरे स्वर्ग की भाँति विद्वानों, विमानों और नरनारियों से भरपूर मार्ग को देखता-भालता, दिल बहलाता पाण्डुकुमार थोड़े ही समय में सारे रास्ते को तय कर सूरीपुर जा पहुँचा ॥४६-५१॥

कौरववंशी पाण्डु को आया सुनकर यादवेश्वर राजा अंधकवृष्टि उसकी अगवानी के लिये शहर से बाहर आया और सामने आकर उससे मिला। वहाँ उन दोनों ने एक दूसरे का सत्कार किया और परस्पर में भेंट की, एवं आपस में कुशल-समाचार पूछा। इसके बाद वे दोनों पुरी के भीतर आये। पुरी में जो तोरण बँधे हुए थे वे उसके पाँव थे और मनोहर ध्वजाएँ उसके हाथ थे। पुरी के ये हाथ-पाँव हवा से खूब हिल रहे थे, जिससे ऐसा भान होता था कि यह पुरी नहीं है किन्तु नटी है और वह हवा रूप नट के द्वारा आदर की गई नाच ही करती है। इस पुरी के सब मन्दिरों पर सोने के सुन्दर कलश चढ़े हुए थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था कि मानों वे पुरीरूपी नटी के उन्नत कुच ही हैं। उसमें कहीं-कहीं भाँति-भाँति के रंग के साथिया पुरे हुए थे और स्वस्ति कल्याण- से परिपूर्ण राजागण निवास करते थे। यहाँ के महलों पर बैठी हुई नारियों मंगल-गीत गाती थीं, जिनसे ऐसा भान होता था मानों वह नारियों के शब्दों द्वारा और-और राजाओं को ही बुला रही है ॥५२-५७॥

इसके दरवाजों पर बँधी हुई मालाओं से ऐसा जान पड़ता था मानों वह स्वर्ग लोक को ही हँसती है। यहाँ पर दीवालों में चंद्रकान्त मणियाँ जड़ी हुई थीं और उन पर आकर चंद की चाँदनी पड़ती थी, जिससे वे असमय में जल बरसाती थीं और मयूरों को नाचने के लिये उत्साहित करती थीं, एवं प्रजागण को भी आनंद देती थीं। इस समय लोगों को ऐसा ख्याल होता था कि ये चंद्रकान्त नहीं हैं किन्तु घरेलू मेघ ही हैं। यहाँ की भीतें स्फटिक की बनी हुई थीं, अतः उनमें अपने प्रतिबिम्ब को देखकर स्त्रियों को ऐसा भ्रम हो जाता था कि क्या यह हमारी सौत तो नहीं आ गई है। वे यह सोच पति के पास से हट जाती थीं और पति-गण इसी पर से उनकी खूब हँसी उड़ाते थे ॥५८-६०॥

हरिन्मणिदृषद्बद्धां कं वीक्ष्य मृगशावकाः। तृणादनधिया यान्तो विलक्ष्याः सन्ति यत्र च ॥६१॥
धनेन धनदं धीरास्तर्जयन्त्यन्यथा कथम्। जिनजन्मोत्सवे यत्र श्रीदो रत्नानि वर्षति ॥६२॥
एवं तौ तां पुरीं प्राप्य यादवेशो जनाश्रये। शुम्भत्स्तम्भमहाशोभे कौरवं चावतारयेत् ॥६३॥
सुमुहूर्ते शुभे लग्ने विवाहविधिकोविदैः। महाभुजां स्त्रजोद्दीप्तां वेदीं निन्ये स सोत्सवः ॥६४॥
सौदार्यं च समाधुर्यं कान्तिकान्तं गुणाकरम्। वव्रे च कौरवं कुन्ती सुकाव्यमिव भारती ॥६५॥
मद्री कुन्तीमहास्नेहाज्जनकाद्यैः समादृता। कौरवं सोत्सवं वव्रे रामं सीतेव सद्गुणा ॥६६॥
बहुभिः पूजितः पाण्डुरखण्डैर्वस्त्रभूषणैः। दन्तावलै रथैरश्वैः सुवर्णैः शस्त्रसंचयैः ॥६७॥
ततः कन्याद्वयं लात्वा सभोगो भोगिवद्ययौ। पुरं नागपुरं श्रीकं कुमारः कौरवाग्रणीः ॥६८॥
प्रविशन्पुरनारीभिः पुरं पाण्डुः प्रवीक्षितः। मुक्तनिःशेषकार्याभिर्वर्याभिर्निजकर्मणि ॥६९॥
काचित्पृच्छति भो भद्रे क्व पाण्डुः क्व च गच्छति। भूत्या च कीदृशा सम्यक्प्रविष्टः पत्तनं शुभम् ॥७०॥

यहाँ की भूमि में सब जगह हरित् मणियाँ खची हुई थीं, जिनको देखकर विचारे मृगों के बच्चे तृण चरने के विचार से आते तो दौड़कर के, पर जाते थे हताश होकर। यहाँ के धीर पुरुष अपने धन से कुबेर को भी तिरस्कृत करते थे, अन्यथा जिनेन्द्रदेव के जन्मोत्सव के समय कुबेर वहाँ रत्नों की बरसा ही काहे को करता। ऐसी सुन्दर पुरी में उन दोनों ने प्रवेश किया। वहाँ ले जाकर अंधकवृष्टि ने खूब सजे हुए एक मनोहर मंडप में पाण्डुकुमार को ठहराया और उसकी खूब पाहुनगत की ॥६१-६३॥

इसके बाद शुभ मुहूर्त और शुभ लग्न में राजाओं की विवाह विधि के जानकार पुरोहित के द्वारा बड़े ठाट-बाट के साथ पाण्डुकुमार फूल-मालाओं से सजी हुई वेदी के पास लाये गये। वहाँ उदारचित्त, मिष्टभाषी, गुणाकर तथा कान्तिशाली पाण्डुकुमार को कुन्ती देवी ने अपना वर पसंद किया, जैसे भारती (वाणी) काव्य को पसंद करती है ॥६४-६५॥

इसके सिवा माता-पिता आदि द्वारा सत्कृत मद्री ने भी बड़े स्नेह से कुन्ती के साथ-ही-साथ कुमार को अपना पति बनाया, जिस तरह सब गुण-सम्पन्न सीता सती ने राम को अपना पति बनाया था। इस समय पाण्डुकुमार की सबने पूजा की। किसी ने अखण्ड वस्त्र और कीमती गहने पहनाये, किसी ने हाथी, किसी ने रथ, किसी ने घोड़ा और किसी ने सोना-चाँदी एवं भाँति-भाँति के हथियार दिये। कहने का तात्पर्य यह है कि पाण्डु का लोगों ने सब तरह से बड़ा आदर-सत्कार किया, किसी ने किसी भी बात को उठा न रक्खा ॥६६-६७॥

इसके बाद मद्री और कुन्ती दोनों कन्याओं को लिवाकर कौरवों का अगुआ और भोगी पाण्डुकुमार इन्द्र की तरह सब तरह से सुशोभित हस्तिनापुर को चला आया। वहाँ जब उसने नगर में प्रवेश किया तब वहाँ के सब कार्यकुशल नरनारीगण अपने-अपने काम-काज छोड़कर पाण्डुकुमार को देखने के लिये आये। इस समय पाण्डु की अपार विभूति को देखकर एक स्त्री दूसरी स्त्री को पूछती है कि भद्रे, पाण्डु कहाँ है और कहाँ जाता है ? देखो तो सही, उसने कैसी विभूति के साथ नगर में प्रवेश किया है। यह सुन कोई और ही स्त्री बोल उठी कि शुभगे और मंगलमूर्ति देवी, तुम इधर

काचिज्जगाद सुभगे एह्येहि शुभमङ्गले। तं द्रष्टुं कौतुकं तेऽद्य यदि त्वां दर्शयाम्यहम् ॥७१॥
काचिच्च मज्जने सक्ता श्रुत्वा यान्तं महीपतिम्। दधाव धावनं मुक्त्वार्धवस्त्रपरिधानका ॥७२॥
काचिद्भोजनवेलायां स्थिता भोजनभाजने। पाण्डोः समटनं श्रुत्वा मुक्त्वा तन्निर्गता गृहात् ॥७३॥
रुदन्तं स्वार्भकं हित्वा काचिदन्यार्भकं हठात्। अयासीच्च समादाय विचारपरिवर्जिता ॥७४॥
काचिच्च दर्पणे वक्त्रं लोकयन्ती लसद्द्युति। यान्ती प्रवृद्धहस्तेव सादर्शा दृश्यते जनैः ॥७५॥
वल्भमानं पतिं हित्वा प्रागल्भ्यादभ्रविभ्रमा। बभ्राम वीक्षितुं काचित्तं पुरीं ग्रथिलेव च ॥७६॥
अलङ्कारविधौ सक्ता सालङ्कारकरण्डकान्। हित्वा गतेर्भयाद्द्रष्टुं काचित्तमचलत्तदा ॥७७॥
कण्ठस्य भूषणं कट्यां कण्ठे च श्रोणिभूषणम्। दधाव दधती काचित्को विवेको हि कामिनाम् ॥७८॥
कज्जलेनापरा भाले तिलकं तिलकेन च। अञ्जनं नेत्रयोः काचित्कुर्वाणा पथि निर्गता ॥७९॥
प्रकटस्तनकुम्भाभा विपरीतात्तकञ्चुका। हसितागात्परैः काचित्का लज्जा कामिनां किल ॥८०॥

जल्दी आओ, मैं तुम्हें पाण्डु का दर्शन कराये देती हूँ और तुम्हें जो पाण्डु के देखने का कौतुक हो रहा हैं उसे अभी मिटाये देती हूँ ॥६८-७१॥

कोई स्त्री स्नान कर रही थी, इतने में ही उसने पाडु महीपति के शुभागमन को सुना और वह स्नान करना छोड़ आधा ही कपड़ा पहने बाहर चली आई-उसे कुछ भी सुध-बुध न रही एवं कोई भोजन की थाली पर जीमने को बैठी ही थी कि उसने राजा के आने का समाचार सुना और वह भोजन को छोड़कर एकदम बाहर निकल आई। किसी स्त्री ने जब पाण्डु के आगमन को सुना तब वह एकदम विचार-विमूढ़ हो गई और रोते हुए अपने बालक को छोड़ किसी दूसरे के बालक को गोद में उठाकर बाहर निकल पड़ी ॥७२-७४॥

कोई स्त्री दर्पण में मुँह देख रही थी, वह दर्पण लिये ही घर के बाहर आ गई। उसको दर्पण लिये हुए देखकर लोगों को भ्रम होता था कि कहीं इसका हाथ ही तो ऐसा नहीं है। कोई स्त्री पति को जीमता छोड़कर भागी, पर उसे कहीं राजा न देख पड़ा-मेघ की नश्वरता की तरह उसे राजा का भ्रम-सा हो गया, तब वह राजा को देखने की इच्छा से इधर-उधर दौड़ती फिरने लगी ॥७५-७६॥

कोई स्त्री आभूषण पहिन रही थी। वह राजा को देखने के लिये इतनी उत्सुक हो उठी कि उसे अपने गहने-गाँठे के सन्दूक को रखने की भी सुध न रहीं-वह उसे जहाँ का तहाँ पड़ा छोड़कर बाहर आ गई एवं कोई स्त्री जल्दी में गले का हार कमर में और कमर का सूत्र (करधनी) गले में पहिन कर बेसुध-सी हुई बाहर आ खड़ी हुई। किसी ने राजा के देखने की लालसा से चित्तभंग होकर भाल पर काजल का तिलक और आँखों में कुंकुम का कज्जल ऑज लिया। ठीक है कि कामी मनुष्यों को कुछ भी विवेक नहीं रहता ॥७७-७९॥

कोई भामिनी जी कपड़ा पहिन रही थी, उल्टी कंचुकी पहिन कर कुच निकाले हुए ही पाण्डु को देखने के लिये बाहर आ गई। उसे देख लोगों ने उसकी खूब ही हँसी उड़ाई। ठीक ही है कि कामी जनों की लाज कूच कर जाती है। कोई स्थूलकाय स्त्री गाड़ी में बैठी हुई किसी दूसरी स्त्री को

काचिज्जगाद सद्वृद्धा स्थूला च शकटावहा। सखि मां वीक्षितुं लात्वा त्वं याहि गमनोत्सुका ॥८१॥
भ्रूणभारपरिभ्रष्टा विसंभ्रमा भ्रमातिगा। बभ्राम भ्रान्तितः काचित् स्त्रीणां हि गतिरीदृशी ॥८२॥
अलब्धमार्गा गच्छन्ती परा मार्गविरोधिकाम्। प्रत्युवाच सुपन्थानं देहि देहीति भाषिणी ॥८३॥
तरुणीं तरुणी काचित्पातयन्ती पुरःस्थिताम्। चचाल चलचित्तापि चञ्चला जलवीचिवत् ॥८४॥
बभाण भामिनी काचित् दृष्टवा तं नृपनन्दनम्। ताभ्यां युतं ततं श्रीभिरिति हर्षसमाकुला ॥८५॥
सखि केनात्र पुण्येनैताभ्यां योगं समाप च। पाण्डुः पाण्डुरछत्रेण लक्षितो लक्ष्यलक्षणः ॥८६॥
लक्ष्मीकान्तिकलापाभ्यामाभ्यां योगेन रञ्जितः। अयं चायोविपाकेन समाप्नोति परां श्रियम् ॥८७॥
आभ्यां द्वाभ्यां सखि ब्रूहि किं कृतं सुकृतं द्रुतम्। पूर्वजन्मनि येनायं वरो लब्धो विचक्षणः ॥८८॥
दत्तं दानं सुपात्रेभ्यस्तपस्तप्तं सुदुःकरम्। किं वाभ्यां भक्तिभारेण सेवितः श्रीगुरुर्महान् ॥८९॥
चैत्यालयेऽथवा बाले वर्यया च सपर्यया। चेकीयितो जिनो देव आभ्यां सभ्यसमक्षकम् ॥९०॥
अहार्याचर्यचर्या च चरिताभ्यां शुभेच्छया। अन्यथा कथमीदृक्षं मृगाक्षं वरमाप्नुयात् ॥९१॥
अखण्डमण्डलं ग्लौवत्पाण्डोश्छत्रं सुपाण्डुरम्। पिण्डीकृतं यशोवृन्दमिव संशोभते शुभम् ॥९२॥

कहती है कि सखी, तुम जाने को बहुत ही उत्सुक देख.पड़ती हो, जरा ठहरो और मुझे भी देखने को साथ ले चलो ॥८०-८१॥

गर्म-भार से थकी हुई कोई स्त्री भ्रम हो जाने से चक्कर खाने लगी और बेहोश सी हुई इधर-उधर घूमती, गिरती, पड़ती फिरने लगी। सच है कि स्त्रियों की ऐसी ही गति होती है। वे किसी भी बात पर विचार नहीं करती। कोई स्त्री मार्ग न मिलने पर मार्ग रोकने वाली स्त्रियों को मीठे-मीठे शब्दों में कहती है कि सखी, रास्ता छोड़ दो, मुझे तो महाराज दीखते ही नहीं एवं कोई तरुणी मार्ग देने के लिए आगे वाली तरुणी स्त्रियों से कहती है, पर वे हटती नहीं, तब वह उन्हें गिरा कर चंचल-चित्त होती हुई, जल को तरंगों की तरह शरीर को भी चंचल बनाकर, फुर्ती से उनके आगे निकल जाती है एवं कुन्ती और मद्री से युक्त और लक्ष्मी से परिणीत पाण्डु को देखकर हर्षित हुई कोई स्त्री कहती है कि सखी, अगणित लक्षणों वाले और सफेद छत्र द्वारा पहिचाने जाने वाले पाण्डु ने इन दोनों सुन्दरियों को किस पुण्य के उदय से पाया है ॥८२-८५॥

लक्ष्मी और कान्ति के समूह-रूप इन दोनों के योग से रंजित पाण्डु जो कुछ भी सुख-लाभ कर सका है वह सब पुण्य का ही परिणाम है और सखी, यह भी तो बताओ कि इन दोनों ने भी पूर्वभव में कौन-सा अपूर्व पुण्य कमाया था, जिसके फल से इन्होंने ऐसा इन्द्र जैसी विभूति-वाला और विचक्षण योग्य वर पाया है। इन्होंने सुपात्र के लिये दान दिया है या घोर तपस्या की है, बड़े भक्तिभाव से श्रीगुरु की सेवा की है या जिन चैत्यालय में जा जिनेन्द्रदेव की पूजा की है अथवा शुभ इच्छा से इन्होंने उत्तम पुरुषों की सेवा-शुश्रूषा की हैं ॥८६-९०॥

इन उत्तम कामों में से इन्होंने अवश्य ही कोई काम किया है, नहीं तो इन्हें ऐसा योग्य वर कभी भी नहीं मिल सकता था। पूर्ण चंद्र की तरह स्वच्छ और मंडालाकार पाण्डु का छत्र ऐसा जान पड़ता

अनेन पाण्डुनाखण्डखण्डं नीताश्च दस्यवः। शस्त्रसंघातघातेन घातिनाद्य सुघस्मराः ॥९३॥
इत्थं संस्तूयमानोऽसौ जनैः प्राभृतहस्तकैः। सुन्दरं मन्दिरं प्राप पाण्डुः प्रबलशासनः ॥९४॥
तयोः स्वमन्दिराभ्यर्णमाकीर्णे पूर्णसंपदा। निकेतने सुकेत्वाढ्ये ददौ वासाय भूपतिः ॥९५॥
ताभ्यां भोगान्परान्भूपो बुभुजे भोगवित्सदा। गरीयः सुकृतं यस्य किं तस्य स्यादुरासदम् ॥९६॥
सुकुन्तीस्तनसंस्पर्शात्तदास्याब्जसुपानतः। तस्याभून्महती प्रीतिः प्रेम्णे वस्त्विष्टमानसम् ॥९७॥
तद्वक्त्राब्जाद्रसामोदं संहरन्नातृपन्नृपः। चञ्चरीक इवाम्भोजान्मारसेवा न तृप्तये ॥९८॥
कटाक्षवीक्षणै रम्यैः स्मितैश्च कलभाषणैः। बबन्ध सा मनस्तस्य स्वस्मिन्नत्यन्तसुन्दरैः ॥९९॥
मनस्विनी मनोऽबध्नात्कामपाशायिते लघु। कण्ठे बाहुलते तस्य गाढमासज्य कामिनी ॥१००॥
स्पर्शं च कोमले पाणौ सौगन्ध्यं च मुखाम्बुजे। शब्दमालपिते तस्या देहे रूपं न्यरूपयत् ॥१०१॥
तर्पयामास निःशेषं सोऽक्षग्रामं विशेषवित्। प्रेप्सोरैन्द्रियिकं सातं गतिर्नातः पराङ्गिनः ॥१०२॥
तद्वध्वमृतमासाद्य रोगीव दिव्यभेषजम्। सेवमानः स कालेऽभूत्सुखी निर्मदनज्वरः ॥१०३॥

है कि मानो पिंडरूप में इकट्ठा हुआ उसका यश ही है और छत्र के बहाने से उसकी शोभा बढ़ाता है। इस महोदय राजा ने शस्त्रों के तीव्र प्रहार द्वारा पापिष्ट बैरियों के खण्ड-खण्ड कर दिये है। इसके समान बली राजा और कोई नहीं है। इस तरह से भेंट दे-देकर लोगों ने पाण्डु की खूब स्तुति-भक्ति की। इसके बाद कुछ देर में प्रबल प्रतापी पाण्डुकुमार तो अपने सुन्दर महल में चला गया और उन दोनों पुत्रवधुओं का, व्यास ने अपने मंदिर के पास ही, पूर्ण सम्पत्तिशाली और ध्वजाओं से सुशोभित एक महल में निवास कराया। बाद वह भोगी पाण्डु पंडित भी उन दोनों प्रियायों के साथ सुख से रमता हुआ वहीं रहने लगा। सच है कि जिसका पुण्य प्रबल होता है उसे किसी भी बात की कमी नहीं रहती ॥९१-९६॥

कुन्ती के कुचों के स्पर्श से और उसके मुख-कमल के पान से पाण्डु को बड़ी प्रसन्नता हुई, जैसे मनचाही चीज को पाकर प्रेमी पुरुषों को प्रीति होती है। उसके सुगंधित मुख कमल को सूँघकर पाण्डु को तृप्ति ही नहीं होती थी, जिस तरह कि कमल की सुगन्ध से भौंरे तृप्त नहीं होते। सच है कि काम सेवन से किसी को भी सन्तोष नहीं होता। कुन्ती ने कटाक्षमय दृष्टिपात से, मनोहर मुस्कान से, मीठी बोल-चाल से और अपने सौंदर्य से उसका मन बिल्कुल अपनी तरफ खींच लिया, अपने में बाँध लिया। उस मनस्विनी ने उसके मन को अपने अनुपम सौंदर्य से और काम के पास की तरह अपनी दोनों भुजाओं से उसके गले को खूब मजबूत बाँध लिया। वह उसे अपने प्राण ही समझ ने लगी। पाण्डु ने भी उसके साथ कामसुख भोगते-भोगते उसके कोमल हाथों में स्पर्श का, मुख-कमल में सुगन्ध का, बोल-चाल में मनोहर शब्दों का और उसके शरीर में मनोहर रूप का जैसा कुछ अनुभव किया और जैसा इन्द्रियों के सुखों को भोगा वह सब उसके लिये अपूर्व ही था। ठीक ही है कि इन्द्रिय-सुख की वाञ्छा रखने वाले जीवों को स्त्री के सिवा और कोई गति ही नहीं है ॥९७-१०२॥

अपनी नव वधू की रूप-सुधा का पानकर-दिव्य औषधि को पीकर रोगी की तरह-पाण्डु

कदाचित्सदनोद्याने रेमेऽसौ युवतीयुतः। कदाचिद्बहिरुद्याने वल्लीवेश्मविराजिते ॥१०४॥
क्रीडाद्रौ स कदाचिच्चाक्रीडयत्कामिनीद्वयम्। कदाचिद्विजहाराशु नदीपुलिनभूमिषु ॥१०५॥
दीर्घिकासु कदाचित्स ताभ्यां चिक्रीड वारिभिः। कदाचिद्गेन्दुकक्रीडां चकार क्रीडितप्रियः ॥१०६॥
एवं तथाविधैर्भोगैर्जिनेन्द्रमहिमोत्सवैः। सत्पात्रदानतो निन्ये कालस्तेषां महान्किल ॥१०७॥
अथ भोजकवृष्णेश्च सुता सच्छीलशालिनी। गान्धारी गुणगांधारी बुधबोधितमानसा ॥१०८॥
या जिगाय निशानाथं वक्त्रेण नेत्रतो मृगीम्। रतिं रूपेण गत्या च दन्तावलवधूं सदा ॥१०९॥
धृतराष्ट्रेण गान्धारी विवाहविधिना वृता। यशस्वतीव पुरुणा शतपुत्रा भविष्यति ॥११०॥
अथो कुमुद्वती नाम देवकक्षितिपात्मजा। विदुषा विदुरेणापि प्रेमतः पर्यणीयत ॥१११॥
अथैकदा मुदा सुप्ता शयनीये निशान्तिमे। यामे ददर्श सुस्वप्नानिति कुन्ती सुमानसा ॥११२॥
मातङ्गमदसंलिप्तगण्डमुद्दण्डमुत्करम्। वार्द्धिं गम्भीरनादाढ्यं जलकल्लोलशालिनम् ॥११३॥
जैवातृकं सज्ज्योत्स्नं च जगदानन्ददायकम्। कल्पवृक्षं चतुःशाखं ददतं चार्थिने धनम् ॥११४॥
प्रबुद्धा वीक्ष्य सुस्वप्नान्गता पाण्डुं सुमण्डिता। मण्डनैर्वरवस्त्रैश्च कुन्ती सत्कुन्तलावहा ॥११५॥

थोड़े ही काल में पूर्ण सुखी हो गया, उसका मदन-ज्वर उतर गया। वह उनके साथ कभी महल के बगीचे में और कभी वेलों से छाये हुए मंडप वाले वन के प्रदेश में क्रीड़ा करता था एवं कभी उनके साथ-ही-साथ वह क्रीड़ापर्वत पर जाता और वहाँ मन-चाही क्रीड़ा करता था। कभी-कभी नदियों में जा सिकता-स्थल में विहार करता था और कभी उनके साथ बावड़ियों के जल में तथा हिंडोलों में मन को बहलाता था। इस प्रकार भाँति-भाँति के भोगों, जिनेन्द्रदेव के महिमा वाले उत्सवों और पात्रदान आदि क्रियाओं द्वारा उसने बहुत काल बिताया ॥१०३-१०७॥

भोजकवृष्टि राजा की एक पुत्री थी। उसका नाम था गांधारी। वह शीलवती थी, गुणों की खान थी और उसने अच्छे-अच्छे विद्वानों से शिक्षा पाई थी। वह अपने मुख से चाँद को और नेत्रों से मृगी को जीतती थी तथा रूप से रति को भी नीचा दिखाती थी। अपनी मंद गति से वह हथिनी को लजाती थी। वह धृतराष्ट्र के साथ में विवाही गई थी। उसका विवाह आर्षविधि से हुआ था और ऋषभ प्रभु के निमित्त से जैसे यशस्वती के सौ पुत्र हुए थे उसी तरह इसके भी सौ पुत्र-होने वाले थे। इसके बाद कुमुद्वती नाम देवक राजा की पुत्री के साथ प्रेम से विद्वान् विदुर का पाणिग्रहण हुआ। एक दिन रात के पिछले पहर कुन्ती अपनी शय्या पर सुख की नींद सोई हुई थी। उस समय उस शुद्धमना ने कई एक शुभ स्वप्नों को देखा। उनका हाल सुनिए ॥१०८-११२॥

पहले स्वप्न में उसने मद से जिसके कपोल झर रहे हैं और सूँड की जो इधर-उधर घुमा रहा है, ऐसा हाथी देखा। दूसरे में कल्लोलों से सुशोभित और शब्द करता समुद्र देखा। तीसरे में प्रकाशमय और संसार को सुख देने वाला पूर्ण चाँद देखा एवं चौथे स्वप्न में उसने चार डालों वाला और अर्थियों को धन देने वाला कल्पवृक्ष देखा। इन स्वप्नों को देख चुकने पर जब सबेरा हुआ तब वह जागी और प्रभात-काल की क्रियाओं से निपटकर उसने सुन्दर वस्त्र और भूषण पहिने। इसके बाद वह सुकेशी अपने स्वामी पाण्डु के पास पहुँची ॥११३-११५॥

नत्वार्द्धासनमारूढा पृच्छन्ती स्वप्नजं फलम्। तेनोचे गजतः पुत्रो भविता ते वरानने ॥११६॥
सागरादतिगम्भीरो गभीरधिषणाधरः। हिमांशोर्जगदानन्दं दास्यतीति स्फुटं प्रिये ॥११७॥
कल्पशाखिफलं विद्धि सुतस्ते वाञ्छितार्थदः। चतस्रो वीक्षिताः शाखास्त्वया तत्र सुशोभनाः ॥११८॥
तद्भ्रातरस्तु चत्वारो भवितारः सुजित्वराः। एवं श्रुत्वा सती कुन्ती मुमुदे मुग्धमानसा ॥११९॥
अच्युताद्विच्युतं देवं सा दधे गर्भपङ्कजे। पुण्यतः किं दुरापं स्यात्सुतोत्पत्त्यादिकं सदा ॥१२०॥
ववृधेऽथ क्रमाद्गर्भस्तस्या हर्षंकरो नृणाम्। विपक्षपक्षक्षेपिष्ठः स्वजनानन्ददायकः ॥१२१॥
वीक्ष्याथ पाण्डुरां पाण्डुः सभ्रूणां भ्रूभ्रमावहाम्। मुमुदे तां यथा खानिं रत्नरञ्जितभूमिकाम् ॥१२२॥
त्रिवलीभङ्गभावेन या वक्तीव सुगर्भतः। अरीणां भङ्ग एवात्र भविता नान्यथा गतिः ॥१२३॥
मृत्सादनसमीहातस्तस्या गर्भे स्थितः पुमान्। भूमिं भोक्ष्यति सर्वां च साधयित्वाखिलान्नृपान् ॥१२४॥
उन्नतौ तत्कुचौ नूनं कृष्णचूचुकसंयुतौ। वदतः स्वजनौन्नत्यं कृष्णतां परपक्षके ॥१२५॥

पाण्डु ने उसका यथायोग्य आदर किया और उसे अपने आधे सिंहासन पर बैठाया। इसके बाद, कुन्ती ने पाण्डु को स्वप्नों का सब हाल सुनाकर उनका फल पूछा। उत्तर में पाण्डु ने कहा कि सुन्दरी, ध्यान देकर सुनो। तुमने जो हाथी देखा है उसका तो यह फल है कि तुम्हारे पुत्र का जन्म होगा, समुद्र देखने से वह बड़ा गंभीर होगी, चाँद देखने से वह जगत भर की आनंददायी होगा और अन्त में तुमने जो कल्पवृक्ष देखा है उसका फल यह है कि वह दानी होगा, उससे जो कोई जो कुछ भी याचना करेगा उसे वह वही देगा और चार शाखायें देखने का यह फल है कि उसके चार भाई और होंगे। वे पाँचों भाई सुन्दर रूप वाले और विजयी होंगे। इस प्रकार अपने स्वप्नों का फल सुनकर मुग्ध मन वाली सती कुन्ती बहुत हर्षित हुई ॥११६-११९॥

इसके कुछ समय बाद अच्युत स्वर्ग से एक भाग्यशाली देव चया और उसको अपने गर्भ-कमल में धारण कर कुन्ती गर्भवती हुई। सच तो यह है कि पुण्य के योग से जीवों को पुत्र आदि कोई भी सामग्री दुर्लभ नहीं रह जाती। धीरे-धीरे उसका वह गर्भ बढ़ने लगा और लोगों को आनंद देने लगा। उसका वह गर्भ शत्रुपक्ष का घातक और स्वजनों को आनंद देने वाला था ॥१२०-१२१॥

पाण्डुर शरीर-वाली और चंचल भौंहें वाली गर्भवती कुन्ती को देखकर पाण्डु के हर्ष का पार न रहा। वह उस समय ऐसी मालूम पड़ती थी मानों रत्नों से रञ्जित भूमि वाली खान ही है क्योंकि वह रत्न-जड़ित बहुत से गहने पहिने थी और उनके रत्नों की ज्योति पृथ्वी पर पड़ती थी। गर्भ के निमित्त से उसके पेट की त्रिबली मिट गई थी। जान पड़ता था कि उस त्रिबली भंग से वह यही जनाती थी कि इस गर्भ से बैरियों का भंग अवश्यंभावी है। इसके सिवाय उनकी और कोई भी गति नहीं हो सकती। कुन्ती की उत्तम मिट्टी खाने की इच्छा होती थी, जिससे जाना जाता था। कि इसके गर्भ में जो पुरुष स्थित है वह सारी पृथ्वी को भोगेगा और सम्पूर्ण राजाओं महाराजाओं को अपने अधीन करेगा ॥१२२-१२४॥

उसके कुच उन्नत हो गये थे और साथ में ही उनके चूचक काले पड़ गये थे। जिनसे ऐसा भान

निष्ठीवनं मुखे तस्या वक्तीवेति जनान्प्रति। निष्ठां न यास्यति क्वापि वैरिवर्गः सुगर्भतः ॥१२६॥
एवं सुगर्भचिह्नेनालङ्कृतेः शयनासने। भोजने भूषणे वाण्यां तस्याः प्रीतिर्न चाभवत् ॥१२७॥
जिनार्चनविधौ तस्या धर्मे धर्मफलेऽपि च। प्रीतिर्दोहदभावेन संपनीपद्यते स्म वै ॥१२८॥
जिनार्चनं विधत्ते सा सव्रता व्रतिवत्सला। युधि स्थितान्महाशत्रून् हन्मीति सदोहदा ॥१२९॥
संपूर्णदोहदाप्येवं पूर्णे मासि सुतोत्तमम्। सुषुवे सा समीचीनं यथा च सुमनोरथम् ॥१३०॥
विस्तीर्णनयनाब्जोऽसौ वक्त्रचन्द्रसमप्रभः। सनयस्तनयस्तस्या राजराजकुलोद्गमः ॥१३१॥
उत्पत्तिसमये तस्य निशान्तस्थं सुतामसम्। विलयं क्वापि संयातं यथा सूर्योद्गमे भुवि ॥१३२॥
सा शर्वरीव सौम्येन सुतसोमेन व्यद्युतत्। दीप्तिता दिवसस्येवासीत्पितुर्बालभानुना ॥१३३॥
तदानन्दमहाभेर्यो दध्वनुः कोणकोटिभिः। प्रहता ध्वनदम्भोधिगम्भीरं नृपसद्मनि ॥१३४॥
पटत्पटहझल्लर्यः पणवाः शंखकाहलाः। ताला वीणा मृदंगाश्च प्रमोदादिव दध्वनुः ॥१३५॥

होता था कि मानों वे अपने, स्वजन बन्धुओं की उन्नति और शत्रुपक्ष की कालिमा को ही जनाते हैं। उसके मुँह में थूँक बहुत आता था, उससे जाना जाता था कि वह लोगों को यही जनाती है कि इस गर्भस्थ बालक के मारे शत्रु-गण मारे-मारे फिरेंगे-कहीं भी उन्हें शान्ति नहीं मिलेगी ॥१२५-१२६॥

इस प्रकार के गर्भ-चिह्नों से अलंकृत कुन्ती देवी की अलंकार, भोजन, भूषण, वाणी आदि किसी भी बात में प्रीति नहीं रह गई परन्तु जिनेन्द्रदेव की पूजा तथा और-और धर्म एवं धर्म के फल में उसे दोहद रूप से भीति अवश्य होती थी। वह जिनेन्द्रदेव की पूजा करती थी, व्रत करती थी और व्रती पुरुषों में वात्सल्य रखती थी। उसे एक बार यह दोहला हुआ था कि मैं युद्ध में बड़े-बड़े शत्रुओं का संहार करूँ। इस तरह से उसको और-और भी बहुत से दोहले उत्पन्न हुए। इस प्रकार धीरे-धीरे जब गर्भ के दिन पूरे हो गये तब उस पुण्यवती ने-जैसा उसका मनोरथ था वैसे ही-उत्तम पुत्र को जन्म दिया। उसके जो पुत्र हुआ उसके नेत्र-कमल खूब विस्तीर्ण थे, मुख चन्द्र के जैसा था। वह नीति का ज्ञाता और राजकुल का अभ्युदय था। बहुत क्या कहें उसकी अपूर्व शोभा थी। जिस समय पुत्र का जन्म हुआ उस समय अँधेरा न जाने कहाँ बिला गया, जैसे सूरज का उदय होते वह बिला जाता है और जिस तरह रात की शोभा चाँद से होती है उसी तरह पुत्र-जन्म के समय पुत्र के द्वारा कुन्ती की भी अपूर्व शोभा हो गई थी, वह अपूर्व द्युति को धारण करती थी या यों कहिए कि उस समय वह पाण्डु के तेज-रूप सूरज के द्वारा दिन की दीप्ति-सी शोभित होती थी ॥१२७-१३३॥

उस समय डंडों के सिरों से ताड़ी हुई महान् आनंद भेरी बज रही थी और उसके शब्द से राज-महल गूंज रहा था। जान पड़ता था मानों मेघ ही गरज रहा है। इसके सिवा उस समय नगाड़े, झालर, शंख, काहल, वीणा, मृदंग आदि बाजों की भी ध्वनि हो रही थी। इन का शब्द सुनकर ऐसा भान होता था कि मानों ये सब बाजे अपने आप ही खुशी से बज रहे हैं और संसार को कुन्ती के पुत्र-जन्म की सूचना करते हैं ॥१३४-१३५॥

नृत्यं जिताप्सरोनाट्यमारभ्यत महालयैः। यकाभिः सुरनर्तक्यो हेलया निर्जिता द्रुतम् ॥१३६॥
तदा रेजुः पुरे वीथ्यश्चन्दनाम्भश्छटाश्रिताः। कृताभिर्वरशोभाभिर्हसन्त्यो वा दिवःश्रियम् ॥१३७॥
गृहे गृहे पुरे रेजू रत्नतोरणमण्डपाः। रत्नचूर्णैर्बभुर्भूमौ रत्नावल्यः सुरङ्गिताः ॥१३८॥
महोदरा महाकुम्भाः स्वार्णा रेजुर्गृह गृहे। उत्तम्भिता नभोभागे भानवो वा समागताः ॥१३९॥
श्रुत्वा पुत्रप्रसूतिं स नृपमेघो ववर्ष च। दानधारां सुलोकानां यथेष्टमिष्टवृष्टिवत् ॥१४०॥
कौरवाब्धेरसौ बालो हिमद्युतिः समुद्ययौ। पुरे सान्तःपुरे मोदमित्युत्पाद्य महामनाः ॥१४१॥
बन्धुता युधि संस्थैर्या युधिष्ठिरं तमाह्वयत्। गर्भस्थे धर्महेतुत्वात्तस्मिंस्तं धर्मनन्दनम् ॥१४२॥
बन्धुताकौरवानन्दं स तन्वन्कौरवाग्रणीः। वैरिवंशतमो धुन्वन्ववृधे बालचन्द्रमाः ॥१४३॥
असौ स्तनन्धयस्तन्यं मातुर्गण्डूषितं यशः। समुद्गिरन्भजन्दिक्षु यथा दीप्त्या च दिद्युते ॥१४४॥
हसितैः सस्मितैर्मुग्धै रिङ्खणैर्मणिकुट्टिमे। मन्मनाभाषणैः प्रीतिं पित्रोः सममजीजनत् ॥१४५॥

इस समय अच्छी-अच्छी नर्तकियों की भी लीलामात्र में जीतने वालीं नटियों ने लय के साथ महान् नृत्य शुरू किया। पुर की गली-गली में चंदन के जल की छटा देख पड़ने लगी। अधिक क्या कहा जावे पुर की यहाँ तक शोभा और सजावट की गई थी कि जिससे ऐसा भान होता था कि मानों वह स्वर्ग की शोभा और सजावट को हँस ही रहा है। घर-घर में रत्नों के तोरण बाँधे गये थे और उत्सव के लिये मंडप सजाये गये थे एवं रत्नों के चूर्ण द्वारा भूमि में नाना रंग की रत्नावली पूरी गई थी, जो अपूर्व ही शोभा पाती थी। वहाँ घरों के ऊपर सोने के बड़े-बड़े कलश चढ़े हुए थे और वे मकान आकाश तक ऊँचे चले गये थे, अतः ऐसी प्रतीति होती थी कि मानों इन मकानों पर आकर सूरज ही तो नहीं स्थित हो गये हैं ॥१३६-१३९॥

पाण्डुरूप मेघ ने जब पुत्र-जन्म के समाचार को सुना तब लोगों की इच्छा के अनुसार उसने धारासार बरसा की तरह खूब ही दान की बरसा की। उत्तम जनों को खूब दान दिया और उनका उचित आदर किया। वह बालक कौरव वंश-रूप समुद्र को वृद्धिंगत करने के लिये चाँद के समान हुआ। चाँद जैसे समुद्र को वृद्धिंगत करता है उस महामना ने भी उसी तरह अन्तःपुर सहित सारे पुर में आनंद ही आनंद फैला दिया, सबको वृद्धिंगत कर दिया। इसके उत्पन्न होने पर बन्धुवर्ग को लड़ाई में स्थिर होने की भावना हुई। इसलिए उन्होंने इसका नाम युधिष्ठिर रक्खा और यह जब से गर्भ में आया तभी से लोगों को धर्म-साधन का निमित्त बना, इसलिए उन्होंने इसका धर्मराज या धर्मनन्दन नाम भी रखा। इसने अपने जन्म से ही कौरववंश को आनंद दिया, अतः यह कौरवाग्रणी कहलाया। शत्रु वंश-रूप अँधेरे को वह हटाने वाला था, इसलिए इसे लोगों ने बाल-चंद्र कहा। माता का दूध पीते समय जो दूध उसके मुँह से बाहर आ छलकता था उससे उज्ज्वलता को धारण किये हुए शरीर और शरीर की स्वाभाविक उज्ज्वल कान्ति से जो दसों-दिशाएँ व्याप्त हो रही थीं उससे उसकी अपूर्व ही शोभा थी। वह अपनी मुस्कान तथा मणि-जटित भूमि में लटपटाते हुए चलने और मन ही मन भाषण से माता-पिता को हमेशा ही प्रसन्न करता रहता था ॥१४०-१४५॥

वृद्धौ तस्याभवद्वृद्धिर्गुणानां सहजन्मना। सोदर्यात्तस्य ते नूनं तद्वृद्ध्यनुविधायिनः ॥१४६॥
अन्नाशनसुचौलोपनयनादीन्क्रियाविधीन्। अनुक्रमाद्विधानज्ञो जनकोऽस्य व्यजीजनत् ॥१४७॥
ततः क्रमेण संलङ्घ्य लङ्घिताखिलदिग्यशाः। बाल्यकौमारकावस्थां यौवनस्थो बभूव सः ॥१४८॥
सैव वाणी कला सैव विद्या सा द्युतिरेव सा। शीलं तदेव विज्ञानं सर्वमस्य तदेव तत् ॥१४९॥
तस्य मूर्द्धा समुत्तुङ्गो मौलिमप्यंशुनिर्मलः। सचूलिक इवाद्रीन्द्रकूटो भृशं समद्युतत् ॥१५०॥
मुखमस्य सुखालोकं शशाङ्कपरिण्डलम्। अधः कुर्वद्रराजेदमखण्डपरिमण्डलम् ॥१५१॥
कर्णौ कुण्डलशोभाढ्यौ कपोलौ दर्पणोज्ज्वलौ। नयने सूक्ष्मदर्शित्वाद्दीप्रे तस्य बभूवतुः ॥१५२॥
नासा वंशसमाभासीत्सद्गन्धग्रहणक्षमा। विलसद्विद्रुमाकारौ तस्योष्ठौ रेजतुस्तराम् ॥१५३॥
ललिते भ्रूलते तस्य लीलां बभ्रतुरुन्नताम्। कामेन वैजयन्त्यौ वा समुत्क्षिप्ते जगज्जये ॥१५४॥
कण्ठोऽस्य कण्ठिकाहारभूषणैर्भूषितो व्यभात्। स्वर्णाद्रिशिखरं यद्वज्ज्योत्स्नया परिवेष्टितम् ॥१५५॥
वक्षस्स्थलं च विपुलं सहारं तस्य भात्यरम्। सनिर्झरं यथा क्ष्माभृत्तटं सुघटसङ्कटं ॥१५६॥
भुजस्तम्भौ महास्तम्भाविव तस्य जगद्धृतेः। रेजतुर्हस्तिहस्ताभौ जयलक्ष्म्याः सुलक्षितौ ॥१५७॥

इन सब बातों के सिवा उसकी वृद्धि के साथ-ही-साथ उसमें स्वाभाविक गुण भी बढ़ते जाते थे। मानों वे उसके सौंदर्य पर मोहित होकर ही उसकी वृद्धि के अनुयायी बने थे ॥१४६॥

उसका पिता क्रिया-विधान का अच्छा ज्ञाता था, अतः उसने बालक की अन्नाशन, सुचौल, उपनयन आदि सभी क्रियाएँ कीं ॥१४७॥

धीरे-धीरे दसों-दिशाओं से उसका यश व्याप्त हो गया। उसने क्रम से बाल-काल को लांघकर युवावस्था में पैर रक्खा। पर इस समय भी उसकी वाणी, कला, विद्या, द्युति, शील और विज्ञान सभी बातें वैसी की वैसी स्वाभाविक ही रहीं-उसे रंचमात्र भी मद वगैरह न हुआ। उसके मस्तक पर उन्नत और निर्मल मणियों से जड़ा हुआ मुकुट ऐसा जान पड़ता था मानो शिखर-सहित सुमेरु का शिखर ही है। उसका मुँह देखने में बहुत ही प्यारा लगता था और वह चाँद के मण्डल को भी ल जाता था। क्योंकि चाँद तो कभी कभी घट भी जाता है पर वह तो हमेशा ही एक-सा रहता था। उसके कान कुंडलों से सुशोभित थे, कपोल दर्पण की तरह निर्मल थे और नेत्र सूक्ष्मदर्शी और मनोहर थे। उसकी नाक सुन्दर सुगंध को ग्रहण करने में समर्थ और चम्पे के समान शोभाशाली थी। सुन्दर बिंबाफल के समान सुन्दर उसके ओठ थे। उसकी सुन्दर भौंहें बड़ी चंचल थीं। जान पड़ता था कि मानों तीनों लोकों को वश में लाने के लिये कामदेव की ध्वजाएँ ही फहरा रहीं हैं। उसके कंठ की हार वगैरह से अद्भुत ही शोभा थी ॥१४८-१५४॥

अतः उसका कंठ ऐसा शोभता था जैसा कि ज्योत्स्ना से घिरा हुआ सुमेरु शोभता है। उसका वक्षःस्थल बड़ा विस्तृत था और उसमें सुन्दर हार पड़ा हुआ था। जान पड़ता था कि वह पहाड़ ही है और उसमें जो हार पड़ा हुआ है वह हार नहीं किन्तु झरना वह रहा है। उसकी भुजाएँ महान् स्तंभ सरीखी थीं। वे संसार को पालने वाली थीं, हाथी की सूँड के तुल्य थीं और उनमें जयलक्ष्मी का

तस्य हस्ततलं रेजे खाङ्गणं वा महोडुभिः। मीनकूर्मगदाशङ्खचक्रतोरणलक्षणैः ॥१५८॥
कटकाङ्गदकेयूरमुद्रिकाद्यैर्विभूषणैः। व्यद्योतिष्टास्य सत्कायः सुभूषाकल्पवृक्षवत् ॥१५९॥
स नाभिकूपिकां दधे लावण्यरसवाहिनीं। रसत्सरससंपृक्तां श्रोणिं योषामिवापरम् ॥१६०॥
सघनं जघनं तस्य दुकूलकुलसंकुलं। रेजे यथा नदीकूलं फेनिलं जलराजितम् ॥१६१॥
बभारोरू वरौ सोऽत्र पीवरौ कनकद्युती। कामेन कल्पितौ स्तम्भौ स्वावासस्थितये यथा ॥१६२॥
जङ्घे अघघनाघातघस्मरे लङ्घिके जगत्। अस्य रेजतुरुन्निद्रे कामस्य शरधी इव ॥१६३॥
क्रमौ च क्रमतः कम्रौ विक्रमाक्रान्तसंक्रमौ। जगन्नतौ स्तुतौ तस्य भातः स्म कौरवेशिनः ॥१६४॥
नखा नक्षत्रसंकाशाः क्षत्रसेव्या बभुर्भृशम्। दर्पणा इव संन्यस्तास्तस्य रूपनिरीक्षणे ॥१६५॥
अनौपम्यं महारूपं तस्य वर्णयितुं क्षमः। कः क्षितौ क्षितिपालानामीशितुः कौरवेशिनः ॥१६६॥
ततः कुन्ती सुतं भीममसौष्टं सौष्ठवान्वितम्। युधिष्ठिरसमं शिष्टं विशिष्टं गुणगौरवैः ॥१६७॥
यस्माद्भीतिर्भवेद्भूमावरीणां रणशालिनाम्। तस्मादाख्यायि लोकेन स भीमो भीमदर्शनः ॥१६८॥
महाकायो महाकान्तिर्महावीर्यो महागुणः। महामना महारूपी भीमोऽभाद्भूमिभूषणः ॥१६९॥

निवास था। उसका हस्ततल नक्षत्र, मीन, कूर्म, गदा, शंख, चक्र, तोरण आदि लक्षणों के द्वारा आकाश के आँगन-सा देख पड़ता था ॥१५५-१५८॥

उसका सुन्दर शरीर कटक, अंगद, केयूर और अँगूठी आदि भूषणों के द्वारा दीप्त हो रहा था, जैसे कि भूषणों के द्वारा कल्पवृक्ष सुशोभित होता है। उसकी नाभि बावड़ी के तुल्य थी, उसमें लावण्य-रूप जल भरा था। उसकी कटि में करधनी सुशोभित थी और वह दूसरी स्त्री-सी जान पड़ती थी। जिस तरह से फेन वाले जल से भरा हुआ नदी का किनारा शोभता है उसी तरह रेशमी वस्त्रों से व्याप्त उसके सघन जघन शोभते थे। उसके स्थूल उरुस्थल सोने को द्युति के समान पीले थे और वे ऐसे मालूम होते थे कि मानों अपने ठहरने के लिये कामदेव ने दो स्तंभ ही खड़े किये हैं ॥१५९-१६२॥

उसकी जंघाएँ पापसमूह का विनाश कर संसार को लाँघ जाने के लिये समर्थ थीं। वे उन्निन्द्र थीं, अतएव ऐसी जान पड़ती थी मानों काम के बाण रखने के ये तूणीर-तरकस ही हैं। पराक्रमशाली उसके चरणों को प्रवेश करने में कहीं रुकावट न होती थी, अतएव सब कोई उन्हें नमस्कार करते थे। वह क्षत्रियों द्वारा सेव्य था और उसके नख नक्षत्रों के समान थे, मानों वे रूप देखने के लिये दर्पण ही बनाये गये थे। उसका रूप उपमा रहित था। उस कौरवेश राजाओं के राजा के रूप का वर्णन करने को संसार में कोई भी समर्थ नहीं है ॥१६३-१६६॥

इसके बाद कुन्ती ने भीम को जन्म दिया। भीम युधिष्ठिर के तुल्य ही शिष्ट था, गुणों के गौरव से विशिष्ट था, सुन्दर था। उससे बड़े-बड़े रणशाली वैरी भी डरते थे। इसलिए लोग उसे दृष्टिभयंकर-भीम कहते थे। कल्पवृक्ष के बहाने से स्वप्न में वायु ने उसे कुन्ती को दिया था, इसलिए लोग उसे मरुत्तनय कहते हैं। उसकी महान् भुजाएँ थीं, शरीर लम्बा-चौड़ा सुन्दर था, कान्तिशाली था। वह

ततो धनंजयो जज्ञे धनंजयो महौजसा। धनं जयं च संप्राप्तः शत्रुदारुधनंजयः ॥१७०॥
अर्जुनोऽर्जुनसंकाशो सद्विसर्जनसज्जनः। अर्जको यशसां लोके तस्याभूत्तृतीयः सुतः ॥१७१॥
स्वप्ने संदर्शनान्मात्रा पुरुहूतस्य सज्जनैः। सर्वैः स गदितः शक्रसूनुर्नाम्नेति निश्चितम् ॥१७२॥
यस्य रूपं गुणा यस्य यस्य तेजश्च यद्यशः। बलं यस्य कथं वर्ण्य यदि जिह्वाशतं भवेत् ॥१७३॥
ततो मद्री सुमुद्राढ्या नकुलं कुलकारिणम्। लेभे च जनितानन्दं कुर्वाणमरिसंक्षयम् ॥१७४॥
सहदेवं महादेवं सा सूते स्म सविस्मया। सह देवैः प्रकुर्वाणं क्रीडां संक्रीडनोद्यतम् ॥१७५॥
एवं पञ्चसुतैः पाण्डुः प्रचण्डो वैरिखण्डनः। सातं ततान सद्देहो यथा पञ्चभिरिन्द्रियैः ॥१७६॥
कुन्ती सुतवती सत्या मद्री सन्मुद्रयान्विता। पाण्डुः प्रचण्डः संभुङ्क्ते पञ्चभिस्तनुजैः सुखम् ॥१७७॥
धृतराष्ट्रप्रिया प्रीता परमप्रेमपूरिता। गान्धारी बन्धुभिः सार्धं ववृधे धृतिधारिणी ॥१७८॥
गान्धारीवक्त्रनलिनचञ्चरीकेण चेतसा। धृतराष्ट्रश्च नो लेभे रतिं चान्यत्र तां विना ॥१७९॥
गान्धार्या स समं तेने सातं संसारसम्भवम्। कामिनः कामिनीं मुक्त्वा लभन्ते शं न हि क्वचित् ॥१८०॥
गान्धारी रमयामास भर्तारं भर्तृभक्तिका। हास्यैः कटाक्षविक्षेपैर्विनोदैर्मदनप्रियैः ॥१८१॥

गुणों का पुंज था, महामना, रूपशाली और पृथ्वी का भूषण था। इसके बाद कुन्ती ने धनंजय (आग) सरीखे धनंजय को जन्म दिया। वह महान् तेज वाला और धन एवं जय को प्राप्त था ॥१६७-१७०॥

शत्रु-रूप काठ को जलाने के लिये जो धनंजय-अग्नि के समान था। इसका दूसरा नाम अर्जुन था। वह इसलिए पड़ा था कि उसके शरीर की कान्ति अर्जुन (चाँदी) के समान थी। वह दुष्टों के निग्रह करने में दक्ष था, यश को संचय करने वाला था। उसकी माता ने स्वप्न में इन्द्र को देखा था। इसलिए सत्पुरुष उसे शक्रसूनु कहते थे। यदि किसी के सौ जीभें भी हो जायें, तब भी वह उसके रूप, गुण, तेज, यश और बल को नहीं कह सकता ॥१७१-१७३॥

इसके बाद समुद्र की तरह गंभीर मद्री ने कुल को उज्ज्वल करने वाले नकुल को जन्म दिया और देवताओं के साथ क्रीड़ा करने वाले महान् बली सहदेव को उत्पन्न किया। इस प्रकार बैरियों को खण्डन करने वाला और प्रचंड तेज का, धारक पाण्डु पाँच पुत्रों के साथ सुख भोगने लगा। जिस तरह नीरोग मनुष्य अपनी पाँचों इन्द्रियों से सुख भोगता है। इस प्रकार सब गुण सम्पन्न सुतों वाली कुन्ती, सुंदर मुद्रा को धारण करने वाली तथा सज्जनों की रक्षक मद्री तथा प्रचंड बली पाण्डु ये तीनों अपने पाँचों श्रेष्ठ पुत्रों के साथ-साथ आनंदपूर्वक सांसारिक सुखों को भोगते थे ॥१७४-१७७॥

उधर परम प्रीति को प्राप्त हुई धृतराष्ट्र की प्रिया गांधारी अपने बन्धुवर्ग के साथ-साथ सुख भोग रही थी। वह धैर्य की खान थी। धृतराष्ट्र गांधारी के मुख-कमल के साथ भौंरे की तरह क्रीड़ा किया करता था। गांधारी के बिना उसे कहीं भी चैन न पड़ती थी। वह उसके साथ सब सांसारिक सुखों को भोगता था और ठीक ही है कि कामिनीजन को छोड़कर कामी-पुरुष और जगह कहीं सुख नहीं पाते हैं ॥१७८-१८०॥

गांधारी पतिभक्ता साध्वी थी,अतः वह भी हास्य, कटाक्ष और विनोद के द्वारा धृतराष्ट्र को

रेमाते दम्पती दीप्रौ स्फुरद्रससमन्वितौ। विद्युद्घनाघनौ यद्वद्रेजाते जनरञ्जकौ ॥१८२॥
गान्धारीं च कदाचित्स व्रीडामुक्तैश्च क्रीडनैः। महाभोगैर्वराभोगैः क्रीडयामास सक्रियः ॥१८३॥
गान्धार्यथ शुभं गर्भं दधौ धर्मानुभावतः। तत्किं न लभते पुण्याद्यल्लोके हि दुरासदम् ॥१८४॥
पूर्णे मासेऽथ सुषुवे सुतं सा सुखसंगता। जनयित्री जनानन्दं परमप्रीतिदायिका ॥१८५॥
पुरन्ध्रिकास्तदाशीर्भिर्नन्दयन्ति स्म तामिति। सुषूष्व सुसुतानां हि शतं शतसुखानि वा ॥१८६॥
दुःखेन योध्यते यस्माद् दुर्योधन इतीरितः। स सुतः स्वजनैः शीघ्रं संपन्नपरमोदयः ॥१८७॥
पितुः सुतसमुद्भूतिसूचकाय नराय च। अदेयं न किमप्यासीच्छत्रसिंहासनादृते ॥१८८॥
निगडाकलितान्लोकान्पञ्जरस्थांश्च पक्षिणः। बन्दिसद्मस्थिताञ्शत्रून्मुमोच नृपतिस्तदा ॥१८९॥
वाद्यवादनभेदेन विदितो जननोत्सवः। तस्य प्रशस्यतां नीतः सुनीतेः सातवारिधेः ॥१९०॥
वर्धमानो बुधो युद्धे दुर्योध्यो युद्धधारिभिः। दुर्योधनोऽवधीद्धैर्यात्परान्योद्धॄन्महायुधान् ॥१९१॥
ततः क्रमेण गान्धारी सुतं दुःशासनाभिधम्। असौष्ट स्पष्टताविष्टं वरिष्ठं शुभचेष्टितम् ॥१९२॥

खूब रमाती थी एवं वे दोनों दम्पति विनोद के साथ क्रीड़ा किया करते थे और सुशोभित होते थे, जिस तरह कि मन को मोहने वाले बिजली और मेघ सुशोभित होते हैं। एक समय उस सदाचारी ने गांधारी के साथ महाभोग, वराभोग आदि क्रीड़ायें कीं। उस समय पुण्ययोग से गांधारी ने गर्भ धारण किया। नीति के पंडितों ने कहा है कि संसार में ऐसी कौन-सी दुर्लभ वस्तु है जो पुण्य योग्य से प्राप्त नहीं होती ॥१८१-१८४॥

धीरे-धीरे जब गर्भ के दिन पूरे हुए तब उस सुखशालिनी ने पुत्र को जन्म दिया, जिससे लोगों को बड़ा भारी हर्ष हुआ। वे परम प्रीति को प्राप्त हुए और ऐसे उत्तम पुत्र को जन्म देने के उपलक्ष्य में पुरंध्री जन उसे आशीर्वाद देने लगीं कि हे देवी! तुम लोकोपकारी ऐसे ही सैकड़ों पुत्रों को पैदा करो। वह पुत्र शत्रुओं के साथ बड़ी भयंकरता से युद्ध करने वाला था। उसके द्वारा बैरियों को बड़ा दुख होता था, इसलिए उसे लोग दुर्योधन कहते थे। वह अपने स्वजनों के साथ-साथ शीघ्र ही परमोदय को प्राप्त हो गया। इस समय पुत्र-जन्म का समाचार लेकर जो पुरुष, राजा के पास आया राजा ने उसे अपने छत्र-सिंहासन आदि राज-चिह्नों को छोड़कर और कुछ भी देने की कसर न की। इसके सिवा राजा ने उस समय कैद में पड़े हुए कैदियों को, पिंजरे में बँधे हुए पक्षियों को तथा जेलखाने में पड़े हुए शत्रुओं को छोड़ दिया-उन्हें मुक्त कर दिया। उस समय जो भाँति-भाँति के बाजे बजे उनसे उस सुनीति वाले और सुख के सागर का जन्म-उत्सव.सभी को ज्ञात हो गया ॥१८५-१९०॥

वह वर्द्धमान था और विद्वान् था, युद्ध में बड़े से बड़े बैरियों द्वारा भी जीता न जा सकता था। उसने बड़ी सूरवीरता से भी युद्ध करने वाले कई एक शत्रुओं को प्राण-रहित कर दिया था। इसके बाद गांधारी ने दुश्शासन नाम दूसरे पुत्र को जन्म दिया। वह भी स्पष्टवक्ता और सर्वश्रेष्ठ था। उसकी जितनी कुछ चेष्टा थी वह सब शुभ कार्यों के लिये थी। वह खोटे काम में कभी हाथ न डालता था ॥१९१-१९२॥

ततो दुर्धर्षणो धीमान्सुतो दुर्मर्षणस्ततः। रणश्रान्तः समाघश्च विदः सर्वसहोऽपि च ॥१९३॥
अनुविन्दः सुभीमश्च सुबाहुरथ दुःसहः। दुःशलश्च सुगात्रश्च दुःकर्णो दुःश्रवास्तथा ॥१९४॥
वरवंशोऽवकीर्णश्च दीर्घदर्शी सुलोचनः। उपचित्रो विचित्रश्च चारुचित्रः शरासनः ॥१९५॥
दुर्मदो दुःप्रगाहश्च युयुत्सुर्विकटाभिधः। ऊर्णनाभः सुनाभश्च तदा नन्दोपनन्दकौ।१९६॥
चित्रवाणिश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विमोचनः। अयोबाहुर्महाबाहुः श्रुतवान्पद्मलोचनः ॥१९७॥
भीमबाहुर्भीमबलः सुसेनः पण्डितस्तथा। श्रुतायुधः सुवीर्यश्च दण्डधारो महोदरः ॥१९८॥
चित्रायुधो निषङ्गी च पाशो वृन्दारकस्तथा। शत्रुंजयः शत्रुसहः सत्यसंधः सुदुःसहः ॥१९९॥
सुदर्शनश्चित्रसेनः सेनानी दुःपराजयः। पराजितः कुण्डशायी विशालाक्षो जयस्तथा ॥२००॥
दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्चसौ। आदित्यकेतुर्बह्वाशी निबन्धो विप्रियोद्यपि ॥२०१॥
कवची रणशौण्डश्च कुण्डधारी धनुर्धरः। उग्ररथो भीमरथः शूरबाहुरलोलुपः ॥२०२॥
अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथाभिधः। अनादृष्टः कुण्डभेदी विराजी दीर्घलोचनः ॥२०३॥
प्रथमश्च प्रमाथी च दीर्घालापश्च वीर्यवान्। दीर्घबाहुर्महावक्षा दृढवक्षाः सुलक्षणः ॥२०४॥
कनकः काञ्चनश्चैव सुध्वजः सुभुजोऽरजः। एवं शतं सुतानां हि तयोर्जातमनुक्रमात् ॥२०५॥
वर्धमानाः सुताः सर्वे वर्धमानयशोलताः। शोभन्ते शोभनाकाराः शस्त्रशास्त्रविशारदाः ॥२०६॥
पाण्डवाः कौरवाश्चैवं वर्धन्ते स्म यथा यथा। तथा तथा विवर्धन्ते संपदो मोददायकाः ॥२०७॥
गाङ्गेयेन सुगाङ्गेयतेजसामलचक्षुषा। पितामहेन तेषां हि शीललीलाविलासिना ॥२०८॥
रक्षिताः शिक्षिताः सर्वे परां वृद्धिमवापतुः। वृद्धेन पालिताः के हि न यान्ति परमोदयम् ॥२०९॥

इसके बाद गांधारी ने अट्ठानवे और-और पुत्रों को पैदा किया। उनके नाम सुनिए दुर्द्धर्षण, दुर्मर्षण, रणश्रान्त, समाघ, विंद, सर्वसह, अनुविंद, सुभीम, सुवन्हि, दुःसह, दुसल, सुगात्र, दुःकर्ण, दुःश्रव, वरवंश, अवकीर्ण, दीर्घदर्शी, सुलोचन, उपचित्र, विचित्र, चारुचित्र, शरासन, दुर्मद, दुःप्रगाह, युयुत्सु, विकट, ऊर्णनाभ, सुनांभ, नंद, उपनंद, चित्रवाण, चित्रवर्मा, सुवर्मा, दुर्विमोचन, अयोवाहु, महाबाहु, श्रुतवान, पद्मलोचन, भीमवाहु, भीमवल, सुषेण, पंडित, श्रुतायुध, सुवीर्य, दंडधर, महोदर, चित्रायुध, निःषंगी, पाश, वृंदारक, शत्रुंजय, शत्रुसह, सत्यसंध, सुदुःसह, सुदर्शन, चित्रसेन, सेनानी, दुःपराजय, पराजित, कुंडशायी, विशालाक्ष, जय, दृढ़हस्त, सुहस्त, वातवेग, सुवर्चस्, आदित्यकेतु, वव्हाशी, निबन्ध, प्रियोदी, कवची, रणशोंड, कुंडधार, धनुर्धर, उग्ररथ, भीमरथ, शूरबाहु, अलोलुप, अभय, रौद्रकर्मा, दृष्टरथ, अनादृष्ट, कुंडभेदी, विराजी, दीर्घलोचन, प्रथम, प्रमाथी, दीर्घालाप, वीर्यवान, दीर्घबाहु, महावक्ष, सुलक्षण, विलक्षण, कनक, कांचन, सुध्वज, सुभज और अरज ॥१९३-२०५॥

ये सभी पुत्र वर्द्धमान और इनका यश सब जगह फैल रहा था तथा हमेशा बढ़ता ही जाता था। ये सबके सब शस्त्र और शास्त्र आदि भाँति-भाँति की कलाओं में निपुण और सुन्दर थे। इस प्रकार ज्यों-ज्यों पाण्डव और कौरव वृद्धिंगत होते जाते थे, त्यों-त्यों आनंद देने वाली उनके सम्पत्ति भी बढ़ती जाती थी। दिव्यचक्षु के धारक, सुवर्ण के समान कान्ति वाले एवं ब्रह्मचारी गांगेय (भीष्म पितामह) इन सब पाण्डवों और कौरवों की रक्षा करते थे तथा इन्हें शिक्षा देते थे। धीरे-धीरे ये सब पूर्ण समृद्धिशाली हो गये ॥२०६-२०९॥

द्रोणाख्येन द्विजेशेन पालिताः परमोदयाः। भेजुर्वृद्धिं शुभाकाराः पाण्डवाः कौरवाः पुनः ॥२१०॥
द्रोणायितं च द्रोणेन धनुर्वेदसरित्पतेः। तरणे च शरण्येन कारुण्यपण्यवाहिना ॥२११॥
द्रोणस्तु सर्वपुत्राणां चापविद्यामशिक्षयत्। ते तस्य विनयं चक्रुर्विद्या विनयतो यतः ॥२१२॥
सार्जवायार्जुनायासौ व्यपेताय विकर्मतः। कार्मुकी कार्मुकीं विद्यां पितृव्यः समुपादिशत् ॥२१३॥
शब्दवेधिमहाविद्यां द्रोणात्पार्थः समासदत्। गुरोर्विनीतेः किं न स्याद्विनयो हि सुकामसूः ॥२१४॥
प्रचण्डाखण्डकोदण्डलक्षणं लक्ष्यलक्षणम्। वेध्यवेधकभावेनाशिक्षयद् गुरुतः स च ॥२१५॥
पार्थो व्यर्थीकृताशेषचापविद्याविशारदः। रराज राज्यरङ्गेऽस्मिन्नभसीव निशापतिः ॥२१६॥
एवं तेषां महान्कालो लिप्सूनां सातमुल्बणम्। अटितः सुसुखानां हि वत्सरोऽपि क्षणायते ॥२१७॥
इति सुपाण्डुरखण्डसुपण्डितः सुघटघोटकटङ्कितसद्भटः।
घटयति स्म घटां वरदन्तिनां प्रकटसङ्कटसाध्वसहारिणीम् ॥२१८॥

सच है कि वृद्ध के द्वारा पाला-पोषा जाकर कौन परमोदय को नहीं प्राप्त होता एवं इन परमोदय के धारकों को द्रोणाचार्य द्विजेश ने भी पाला-पोषा, जिससे ये सुन्दराकृति कौरव और पाण्डव परम वृद्धि को प्राप्त हुए। द्रोण बड़े दयालु थे, शरण-योग्य थे, आश्रितों को अपनाते थे, अतः उन्होंने धनुष विद्या-रूप समुद्र को पार करने के लिये इन्हें द्रोणी (नौका) का काम दिया और थोड़े ही समय में इन सबको धनुषविद्या में निपुण कर दिया। ये सब द्रोणाचार्य का खूब आदर और विनय करते थे क्योंकि विद्या विनय से ही प्राप्त होती है ॥२१०-२१२॥

अर्जुन सरलचित्त था, विनयी और पाप-कर्मों से रहित था अर्थात् वह हमेशा शुभ क्रियाओं में ही लगा रहता था। अतः पितृव्य तुल्य और धनुषविद्या-विशारद द्रोण ने प्रसन्न होकर उसे धनुष-विद्या की खूब शिक्षा दी। इसके सिवा द्रोण ने उसे शब्दवेधी महाविद्या भी सिखा दी। अर्जुन को पार्थ भी कहते हैं। पार्थ ने जो कुछ भी गुरु से विद्या पाई थी वह सब उसके विनय का फल था। नीतिकार कहते हैं कि गुरु के विनय से क्या-क्या नहीं होता, विनय मनोभिलषित पदार्थों की देने वाला है, लोगों के सभी मनोरथों को साधता है। इस प्रकार अर्जुन ने गुरु द्रोण से, विनय के बल, प्रचंड और अखण्ड धनुषरूप लक्षण के द्वारा, लक्ष्य (निशाना) वेध करने को, वेध्य-वेधक भाव से अर्थात् लक्ष्य का बार-बार वेध करने से सीख लिया, जिसके द्वारा वह सारे जगत के धनुष-विद्या के पंडितों को नीचा दिखाकर, आकाश में चाँद की तरह, राज्यरूप आँगन में सुशोभित होने लगा ॥२१३-२१६॥

इस प्रकार सुख-सागर में निमग्न हुए उन पाण्डवों और कौरवों का काल बीत गया, पर उसका उन्हें कुछ भी भान न हुआ। ठीक ही है कि सुखी जीवों का एक वर्ष भी क्षण की तरह बीत जाता है। इस तरह पाण्डु सुख से अपना समय बिताता था। उसका कोई शत्रु न था और उसके पक्ष में बड़े-बड़े वीर थे। स्वयं उसके पुत्र ही अद्वितीय योद्धा थे। इसके सिवा वह विद्वान् था, अतः उसके पास बुद्धिबल भी था ॥२१७-२१८॥

युद्धे यो जितवान् रिपूञ्जनमनोह्लादी जनालङ्कृतो
दुर्वारारिविघातनैकसुकृतिः श्रीधर्मराजात्मजः।
भीमो भीतिहरो विपक्षतिमिरश्रीभानुमान्भास्वरः
पार्थः स्वार्थकरः समर्थमहितो भानुप्रभाभासुरः ॥२१९॥
अतुलविपुललीलालक्षिता लक्षणाङ्गाः सकलबलविलासालङ्कृता निर्मलास्ते।
चटुलकमलताराहारिहारावतंसा जिनवरपदलीनाः कौरवा वै जयन्तु ॥२२०॥
इति श्रीपाण्डवपुराणे महाभारतनाम्नि भट्टारकश्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपाल साहाय्यसापेक्षे पाण्डवकौरवोत्पत्तिवर्णनं नामाष्टमं पर्व ॥८॥

उसके पुत्र युधिष्ठिर आदि युद्ध में शत्रुओं को एक क्षण भी नहीं ठहरने देते थे, वे सभी अद्वितीय वीर थे। उनको देखकर लोगों के दिल खुश होते थे और उनसे वे विभूषित होते थे। चाहे कैसा ही दुर्निवार वैरी क्यों न हो उसे वे अपने सामने टिकने ही न देते थे और बैरियों पर विजय पाने को ही अपना परम कर्तव्य जानते थे। भीम बड़ा भयंकर योधा था। लोगों की भीति को दूर करता था। शत्रु-रूप अंधेरे को दूर करने के लिये वह सूरज था, तेजस्वी. था। इसी प्रकार पार्थ भी उत्तम कार्यों को करने वाला और समर्थ पुरुषों द्वारा पूजा जाने वाला था, द्वीप्तिशाली था। वह पार्थ-अर्जुन सदा ही सुशोभित हो। उन कौरवों की विजय हो जो अतुल और विपुल लीला से लक्षित हैं, जिनके शरीर में नाना लक्षण हैं, जो सम्पूर्ण बल के विलास से अलंकृत-विभूषित है, निर्मल हैं, मनोहारी हार से जिनका कंठ विभूषित है, चंचल तथा कमल की तरह जिनके नेत्र है और जो जिन भगवान् के चरण-कमलों में लीन हैं ॥२१९-२२०॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में पाण्डव-कौरवों की उत्पत्ति का वर्णन करने वाला आठवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥८॥

❑ ❑ ❑

नवमं पर्व

अभिनन्दनमानन्ददायकं दरदारकम्। विशदप्रमदोदारं दधामि हृदये जिनम् ॥१॥
अथैकदा नृपः पाण्डुः पाण्डुरातपवारणः। वनं जिगमिषू रन्तुं दापयामास दुन्दुभिम् ॥२॥
घटद्घोटकसंघातैश्चलच्चामरचारुभिः। द्वादशात्माश्वसंकाशैश्चञ्चलैरचलन्नृपः ॥३॥
दन्तावला बलोपेता दन्तदारितपर्वताः। पर्वता इव तस्याग्रे नदन्ति स्म महाजवाः ॥४॥
रथा व्यर्थीकृताशेषपादाः सत्पादसङ्कुलाः। वव्रिरे च महीपालं रन्तुं जिगमिषुं वनम् ॥५॥
पत्तयो विस्फुटाटोपाः सकोपघनगर्जिताः। समारोपितकोदण्डाश्चण्डास्तत्पुरतो ययुः ॥६॥
नृपाज्ञया तदा मद्री विनिद्रनयनोत्पला। पूर्णचन्द्रानना रम्या समुद्रा मुद्रिकान्विता ॥७॥
अहस्करं हिसन्तीव कर्णभूषणतो ध्रुवम्। सुदन्तज्योत्स्नया कृत्स्नं क्षिपन्तीव निशाकरम् ॥८॥
कटाक्षबाणक्षेपेण भिन्दन्ती मानसं नृणाम्। स्तनभारभराक्रान्ता चेले सा शिबिकाश्रिता ॥९॥
वनं समाट विटपिसुघाटघटितं स्फुटम्। पाण्डवानां पिता प्रीत्या मद्रीमुद्रितमानसः ॥१०॥
यत्र सालद्रुमाः साराः सरलाश्च क्वचित् क्वचित्। सहकारद्रुमा मञ्जुमञ्जर्यामोदमोदिताः ॥११॥

उन अभिनन्दन प्रभु को मैं अपने मनमन्दिर में विराजमान करता हूँ जो आनंद के दाता और भय के घातक हैं। जिनकी आत्मा निर्मल और कषाय रहित हैं और जो उदार हैं-सबको एक दृष्टि से देखते हैं ॥१॥

एक समय सफेद छत्र से सुशोभित पाण्डु को क्रीड़ा के लिये वन में जाने की इच्छा हुई। तब उसने भेरी बजवाई। भेरी के शब्द को सुनकर चारों प्रकार की सेना तैयार हो गई। सूरज के घोड़ों से भी सुन्दर, चलते हुए चमर-किसवार वाले चंचल घोड़े सजाये गये। दाँतों के प्रहार से पर्वतों को भी हिला देने वाले तथा उन्हीं के बराबर ऊँचे बलवान् हाथी तैयार किये गये। वे महायुद्ध के जैसे देख पड़ते थे। सुन्दर पहियों से सजे हुए और लोगों के पाँवो को विफल कर देने वाले रथ इधर-उधर से तैयार हो-होकर आये एवं मेघ की तरह गर्जने वाले और भयंकर दिखावे वाले प्रचंड पयादे-गण धनुष ले-लेकर उपस्थित हुए ॥२-६॥

इत्यादि शोभा से युक्त पाण्डु वन को चला। उसकी आज्ञा से मद्री देवी भी उसके साथ-साथ चली। वह अद्वितीय सुन्दरी थी। उसके नेत्र कमल से खिले हुए थे। पूरे चाँद के जैसा मन को मोहने वाला उसका मुँह था। उसकी मूर्ति देखने योग्य थी। उसके हाथ की अँगुलि में एक सुन्दर अँगूठी थी। उसे वह हमेशा ही पहिने रहा करती थी। वह अपने कर्णफूलों की कान्ति से सूरज की और दाँतों की प्रभा से चाँद की हँसी उड़ाती थी और कटाक्ष-बाणों के पात से मनुष्यों के मन को मोहती थी। कुचों के भार से उसकी अपूर्व ही शोभा थी। इसके थोड़ी देर बाद पाण्डु भाँति-भाँति के वृक्षों से सघन वन में पहुँचा और वहाँ मद्री के समागम से उसका मन खूब प्रसन्न हुआ ॥७-१०॥

वहाँ उसने देखा कि कहीं ऊँचे तालवृक्ष, कहीं सरल सरस के वृक्ष खड़े हुए हैं। कहीं सुन्दर मंजरियों की सुगन्ध से मन को मोहित करने वाले आम के वृक्ष लह-लहा रहे हैं। कहीं अशोकवृक्ष

अशोकाः शोकसंतप्ता भामिनीपादताडिताः। बकुलाः सफला योषामधुगण्डूषसिञ्चिताः ॥१२॥
आलिङ्गिताः कुरबका भीरुभिर्विकसन्ति च। भ्रमरा भ्रमरीवृन्दैर्गायन्ति मदनेशितुः ॥१३॥
यशो जगज्जयेनैव संभवं सुमहीपतेः। सुरासुरासुरीनारीसुरीसंघस्य पालिनः ॥१४॥
कोकिलाः कलनिःस्वाना अनुकुर्वन्ति गर्विताः। कामिनीनां स्वरांस्तन्त्रीयन्त्रितान्काममन्त्रिणः ॥१५॥
कामिनीकलगीतानि श्रूयन्ते च पदे पदे। किंनरीनादजेतॄणि सरसानि रसोत्करैः ॥१६॥
रंरम्यते स्म भूपालो वने तत्र प्रियासखः। नृत्यानि पक्ष्मलाक्षीणां प्रेक्षमाणः पदे पदे ॥१७॥
स तां च रमयामास रम्यैर्भोगै रतोद्भवैः। हासै रसैर्विलासैश्च क्रीडयालिङ्गनादिभिः ॥१८॥
क्वचिच्चन्दननिर्यासैरगुरुद्रवमर्दनैः। सुगन्धिचूर्णनिक्षेपैः क्वचित्कान्तनिरीक्षणैः ॥१९॥
स सुखं सुभगालापैः कलापैः स्त्रीजनस्य च। रममाणस्तदा लेभे न तृप्तिं तृष्णयान्वितः ॥२०॥
जलक्रीडारतः क्वापि वापिकायां स्त्रिया समम्। स चन्दनजलोद्गच्छत्पृषद्भिः कुसुमैरिव ॥२१॥
आकण्ठं च जले मग्नो नृप उद्भासिसन्मुखः। स्वर्भानुरिव स्त्रीवक्त्रचन्द्रं गिलितुमागमत् ॥२२॥
भूपः संक्रीड्य क्रीडार्तो विहर्तुं पुनरुद्ययौ। प्रतानिनीपरान्देशान्लुलोके लोकनोद्यतः ॥२३॥
लतामण्डपमासाद्य क्वचिन्मधुकरस्वरैः। वृतं वर्तुलसंकाशं तस्थौ स्थिरमनाः स्थिरः ॥२४॥

कामनियों के पाँवों की ताड़ना को पाकर हरे भरे हो रहे हैं। कहीं स्त्रियों के कुल्लों से सींचे जाकर वकुलवृक्ष फल रहे हैं। कहीं नारियों के संगम को पाकर कुरुवक जाति के वृक्ष विकसित हो रहे हैं। कहीं भौंरियों के साथ-साथ भौंरे कामदेव के यश को गा रहे हैं, जिसे काम ने तीन लोक को जीत करके पाया है। कहीं कोयलें मधुर-मधुर शब्द कर रही हैं, जाना जाता है कि वे गर्व को प्राप्त हुई कामनियों के काम-तंत्री के तार से परिष्कृत किये गये स्वरों की नकल ही उतार रही है। कहीं पद-पद पर कामनियाँ मधुर गीत गा रहीं हैं। कहीं अपनी तरल तरंगों के शब्द द्वारा किंनरियों के नाद को भी जीत लेने वाले तालाब देख पड़ते हैं ॥११-१६॥

ऐसे मनोहर वन में मद्री रानी के साथ-साथ पद-पद पर भामनियों की नृत्य-कला को देखते हुए पाण्डु ने बड़े सुख-चैन से समय बिताया और वहाँ क्रीड़ा की एवं उसने मनोहर भोगों और रति-क्रीड़ा से उत्पन्न हुए हास, रस, विलासों के द्वारा मद्री को खूब रमाया, उसके साथ खूब ही क्रीड़ा की। इसके सिवा उसने चन्दन के रस से, अगुरुद्रव के मर्दन से, सुगंध द्रव्य के निक्षेप से, स्त्रियों के कटाक्षमय निरीक्षणों से तथा उनके सुन्दर आलापों से अपने चित्त को बहुत ही बहलाया परन्तु उसे कहीं भी सन्तोष न हुआ-उसकी विषय-तृष्णा बढ़ती ही गई ॥१७-२०॥

कहीं वह बावड़ियों में जाकर स्त्रियों के साथ फूलों के तुल्य कोमल और सुगन्धित चन्दन के जल की उछलती हुई बूँदों से क्रीड़ा करता था और कंठ तक पानी में जब बैठ जाता था तब ऐसा जान पड़ने लगता था मानों स्त्रियों के मुखरूप चाँद को ग्रसने के लिए राहु ही आ गया है। कुछ देर में जब वह क्रीड़ा करता-करता थक गया तब उसने वहाँ से चलने की इच्छा की। वहाँ से चलकर उसने बहुत से लता-मंडपों को देखा। एक लता-मंडप में वह स्थिर-चित्त होकर बैठा भी। वह लता-

स तत्र मण्डपे वल्ल्याः पुष्पशय्यामकारयत्। तत्र मद्र्या समं श्रीमांस्तस्थौ भोगार्थलालसः ॥२५॥
रममाणः स्त्रिया सक्तः समासक्तमुखाम्बुजः। घनपीनस्तनाभोगां स भोगी बुभुजे च ताम् ॥२६॥
स भोगभरनिर्भिन्नः संभिन्नमदनज्वरः। तावता मृगमैक्षिष्ट क्रीडन्तमुपमण्डपम् ॥२७॥
हरिणीभोगसंलुब्धं कुरङ्गं वीक्ष्य तत्क्षणात्। स च कोदण्डसंधानं शरेण समकल्पयत् ॥२८॥
जघान शरघातेन चापमुक्तेन भूमिपः। कुरङ्गं मारसंसक्तं कुरङ्गीलुब्धमानसम् ॥२९॥
पपात पृथिवीपीठे रटन्संकटसंगतः। ममार स च धिग्भोगान्लुब्धस्य गतिरीदृशी ॥३०॥
ततो नभोऽङ्गणाद्दैवो जजृम्भे ध्वनिरित्यरम्। भूपाल तव नो युक्तमीदृशं कर्म दुःखदम् ॥३१॥
निरपराधिनो भूपा मृगान्घ्नन्ति वनस्थितान्। यदि रक्षां करिष्यन्ति तदान्ये केऽत्र भूतले ॥३२॥
सापराधा अपि प्राज्ञैर्न हन्तव्या मृगादयः। जेघ्नीयन्ते स्म दैवेन यतो निरपराधिनः ॥३३॥
सतां प्रपालका भूपा असतां च निवारकाः। इत्युक्तिं युक्तितस्तूर्णं विफलां कुरुषे कथम् ॥३४॥
मृगोऽयं न परान्हन्ति न स्वं चोरयति स्वयम्। परकीयं न चात्येव सस्यं वा रक्षितं नृणाम् ॥३५॥
ये नृपाः कृपयोन्मुक्तास्तृंहन्ति बृहतः पशून्। निरपराधिनो नूनं तेऽद्य यास्यन्ति कां गतिम् ॥३६॥

मंडप गोल था और भौंरों के सुन्दर शब्दों से गूँज रहा था। उस लता-मंडप में उसने एक फूलों की शय्या बनवाई और वह कामासक्त है मद्री-सहित उस पर बैठ गया। वह मद्री में इतना आसक्तचित्त हो गया कि उसके मुख-कमल पर से अपना मुख-कमल हटाना ही न चाहता था। उसने स्थूल और कठोर कुचों वाली मद्री के साथ वहाँ भी खूब कामक्रीड़ा की। इससे उसका मदन-ज्वर उतर गया। इसी समय में उसने मंडप के पास ही क्रीड़ा करते हुए एक हिरण को देखा। वह अपनी हिरणी के साथ काम-क्रीड़ा कर रहा था। उसे देखते ही राजा ने धनुष पर बाण चढ़ाया और उसके ऊपर छोड़ दिया ॥२१-२८॥

हिरण उस समय कामासक्त हो रहा था। बाण के लगते ही वह चिल्लाकर जमीन पर गिर पड़ा। उसे बड़ी वेदना हुई। वह मर गया। ग्रन्थकार कहते हैं कि इन भोगों को धिक्कार है, जिनके कारण लुब्धकों की ऐसी गति होती है। इसी समय आकाशवाणी हुई कि ''भूपाल! ऐसा दुखदाई काम करना तुम्हें उचित नहीं था। विचारिये कि यदि इन निरपराधी मूक और वन में रहने वाले हिरणों को राजा ही मारने लगे तो फिर संसार में उनकी दूसरा कौन रक्षा करेगा ॥२९-३२॥

बुद्धिमानों की तो इन्हें अपराध करने पर भी नहीं मारना चाहिए, तब फिर निरपराधियों की तो बात ही क्या है। निरपराधियों को दैव के सिवा और कोई नहीं मारता है। राजन्, यह प्रसिद्ध ही है कि राजा लोग शिष्टों को पालते हैं और दुष्टों का निग्रह करते हैं। यह ठीक है परन्तु न जाने आप इस युक्ति-युक्त बात को भी क्यों विफल कर रहे हैं ॥३३-३४॥

भला देखिए तो सही कि ये गरीब हिरण न तो किसी को मारते हैं, न किसी का धन चुराते है तथा न किसी के रखे हुए अन्न और घास को ही खाते हैं। फिर भी इनके साथ में राजा लोग निर्दयता करें और इन्हें मारें यह उनका कार्य बड़ा निंद्य है। इस अपराध से परलोक में उनकी क्या

पिपीलिकास्तनौ लग्नास्तन्व्योऽपि यदि दुःखदाः। जानद्भिरिति बाणेन कथं जेघ्नीयते मृगः ॥३७॥
मृगयामृगघातेन मृग्यं पापं हि केवलम्। अतो हिंसा न कर्तव्या हिंसा सर्वत्र दुःखदा ॥३८॥
ये हिंसातः समिच्छन्ति वृषं वृषविवर्जिताः। ते गोश्रृंगात्पयः पूर्णमग्नितः कमलोद्‌गमम् ॥३९॥
विषाच्च जीवितं जीव्यमहिवक्त्रात्परां सुधाम्। अस्तं प्राप्ताद्रवेर्घस्त्रं शिलातः सस्यसंभवम् ॥४०॥
इत्थं विज्ञाय भूपेन दया कार्या सुखावहा। कृपया प्राप्यते पारः संसारजलधेर्यतः ॥४१॥
इत्युक्तियुक्तिसंपत्तिं समाकर्ण्य कृपापरः। विरराम भवाद्भोगाद्देहतो भङ्गुरान्नृपः ॥४२॥
मुधा बुधा न कुर्वन्ति किल्बिषं कामवाञ्छया। ततः केवलकालुष्यादाप्नुवन्ति च दुर्गतिम् ॥४३॥
मुधा प्राणिवधेनाहो किं साध्यं मे सुखार्थिनः। किं राज्येन च सज्जन्तुघातोत्थकिल्बिषात्मना ॥४४॥
त्वयैव विषयार्थं हि प्राप्तं दुःखमनेकशः। विषयामिषदोषोऽयं प्रत्यक्षं किं न चेक्ष्यते ॥४५॥
इदं सर्वं त्वया भुक्तपूर्वं जन्तो ह्यनेकशः। पूर्वं तदेव स्वोच्छिष्टं को भुनक्ति सुधीर्भुवि ॥४६॥
विषयैर्भृज्यमानैर्हि न तृप्तिं यान्ति देहिनः। स्वकायमथनोद्भूते रतिस्तत्र कथं नृणाम् ॥४७॥

गति होगी, वे कहाँ जाएँगे ? जरा-सा चींटी के काटने पर अपने शरीर में जो वेदना होती है उसे जानते हुए भी आपने इस गरीब मृग को मार डाला, यह कहाँ तक उचित था। राजन्! ऐसे जीवों के घात से केवल पाप ही होता है। इसलिए हिंसा तो भूलकर भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि हिंसा सर्वत्र दुख ही देती है और जो अधर्मी हिंसा में भी धर्म मानते हैं वे गाय के सींग से दूध या आग से कमल की उत्पत्ति चाहते हैं, विष खाकर जीना और साँप के मुँह से अमृत चाहते हैं, एवं वे डूबते हुए सूरज से दिन की और शिला पर बीज बोकर अन्न की आशा करते है ॥३५-४०॥

यह जानकर राजा लोगों को दया करना चाहिए। दया सुख को देने वाली है और दया से जीव संसार-समुद्र को पार कर जाते हैं। इस प्रकार आकाशवाणी सुनकर वह दयालु राजा क्षणभंगुर शरीर-भव-भोगों से बड़ा विरक्त हुआ। वह सोचने लगा कि काम की वाञ्छा से विद्वान् लोग व्यर्थ पाप नहीं करते क्योंकि पाप से आत्मा की केवल दुर्गति ही होती है ॥४१-४३॥

मैं सुख को चाहता हूँ, फिर अचम्भे की बात है कि व्यर्थ ही प्राणियों के घात में क्यों प्रवृत्ति करता हूँ। इससे मुझे कुछ लाभ नहीं और न इससे मेरे उद्देश्य की ही सिद्धि होती है और जिस राज्य में जीवों के घात से पाप ही पाप होता है उस राज्य से भी मुझे क्या मिलना है। सच तो यह है कि जीवों को संसार में जितने कुछ दुख होते है वे सब विषय-कषायों को पुष्ट करने के लिये ही होते हैं। अतः यह सब विषय-रूप मांस खाने का ही दोष है। हे जीव, इसकी तू प्रत्यक्ष ही क्यों नहीं देख लेता। आत्मन्! तूने यह राज-काज पहले भी बहुत बार भोगा है और फिर भी तू उसी को भोगता है। विचार करके तो देख कि भला कोई बुद्धिमान् अपनी जूठन को भी दुबारा खाता है? ॥४४-४६॥

एक बात यह भी है कि यह जीव विषयों को चाहे जितना ही क्यों न भोगे, पर इनसे इसे कभी संतोष नहीं हो सकता। विचारने की बात है कि शरीरों के परस्पर घिसने से जीव को भला सुख ही क्या हो सकता हैं। भोग भोगते समय विषयों से सुख के जैसा भान होता जान पड़ता है परन्तु अन्त

भुज्यमानाः सुखायन्ते विषया दुःखदायिनः। अन्ते स्वर्णफलानीव मिष्टान्यादौ स्वहान्यथ ॥४८॥
नश्यन्ति विषयाः स्थित्वा चिरं नूनं यदि स्वयम्। हीयन्ते न कथं सद्भिस्त्यक्ता मुक्तिकरा यतः ॥४९॥
सुरासुरनरेन्द्राणां तृप्तिर्नो विषयैः क्वचित्। नरदेहसमुद्भूतैः कथं तृप्यन्ति ते नराः ॥५०॥
यः सागरसुपानीयैर्वाडवस्तृप्तिमुन्नताम्। इयर्ति स्म न किं याति तृणाग्रबिन्दुतः स च ॥५१॥
पूर्वं भुक्तास्त्वयानन्तकालं ते तैश्च पूर्यताम्। इदानीमात्मसौख्येन तृप्तोऽहमस्मि सस्मयः ॥५२॥
रागोऽधिस्त्रि निजान्प्राणान्हन्ति राज्यं च रागिणः। दुर्नयाः किं न कुर्वन्ति स्वकृत्यं भोगभागिनः ॥५३॥
वक्त्रं श्लेष्माकरं स्त्रीणां दूषिकादूषिते पुनः। नेत्रे नासापुटं पूतिगन्धद्रव्यभरावहम् ॥५४॥
ईदृशे वदने मूढाश्चन्द्रबुद्धिं प्रकुर्वते। तिमिराक्षनराः किं न रज्यन्ति शुक्तिकापुटे ॥५५॥
बालभारवहे मूढा धम्मिल्ले योषितामिति। प्रकीर्णकप्रकृत्यार्ता मोमुह्यन्ते मदावहाः ॥५६॥
मांसपिण्डे कुचे स्त्रीणां सुधाकुम्भं नरा इति। रारज्यन्ते यथा काकाः पिशिते पिशिताशनाः ॥५७॥

में दुख ही होता है, जैसे धतूरा खाने में मीठा सा मालूम होता है, पर उससे अन्त में हानि ही हानि होती है ॥४७-४८॥

इसके सिवाय यह सब विषय अनित्य हैं। कुछ काल ठहर कर अन्त में सब नष्ट हो जाते है। तब उत्तम पुरुषों को उचित है कि वे इन्हें पहले से ही छोड़ दें क्योंकि इनके त्याग से और तो क्या मुक्ति भी मिल जाती है। विचारने की बात है कि इन विषयों से जब सुर-असुर आदि किसी को भी संतोष न हुआ तब मनुष्य-भव में प्राप्त हुए जरा से विषयों में तो इस जीव को संतोष ही कैसे हो सकता है। यह समझ में नहीं आता ॥४९-५०॥

भला, सोचिए कि जो बड़वानल सागर के अनन्त जल से भी सन्तुष्ट नहीं हुआ वह तिनके के अग्रभाग में लगे हुए जल-कण से तृप्त ही क्या होगा। हे आत्मन्! तूने पहले अनंत काल तक इन भोगों को भोगा, पर तुझे तृप्ति नहीं हुई। अब तो इनसे संतुष्ट हो। इस समय मैं तो आत्म-सुख से सुखी हूँ, मुझे सन्तोष है और आत्मा के सच्चे सुख का अभिमान हैं। अब मुझे इस स्त्री-प्रेम से कुछ प्रयोजन नहीं। स्त्री के ऊपर अनुराग करके रागी पुरुष और तो क्या अपने प्राणों को भी खो बैठते है तथा राज-काज को भूल जाते हैं। सच है कि भोगों के अधीन हो मिथ्यात्वी जीव सभी अकृत्यों की अपने कृत्य बना लेते हैं ॥५१-५३॥

देखो, स्त्रियों का मुँह तो श्लेष्म (खकार वगैरह) का खजाना है, नेत्र कीचड़ जैसे घिनावने मैल के स्थान हैं, नाक घृणा को पैदा करने वाले दुर्गन्धित द्रव्य का भण्डार है। दुख है कि इस प्रकार के नारी के मुख को मूढ़ लोग चन्द्रमा कहते हैं, उसमें चाँद की बुद्धि करते हैं और है भी ठीक कि जिस पुरुष को रतौध हो जाती है उसे सीप भी चाँदी-सी देख पड़ने लगती है ॥५४-५५॥

मूर्ख लोग स्त्री के बालों को बड़ी-बड़ी सुंदर उपमाएँ देते है और मदोन्मत्त होकर उन पर मोहित होते हैं एवं मांसपिंड-रूप उनके कुचों को वे अमृत के घड़े कहते हैं और उनमें मांस-भक्षी कौओं की तरह अनुरक्त होते हैं और तो क्या कामीजन स्त्रियों के सघन जघनों में भी सुख मान कर

सुघने जघने स्त्रीणां सुखायन्ते च कामिनः। रक्ता विड्निवहे किं न यतन्ते सूकरा भुवि ॥५८॥
कीदृशं किं कियत्कुत्र जातं नारीभवं सुखम्। इत्यूहेन स्थितं सर्वं कर्दमक्षालनं यथा ॥५९॥
सप्तधातुमये काये स्वपाये बहुमायके। रारज्यन्ते कथं स्त्रीणां रामान्धा रङ्कवत्सदा ॥६०॥
निवारितापि जन्तूनां दुःफला धीः प्रवर्तते। अकृत्येऽपि न कृत्ये हि यत्नेन यतते सताम् ॥६१॥
विषयत्वं विजानाति पङ्कहेतुं सतां मतिः। तथापि तत्र वर्तेत धिङ्मोहस्य विचेष्टितम् ॥६२॥
मोमुह्यन्ते नरा मोहात्सीमन्तिन्याः शरीरके। असद्वस्तुनि सद्बुद्ध्या प्रतार्यन्ते हताशयाः ॥६३॥
दशाननादिभूपानां स्त्रीनिमित्तं हि केवलम्। मरणं राज्यनिर्णाशश्चासीद्दुर्गतिरुत्तरा ॥६४॥
क्व यामः किं वयं कुर्मः क्व तिष्ठामः कुतः सुखम्। कुतो लभ्या मया लक्ष्मीः कः सेव्यो नृपतिः पुनः ॥६५॥
का स्त्री स्वरूपसौभाग्या किं भोग्यं भोगभूतये। को रसो रसनास्वाद्यः किं वस्तु मम कार्यकृत् ॥६६॥
हनिष्यामि कदा शत्रुं मोहेनेति महीयसा। चिन्तन्ति दुर्मतिं नीता विकल्पव्रातवञ्चिताः ॥६७॥

उनमें अनुरक्त होते हैं, जैसे विष्टा खाने वाला सूअर विष्टा में अनुरक्त रहता है और सुख मानता है ॥५६-५८॥

इसलिए हे आत्मन्! तू जरा सा विचार तो कर कि इस जग में जीव को स्त्री-संग से कहाँ ? कैसा? और कितना सुख मिला है। इस विचार से तेरा चित्त अवश्य ही शान्त होगा, जैसे कि निर्मली आदि के निमित्त से मैला जल निर्मल हो जाता है। पहले स्त्री के इस शरीर को ही तो देख, यह सात धातुओं का पिंड है, नष्ट होने वाला और माया-जाल का स्थान है। फिर भी तू रागान्ध होकर इस पर अनुराग करता है, जैसे एक दरिद्री पुरुष मिली हुई निधि को अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी समझता है। यह कैसा मोह है जो निवारण करते-करते भी खोटे कामों में जीवों की बुद्धि बड़ी जल्दी लग जाती है और अच्छे कामों में लगाये भी नहीं लगती ॥५९-६१॥

अचम्भे की बात तो यह है कि सज्जनों की मति विषयों को पाप के हेतु जानती हुई भी उनमें प्रवृत्ति करती है। मोह की इस प्रबल चेष्टा को धिक्कार है। इस मोह से ही जीव अपने आपको भूल जाते हैं और स्त्री के घिनावने शरीर में मोहित हो जाते है। जिनके अभिप्राय खोटे हैं, मोहित है, वे असद्वस्तु में सद्बुद्धि करके ठगे जाते हैं ॥६२-६३॥

देखो, रावण आदि ने केवल परस्त्री को हरण करने-रूप अपने खोटे अभिप्राय ही से अपना राज खोया और परलोक में दुर्गति पाई।मोह के निमित्त से जब जीव मोहित होता है तब उसके हृदय पर दुर्मति अपना असर जमा लेती है और वह भाँति-भाँति के विकल्प-जालों में पड़ जाता है। वह विचारता है कि कहाँ जाऊँ और क्या करूँ ? कहाँ ठहरूँ ? मुझे सुख कहाँ मिलेगा ? मैं लक्ष्मी कहाँ से प्राप्त कर सकूँगा ? इसके लिए मुझे किस लक्ष्मी के लाल राजा महाराजा की सेवा करनी पड़ेगी? स्वरूप सौभाग्य वाली स्त्री कैसी होती है और मेरा भोग्य क्या है ? भोग, विभूति मैं कैसे भोग सकूँगा? रसना इन्द्रिय का विषय रस क्या ही अच्छी चीज है। और-और इन्द्रियों के विषय भी मनोहर है। मेरे मनोरथ को कौन सी वस्तु सिद्ध करेगी, मैं शत्रु को कब मारूँगा ॥६४-६७॥

एणः क्षीणः क्षणेनायं स्वैणीप्राणप्रियो मया। हतात्मना हतो हन्त करिष्ये किमहं शुभम् ॥६८॥
चिन्तयन्निति दुश्चिन्तश्चिन्त्यचेतनमुक्तधीः। यावदास्ते समासीनो दिशां पश्यन्विशांपतिः ॥६९॥
तावता सुव्रतो योगी व्रतव्रातविराजितः। इद्धावधिपरिज्ञातनानालोकस्थितिः स्थिरः ॥७०॥
गुप्तिगुप्तः सुगुप्तात्मा समितिस्थितिसंगतिः। षट्सुजीवनिकायानां पालकः परमोदयः ॥७१॥
चिदात्मचिन्तनासक्तो विमुक्तो भवभोगतः। अनुप्रेक्षाक्षणासक्तो निर्विपक्षः समक्षधीः ॥७२॥
अक्षूणलक्षणैर्लक्ष्यः क्षपणाक्षीणविग्रहः। निर्जिताक्षः क्षमाकांक्षी सुपक्षोऽक्षयसौख्यभाक् ॥७३॥
दुर्लक्ष्यः स्त्रीकटाक्षेण क्षान्त्या क्षोणीं क्षिपन्नपि। मोक्षाक्षयसुक्षेत्रस्य कांक्षकः क्षिप्तकल्मषः ॥७४॥
क्षणे क्षणे क्षयं कुर्वन्कर्मणां क्षपिताक्षकः। दक्षः क्षेमंकरोऽक्षोभ्याक्षीणो रक्षाक्षराढ्यवाक् ॥७५॥
अक्षेमक्षेपको मङ्क्षु साक्षाद्भिक्षुः क्षितीशनुत्। क्षप्यपक्षक्षयोद्युक्तो दीक्षितः क्षणलक्षणः ॥७६॥
ईदृक्षस्तु क्षितीशेन वीक्षितः क्षणदाक्षये। पूषेव पुष्टिमाप्तेन धराक्षिप्तास्त्रकेन च ॥७७॥
चतुर्विधेन संघेन युक्तस्य च महामुनेः। पादपद्मं ननामाशु प्रचण्डः पाण्डुपण्डितः ॥७८॥

पाण्डु सोचता है कि मुझ हतात्मा ने इस विचारी मृगी के प्राण-प्यारे हिरण को एक क्षण में ही धराशायी कर दिया, यह बहुत ही बुरा काम किया। अब मैं आगे कौन-सा शुभ कार्य करूँ, जिसके द्वारा इस पाप से मेरा पिंड छूट सके। पाण्डु इस प्रकार विचार करता-करता बेहोश हो गया, उसे अपनी कुछ भी सुधबुध न रही। कुछ काल बाद जब उसे कुछ चेत आया तब इधर-उधर भ्रमिष्ट-सा देखने लगा ॥६८-६९॥

इतने ही में उसे एक योगी के पवित्र दर्शन हुए। उनका नाम था सुव्रत। वे व्रतों से युक्त थे, दीप्त अवधिज्ञान से तमाम लोक की परिस्थिति को जानते थे, स्थिर-चित्त थे, गुप्ति-समिति को पालने वाले आत्म-संयमी थे, छह काय के जीवों के प्रतिपालक और परमोदय को प्राप्त थे, हमेशा ही आत्मचिंतन में लगे रहने वाले और संसार-देह-भोगों से विरक्त थे, बारह भावनाओं में लीन और शत्रु-रहित थे, प्रत्यक्ष बुद्धिशाली और अखण्ड लक्षणों से लक्षित थे ॥७०-७२॥

उनका शरीर उपवास आदि कायक्लेश से क्षीण हो गया था। वे जितेन्द्रिय और क्षमा के भण्डार थे। उनका पक्ष उत्तम था। वे अक्षय सुख के भोक्ता थे। स्त्रियों के कटाक्ष-बाणों के वे कभी लक्ष्य नहीं होते थे। लोग कहते हैं कि पृथ्वी में बड़ी भारी क्षमा है परन्तु उनमें उससे भी कहीं बढ़कर क्षमा थी। उन्होंने अपने क्षमागुण से पृथ्वी को नीचा दिखा दिया था। मोक्ष-रूप अक्षय-क्षेत्र की उन्हें सदा आकांक्षा रहती थी। उन्होंने पापों पर विजय पा ली थी ॥७३-७४॥

प्रतिक्षण कर्मों को क्षीण करते हुए उन्होंने इन्द्रियों को बिल्कुल ही क्षीण कर डाला था। वे दक्ष थे, क्षेमंकर और क्षोभ-रहित थे। उनके वचन पाप को हरने वाले थे। वे साक्षात् भिक्षु थे। बड़े-बड़े राजा महाराजा भी उनके पैरों पड़ते थे। वे दीक्षित थे, कर्म-शत्रुओं को नष्ट करने के लिए सदा उद्यत रहते थे और बड़े उत्साही थे। इस समय रात बीत चुकी थी और सूरज के उदय का समय था, अतः वे अपने शरीर के तेज से ऐसे जान पड़ते थे मानों कि सूरज ही हैं ॥७५-७७॥

इसके सिवाय वे चार प्रकार के संघ से युक्त थे। उन्हें देखते ही पाण्डु उनके चरण कमलों में

धर्मवृद्ध्याशिषाशास्य संयमी नृपसत्तमम्। धराधीशं धरायां च निविष्टं पुरतो जगौ ॥७९॥
राजन्संसारकान्तारे संसरन्ति शरीरिणः। न लभन्ते स्थितिं क्वापि परां पयोरघट्टवत् ॥८०॥
वृषो वृषार्थिभिः सेव्यः स तत्र द्विविधो मतः। अनगारसुसागारभेदेन भवभङ्गकृत् ॥८१॥
महाव्रतानि पञ्चव गुप्तयस्त्रिविधाः स्मृताः। सत्यः समितयः पञ्च यतिधर्म इति स्फुटम् ॥८२॥
प्राणिनां तत्र षण्णां च रक्षणं मनसा तथा। वचसा वपुषाख्यातं प्रथमं स्यान्महाव्रतम् ॥८३॥
असत्यं वचनं क्वापि न वक्तव्यं शुभार्थिभिः। हितं मितं च द्वितीयं वक्तव्यं स्यान्महाव्रतम् ॥८४॥
अदत्तं परकीयं च न ग्राह्यं वस्तु सद्धिया। तृतीयव्रतयुक्तेन यतोऽनर्थः परार्थतः ॥८५॥
देवमानुषसंतिर्यक्कृत्रिमाश्च स्त्रियो मताः। चतुर्धातो निवृत्तिर्या चतुर्थं तन्महाव्रतम् ॥८६॥
दशबाह्योपधेश्चान्तश्चतुर्दशपरिग्रहात्। निवृत्तिः क्रियते या तत्पञ्चमं स्यान्महाव्रतम् ॥८७॥
रौद्रार्त्तसुरताहारपरलोकविकल्पनम्। यच्चेतसि न चिन्त्येत मनोगुप्तिस्तु सा मता ॥८८॥
स्त्रीकथादिविभेदेन विकथा वाग्विचक्षणैः। उक्ता ततो निवृत्तिर्या सा वचोगुप्तिरिष्यते ॥८९॥
चित्रादिकर्मणा कायो विकृतिं याति न क्वचित्। कायगुप्तिस्तु सा ख्याता क्षिप्तदुःकर्मशत्रुभिः ॥९०॥
सूर्योदये पथि क्षुण्णे वीक्षिते जन्तुमर्दिते। युगमात्रं गतिर्या तु सेर्यासमितिरुच्यते ॥९१॥
कर्कशादिविभेदेन दशधा वचनं स्मृतम्। तन्निवृत्तिः क्षितौ ख्याता भाषासमितिरुच्यते ॥९२॥
षट्चत्वारिंशता दोषैर्मुक्तो न्यादपरिग्रहः। विधीयते मुनीन्द्रैर्या सैषणासमितिर्मता ॥९३॥

पड़ गया और नमस्कार कर अपने योग्य स्थान में बैठा। मुनि ने धर्मवृद्धि देकर राजाओं के राजा पाण्डु से कहा कि राजन्! इस संसार-वन में जीव हमेशा ही चक्कर लगाया करते है; कहीं कभी भी स्थिर नहीं हो पाते, जैसे अरहट की घड़ी कभी भी ठहर नहीं पाती-हमेशा ही चला करती है। इसलिए जो पुण्य के अर्थी है उन्हें सदा धर्म-सेवन करना चाहिए। धर्म के दो भेद है। एक मुनिधर्म और दूसरा श्रावकधर्म। धर्म से संसार-परिभ्रमण छूट जाता है ॥७८-८१॥

पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति यह तेरह प्रकार का यतिधर्म है। छह काय के जीवों की मन, वचन और काय से रक्षा करना अहिंसामहाव्रत है। असत्य वचन न बोलकर हित-मित वचन बोलना सत्यमहाव्रत है। अनर्थकारी अदत्त द्रव्य को ग्रहण नहीं करना अचौर्यमहाव्रत है। देवता, मनुष्यनी, तिर्यञ्चनी और चित्र की स्त्री इन चारों के त्याग को ब्रह्मचर्यमहाव्रत कहते हैं। चौदह प्रकार के अन्तरंग और दस प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग करना परिग्रहत्याग महाव्रत है। रौद्र, पीड़ा, रति, आहार और इस लोक परलोक का विकल्प मन में न उठाना मनोगुप्ति है। चार प्रकार की विकथा का न करना वचन-गुप्ति है। चित्र आदि की क्रियाओं द्वारा काय में विकार न होने देना कायगुप्ति है ॥८२-९०॥

जब सूरज निकल आये और मार्ग में लोग आने-जाने लगें तब चार हाथ पृथ्वी सोधकर, जीव जन्तुओं की दया करते हुए चलना ईर्यासमिति है। कर्कश आदि दस प्रकार के वचनों का त्याग करना भाषासमिति है। छियालीस दोषों को टालकर निर्दोष आहार लेने को एषणासमिति कहते हैं। पीछी,

आदानं क्षेपणं यद्वोपधीनां संविधीयते। सन्मार्ज्य वीक्ष्य सादाननिक्षेपसमितिर्मता ॥९४॥
श्लेष्ममूत्रमलादीनां क्षेपणं यद्विधीयते। निर्जन्तुके प्रदेशे च सा प्रतिष्ठापना भवेत् ॥९५॥
एवं विस्तरतो वाग्मी यतिधर्ममुवाच च। तथैवोपासकाचारं चरतां तं च नाकिताम् ॥९६॥
पुनर्योगी जगौ राजंस्तस्मिन्धर्मे रतिं कुरु। यतः स्वर्गसुखावाप्तिनिर्वाणं क्रमतो भवेत् ॥९७॥
किंचायुस्तव सुस्वल्पं त्रयोदशदिनावधि। सावधानो विधानज्ञो विधेहि विधिवद्वृषम् ॥९८॥
विशुद्ध्या धिया धत्ते धर्मं यो विधिवद् ध्रुवम्। धृतियुक्तः सुधीः प्रोक्तो विशुद्धः सोऽवधारितः ॥९९॥
निशम्येति यतेर्वाचं चलचेताश्चलात्मकः। चञ्चूर्यमाणोऽसातेन पाण्डुरासीद्भयातुरः ॥१००॥
क्षणं क्षणिकमावीक्ष्य जीवितं जीवनोत्सुकम्। नृपः स्वसंपदं मेने क्षणिकां ह्लादिनीमिव ॥१०१॥
ततश्चित्ते समालम्ब्य स्थैर्यं स्थिरमना मुनिम्। नत्वा स्तुत्वा चचालासौ चालयन्नचलां चिरम् ॥१०२॥
पाण्डुस्तु पाण्डुराकारः समाट सदनं निजम्। पापभीतिः परां प्रीतिं कुर्वञ्श्रेयसि संमतः ॥१०३॥
धृतराष्ट्रादयस्तेन समाहूताः स्वमन्दिरे। ततः स मुनिवक्त्रोत्थं वृत्तान्तं समचीकथत् ॥१०४॥
निशम्य ते महादुःखा रुरुदुर्हृदि ताडिताः। असिनेव हता हन्त विलापमुखराननाः ॥१०५॥
मुमूर्च्छुर्मङ्गलातीता बाष्पप्लावितलोचनाः। कुन्त्यादयोऽखिला बाला मुक्ताश्चेतनया यथा ॥१०६॥

कमण्डलु आदि उपकरणों को देख-सोधकर उठाना-धरना आदान-निक्षेपणसमिति है। खकार, मल, मूत्र वगैरह को जीव-जन्तु रहित प्रदेश में क्षेपना प्रतिष्ठापना समिति है ॥९१-९५॥

इस प्रकार उन वाग्मी मुनि ने विस्तार से यतिधर्म को कहा और इसी तरह श्रावकधर्म को भी बताया और कहा कि यतिधर्म से मोक्ष और श्रावक धर्म से स्वर्ग मिलता है। अतः राजन्! तुम इस धर्म में मन लगाओ क्योंकि धर्म से ही स्वर्गसुख की प्राप्ति होती है और क्रम से मोक्ष भी मिलता है। अब तुम्हारी आयु केवल तेरह दिन की शेष रह गई है, इसलिए तुम सावधान हो जाओ। तुम तो सब जानते समझते हो, चतुर हो, इसलिए बहुत जल्दी विधिपूर्वक धर्म को धारण करो। देखो, विशुद्ध परिणामों से जो विधिपूर्वक धर्म को धारण करता है वह धैर्यशाली और बुद्धिमान् अपने आत्मा को निर्मल बना लेता है ॥९६-९९॥

इस प्रकार मुनि के वचनों को सुनकर चंचल-चित्त पाण्डु असाता के कारण संसार से बहुत डरा और अनन्त जीवन के लिए उत्सुक हो उसने क्षणिक जीवन पर कुछ काल विचार किया। वह सम्पत्ति को बिजली की तरह चंचल समझने लगा। इसके बाद स्थिर-चित्त से मुनि को नमस्कार कर तथा उनकी स्तुति कर वह वहाँ से अपने नगर को चला आया। वह पाप से बहुत ही डर गया था और इसलिए उसके हृदय में मोक्ष से पूरी-पूरी प्रीति हो गई थी ॥१००-१०३॥

उसने धृतराष्ट्र वगैरह को अपने महल में बुलाया और मुनि के मुख-कमल से सुना हुआ सारा का सारा हाल जैसा का तैसा कहा। पाण्डु के कहे हुए इस सब हाल को सुन कुन्ती वगैरह तो इस प्रकार रोने लगी मानों उनके ऊपर वज्र ही टूट पड़ा है, उनके हृदय दहल गये। वे विलाप करने लगीं। उनकी आँखों से अनवरत आँसुओं की धारा बह निकली। सभी दुखमय हो गईं। उन्हें मूर्च्छा आ गई।

शीतोपचारतो लब्धचेतनाश्चिन्तयाकुलाः। इतिकर्तव्यतामूढा गूढासातसमन्विताः ॥१०७॥
ततः पाण्डुरभाणीत्तान्समाश्वास्य वचोभरैः। श्रूयतामवधानेन भवद्भिर्वचनं मम ॥१०८॥
संसारे सरतां पुंसां जननं मरणं तथा। संबोभोति च किं दुःखं मरणे समुपस्थिते ॥१०९॥
भूभारं भरतो मुक्त्वा जित्वा जेयाञ्जयोद्धुरः। कालेन कलितः सोऽपि कालोऽयं बलवानिह ॥११०॥
जयो जयञ्जनान्युक्त्या मेघेश्वरसुरानपि। सोऽपि कालकलातीतो मुक्त्वा प्राणाञ्शिवं ययौ ॥१११॥
कुरुः कवलयन्सर्वं कुरुवंशनभोमणिः। कवलीकृत्य कालेन कलितः सोऽपि कर्मणा ॥११२॥
संसरन्तः सदा सन्तः संसारेऽसातसागरे। सनातना न दृश्यन्तेऽप्येवं शोकेन तत्र किम् ॥११३॥
के के गता न संभुज्य भुवं भोगहताशयाः। कास्था ममात्र भोगादौ निःशेषविगतायुषः ॥११४॥
इन्दिरामन्दिराण्यत्र सुन्दराणि सुदन्तिनः। सुदत्य इन्दुवदनाश्चन्दनादीनि वीतयः ॥११५॥
सर्वमेतद्विनिश्चेयं निश्चयेन चलात्मकम्। कात्र स्थितमतिः प्रातस्तृणाग्रलग्नबिन्दुवत् ॥११६॥
एवं संबोध्य बोधात्मा बुद्धः संशुद्धमानसः। बुधांस्तान्संदधे धर्मे बुद्धिं धीधनवर्धितः ॥११७॥

इसके बाद वे ऐसी देखने लगीं मानों उनमें से चेतना विदा ही ले गई हो। शीतोपचार वगैरह उपाय किये जाने पर उनमें चेतना आई परन्तु उनकी चिन्ता तब भी न गई और उसके मारे वे किंकर्तव्य विमूढ़-सी रह गई। तात्पर्य यह है कि उस समय वे असाता के सागर में डूब गई थीं ॥१०४-१०७॥

इसके बाद पाण्डु ने उन्हें आश्वासन देकर कहा कि तुम सब सावधान हो मेरे वचन सुनो। इस संसार-चक्र में चक्कर लगाने वाले ये जीव हमेशा ही जन्म-मरण किया करते हैं। तब उत्पन्न होने और मरण करने में तुम दुख क्यों करती हो। यह क्या कोई नई बात है। देखो कि जिस भरत चक्रवर्ती ने तमाम भूमण्डल को अपने बाहुबल से जीतकर भोगा वह भी जब काल से न बचा और उसका सेनापति-रत्न जयकुमार जिसने सारे संसार को जीतकर मेघेश्वर देवताओं पर भी विजय पाई-काल वली की कलाओं द्वारा अपने प्राणों का त्यागकर शिव को गया तब हमारी तुम्हारी तो बात ही क्या है ॥१०८-१११॥

यहाँ तो काल ही बली है, उसके आगे किसी की भी नहीं चलती और भी देखो कि जिस कुरुवंश-शिरोमणि कुरु राजा ने सम्पूर्ण शत्रुओं का नाश किया, पर काल-शत्रु ने उसका भी ग्रास कर लिया, उससे वह भी न बच सका। सच बात तो यह हैं कि इस असाता-रूप संसार में चक्कर लगाता हुआ कोई भी सत्पुरुष सनातन नहीं देख पड़ता, फिर व्यर्थ शोक करने से लाभ क्या हो। बताओ तो सही कि इस पृथ्वी को भोगकर कौन-कौन नहीं चले गये और यहाँ किस-किस का हृदय भोगों से हताश नहीं हुआ। अब जबकि मेरी बिल्कुल ही थोड़ी-सी आयु रह गई हैं तब मैं भोगों का क्यों विश्वास करूँ, मुझे तो उनका छोड़ना ही उचित जान पड़ता हैं ॥११२-११४॥

लक्ष्मी, महल, चन्द्रवदनी स्त्रियाँ, हाथी और घोड़े वगैरह ये सब निश्चय से चंचल-अस्थिर हैं। भला, सबेरे के वक्त तिनकों के आगे के भाग में जो ओस की बूँदें लगी रहती हैं उनमें कौन मूढ़ स्थिरता की बुद्धि करेगा। इस प्रकार सबको समझा बुझाकर ज्ञानी पाण्डु पंडित ने शुद्ध मन हो, धन

जिनपूजनसंसक्तस्ततः श्रीजिनपुङ्गवान्। पाण्डुः संपूजयामास भक्तिनिर्भरमानसः ॥११८॥
अष्टधार्चनमादायापूजयत्पापभीतधीः। जिनान्संगीतनृत्याद्यैः कृत्वा क्षणभरं क्षणात् ॥११९॥
सधर्मिभ्यो ददद्वित्तं चतुर्धा दानतत्परः। संतोष्य सर्वतः सर्वानभवद्भवभेदकः ॥१२०॥
समाहूय सुतान्पञ्च धर्मपुत्रादिकांस्तदा। दत्तराज्यभराक्रान्तान्धृतराष्ट्राय सोऽर्पयत् ॥१२१॥
पालनीयाः सुता मेऽद्य त्वत्पुत्रसुधिया त्वया। युधिष्ठिरादयो नूनं कुरुवंशं सुरक्षता ॥१२२॥
कुन्त्याः सोऽदाच्छुभां शिक्षां पुत्रपालनहेतवे। निर्विण्णो भवभोगेषु परलोकहितोद्यतः ॥१२३॥
युधिष्ठिरादिसूनूनां रुदतामतिमोहिनाम्। स्वराज्यस्थितये शिक्षां ददौ पाण्डुरखण्डवाक् ॥१२४॥
कुरुजान् गोत्रिणो वंश्यान्क्षान्त्वा पाण्डुः क्षमापयन्। निर्ययौ गेहतो हित्वा गेहस्नेहपरिग्रहान् ॥१२५॥
इयाय जाह्नवीतीरमजिह्मब्रह्मवेदकः। तत्र स प्रासुके देशे संन्यस्यास्थात्स्थिरव्रतः ॥१२६॥
यावज्जीवं कृताहारशरीरत्यागसंगतः। वीरशय्यां समारुक्षदमूढो गुरुसाक्षिकम् ॥१२७॥
आरुह्याराधनानावं भवाब्धिं तर्तुमिच्छुकः। सर्वसत्त्वेषु समतां भावयन्भावतत्परः ॥१२८॥
मैत्रीं सर्वत्र जीवेषु प्रमोदं गुणिषु व्यधात्। माध्यस्थ्यं विपरीतेषु कृपां क्लिष्टेषु भूपतिः ॥१२९॥

वगैरह से बुद्धि को हटाकर धर्म में चित्त लगाया। उस समय पाण्डु ने भक्तिभाव से जिन भगवान् की पूजा की और पाप से भयभीत हो जिनपूजा के साथ-साथ खूब नृत्य-गान आदि उत्सव किया, साधर्मी जनों को चार प्रकार का दान दिया, दीन-दुखी जीवों को संतुष्ट किया और अन्य सबको भी यथायोग्य संतुष्ट कर वह भव भेदने के लिए तैयार हुआ ॥११५-१२०॥

इसके बाद उसने अपने युधिष्ठिर आदि पाँचों पुत्रों को बुलाया और उन्हें राजभार से विभूषित कर तथा धृतराष्ट्र के हवाले कर धृतराष्ट्र से कहा कि भाई, तुम इन मेरे पुत्रों को अपने पुत्र ही समझकर इनका पालन-पोषण करना। आपसे अधिक कहने सुनने की आवश्यकता नहीं है, आप कुरुवंश के रक्षक हैं। इसके बाद उसने पुत्रों के पालन-पोषण के सम्बन्ध में कुन्ती को भी उचित शिक्षा दी और वह संसार -देह-भोगों से बिल्कुल ही उदास हो परलोक साधन के लिए तैयार हो गया ॥१२१-१२३॥

इस समय मोह के वश ही युधिष्ठिर आदि सभी रोने लगे। पाण्डु ने उन्हें भी अपने राज्य को यथावत् पालने के सम्बन्ध में समझाया। इसके बाद उस चतुर ने अपने कुटुंब के सब लोगों से क्षमा माँगी और अपनी ओर से सबको क्षमा किया तथा परिग्रह वगैरह की छोड़कर, घर से बाहर हो, वह वन की ओर चल दिया। वह आत्म-वेदी गंगा-तट पर गया और वहाँ एक प्रासुक प्रदेश में संन्यास धारण कर स्थिरता के साथ बैठ गया। उसने आजन्म के लिए आहार, शरीर आदि का त्यागकर ज्ञानी गुरु के निकट वीरशय्या स्वीकार की ॥१२४-१२७॥

इस वक्त वह आराधना-रूप नौका पर चढ़कर संसार-समुद्र को पार करने की इच्छा रखता था। वह सब जीवों पर हमेशा समताभाव रखता था, सब जीवों से मैत्री रखता था, गुणी पुरुषों को देखकर बड़ा आनन्दित होता था और विपरीत आचरण करने वाले पर मध्यस्थ-उदासीन रहता था। वह दीन-दुखी जीवों पर दया करता था। उसका मन बिल्कुल स्वच्छ था। उसने प्रायोपगमन संन्यास

प्रायोपगमनं कृत्वा वीरः स्वपरगोचरान्। उपकाराञ्शरीरेऽसौ नैच्छत्स्वच्छसुमानसः ॥१३०॥
तीव्रं तपस्यतस्तस्य तनुत्वमगमत्तनुः। तस्यावर्धिष्ट सद्भावो ध्यायतः परमेष्ठिनः ॥१३१॥
सोपवासस्य गात्राणां परं शिथिलताजनि। न कृतायाः प्रतिज्ञाया व्रतं हि महतामिदम् ॥१३२॥
रसक्षयादभूत्कार्श्यं तस्य देहे शरद्घने। यथा स मांसनिर्मुक्तदेहः सुर इवाबभौ ॥१३३॥
त्वगस्थीभूतकायोऽसौ व्यजेष्ट यत्परीषहान्। व्यक्तं महाबलं तस्य तदासीद्ध्यानयोगतः ॥१३४॥
मूर्ध्नि सिद्धाञ्जिनांश्चित्ते मुखे साधून्स्वचक्षुषि। दधौ स परमात्मानं सद्ध्यानी ध्यानयोगतः ॥१३५॥
अश्रौषीच्छ्रवणे मन्त्रं जिह्वया स तमापठत्। चेतोगर्भगृहे हन्त निधायाशु निरञ्जनम् ॥१३६॥
असेः कोशादिवान्यत्वं कायाज्जीवस्य चिन्तयन्। चिन्तितात्मा निजान्प्राणानौज्झत्स मन्त्रवेदकः ॥१३७॥
देहभारमथो मुक्त्वा लघूभूत इवोन्नतः। स धर्मी कल्पसौधर्मं प्राग्दृष्टमिव चागमत् ॥१३८॥
तत्रोपपादशय्यायामुदपादि महोदयः। निरभ्रे गगने सोऽपि तडित्वानिव सोद्यमः ॥१३९॥
नवयौवनसंपूर्णः सर्वलक्षणलक्षितः। सुप्तोत्थित इवाभाति स तथान्तर्मुहूर्ततः ॥१४०॥
केयूरकुण्डलोपेतो मुकुटाङ्गदभूषणः। सदंशुकधरः स्रग्वी समभूत्स घनद्युतिः ॥१४१॥

धारण किया। वह अपने शरीर की किसी के द्वारा या अपने आप सेवा-टहल नहीं चाहता था ॥१२८-१३०॥

घोर तप करने से उसका शरीर बड़ा कृश हो गया था। पंच परमेष्ठी का सदा काल ध्यान करने से उसका हृदय उत्तम-उत्तम भावों का स्थान हो गया था। उपवास आदि द्वारा उसका शरीर ही कृश हुआ था, पर की हुई प्रतिज्ञा एक भी शिथिल न हुई थी और ऐसा ही होना भी चाहिए क्योंकि वास्तव में उत्तम पुरुषों का व्रत वही है जो कभी भंग न हो। तप के बल से शरद्ऋतु के मेघों की तरह उसका स्वच्छ और सफेद शरीर कृश हो गया था, अतः वह ऐसा देख पड़ता था मानों मांस आदि से रहित स्वच्छ शरीर वाला सुर ही है ॥१३१-१३३॥

उसके शरीर में केवल चर्म और हड्डी रह गई थी, मांस नाम मात्र को भी न था। दुर्द्धर परीषहों को सहने से उसका आत्मबल प्रकट हो गया था। सच पूछो तो यह सब ध्यान का ही प्रभाव था। वह ध्यानी ध्यान के बल से हमेशा मस्तक पर सिद्धों को, मन में, जिनों को, मुँह में साधुओं को, नेत्रों में परमात्मा को धारण किये रहता था। कानों से मंत्रों को सुनता था और जीभ से उन्हें बोलता था। वह अपने मनोगृह में सदा निरंजन अर्हन्तदेव को विराजमान किये रखता था ॥१३४-१३६॥

जिस तरह म्यान से तलवार जुदी होती है, उसी तरह वह शरीर से आत्मा को जुदा समझता था। ऐसी अवस्था में ही उस मंत्र-वेदी ने अपने प्राणी का त्याग किया। वह देह-भार से हल्का हो, धर्म के फल से सौधर्म स्वर्ग में गया। वहाँ उसने मेघ-रहित आकाश में बिजली की तरह, एक अन्तर्मुहूर्त में, नवयौवन परिपूर्ण, सब लक्षणों से लक्षित शरीर धारण कर उपपादशय्या में सोते से उठ-बैठने के जैसा जन्म धारण किया ॥१३७-१४०॥

वह केयूर, कुंडल, मुकुट और अंगद आदि भूषणों से विभूषित था, दिव्य वस्त्र पहिने था,

तदा कल्पद्रुमैर्मुक्ता पुष्पवृष्टिर्वरापतत्। तथा दुन्दुभयो भेणुर्नादान्संरुद्धदिक्तटान् ॥१४२॥
सुगन्धः शीतलो वायुर्ववावम्बुकणान्किरन्। दिक्षु व्यापारयन्दृष्टिं ततोऽसौ वलितां दधौ ॥१४३॥
किमेतत्परमाश्चर्यं कोऽस्मि के मां नमन्त्यहो। नरीनृतति का एता इत्यासीद्विस्मितः क्षणम् ॥१४४॥
आयातोऽस्मि कुतः किं वा स्थानमेतत्प्रसीदति। मनो ममाश्रमः कोऽयं शय्यातलमिदं किमु ॥१४५॥
इति संध्यायतस्तस्यावधिबोधः समुद्ययौ। तेनाबुद्धामरः सर्वं क्षणात्पाण्ड्वादिवृत्तकम् ॥१४६॥
अये तपःफलं दिव्यमयं लोकोऽमरालयः। प्रणामिन इमे देवा विमानमिदमुन्नतम् ॥१४७॥
देव्यो मञ्जुगिरश्चैता मणिभूषणभूषिताः। एता अप्सरसः स्फारं स्फुरन्ति स्फुटनाटकाः ॥१४८॥
गायन्ति कलगीतानि मन्द्रोऽयं मुरजध्वनिः। इति निश्चितवान्सर्वं भवप्रत्ययतोऽवधेः ॥१४९॥
ततो नियोगिनो नम्रा अमर्त्या मौलिपाणयः। ते तं विज्ञप्तिमुन्निद्राश्चरीक्रति कृतोन्नतिम् ॥१५०॥
भजस्व प्रथमं नाथ सज्जं मज्जनमुत्तमम्। यतोऽर्चां श्रीजिनेन्द्राणां विधेहि विधिना बुध ॥१५१॥
इदं दैवं बलं देव वीक्षस्व क्षणसंकुलम्। प्रेक्षागृहं च वीक्षस्व ततः संप्रेक्ष्यमुद्ध्वजम् ॥१५२॥

सुन्दर-सुंदर मालायें उसके गले में पड़ी हुई थीं। उसके शरीर की कान्ति दिव्य थी। उस समय उस पर कल्प-वृक्षों ने दिव्य फूलों की बरसा की। दुंदुभि बाजे बजे, जिनके शब्द से दिशाओं के तट गूंज उठे। सुगन्धित शीतल वायु जलकणों को फेंकती हुई वही, जिसके सम्बन्ध से इधर-उधर सब दिशाओं में दृष्टि फैलाता हुआ वह बल को प्राप्त हुआ और सोचने लगा कि यह सब क्या है ? स्वप्न तो नहीं है ? मैं कौन हूँ ? और मुझे जो ये आ-आकर नमस्कार करते हैं, कौन हैं ? ये नृत्य करने वाली स्त्रियाँ कौन हैं ? इस प्रकार विचार कर वह क्षणभर चकित-सा रह गया ॥१४१-१४४॥

वह फिर विचार करने लगा कि मैं कहाँ से आया हूँ ? और यह कौन स्थान है ? इसको देखकर मेरा मन बहुत ही प्रसन्न हो रहा है, यह क्या बात है ? यह किसका आश्रय है ? और यह शय्या कैसी है ? उसके मन में इस प्रकार की उथल-पुथल हो ही रही थी कि उसे उसी समय अवधिज्ञान हो गया, जिसके द्वारा उसने पाण्डवों का सब हाल जान लिया और यह भी जान लिया कि मुझे यह तप का फल मिला है, यह दिव्य है। यह देवताओं का स्थान स्वर्ग है। ये जो-नमस्कार करते हैं देव हैं और यह देवताओं का विमान है ॥१४५-१४७॥

मधुर बोलने वाली ये देवियाँ हैं, जो मधुर-मधुर गीत गाती और नाचती हैं। ये मणियों के भूषणों से विभूषित अप्सरायें हैं। सारांश यह कि उसने अवधिज्ञान से अपनी सब शंकाओं का आप ही समाधान कर लिया। अहा! यह सुन्दर ध्वनि वाली मद्री है। मद्री भी उसी जगह देवी हुई थी यह बात आगे यहीं स्पष्ट हो जायेगी ॥१४८-१४९॥

इसके बाद आज्ञाकारी, नम्र और प्रफुल्ल-चित्त देवता-गण हाथ जोड़ नमस्कार कर उस उन्नत देव से बोले कि प्रभो! पहले स्नान करके तैयार होइए और विधिपूर्वक जिनेन्द्रदेव की भक्तिभाव से पूजा कीजिए। देव! देखिए यह देवताओं का समुदाय आप जैसे स्वामी को पाकर आज कैसा उत्सव मना रहा है। यह सब आपकी सेना के देव है। यह फहराती हुई ध्वजाओं से विभूषित नृत्यगृह है।

विलोकयामराधीश नर्तकीर्नृत्यसंगताः। सभासा भूषणाभासा देवीर्देवाद्य सत्कुरु ॥१५३॥
देवत्वस्य फलं चैतत्संप्राप्तं हि त्वयाधुना। इति तद्वचसा सर्वमेतत्तूर्णं व्यधाद् बुधः।१५४॥
इति सातं भजन्भोगान्भेजेऽसौ सुरभूभवान्। भव्यो भक्तिं जिनेन्द्राणां तन्वानः सुखसंश्रितः ॥१५५॥
अथ मद्री धवस्नेहाद्विरक्ता भवभोगतः। भर्त्रा साकं सुसंन्यासे मतिं तेने सुमानसा ॥१५६॥
कुन्त्याः सुतौ समर्प्यासौ वेश्मभारं विशेषतः। संन्यासं कर्तुकामासौ वारितापि विनिर्गता ॥१५७॥
गङ्गातटे स्थितिं तेने संन्यस्याहारपानकम्। सा दृष्टिज्ञानचारित्रतपआराधनां व्यधात् ॥१५८॥
तपःप्रभावतस्तस्याश्चक्षुषी लयमागते। भीते इव क्षुधादोषाद्भीतानामीदृशी गतिः ॥१५९॥
अङ्गं भङ्गं गतं तस्याः स्तिमितेन्द्रियसंश्रयः। असवोऽपि गताः सार्धं धवेन धवलात्मना ॥१६०॥
तत्रैव प्रथमे कल्पे सोदपादि शुभाश्रयात्। पुण्यं पचेलिमं चेद्धि का वार्ता नाकसंनिधेः ॥१६१॥
अथ कुन्ती शुचाक्रान्ता ज्ञात्वा मृत्युं महेशिनः। विलपल्लपना तत्र गत्वा सा विललाप च ॥१६२॥
लुञ्चयन्ती निजान्केशांस्त्रोटयन्ती निजोरसः। मणिमुक्ताफलोपेतं हारं हाटकसंभवम् ॥१६३॥

इसे भी देखिये, यह देखने के ही योग्य है। प्रभो, यह देखो, ये भाँति-भाँति के आभूषणों से सुशोभित नर्तकियाँ कैसा सुन्दर नाच कर रही हैं। हे अमरेश्वर! आप इस समय इस विभूति के स्वामी हुए हैं और यह सब आपने देवत्व का फल पाया हैं। इसलिए अब आप चलिए और योग्य क्रियाओं को कीजिए। उनके कहने से उस देव ने जो अपने कर्तव्य-कर्म थे वे सब किये। इस प्रकार वह सुखी देव कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुए भोगों को भोगता हुआ सुख-चैन से अपना समय बिताने लगा। वह भव्य हमेशा भक्तिभाव से सुख-पूर्वक जिनदेव की पूजा-उपासना किया करता था ॥१५०-१५५॥

इधर मद्री भी प्यारे पति के स्नेह से संसार-देह-भोगों से विरक्त हो गई और उसने शुद्ध मन से पतिदेव के साथ ही साथ संन्यास ग्रहण करने की इच्छा की। अपने विचारों के अनुसार वह नकुल-सहदेव इन दोनों पुत्रों तथा कुन्ती को राजभार और घर-गृहस्थी का भार सौंपकर संन्यास धारण करने के लिये-मना करने पर भी-घर से निकल पड़ी और गंगा किनारे पहुँची। वहाँ उसने आहारपान का त्यागकर संन्यास को ग्रहण कर लिया। उसने दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओं की आराधना की। तप के तेज से उसके दोनों नेत्र बिल्कुल भीतर को घुस गये थे, जान पड़ता था कि मानों भूख के भय से ही ऐसे हो गये हैं। ठीक ही है, कायरों की ऐसी ही गति होती है। उसका अंगभंग हो गया था, इन्द्रियाँ श्री-रहित हो गई थीं। अन्त समय उसके प्राण अपने पतिदेव पाण्डु के साथ ही उड़ गये और उसी प्रथम स्वर्ग में वह सौंदर्य आदि शुभ गुणों की खान देवी हुई। सच है, जब पुण्य का उदय होता है तब सब कुछ आ मिलता है, फिर स्वर्ग मिलने की तो बात ही क्या है ॥१५६-१६१॥

इधर-शोक से पीड़ित कुन्ती ने जब पाण्डु की मृत्यु का हाल सुना तब वह बहुत ही विलाप करने लगी। उसके मुँह से आहें पर आहें निकलने लगीं। वह बिल्कुल ही बेचैन हो गई। इसके बाद वह गंगा-तट पर गई और वहाँ विलाप करती हुई अपने बालों को लोंच-लोंच कर फेंकने लगी।

कङ्कणं करघातेन कृन्तन्ती करतः शुचा। विललापेति दुःखार्ता कर्तव्यरहिता च सा ॥१६४॥
हा नाथ हा प्रियाधार हा कौरवनभोंशुमन्। हा हर्तः सर्वदुःखानां हा कर्तः शुभकर्मणाम् ॥१६५॥
हा वीरवक्त्रशुभ्रांशो सर्व श्रोतृसुभावन। कुण्डलोद्भासिसत्कर्णाभ्यर्णस्वर्णसमद्युते ॥१६६॥
स्वरसंक्षिप्तसद्वीणानाद पाथोदनादभृत्। हा कम्बुकण्ठ सत्कण्ठसमुत्कण्ठितकोकिल ॥१६७॥
विकुण्ठीकृतदुर्वारवैर्युत्कण्ठ सुमण्डन। विस्तीर्णवक्षसा व्याप्तजगत्कीर्तनकीर्तिभृत् ॥१६८॥
दुःखिनीं मां विहायाशु हारिणीं क्व गतो भवान्। दास्यते त्वां विहायाद्य मह्यं को मानमुत्तमम् ॥१६९॥
त्वया विनाद्य सर्वत्र शून्यं वेश्म न शोभते। अहं कर्तव्यतामूढा गूढदुःखा त्वया विना ॥१७०॥
अद्य मे मस्तकेऽपप्तन्नभो निर्भिन्नसंभ्रमम्। अद्याङ्गुष्ठे स दुष्टेऽत्र मुक्तो वह्निः सुदाहकः ॥१७१॥
करवाणि किमत्राहो त्वदृतेऽमृतवत्सल। ज्वलते निखिलो देहो मदीयो मदनाहतः ॥१७२॥

उरःस्थल में पड़े हुए मणि-मुक्ताफलों से जड़े सोने के हार को तोड़कर फेंकने लगी। हाथों को इधर-उधर फटकारने के कारण उसके कंकण टूट गये। वह शोक से अत्यन्त विह्वल हो गई। इस तरह दुख से पीड़ित होने के कारण उसे कुछ भी अपना कर्तव्य न सूझ पड़ने लगा ॥१६२-१६४॥

वह किंकर्तव्य विमूढ़-सी हो गई। वह विलाप करने लगी कि हा नाथ! हा प्रिय! हा जीवनाधार! और हा कौरव-वंश-रूप आकाश के सूर्य! तुम मुझे छोड़कर कहाँ चले गये। अब मैं तुम्हारे बिना कैसे जीऊँगी। हा सब दुखों को हरने वाले और शुभ कार्यों को करने वाले वीर, तुम मेरे दुखों को क्यों नहीं हरते और अपनी अब वीरता क्यों नहीं दिखाते ॥१६५॥

हा चाँद जैसे मुँह वाले और सबको सुहावने, तुम मेरे संतप्त हृदय को शान्ति क्यों नहीं देते। हा कुंडलों द्वारा विभूषित कानों वाले और सोने के जैसी कान्ति के धारक, आप अब मेरे चित्त को प्रसन्न क्यों नहीं करते। हा अपने स्वर से उत्तम से उत्तम वीणा के स्वर को भी नीचा दिखाने वाले, मेघ के समान गंभीर नाद करने वाले, शंख के जैसे कंठ वाले और कोयल के जैसे स्वर वाले, अब आप मुझे दर्शन क्यों नहीं देते और अपने सुन्दर स्वर को क्यों नहीं सुनाते ? ॥१६६-१६७॥

हे दुर्वार बैरियों को भी कुंठित कर उनके कण्ठ के भूषण बनने वाले, विस्तृत वक्षस्थल से जगत् भर में अपनी कीर्ति को विस्तृत करने वाले, आप मुझ दुखियों के दुख को दूर कर मेरे कंठ के भूषण क्यों नहीं होते और अपनी कीर्ति की गंध मुझ तक क्यों नहीं आने देते। प्रभो! आप मुझ दुखी को छोड़कर कहाँ चले गये! आपके बिना अब संसार में मुझे कौन मान देगा-मेरा कौन आदर करेगा-मुझे कौन आदर की दृष्टि से देखेगा ॥१६८-१६९॥

नाथ, तुम्हारे बिना यह महल सूना हो गया है, अब शोभा नहीं पाता। भला, इसे एक वार तो फिर सुशोभित कर दीजिए। स्वामिन्! तुम्हारे बिना मैं अत्यन्त दुखी हो गई हूँ। मुझे कुछ कर्तव्य ही नहीं सूझ पड़ता। मुझे ऐसा भान होता है कि मानों आज आकाश को भेदकर मेरे मस्तक पर वज्र ही आ पड़ा है। मेरे शरीर पर दुष्ट जलाने वाली आग ही छोड़ दी गई है। मुझे बड़ा खेद है ॥१७०-१७२॥

यत्र तत्र गता नाथ न लेभे रतिमुत्तमाम्। प्रसीद पुरुषश्रेष्ठैकदा च देहि सद्वचः ॥१७३॥
त्वां विना वल्भनें वाञ्छा मदीयापि न विद्यते। राज्यं प्राज्यं विमुच्याशु किं कृतं त्वयका विभो ॥१७४॥
दुरवस्थेदृशी केन प्रापिताहं महाप्रिय। पवित्रास्तव पुत्रास्ते किं करिष्यन्ति त्वां विना ॥१७५॥
निराधारा धराधीश धारयामि कथं धृतिम्। वल्ली विटपिनं वेगाद्विहायास्ते कथं विभो ॥१७६॥
शुभाकर कथं शोभां लभेय वल्लभाधुना। त्वां विना च यथा नाथ निशानाथादृते तमी ॥१७७॥
विरसां त्वां विना देव मानयन्ति न जातुचित्। जना मां सुरसैर्मुक्तां सरसीमिव सद्रसाम् ॥१७८॥
विनेशेन वरा नारी रतिं न लभते क्वचित्। मणिना हि विनिर्मुक्ता यथा हारलता विभो ॥१७९॥
एवं तस्यां रुदन्त्यां हि रुरुदुः कौरवा नृपाः। युधिष्ठिरादयः क्षिप्रमिति बाष्पाविलाननाः ॥१८०॥
प्राज्यं राज्यं त्वया मुक्तं राजते न नराधिप। लवणेन विना भुक्तं भोज्यं स्वादकरं न हि ॥१८१॥
त्वया मुक्ता वयं देव कथं शोभां लभामहे। दन्तावला यथा दन्तमुक्ता मान्याः कथं नृपैः ॥१८२॥

नाथ! बताइए कि तुम्हारे बिना अब में यहाँ क्या करूँ, कैसे अपना समय बिताऊँ। हे अमृतवत्सल! तुम्हारे बिना काम से पीड़ित हुआ मेरा शरीर जला जाता है। मैं कहीं भी जाती हूँ, पर मुझे जरा भी सुख-शान्ति नहीं मिलती। इसलिए हे पुरुषोत्तम, मुझ पर प्रसन्न होकर मुझसे एक बार प्रेम भरे शब्दों में बोलिए। तुम्हारे बिना न तो मुझे भोजन रुचता है और न पानी ही। प्रभो! ऐसे उत्तम और सब तरह से परिपूर्ण राज्य को छोड़कर तुमने यह क्या किया। महाप्रिय! तुमने मुझे ऐसी दुखमय अवस्था को ही क्यों दिखाया। देखिए तो, तुम्हारे बिना तुम्हारे ये पवित्र पुत्र क्या करेंगे, किससे शिक्षा पायेंगे और किसके पास जाकर प्रसन्न होंगे ॥१७३-१७५॥

धराधीश! मैं आपके बिना धीरज कैसे धरूँगी। भला, कहीं वृक्ष के बिना बेल निराधार रह सकती है। शुभांकर! जरा सोचिए तो, कि तुम्हारे बिना अब यह आपकी वल्लभा शोभा कैसे पायेगी। क्या चाँद के बिना भी कहीं रात की शोभा होती है। देव, तुम्हारे बिना मुझ विरस-शृंगार आदि विहीन का आदर ही कौन करने चला। क्या कहीं कोई विरस-जल-विहीन-सूखे सरोवर को भी आदर की दृष्टि से देखता है। सच तो यह है कि पति के बिना स्त्री कहीं भी चैन नहीं पाती, जैसे कि मणियों के बिना हारलता सुशोभित नहीं होती। कुन्ती के इस तरह रोने-बिलखने को सुनकर कौरव भी विलाप करने लगे। युधिष्ठिर आदि के मुँह आँसुओं से भीग गये ॥१७६-१८०॥

वे विलाप करने लगे देव, यह उत्तम राज्य जिसे आपने छोड़ दिया है, अब आपके बिना बिल्कुल शोभा नहीं पाता, जिस तरह कि चाहे कितना ही सुस्वादु भोजन क्यों न हो, पर वह नमक के बिना अच्छा नहीं लगता। देव, जबकि हमें आपने ही छोड़ दिया तब अब हमारी शोभा होना असम्भव ही सा है। क्या कहीं बिना दाँतों के हाथियों की शोभा होना सम्भव हो सकता है और जिस तरह बिना दाँतों के हाथियों की राजा-गण कदर नहीं करते उसी तरह वे हमारी भी इज्जत नहीं करेंगे ॥१८१-१८२॥

त्वया मुक्तमिदं राज्यं न शोभाहेतवे भवेत्। यथा गन्धविनिर्मुक्तं कुसुमं सुषमाहरम् ॥१८३॥
एवं शुचं प्रकुर्वाणान्वारयन्ति स्म तान्बुधाः। इति वाक्येन शोको हि सर्वेषां दुःखदायकः ॥१८४॥
तपःस्था योगिनो भव्या न शोच्या मृतिमागताः। प्रेतां गतिं गताः सन्तो यतः सद्गतिभाजिनः ॥१८५॥
वारयित्वेति ते शोकं सर्वे धर्मसुतादिजम्। कुर्वाणाः कौरवं वंशं प्रोन्नतं विविशुः पुरम् ॥१८६॥
धृतराष्ट्रो महाराष्ट्रो राष्ट्रे राष्ट्रविरोधिनः। निर्वासयन्प्रकुर्वाणो राज्यं रेजे महेन्द्रवत् ॥१८७॥
गान्धार्यां गन्धसंलुब्धो मधुव्रत इवाभवत्। धृतराष्ट्रो रतो वल्ल्यां सुमनोनिचयप्रियः ॥१८८॥
सुतानां शिक्षयामास स शतं क्षितिपालकः। राजनीतिं सुनीतिं च प्रीतिं पौरजनैः सह ॥१८९॥
प्रचण्डाखण्डकोदण्डपटुपाण्डित्यपण्डिताः। पाण्डवाः संकटातीता विकटास्तत्र रेजिरे ॥१९०॥
गाङ्गेयसंगताः सद्यो गाङ्गेयसमसत्प्रभाः। अगं नगं सुगां चैव पालयन्ति स्म पाण्डवाः ॥१९१॥
द्रोणं विद्रावणे दक्षं विपक्षाणां सुपक्षकाः। धनुर्विद्यार्थमाभेजुः पाण्डवाः पञ्च पावनाः ॥१९२॥
कदाचिद्धृतराष्ट्रोऽपि वनं गन्तुमियाय च। दुन्दुभीनां निनादेन भासयन्निखिला दिशः ॥१९३॥
विपिने विपिनाधीशैः संस्तुतः कौरवाग्रणीः। प्राभृतैः फलपुष्पाणां सेवितः सुखसिद्धये ॥१९४॥

प्रभो! आपके बिना यह राज्य भी तो हमारी शोभा के लिए नहीं हो सकता, जैसे गंध-रहित पुष्पों से किसी की शोभा नहीं होती, उल्टी और सुषमा चली जाती है। इस तरह शोकातुर कौरवों को विद्वान् लोग समझाने लगे कि आप लोग शोक मत करो। यह शोक जीवों को दुख ही देता है, इससे किसी को भी सुख नहीं मिलता और फिर तपस्वी योगियों की मृत्यु पर शोक करना तो बिल्कुल ही व्यर्थ है। कारण, वे मृत्यु के प्रसाद से परलोक में जा उत्तम गति के उत्तम सुख पाते हैं। इस प्रकार युधिष्ठिर आदि के शोक को वारण कर कौरव-वंश के भूषण वे लोग नगर को वापस चले आये ॥१८३-१८६॥

इसके बाद इस महान् देश का राजा धृतराष्ट्र देश-विद्रोहियों को देश से निकाल कर महेन्द्र की भाँति आनन्द के साथ राज्य करने लगा। वह हमेशा गांधारी के मुख-कमल की गंध में लुब्ध रहता था, जैसे भौंरा कमल की गंध पर लुब्ध रहता है और बेल में जिस भाँति पुष्प-समूह संलग्न रहता है उसी भाँति वह गांधारी में संलग्न रहता था। वह अपने सौ पुत्रों को शिक्षा देता था, उन्हें राजनीति, सुनीति और देश-वत्सलता का पाठ पढ़ाता था एवं प्रचंड और अखण्ड धनुष विद्या के पंडित पाण्डव-गण भी संकट रहित सुख-चैन से वहाँ निवास करते थे। उन्हें किसी भी प्रकार की कोई तकलीफ न थी। उनके शरीर की सोने की सी आभा थी। उनके साथ में सदा ही गांगेय रहा करते थे। पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी आदि सभी के वे पालक थे ॥१८७-१९१॥

शत्रुओं को त्रास देने में अति प्रवीण द्रोणाचार्य उनके पक्ष में थे और वे पाँचों ही पवित्र पांडव धनुषविद्या में निपुण थे। एक बार धृतराष्ट्र वन-क्रीड़ा को गया। उस समय दुंदुभियों के शब्दों का बड़ा भारी कोलाहल हुआ, जिससे दसों-दिशायें गूंज उठीं। वहाँ उसकी वन के स्वामी भीलों ने खूब स्तुति की और सुख-लाभ की वाञ्छा से उसे फल-पुष्प आदि भेंट किये। वहाँ लोकपालों के अधीश धृतराष्ट्र ने शोक को दूर करने वाले अशोक नाम के एक वृक्ष को देखा। वह ऐसा जान पड़ता

अशोकानोकहाख्यं च शोकशङ्कानिवारकम्। लुलोके लोकपालानामधीशो लोकपालवत् ॥१९५॥
तत्र स स्फाटिकीं स्पष्टां निर्मलां मुकुरुन्दवत्। शिलामैक्षिष्ट राजेशो वरां सिद्धशिलामिव ॥१९६॥
यदन्तर्भासितानेकानोकहाभोग आबभौ। स भित्तौ लिखितश्चित्रं चित्रव्यूह इवामलः ॥१९७॥
तत्रोपरिस्थितं धीरं निर्मलं गुणसंगमम्। विपुलं बोधसंपन्नं विशुद्धं चिन्मयं परम् ॥१९८॥
मुनीन्द्रं महितं मान्यैः संगसंसर्गदूरगम्। सोऽनमद्वीक्ष्य शुद्धं वा सिद्धं सिद्धशिलोपरि ॥१९९॥
दत्ताशिषा मुनीन्द्रेण नृपोऽवादि स्थिरस्थितः। राजन् संसारकान्तारे भ्रमतां न सुखं क्वचित् ॥२००॥
यथाब्धौ जलकल्लोला लीयन्ते संभवन्ति च। म्रियन्ते च तथा जीवा जायन्ते जगतीतले ॥२०१॥
क्वचित्सौख्यं क्वचिद्दुःखं बोबुध्यन्ते विबुद्धयः। संसारे सर्वदा दुःखं विद्धि विद्वन्महीपते ॥२०२॥
भवे धावन्ति सज्जीवाः साताय सततोद्यताः। तन्नाप्नुवन्ति तोयाय मृगा वा मृगतृष्णया ॥२०३॥
बन्धो न बन्धुरं किंचिद्विद्धि संपद्धरादिकम्। योयुध्यन्ते तदर्थं हि बुधा अपि मुधोद्यताः ॥२०४॥
स्पर्शनेन्द्रियसंलुब्धाः क्षुब्धा बोधविवर्जिताः। न लभन्ते परं शर्म मातङ्गा इव सद्वने ॥२०५॥

था मानों दूसरा लोकपाल ही है। वहाँ पर उसकी दृष्टि एक स्फटिक की–दर्पण के जैसी निर्मल शिला पर पड़ी। वह सिद्धशिला–सी देख पड़ती थी ॥१९२–१९६॥

उसके मध्यभाग में जाकर बहुत से वृक्षों का प्रतिभास पड़ता था और वह भींत में लिखे हुए निर्मल चित्रों का भ्रम कराता था। उसके ऊपर एक मुनीन्द्र विराजे हुए थे। वे धीर थे, निर्मल थे, गुणों के भण्डार थे, विपुल ज्ञान वाले थे, विशुद्ध और चैतन्यमूर्ति थे। बड़े–बड़े गण्य–मान्य पुरुष उनकी वन्दना स्तुति करते थे। वे परिग्रह के संसर्ग से रहित थे। उनके पास तिल–तुष मात्र भी परिग्रह न था। वे सिद्धशिला पर बैठे हुए सिद्ध भगवान् से जान पड़ते थे। राजा ने देखते ही उन्हें नमस्कार किया और उन्होंने राजा को धर्मवृद्धि दी। इसके बाद राजा स्थिर चित्त हो बैठ गया। मुनि बोले कि राजन्! देखिए इस संसार–वन में भटकते हुए जीवों को कहीं भी सुख–साता नहीं मिलती–उन्हें हमेशा जन्म–मरण के चक्कर में ही पड़ा रहना पड़ता है ॥१९७–२००॥

जिस तरह समुद्र में कल्लोलें उठती और विनशती रहती हैं, उसी तरह संसार में जीव भी मरते और जन्मते रहते हैं परन्तु जो जीव अज्ञानी हैं वे मोह के वश हो कहीं सुख और कहीं दुख की कल्पना कर लेते हैं। पर सचमुच ऐसा नहीं है किन्तु संसार में तो सब जगह दुख ही दुख है–सुख का लेश भी कहीं नहीं है। हे विद्वान् राजन्! तुम विचार कर तो देखो कि जगत् के जीव हमेशा ही सुख–साता के लिए दौड़ते फिरते रहते है और हमेशा ही उसके लिए उद्यम भी किया करते हैं परन्तु वे कहीं भी सुख नहीं पाते, जिस तरह मरीचिका को देखकर विचारा मृग जल की आशा से दौड़ता फिरता रहता है, पर वह कहीं भी जल नहीं पाता। यह किसका प्रभाव है ? मोह ही का है न ? राजन्! यह सम्पत्ति वगैरह कोई भी चीज जीवों को सुख देने वाली नहीं है। जिसके लिए ये जीव व्यर्थ ही लड़ते और झगड़ते हैं। अज्ञानी जीव स्पर्शन इन्द्रिय के वश हो बड़े कष्टों को प्राप्त होते हैं। उससे उन्हें सुख नहीं मिलता, जिस तरह वन में कागज की हथिनी को देख, स्पर्शन इन्द्रिय के वश हो, हाथी, गड्ढे में

रसनेन्द्रियलाम्पट्याद्रसास्वादनतत्पराः। विपत्तिं यान्ति जीवा वा बडिशेन यथा झषाः ॥२०६॥
घ्राणेन गन्धमाघ्राय विदग्धा इव बन्धुरम्। इयर्तीव मृतिं मत्ता द्विरेफाः सरसीरुहे ॥२०७॥
प्रतीपदर्शिनीरूपरञ्जिताश्चक्षुषा नराः। दुःखायन्ते यथा वह्नौ पतङ्गाः पतनोन्मुखाः ॥२०८॥
कर्णेनाकर्णनोत्कीर्णा गीतिसंकीर्णमानसाः। विपद्यन्ते विपत्पूर्णा यथा चाजिनयोनयः ॥२०९॥
निशम्येति नृपोऽपृच्छत्स्वामिन् राज्यं हि कौरवम्। भोक्तारो वा भविष्यन्ति धार्तराष्ट्राश्च पाण्डवाः ॥२१०॥
यद्दृष्टमिष्टमुत्कृष्टं विशिष्टं वस्तु वस्तुतः। विनश्यते विनाशो हि स्वभावो वस्तुनः स्फुटम् ॥२११॥
अश्रौषं श्रवसा शीघ्रं सतः सर्वार्थवेदिनः। पूर्वं पुंसो विपद्यन्ते स्म ते कालेन मानवाः ॥२१२॥
इदानीं ये च दृश्यन्ते दृश्या दृष्टिगता नराः। विपत्स्यन्तेऽत्र कालेन के स्थिराः सन्ति भूतले ॥२१३॥
भाविनो भूतले लोकाः श्रूयन्ते शास्त्रकोविदैः। भविष्यन्ति स्थिरा नो वा ब्रूहि ते च दयां कुरु ॥२१४॥
कीदृशी पाण्डवानां हि भविता स्थितिरुत्तमा। धार्तराष्ट्रा नरेन्द्राः किं भवितारो धरेश्वराः ॥२१५॥

पड़ जाता है और उसे सुख नहीं मिलता। इसी तरह रसना इन्द्रिय की लंपटता से भाँति-भाँति के स्वादों को चखकर जीव सुखी होना चाहते है परन्तु सुखी न होकर वे उल्टे काँटे के मांस को निगल जाने वाली मछली की तरह दुखी ही होते हैं और तो क्या कभी-कभी अपने प्राणों को भी खो बैठते हैं। बहुत से भोले-भोले अज्ञानी पुरुष मनोहर सुगन्ध को सूंघ कर, कमल की गंध से उन्मत्त हो जाने वाले भौंरे की तरह उन्मत्त हो जाते हैं और मर जाते हैं। प्रसिद्ध है कि भौंरा कमल में गंध के लोभ से बैठ जाता है और शाम तक बराबर लुब्ध होकर उसी में बैठा रहता है और आखिर जब कमल सिकुड़ने लगता है तब वह उसी में बैठा रह जाता है और प्राण गवा देता है ॥२०१-२०७॥

इसी तरह गंध के लोलुपी पुरुष भी अपने प्राणों को व्यर्थ ही गवा बैठते हैं। नेत्रों से स्त्री के सुन्दर रूप को देखकर पुरुष लुभा जाते हैं और अन्त में दुख का भार उठाते हैं, जैसे दीपक या आग में पंखी लुभाकर गिरते हैं और जलकर खाक हो जाते हैं। इसी प्रकार कानों से मधुर गीत सुनने की लालसा को प्राप्त होकर मनुष्य विपत्ति के पंजे में जा पड़ते हैं और फिर वहाँ से उन्हें छुटकारा पाना मुश्किल हो जाता है, जैसे हिरण व्याध के गाने से मोहित हो अपने प्राणी को खो बैठते हैं। मुनि का यह पवित्र उपदेश सुनकर धृतराष्ट्र ने पूछा कि स्वामिन्! कौरवों के इस विशाल राज्य को धार्तराष्ट्र-दुर्योधन आदि भोगेंगे या पाण्डव-गण ॥२०८-२१०॥

प्रभो! यह तो मैंने कान देकर सुना कि जो कुछ पदार्थ दीख रहे हैं या जो प्यारे, उत्कृष्ट और विशिष्ट है वे सभी नष्ट होंगे, यह बात बिल्कुल सच्ची है क्योंकि वस्तु का स्वभाव ही नाश होना है और यह भी सुना है कि पहले बहुत से सत्पुरुष जो सब पदार्थों के ज्ञाता हो गये हैं वे भी सब काल के ग्रास हुए और जो वर्तमान में सुन्दर-सुन्दर पुरुष देख पड़ रहे हैं वे भी काल के ग्रास बनेंगे। भावार्थ यह है कि इस भूतल पर कोई भी वस्तु या मनुष्य स्थिर नहीं है परन्तु सवाल यह है कि आगे जो महापुरुष होंगे वे स्थिर-अमर होंगे या नहीं ? यह मुझे दया कर बता दीजिए। आगे पांडवों की कैसी स्थिति होने वाली है और क्या आगे धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदि राजा होंगे? हे नाथ! आप

नाथ सुव्रत योगीन्द्र योगयोगाङ्गपारग। अगम्यं गम्यते किंचिन्न ते वस्तु विशेषतः ॥२१६॥
मगधः सुबुधो नीवृद्रम्भाभाभारभूषितः। सुपर्वपालितो रेजे नाकलोक इवापरः ॥२१७॥
राजगृहं पुरं तत्र राजराजगृहोन्नतम्। धनदामरलोकाढ्यमलकानगरं यथा ॥२१८॥
जरासंधो नरेन्द्राणां मान्यो वैरिमदापहः। नवमः प्रतिविष्णूनां राजते तत्र पत्तने ॥२१९॥
तस्य कालिन्दसेनाख्या कालिन्दीव रसावहा। विशाला कमलाकीर्णा विमलाभूत्सुभामिनी ॥२२०॥
भ्रातरः सुतरां तस्य न केनापि पराजिताः। अपराजितमुख्याश्च सन्ति सन्तो महोद्यताः ॥२२१॥
सनयास्तनयास्तस्य विनयोन्नतमानसाः। सुकाला इव संरेजुस्ते कालयवनादयः ॥२२२॥
इत्थं राजगृहाधीशो राजते राजसिंहवत्। भूचरैः खेचरैः सेव्यो विजितारातिमण्डलः ॥२२३॥
विपत्तिस्तस्य सहजा भविता परतोऽथवा। आख्याहि ख्यापने शक्त इति मन्निश्चयाय च ॥२२४॥
निशम्येति वचोऽवादीच्छृणु तेऽद्य मनोगतम्। धृतराष्ट्र धराधीश धृतिं धृत्वा विशुद्धधीः ॥२२५॥

सुव्रत हैं, योगींद्र और योग-योगांग के पारंगत है, अतः आपसे कोई भी वस्तु छिपी नहीं-आप सब कुछ जानते हैं ॥२११-२१६॥

मुनि बोले-मगध नाम एक देश है। वह पंडितों-बुधों का निवास और रंभाओं-नारियों से विभूषित है, अतः वह बुधों-देवताओं और रंभाओं-देवांगनाओं से विभूषित स्वर्ग-लोक-सा जान पड़ता है। ऐसा जाना जाता है कि मानो वह दूसरा स्वर्गलोक ही है। उसमें एक राजगृह नाम नगर है। वहाँ राजाओं के राजा के ऊँचे महल बने हुए हैं और उसमें धनद-धन को देने वाले दानी और अमर-दीर्घजीवी लोग-निवास करते हैं। अतः वह अमरावती की बराबरी करता है क्योंकि वहाँ भी राजराज-इन्द्र के बड़े ऊँचे महल बने हुए हैं और उसमें भी धनद-कुबेर और अमर रहते हैं। वहाँ का राजा है जरासंध। उसे सभी राजा-गण मानते हैं। वह मान-मत्सर से रहित है, नौवाँ प्रतिनारायण है ॥२१७-२१९॥

उसकी रानी का नाम है कालिंदसेना। उसका रूप यमुना नदी के जल की तरह नीला-सा है। उसका शरीर विशाल और लक्ष्मी के जैसा शोभा से व्याप्त है। जरासंध के अपराजित आदि कई भाई हैं। वे अपराजित और उद्योगी हैं। कालयवन आदि विनयी उसके पुत्र हैं। वे नीति वाले और सुकाल आदि के समान हैं। इस तरह से वह राजगृह का स्वामी जरासंध राजसिंह सा सुशोभित होता है। भूचर, खेचर आदि सभी उसकी सेवा करते हैं। उसने सारे बैरियों पर विजय पा ली है ॥२२०-२२३॥

हे प्रभो! इस सम्बन्ध में मैं यह पूछना चाहता हूँ कि जरासंध का मरण सहज ही होगा या किसी वैरी के द्वारा ? भगवन्! कृपा कर आप मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दीजिए, जिससे कि मुझे उक्त बातों का निश्चय हो जाय। आप इनके समझाने को सर्वथा समर्थ है क्योंकि आपके दिव्यज्ञान से कोई भी चीज बाहर नहीं है। यह सुन मुनिराज बोले कि विशुद्ध बुद्धि वाले राजन् धृतराष्ट्र! मैं तुम्हारे मन की सब बातों को कहे देता हूँ, तुम धीरज के साथ सुनो। इस राज्य के कारण दुर्योधन आदि में और पाण्डवों

दुर्योधनादिभूपानां पाण्डवानां विशेषतः। विरोधः कलहश्चैव भविता राज्यसिद्धये ॥२२६॥
कुरुक्षेत्रे मरिष्यन्ति धृतराष्ट्र सुतास्तव। आहवे विहितानेकवधे संनद्धयोध्दृके ॥२२७॥
अखण्डाखण्डलोल्लासाः पालयिष्यन्ति पाण्डवाः। विश्वम्भरां भयातीतां हस्तिनागपुरे स्थिताः ॥२२८॥
यः पृष्टो मगधाधीशवधो विविधदुःखदः। तमाकर्णय संकृत्यावधानोध्दुरमानसम् ॥२२९॥
तत्र क्षेत्रे विकुण्ठेन वैकुण्ठेन हठात्मना। जरासंधमहीशस्य संगरः संजनिष्यति ॥२३०॥
अवेह्यहितकृत्तस्य मरणं तत ईशितुः। आकर्ण्येति सचिन्तोऽभूद्धृतराष्ट्रः सराष्ट्रकः ॥२३१॥
ज्ञात्वा वृत्तमिदं सर्वं नत्वा योगीन्द्रमुत्तमम्। प्रपेदे पुरमुल्लोलललनालोचनं नृपः ॥२३२॥

श्रुत्वासौ श्रुतिसंमतः श्रुतवरः श्रीमान् श्रियालङ्कृतः
ऐश्वर्यापहतारिवारविकसत्पुण्यः सुगण्यो गुणैः।
धुन्वन्श्रीधृतराष्ट्रनामनृपतिः कामं कलङ्कं कृपा-
संक्रान्तो विरराज कौरवकुलं चिन्वंश्चिरं चारुधीः ॥२३३॥

धर्मोऽयं कुरुते सुधर्ममयनं धर्मेण लक्ष्मीलताम्
लब्ध्वा धर्मकृते चिनोति चरितं सर्वं शिवं धर्मतः।
धर्मस्यापि गुणा भवंति विपुला भूपस्य धर्मे मतिम्
कुर्वन्तं गुरुसत्तमं गुणगुणं हे धर्म तं पालय ॥२३४॥

में खूब विरोध होगा और लड़ाई होगी। तुम्हारे पुत्र दुर्योधन आदि कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में मरेंगे वहाँ और भी अनेक योद्धाओं की मृत्यु होगी और पाण्डव-गण निर्भय हो आनन्द के साथ हस्तिनापुर में जा इन्द्र की तरह पृथ्वी का पालन करेंगे ॥२२४-२२८॥

और तुमने जो नाना दुखों को देने वाला जरासंध का मरण पूछा है उसे भी ध्यान देकर सुनो। कुरुक्षेत्र में ही कृष्ण नारायण के साथ जरासंध का युद्ध होगा और वहीं कृष्ण के हाथ से उसकी मृत्यु होगी। यह हाल सुन धृतराष्ट्र को बड़ी चिन्ता हुई और उसकी इस चिंता ने सारे देश को भी चिंता में डाल दिया। इसके बाद धृतराष्ट्र योगीन्द्र को नमस्कार कर नगर को चला आया। नगर ललनाओं के चंचल नेत्रों से सुशोभित था और मनुष्यों की रक्षा करता था ॥२२९-२३२॥

श्री और गांधारी देवी से विभूषित धृतराष्ट्र इस प्रकार शास्त्र का पवित्र उपदेश सुनकर अपने श्रेष्ठ गुणों के द्वारा काम के कलंक को दूर करने में लगा। उसने अपने ऐश्वर्य से बैरियों का ध्वंस कर दिया था और इसी निमित्त से उसका पुण्य विकसित हो उठा था। वह लोगों में सुगण्य और गुणों का पिटारा था, दया का अवतार था। उसकी बुद्धि बहुत ही सुंदर थी। वह धृतराष्ट्र कौरवों के कुल को बढ़ाता हुआ अत्यन्त शोभा पाता था ॥२३३॥

धर्मराज युधिष्ठिर नीतिमार्ग पर चलते हैं, अतएव धर्म से उन्हें लक्ष्मी प्राप्त है। वह धर्म के लिए ही हमेशा उत्तम-उत्तम आचरणों को करते है क्योंकि धर्म से ही जीवों को सब सुख मिलते है। वह विपुल गुणों के भण्डार हैं, धर्म में धर्म-बुद्धि करते हैं और अधर्म से सदा दूर भागते हैं। वह

इति श्रीपाण्डवपुराणे भारतनाम्नि भट्टारकश्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपाल साहाय्य सापेक्षे पाण्डुमद्रीपरलोकप्राप्तिधृतराष्ट्रप्रश्नवर्णनं नाम नवमं पर्व ॥९॥

राजाओं में श्रेष्ठ राजा है। अतः हे धर्म, तू उस गुण-गण के धारी की रक्षा कर ॥२३४॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में पाण्डु और मद्री को परलोक प्राप्ति और धृतराष्ट्र के प्रश्नों का वर्णन करने वाला नौवां पर्व समाप्त हुआ ॥९॥

दशमं पर्व

सुमतिं मतिकर्तारं सुमतिश्रितपङ्कजम्। मतये नौमि निःशेषनम्रामरनरेश्वरम् ॥१॥
एकदातर्कयत्तर्क्यमुदर्कफलभाङ्नृपः। सवितर्कोऽर्कवद्भासा भूषितो भूभराश्रितः ॥२॥
हंहो मम सुता युद्धशौण्डीराः शुद्धमानसाः। प्रबुधा बुधसंसेव्या बुद्ध्या धिषणसंनिभाः ॥३॥
आर्या जयसमावर्यावार्याः सद्वीर्यसंगताः। धैर्यगाम्भीर्यसंवर्याः सपर्याश्रितसंक्रमाः ॥४॥
दुर्योधनादयो धीरा राज्यभर्तार इत्यपि। कृत्वा राज्यस्य चोच्छित्तिं मरिष्यन्ति महाहवे ॥५॥
धिगिदं राज्यमुत्तुङ्गं धिक्सुतान्भाविसन्मृतीन्। धिग्जीवितं ममाद्यापि पराकृतविसारिणः ॥६॥
राज्यं रजोनिभं प्राज्यं विषया विषसंनिभाः। चञ्चला चपलेवाश्विन्दिरा च मन्दिरं शुचः ॥७॥
जाया जीवनहारिण्य आत्मजा निगडप्रभाः। काराघटनसंघट्टा घोटका विकटाः खलु ॥८॥
गजा जन्मजराकारा रथाश्चानर्थकारिणः। पदातयो विपत्तीनां पत्तनं संपदापहाः ॥९॥
गोत्रिणः शत्रुसंकाशाः सचिवाः शोकशासनम्। मित्राणि चित्ररूपाणि स्वकार्यकरणानि च ॥१०॥
इत्याध्याय धरित्रीशो विरक्तो भवभोगतः। समाहूय च गाङ्गेयं स्वाकूतमगदीदिति ॥११॥
गाङ्गेय जीवितं गन्तृ गगने चन्द्रबिम्बवत्। अतः सुताय संदेयं हेयं राज्यं मया पुनः ॥१२॥

उन सुमतिनाथ प्रभु को नमस्कार है जो बुद्धि के दाता और पंडितों द्वारा पूज्य हैं, जिन्हें सम्पूर्ण इन्द्र और नरेन्द्र आकर नमते हैं, वे मुझे सुमति दें ॥१॥

एक दिन विचारशील, दूरदर्शी, भविष्य को जानने वाले, सूरज की तरह प्रभा से विभूषित और राजाओं से घिरे हुए धृतराष्ट्र ने विचारा कि अहो! मेरे ये दुर्योधन आदि पुत्र युद्ध करने में शूरवीर हैं, शुद्धमना हैं, बुद्धिशाली चतुर हैं, पंडितों द्वारा सेवित हैं, बुद्धि से बृहस्पति के तुल्य हैं, लक्ष्मी के स्वामी हैं, सर्वश्रेष्ठ और वीर्यशाली हैं, धीरज और गम्भीरता से युक्त हैं, संसार भर जिनके चरण-कमल को पूजता है और राज्य के भोक्ता हैं परन्तु ये भी राज्य छोड़कर महायुद्ध में मरेंगे ॥२-५॥

अहो! धिक्कार है ऐसे उन्नत राज्य-पद को और धिक्कार है मरने वाले इन अपवित्र पापात्मा पुत्रों को तथा आत्म-कल्याण नहीं करने वाले मेरे इस जीवन को भी धिक्कार है। देखो, यह उत्तम राज्य धूल के समान है और विषय विष के समान हैं। लक्ष्मी बिजली की तरह चंचल है, शोक का स्थान है। ये स्त्रियाँ जीवन को हरने वाली हैं और पुत्र साँकल के समान है तथा यह घोड़ों की घटा जेलखाने के तुल्य है ॥६-८॥

हाथी जन्म-जरा के आकार हैं। ये रथ अनर्थ को करने वाले हैं और प्यादे-गण विपत्ति के निवास हैं, सम्पत्ति को हरने वाले हैं। ये परिवार के लोग शत्रु के तुल्य हैं। मंत्री शोक को देने वाले हैं एवं भाँति-भाँति के रूप को धरने वाले ये मित्र अपने-अपने स्वार्थ के साधक हैं। इस प्रकार धृतराष्ट्र ने संसार-भोगों से विरक्त हो, गांगेय को बुलाकर उससे ये सब बातें कहीं। वह बोला कि गांगेय, जैसे चाँद हमेशा ही आकाश में घूमा करता है उसी तरह यह जीव भी सतत संसार में चक्कर लगाया करता है। अतः मैं अब इस हेय राज्य को पुत्रों के लिए सौंपे देता हूँ। इतना कह कर उसने अपने पुत्रों और पाण्डवों

इत्युक्त्वा स स्वपुत्रेभ्यः पाण्डवेभ्यश्च सत्वरम्। गाङ्गेयद्रोणसांनिध्ये प्रददौ राज्यसद्भरम् ॥१३॥
जनन्या सह भूपालो वनमित्वा महागुरुम्। नत्वा निर्लुंच्य सत्केशान्प्राव्राजीद्विनयोद्यतः ॥१४॥
चचार चरणं चारु विचारचरणश्चिरम्। चेतनं चिन्तयंश्चित्ते निश्चलश्चाचलोपमः ॥१५॥
आगमार्थं पपाठाशु संगमं सह साधुभिः। जगाम सुमतिः साधुर्धृतराष्ट्र मुनीश्वरः ॥१६॥
एतस्मिन्नन्तरे राज्यं धृतराष्ट्रसुतैः समम्। युधिष्ठिराय योधाय श्रीगाङ्गेयः समार्पयत् ॥१७॥
धर्मपुत्रः सुधर्माणं लोकं कुर्वन् रराज च। पालयन्परमां पृथ्वीं न्यायेन नयकोविदः ॥१८॥
यस्मिन्राज्यं प्रकुर्वाणे चौर इत्यक्षरद्वयम्। शास्त्रेऽश्रावि न कुत्रापि पत्तने नीवृति स्फुटम् ॥१९॥
भयं न विदितं लोकैर्यस्मिन्पाति धरातलम्। बिभ्यत्यत्र युवानो हि केवलं कामिनीक्रुधः ॥२०॥
यस्मिन्राज्ये न हरणं लक्ष्मीणां लक्षितात्मनाम्। हर्ता चेत्केवलो वायुः सौगन्ध्यस्य परस्थितेः ॥२१॥
नान्योन्यमारणं यत्र विद्यते श्रीयुधिष्ठिरे। मारकस्तु कदाचिच्चेत् समवर्ती विवृत्तिमान् ॥२२॥
ददौ दामं सुपात्रेभ्यो धर्मपुत्रः पवित्रवाक्। विचित्राणि च कार्याणि परेषां विदधाति च ॥२३॥
समर्च्यः सर्वलोकानां वरार्चां श्रीजिनेशिनः। कुरुते विजयोद्युक्तो वृषार्थं स वृषो नृपः ॥२४॥

को बुलाया और गांगेय तथा द्रोणाचार्य के सामने उन पर राज्य का सब भार डाल दिया ॥९-१३॥

इसके बाद उसने माता सुभद्रा सहित वन में जाकर वहाँ सुव्रत योगीन्द्र को नमस्कार कर तथा केशों का लोंच कर जिनदीक्षा धारण की। वह विचार-चतुर तेरह प्रकार के चारित्र को पालता था और हमेशा पर्वत की तरह अचल होकर चैतन्य-स्वरूप का चिंतन करता था। उसने थोड़े ही समय में समस्त आगम के अर्थ को जान लिया। वह बुद्धिमान् मुनीश्वर हमेशा साधुओं के समागम में रहता था और विहार करता था ॥१४-१६॥

इधर थोड़े ही दिन बाद गांगेय ने दुर्योधनादि तथा वीर युधिष्ठिर को राज्य दे दिया। युधिष्ठिर न्याय का ज्ञाता था, अतः वह न्याय से पृथ्वी को पालता और धर्म का प्रचार कर लोगों को धर्मात्मा बनाता था। उसके राज्य-काल में चोर ये दो अक्षर केवल शास्त्र में ही सुने जाते थे और कहीं नगर-गाँव में इनका प्रवेश न था। उसके राज्य करते समय किसी को किसी तरह का भय न था, सब निर्भय रहते थे परन्तु युवा पुरुष कामनियों के क्रोध से जरूर डरते थे-वे कभी उन्हें नाराज नहीं करते थे। उसके समय में किसी भाग्यशाली की लक्ष्मी नहीं हरी जाती थी। हाँ, वायु फूलों की सुगंध को अवश्य हरती थी और लोगों के चित्तों को प्रसन्न करती थी ॥१७-२१॥

उसके शासन-काल में परस्पर में कोई किसी को मारता न था। यदि कोई मारने वाला था तो यम अवश्य था, वह जरूर लोगों को मारता था। वह सुपात्रों के लिये दान देता था और उनसे मधुर शब्दों में बोलता था। वह परोपकारी था, दूसरों के अनेक काम कर देता था। इसके सिवाय वह लोगों को यथायोग्य आदर-सत्कार से संतुष्ट करता था। वह जिनेन्द्रदेव की भक्तिभाव से पूजा-अर्चा करता था। काम, क्रोध आदि छह बैरियों को जीतने के लिये वह सदा उद्यत रहा करता था। वह दया सागर के पार पर पहुँचा हुआ था, परमार्थ का ज्ञाता और क्षमा का भण्डार था। अतः वह योगी सा सुशोभित

षड्वैरिविजयं कुर्वन्कृपासागरपारगः। परमार्थं विजानानः क्षमावान्योगिवद्बभौ ॥२५॥
अथ द्रोणस्तु सर्वेषां पाण्डवानां बलात्मनाम्। धृतराष्ट्रसुतानां च बभूव गुरुसत्तमः ॥२६॥
धनुर्वेदं च सर्वेषां स द्रोणः समशिक्षयत्। बाणनिक्षेपणं लक्ष्यं कोदण्डाकर्षणं तथा ॥२७॥
तत्र पार्थः समर्थस्तु धनुर्वेदं सुसार्थकम्। विवेद द्रोणतः पुण्याद्विद्या याति द्रुतं जने ॥२८॥
धनंजयो भजन् भक्त्या द्रोणाचार्यं समाप च। धनुर्वेदं विनिःशेषं गुरुसेवा हि कामसूः ॥२९॥
तद्भक्तितस्तु स द्रोणस्तस्मै विद्यां समार्पयत्। निःशेषां धनुषो व्यक्तं गुरौ भक्तिस्तु कामदा ॥३०॥
पार्थो व्यर्थीप्रकुर्वाणोऽन्येषां विद्या विदांवरः। रराज तेषु हेमाद्रिः कुलाद्रीणामिवोत्तमः ॥३१॥
कौरवाः पाण्डवाः सर्वे धनुर्वेदं यथायथम्। द्रोणतोऽशिक्षयन्क्षिप्रं स्वस्वकर्मानुरूपतः ॥३२॥
क्रीडन्तो लीलया सर्वे रमन्ते च परस्परम्। धनुर्वेदेन विद्वांसो धनुर्विद्याविशारदाः ॥३३॥
दुर्योधनादयः सर्वे तद्राज्यं न हि वीक्षितुम्। क्षमा विरोधिनः सर्वे पाण्डवैः सह चोद्धताः ॥३४॥
वर्धमानविरोधेन वर्धमानमहेर्ष्यया। वैरं विशेषतस्तेषां बभूव बहुदुःखदम् ॥३५॥
गाङ्गेयाद्यैर्गभीरैश्च तद्वैरविनिवृत्तये। अर्धमर्धं ददे ताभ्यां राज्यं विभज्य युक्तितः ॥३६॥

होता था क्योंकि योगी भी परमार्थ का ज्ञाता और क्षमा का भण्डार होता है ॥२२-२५॥

द्रोणाचार्य इन सब पाण्डवों और बली दुर्योधनादि के श्रेष्ठ गुरु थे। उन्होंने इन सबके धनुर्वेद, बाण छोड़ना, लक्ष्य बाँधना और धनुष खींचना आदि सिखाया। पर इन सबमें से अर्जुन ने ही सार्थक धनुर्वेद-विद्या सीख पाई क्योंकि वह समर्थ था-योग्य पात्र था और है भी ऐसी ही बात कि पुण्योदय से मनुष्यों को बड़ी जल्दी विद्या आ जाती है। अर्जुन द्रोणाचार्य का बड़ा भक्त था, उनकी वह बहुत सेवा करता था। उस सेवा के प्रभाव से ही वह पूर्ण धनुर्वेद विशारद हो गया। सच है कि गुरु-सेवा सब मनोरथ की साधने वाली होती है ॥२६-२९॥

अर्जुन की इस निष्कपट सेवा से द्रोणाचार्य अर्जुन पर बहुत प्रसन्न थे और इसलिए उन्होंने उसे पूर्ण धनुष-विद्या सिखा दी थी। सच है कि गुरु-भक्ति मन की आशा को पूरा कर देती है। अर्जुन ने अपनी धनुष-विद्या के बल से और सब की विद्या को विफल कर दिया था, अतः वह उन सबके बीच में ऐसा शोभता था जैसा कुलाचलों के बीच में सुमेरु शोभता है ॥३०-३१॥

अर्जुन के सिवाय और-और पाण्डवों तथा कौरवों ने भी द्रोणाचार्य से अपने-अपने क्षयोपशम के अनुसार यथायोग्य धनुर्वेद को सीखा-धनुष-विद्या का अभ्यास किया। वे धनुर्विद्या-विशारद विद्वान् लोग परस्पर में धनुर्वेद के द्वारा क्रीड़ा करते, धनुष-बाण द्वारा लक्ष्यबेध करते हुए दिल बहलाते परन्तु दुर्योधन आदि से पाण्डवों की राज्यवृद्धि न सही गई-वे उनके अभ्युदय को देख देखकर जलने लगे और उनके विरोधी बन गये। वे उनके साथ बड़ी उद्धतत्ता दिखाने लगे। उनमें परस्पर स्पर्धा बढ़ने लगी और साथ ही साथ विरोध भी बढ़ने लगा। धीरे-धीरे उनमें अतीव दुखदाई वैर हो गया ॥३२-३५॥

यह देख गांगेय आदि गंभीर पुरुषों ने वैर-विरोध मिटाने के लिए युक्ति से पाण्डवों और

पाण्डवानां प्रचण्डानां कौरवाणां सुराविणाम्। तथापि ववृधे वैरमेकद्रव्याभिलाषिणाम् ॥३७॥
कौरवा हृदये दुष्टा वाचा मिष्टा निसर्गतः। पाण्डवान्सकलान्हन्तुमीहन्ते हन्त रोषतः ॥३८॥
तथापि स्नेहतस्ते स्म बाह्यतः प्रीतिमागताः। रमन्ते रम्यदेशेष्वन्योन्यं कौरवपाण्डवाः ॥३९॥
अथैकदा महाभीमो भीमसेनो यदृच्छया। वने रन्तुं ययौ सर्वैः कौरवैः सह संगतः ॥४०॥
तत्र धूलौ निजात्मानं पिधायोवाच पावनिः। मां समुद्धरते यस्तु बलिनां स बली मतः ॥४१॥
तच्छ्रुत्वा कौरवाः सर्वे तमुद्धर्तुं समुद्ययुः। साभिमानाः प्रकुर्वन्तस्तदुद्धरणसंगरम् ॥४२॥
ते तं चालयितुं नैव क्षमा देशेन कौरवाः। आखुभिः किं प्रचाल्येत बहुभिर्मन्दरो महान् ॥४३॥
विपक्षास्तु विलक्षास्ते मन्दीभूतसुमानसाः। अस्थेयांसः स्थितिं चक्रुर्निलये समलाननाः ॥४४॥
अथैकं विपिनं भाति वृक्षलक्षविराजितम्। शाखाशिखरसंलग्नं पत्रपुष्पफलाञ्चितम् ॥४५॥
यत्राम्राः फलभारेण नम्रा यत्र फलार्थिनः। परपुष्टनिनादेनाहूयन्ते स्म च सज्जनाः ॥४६॥
कङ्केलिपल्लवाः प्रान्तरक्ता विद्रुमवीरुधः। हसन्ति युक्तमेतद्धि सादृश्यं हास्यकारणम् ॥४७॥
खर्जूरा जर्जरां जेतुं जरां खर्जूरसत्फलाः। राजन्ते क्षीरिकां जेतुं फलशोभापहारिणः ॥४८॥

कौरवों में आधा-आधा राज्य बाँट दिया परन्तु तो भी प्रचंड पाण्डवों और कौरवों में वैर-विरोध बढ़ता ही गया-वह कम न हुआ। कारण, अकेले कौरव ही पूरे राज्य को चाहते थे। कौरव लोग स्वभाव से ही हृदय के दुष्ट और वाणी के मिष्ट थे। वे रोष से भरे सदा ही पाण्डवों को मारने की चेष्टा में लगे रहते थे, पर तो भी बाहर से प्रीति ही दिखाते थे। इन सब बातों के रहते हुए भी सब कौरव-पाण्डव सुन्दर-सुन्दर प्रदेशों में एक साथ क्रीड़ा किया करते थे ॥३६-३९॥

एक दिन महान् योद्धा भीमसेन अपनी इच्छा से कौरवों के साथ वन में क्रीड़ा करने को गया और वहाँ अपने आपको धूल से पूर कर वह कौरवों से बोला कि जो कोई मुझे इस धूल में से निकाल लेगा वही बलवानों में बली है। यह सुन सबके सब कौरव उसे धूल में से निकालने को तैयार हुए और अभिमान में आकर उसे निकालने की प्रतिज्ञा करने लगे परन्तु वे उसे रंचमात्र भी न चला सके-जोर लगा-लगाकर थक गये। ठीक ही है कि बहुत से चूहे मिलकर सुमेरु को नहीं चला सकते। यह देख उन छुपे हुए शत्रुओं के मन का उत्साह मंद हो गया और उनके मुँह मलिन हो गये। इसके बाद वे वहाँ से वापस घर लौट आये ॥४०-४४॥

इसके बाद एक दिन फिर भीमसेन कौरवों के साथ वनक्रीड़ा को गया और एक ऐसे वन में पहुँचा, जो घने वृक्षों से सुशोभित था। जिसका एक-एक वृक्ष डालियों के आगे के भाग में लगे हुए पत्तों, फलों और पुष्पों से युक्त था। वहाँ के मनोहर आम के वृक्ष फलों के भार से नम गये थे और उन पर कोयलें बोलती थीं। अतः जान पड़ता था कि मानों वे कोयलों के शब्दों के बहाने से फलों को चाहने वाले सत्पुरुषों को ही बुलाते हैं। सबेरे की लाल छटा के जैसे उनके जो लाल पत्ते थे वे मूँगा की बेलों को हँसते थे। ठीक ही है कि समानता हँसी ही कराती है ॥४५-४७॥

वहाँ के खजूर-वृक्ष ऐसे शोभते थे मानों वे जर्जरा जरा को ही जीत रहे हैं क्योंकि वे जरा से भी

तिन्तिण्यः किङ्किणीरावाः सूक्ष्मपल्लवपावनाः। आम्लं रसं समुद्धतु रेजिरे यत्र पावनाः ॥४९॥
कदल्यो यत्र विपुलसुदला विमला बभुः। फलानि कल्पवृक्षाणां या जेतुं कदलीफलाः ॥५०॥
यत्रैवामलकीवृक्षाः कषायरससत्फलाः। मुनिना निर्जितास्तत्र कषाया इव संस्थिताः ॥५१॥
तत्र ते सकला रन्तुं भीमसेनेन कौरवाः। ईयुरायासविन्यासाः खेलायै स्खलितोद्यमाः ॥५२॥
तत्रैकं विपुलं फुल्लं ददर्शामलकीद्रुमम्। वायविर्विपुलस्कन्धं सफलं पल्लवाञ्चितम् ॥५३॥
तत्र क्रीडां समारेभे कौरवैः सह पावनिः। सर्वगर्वसमाक्रांतैरारोहणावरोहणैः ॥५४॥
कश्चिच्चटति चातुर्यात्कश्चिदुत्तरति स्वयम्। धुनोति तं द्रुमं कश्चित्कश्चिदालिङ्गति स्फुटम् ॥५५॥
हृदा संपीड्य कश्चित्तं कुरुते कम्पनाकुलम्। तत्फलापचयं कश्चिद्विदधाति कुरूत्तमः ॥५६॥
चटितुं तं समुत्तुङ्गं न क्षमः कश्चन ध्रुवम्। दुर्लङ्घ्यं वीक्ष्य वेगेनारुरोह च सुपावनिः ॥५७॥
समला निर्मलं तं च कौरवाः पावनिं तदा। समुत्पातयितुं चेतोविकारं जग्मुरुध्दुरम् ॥५८॥
सरावाः कौरवाः सर्वे तमालिङ्ग्य महाद्रुमम्। कंपयामासुरौद्धत्यात्समुत्पातयितुं हि तम् ॥५९॥

गये बीते थे अर्थात् जरा तो कुछ दिन मनुष्य को ठहरने भी देती है, पर वे पकते ही फली को गिरा देते थे। वहाँ फल-पुष्प आदि की शोभा से रहित क्षीरवृक्ष थे एवं वहीं घुँघरू के समान शब्द वाले और बिल्कुल छोटे-छोटे पत्तों वाले पवित्र इमली के वृक्ष थे। वहाँ विपुल और सुन्दर पत्तों वाले निर्मल केले के वृक्ष शोभित थे, जो अपने फलों से कल्पवृक्ष के फलों को भी जीतते थे और वहीं कषैले फलों से सुशोभित आँवले के वृक्ष थे, वे ऐसे जान पड़ते थे कि मानों मुनिगण द्वारा जीती गई कषायें ही स्थित हैं ॥४८-५१॥

ऐसे रमणीक वन में पहुँच कर उन सबने खूब क्रीड़ा की। वहाँ भीमसेन ने एक आँवले का वृक्ष देखा। वह खूब फला हुआ था। उसकी डालियाँ बड़ी मोटी थे। वह पत्तों से और फलों से लदा हुआ था। उस पर अभिमानी कौरवों के साथ-साथ बली भीम क्रीड़ा करने लगा-वह उस पर कभी चढ़ता और कभी उतरता था। कोई उस पर चढ़ने का यत्न करता था और फिर चढ़ने को असमर्थ हो स्वयं ही उतर पड़ता था। कोई उसे हिलाता और कोई चढ़ने के लिए उसका आलिंगन करता था, पर डर कर फिर दूर हट जाता था ॥५२-५५॥

कोई उसे अपनी छाती के बल खूब हिला डालता था और दूसरा कोई आकर गिरे हुए उसके फलों को बटोरता था। उस पर चढ़ने के लिए यद्यपि उन सबने बड़ी कोशिशें कीं, पर वह बहुत ही ऊँचा था, इसलिए उस पर कोई भी न चढ़ सका-सब हिम्मत हार गये। कौरवों के लिए उस पर चढ़ना कठिन होने पर भी भीमसेन हिम्मत के साथ उस पर अति शीघ्र चढ़ गया। यह देख कौरवों को बहुत बुरा लगा और वे उस पवित्र आत्मा को पेड़ पर से नीचे गिरा देना चाहने लगे-उनके चित्त में द्वेष-बुद्धि-वश भीम को नीचे गिराकर कष्ट देने की इच्छा हुई। उसको गिराने के लिए उन्होंने इकट्ठे होकर जोर के साथ उस महान् वृक्ष को खूब प्रचंडता से हिला डाला परन्तु उस हिलते हुए वृक्ष पर भी वह बली निश्चल ही बैठा रहा-रंच मात्र भी न चला और है भी ठीक कि नदियों का चाहे जैसा ही क्षोभ क्यों

अकम्पो मारुतिस्तत्र कम्पमानद्रुमे स्थितः। न चकम्पे नदीक्षोभात्किं क्षुभ्यति महार्णवः ॥६०॥
अवादिषत भीमेन ते भवन्तो यदि क्षमाः। उद्धर्तुं विपुलं वृक्षमुद्धरन्तु धरेश्वराः ॥६१॥
तथापि ते न किं कर्तुं क्षमाः संक्षुब्धमानसाः। वराकैश्चाल्यते किं हि स्वल्पतुङ्गोऽपि पर्वतः ॥६२॥
तदाकूतं परिज्ञाय भीमो भवनमासदत्। एकदा कौरवैः सार्धं भीमस्तं द्रुं पुनर्ययौ ॥६३॥
आरोहिता हठात्तेऽपि तेन तं द्रुमसत्तमम्। आक्रम्य स्वभुजाभ्यां च कम्पितस्तरुरुत्तमः ॥६४॥
उन्मूल्य मूलतो मानी तरुं कौरवसंयुतम्। दधाव मूर्ध्नि सच्छत्रं दधान इव शोभते ॥६५॥
धार्तराष्ट्रास्तदा पेतुरुन्मूलिते महाद्रुमे। केचिदूर्ध्वमुखाः केचिदधोवक्त्रास्तथा पुनः ॥६६॥
केचिच्छाखां समालम्ब्य पद्भ्यां चाधोमुखस्थिताः। भुजाभ्यां च खलीकृत्य शाखां तत्र पुरे स्थिताः ॥६७॥
केचिच्छाखां समाश्रित्य सुप्तास्तत्र महाभयाः। केचित्तस्थुश्च शाखायामेकहस्तावलम्बिनः ॥६८॥
केचिच्च जठरापीडं भजन्ते स्थितिमत्र च। मूर्च्छया मूर्च्छिताः केचिज्जना मरणमित्रया ॥६९॥
एवं ते पावनेः पुण्यादिव तस्मात्समाकुलाः। एवं भीमे प्रकुर्वाणे दुस्स्थीभूते च कौरवे ॥७०॥
हाहारवमुखे तत्र कश्चिद्भीममुवाच च। पावने पावनात्मा त्वं गम्भीरश्च सहोदरः ॥७१॥

न हो, उससे समुद्र बिल्कुल नहीं चलता है ॥५६-६०॥

उनके इस उद्योग को देखकर ऊपर से भीम ने कहा कि यदि आप लोगों में इस विपुल वृक्ष को उखाड़ देने की ताकत हो तो उखाड़िए परन्तु इतना कहने पर भी वे चंचल-चित्त कुछ भी न कर सके-चुप रह गये। सच हैं कि दीन-दुर्बल पुरुष चाहे कितने ही क्यों न हों, पर वे एक थोड़े से ऊँचे पहाड़ को भी नहीं चला सकते। आखिर भीम को उनका खोटा अभिप्राय मालूम पड़ गया और वह अपने घर को चला आया ॥६१-६३॥

इसके बाद एक समय भीम फिर भी कौरवों के साथ उसी वृक्ष के पास गया। अब की बार जैसे तैसे करके कौरव-गण उसके ऊपर तक चढ़ गये। तब भीम ने उस वृक्ष को अपनी छाती के बल हाथों से पकड़ कर खूब ही हिला डाला और बड़े अभिमान के साथ उसे जड़ से उखाड़कर कौरवों सहित सिर पर उठा वह भागा। उस समय ऐसा जान पड़ता था कि मानी वह अपने मस्तक पर छत्र ही लगाये हुए है। भीम की इस दौड़ के मारे कौरव लोग उस वृक्ष पर से नीचे गिर पड़े। कोई ऊपर को मुँह किये सीधा गिरा तो कोई नीचे को मुँह किये उल्टा ॥६४-६६॥

कोई पाँवों से डालियों पर झूमकर सिर की ओर से लटका रहा तो कोई हाथों से डालियों पर झूम कर सीधा ही लटक कर रह गया। कोई डर के मारे शाखा से चिपट कर सोया सा रह गया तो कोई एक हाथ से डाली पकड़े झूमता ही रह गया। कूद पड़ने से किसी के पेट में पीड़ा होने लग गई, तो किसी को मूर्च्छा आ गई, जिससे वह मरण के नजदीक पहुँचने को हो गया। भीम के इस कार्य से वे लोग बड़े दुखी हुए। जान पड़ता था कि मानों भीम के पुण्य के डर से ही वे व्याकुल हो रहे हैं। तब हाथ जोड़ कर बड़ी नम्रता से उनमें से एक ने भीम से प्रार्थना की। भीम, तुम पवित्र आत्मा हो, गंभीर हृदय वाले हो। अतः परिवार के लोगों को तकलीफ पहुँचाना तुम्हें शोभा नहीं देता। इस प्रकार

न युक्तमिति कर्तव्यं तव गोत्रविडम्बनम्। निषिद्ध इति सोऽस्वस्थान्स्वस्थीकृत्य स्थितश्च तान् ॥७२॥
तत्प्रपेदे निजं पस्त्यं पौरस्त्योद्भूतशोभनः। भ्रातृभिः सततं रेमे भीमो भूरिबलोद्धुरः ॥७३॥
एकदा कौरवा नीत्वा भीमं पद्माकरं प्रति। मिषाज्जलेऽक्षिपन्क्षिप्रं तं हन्तुं मूढमानसाः ॥७४॥
स बली नाब्रुडन्नीर उपायैर्बहुभिः कृती। ततार तरणोद्युक्तो जलाशयगतं जलम् ॥७५॥
तं वीक्ष्य कौरवाः क्षुब्धास्तरन्तं गतमत्सराः। किं कर्तव्यमिति स्पष्टं चिन्तयामासुराकुलाः ॥७६॥
अथैकदा महाधीरो जले क्षेप्तुमनास्तकान्। केनापि छद्मना सर्वान्सरस्यां सहसाक्षिपत् ॥७७॥
जलाशये ब्रुडन्ति स्म ब्रुडन्तः करुणस्वरान्। रक्षरक्षेति वाचालाः प्रापुर्दुःखं हि कौरवाः ॥७८॥
रुरुदुर्दुःखवृन्देन जलकल्लोललालिताः। धार्तराष्ट्रा धृतिं नापुर्भीमहस्तेन मर्दिताः ॥७९॥
कथं कथमपि प्रायो दुष्टाः संक्लिष्टमानसाः। निर्गतास्तोयतस्तूर्णं जग्मुर्वेश्म महाभयाः ॥८०॥
दुर्योधनो बुधो धीरान्मन्त्रिणः स्वानुजांस्तथा। समाहूयाकरोन्मन्त्रमिति भीमात्सुभीतधीः ॥८१॥
दुर्जयोऽयं महाभीमः पराञ्जेता महाभुजः। भीमो भीतिप्रदो नूनं संगरे कृतसंगरः ॥८२॥
समर्थो बलसंपन्नः शौर्यशाली सुधीरधीः। वैरिवर्गविनाशार्थमुद्युक्तो युक्तिसंयुतः ॥८३॥

प्रार्थना करने पर भीम उसी समय ठहर गया और उसने घबराये हुए कौरवों को बड़ा आश्वासन दिया–धीरज बँधाया ॥६७-७२॥

इसके बाद वे सब अपने-अपने घरों को आ गये। वहाँ उन सबके साथ भीम जिसकी कि पुरुषार्थ से शोभा थी और जो बड़ा पराक्रमी था, सतत क्रीड़ा करता हुआ आनन्द-चैन से अपना समय बिताने लगा। एक दिन कौरव किसी बहाने से भीम को एक तालाब पर ले गये और वहाँ उन मूर्खों ने मार डालने की इच्छा से उसे पानी में ढकेल दिया परन्तु वह बली पुण्यात्मा पानी में न डूबा–वह तैरना जानता था, अतः अपनी भुजाओं के बल तालाब को पार कर किनारे आ गया। उसको तैर कर पार आया देख कौरव बड़े घबराये–उनका मान गल गया और वे सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिए ॥७३-७६॥

इसके बाद कौरवों के पानी में डुबा देने की इच्छा से धीर-वीर भीम भी एक बार उन्हें भुला कर तालाब पर ले आया और उन्हें उसने तालाब में गिरा दिया। उस समय दीन स्वर से बचाओ, रक्षा करो इत्यादि कहते हुए कौरव-गण पानी में डूबने लगे और बड़े दुखी हुए और जल की तरंगों के सहारे डूबते उतरते हुए दुख के मारे रोने लगे। भीम के हाथों उनकी बड़ी दुर्दशा हुई। अन्त में वे क्लेश सहते हुए पुण्य के उदय से, जैसे-तैसे पानी से बाहर आ गये और बड़े भयभीत हुए अपने-अपने महलों को गये ॥७७-८०॥

इसके बाद भीम से भयभीत होकर बुद्धिशाली दुर्योधन ने अपने धीर-वीर मंत्रियों और छोटे भाइयों को बुलाकर उनके साथ परामर्श किया कि देखो, भीम बड़ा दुर्जय है, धीर-वीर और शत्रुओं को जीतने वाला है, इसकी भुजाएँ बड़ी बलिष्ठ है, वह भय को देने-वाला और युद्ध की प्रतिज्ञा किये हुए है, सब तरह समर्थ है, बल-सम्पन्न और शौर्यशाली है, उसकी बुद्धि बड़ी गंभीर है, वह बैरियों

अस्मिन्नहो महाभीमे भीमे जीवति जीवितम्। नास्माकं शतसंख्यानां वर्तते विधिवेदिनाम् ॥८४॥
हन्तव्योऽयं दुरात्माथास्माभिर्विस्मितमानसैः। येन केनाप्युपायेन छद्मना वा महोत्कटः ॥८५॥
अस्मिन्सति सतां नूनमस्माकं राज्यपालनम्। भविता नास्ति कर्तव्ये कर्तव्या हि प्रतिक्रिया ॥८६॥
यावन्न वर्धते वैरी तावदुच्छेद्य इत्यलम्। वर्धितो व्याधिवन्नूनं ध्वंसयत्यखिलं बलम् ॥८७॥
व्याधयो दस्यवो वैरिव्रजा दुष्टाश्च श्वापदाः। उत्पतिमात्रतश्छेद्या दुर्द्रुमा भीतिदा यथा ॥८८॥
वर्धमाना इमे नूनं दुःखं ददति दारुणम्। वृद्धेष्वेतेषु नो सातं शरीरे विषवृद्धिवत् ॥८९॥
समुच्छेद्यः समुच्छेद्यो भीमोऽयं भीतिदायकः। अन्यथा ज्वलयत्यस्मान्यतो वृद्धोऽत्र वह्निवत् ॥९०॥
इति संमन्त्र्य मन्त्रीशैस्तं हन्तुं स कृतोद्यमः। दुर्योधनो धराधीशो दुर्ध्यानाहतमानसः ॥९१॥
अन्यदा पावनिं सुप्तं ज्ञात्वा दुर्योधनो नृपः। छद्मना बन्धयामास बन्धुबन्धुरस्नेहहा ॥९२॥
नीत्वा तं जाह्नवीतीरममुञ्चत्तज्जले रुषा। तदा भीमो जजागार सुखसुप्तोत्थितो यथा ॥९३॥
तत्कर्तव्यं परिज्ञाय भीमस्तद्बन्धमाच्छिदत्। प्रसारितभुजोऽप्यस्थाच्छय्यायामिव तज्जले ॥९४॥
लीलया ललिताङ्गोऽसौ सलिलं पावनिस्तदा। तस्यास्ततार संतृप्तः शर्मणा विगतश्रमः ॥९५॥

के ध्वंस के लिए हमेशा ही उद्यत है और नाना युक्तियों का ज्ञाता है। बड़े खेद की बात है कि इस महाभीम भीम के जीते रहते हम सौ भाइयों का जीवन व्यर्थ ही है। इसलिए इस महान् उत्कट दुरात्मा को जिस उपाय या कपट से बन पड़े हम लोगों को मार ही डालना चाहिए ॥८१-८५॥

देखिए तो इसके मारे हम लोगों को कितना भय हो रहा है। इसको मारे बिना हमारे दिल का सन्ताप मिट ही कैसे सकता है। एक बात यह है कि इसके रहते हम लोग राज्य का पालन भी नहीं कर सकेंगे। इसलिए इसका जल्दी ही इलाज कर देना योग्य है क्योंकि वैरी बढ़ न पावें इसके पहले ही उसकी जड़ उखाड़ फेंक देनी चाहिए, नहीं तो वह बढ़कर रोग की तरह बल (ताकत-सेना) का ध्वंस कर देगा जैसा कि कहा है-व्याधि, चोर, शत्रु-समूह, दुष्ट पुरुष, आपत्ति और दुर्दम भीति इनको पैदा होते ही नष्टकर देना चाहिए, नहीं तो ये चढ़ जाने पर दारुण दुख देते हैं, उदाहरण यह कि शरीर में विष चढ़ जाने पर जैसे दुखदाई हो जाता है वैसे ही ये भी बढ़कर जीव को साता नहीं होने देते किन्तु दुखदाई हो जाते है। इसलिए इस भयंकर भीम को हमें अति शीघ्र मार डालना चाहिए, नहीं तो यह आग की तरह बढ़कर हमें जला देगा-हमारे कुल का नाश कर देगा। इस प्रकार मंत्रियों के साथ सलाह करके खोटे विचारों वाला दुर्योधन भीम को मारने के लिए उद्यम करने लगा ॥८६-९१॥

एक समय जबकि भीम सोया हुआ था, उसे सोया जान कर स्नेह-हीन दुर्योधन ने कपट से बाँध लिया और रोष में आकर गंगा के प्रवाह में बहा दिया। भीम उस हालत में भी सुख से सोकर उठने की तरह जाग्रत हुआ। उसने जान लिया कि यह सब दुर्बुद्धि दुर्योधन ही का कर्म है। वह बंधन तोड़ कर, हाथों को फैलाये हुए वैसा ही जल-तल पर पड़ा रहा जैसा शय्या पर सोता था। भावार्थ यह कि वह बिना हाथ-पैर हिलाये ही जल के ऊपर स्थित रहा ॥९२-९५॥

उत्तीर्य तज्जलं जिह्मवर्जितः पावनिस्तदा। आजगाम गृहं सार्धं कौरवैर्दुष्टकौरवैः ॥९६॥
मन्त्रयित्वान्यदा तस्य कौरवैर्मारणकृते। भेजे मैत्रीं प्रकुर्वाणैः स्पर्धां तेन महौजसा ॥९७॥
एकदा भोजनार्थं स आहूतः कौरवैः कृती। आमन्त्रणेन सद्भक्त्या पावनिः परमोदयः ॥९८॥
दुर्योधनेन दुष्टेन तस्मै भोजनमध्यगम्। ददे हालाहलं तूर्णं तत्कालप्राणहारकम् ॥९९॥
श्रेयसः परिपाकेनासुधायत महाविषम्। भुञ्जानस्य तदा भोज्यं तस्य सद्रुचिकारकम् ॥१००॥
तस्य श्रेणिक माहात्म्यं पश्य पुण्यसमुद्भवम्। हालाहलमपि प्रान्तकारकं चामृतायत ॥१०१॥
विषं निर्विषतां याति शाकिनीराक्षसादयः। प्रभवन्ति न भूतेशा धर्मयुक्तस्य देहिनः ॥१०२॥
रक्तनेत्रो महानागः फणाफूत्कारभीषणः। धर्मतो धर्मयुक्तस्य सदा किञ्चुलकायते ॥१०३॥
ज्वलनो ज्वालयन्विश्वं ज्वालाजालसमाकुलः। भीषणो दुःखदो धर्मात्सत्वरं सलिलायते ॥१०४॥
शृगालीयति सत्सिंहः स्तभति द्विरदोत्तमः। स्थलायते नदीशश्च धर्मतो धर्मिणां सदा ॥१०५॥
महीभुजां महाराज्यं प्राज्यं प्राञ्जलिधारिभिः। महीशैर्महितं मान्यं धर्मात्संजायते नृणाम् ॥१०६॥
कुचभारभराक्रान्ता भ्रमद्भ्रूनेत्रपङ्कजाः। लावण्यरसवारीशा वृषाद्रामा भवन्त्यहो ॥१०७॥
महाकरा महावंशाः कपोलफलपालिनः। सुदन्ता भान्ति भूत्याढ्या नरा इव सुवारणाः ॥१०८॥

इसके बाद वह मनोहर शरीरधारी लीला मात्र में ही गंगा पार कर जल से बाहर निकल आया। पुण्य योग से उसे बिल्कुल ही परिश्रम न हुआ। वह कपट रहित था, अतः जल को पार कर वह उन दुष्ट कौरवों के साथ ही साथ घर आ गया, जो उसे बहाने को गये थे। इसके बाद उस वीर के साथ ईर्ष्या-द्वेष करने वाले कौरवों ने उसको मारने के लिए मंत्री-गण से फिर सलाह की और उन्होंने एक दिन परमोदयशाली भीम को भक्तिभाव से निमंत्रण देकर भोजन के लिए बुलाया। वहाँ दुष्ट दुर्योधन ने उसे तत्काल प्राणहारी हालाहल विष का मिला हुआ भोजन खिला दिया परन्तु पुण्योदय से वह हालाहल विष भी अमृतरूप हो गया और वह भोजन भी उसे बहुत रुचिकर मालूम पड़ा ॥९६-१००॥

यहाँ गौतम गुरु कहते है कि श्रेणिक! देखो पुण्य का माहात्म्य कैसा है कि जिससे प्राणों को हरने वाला विष भी अमृत-तुल्य हो गया और भी देखो कि पुण्यात्मा के पुण्य से विष अमृत हो जाता है और शाकिनी, भूत, राक्षस वगैरह सब दूर भाग जाते हैं। धर्मात्मा के लिए धर्म के प्रभाव से फण की फुंकार से डरावना और क्रोध से लाल नेत्रों वाला महान् साँप काँचली-सा हो जाता है ॥१०१-१०३॥

सारे संसार को जलाने वाली अतएव दुखदाई तीव्र ज्वाला वाली भयंकर आग जल हो जाती है और तो क्या धर्मात्मा जनों के धर्म-बल से बड़े-बड़े हाथियों के समूह को रोकने वाला सिंह, स्याल और समुद्र स्थल हो जाता है तथा धर्म के प्रभाव से मनुष्यों को चक्रवर्ती का-जिन्हें बड़े-बड़े राजा-महाराजा सिर झुकाते हैं-महान् राज्य मिल जाता है। इसी धर्म से लोगों को कुचों के भार से सुहावनी, लावण्य की समुद्र और चंचल भौंह-नेत्र-कमल वाली स्त्रियाँ मिल जाती हैं एवं मनुष्यों की तुलना करने वाले हाथी प्राप्त हो जाते हैं। जैसे मनुष्यों के कर (हाथ) होते हैं वैसे ही वे भी कर (सूँड़) वाले होते हैं ॥१०४-१०८॥

धनराशिस्तथा धान्यराशिर्धर्माच्च जायते। पुत्रवारः पवित्रात्मा सत्रिवर्गश्च सर्गतः ॥१०९॥
सुशिक्षिताः सुगमनाः स्वामिभक्तिपरायणाः। ससंस्कारा भवन्त्यत्र सुभृत्या इव वाजिनः ॥११०॥
रथा रथाङ्गसंगेन चीत्कुर्वन्तो महार्थकाः। अर्थयन्ति समर्थं हि धर्मिणां धृतिधारिणाम् ॥१११॥
हारकुण्डलकेयूरमुद्रिकाकङ्कणादिकम्। वस्त्रताम्बूलकर्पूरं लभन्ते धर्मतो नराः ॥११२॥
गवाक्षाक्षपरिक्षिप्ता रक्षकै रक्षिताः खलु। अक्षयाः सत्क्षणाः क्षिप्रं लभ्यन्ते धर्मतो गृहाः ॥११३॥
सुकृतस्येति विज्ञाय फलं प्रविपुलं कलम्। कलयन्तु कलाभिज्ञाः सकलं तत्सुनिर्मलाः ॥११४॥
अथ भीमो भ्रमन्भूमौ निर्भयः कौरवैः समम्। रेमे भुजङ्गसक्रीडाखेलनैः स्खलितात्मभिः ॥११५॥
दर्शयांचक्रिरे भीमं भुजंगेन विषाङ्कुरान्। मुञ्चता कौरवाधीशा विश्वकापट्यपण्डिताः ॥११६॥
तस्य तद्गरलं तूर्णममृताय प्रकल्पितम्। तत्प्रभावान्न बभ्राम तद्देहोऽदग्धवेदनः ॥११७॥
अथैकदा च गाङ्गेयो द्रोणः पाण्डोश्च नन्दनाः। कौरवाः सह संचेलू रन्तुं विपिनमुत्तमम् ॥११८॥
कन्दुकं गुण्ठितं गम्यं मण्डितं हेमतन्तुभिः। भजन्तस्ते रमन्तेऽत्र स्वर्णयष्टिभिरादरात् ॥११९॥

जैसे मनुष्य महान् वंश वाले होते है वैसे ही वे भी महान् वंश (पैठ की रीढ़) वाले होते है। मनुष्य के सुन्दर दाँत होते हैं, उनके भी सुन्दर दाँत होते हैं और मनुष्य भूत-परिवार के लोगों- से परिपूर्ण होते हैं, वे भी भूत-भस्म-पुंजों से सजे होते हैं। मनुष्य सुन्दर कपोल वाले होते हैं, उनके भी कपोल-गंड स्थल सुंदर होते हैं और भी सुनो कि धर्म के प्रभाव से जीवों को इतना ही परिकर नहीं मिलता किन्तु बिना परिश्रम किये ही धन-धान्य, पवित्र और धर्म-अर्थ-काम-रूप त्रिवर्ग-सेवी पुत्र मिलते हैं, शिक्षा पाये हुए, अच्छे मार्ग से चलने-वाले, स्वामी की भक्ति में लीन और अच्छे संस्कारों वाले उत्तम नौकरों की तरह उत्तम-उत्तम घोड़े मिलते हैं एवं उन धीरजधारी, समर्थ, धर्मात्मा पुरुषों को चक्रों के संगम से चीत्कार शब्द करने वाले बहुमूल्य रथ भी स्वयमेव आकर प्राप्त होते हैं। इसी तरह धर्म के प्रभाव से मनुष्यों को हार, कुंडल, केयूर, अँगूठी, कंकण आदि भूषण और सुन्दर-सुंदर वस्त्र, तांबूल, कर्पूर आदि की प्राप्ति होती है और सुन्दर-सुन्दर खिड़कियों वाले, पहरेदारों से रक्षित, अक्षय और भाँति-भाँति के उत्सवों से परिपूर्ण महल-मकानों की भी प्राप्ति होती है। देखो, धर्म का ऐसा बड़ा और मनोहर फल मिलता है। इसलिए चतुर पुरुषों को निर्मल चित्त हो धर्म सेवन करना चाहिए और उसके फल का अनुभव लेना चाहिए ॥१०९-११४॥

इसके बाद निर्भय हो पृथ्वी पर घूमता फिरता बली भीम साँप के साथ क्रीड़ा करने वाले और चंचल-चित्त कौरवों के साथ इसी तरह का क्रीड़ा-विनोद करता रहा। एक दिन उन मायाचारी कौरवों ने विष-कण उगलते हुए साँप से भीम को कटवा दिया। पर भीम के पुण्य-प्रभाव से उस साँप के विष का उसके शरीर पर कुछ भी असर न हुआ, वह विष उसके लिए अमृत तुल्य हो गया-उसकी उसे रंचमात्र भी वेदना न हुई ॥११५-११७॥

इसके बाद एक दिन गांगेय, द्रोणाचार्य, पाण्डव और कौरव सब मिल कर क्रीड़ा के लिए वन में गये। वहाँ वे सोने के दंडों द्वारा, सोने के तारों से अतीव सुन्दर गुंथी हुई गेंद से खेलने लगे। उस

कन्दुकं चालयन्तस्तेऽन्योन्यं विस्मितमानसाः। रममाणास्तदा रेजुः सुपर्वाण इवापराः ॥१२०॥
यष्ट्या विशिष्टयाभीष्टो गेन्दुकश्चेन्दुदीपनः। बभ्राम ताडितो भूमौ भयादिव सुभूभुजाम् ॥१२१॥
यष्टिताडनतोऽपप्तदन्धकूपे विपारके। अतलस्पर्शगे रम्ये जलयुक्ते स कन्दुकः ॥१२२॥
तदा हाहारवाकीर्णा भूपाः कूपतटस्थिताः। पतितं कन्दुकं वीक्ष्यान्धकूपे पारवर्जिते ॥१२३॥
तदेति भूमिपैः प्रोक्तं नरः कोप्यस्ति शक्तिमान्। स यः संपतितं कूपे गेन्दुकं चानयत्यहो ॥१२४॥
ब्रुवते स्म सुवाचालाः केचनौचित्यवर्जिताः। आनयामो वयं वेगादिमं पातालसंस्थितम् ॥१२५॥
कश्चिद्वावक्ति वेगेन का वार्तास्य महीभुजः। तथा चानयने क्षिप्रमानयामीह कन्दुकम् ॥१२६॥
लालपीति नृपः कश्चिद्दोर्भ्यामुद्धृत्य चान्धुकम्। आनयाम्यस्य का वार्ता पातालहरणे क्षमः ॥१२७॥
कश्चिदाह समिच्छा चेत् मरुत्वतो महासनम्। गृहीत्वा तेन सत्सार्धं नयामि नयतो बलात् ॥१२८॥
पातालमूलतः पान्तं पातालं तं फणीश्वरम्। पद्मावत्या सहाबध्यानयामि भवतः पुरः ॥१२९॥
इति क्षुब्धजनेष्वेवं वाचालेषु घनेषु च। चञ्चलेषु न चानेतुं तं कोऽपि नयवान् क्षमः ॥१३०॥
द्रोणो विद्रावणे दक्षो रिपूणां वीक्ष्य तत्क्षणम्। लोकान्संलोकितास्यांश्चान्योन्यं चञ्चलचक्षुषः ॥१३१॥
कोदण्डदण्डमापीड्य ज्ययाटनिप्ररूढया। रराजास्फालयन्स्फारो विस्फारितनिजेक्षणः ॥१३२॥

समय वे ऐसे जान पड़ते ये मानों दूसरे देवता-गण ही हैं और पूर्ण चाँद के जैसी गोल गेंद भी दंडों से ताड़ी गई पृथ्वी पर इधर-उधर ढुलकती हुई ऐसी जान पड़ती थी मानों वह राजा लोगों के भय से ही इधर-उधर भागती फिरती है। इस प्रकार खेलते हुए उनमें से किसी के दंड़े से गेंद एक बार बहुत उछली और जाकर एक ऐसे अंधकूप में जा पड़ी जो सीढ़ी रहित था और अथाह एवं रमणीक जल से भरा हुआ था ॥११८-१२२॥

उसको उस अगाध अंधकूप में पड़ती हुई देखकर चिल्लाते हुए वे सब लोग उस कुँए पर गये और उन्होंने कहा कि हम लोगों में कोई ऐसा शक्ति वाला भी हैं जो इस कुँए में से गेंद को निकाल लावे। यह सुनकर उनमें से बिना विचारे किसी वाचाल ने कहा कि पाताल में गई हुई इस गेंद को मैं बहुत जल्दी ले आ सकता हूँ। किसी ने कहा कि महाराज, इसकी तो बात ही क्या है मैं इससे भी कठिन काम कर सकता हूँ। यह देख एक राजा बोला कि वाह जबकि मैं पाताल को भी उठा लाने के लिए समर्थ हूँ तब इसके लाने की तो बात ही कितनी सी है। मैं अभी दोनों हाथों से इस कुँए को ही उखाड़ कर गेंद लिए आता हूँ ॥१२३-१२७॥

एक ने कहा कि इस गेंद की तो बात ही क्या चली, यदि मैं चाहूँ तो अपने बल से इन्द्र को इन्द्रासन सहित ले आ सकता हूँ और पाताल-मूल से पाताल के रक्षक धरणेन्द्र को पद्मावती सहित बाँधकर आपके सामने ले आकर उपस्थित कर सकता हूँ। इस तरह उन वाचाल और चंचल जनों ने बड़ा क्षोभ मचाया परन्तु गेंद को ले आने के लिए कोई भी समर्थ न हुआ। सब उपाय कर करके रह गये। तब चंचल चक्षुओं से वे एक दूसरे के मुँह की ओर देखने लगे। यह देखकर द्रोणाचार्य से न रहा गया-उन्होंने उसी समय धनुष चढ़ाया और भ्रकुटी चढ़ाकर एक बार उसे पृथ्वी पर फटकारा ॥१२८-१३२॥

मूर्तिमांश्चापधर्मो वा स्थितो द्रोणः समुद्रसः। उत्कर्णान्दिग्गजान्कुर्वन्बधिरीकृतसुश्रुतीन् ॥१३३॥
कोदण्डेन प्रचण्डेनाखण्डेन चण्डरोचिषा। उर्वी च दधता रेजे पुरंदरधनुःश्रिया ॥१३४॥
कोदण्डचण्डनादेन त्रासमीयुर्महागजाः। बभ्रमुर्भीतितो गन्तुं पार्श्वं दिग्दन्तिनामिव ॥१३५॥
गन्धर्वा बन्धनातीता गन्धर्वा गानवर्जिताः। गन्धर्वाः कंपनासक्ता बभूवुश्चापशब्दतः ॥१३६॥
तदा नागरिकाः सर्वे श्रुत्वा कोदण्डजं स्वरम्। कोऽत्र शत्रुः समायासीद्विचेलुरिति भाषिणः ॥१३७॥
स्थालीकराः सुकामिन्यो निशम्य धनुषः स्वनम्। तत्रत्या विगलद्वस्त्रा बभूवुर्भीतितो न किम् ॥१३८॥
इति चापल्यमुत्पाद्य जनानां चञ्चलात्मनाम्। तं वेध्यं विधिवद्द्रोणो विव्याध संविधाय च ॥१३९॥
शरेण शिरसं द्रोणः समुत्क्षिप्य समानयत्। कन्दुकं कौरवैर्नेतुमशक्यं सकलैरपि ॥१४०॥
तदा सुरनरा वीक्ष्य तत्कौशल्यमवर्णयन्। किन्नरास्तद्यशोराशिं गायन्ति स्माद्रिकन्दरे ॥१४१॥
ईदृशं शरकौशल्यं न दृष्टं नापि दृश्यते। अतोऽन्यत्रेति भूपालाः शशंसुस्तद्गुणोत्करम् ॥१४२॥
तत्र ते क्षणमास्थाय पाण्डवाः कौरवा नृपाः। अन्योन्यप्रीतिचेतस्का विविशुर्निजपत्तनम् ॥१४३॥

उसके भयानक शब्द की कठोरता से समुद्र में रहने वाले दिग्गज तक बहरे हो गये। इस समय द्रोण ऐसे जान पड़ते थे कि मानो वे मूर्तिमान् धनुर्वेद ही हैं और जब वे उस प्रचंड, अखण्ड और तीव्र तेज वाले धनुष को ऊपर की ओर तानते थे, तब ऐसे देख पड़ते थे कि मानों वे इन्द्रधनुष को ही हाथ में लिये हुए हैं। उनके धनुष के प्रचंड शब्द को सुनकर गजों को बड़ा त्रास हुआ। वे इधर-उधर भागने लगे, जान पड़ता था भय के मारे वे दिग्गजों की शरण में ही भागे जा रहे हैं। गंधर्वों के घोड़े बंधनों को तोड़कर भागे। यह देख गंधर्व-देव काँपने लगे ॥१३३-१३६॥

नगरवासी लोगों ने उस धनुष के शब्द से यह समझा कि कोई शत्रु ही चढ़कर आ गया है। अतएव वे भी भागने लगे। स्त्रियाँ हाथ में बटलोई लिये अपने भोजन वगैरह के कामों में लगी हुई थीं। इतने में द्रोण के धनुष का शब्द हुआ। उससे वे बड़ी डरीं और डर के मारे उनके वस्त्र तक गिर पड़े। सच है कि डर से क्या नहीं होता-सभी अनहोनी बातें हो जाती हैं। इस तरह स्वयं चंचल लोगों को द्रोण ने और भी चंचल बना दिया। इसके बाद द्रोण ने एक बाण ऐसा मारा कि वह जाकर गेंद में जा छिदा। फिर क्या था, उन्होंने अब एक के बाद एक बाण मारना शुरू किया। वे बाण सिलसिले से बिंधते हुए गेंद से लेकर ऊपर तक एक लम्बी रस्सी के आकार के बन गये। इस प्रकार बड़ी आसानी से वह गेंद निकाल ली गई, जिसे निकालने के लिए कौरव असमर्थ थे ॥१३७-१४०॥

उस समय द्रोण की धनुर्विद्या की कुशलता को देखकर देवता और मनुष्य उसकी बड़ी तारीफ करने लगे, एवं पर्वतों की गुफाओं में बैठ कर किन्नर-गण उसके यश का गान करने लगे। राजा-गण उसके गुणों की प्रशंसा करते हुए कहने लगे कि ऐसी बाण-कुशलता पहले हमने कभी न तो देखी और न इस समय कहीं दीखती है। इसके बाद कुछ काल वहाँ और ठहर कर परस्पर प्रेम-पूर्वक कौरव और पाण्डव अपने नगर को लौट आये ॥१४१-१४३॥

कौरवा अपि भीमस्य पुण्यं शक्तिं निरीक्ष्य च। विलक्षाः क्षान्तिमाभेजुरशक्तानां क्षमा वरा ॥१४४॥
एवं राज्यं प्रकुर्वत्सु तेषु कालो महान्गतः। अहो तत्र सपुण्यानां महान्कालः क्षणायते ॥१४५॥
अथैकदा च द्रोणाय प्रार्थना विहितामुना। गाङ्गेयेन विवाहस्य सिद्ध्यर्थं विधिवेदिना ॥१४६॥
स प्रार्थितो नृपैः सर्वैस्तथेति प्रतिपन्नवान्। ततो विवाहसंक्षोभो गाङ्गेयस्याजनि स्फुटम् ॥१४७॥
ततो गौतमसत्पुत्री साक्षाद्रतिरिवापरा। जनानन्दकरा तेनाभ्यर्थिता द्रोणहेतवे ॥१४८॥
तया तस्याथ संजातं विवाहवरमङ्गलम्। नदत्सु वाद्यवृन्देषु गायन्तीषु सुभीरुषु ॥१४९॥
विवाहानन्तरं तौ द्वौ दम्पती दीप्तमन्मथौ। रेमाते रतियोगेन सुरतौ सुरतोत्सवौ ॥१५०॥
ततस्तयोः क्रमात्पुत्रोऽश्वत्थामा नामतोऽभवत्। महाधामा सुधीर्धीरो धर्मभृद्धृतिसेवकः ॥१५१॥
कोदण्डविद्यया सोऽभूत्सर्वधन्विमहेश्वरः। सुप्रेमप्रेरितानन्दो नन्दयन्सकलाञ्जनान् ॥१५२॥
एकदा तेन द्रोणेन भणिता नृपनन्दनाः। पार्थादयः पृथुप्रीताः सुशिष्यीभूतमानसाः ॥१५३॥

कौरव लोग भीम के पुण्य और शक्ति को देखकर जब कुछ न कर सके तब सुतरां शान्त हो गये और है भी ऐसा ही कि असमर्थ पुरुष जब कुछ नहीं कर सकते तब वे क्षमा का आश्रय ले लेते हैं। इस तरह से पाण्डवों और कौरवों को राज्य करते-करते बहुत काल बीत गया, उन्हें वह कुछ भी न जान पड़ा। सच है पुण्यात्मा सत्पुरुषों का महान् काल भी क्षण की तरह गुजर जाता है और उन्हें उसका कुछ भान भी नहीं होता ॥१४४-१४५॥

इसके बाद एक समय गांगेय ने तथा और-और राजाओं ने विवाह के सम्बन्ध में द्रोणाचार्य से प्रार्थना की। कहा कि गुरुवर्य! अब आप अपना विवाह कीजिए और सद्गृहस्थ बनिए। द्रोणाचार्य ने उनकी प्रार्थना को उत्तम समझकर स्वीकार कर लिया। गुरु की सम्मति पाकर गांगेय ने उनके विवाह का उत्सव शुरू कर दिया और गौतम के पास जाकर उससे उसकी कन्या की द्रोण के लिए याचना की। कन्या लोगों को आनंद देने वाली और रूप-सौंदर्य की मूर्ति थी। जान पड़ता था कि वह साक्षात् दूसरी रति ही है ॥१४६-१४८॥

उसके साथ द्रोण का विवाह-मंगल हो गया। विवाह के समय भाँति-भाँति के बाजे और कामिनी-गणों के मंगल-गीतों से बड़ी चहल-पहल रही। तात्पर्य यह कि विवाह के समय खूब ही धूमधाम की गई थी। विवाह के बाद उन दम्पति पर काम ने अपना अधिकार जमाया और वे रति-सुख भोगते हुए आनंद-चैन से अपना समय बिताने लगे और एक दूसरे पर आसक्त चित्त होकर प्रेम से स्वर्ग के सुखों को यहीं भोगने लगे। अनन्तर कुछ काल में उन दम्पती के अश्वत्थामा नाम एक पुत्र पैदा हुआ। वह बुद्धिमान् था, धीर था, धर्मात्मा और व्रती पुरुषों का सेवक था। उसका शरीर तेज का पुंज था। वह धनुष-विद्या में इतना निपुण था कि सब धनुष विद्या-विशारद में महेश्वर-मुखिया गिना जाता था। उसका हृदय हमेशा ही प्रेम से परिपूर्ण और फूला हुआ रहता था, अतएव वह सब लोगों की आनंददायक था ॥१४९-१५२॥

एक दिन द्रोणाचार्य ने अपने परम प्रीतिभाजन अर्जुन आदि से कहा कि प्रिय शिष्यो! तुम

अहो शिष्याः सुकर्तव्यं मद्वचो बहुविस्तरम्। धनुर्विद्याविधौ दीप्तं समस्तविधिपारगम् ॥१५४॥
कृपापारमितो द्रोणो धनुर्विद्याविशारदः। तद्वाक्यमवकर्ण्याशु विचेलुः कौरवाः स्वयम् ॥१५५॥
पार्थः सार्थः समर्थस्तु तद्वाक्ये स्थितिमादधौ। गुरुवाक्ये रतानां हि विद्याः स्युः करसंगताः ॥१५६॥
ततो धनंजयस्याशु गुरुणा वर उत्तमः। अदायीति प्रदातव्या धनुर्विद्या हि ते मया ॥१५७॥
मत्समस्त्वं प्रकर्तव्यः शुद्धया चापविद्यया। गुरुणेत्युदिते तावत्पार्थः स्वस्थः सुसार्थकः ॥१५८॥
धनुर्वेदरतः पार्थः परमार्थविशारदः। चचार चापचातुर्यं तच्चिन्ताहृतिचेतनः ॥१५९॥
घस्रे निशीथिनीकाले भक्तिमान्स धनंजयः। गुरावगणयन्दुःखं सिषेवे तत्पदाम्बुजम् ॥१६०॥
तदान्यदा गुरुर्द्रोणः पाण्डवैः कौरवैः समम्। शिक्षयितुं धनुर्वेदं वनमाप सुशिष्यकान् ॥१६१॥
तत्रैकं तुङ्गशाखाढ्यं शाखिनं सुफलान्वितम्। सपलाशं खगाकीर्णं ददृशुस्ते महोद्धताः ॥१६२॥
शाखामध्यगतं वीक्ष्य द्रोणं काकं सुपक्षिणम्। द्रोणोऽवादीद्धनुर्वेदी पाण्डवान्कौरवान्प्रति ॥१६३॥
यः पक्षिदक्षिणं चक्षुर्लक्षीकृत्य च विध्यति। स विद्वान्कार्मुकी दक्षो धनुर्वेदविदग्रणीः ॥१६४॥
निशम्य कौरवाः सर्वे दुर्योधनपुरस्सराः। विषमं वेधमाज्ञाय तूष्णीत्वमगमंस्तदा ॥१६५॥
केनेदं दक्षिणं चक्षुः क्षणस्थिति च पक्षिणः। चञ्चलं चञ्चलस्याशु वेध्यं क्व चेति वादिनः ॥१६६॥

धनुष-विद्या के सम्बन्ध में हमेशा मेरी आज्ञा के अनुसार ही चलना, कभी मेरी आज्ञा से विरुद्ध न होना। द्रोणाचार्य सब विद्याओं में पारंगत, कृपा के सागर तथा धनुष-विद्या के पूर्ण पण्डित थे। तब भी कौरवों ने उनके वचनों की अवज्ञा की और वे स्वतंत्र रहने लगे परन्तु बुद्धिमान् और समर्थ अर्जुन ने उनकी आज्ञा का यथावत् पालन किया और यह उचित ही था क्योंकि विद्या उन्हीं को प्राप्त होती है, जो गुरु के आज्ञा-पालक होते हैं। इस पर प्रसन्न होकर द्रोणाचार्य ने अर्जुन को वर दिया कि मैंने तुम्हें आज पूर्ण धनुष-विद्या दी, तुम शुद्ध, निर्दोष धनुष-विद्या से मेरे समान ही हो जाओगे। इसमें बिल्कुल सन्देह नहीं। ऐसी मेरी हार्दिक इच्छा है ॥१५३-१५८॥

गुरु के इन वचनों को सुनकर पवित्र-चित्त अर्जुन बड़ा कृतार्थ हुआ और उस परमार्थ के ज्ञाता तथा गुरु को हमेशा अपने हृदय में विराजमान किये रहने वाले अर्जुन ने धनुष-विद्या के अभ्यास में लगे रह कर थोड़े ही दिन में उसमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥१५९-१६०॥

इसके बाद एक दिन पाण्डवों और कौरवों सहित द्रोणाचार्य अपने शिष्यों को धनुष-विद्या सिखाने के लिए वन में गये। वहाँ उन लोगों ने ऊँची डालियों वाले और फल-पत्तों से लदे हुए एक वृक्ष को देखा। उस पर बहुत से पक्षी बैठे हुए थे। उसकी बीच की डाली पर एक कौआ बैठा हुआ था। उसको देखकर धनुर्वेदी द्रोण ने पाण्डवों और कौरवों से कहा कि जो इस कौए की दाहिनी आँख को लक्ष्य-निशाना बनाकर बेधेगा, वही विद्वान् धनुषधारी, दक्ष और धनुष-विद्या-विशारदों में अगुआ माना जायेगा। यह सुनकर दुर्योधन आदि तो उस निशाने का लगाना कठिन समझ कर चुप रह गये। वे आपस में विचार करने लगे कि प्रथम तो यह कौआ चंचल है और दूसरे इसकी आँख और भी चंचल है-पलमात्र भी एक ओर नहीं ठहरती, फिर इसके इस दाहिने नेत्र को कौन बेध सकता है और कैसे बेध सकता है ॥१६१-१६६॥

पाण्डवान्कौरवान्द्रोणोऽ वादीच्चापविशारदः। तथास्थांल्लक्ष्यविद्वीक्ष्य गिरा गम्भीररूपया ॥१६७॥
अहं हन्मीति संधानं दधौ धनुषि पत्रिणः। सपत्रस्य गुणाप्तस्य पत्रिदक्षिणवीक्षणम् ॥१६८॥
तदा धनंजयो धन्वी धनुःसंधानबुद्धिमान्। सधन्वानं गुरुं नत्वा विज्ञप्तिमिति चाकरोत् ॥१६९॥
विशिखाक्षेपविद्द्रोण सुशाखापक्षिचक्षुषः। लक्ष्यस्य च क्षमोऽसि त्वं वेधनं कर्तुमुद्यमी ॥१७०॥
विस्मयः कोऽत्र गोत्रेश मित्रस्य दीपदीपनम्। रसाले तोरणस्यापि बन्धनं यादृशां भवेत् ॥१७१॥
अथवागुरुधूपित्वं मृगनाभिभवस्य च। तादृशं धन्वसंधानं तातपाद तवाधुना ॥१७२॥
अन्तेवासिनि मादृक्षे सति त्वयि न युज्यते। ईदृशं कर्म संकर्तुं धनुःसंधानधारिणि ॥१७३॥
ममाज्ञां देहि ताताद्य वेधस्य विषमस्य च। वेधने त्वत्प्रसादेन लब्धविद्यस्य धन्विनः ॥१७४॥
तदा तेन समुद्दिष्टो गरिष्ठो वेध्यवेधने। कोदण्डं स करे कृत्वा समुत्तस्थे स्थिरक्रियः ॥१७५॥
चापमास्फाल्य चापेशो मौर्वीसंधानमावहन्। जगर्ज स्फूर्जथुर्यद्वत्समर्जितयशश्चयः ॥१७६॥
सक्षणं क्षणिकं वीक्ष्य पक्षिणो दक्षिणेक्षणम्। अक्षमं लक्षितुं यद्वत्संदधे क्षणिकं मतम् ॥१७७॥
चञ्चलं चञ्चलग्रीवं चलन्नेत्रं चलन्मुखम्। पक्षिणं वीक्ष्य स स्वान्ते दधे लक्ष्याय शेमुषीम् ॥१७८॥
स्वोरुं संस्फालयामास तदधोवीक्षणकृते। तावताधोमुखं पक्षी लुलोके स्फालनश्रुतेः ॥१७९॥

उनको इस प्रकार चुप-चाप देखकर चाप विद्या-विशारद और लक्ष्य को भली-भाँति जानने वाले द्रोण गंभीर वाणी द्वारा पाण्डव-कौरवों से बोले कि यदि तुममें से कोई भी इसे बेधने को तैयार नहीं है तो लो मैं ही इसे बेधता हूँ। यह कहकर उसने धनुष पर सपुंख बाण चढ़ाकर ज्यों ही उस कौए की दाहिनी आँख की ओर संधान लगाया-दृष्टि बाँधी त्यों ही उन धनुर्धर गुरु को प्रणाम कर धनुष के संधान में बुद्धिमान् और धनुर्धर धनंजय (अर्जुन) बोल उठा कि हे धनुष-विद्या-विशारद गुरुपुंगव, इस लक्ष्य को बेधने के लिए तुम सर्वथा समर्थ हो, फिर तुम्हारे बेधने में अचम्भा ही क्या हैं। हे तातपाद! इस समय आपका यह लक्ष्य-बेध करना ऐसा है जैसे सूरज को दीया दिखाना और आम पर बंदनवार बाँधना या कस्तूरी को चंदन की धूप से सुगन्धित करना। भावार्थ यह कि जिस तरह सूरज को दीया दिखाना शोभा नहीं देता उसी तरह यह लक्ष्य-बेध आपको शोभा नहीं देता और एक बात यह भी है कि मुझ सरीखे आपके ही धनुषधारी विद्यार्थी के उपस्थित रहते आपको यह काम करना युक्त भी तो नहीं मालूम पड़ता। इसलिए प्रभो! मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं आपके प्रसाद से पाई हुई धनुष-विद्या के बल से इस विषम लक्ष्य को भी आसानी से बेध सकूँ। यह सुन द्रोण ने गौरव-शाली अर्जुन को लक्ष्य-बेध करने के लिए आज्ञा दे दी और अर्जुन भी उसी समय हाथ में धनुष लेकर वहाँ जाकर अचल हो बैठ गया, जहँ से उसे लक्ष्यबेध करना था। इसके बाद धनुष पर डोरी चढ़ाकर उस यशस्वी ने वज्र के शब्द जैसी गर्जना की ॥१६७-१७७॥

कौआ बहुत ही चंचल या, वह क्षण-क्षण में गर्दन को इधर से उधर और उधर से इधर मोड़ता था। उसके नेत्र और भी अधिक चंचल हो रहे थे। ऐसी हालत में उसकी दाहिनी आँख को लक्ष्य बनाना बहुत ही कठिन था परन्तु फिर भी अर्जुन ने उसे लक्ष्य बना उसी की ओर अपने मन और बुद्धि को लगा दिया। उसने इस इच्छा से कि कौआ मेरी ओर नीचे को देखे, फिर धनुष का शब्द

लोकयन्तमधोवक्रं पक्षिणं वीक्ष्य लक्ष्यवित्। जघान दक्षिणं चक्षुस्तस्य बाणेन बाणवित् ॥१८०॥
तत्कुर्वाणं समावीक्ष्य द्रोणदुर्योधनादयः। तं शशंसुरिति स्पष्टं चापविद्याविशारदम् ॥१८१॥
चापविद्याचणाश्चित्रं दृष्टाः पूर्वमनेकशः। धानुष्को नेदृशो दृष्टो वेध्यविद्याविशारदः ॥१८२॥
पारंगतोऽसि वेध्यस्य विद्याया विबुधाग्रणीः। क्व गुणी गुणसंधिज्ञं शशंसुरिति ते तकम् ॥१८३॥
ततस्ते तत्कथां सार्थां कुर्वाणा धृतराष्ट्रजाः। सद्मासेदुश्च सीदन्तो विशदं वीक्ष्य तद्बलम् ॥१८४॥
कदाचित्पृथु पार्थेशः समर्थो व्यथयन्रिपून्। शरासनं करे कृत्वा जगाम विपिनं वरम् ॥१८५॥
भ्रमन्भीतिं प्रकुर्वाणो वन्यानां स धनंजयः। श्वापदापदसंभेदी गहनं निरगाल्लघु ॥१८६॥
तत्रैकं मृगदंशं स मृगारिमिव सुन्नतम्। शरप्रहारसंरुद्धवदनं वीक्षते स्म च ॥१८७॥
बाणप्रहारसंरुद्धतुण्डः सच्चण्डमानसः। केनाकारि स्वयं श्वायं धनुर्विद्याविदात्मना ॥१८८॥
नरो न दृश्यते कश्चिदत्रास्यास्यप्रहारकृत्। शब्दवेधविदो नान्यो विधातुमीदृशं क्षमः ॥१८९॥
बाणप्रहारसंरुद्धवदनं वीक्ष्य कुक्कुरम्। शरराशिसमाकीर्णतूणं वा स व्यचिन्तयत् ॥१९०॥
अहो द्रोणो महाप्राज्ञो मद्गुरुः प्रकटो भुवि। ध्वनिवेधविधानेन सदा मान्यो धनुष्मताम् ॥१९१॥
शब्दवेधं दुराराध्यं सर्वागोचरसंचरम्। जानाति चेदयं द्रोणो नान्यः कोऽपि श्रुतौ श्रुतः ॥१९२॥

किया। जिसे सुनकर कौआ उसकी ओर मुँह कर नीचे को देखने लगा! इतने ही में उस लक्ष्य-बेध के पूर्ण विद्वान् अर्जुन ने अति शीघ्र उसकी दाहिनी आँख को बेध दिया ॥१७८-१८०॥

उसकी इस सफलता को देखकर द्रोणाचार्य और कौरव आदि सभी चापविद्या-विशारद अर्जुन की मुक्तकंठ से प्रशंसा करने लगे। वे बोले कि बहुत से धनुषधारियों को देखा परन्तु ऐसा धनुष-विद्या-निपुण अब तक कोई भी देखने में नहीं आया। अर्जुन, तुम धनुष-विद्या में पारंगत विद्वानों में भी श्रेष्ठ विद्वान् हो। अब और गुणी या गुणग्राही तुमसे बढ़कर कौन होगा। इसके बाद वे सब अर्जुन की इस सार्थक कीर्ति-कहानी को कहते सुनते हुए अपने-अपने घर चले आये परन्तु अर्जुन के इस निर्मल बल को देखकर कौरवों का हृदय बड़ा दुखी हो रहा था ॥१८१-१८४॥

एक समय शत्रु-विध्वंसक समर्थ अर्जुन धनुष-बाण हाथ में लेकर वन को गया और वहाँ हिंसक सिंह, व्याघ्र आदि जीव-जन्तुओं द्वारा लोगों को जो आपदायें हो रही थीं उन्हें दूर कर, वनचर हिंसक जीवों को डराता हुआ, घूमता फिरता, एक गहन स्थान में पहुँचा। वहाँ उसने सिंह की तरह उन्नत एक कुत्ते का मुँह बाणों से विंधा हुआ देखा ॥१८५-१८६॥

उसको देखकर वह सोचने लगा कि यहाँ इस तरह बाण चलाने वाला कोई मनुष्य तो दीखता ही नहीं, फिर इस प्रचंड कुत्ते का मुँह इस तरह बाणों से किस धनुष विद्या-विशारद ने बेध दिया है। दूसरी बात यह है कि शब्द-वेध जाने बिना कोई ऐसा काम कर भी नहीं सकता और यहाँ शब्द-वेध के ज्ञाता का होना बड़े अचम्भे की बात है क्योंकि शब्द-वेध के कारण ही मेरे गुरु महान् पंडित द्रोण को सभी धनुषविद्या-विशारद मानते हैं और इसी से वे संसार में प्रसिद्ध हैं और यह सुना भी जाता है कि शब्द-वेध बहुत कठिन है, दुराराध्य है-उसको कोई भी नहीं जानता। यदि कोई जानता है तो द्रोण ही जानता है। फिर यहाँ शब्द-वेध का ज्ञाता कहाँ से आया। यदि किसी दूसरे विद्यार्थी

अहं तिष्ठामि तत्पार्श्वे शब्दवेधं सुशिक्षितुम्। गुरुणाधिष्ठितः प्राज्ञश्चापचञ्चुत्वमागतः ॥१९३॥
तेन प्रसादतो मह्यं धनुर्विद्या सुशब्दगा। अदायि क्वापि नान्येभ्योऽन्तेवासिभ्यो विशारदा ॥१९४॥
शुनको भाषमाणोऽयं ध्वनिवेधविदा हतः। केनेति विस्मयः श्रीमान्सस्मार स्मेरमानसः ॥१९५॥
आश्चर्यं धैर्यवीर्यार्यपर्युपासितशासनः। वर्यः स्मरन्स्मयेनासौ बभ्राम विपिनं तदा ॥१९६॥
स तं द्रष्टुमनाः शब्दवेधिनं विशिखायुधम्। लोकयन्निखिलां क्षोणीं बभ्राम विगतश्रमः ॥१९७॥
कन्दरे सुन्दरे देशे निकुञ्जे च शिलोच्चये। तं पश्यन्नप्रथे पार्थः परार्थसार्थकोविदः ॥१९८॥
तावता हस्तसंरुद्धश्वानं वीरं वनेचरम्। करोत्क्षिप्तशरं तूर्णसंबद्धपार्श्वभागकम् ॥१९९॥
करालास्यं गतालस्यं वेगनिर्जितमारुतम्। विकटाक्षं च ध्वांक्षाभपक्षभागमधोमुखम् ॥२००॥
काकतुण्डस्वनासाग्रं कोलकेशं च केशिनम्। ददर्श दारुणं भिल्लं धनुस्स्कन्धं धनंजयः ॥२०१॥
सोऽभाणीत्तं समावीक्ष्य प्रचण्डः पाण्डुनन्दनः। कस्त्वं सुहृत् क्व संवासी का विद्या त्वयि वर्तते ॥२०२॥
इति पृष्टः समाचष्टे शबरः स स्मयावहः। दुर्निरीक्ष्यः क्षमामुक्तः कोपारुणितलोचनः ॥२०३॥

को द्रोण गुरु ने ही सिखाया हो तो यह भी नहीं हो सकता क्योंकि मैं हमेशा ही उनके पास शब्द-वेध सीखने के लिए उपस्थित रहता हूँ और उन्हीं के आश्रय से मैं धनुषविद्या-विशारद हुआ हूँ, मेरा धनुषविद्या में चंचु-प्रवेश हुआ है एवं प्रसन्न होकर उन्होंने मुझे शब्दवेध-विद्या सिखाई है और किसी को नहीं सिखाई है ॥१८७-१९४॥

फिर दूसरा कोई शब्द-वेध कुशल यहाँ हो ही कैसे सकता है परन्तु इसमें भी संशय नहीं कि इस कुत्ते को भौंकते वक्त किसी शब्दबेध विशारद ने ही मारा है। बड़े अचम्भे की बात है कि उसका कुछ पता नहीं चलता।

इसके बाद वह धीरवीरों को भी शिक्षा देने वाला वीरवर अर्जुन इसी बात का बार-बार स्मरण करता हुआ गर्व के साथ जंगल में घूमने लगा और उस शब्द-वेधी बाण चलाने वाले को देखने की प्रबल इच्छा से वह अनायास ही बड़ी दूर तक घूम आया। उसने पहाड़ों की गुफायें और शिखर देखे, लताओं के सुन्दर मंडप देखे ॥१९५-१९८॥

इतने में उसे एक भील देख पड़ा। वह कंधे पर धनुष लिये था, वीर था, वन में रहने वाला था, बाण छोड़ने में बड़ा चतुर था, उसके नेत्र बड़े भयंकर थे, दोनों पसबाड़े इधर-उधर घूमने के कारण क्षुभित हो रहे थे। वह कमर में तरकस बाँधे था। उसका तरकस बाणों से परिपूर्ण था। उसको आलस लेशमात्र न था। उसका हाथ हमेशा नृत्य-सा करता था और वह अपने वेग की चंचलता से हवा को भी मात करता था। उसका मुँह नीचा था। उसकी नाक का आगे का भाग बाण के अग्र-भाग की तरह बिल्कुल पतला था। उसके बाल बँधे हुए थे। वह भयानक और एक कुत्ते को साथ लिये हुए था ॥१९९-२०१॥

उसको देखकर तेजस्वी पाण्डुनन्दन अर्जुन बोला कि मित्र, तुम कौन हो ? कहाँ रहते हो ? और कौन-सी विद्या जानते हो ? यह सुन क्रोध से लाल नेत्र किये हुए अतएव क्षमा-रहित और

समाकर्णय सत्कर्ण व्याकर्णाकृष्टकार्मुकः। अभीर्भीतिंकरोऽन्येषां परमप्रीतिदायकः ॥२०४॥
शबरोऽहं वनेवासी धनुर्विद्याविशारदः। शरासनशरेणाशु भेत्तुं शक्नोमि देहिनः ॥२०५॥
शब्दवेधविधौ शुद्धः समृद्धो वेध्यवेधकः। मादृक्षः कोऽपि भूपीठे न लक्ष्यो लक्ष्यहृज्जनैः ॥२०६॥
श्रुत्वेति पिप्रिये पार्थः पराक्रान्तिं सुचापिनः। भिल्लस्य भालभ्रूभङ्गपरिक्षिप्तरात्मनः ॥२०७॥
शब्दवेधिन् त्वया ध्वस्तो मृगदंशो मृगारिमः। बाणेन बलतस्तूर्णं पार्थस्तमित्यबीभणत् ॥२०८॥
सोऽब्रवीच्छृणु सुश्रोतः काममर्त्य सुकामद। कम्राङ्ग कमलाक्षस्त्वं कोमलः कमलालय : ॥२०९॥
कामिनीकमनीयोऽसि करुणावान् क्रियाग्रणीः। कलाकेलिकृतावास समाकर्णय मत्कृतिम् ॥२१०॥
गच्छताथ श्रुतः शब्दः शुनः सुश्रान्तचेतसा। शरेण स हतः शब्दवेधिना शब्दतो मया ॥२११॥
तं शब्दवेधिनं मत्वा विस्मितः कौरवाग्रणीः। अप्राक्षीत्क्षिप्तसंशोभं सलोभं तं वनेचरम् ॥२१२॥
किरात क्व त्वया विद्या लब्धेयं शब्दवेधिनी। विद्यमाना फलं विद्या दत्ते च महती महत् ॥२१३॥
को गुरुर्भवतामस्या विद्यायाः सुगुणाग्रणीः। शब्दविद्याप्रदातारो न दृश्या गुरवः क्वचित् ॥२१४॥
इत्युक्तियुक्तिमाकर्ण्य किरातः किरति स्म च। कृतज्ञः सुकृती वाक्यं विकसद्वक्त्रपङ्कजम् ॥२१५॥
रिपुविद्रावणे दक्षो द्रोणोऽस्ति मम सद्गुरुः। तत्प्रसादान्मया लब्धा विद्या सच्छब्दवेधिनी ॥२१६॥

देखने में भयावना वह भील अहंकार भरे शब्दों में बोला कि सुनिए, धनुषधारियों को भय देने वाला तथा औरों को प्रीति देने वाला मैं एक भील हूँ और इसी वन में बसता हूँ। मैं धनुषकला का पण्डित हूँ। मुझमें धनुष-बाण के द्वारा हर एक प्राणी को बेधने की अपूर्व सामर्थ्य है ॥२०२-२०५॥

मैं शब्दवेध करने में पूर्ण समर्थ हूँ, मेरे समान लक्ष्य बेध करने वाला पृथ्वी की पीठ पर और कोई नहीं है और तो क्या, मेरी भृकुटि को देखकर ही कई तो प्राण त्याग देते हैं। उस धनुर्धर भील के ऐसे पराक्रम को सुनकर अर्जुन बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उससे पूछा कि हे शब्दबेध-निपुण, उस सिंह-तुल्य कुत्ते की क्या तुमने ही अपने अपूर्व बाण-विद्या के बल मारा है ? भील बोला-हे सुन्दर श्रोत्रों वाले और काम की मूर्ति, आप मनोरथ सिद्धि के साधक, सुन्दरांग और कमल के जैसे नेत्रों वाले, कमला-लक्ष्मी के आलय, सुन्दर कामियों द्वारा वांछनीय, कर्तव्य-परायण और भाँति-भाँति की कलाओं की केलि के स्थान देख पड़ते है। अतः मैं अपनी कृति को आपसे कहता हूँ ॥२०६-२१०॥

आप ध्यान देकर सुनिए। वह यह कि मैं शान्तचित्त से कहीं जा रहा था कि इतने में, मैंने उस कुत्ते का भयावह शब्द सुना। सुनकर मुझे कुछ रंजसा हुआ और ऐसी ही अवस्था में मैंने उसका बाण द्वारा काम तमाम कर दिया। भील की इस बात से उसे शब्द-वेधी जान कर कौरवाग्रणी अर्जुन को बहुत अचम्भा हुआ और तब उसने शोभा-विहीन और लोभी उस भील से पूछा कि किरात, बताओ कि तुमने यह शब्दवेधिनी उत्तम विद्या कहाँ से सीखी है ? देखी, यह अक्षरशः सत्य है कि उत्तम विद्या का उत्तम फल मिलता है या यो कहिए कि उत्तम विद्या उत्तम फल देती है। ऐसी उत्तम विद्या की देने वाला कौन अपूर्व पण्डित तुम्हारा गुरु है। इस समय तो शब्द-वेधिनी-विद्या को सिखाने वाले गुरु कहीं दीखते भी नहीं। अर्जुन की ऐसी युक्ति-संगत बातों को सुनकर मुस्कुराता हुआ वह कृतज्ञ

द्रोणस्तु गुणसंधानः सद्गुरुर्मे महामनाः। ततो विद्या मया लब्धा परेयं शब्दवेधिनी ॥२१७॥
शब्धवेधित्वविज्ञानमतो नान्यत्र वर्तते। अतो गुरुरयं मेऽद्य तद्विद्याविधिनायकः ॥२१८॥
निशम्येति वचस्तस्य पार्थः सार्थमनोरथः। अचिन्तयदिति स्वान्ते स्वच्छचेताश्च सूक्ष्मधीः ॥२१९॥
परिवारयुतो द्रोणो राजमान्यो विदांवरः। क्व द्रङ्गरङ्गसंभोगी संगतो वरया गिरा ॥२२०॥
क्व किरातः कृपाहीनो देहिसंघातघातकः। पाकसत्त्वैः समं युद्धं कुर्वाणो दृश्यते जनैः ॥२२१॥
अनयोर्दुर्धरो योगो दृश्यते पूर्वनस्थयोः। पूर्वापरसमुद्रस्थकीलिकाहलयोगवत् ॥२२२॥
विचिन्त्येति बभाणासौ किरातं पाण्डुनन्दनः। क्व दृष्टः स गुरुः शिष्टो गरिष्ठः सुगुणैस्त्वया ॥२२३॥
सोऽवादीत्ककुभः सर्वा बधिरा जनयंस्त्वरा। अत्र स्तूपे लसद्रूपे मया दृष्टो गुरुर्गुणी ॥२२४॥
तं स्तूपं दर्शयामास पार्थस्य शबरोत्तमः। वदन्निति विनीतात्मा विज्ञातगुरुगौरवम् ॥२२५॥
अयं स्तूपः पवित्रात्मा परमो गुरुसंश्रयात्। लोहधातुर्व्रजेद्यद्वत्स्वर्णतां रसयोगतः ॥२२६॥
नंनमीमि नराधीश प्रबुद्धो गुरुसद्धिया। इमं प्रविपुलं स्तूपं पावनं पवनावृत्तम् ॥२२७॥
अस्य प्रसादतो लब्धा विद्या सा शब्दवेधिनी। मयेति मन्यमानोऽहं भजामीमं स्वबुद्धितः ॥२२८॥
परोक्षं विनयं तन्वन् गुरोस्तस्याप्यहर्निशम्। आसे स्थिरमना स्थेयांश्चिन्तयन्स्वगुरोर्गुणान् ॥२२९॥

और सुकृती भील बोला कि शत्रु-समूह के ध्वंसक द्रोणाचार्य मेरे सद्गुरु हैं और उन्हीं के प्रसाद से मैंने यह उत्तम विद्या पाई है। इस समय यह विद्या उनके सिवाय और किसी के पास नहीं है। अतः इस विद्या की विधि को बताने वाले मेरे वही गुरु हैं और कोई नहीं ॥२११-२१७॥

उसके इन वचनों को सुनकर सफल-मनोरथ, पवित्र-चित्त और सूक्ष्म-बुद्धि अर्जुन मन ही मन सोचने लगा कि कहाँ तो परिवार के साथ नगर में रहने वाले, उत्तम-उत्तम भोगों को भोगने वाले, मिष्टभाषी, राज्यमान्य और विद्वानों में श्रेष्ठ विद्वान् द्रोणाचार्य और कहाँ निर्दय, जीवों का घातक और अति क्रूर जीवों के साथ निडरता से युद्ध करने वाला यह भील। नगर और वन में रहने वाले इन दोनों का समागम होना अत्यन्त विषम है, जैसे कि पूर्व-समुद्र में छोड़ी गई सैल और उत्तर समुद्र में छोड़े गये जुआ का समागम बड़ा कठिन होता है ॥२१८-२२२॥

इसके बाद अर्जुन ने उस किरात से कहा कि तुमने उत्तम गुणों से शिष्टों में भी गरिष्ठ उन द्रोण गुरु को कहाँ देखा है ? इसके उत्तर में वह बोला कि यहाँ एक रमणीय स्तूप (थंभा) है। उसी स्तूप को द्रौण समझ कर मैंने यह विद्या प्राप्त की है। इतना कह कर वह नम्र और गुण-गौरव का ज्ञाता भील अर्जुन को उस स्तूप के पास ले गया और दिखा कर बोला कि देखो, यही पवित्र-आत्मा द्रोण मेरे परम गुरु हैं। इनके आश्रय से लोहा उसी तरह सोना हो जाता है जिस तरह कि पारस के संयोग से। हे राजन्! मैं हमेशा सबेरे उठते के साथ ही इस विपुल और पावन स्तूप को गुरु-बुद्धि से नमस्कार करता हूँ। इसी के प्रसाद से ही मैंने यह शब्द वेधिनी विद्या पाई है। मैं हमेशा इसकी सेवा भक्ति में लगा रहता हूँ। मैं परोक्ष रूप से द्रोण गुरु की विनय करता हूँ और रातदिन स्थिर चित्त से उन्हीं के गुणों को स्मरण करने में लगा रहता हूँ ॥२२३-२२९॥

दृष्ट्वेमं स्नेहसंयुक्तं चित्तं बोभूयते मम। गुरुवद्गणनातीतगुणस्य स्वगुरोः स्मरन् ॥२३०॥
गुरुवत्पदविन्यासस्थानस्य सेवनं यके। कुर्वते ते लभन्तेऽत्र सुखसंदोहमुल्बणम् ॥२३१॥
श्रुत्वेति तद्वचः पार्थस्तं शशंसेति शुद्धवाक्। सन्तो गुणान्न मुञ्चन्ति दूरीभूतेऽपि सज्जने ॥२३२॥
त्वं महान्महतां मान्यो गुरुभक्तिपरायणः। गुणाग्रणीरिति स्तुत्वा किरातं सोऽगमत्पुरम् ॥२३३॥
साश्चर्यहृदयो लब्ध्वा गुरुं द्रोणं व्यजिज्ञपत्। नत्वा स्थित्वा क्षणं तत्र सार्जुनोऽर्जुननामभाक् ॥२३४॥
भो गुरोऽद्य महारण्यं गतेन रिपुघातिना। किरातो वीक्षितः क्षिप्रं तत्र तूणीरसंगतः।२३५॥
कुण्डलीकृतकोदण्डः सेषुधिं सशरासनम्। तं वीक्ष्य समुवाचाहं कस्त्वं किं वेत्स्यरण्यजः ॥२३६॥
स ब्रूते स्म किरातोऽहं द्रोणाचार्योपदेशतः। शब्दवेधित्वमापन्नो भ्रमंस्तिष्ठामि सद्वने ॥२३७॥
इत्युक्तिं तस्य चाकर्ण्य द्रोणाहं गतवानिह। त्वदग्रे कथितुं सर्वमित्यवादीद्धनंजयः ॥२३८॥
स्वामिन्स निष्ठुरो दुष्टो दुरात्मानिष्टचेष्टितः। निरपराधिनो जीवान्प्रहन्ति हतमानसः ॥२३९॥
स्वामिंस्त्वदुपदेशेन मायावेषेण मायिकः। जीवराशिं हरन्पङ्कं किरातः कुरुते सदा ॥२४०॥
द्रोणः पार्थवचः श्रुत्वा दधौ दुःखं स्वमानसे। वने वनचरोऽवार्यः कथं पाप्मेति चिन्तयन् ॥२४१॥

हे राजन्! द्रोण गुरु के संख्यातीत गुणों का चिंतन करता हुआ मैं जिस वक्त इस गुरु-तुल्य स्तूप को देखता हूँ तब मेरा चित्त स्नेह से भर आता है। देखो, कहा है कि जो गुरु-बुद्धि से गुरु के चरणों की स्थापना से पवित्र हुए स्थान की भी सेवा करता है वह भी संसार में मन-चाहे सुखों को पाता है। यह सुनकर पार्थ अपने शुद्ध वचनों द्वारा उसकी प्रशंसा करने लगा और बोला कि चाहे सज्जन पुरुष कितनी ही दूर क्यों न हों पर सत्पुरुष उनके गुणों को ले ही लेते हैं क्योंकि गुणग्रहण करने का सत्पुरुषों का स्वभाव ही होता है। शवरोत्तम, तुम महान् हो, महान् पुरुषों द्वारा मान्य हो एवं गुरु-भक्ति-परायण और गुणवानों में श्रेष्ठ हो ॥२३०-२३३॥

इस प्रकार उस भील की स्तुति कर अर्जुन वहाँ से अपने नगर को चला आया। पुर उक्त घटना से उसके हृदय में बड़ी उछल-कूद मच रही थी। अतः वह शीघ्र ही द्रोणाचार्य के पास पहुँचा और उन्हें नमस्कार कर उनके पास बैठ गया। बाद वह बोला कि गुरुवर्य! मैं आज शत्रुओं को नाश करने की इच्छा से वन में गया था वहाँ मुझे तरकस बाँधे हुए एक भील दीख पड़ा। वह कुण्डल के आकार जैसे धनुष को लिये था। उसके हाथ में बाण था। उसको देखकर मैंने पूछा कि मित्र, तुम कौन हो? कहाँ रहते हो ? और कौन-सी विद्या जानते हो ? उसने उत्तर में कहा कि मैं किरात हूँ, यहीं वन में रहता हूँ और द्रोणाचार्य गुरु के उपदेश से मैं शब्द-वेधिनी विद्या को भली-भाँति जानता हूँ। परम पूज्य गुरुवर्य, उसके इस वचनों को सुनकर मैं आपसे कहने के लिए यहाँ आया हूँ। स्वामिन्! वह बड़ा निष्ठुर है, दुष्ट और दुरात्मा है। उसकी सभी चेष्टायें अनिष्ट रूप होती हैं। वह हतबुद्धि सदा ही निरपराधी जीवों को मारा करता हैं। खेद की बात यह है कि वह मायाचारी आपके उपदेश का बहाना करके जीव-राशि के प्राणों को व्यर्थ ही हरता है और घोर पाप करता है ॥२३४-२४०॥

पार्थ के इन दुख भरे शब्दों को सुनकर द्रोण को बड़ा भारी खेद हुआ और वह मन ही मन

तद्वारणकृते द्रोणः सपार्थः पृथुमानसः। ततः स्थानाच्चचालाशु वनं गन्तुं समुद्यतः ॥२४२॥
मायावेषधरो द्रोणः समियाय वनं क्षणात्। पश्यन्पथिकसंघातं शाबरं सशरासनम् ॥२४३॥
ईक्षाञ्चक्रे चरन्तं तं किरातं पार्थसद्गुरुः। नमन्तं तं गुरुं शान्तमजानन्तं निजं गुरुम् ॥२४४॥
तावता गुरुणा पृष्टः शबरश्चरणाश्रितः। निविष्ट इति कस्त्वं हि को गुरुर्भवतः सतः ॥२४५॥
सोऽवोचद्वरवाक्येन प्रीणयन्सार्जुनं गुरुम्। किरातोऽहं कलाकीर्णो द्रोणो मेऽस्ति गुरुर्महान् ॥२४६॥
यस्य प्रसादतो लब्धा विद्या सर्वार्थसाधनी। मया पश्याम्यहं तं चेद्भजे तस्य सुशिष्यताम् ॥२४७॥
परोक्षोऽपि मया द्रोणः प्रत्यक्षीकृत्य भक्तितः। आराध्यते विशुद्धात्मा समृद्धिसिद्धिबुद्धिमान् ॥२४८॥
श्रुत्वा द्रोणोऽगदीद्भिल्ल यदीदानीं च पश्यसि। साक्षाल्लक्षणसंपूर्णं तर्हि तं किं करिष्यसि ॥२४९॥
समाचख्यौ किरातः स पश्यामि यदि सांप्रतम्। तत्तस्याहं करिष्यामि दासत्वं दासतो लघुः ॥२५०॥
परोपकारकरणे सामर्थ्यं मम नास्ति च। मादृशां शक्तिहीनानां पर्याप्तं गुरुसेवया ॥२५१॥
वीक्षितं तं विजानासि साभिज्ञानपरं गुरुम्। जानामीति वचः प्रोक्ते तेन द्रोण इदं जगौ ॥२५२॥
सोऽहं गुरुस्तवास्मीति द्रोणनामा मनोहरः। सिद्धविद्यो विदां मान्यः सर्वलोकहितंकरः ॥२५३॥

विचारने लगे कि इस पापात्मा को इस दुष्कृत्य से रोकने का क्या उपाय है ? कुछ सोच कर वह उसको दुष्कृत्य से रोकने के लिए अर्जुन के साथ उसी समय वहाँ से वन को चले और रास्ते में धनुष-बाणधारी भीलों को जाते हुए देखते उसी वन में पहुँचे। वहाँ अतिशीघ्र ही उनकी उस भील से भेंट हो गई। भील ने अति शान्त-चित्त गुरु को नमस्कार किया परन्तु वह जानता न था कि जिसको मैं गुरु मानता हूँ वह द्रोणाचार्य यही हैं और माया-वेष धर कर यहाँ आये हैं। इसके बाद वह गुरु के चरणों में बैठ गया। उस समय द्रोण ने उससे पूछा कि तुम कौन हो ? और तुम्हारा गुरु कौन है ? इसके उत्तर में वह द्रोणाचार्य को प्रसन्न करता हुआ मीठे वचनों में बोला कि-मैं भील हूँ और नाना कलाओं के जानकार महान् पुरुष द्रोणाचार्य मेरे गुरु हैं। उन्हीं के प्रसाद से मैंने यह सब मनोरथों को साधने वाली विद्या पाई है और यदि मुझे उन महान् पुरुष का दर्शन मिले तो मैं अपना बड़ा भारी सौभाग्य मानूँगा। यद्यपि वह विशुद्ध आत्मा और समृद्धि-सिद्धि-बुद्धि से युक्त मुझसे परोक्ष है तो भी इस समय मैं उन्हें भक्ति भाव से प्रत्यक्ष समझ कर ही आराधता हूँ। भक्ति बल से वह हमेशा ही मेरी दृष्टि के सामने रहते है। मैं उन्हें कभी भी नहीं भूलता हूँ ॥२४१-२४८॥

यह सुनकर द्रोण ने कहा कि किरात, यदि इस समय नाना लक्षणों से लक्षित उन द्रोणाचार्य को तुम प्रत्यक्ष देख पाओ तो उनके प्रति तुम कैसा व्यवहार करो! इसके उत्तर में किरात बोला कि यदि मैं इस समय उन्हें प्रत्यक्ष देखूँ तो मैं अपने को निछावर कर सब प्रकार उनकी सेवा करूँ। मुझ में और कुछ परोपकार करने की सामर्थ्य तो नहीं है, इसलिए मुझ सरीखे शक्ति-हीनों के लिए गुरुसेवा ही पर्याप्त है, बस है ॥२४९-२५१॥

इस पर द्रोण ने कहा कि तुम द्रोण के कुछ लक्षणों से उसे जानते हो। उत्तर में किरात ने कहा कि हाँ, मैं उन्हें पहचानता हूँ। तब द्रोण बोले कि सारे-संसार का हितैषी, विद्वानों द्वारा मान्य और

निशम्येति वचस्तस्य किरातश्चोत्सवाश्रितः। साभिज्ञानं गुरुं मत्वा जहर्ष हसिताननः ॥२५४॥
ततोऽष्टाङ्गं क्षितौ क्षिप्रं मिलन्मूर्ध्ना ननाम सः। गुरुमिष्टे चिरं लब्धे यत्नवान्न हि को भवेत् ॥२५५॥
विनयी विनयोद्युक्तो विनयं विततान सः। को हि लब्धे गुरौ धीमान्विनयाद्रहितो भवेत् ॥२५६॥
द्रोणः स्पष्टं समाचष्टे कुशली कुशलं तव। विद्यते सोऽब्रीवीन्नथ त्वत्प्रसादात्कुशल्यहम् ॥२५७॥
शबरं गुरुसंगेन समग्रप्रीतिमानसम्। स बभाण वचो वाग्मी प्रमाणपथपारगः ॥२५८॥
भो किरात सुकान्तारवासिन् विघ्नौघघातक। मत्सेवासंविधानज्ञ मदाज्ञाप्रतिपालक ॥२५९॥
त्वत्सदृक्षो मया दृष्टो भुजिष्यो न हि भूतले। वल्लभश्च समालोक्यो लोकलोकनतत्पर ॥२६०॥
किंचिद्याचयितुं त्वां च समीहेऽहं हितावह। यदि दास्यसि याचे तद्याच्ञाभङ्गो हि दुःखदः ॥२६१॥
सोऽभाणीद्भयतो भिल्लः कम्प्रः संक्षुब्धमानसः। स्वामिन्निदं किमुक्तं ह्यहं त्वदाज्ञाप्रपालकः ॥२६२॥
मादृशां शक्तिमुक्तानां संपत्त्यंशासहात्मनाम्। तत्किमस्ति च यद्देयं न स्याल्लोके भवादृशाम् ॥२६३॥
शृणु सेवक स प्राह तद्देयं विद्यते तव। दित्सा चेद्देहि मे हस्ते वचो वृणोमि यद्वरम् ॥२६४॥
दित्सामीति च भिल्लेन समुक्ते सोऽब्रवीद् गुरुः। देहि दक्षिणसद्हस्ताङ्गुष्ठं संछेद्य मूलतः ॥२६५॥
श्रुत्वा स गुरुसद्भक्त्या गुर्वाज्ञाप्रतिपालकः। तथेति प्रतिपन्नोऽभूत्तदगुणग्रामरञ्जितः ॥२६६॥

मनोहर मैं ही तुम्हारा गुरु द्रोणाचार्य हूँ। यह सुनकर भील बहुत ही खुश हुआ। उन्हें अपने गुरु जान कर उसका मुख-कमल खिल उठा और उसने द्रोण को पृथ्वी तक मस्तक झुकाकर साष्टांग प्रणाम किया। सो ठीक ही है कि इष्ट वस्तु के चिरकाल से मिलने पर सभी की प्रीति होती है। उस विनयी ने गुरु द्रोणाचार्य का खूब विनय-सत्कार किया। सच है कि गुरु के मिलने पर सभी बुद्धिमान् उनका विनय करते हैं ॥२५२-२५६॥

इसके बाद द्रोण ने उस भील से पूछा कि तुम कुशल तो हो न ? वह बोला, कि नाथ, तुम्हारे प्रसाद से मैं कुशल हूँ। मुझे किसी तरह का कष्ट नहीं है। गुरु के समागम से मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ। इस पर वह न्याय-मार्ग-पारंगत और वाग्मी द्रोण बोले कि किरात, तुम वनवासी हो, विघ्न-समूह के विघातक हो, मेरी सेवा-विधि के ज्ञाता हो, मेरी आज्ञा के प्रतिपालक हो, तुम्हारे समान इस भूतल पर मैंने आज तक कोई भी विद्यार्थी नहीं देखा है। तुम बड़े ही अच्छे मालूम पड़ते हो। देखो, मैं यहाँ तुमसे एक याचना करने के लिए आया हूँ। यदि तुम देना स्वीकार करो तो याचूँ क्योंकि याचना का भंग बहुत ही दुखदाई होता है ॥२५७-२६१॥

यह सुन भील काँपता हुआ और मन में विस्मय करता हुआ बोला कि स्वामिन्! यह आप क्या कहते है! मैं तो सर्वथा आपकी आज्ञा का पालक हूँ। मुझ शक्तिहीन के पास ऐसी कौन-सी सम्पत्ति है जो आप जैसे पुरुषों के लिए देय न हो। इस पर द्रोण बोले कि सुनो, मैं जो चाहता हूँ वह देय वस्तु तुम्हारे पास है। यदि देने की इच्छा हो तो वचन दो। फिर मैं याचूँ। भील बोला कि मैं सब कुछ आपको देने को तैयार हूँ। आप प्रसन्नता के साथ माँगिए। द्रोण ने कहा कि बस, मैं यही चाहता हूँ कि तुम अपने दाहिने हाथ के अँगूठे को जड़ से काटकर मुझे दे दो ॥२६२-२६५॥

यह सुनकर भक्ति के वश हो गुरु की आज्ञा के प्रतिपालक और उनके गुणों पर मुग्ध उस

विच्छिद्य दक्षिणाङ्गुष्ठं भिल्लस्तस्मै समार्पयत्। अङ्गुष्ठस्य च का वार्ता दत्ते भक्तः स्वजीवितम्॥२६७॥
छिन्नाङ्गुष्ठो न ना यस्माद् ग्रहीष्यति शरासनम्। जीवघातकरं पापमतो न भविता ध्रुवम् ॥२६८॥
पापिने न हि दातव्या विद्या शब्दार्थवेधिनी। विमृश्येति स पार्थाय समग्रां तां समार्पयत् ॥२६९॥
ततः पार्थेन स द्रोणः संप्राप्य स्वपुरं परम्। विश्रान्तः सातमाभेजे भुञ्जन्भोगान्सुभावजान् ॥२७०॥
पाण्डवाः कौरवा वक्त्रमिष्टाश्चान्तर्विरोधिनः। नयन्ति सुखतः कालं तत्र कौटिल्यधारिणः ॥२७१॥
भीमो हेमनिभः सुविघ्नहरणो दत्तं विषं चामृतम् जातं जातमनेकधा च भुजगा गण्डूपदाश्चाभवन्।
जातं यस्य पयः प्रमाणरहितं वै जानुदघ्नं महत् पुण्यस्यैव विजृम्भितेन भविनां किं किं न संपद्यते ॥२७२॥
पार्थः स प्रथमानकीर्तिरतुलो व्यर्थीकृतानर्थकः सार्थः शुद्धमनोरथः शुभपथः स्वार्थे परार्थेऽपि च।
एकार्थेन समर्थतामित इहाभाति प्रसिद्धार्थदृक् मुख्यत्वेन सुधन्विनां गतरिपुर्यो धर्मतो धर्मधीः ॥२७३॥

इति श्रीपाण्डवपुराणे महाभारतनाम्नि भट्टारकश्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म॰श्रीपालसाहाय्य सापेक्षे भीमविघ्नविनाशार्जुनशब्दवेधविद्याप्राप्तिवर्णनं नाम दशमं पर्व ॥१०॥

भील ने अपने दाहिने हाथ के अँगूठे को काट कर गुरु को सौंप दिया। सच है कि अँगूठे ही की क्या बात है तो भक्त लोग, भक्ति के वश होकर अपना जीवन भी दे डालते है। उसके अँगूठे को कटवा कर द्रोणाचार्य ने अपने उसी उद्देश्य को जिसके लिए कि उसका अँगूठी कटवाया था, उस भील के सामने कहा कि दाहिने हाथ के अँगूठे के बिना कोई भी धनुष को नहीं चढ़ा सकता, अतः इसके द्वारा जो जीवों के वध से बड़ा भारी पाप होता था वह अब न होगा। इसके बाद उन्होंने यह सोच कर कि पापी पुरुषों के लिए शब्दवेधिनी-विद्या नहीं देना चाहिए, पार्थ को वह विद्या पूर्ण रीति से सिखा दी ॥२६६-२६९॥

इसके बाद पार्थ के साथ वह अपने नगर को चले आये और सुख-शान्ति से उत्तम-उत्तम चीजों से उत्पन्न हुए भोगों को भोगने लगे, आनंद-चैन से अपना समय बिताने लगे। इसी तरह भीतर से विरोध रखने वाले पर बाहर से मीठे-मीठे बोलने वाले नाना कला-कुशल कौरव-पाण्डव भी वहीं रहकर सुख से काल बिताने लगे। भीम के शरीर की कान्ति सोने के जैसी थी। बड़े-बड़े विघ्नों का वह निवारक था। उसके लिए विष अमृत और साँप सर्प-कंचुकी के जैसा निःसत्व हो गया था एवं अथाह गंगा का जल भी उसके लिए जाँघों गहरा रह गया था। यह सब पुण्य का ही महत्त्व है। देखो, जिसके पुण्य का जोर होता है उसके लिए सुतरां ही सब अच्छे-अच्छे निमित्त आ मिलते हैं और सम्पत्ति उसका पीछा नहीं छोड़ती। वह अर्जुन संसार से सुशोभित हो जिसकी कीर्ति दिगन्त-व्यापिनी है, जो उपमा-रहित है, अनर्थों को दूर करने वाला और उत्तम अभिप्राय वाला है, जो सत्पथगामी और सब कामों में हमेशा एक मनोरथ से चलता है। अतएव जो समर्थ, धनुर्धरों में मुख्य और धर्म-बुद्धि का धारक है, जो धर्म-धनुष द्वारा बैरियों का ध्वंस कर चुका है, जिसका कोई भी वैरी नहीं है और जो प्रमाण-प्रसिद्ध पदार्थ पर विश्वास करता है ॥२७०-२७३॥

इस प्रकार ब्रह्म॰ श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचंद्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में भीम के विघ्नों का विनाश, अर्जुन को शब्दवेधिविद्या की प्राप्ति इन विषयों का वर्णन करने वाला दसवां पर्व समाप्त हुआ॥१०॥

एकादशं पर्व

पद्मप्रभं सुपद्माभं पद्माङ्कं प्रणमाम्यहम्। पद्मसंचारिचरणं पद्मालिङ्गितवक्षसम् ॥१॥
अथाप्राक्षीद्गणाधीशमिति मागधनायकः। तदानीं यादवेशानां का भूतिः क्व स्थितिर्वद ॥२॥
तदाकर्ण्य गणाधीशोऽवादीद्गम्भीरया गिरा। शृणु श्रेणिक वक्ष्यामि यदूनां चरितं वरम् ॥३॥
प्रबुद्धोऽन्धकवृष्णिस्तु दत्त्वा राज्यं स्वसूनवे। समुद्रविजयाख्याय प्राव्राजीद् गुरुसंनिधौ ॥४॥
समुद्रविजयो यावत्पाति राज्यं जयोद्धुरः। वसुदेवस्तदा क्रीडां कर्तुकामोऽभवन्मुदा ॥५॥
गन्धवारणमारुह्य चलच्चामरवीजितः। वदद्वाद्यः स्वसैन्येन स रन्तुं याति कानने ॥६॥
नानाभरणभाभारभूषितोदारविग्रहाः। निर्विशन्तं विशन्तं च कामिन्यो वीक्ष्य व्याकुलाः ॥७॥
गृहकार्यं परित्यज्य ता भर्तृभोजनादिकम्। स्तन्यदानं शिशूनां च यान्ति तं द्रष्टुमाकुलाः ॥८॥
इति लोकाः समावीक्ष्य सर्वं भूपं न्यवेदयन्। नृपोऽप्येतत्समाकर्ण्य तद्रक्षामकरोत्कृती ॥९॥
यथेष्टं निःकुटे क्रीडां कर्तुं संस्थाप्य भूपतिः। कुमारं बहिरुद्याने गच्छन्तं च न्यवारयत् ॥१०॥
क्रीडन्तं निःकुटे तं च समाख्यात्क्षुब्धमानसः। दासो निपुणमत्याख्यो बहिर्याननिषेधनम् ॥११॥

उन पद्मप्रभ जिनदेव को मेरा प्रणाम है जो लक्ष्मी के दाता है, जिनका शरीर लाल कमल के जैसी कान्ति वाला हैं, जिनके वक्षःस्थल में लक्ष्मी का निवास है और केवलज्ञान होने के बाद विहार के समय जिनके चरण-कमलों के नीचे देवता-गण कमलों की रचना करते हैं ॥१॥

इसके बाद श्रेणिक महाराज ने गौतम भगवान् को पूछा कि प्रभो! जिस समय की यह कथा है उस समय यादवों के कैसी विभूति थी और वे कहाँ रहते थे। इसके उत्तर में गौतम स्वामी ने अपनी गंभीर ध्वनि से कहा कि श्रेणिक, अब यादवों का पवित्र चरित कहा जाता है। उसको तुम सावधान चित्त से सुनो ॥२-३॥

एक दिन अंधकवृष्टि ने संसार से विरक्त होकर अपने बड़े पुत्र समुद्रविजय को सब राज्य सौंप दिया और आप गुरु के निकट जा दीक्षित हो गया। राज्य अब जयी समुद्रविजय करने लगा।

समुद्रविजय का छोटा भाई वसुदेव था। एक दिन वह गंधसिन्धुर नाम के हाथी पर सवार हो, सेना-सहित उत्सव के साथ क्रीड़ा करने के लिए वन को गया। उसके ऊपर चमर ढुल रहे थे और भाँति-भाँति के भूषणों से विभूषित, स्वभाव-सुन्दर उसके शरीर की अपूर्व ही शोभा थी। उसे देखकर शहर की कामिनियाँ बहुत व्याकुल हुई ॥४-७॥

उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर वे अपने घर गृहस्थी के कामों को छोड़कर उसको देखने के लिए बाहर आ गई और तो क्या, वे उसे जब आता सुन पाती तभी अपने पति-देवों को भोजन आदि करते और बाल-बच्चों को दूध पीते छोड़कर बाहर भाग आती थीं। यह हाल देखकर शहर के लोगों ने राजा से प्रार्थना की और राजा ने भी उनकी प्रार्थना पर उचित ध्यान देकर अब से घर के बगीचे में ही क्रीड़ा करने का प्रबंध कर कुमार को उद्यान जाने से रोक दिया ॥८-१०॥

एक दिन कुमार अपने बाग में क्रीड़ा कर रहा था। इसी समय निपुणमति नाम नौकर ने आकर

श्रुत्वावादीत्स केनाहं निषिद्ध इति चेटकम्। सोऽवोचत्तव निर्याणकाले त्वद्रूपवीक्षणात् ॥१२॥
योषाः शिथिलचारित्राः कामेन कवलीकृताः। तत्र लज्जाविमुक्ताङ्गा विपरीतविचेष्टिताः ॥१३॥
पीतासवसमाः कन्याः सधवा विधवाश्च ताः। लोकैर्वीक्ष्येति विज्ञप्तो भूपालः स तथाकरोत् ॥१४॥
कुमारो बन्धनं ज्ञात्वा स्वस्य तद्वाक्यतो निशि। निर्ययौ नगरात्साश्वः सुविद्यासाधनच्छलात् ॥१५॥
स एकाकी श्मशानेऽथ शवं संभूष्य भूषणैः। प्रज्वाल्य वह्निना तं चालक्ष्योऽगाद्रूपसागरः ॥१६॥
क्रामन् क्रमेण स क्षोणीं क्रमाभ्यां विजयं पुरम्। प्राप्य मूले स संतस्थे श्रान्तोऽशोकतरोः परे ॥१७॥
निमित्तसूचितं मत्वा वनेट् तं मगधाधिपम्। अबूबुधन्नृपस्तस्मै सोमलाख्यां सुतां ददौ ॥१८॥
विश्रम्य कानिचित्तत्र दिनानि गतवांस्ततः। पुष्परम्ये वने तत्र विमदीकृत्य वारणम् ॥१९॥
चिक्रीड स तमालोक्य क्रीडन्तं गजतः खगः। जहार विजयार्धाद्रौ नीतः स तेन तत्क्षणे ॥२०॥
तत्र किंनरगीताख्ये पुरे चाशनिवेगतः। जातां पवनवेगायां सुतां स परिणीतवान् ॥२१॥

राजकुमार से वन जाने से रोके जाने की बात कह दी। सुनकर उससे वसुदेव ने पूछा कि मुझे वन जाने से किसने रोका है? उत्तर में उसने कहा कि प्रभो! जिस समय आप वन को जाते हुए शहर से निकलते हैं, उस समय आपके रूप-सौन्दर्य को देखकर शहर की नारियों का चरित्र शिथिल हो जाता है। वे कामदेव का ग्रास बन जाती हैं और लाज-शर्म छोड़कर विपरीत चेष्टायें करने लगती हैं। कन्या, सधवा और विधवा सभी ऐसी देखने लगती हैं मानों उन्होंने मदिरा ही पी ली है। यह देखकर शहर के लोगों ने राजा से प्रार्थना की और राजा ने ही उनकी प्रार्थना पर से आपको उद्यान जाने से रोक दिया है ॥११-१४॥

निपुणमति के इन वचनों से वसुदेव ने अपने आपको बन्धन में पड़ा समझा। इसके बाद एक दिन रात को किसी विद्या साधने के बहाने से घोड़े पर चढ़कर राजकुमार नगर से बाहर निकल गया। वह वहाँ से सीधा मसान भूमि में पहुँचा। वहाँ उसने एक मुर्दे को अपने सब वस्त्र-आभूषण पहिना दिये और बाद उसे जलाकर आप, आगे चल दिया। धीरे-धीरे वह विजयपुर पहुँचा। वह बहुत थक गया था, इसलिए अपनी थकावट दूर करने को वहाँ एक अशोक वृक्ष के नीचे बैठ गया ॥१५-१७॥

वहाँ मगध देश के राजा की ओर से एक भील रहता था। दैवयोग से इसके वहाँ पहुँचते ही भील को निमित्तज्ञानी के बताये हुए निमित्त की सूचना मिली। अतः वह राजा के पास गया और उसने राजा को वसुदेव के आने की खबर की। राजा उसी समय वहाँ आया और वसुदेव को बड़े भारी ठाट-बाट के साथ नगर में लिवा ले गया। इसके बाद उसने उसके साथ अपनी सोमला नाम पुत्री का ब्याह कर दिया। ब्याह के बाद कुछ दिनों तक कुमार ने वहीं विश्राम किया। पश्चात् वहाँ से चलकर वह पुष्परम्य नाम वन में पहुँचा। वहाँ एक वनेले हाथी को मद-रहित कर-उसका मद उतारकर वह आनंद-चैन से उसके साथ क्रीडा करने लगा। वन-गज के साथ क्रीड़ा करता हुआ उसको देखकर एक विद्याधर विजयार्द्ध पर्वत के किन्नर गीतपुर में ले गया ॥१८-२०॥

वहाँ अशनिवेग और पवनवेगा की पुत्री श्यामा के साथ उसका ब्याह हो गया। श्यामा का दूसरा

दिनानि कतिचित्तत्र स्मरस्मारणतत्परः। तया स्थितं जहाराशु तं खगोऽङ्गारकः खलः ॥२२॥
दत्तान्तशाल्मलिर्ज्ञात्वा हृतं तमसिपाणिका। अन्वियाय खगं वीक्ष्य सा तस्मादमुचद्यदुम् ॥२३॥
विद्यया पर्णलघ्व्यासौ तया प्रहितया धृतः। चम्पापुरीसरोमध्ये पपात जिनमानसः ॥२४॥
ततो निर्गत्य चम्पायां गतो गन्धर्वविद्यया। प्रसिद्धां श्रुतवान्कर्णे कन्यां गन्धर्वदत्तिकाम् ॥२५॥
प्राप्य गन्धर्वदत्तायाः स्वयंवरसुमण्डपम्। तत्र स्थितवतीं कन्यां कुमारो वीक्ष्य चागदीत् ॥२६॥
देहि वीणां च निर्दोषां सुतन्त्रीकां सुमानजाम्। यतस्ते वाञ्छितं वाद्यं वादयामि सुपण्डिते ॥२७॥
तया तिस्त्रश्चतस्त्रश्च दत्ता वीणाः स निन्दयन्। प्राप्य घोषवतीं वीणां निर्दोषां वीक्ष्य संजगौ ॥२८॥
संताड्य तां सुमानेन गेयं तद्वाञ्छितं जगौ। जित्वा तां चारुदत्तेन दत्तां सोऽप्यवृणोत्तदा ॥२९॥
एवं खगाचले सप्त शतानि सुखगेशिनाम्। कन्याः प्राप स पुण्येन पुण्यात्किं दुर्लभं भुवि ॥३०॥
ततो निवृत्य भूभागेऽरिष्टनाम्नि पुरे प्रभोः। हिरण्यवर्मणः पुत्री पद्मावत्यां च रोहिणी ॥३१॥

नाम शाल्मलिदत्ता भी थी। श्यामा के साथ कामक्रीड़ा करता हुआ कुछ दिनों तक वह वहीं रहा परन्तु एक दिन उसे वहाँ से रात के समय एक दुष्ट अंगारक नाम विद्याधर हर ले गया। यह देख श्यामा तलवार लेकर उसके पीछे-पीछे भागी। तब अंगारक डरा और श्यामा के डर के मारे उसने वसुदेव को आकाश से नीचे छोड़ दिया। यह देख श्यामा ने पर्णलघ्वी विद्या भेजी। उसने जाकर जिनदेव को हृदय में धारण करने वाले वसुदेव को नीचे गिरने में सहारा दिया, ताकि वह आसानी से चंपापुरी के तालाब में जाकर पड़ा-उसे कुछ भी तकलीफ न हुई ॥२१-२४॥

इसके बाद वह तालाब से निकलकर चम्पापुरी में गया। वहाँ गंधर्वदत्ता का स्वयंवर था। गंधर्वदत्ता गान विद्या में बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। स्वयंवर का हाल सुनकर वसुदेव भी तत्काल स्वयंवर-मंडप में पहुँचा। वहाँ पहुँच कर उसने गंधर्वदत्ता से कहा कि सुपण्डिते, दोष-रहित, अच्छे तारों वाली और ठीक प्रमाण की बनी हुई एक वीणा दो, ताकि जैसी तुम चाहती हो मैं वैसी ही उसे बजा सकूँ ॥२५-२७॥

यह सुन उसने वसुदेव को तीन-चार वीणायें दीं, पर वसुदेव ने उन सब में कोई न कोई दोष बता कर वे वापस लौटा दीं। तब गंधर्वदत्ता ने उसे घोषवती नाम वीणा दी, जो बिल्कुल निर्दोष थी। उसे लेकर कुमार ने बजाना शुरू किया और बड़े अभिमान के साथ उसने जैसा कि गंधर्वदत्ता चाहती थी वैसा ही बजाकर सुनाया। जिससे वह बहुत ही प्रसन्न हुई और साथ में वसुदेव के ऊपर तन-मन से निछावर भी हो गई ॥२८-२९॥

इस प्रकार कुमार के द्वारा जीती गई अपनी कन्या का चारुदत्त ने उसके साथ ब्याह कर दिया। कुमार भी इस ब्याह से अतीव प्रसन्न हुआ एवं विजयार्द्ध पर्वत पर उस पुण्यात्मा ने विद्याधरों की और सात सौ कन्याओं के साथ विवाह किया। सच है कि पुण्य का उदय होने पर संसार में कुछ भी मिलना दुर्लभ नहीं रह जाता। वहाँ से चलकर वह अरिष्टपुर नाम नगर में आया। यहाँ का राजा था हिरण्यवर्मा और रानी थी पद्मावती। उनके रोहिणी नाम एक पुत्री थी ॥३०-३१॥

रोहिणीवाभवत्तस्याः स्वयंवरकृते नृपान्। समाहूतान्विमुच्यासौ गतं तत्रावृणोच्च ताम् ॥३२॥
सोत्कण्ठिताऽकरोत्कण्ठे मालां तस्य विकुण्ठहृत्। तथा वीक्ष्य स भूपालाः क्षोभं भ्रान्ताश्च लेभिरे ॥३३॥
समुद्रा इव संहारे समुद्रविजयादयः। तदा विभिन्नमर्यादा आहर्तुं तं समुद्ययुः ॥३४॥
योध्दुं हिरण्यवर्मापि वसुदेवः समुद्ययौ। सोऽपि स्वनामसंयुक्तं बाणं भ्रातरमक्षिपत् ॥३५॥
समुद्रविजयो लब्ध्वा शरमक्षरसंयुतम्। वाचयित्वा कुमारं तं निश्चिकायानुजानुजम् ॥३६॥
संगरं वारयित्वा स कनीयांसं सहानुजैः। आश्लिष्य परमां प्रीतिं समुद्रविजयोऽगमत् ॥३७॥
दशार्हास्तद्विवाहस्योत्सवं चक्रुर्मुदावहाः। ततस्तौ प्रौढरङ्गेण दम्पती निन्यतुः सुखम् ॥३८॥
सुस्वप्नसूचितं देवी रोहिणी च कदाचन। शुक्रस्वर्गाच्च्युतं दध्रे सुरं गर्भे समुन्नतम् ॥३९॥
ततः क्रमेण नवमे मासे सासूत सत्सुतम्। बलभद्राभिधं रम्यं बलानां नवमं मतम् ॥४०॥
ततः सौरीपुरं प्राप्ता यादवाः सकलाः शुभाः। वसुदेवयुतास्तत्र सुखं तस्थुः स्थिराशयाः ॥४१॥
कदाचिदथ कंसेन जरासंधदिदृक्षया। राजगृहे ययौ योद्धा वसुदेवो विदांवरः ॥४२॥
जरासंधस्तदा भूपानित्याज्ञापयति स्म च। सुरम्यविषयान्तःस्थपोदनाख्यपुरेश्वरम् ॥४३॥

वह चाँद की रोहिणी के तुल्य थी। वहाँ उसका स्वयंवर था और देश-विदेश के राजा उसमें उपस्थित थे। वसुदेव भी उस स्वयंवर में गया और अपने योग्य स्थान पर जाकर बैठ गया। इसके बाद रोहिणी स्वयंवर-मंडप में आई और उसने सब राजाओं को छोड़ते हुए, चले जाकर वसुदेव को पसंद किया और बड़ी भारी उत्कंठा के साथ उसके गले में वरमाला पहिना दी। यह देख उन सब राजाओं में बड़ा क्षोभ मचा, युद्धकला में समुद्र के जैसे, उमड़ने वाले समुद्रविजय आदि सब राजा उस समय मान-मर्यादा छोड़कर युद्ध के लिए तैयार हो गये। इधर हिरण्यवर्मा और वसुदेव भी निकल कर मैदान में आ डटे। इस समय समुद्रविजय को अपना परिचय देने की इच्छा से वसुदेव ने वह बाण चलाया जिस पर वसुदेव का नाम लिखा था ॥३२-३५॥

उस बाण को देखकर समुद्रविजय ने उसी समय युद्ध बन्द करवा दिया। इसके बाद वह अपने सब भाइयों सहित वसुदेव से मिलकर परम प्रीति को प्राप्त हुआ। पश्चात् सब भाइयों ने बड़े हर्ष के साथ वसुदेव का ब्याह-महोत्सव किया। अनन्तर प्रौढ़ राग-रंग से वे दोनों दम्पती सुख चैन से सुख भोगने लगे ॥३६-३८॥

एक दिन शुभ स्वप्नों को देखने के बाद रोहिणी देवी ने शुक्र स्वर्ग से चयकर आये हुए एक उन्नत देव को गर्भ में धारण किया और क्रम से जब नौ महीना पूरे हो गये तब बलभद्र नाम के नव में बलदेव को जन्म दिया। बलभद्र रूपशाली और जगत् को आनंद देने वाला था। इसके बाद गंभीर आशय वाले वे सब यादव वसुदेव-सहित सुख से सूरीपुर में रहने लगे ॥३९-४१॥

एक दिन जरासिंध को देखने की इच्छा से विदांवर वसुदेव वीर कंस के साथ राजगृह नगर आया। वहाँ इसी समय जरासिंघ ने सब राजाओं के लिए यह आज्ञा निकाली थी कि जो कोई नृपति सुरम्यदेश के पोदनापुर के राजा सिंहरथ को बाँधकर मेरे आगे ले आएगा उसे मैं कलिंदसेना के गर्भ

शत्रुं सिंहरथं जित्वा बद्ध्वानीय ममाग्रतः। यो मुञ्चति सुतां तस्मै नाम्ना जीवद्यशोऽभिधाम् ॥४४॥
जातां कालिन्दसेनायां सार्धं दास्यामि नीवृता। इति वीक्ष्य नृपाः पत्रमालिकां च व्यरंसिषुः ॥४५॥
वसुदेवकुमारस्तां गृहीत्वा निर्गतो बलैः। विद्यासिंहरथेनाशु जित्वा सिंहरथं पृथुम् ॥४६॥
कंसेन बन्धयित्वा तमर्पयामास भूपतिः। सोऽपि तस्मै सुतां दातुमीहते स्म सुनीवृता ॥४७॥
स दुष्टलक्षणां ज्ञात्वा तां जरासंधमब्रवीत्। अनेनैव रिपुर्बद्धः श्रुत्वेति स व्यतर्कयत् ॥४८॥
कोऽयं किमाभिधानोऽस्य कुलं किमिति भूभुजा। पृष्टे च सोऽवदन्नाथाहं च मन्दोदरीसुतः ॥४९॥
मन्दोदरी समाहूता तदा तेन महीभुजा। सा मञ्जूषां समादायागता मुक्त्वेति तां जगौ ॥५०॥
वहन्तीं देव कालिन्द्यां मञ्जूषां प्राप्य तत्र च। दृष्टोऽयं वर्धितः कंसनाम्ना मातेयमस्य वै ॥५१॥
मञ्जूषान्तस्स्थपत्रं स गृहीत्वावाचयत्तराम्। इत्युग्रसेनभूपस्य पद्मावत्याः सुतोऽप्ययम् ॥५२॥
विततार सुतां तस्मै राज्यार्धं स प्रहृष्टधीः। कंसोऽपि वैरतः सैन्यैर्मथुरां समियाय च ॥५३॥

से उत्पन्न हुई जीवद्यशा नाम अपनी पुत्री के साथ-साथ आधे राज्य का स्वामी बना दूँगा। सारांश यह कि जो सिंहरथ को पकड़ ले आयेगा उसे मैं अपना आधा राज्य दूँगा और उसके साथ अपनी पुत्री भी ब्याह दूँगा ॥४२-४५॥

इस आज्ञा को पाकर और राजा लोग तो चुप-चाप अपने घर पर ही बैठे रहे किसी की हिम्मत सिंहरथ को बाँध लाने की न हुई परन्तु वसुदेव से न रहा गया। वह जरासिंघ के आज्ञापत्र को पाते ही उसी समय कुछ सेना को साथ लेकर कंस सहित वहाँ से निकल पड़ा और विद्या-बल से सिंहों का रथ बना, उस पर चढ़ बात ही बात में उसने सिंहरथ को बाँध लिया और लाकर जरासिंध को सौंप दिया। तब जरासिंध अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसे कन्या और आधा राज्य देने को व्यवस्था करने लगा ॥४६-४७॥

परन्तु वसुदेव ने पुत्री को कुलक्षणा जान कर जरासिंध से कहा कि शत्रु को मैंने नहीं बाँधा है किन्तु बाँधा है मेरे इस मित्र ने। इसलिए आप इसको ही पुत्री दीजिए। यह सुन जरासिंध मन ही मन सोचने लगा कि यह कौन है? इसका नाम क्या है? और न जाने इसका कुल कैसा है? इसके बाद उसने कंस से पूछा कि तुम्हारे माता-पिता कौन हैं ? कंस ने उत्तर दिया कि नाथ, मैं मन्दोदरी का पुत्र हूँ ॥४८-४९॥

यह सुनकर जरासिंध ने मंदोदरी को बुलाया। वह अपने साथ में एक सन्दूक लेकर आई और उस सन्दूक को राजा के आगे रखकर बोली कि महाराज! यह यमुना के प्रवाह में बहता हुआ आकर दैवयोग से मेरे हाथ लग गया था और इसी में मैंने इसे पाया था। इसलिए जन्म देने वाली तो इसकी यही माता है, पर पालने-पोषने के लिहाज से देखा जाये तो मैं भी माता हूँ। मैंने इसका कंस नाम रक्खा है परन्तु इस मंजूषा में इसके साथ एक पत्र और मिला था। उसके बाँचने से मालूम हुआ कि यह उग्रसेन राजा और पद्मावती रानी का पुत्र है। मंदोदरी के अन्तिम वचनों से जरासिंध को संतोष हुआ और उसने हर्षित होकर उसे आधे राज्य के साथ अपनी कन्या ब्याह दी ॥५०-५३॥

बन्धयित्वा स कोपेन गोपुरे पितरौ न्यधात्। स्वपुरं वसुदेवोऽथ तेनानीतः स्वभक्तितः ॥५४॥
अथो मृगावतीदेशे दशार्णनगरे नृपः। देवसेनः प्रिया तस्य धनदेवी धनप्रिया ॥५५॥
तयोः सुता शुभालापा देवकी कोकिलस्वना। दापिता वसुदेवाय कंसेन महदाग्रहात् ॥५६॥
ततः क्रमेण संभूता देवक्यां युगलात्मना। षट् सुताः सप्तमः कृष्णोऽजायताद्भुतविक्रमः ॥५७॥
पिता रामेण संमन्त्र्य भयात्कंसस्य गोकुले। यशोदानन्दगोपाभ्यां तं वर्धनाय दत्तवान् ॥५८॥
कालेन पुण्यतस्तत्र वृद्धोऽसौ वृद्धबुद्धिमान्। चाणूरेण समं कंसं निगृह्य सुखमाश्रितः ॥५९॥
रूप्याद्रौ रथचक्रादिनूपुरेऽथ पुरे पतिः। सुकेतुस्तत्प्रिया प्रीता स्वयंशोभा स्वयंप्रभा ॥६०॥
तयोः सुभामा सत्याभा सत्यभामा सुताजनि। या रूपेण शचीं नूनमधः कुरुत इत्यलम् ॥६१॥
तादृशीं तां समालोक्य भूपो नैमित्तिकं मुदा। निमित्तकुशलाख्यं चेत्यप्राक्षीत्कस्य वल्लभा ॥६२॥
जनितेयं स आलोच्यावोचद्देवी भविष्यति। त्रिखण्डाधिपतेः श्रुत्वा दूतप्रेषणपूर्वकम् ॥६३॥
वैकुण्ठाय सुकेतुस्तां दत्त्वा निर्वृतिमाप च। कृष्णोऽपि तां समालभ्य भेजे भोगं भवोद्भवम् ॥६४॥

इसके बाद कंस, पिता से अपने वैर का बदला लेने के लिए बहुत-सी सेना सहित मथुरा आया और क्रोध के वश हो, माता-पिता को बाँधकर उसने शहर के दरवाजे में कैद कर दिया। कंस की वसुदेव पर बड़ी भक्ति हो गई थी, अतएव उसने वसुदेव को अपने यहाँ बुला लिया ॥५४॥

मृगावती देश में दशार्ण नाम एक नगर है। वहाँ का राजा देवसेन था और उसकी रानी का नाम था धनदेवी। वह इन्द्र की इन्द्राणी जैसी थी। उनके एक पुत्री थी। उसका नाम था देवकी। उसका कोयल के जैसा सुंदर स्वर था। वह बहुत ही अच्छा आलाप लेती थी। कंस ने बड़े भारी आग्रह से देव की वसुदेव के लिए दिलाई थी। इसके बाद क्रम से वसुदेव के निमित्त से देवकी के तीन बार दो-दो करके छह पुत्र पैदा हुए और बाद सातवाँ पुत्र कृष्ण पैदा हुआ। कृष्ण बड़ा पराक्रमी था। कृष्ण का जन्म होते ही वसुदेव बलभद्र की सलाह से, कंस के भय के मारे, गोकुल में नंदगोप और यशोदा के यहाँ गये और वहाँ कृष्ण नारायण को इसलिए छोड़ आये कि जिसमें निर्भीकता से उसका पोषण हो। कृष्ण का नंदगोप के यहाँ बड़ी अच्छी तरह पालन होता रहा। वह थोड़े ही दिन में खूब होशियार हो गया। वह बहुत ही बुद्धिमान् था। इसके बाद वह चाणूर और कंस का निग्रह करके पूर्ण सुख के साथ रहने लगा ॥५५-५९॥

रूपाचल पर्वत पर एक रथनूपुर नाम पुर है। वहाँ का सुकेतु नाम राजा था। उसकी प्रिया का नाम था स्वयंप्रभा। वह सुकेतु को बहुत ही प्यारी थी और अपने रूप-सौन्दर्य से खूब सुशोभित थी। उसके एक पुत्री थी। उसका नाम था सत्यभामा। वह सुभामा थी-सुन्दर कान्ति और श्री वाली थी। वह अपने रूप से इन्द्राणी को भी नीचा दिखाती थी ॥६०-६१॥

उसको ऐसी सुन्दरी और कान्ति वाली देखकर उसके पिता सुकेतु ने निमित्तकुशल नाम निमित्तज्ञानी को पूछा कि सत्यभामा किसकी वल्लभा होगी। नैमित्तिक ने उत्तर दिया कि वह तीन खण्ड के स्वामी कृष्ण नारायण की पट्टरानी होगी। यह जान कर सुकेतु ने दूत के हाथ भेंट वगैरह

मथुरायामवस्थाप्योग्रसेनं नरनायकम्। सौरीपुरं गताः सर्वे यादवाः कृष्णसंयुताः ॥६५॥
अथ राजगृहाधीश : श्रुत्वा कंसस्य पञ्चताम्। जीवद्यशोमुखात्तूर्णं यादवेभ्यश्चुकोप सः ॥६६॥
आहवाय सुतान्सोऽपि प्रेषयामास यादवैः। युद्धे ते भङ्गतां नीता दैवपौरुषविक्रमैः ॥६७॥
प्राहिणोत्स सुतं ज्येष्ठमपराजितनामकम्। षट्चत्वारिंशदधिकं युद्धानां च शतत्रयम् ॥६८॥
विधाय यादवैः सार्धं सोऽपि भङ्गं गतः क्षणात्। पुनः संनह्य संप्रापद्यादवान्सोऽपि दुर्धरः ॥६९॥
आगच्छन्तं पुनस्तं ते श्रुत्वा कालबलार्थिनः। सौरीपुरं च मथुरां व्याजह्रुर्यादवाः क्षणात् ॥७०॥
आयान्तं तदनु क्रोधात्तं निवार्य च मायया। देवताः प्रेषयामासुर्यादवान्पश्चिमां दिशम् ॥७१॥
ततः कंसारिरात्मीयं विधातुं विधिवद्व्यधात्। स्थानमष्टोपवासं चोदधेः पार्श्वे महामनाः ॥७२॥
नैगमाख्योऽमरस्तत्र तदागत्य च माधवम्। अबीभणदिति स्पष्टं विशिष्टशुभनोदितः ॥७३॥
अश्वाकृतिधरं देवमारुह्य जलधौ तव। गच्छतः पत्तनप्राप्तिर्भविता भोगिमर्दन ॥७४॥
वाहारूढे च कंसारौ जलधौ सति धावति। द्विधाभावं गतोऽब्धिश्च यावन्नूतनवृद्धिभाक् ॥७५॥

भेज कर सत्यभामा का कृष्ण के साथ ब्याह कर दिया। इसके बाद वह तो संसार से विरक्त हो गया और कृष्ण नारायण सत्यभामा को पाकर सांसारिक सुख भोगने लगा। इसी समय उग्रसेन राजा को मथुरा का राजा बना कर कृष्ण-सहित सबके सब यादव सौरीपुर चले आये ॥६२-६५॥

इसके बाद जीवद्यशा नाम अपनी पुत्री के मुंह से राजगृह के राजा जरासिंध ने जब कंस का मरण सुना तब उसे यादव लोगों पर बड़ा भारी क्रोध आया। उसने उसी समय यादवों के साथ युद्ध करने को अपने पुत्रों को भेजा परन्तु वे यादवों के दैव और पौरुष के सामने ठहर न सके-सब नष्ट हो गये। यह देखकर जरासिंध के क्रोध का कुछ पार न रहा। तब उसने तीन सौ छियालीस योधाओं को साथ देकर, यादवों को तहसनाश करने के लिए, अपराजित नाम अपने बड़े पुत्र को भेजा ॥६६-६८॥

लेकिन यादवों की शूरता के सामने उसकी भी कुछ न चली-वह भी युद्ध-स्थल की बलि हो गया। इस दुख-मय समाचार को सुनकर तो वह दुद्धर्ष वीर स्वयं ही कवच वगैरह पहिन कर तैयार हुआ और यादवों के साथ लड़ने को गया। जरासंध को आया सुनकर यादव लोग बड़े डरे और वे सौरीपुर तथा मथुरा को भाग गये। यह देख जरासिंध ने उनका पीछा किया, परन्तु देवों ने माया के द्वारा जरासिंध को तो पीछे लौटा दिया और यादवों को पच्छिम दिशा में सुदूर समुद्र तट पर भेज दिया ॥६९-७१॥

इसके बाद मनस्वी कृष्ण नारायण ने समुद्र में मार्ग पाने की इच्छा से जैसी विधि से होने चाहिए, आठ उपवास किये। पुण्योदय से उसके पास नैगम नाम एक देव ने आकर कहा कि भोगियों-साँपों को मर्दित करने वाले निर्भय प्रभो! आप इस अश्व-भेष-धारी देव पर सवार होकर समुद्र में जाइए वहाँ आपको स्थान मिलेगा। यह सुनकर नारायण ने वैसा ही किया-वह समुद्र में गया। उस समय समुद्र का जल उसके लिए स्थल के जैसा हो गया। सारांश यह कि समुद्र में जहाँ से नारायण जाता था वहाँ का जल इधर-उधर दोनों ओर को हटता जाता था। नारायण शान्ति के

सुनासीराज्ञया तत्र किन्नरेशः पुरीं व्यधात्। नेमीश्वरकृते चापि योजनद्वादशायताम् ॥७६॥
भास्वद्रत्नमयो यत्र शालस्तां परिवव्रके। तुङ्गतोरणसत्स्तम्भप्रतोलीपरिखान्वितः ॥७७॥
मध्येपुरं यदूनां च बान्धवानां नरेशिनाम्। समिभ्यानां च लोकानां गृहाणि विदधुः सुराः ॥७८॥
क्वचित्सरः क्वचिद्वापी क्वचित्श्रीजिनमन्दिरम्। क्वचिज्जनाश्रयं तुङ्गं विदधे धनदो महान् ॥७९॥
अब्धिखातिकया वेष्ट्या नानाद्वारावलीयुता। द्वारिकेति गता ख्यातिं पुरी लेखपुरीव या ॥८०॥
तत्र यादवभूपालाः समुद्रविजयादयः। कंसारिणा समं सर्वे निवसन्ति स्म वेश्मसु ॥८१॥
अथ तत्र सुखासीनः समुद्रविजयो जयी। अजय्यो दस्युवर्गेण जितात्मा जितमत्सरः ॥८२॥
विशुद्धो धर्मधीर्धीरो विद्वान्विबुधवन्दितः। सधृतिर्धर्मकर्माढ्यो धराधीशः समृद्धिभाक् ॥८३॥
भेजे भोगान्सुभव्यात्मा भवहर्तुः सुभक्तिमान्। शुशुभेऽत्र भवान्भर्ता भुवो भ्राजिष्णुभूतलः ॥८४॥
तज्जाया जगदानन्ददायिनी दानदायिका। शिवादेव्यभिधा दक्षा दधाना विशदां मतिम् ॥८५॥
अनङ्गेन कृतावासा रतिवेगा रतिप्रदा। आसीद्या सुभगा भूषा धिषणाम्बुधिपारगा ॥८६॥

साथ वहाँ पहुँचा जहाँ कि इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने नेमिनाथ प्रभु के लिए बारह योजन–अड़तालीस कोश की–लम्बी–चौड़ी नगरी रची थी ॥७२–७६॥

कुबेर ने नगरी के चारों ओर चमकते हुए रत्नों का विशाल कोट और कोट में सुन्दर थंभों वाले दरवाजे बनाये थे और उसके चारों ओर खाई खोद दी थी। उस नगरी के भीतर देवताओं ने प्रभु के बन्धु यादव राजाओं के लिए सुन्दर महल बनाये और अन्य जन के लिए मकान वगैरह की रचना की थी। कुबेर ने कहीं तालाब, कहीं बावड़ियाँ और कहीं श्री जैनमन्दिरों की रचना की थी। वह नगरी समुद्र-रूप खाई से बेढ़ी हुई थी और नाना दरवाजों से युक्त थी। इसलिए उसकी द्वारिका नाम से प्रसिद्धि हुई ॥७७–८०॥

वह इन्द्रपुरी के जैसी देख पढ़ती थी। बल्कि वह अपनी संपत्ति से उसको भी नीचा दिखाती थी। वहाँ देवताओं के बनाये हुए महलों में समुद्रविजय आदि यादव राजा कृष्ण सहित आनंद-चैन से रहते थे। वहाँ सुखपूर्वक रहने वाले समुद्रविजय की अपूर्व ही शोभा थी। वह विजेता था, किसी के द्वारा जीता नहीं जाता था, जितेन्द्रिय और मान-मत्सर-रहित था, विशुद्ध था, धर्मबुद्धि था, धीर था, विद्वान् था, देवता-गण द्वारा सेवित था, संतोषी था, धर्म-कर्म में लीन था, समृद्धिशाली था, पृथ्वी का पति था, भोगी और भव्यात्मा था, संसार के शत्रु जिनदेव का पूरा भक्त था, आदर योग्य था, पृथ्वी का पालक था और कान्तिशालियों का भूषण था ॥८१–८४॥

उसकी जाया थी शिवादेवी। वह सारे संसार को आनंद और दान देने वाली थी, चतुरा थी और निर्मल बुद्धि वाली थी। कामदेव ने उसे रति समझ कर अपना आवास बना लिया था। वह रति-प्रदा थी–अपने पति को खूब रमाती थी। वह सुन्दरियों का भूषण थी और ज्ञान-समुद्र के पार पहुँची हुई थी। उसका स्वर तो इतना अच्छा था कि उसके सामने कोयल का स्वर भी अच्छा नहीं मालूम पड़ता था। मानों इसलिए कालेपने को स्वीकार कर विचारी कोयलें वन में जाकर रहने लगी

यस्याः स्वरेण संक्षुब्धाः कोकिलाः खलु भास्वराः। श्यामला वनमाभेजुर्निर्जितानामियं गतिः ॥८७॥
यत्पादपद्ममालोक्य त्रपापन्नानि सज्जलैः। संगं गतानि पद्मानि लज्जया जडसंगमः ॥८८॥
रम्भास्तम्भोपमौ यस्या ऊरू सरसकोमलौ। मदनागारसिद्ध्यर्थं स्तम्भायेते स्म सुस्थिरौ ॥८९॥
गम्भीराभाच्छुभा नाभिर्यस्यास्तु सरसीसमा। सावर्ता केशमीनाङ्का मदनद्विपकेलिभा ॥९०॥
यस्या वक्षसि वक्षोजौ क्ष्माभृताविव दुर्गमौ। कामिनां मारभूपस्य स्थितये दुर्गतां गतौ ॥९१॥
यस्या वदनशुभ्रांशोः शोभां वीक्ष्य विधुन्तुदः। बालच्छलात्समायात इव तद्ग्रहणेच्छया ॥९२॥
स्वर्णाभरणशोभाढ्यौ कर्णौ यस्या विरेजतुः। श्रुतिसंस्कारयोगेन संस्कृतौ श्रुतिसंमदौ ॥९३॥
एवं तौ दम्पती भोगान्भुञ्जानौ प्रविभासुरौ। शर्ममग्नौ वराकारौ रेजतुस्तत्र सद्धिया ॥९४॥
अथैकदा सुधर्मेशो जिनोत्पत्तिं विबुध्य प्राक्। प्राहिणोत्तत्र यक्षेशं षण्मासान् रत्नवृष्टये ॥९५॥
शक्रेण प्रेषितो यक्षो रत्नवृष्टिस्तदालये। षण्मासान्गर्भतः पूर्वं विदधे धर्मधीः स्वयम् ॥९६॥
खात्पतन्ती तदा रेजे रत्नवृष्टिः प्रभासुरा। आयान्ती स्वर्गलक्ष्मीर्वा लक्षितुं जिनमातरम् ॥९७॥

हैं और है भी ठीक कि दूसरों द्वारा जीते गये हुओं की ऐसी ही गति होती है ॥८५-८७॥

उसके चरण-कमलों को देखकर कमलों को इतनी लज्जा हुई कि वे जाकर जल में रहने लग गये। सच है कि लज्जा के मारे ही लोग जड़ों की संगति करते हैं, जैसे कि कमलों ने जड़ (जल) की संगति की है। उसके उरुस्थल केले के थंभों की तरह सरस और कोमल थे। वे ऐसे जान पड़ते थे मानों कामदेव के महल के लिए सुस्थिर खंभे ही बनाये गये हैं। उसकी नाभि बहुत ही गंभीर (गइरी) थी, कान्तियुक्त और सुहावनी थी। वह सरसी (तलइया) की समता करती थी। सरसी में जल होता है, उसमें लावण्यरूप जल था। सरसी में आवर्त होते हैं, वह भी शंख, चक्र आदि चिह्न-रूप आवर्त वाली थी। सरसी में मछलियाँ होती हैं, उसमें भी रोमराजि-रूप मछलियाँ थीं। सरसी हाथियों की केलि से शोभित होती है, वह भी कामदेव-रूप हाथी की केलि से सुशोभित थी। उसके दुर्गम पहाड़ों की तरह कुच थे। वे ऐसे जाने जाते थे कि मानो कामी पुरुषों के काम-भूप को रहने के लिए किले ही बनाये गये हैं। उसका मुख ठीक चन्द्रमा के समान था और उसके ललाट के ऊपरी भाग में सुन्दर बाल बिखरे हुए थे, जान पड़ता था कि उसकी मुखच्छवि को देखकर उसको ग्रसने की इच्छा से राहु ही आ गया है। उसके दोनों कान सोने के भूषणों से विभूषित थे और शास्त्र सुनने से जो संस्कार होता था उसके सम्बन्ध से वे संस्कृत थे। इस तरह वे दम्पती आनंद से सुख भोगते थे और अपनी उत्तम बुद्धि से प्रभासुर हुए अपूर्व शोभा पाते थे ॥८८-९४॥

एक समय सौधर्म इन्द्र ने अवधिज्ञान से जिनदेव के गर्भागमन को जानकर छह महीने पहले से ही रत्नों की बरसा करने के लिए वहाँ कुबेर को भेज दिया। धर्मबुद्धि कुबेर ने भी इन्द्र की आज्ञानुसार प्रभु के गर्भ में आने के छह महीने पहले से जन्म तक-पंद्रह महीने-बराबर रत्नों की बरसा की। आकाश से गिरी हुई उन दिव्य रत्नों की बरसा ऐसी जान पड़ती थी मानों जिन-माता को देखने के लिए स्वर्ग की लक्ष्मी ही आ रही है या यों कहिए कि सारे आकाश को घेर कर पड़ती हुई

सा नभोऽङ्गणमापूर्य पतन्ती रुरुचे तराम्। ज्योतिर्मालेव चायान्ती दिदृक्षुर्जिनमन्दिरम् ॥९८॥
रुद्धं च रत्नसंघातैः शातकुम्भभरैस्तथा। जगुरङ्गणमावीक्ष्य जना धर्मफलं तदा ॥९९॥
अथैकदा शिवादेवी सुषुप्ता शयनोदरे। निशात्यये ददर्शेति स्वप्नान्षोडश संमितान् ॥१००॥
ऐन्द्रं गजेन्द्रमैक्षिष्ट समदं मन्द्रबृंहितम्। गवेन्द्रं सुसुधापिण्डमिव पाण्डुमुद्धुरम् ॥१०१॥
इन्दुच्छायं मृगेन्द्रं सोच्छलन्तं रक्तकन्धरम्। पद्मां स्नाप्यां सुरेभाभ्यां कुम्भाभ्यां पद्मसंस्थिताम् ॥१०२॥
दामनी कुसुमामोदालग्ननानामधुव्रते। ताराधीशं स्ववक्त्राब्जमिव तारासमन्वितम् ॥१०३॥
भास्वन्तं धूतसद्ध्वान्तं स्वर्णकुम्भमिवोद्धुरम्। शातकुम्भमयौ कुम्भौ स्तनकुम्भाविवोन्नतौ ॥१०४॥
नेत्रायतिं झषौ पद्मे दर्शयन्ताविवात्मनः। पद्माकरं सुपद्मोत्थकिञ्जल्कपरिपिञ्जरम् ॥१०५॥
लोलकल्लोललीलाढ्यं जलधिं मन्द्रनिस्वनम्। सिंहासनं समुत्तुङ्गमेरुशृङ्गमिवोन्नतम् ॥१०६॥
पुत्रसूतिगृहाभासं विमानं विपुलश्रियम्। भुजंग भुवनं भूमिमुद्भिद्य निर्गतं शुभम् ॥१०७॥
निधानमिव रत्नानां राशिं शुभभराश्रितम्। धनंजयं प्रतापं वा स्वसूनोर्धूमवर्जितम् ॥१०८॥
गजाकारेण वक्त्राब्जे विशन्तं तं ददर्श सा। स्वप्नान्ते स्वप्नतो बुद्ध्वा विनिद्रनयनाम्बुजा ॥१०९॥

वह रत्नों की बरसा ऐसी शोभती थी मानों जिनमन्दिर को देखने की इच्छा से ज्योतिषी देवताओं की पंक्ति ही आ रही है। रत्नों की बरसा से, भगवान् के महल का आँगन परिपूर्ण हो गया था। उस महल के शिखरों पर सोने के कलश जड़े हुए थे। उसे देखकर लोगों से यही कहते बनता था कि यह सब धर्म का फल है ॥९५-९९॥

एक दिन शिवादेवी शय्या पर सुख की नींद सोई हुई थी। रात का पिछला पहर था। उस समय उसने सोलह स्वप्नों को देखा। वे स्वप्नों ये थे। ऐरावत हाथी, बैल-जो खूब मदोन्मत्त उन्मत्त स्कंध वाला और सुधा के पिंड जैसा सफेद था, चन्द्रमा की छाया के जैसा मृगेन्द्र (सिंह)-जो छलांग मारता हुआ और जिसकी लाल कंधरा थी, लक्ष्मी-जिसका कि कमलयुक्त कुंभों द्वारा दो हाथी अभिषेक कर रहे थे, दो मालायें-जिन पर फूलों की सुगंध से भौंरे आकर गूँजते थे, चाँद-जो तारों से युक्त और शिवादेवी के मुख-कमल के तुल्य था, सूरज-जो अँधेरे को दूर करने वाला और सोने के कलश सरीखा था। सोने के दो कुंभ-जो शिवादेवी के कुच-कुंभों की तरह उन्नत थे, दो मछलियाँ-जो ऐसी मालूम होती थीं कि शिवादेवी के विस्तृत नेत्र ही हैं, पद्माकर-(तालाब) जो कमलों की केसर से पीला हो रहा था और चंचल तरंगों से परिपूर्ण था, समुद्र-जो गंभीर शब्दमय था, सिंहासन-जो ऊँचे सुमेरु पर्वत के शिखर की तरह उन्नत था, विमान-जो पुत्र के प्रसूति-गृह के तुल्य और विपुल श्री का स्थान था, धरणेन्द्र का भवन-जो ऐसा जान पड़ता था मानों पृथ्वी को चीरकर ही बाहर निकला है रत्नों की राशि-जो खजाने-सी जान पड़ती थी और जो किरणों के पूर से भरपूर थी, अग्नि-जो निर्धूम थी और ऐसी मालूम पड़ती थी कि मानो पुत्र का प्रताप ही है। इसके बाद ही उसने एक हाथी को अपने मुँह में प्रवेश करते हुए देखा ॥१००-१०९॥

ध्वनद्भिस्तूर्यसंघातैः प्रत्यबुद्ध ततश्च सा। शृण्वती मङ्गलोद्गीतिं देवस्त्रीणां सुमङ्गला ॥११०॥
मातस्तमो निशाजातमुद्भिद्योदेति भानुमान्। त्वन्मुखेन यथा याति तामसं मानसे स्थितम् ॥१११॥
करान्प्रसारयन्नुच्चैरुदितोऽयं दिवाकरः। जगत्प्रबोधमाधत्ते तव गर्भार्भको यथा ॥११२॥
सुप्रभातं तवास्तूच्चैः कल्याणशतभाग्भव। अर्कं प्राचीव सोषीष्ठाः सुतं भवनभासकम् ॥११३॥
इति श्रुते प्रबुद्धा सा प्राग्बुद्धा स्वप्नदर्शनात्। उत्तस्थे शयनाच्छीघ्रं हंसी वा सैकतस्थलात् ॥११४॥
प्रातर्विधिविधानज्ञा सुस्नाता प्राप्तमङ्गला। पश्यन्ती दर्पणे वक्त्रं संस्कृता वरभूषणैः ॥११५॥
समुद्रविजयाभ्यर्णं तूर्णं गत्वा नता सती। स्वोचितेन नियोगेन स्वोचितं स्थानमासदत् ॥११६॥
प्रफुल्लवदनाम्भोजा करकुड्मलधारिणी। यथादृष्टसुस्वप्नानां फलं पप्रच्छ भूपतिम् ॥११७॥
अभाणीद्भूपतिर्भद्रं भुञ्जानो भुवनेश्वरः। प्रिये प्रीतिंकरे स्वप्नफलं शृणु सुबोधतः ॥११८॥
सूनुस्ते भविता देवि गजदर्शनतो वृषात्। जगज्ज्येष्ठो महावीर्यो मृगारेर्दामवीक्षणात् ॥११९॥
धर्मतीर्थकरो लक्ष्म्याभिषेकं मेरुमस्तके। आप्तासौ पूर्णचन्द्रेण जनाह्लादी च भास्करात् ॥१२०॥

इन स्वप्नों को देखने के बाद ही उसकी निद्रा तो भंग हो ही गई थी कि इसी समय प्रातःकालीन बाजों की और देवांगनाओं द्वारा गाये गये मंगल गीतों की सुंदर ध्वनि उसके कानों में पड़ी। उसे सुनकर मंगलमयी शिवादेवी प्रबुद्ध हुई। उसे प्रबुद्ध देख देवाङ्गनाओं ने उसकी स्तुति करना आरंभ किया कि हे मातः! जिस तरह तुम्हारे मुख की प्रभा से मानसिक अँधेरा (अज्ञान) नष्ट हो जाता है उसी तरह रात के अँधेरे को नष्ट कर यह सूरज उदित हो आया है और तुम्हारे गर्भस्थ बालक की तरह अपनी किरणों को विस्तृत कर संसार को प्रबोध देता है, लोगों को मार्ग सुझाता है ॥११०-११२॥

देवी, तुम सैकड़ों कल्याणों को प्राप्त करो और तुम्हारे लिए यह सुप्रभात शुभ हो। तुम उसी तरह पुत्र को जन्म दोगी जिस तरह कि पूर्व दिशा सूरज को जन्म देती है। तुम्हारा पुत्र तीन लोक को प्रकाशित करेगा। देवांगनाओं के इन मनोहर शब्दों को सुनकर बालू के जैसी स्वच्छ रुई की श्वेत-कोमल शय्या पर से शिवादेवी उठीं। इसके बाद उसने स्नान आदि प्रभात-सम्बंधी सब क्रियाएँ करके और दर्पण में अपना मुँह देखकर वस्त्राभूषण धारण किये और वह सती समुद्रविजय महाराज के पास गई। उन्हें नमस्कार कर वह उनके साथ आधे सिंहासन पर बैठ गई। इस समय उसका मुख कमल के जैसा खिल रहा था। उसने हाथ जोड़कर स्वप्नों का सब हाल महाराज से कहा और उनसे उनका फल पूछा। उत्तर में पुण्यात्मा समुद्रविजय ने कहा कि प्रीति देने वाली प्रिये, तुम ध्यान से इन स्वप्नों का फल सुनो ॥११३-११८॥

पहले स्वप्न में तुमने जो हाथी देखा है उसका यह फल है कि तुम्हारे पुत्र होगा। बैल देखने से वह संसार भर में श्रेष्ठ होगा। सिंह देखने से पराक्रमी, महान् वीर्यशाली होगा। माला देखने से धर्म-तीर्थ का प्रवर्तक होगा। अभिषिक्त होती हुई लक्ष्मी के देखने से उसका सुमेरु के शिखर पर अभिषेक होगा। पूर्ण चाँद देखने से वह संसार को आल्हादित करेगा। सूरज देखने से दीप्तिशाली, भासुर होगा। कुंभ देखने से निधियों का भोक्ता और मछलियों देखने से सुखी होगा। तालाब देखने

भास्वरः कुम्भतः प्रोक्तो निधीनामीशिता सुखी। सरसा लक्षणाकीर्णोऽब्धिना स केवलेक्षणः ॥१२१॥
सिंहासनेन साम्राज्यं भोक्ता नाकविमानतः। नाकादस्यावतारः स्यात्फणीन्द्रभवनेक्षणात् ॥१२२॥
सोऽवधिज्ञाननेत्राढ्यो रत्नराशेर्गुणाकरः। निर्धूमज्वलनालोकात्कर्मकक्षहुताशनः ॥१२३॥
गजाकारं समादाय त्वद्गर्भेऽवतरिष्यति। सोऽरिष्टनेमिसन्नामा धर्मसद्रथवर्तनात् ॥१२४॥
श्रुत्वा सा प्रमदापूर्णा फलं स्वप्नसमुद्भवम्। हर्षोत्कर्षितचेतस्का दधौ रोमाञ्चितं वपुः ॥१२५॥
कार्तिकोज्वलपक्षस्य षष्ठ्यां चाथ निशात्यये। उत्तराषाढनक्षत्रे तद्गर्भे संस्थितिं व्यधात् ॥१२६॥
तदा ज्ञात्वा सुराः सर्वे स्वस्य चिह्नेन सत्वरम्। आगत्य गर्भकल्याणं कृत्वागुः स्वं स्वमास्पदम् ॥१२७॥
श्रीः श्रियं ह्रीस्त्रपां धैर्यं धृतिः कीर्तिः स्तुतिं मतिम्। बुद्धिर्लक्ष्मीश्च सौभाग्यं दधुस्तस्यामिमान्गुणान् ॥१२८॥
काश्चिन्मज्जनकरिण्यः काश्चित्ताम्बूलदायिकाः। मङ्गलं कुर्वते काश्चित्काश्चित्संस्कारसाधिकाः ॥१२९॥
काश्चिन्महानसे पाकं कुर्वते रचयन्त्यपि। शय्यामुच्छीर्षवस्त्राढ्यां पादसंवाहनं पराः ॥१३०॥
काश्चित्सिंहासनं चारु चक्कलाकलितं दधुः। काश्चित्सुगन्धद्रव्याणि पुरन्ध्र्य इव वै ददुः ॥१३१॥
काश्चिदाभरणोद्भासिकरास्तस्याः पुरः स्थिताः। कल्पवल्ल्य इवाभान्ति भाभारवरभूषणाः ॥१३२॥

से नाना लक्षणों वाला और समुद्र देखने से केवलज्ञानी होगा। सिंहासन देखने से साम्राज्य का भोक्ता होगा। विमान देखने से वह स्वर्ग से आएगा। धरणेन्द्र का भवन देखने से अवधिज्ञान का धारक होगा। रत्नराशि देखने से गुणी का आकर होगा और निर्धूम आग देखने से वह कर्मों को जलाने के लिए आग के तुल्य होगा। वह हाथी के आकार को लेकर तुम्हारे गर्भ में आवेगा और धर्म-रूपी समीचीन रथ को प्रवर्ताने के कारण उसका अरिष्ठनेमि नाम होगा ॥११९-१२४॥

इस प्रकार स्वप्नों का फल सुनकर शिवादेवी बहुत हर्षित हुई। उसके रोमाञ्च हो आये। हर्ष से उसका चित्त गद्गद हो गया। इसके बाद कार्तिक सुदी छट के दिन, पिछली रात में, उत्तराषाढ़ नक्षत्र में, शिवादेवी ने गर्भ धारण किया। उस समय प्रभु को गर्भ में आया जान कर अपने-अपने चिह्न सहित देवता गण आये और गर्भकल्याणक का उत्सव करके अपने-अपने स्थान को चले गये। प्रभु जब से गर्भ में आये तभी से लेकर इन्द्र की आज्ञा से छप्पन दिक्कुमारियाँ उनकी माता की सेवा करती थीं। वे गर्भ-समय के योग्य क्रियाओं द्वारा सेवा करने में बहुत ही दक्ष थीं। श्रीदेवी ने प्रभु की माता को श्री दी और ह्री देवी ने त्रपा (लाज) दी। धृति देवी ने धैर्य दिया और कीर्ति देवी ने कीर्ति दी एवं बुद्धि देवी ने बुद्धि दी और लक्ष्मी देवी ने सौभाग्य दिया। सारांश यह कि उक्त छह देवियों ने प्रभु की माता को उक्त छह गुण दिये ॥१२५-१२८॥

इनके सिवाय कोई शिवादेवी की आँखों में अंजन आँजती थी, कोई पान लगा कर देती थी, कोई मंगलगीत गाती थी, कोई उसके शरीर का संस्कार करती थी, कोई रसोई बनाती थी, कोई कोमल वस्त्रों की शय्या बिछाती थी, कोई उसके पाँव दबाती थी, कोई उसके बैठने के लिए मनोहर सिंहासन पर गद्दी तकिया वगैरह डालती थी, कोई पुरंध्री की तरह सुगन्ध द्रव्य चन्दन, कर्पूर वगैरह का लेप करती थी, कोई उसके आभूषणों को लिए खड़ी हुई ऐसी मालूम पड़ती थी मानों दीप्ति के

काश्चिद्वासांसि क्षौमाणि प्रसूनस्तबकावहाः। माला रेजुर्ददत्योऽत्र व्रतत्य इव विस्तृताः ॥१३३॥
उत्खातासिकराः काश्चिदङ्गरक्षाविधौ यताः। तदभ्यर्णे स्थिता रेजुश्चञ्चला इव खस्थिताः ॥१३४॥
चन्दनच्छटयाच्छन्नमच्छिन्नमणिभूतलम्। काश्चित्कुर्वन्ति कम्राङ्गाश्चन्दनागलता इव ॥१३५॥
पुष्पस्वस्तिकमाभेजुः सुभुजैर्भोगदायिकाः। काश्चिद्धरां सुशोधिन्या शुद्धां कुर्वन्ति कोविदाः ॥१३६॥
काश्चित्पक्वान्नसंपन्नमोदकौदनपायसम्। पूपाश्च मण्डकाखण्डखज्जकामृतशर्कराः ॥१३७॥
सूपशाल्यन्नमुद्गान्नं नानाव्यञ्जनसंयुतम्। दधीनि पिच्छिलान्याशु शुद्धदुग्धानि सद्रसान् ॥१३८॥
प्राज्यमाज्यं करम्बं च कर्पूरलवणान्वितम्। शक्रस्य दुर्लभं तक्रं ददते मातृभुक्तये ॥१३९॥
पादप्रक्षालनं काञ्चित्काश्चिदादर्शकं ददुः। वक्त्रेक्षणाय चान्द्रं वा बिम्बमिद्धं धरागतम् ॥१४०॥
पुष्पमालां करे कृत्वा मातुरग्रे स्थिता बभुः। काश्चिच्छाखिसुशाखा वा सेवां कर्तुमिहागताः ॥१४१॥
मुकुटं कुण्डले काश्चित्काश्चिद्धारलतां शुभाम्। ददते कण्ठिकां काश्चिच्छाखा वा कल्पशाखिनः ॥१४२॥
पुष्परेणुसमाकीर्णां क्षरन्मुक्ताफलाविलाम्। महीं मार्जन्ति काश्चिच्च स्वर्णरेणुसुसंकराम् ॥१४३॥
पटुघोण्टाफलाखण्डखण्डान्येलालवङ्गकैः। नागवल्लीदलान्यन्या ददुर्नागलता इव ॥१४४॥

पूर से विभूषित कल्पलता उसे भूषण ही दे रही है, कोई उसे रेशमी वस्त्र देती थी, कोई फूलों की गूँथी हुई मालाएँ देती हुई बेल-सी जान पड़ती थी, कोई तलवार उठाये हुए प्रभु की माता के शरीर की रक्षा के लिए उसके पास पहरा देती थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानों बिजली ही है, कोई चन्दन के जल से मणिजड़ित भूतल को सींचती हुई ऐसी शोभती थी मानों चंदन वृक्ष की लता ही है, कोई भोग्य-वस्तुओं को देने वाली फूलों के चौक पूरती थी, कोई पृथ्वी को सोधने वाली भूमि को साफ करती थी-झाड़ती-बुहारती थी, कोई प्रभु की माता को खाने के लिए अच्छे-अच्छे सब प्रकार के पकवान मोदक, व्यंजन आदि देती, कोई उसके पाँव धोती थी, कोई मुँह देखने के लिए पृथ्वीतल पर आये हुए चन्द्रमा के जैसा उसे दर्पण देती थी, कोई हाथ में पुष्पों की माला लेकर प्रभु की माता के आगे खड़ी हुई ऐसी शोभती थी मानों उसकी सेवा करने को यहाँ किसी वृक्ष की शाखा ही आ गई है, कोई उसे मुकुट और कोई कुण्डल पहनाती थी, कोई उसके कण्ठ में हार पहनाती हुई कल्पवृक्ष की शाखा जैसी शोभती थी, कोई पुष्पों की धूल (केसर) से भरपूर अतएव सोने की धूल से धूसरित जैसी और जिस पर इधर-उधर मोती बिखर रहे हैं ऐसी पृथ्वी को साफ करती थी, कोई सुपारी, इलायची, लोंग आदि से सुसज्जित पान देती थी-वह ऐसी जान पड़ती थी मानों नागबेल ही है, कोई स्वर्ग की गणिका उत्तम हाव-भावों को दिखाती हुई उसके सामने नृत्य करती थी, कोई उसके मन को आनन्दित करती थी, कोई मनोहर कामधेनु का रूप धर कर प्रभु की माता को उत्तम-उत्तम वस्तु देती थी, कोई माता की प्रीतिपात्र बनी हुई सुशोभित होती थी, कोई उसके शरीर की रक्षा करती थी, कोई उसके हाथ से वस्तु लेती थी, कोई उसके मन को पुष्ट करती-बढ़ाती थी, कोई उत्तम-उत्तम वार्तालाप द्वारा उसके साथ विचार करती थी, कोई उसके मल को स्वच्छ करती थी, कोई उसके मोहभाव को उत्तेजना देती थी, कोई चोर आदि के भय से उसकी आत्मा को छुड़ाती थी,

नर्नर्ति नाकगणिका वरहावभावा वर्वर्ति मातृहृदयानुगता च काचित्।
संबोभवीति कमनीयसुकामधेनुः संजोहवीति वरकामगुणं च काचित् ॥१४५॥
बाभायते मातृमता च काचित्पापायते मातृतनुं च काचित्।
लालायते मातृकराच्च वस्तु दाधायते मातृमनश्च काचित् ॥१४६॥
मीमांसतेताममरी सुदाम्ना दीदांसतेऽन्या च मलं सुमातुः।
शीशांसते मोहभरं च काचिद्बीभत्सते दस्युदरं च काचित् ॥१४७॥
दीप्रैः सुदीपैः सुरकामिनी च काचित्सुभक्तिं निशि जैनमातुः।
चर्कर्ति काचिद्वरवस्त्रदत्तिं शक्राज्ञया नाकवधूः समस्ता ॥१४८॥
नररूपं समादाय नर्नर्ति सुरनर्तकी। तच्चेष्टितं प्रकुर्वाणा हासयन्त्यखिलाञ्जनान् ॥१४९॥
कदाचिज्जललीलाभिः कदाचिद्वरनर्तनैः। रमयन्ति स्म तां देव्यः सेवासक्तसुमानसाः ॥१५०॥
गीतगोष्ठीं गता माता देव्या साकं रसान्विता। कदाचिद्विविधा वार्ता विदधे शुद्धमानसा ॥१५१॥
दिक्कुमारीसमं राज्ञी कालमित्थं निनाय च। सा बभार परां कान्तिं कला चान्द्रमसी यथा ॥१५२॥
अभ्यर्णे नवमे मासेऽन्तर्वत्नीमथ सद्रसैः। देव्यस्तां रमयामासुर्गद्यपद्यैर्वराक्षरैः ॥१५३॥
पुष्पावगुण्ठिता का स्यात्का शरीरपिधायिका। का देहदाहिका देवि वदाद्याक्षरतः पृथक् ॥१५४॥

कोई रात के समय दैदीप्यमान दीपकों द्वारा उसकी भक्ति करती थी और कोई सुन्दर-सुंदर वस्त्र प्रदान करती थी। तात्पर्य यह कि इन्द्र की आज्ञा से सब देव-कन्याएँ जिनमाता की नाना भाँति से सेवा-शुश्रूषा करती थीं ॥१२९-१४८॥

इसी प्रकार कुछ देवियाँ मनुष्यनी का रूप धरकर वहाँ आती और नाना तरह के हाव-भाव विलास के साथ नृत्यकर सब, जनों को हँसाती और आनंद में मग्न कर देती थीं। देवियाँ जिनमाता की सेवा में इतनी लवलीन थीं कि वे जिस तरह बनता उसके चित्त को सदा ही खुश रखती थीं। वे कभी,जल-लीला से और कभी नृत्य के हास-विनोद से प्रभु की माता के दिल की रमाती थीं और शुद्ध मन वाली जिनमाता भी उनकी गीत-गोष्ठी में जाकर उन देवियों के साथ नाना तरह की रस भरी बातें करती थी। शिवादेवी ने इस तरह से दिक्कुमारियों के साथ बहुत-सा काल बिताया। इस समय वह अपनी कान्ति से चन्द्रमा की कला के जैसी सुशोभित होती थी ॥१४९-१५२॥

इसी प्रकार आनंद-चैन से धीरे-धीरे आठ महीने बीतकर नौवाँ महीना लग गया। इस समय वे देवियाँ गर्भिणी जिनमाता को रस-पूर्ण और उत्तम रचना वाले गद्य-पद्य सुनाती थी और उसका चित्त प्रसन्न करती थीं। इसके सिवाय वे प्रभु की माता से गूढ़ अर्थ वाले प्रश्न पूछती थीं और जिनमाता उनका उत्तर करती थी। किसी ने पूछा कि हे माता!

पुष्पावगुंठिता का स्यात्का शरीरपिधायिका। का देहदाहिका देवि, वढ़ाद्याक्षरत पृथक्॥ १॥

अर्थात्-पुष्पों से गूँथी गई क्या चीज होती है ? शरीर को कौन ढँकता है ? और शरीर को क्षीण कौन करता है ? इन तीन प्रश्नों के ऐसे उत्तर दीजिए। जिनका पहला अक्षर ही केवल दूसरा-दूसरा हो ॥१५३-१५४॥

उत्तर में माता ने कहा-स्रक् (माला) त्वक् (खाल), रुक् (रोग)। किसी ने पूछा-

स्त्रक्, त्वक्, रुक्।

कः संसारासुखच्छेदी कोऽपादो भ्राम्यति स्वयम्। को दत्ते जनतातोषं पठाद्याक्षरतः पृथक् ॥१५५॥

जिनः, स्वनः, घनः।

आद्यन्तरहितः कोऽत्र कः कीलालसमन्वितः। वक्त्रादुत्पद्यते कोऽत्र कथयाद्याक्षरैः पृथक् ॥१५६॥

संसारः, कासारः, व्याहारः।

नरार्थवाचकः कोऽत्र कः सामान्यप्ररूपकः। का व्रते प्रथमा ख्याता कीदृशी त्वं भविष्यसि ॥१५७॥

ना, को, दया। नाकोदया।

सुखप्ररूपकं किं स्यात्का भाषा च कृपातिगा। भुजप्ररूपकः कः स्यात्कः सेव्यो जनसत्तमैः ॥१५८॥

संसारासुखछेदी कोऽपादो भ्राम्यति स्वयम्। को दत्ते जनतातोषं, पठाद्यव्यंजनै पृथक् ॥२॥

अर्थात्-सांसारिक दुखों की दूर कौन करता है ? पैरों बिना कौन चलता है ? और लोगों को संतोष कौन देता है ? इन प्रश्नों के ऐसे उत्तर कीजिए जिनका आदि व्यंजन ही केवल दूसरा-दूसरा हो ॥१५५॥

उत्तर में माता ने कहा-जिन (अर्हन्त), स्वन (शब्द), घन (मेघ)। किसी ने पूछा अच्छा माता

आद्यंतरहितः कोऽत्र, कः कीलालसमन्वितः। वक्त्रादुत्पद्यते कोऽत्र, कथयाद्यक्षरैः पृथक् ॥३॥

अर्थात्-इस लोक में आदि-अन्त रहित कौन है ? जल-युक्त क्या होता है ? और मुँह से क्या उत्पन्न होता है ? इन प्रश्नों के ऐसे जबाब दीजिए जिनके पहले के अक्षर ही दूसरे-दूसरे हों ॥१५६॥

उत्तर में माता बोली-संसार, कासार (तालाब) और व्याहार (वचन)। किसी ने पूछा-

नरार्थवाचक कोऽत्र, कः सामान्यप्ररूपकः। का व्रते प्रथमे ख्याता, कीदृशी त्वं भविष्यसि ॥४॥

अर्थात्-नर-पुरुष अर्थ का वाचक कौन है ? सामान्य को कहने वाला कौन है ? पहले व्रत में क्या माना गया है ? और तुम कैसी होओगी? ॥१५७॥

उत्तर में माता ने कहा-ना (नृ शब्द), क, दया और नाकोदया (स्वर्ग से चय कर आये हुए पुत्रवाली)। तात्पर्य यह कि 'नृ' शब्द की प्रथमा विभक्ति का एक वचन 'ना' और 'क' शब्द का 'कः' दोनों एकत्र लिखने से हुआ 'नाकः'। फिर दया शब्द का 'द' आगे होने से 'क' के आगे वाले विसर्ग का हो गया 'ओ' तब अन्त के प्रश्न का उत्तर 'नाकोदया' हो गया। किसी ने पूछा-

सुखप्ररूपकं किं स्या-त्का भाषा च कृपातिगा। भुजप्ररूपकः कः स्या-त्कः सेव्यो जनसत्तमैः॥५॥

अर्थात्-सुख का प्ररूपक कौन है ? कृपा-विहीन कौन-सी भाषा होती है ? भुजाओं को कहने वाला कौन है ? उत्तम पुरुष किस की सेवा करते हैं ? ॥१५८॥

माता ने उत्तर दया-शम्, अदया (जो दया बिना बोली जाती है), कर और शमदयाकर (समताभाव और दया का आकर)। किसी ने पूछा-

वित्तप्ररूपकं किं स्या-त्पदं संग्रामतः खलु। कः स्यात्संग्रामशूराणां कः स्यादर्जुनपाण्डवः ॥६॥

अर्थात्-वित्त को कहने वाला कौन-सा शब्द है? योधाओं को युद्ध से कौन-सा पद मिलता है

शम्, अदया, करः, शमदयाकरः।

वित्तप्ररूपकं किं स्यात्पदं संग्रामतः खलु। कः स्यात्संग्रामशूराणां कः स्यादर्जुनपाण्डवः ॥१५९॥

धनं, जयः, धनंजयः।

पानार्थेऽपि च को धातू रक्षणार्थेऽपि को मतः। कः सामान्यपदाभ्यासी कृशानुः कोऽभिधीयते ॥१६०॥

आद्याक्षरं विना पक्षी कः को मध्याक्षरं विना। भुक्त्यर्हः कोऽन्त्यमुन्मुच्य संबुद्धिः पानरक्षणे ॥१६१॥

पा, अव, कः, पावकः, बकः, पाकः, पाव।

वसुसंख्या तु काप्त्यर्थधातुरूपं च किं लिटि। किं कलत्रं सुवर्णं किं कैलासं च वदाशु भोः ॥१६२॥

अष्ट, आप, टाप, अष्टापदं, अष्टापदः।

किं निश्चयपदं लोके कस्तिरश्चां लघुर्वद। शुभः को मोक्षसिद्ध्यर्थं को भवेत्सर्वदाहकः ॥१६३॥

? और अर्जुन को क्या कहते हैं ? ॥१५९॥

माता बोली–धन, जय और धनंजय। किसी देवी ने पूछा–

पानार्थे पिब को धातू-रक्षणार्थेऽपि को मतः। कः सामान्यपक्षभ्यासी, कृशानुः कोऽभिधीयते॥७॥

आद्यक्षरं विना पक्षी कः को मध्याक्षरं विना। भुक्त्यर्हः कोन्त्यमुन्मुच्य सम्बुद्धिः पानरक्षणे॥८॥

अर्थात्–पीने अर्थ में जिसका कि लोट के मध्यपुरुष के एक वचन में पिब रूप होता है, कौन-सी धातु है? तथा रक्षण अर्थ में कौन धातु है? और सामान्य पद को कहने वाला कौन है ? तथा कृशानु किसे कहते हैं ? इन प्रश्नों के ऐसे उत्तर दीजिए जिनका मिला हुआ पद पहले अक्षर के बिना पक्षी का कहने वाला हो, बीच के अक्षर बिना भोग्य पदार्थ को कहने वाला हो और अन्त के अक्षर को छोड़ देने से वही पीने और रक्षण अर्थ में जो धातुएँ हैं उनसे निष्पन्न शब्दों का सम्बोधन का रूप हो जाय ॥१६०-१६१॥

उत्तर–पा, अव, क, पावक, बक (बगुला), पाक, प, अव। किसी ने पूछा–

वसुसंख्या तु काण्त्यर्थधातुरूपं च किं लिटि। किं कलत्रं सुवर्णं किं कं कैलासं वदाशु भोः ॥९॥

अर्थात्–वसु को कहने वाली संख्या कौन है ? प्राप्ति-अर्थ वाली धातु का लिट् में क्या रूप होता है ? स्त्रीलिंग का बोधक कौन है ? सोना और कैलाश किसे कहते हैं ? ॥१६२॥

माता ने उत्तर दिया–अष्ट, आप, टाप, अष्टापद, अष्टापद। किसी ने कहा–

किं निश्चयपदं लोके कस्तिरञ्चां लघुर्वद। शुभः को मोक्षसिद्ध्यर्थ को भवेत् सर्वदाहकः ॥१०॥

अर्थात्–निश्चयवाचक पद कौन है ? तिर्यञ्चों में छोटा कौन है ? मोक्ष सिद्धि के लिए उपयुक्त कौन है? और सबको जलाने वाली क्या चीज होती है ? ॥१६३॥

उत्तर में माता ने कहा–वै, श्वा (कुत्ता), नर (मनुष्य), वैश्वानर (आग)।

किसी ने पूछा–

कृष्णसंबोधनं किं स्या-त्किं पदं व्यक्तवाचकम्। के गर्वाः को विधीयेत वादिभिर्निगमश्च कः ॥१॥

प्रसिद्धोऽथ भुजगेशाहं,-कारवादकस्तु कः।

वै, श्वा, नरः, वैश्वानरः।

कृष्णसंबोधनं किं स्यात्किं पदं व्यक्तवाचकम्। के गर्वाः को विधीयेत वादिभिर्निगमश्च कः।
प्रसिद्धोऽथ भुजंगेशोऽहंकारवादकस्तु कः ॥१६४॥

अ, हि, मदा, वादः, अहिमदाबादः, अहिः, मदाः।

इष्टानिष्टं दहेत्सर्वं देवो दाहकरस्तथा। अन्धकृद्धृततेजस्कः स भाति भूधरोदरे ॥१६५॥

देवपदादेकारच्युतकम्। दवः

रम्यं काय फलं मातः सर्वेषां तोषदायकम्। जिनचक्रिबलादीनां पदस्य सकलोन्नतेः ॥१६६॥

क्रियागुप्तम्। कायेति क्रिया कथयेत्यर्थः।

अम्बास्य विपुलं सर्वमेनोवृन्दं जनोद्भवम्। त्वं भवसारनीरेशं विधुंतुदसमं शुभे ॥१६७॥

क्रियागुप्तम्। अस्य खण्डयेत्यर्थः।

जयं देवि जगन्नाथ पुत्रहेतो शुभानने। जगत्त्रयवधूरूपसीमे कोकिलनिःस्वने ॥१६८॥

अर्थात्–कृष्ण का सम्बोधन क्या होता है ? व्यक्त को कहने वाला पद कौन–सा है? गर्व कौन से हैं ? वादी लोग क्या करते हैं ? प्रसिद्ध निगम (गाँव) कौन–सा है ? भुजगेश और अहंकार को कहने वाले कौन से शब्द हैं ? ॥१६४॥

माता ने उत्तर दिया–अ, हि, मदा (आठ मद), वाद, अहिमदाबाद, अहि, मद।

इष्टानिष्टं दहेत्सर्वं देवो दाहकरस्तथा। अन्धकृद्धृततेजस्कः स भाति भूधरोदरे॥

अर्थ–देव इष्टानिष्ट सबको जलाता है तथा सबको दाह उत्पन्न करता है। उसने तेज धारण किया, वह लोगों को अंधा बनाता है और पर्वत के उदर में चमकने लगता है। माता ने कहा देव के स्थान पर दव होना चाहिए। दव का अर्थ अग्नि है जो इष्टानिष्ट को जलाता है ॥१६५॥

इनके सिवाय देवियाँ और भी क्रियागुप्त आदि के प्रश्न करती थीं और माता उनका उत्तर देती थी, एक ने पूछा कि–

रम्यं काय फलं मातः सर्वेषां तोषदायकं। जिनचक्रिबलादीनां पदस्य सकलोन्नतेः॥ १॥

अर्थात्–जिन, चक्रवर्ती, बलभद्र आदि सबको पूर्ण उन्नति के पद का सन्तोष देने वाला रमणीय फल क्या है, सो कहो ॥१६६॥

माता ने उत्तर दिया, अमृत–मोक्ष।

इनमें कोई माता से विन्ती करती थी कि माता, तुम लोगों के पाप–समूह को दूर करो। वह उन्हें बहुत दुख देता है और उनकी आत्मा को चन्द्रमा को ग्रसने वाले राहु की भाँति ग्रसता है। कोई माता का जय–जयकार बोलती थी कि सुहावने मुँह वाली माता, तुम्हारी जय हो, देव और जगत् के स्वामी पुत्र को पैदा करने वाली, तीन लोक की सारी स्त्रियों के रूप की सीमा तथा कोयल के जैसे कंठ वाली हे माता, तुम जयवन्त रहो ॥१६७–१६८॥

बिन्दुरहितम्।

एवमुत्तरपद्यानि ताभिर्गूढार्थकानि च। प्रयुक्तानि तया शीघ्रं कथितानि विशेषतः ॥१६९॥
बुद्धिः स्वाभाविकी तस्या नानाप्रश्नोत्तरक्षमा। भ्रूणेनालकृता रेजे मणिना हारयष्टिवत् ॥१७०॥
बभार गर्भजं तेजो निसर्गरुचिञ्जिता। राज्ञी रत्नमयं धाम भूर्यथाकरगोचरा ॥१७१॥
पीडा च गर्भजा तस्या नाभूत्स्वप्नेऽपि दुर्वहा। वह्निकान्तिरिवादर्शे प्रतिबिम्बाकृतिं गता ॥१७२॥
मा भूद्भङ्गस्त्रिवल्याश्चोदरे ऽस्याः पूर्ववत्स्थितेः। न कृष्णत्वं कुचद्वन्द्वचूचके हंसवद्गतेः ॥१७३॥
न पाण्डु वदनं जातं तस्या आलस्यसंततिः। ववृधे चार्भको गर्भे तथापि सुखकारकः ॥१७४॥
अथैवं नवमासेषु गतेषु सुषुवे सुतम्। श्रावणे शुक्लपक्षे सा षष्ठ्यां चित्रागते विधौ ॥१७५॥
देवी देवीभिरुक्ताभिः सेविता सुतमाप सा। पद्मबन्धुं यथा प्राची नलिनं नलिनीव च ॥१७६॥
त्रिभिर्बोधैः समायुक्तः शिशू रेजे शुभैर्गुणैः। मन्दं मन्दं ववौ वायुस्तदा सद्गन्धबन्धुरः ॥१७७॥
संमार्जितरजोराजिर्भूरादर्शसमा बभौ। विकसन्नवनीरेजरोमाञ्चान्वितविग्रहा ॥१७८॥
देवानामासनान्युच्चैरकस्मात्प्रचकम्पिरे। तदा शिरांसि जिष्णूनां धुन्वन्मौलिमणीन्यभुः ॥१७९॥
कल्पे घण्टाघनारावः सैंहशब्दश्च ज्योतिषि। भेरीध्वनिरभूद्वाने भवने शङ्खनिस्वनः ॥१८०॥

इस प्रकार देवियों ने जिनमाता से गूढ़ अर्थ वाले बहुत से प्रश्न किये और माता ने उनका अति शीघ्र और उचित उत्तर किया। उसकी बुद्धि स्वभाव से ही नाना प्रश्नों के उत्तर करने को समर्थ थी। वह प्रभु को गर्भ में लिये ऐसी शोभती थी जैसी कि मणियों के द्वारा हारलता शोभती है। स्वभाव से ही तेजशाली उसके शरीर की शोभा गर्भ के तेज से और भी बढ़ गई थी, जैसे कि स्वभाव से कान्तिमय खान की शोभा रत्नों की कान्ति से और भी बढ़ जाती है। गर्भ के निमित्त से उसे कभी स्वप्न में भी कोई दुर्बह पीड़ा न हुई। ठीक ही है कि क्या मनोहर दर्पण में पड़ा हुआ आग का प्रतिबिम्ब उसे जला सकता है ? उसका गर्भ दुर्बह नहीं हुआ था। न उसकी त्रिवली का भंग हुआ था और न उसके कुचों के चूचक काले पड़े थे, न उसका मुँह पीला हुआ था और न उसे आलस ही आता था। उसकी हंस के जैसी पहले गति थी वैसी ही अब थी, उसमें कुछ भी फर्क नहीं हुआ था। तात्पर्य यह कि दुख की बात तो दूर रही, पर ज्यों-ज्यों उसका गर्भ बढ़ता जाता था त्यों-त्यों वह उसके लिए सुखकर होता जाता था ॥१६९-१७४॥

इस प्रकार धीरे-धीरे आनंद-चैन से जब नौ महीना पूरे हो गये तब सावन सुदी छट के दिन, चित्रा नक्षत्र में, उस महादेवी शिवादेवी ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया, जैसे पूर्वदिशा सूरज को जन्म देती है। पुत्र जन्म से ही तीन ज्ञान का धारक था और गुणों का पुंज था। प्रभु के जन्म-समय मंद-मंद सुगन्धित वायु चल रही थी। पृथ्वी धूल-रहित दर्पण की तरह निर्मल हो गई थी। खिले हुए नील कमल उसके रोमाञ्च के जैसे जान पड़ते थे। भगवान् का जन्म होते ही एकाएक देवताओं के आसन कंपित हो उठे। उनके मुकुट अपने आप नम गये एवं बिना बजाये ही कल्पवासियों के यहाँ घंटों का नाद, ज्योतिषियों के यहाँ सिंह-नाद, व्यन्तरों के यहाँ दुंदुभियों का शब्द और भवनवासियों के यहाँ

तदुत्पन्नं तदा सर्वे श्रुत्वा चाकस्मिकं ध्वनिम्। विज्ञाय जन्म देवस्य बभूवुर्हर्षिताननाः ॥१८१॥
ततोऽपीन्द्राज्ञया सुज्ञा निर्ययुर्निजधामतः। स्वस्वासनसमासक्ताः ससुरासुरनायकाः ॥१८२॥
वियतस्तेऽवतीर्याशु तत्पुरं सपुरंदराः। सुराः प्रापुः प्रमोदेन कुर्वन्तो भूमिमेजयम् ॥१८३॥
शक्राज्ञया शुची शुद्धा प्राविशत्प्रसवालयम्। ततोऽदर्शि तया माता सुतेन सममञ्जसा ॥१८४॥
जिनस्य जननीं गूढा त्रिः परीत्यानमच्छची। तस्थौ मातुः पुरो देशे पश्यन्ती परमं जिनम् ॥१८५॥
कराभ्यां तं समादाय मुक्त्वा मायामयार्भकम्। शची पुरंदराभ्यर्णं जगाम सुसुरीस्तुता ॥१८६॥
पुरंदरकरे प्रीता ददौ दीप्ता सुनन्दनम्। तमर्भकं समादाय सोऽपि मेरुमुपस्थितः ॥१८७॥
मेरौ च पाण्डुकेऽरण्ये पाण्डुकायां सुरोत्तमाः। शिलायां स्थापयामासुः सिंहपीठे जिनार्भकम् ॥१८८॥
शातकुम्भमयैः कुम्भैः क्षीराब्धिसुपयोभृतैः। अष्टाधिकसहस्रैश्चास्नापयत्तं सुरोत्तमः ॥१८९॥
गन्धोदकेन संबन्ध्य बन्धुरं श्रीजिनोत्तमम्। संबध्नन्तः स्वयं पूताः सुरास्तेनाभवन्मुदा ॥१९०॥
शची संस्कारयोगेन संस्कृत्य तं जिनेश्वरम्। तद्रूपसंपदं तृप्ता पश्यन्ती नाभवत्तदा ॥१९१॥
शक्रस्संस्तोतुमुद्युक्तस्तं शचीसंगतः शुभम्। निःस्वेदास्पदनैर्मल्यविपुलक्षीरशोणित ॥१९२॥
आद्यसंस्थानसंस्थात आद्यसंहननोत्तम। सौरूप्यपरिपूर्णाङ्ग सौरभ्यभरभूषित ॥१९३॥

शंख-नाद होने लगा। जिसका सुनकर उन्होंने प्रभु के जन्म का निश्चय किया और वे बड़े भारी हर्षित हुए ॥१७५-१८१॥

इसके बाद इन्द्र की आज्ञा से सब देवगण इन्द्र के साथ-साथ अपने-अपने वाहनों पर सवार होकर स्वर्ग से आकाश-मार्ग द्वारा पृथ्वीतल पर उतर कर द्वारिका में आये। इस समय उनके आनंद का कुछ पार न था। वहाँ आकर इन्द्र की आज्ञा से गुप्त भेष में इन्द्राणी प्रसूति-गृह में गई और वहाँ प्रभु-सहित शिवादेवी को देखकर उसने उन्हें नमस्कार किया। इसके बाद वह प्रभु को सतृष्ण लोचनों से निरखती हुई जिन-जननी के सामने खड़ी हो गई और जिनमाता के पास एक मायामयी बालक को सुलाकर उसने प्रभु को गोद में उठा लिया और उन्हें वह बाहर इन्द्र के पास ले आई ॥१८२-१८६॥

प्रभु को लाकर उसने बड़ी भारी भक्ति और प्रीति से इन्द्र की गोद में दे दिया। इन्द्र प्रभु को गोद में ले सुमेरु पर्वत पर ले गया। वहाँ उसने पाण्डुकवन की पाण्डुकशिला पर जो अनादि से एक सिंहासन के जैसी है, विराजमान कर क्षीरसागर के जल से भरे हुए सोने के एक हजार आठ कलशों द्वारा प्रभु का अभिषेक किया। अभिषेक के बाद प्रभु के गंधोदक को अपने-अपने मस्तक पर चढ़ा सब देव-गण पवित्र हुए। उन्होंने प्रभु के स्नान के जल से अपने कर्म कलंक को बहा दिया। अनन्तर इन्द्राणी ने प्रभु के शरीर को पोंछ कर उन्हें दिव्य वस्त्र और आभूषण पहिनाये। इस समय प्रभु के शरीर का सौंदर्य इतना बढ़ गया था कि इन्द्राणी उसको देखकर तृप्त ही नहीं होती थी ॥१८७-१९१॥

इसके बाद इन्द्राणी के साथ इन्द्र ने प्रभु की स्तुति करना आरंभ की कि प्रभो, आप स्वेद-रहित हैं, मल-रहित निर्मल हैं, विपुल हैं, आपका रुधिर दूध के जैसा सफेद है, आपका पहला संस्थान

अष्टाधिकसहस्रेण लक्षणेन सुलक्षित। उपमातीतवीर्येश हितप्रियवच:पते ॥१९४॥
दशातिशययुक्ताय ते नमोऽस्तु शिवात्मज। अरिष्टचक्रनेमीशे श्रेयोरथसुनेमये ॥१९५॥
स्तुत्वेति ताण्डवं कृत्वा मघवा साघविघ्नहृत्। सुरौघैरङ्कमारोप्य तमागान्नगरीं प्रति ॥१९६॥
पितृभ्यां मघवा दत्त्वा देवदेवं जगन्नुतम्। नटित्वा नटवन्निन्ये निर्मलं भोगसंपदम् ॥१९७॥
नियोज्य सुरसंघातान् रक्षणे दक्षिणोऽप्यगात्। नेमिस्तु नम्रनाकीशसेवितो ववृधे तराम् ॥१९८॥
कलया कान्तितः कम्रः परः कुमुदबान्धवः। विधुवद्ववृधे शुद्धोदधिं संवर्धयन्सुधीः ॥१९९॥
नेमिर्नानानिमिषनिकरैः संगतो वृद्धिमाप्य रिङ्खन्क्षोण्यां क्षितिपपतिभिर्वीक्षितः क्षिप्रगत्या।
स्वस्याङ्गुष्ठेऽमृतमयमहान्यादमास्वादयंश्च पादस्थैर्यं तदनु सुगतिं संगतोऽभूत्कुमारः ॥२००॥
वक्त्रं यस्य महेन्दुसुन्दरतरं पद्मस्य पत्रे इव नेत्रे कर्णकजे सुकुण्डलयुते भालं विशालं महत्।
बाहू कल्पतरू इवार्थजनकौ वक्षः सुरक्षाक्षमम् कूलं वाञ्जनपर्वतस्य परमा नाभिर्गभीरा शुभा ॥२०१॥

और पहला संहनन है और आप सर्वोत्तम हैं। तात्पर्य यह कि आपको सब मोक्ष-सामग्री प्राप्त है। स्वामिन्! आपका शरीर सुन्दरता से परिपूर्ण हैं, नाना तरह की सुगन्धि से विभूषित है तथा एक हजार आठ लक्षणों से युक्त है। प्रभो! आप उपमा-रहित निरुपम हैं, वीर्य के भण्डार हैं, हित, मित और प्रिय वचनों के बोलने वाले हैं, अतः प्रभो आपको मैं नमस्कार करता हूँ! आप शिवादेवी के पुत्र हैं और दस अनोखी बातों-अतिशयों से सुशोभित हैं, अरिष्ट-समूह को दूर करने वाले हैं और कल्याण-रथ की धुरा हैं, अतः हे प्रभो, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। इस तरह प्रभु की स्तुति कर इन्द्र ने खूब ताण्डव नृत्य किया ॥१९२-१९६॥

इसके बाद वह प्रभु को गोद में लेकर देव-गण के साथ वापस द्वारिका को चला आया। वहाँ आकर उसने देवों के देव और जगत् पूज्य प्रभु को उनके माता-पिता को सौंपकर उनके आँगन में खूब नृत्य किया। इसके बाद वह भाँति-भाँति की निर्मल भोग-सम्पदा की योजना कर और प्रभु की रक्षा के लिए देवों को नियुक्त कर स्वर्ग को चला गया ॥१९७-१९८॥

इधर देवों द्वारा सेवित नेमिप्रभु कला और कान्ति से बढ़ने लगे। वे मनोहर थे, श्रेष्ठ और संसार के बन्धु थे-जिस तरह चाँद समुद्र को वृद्धिंगत करता है उसी तरह वे भी संसार में सिद्धि को वृद्धिंगत करते थे। प्रभु के साथ देव-गण बच्चों का सा रूप धर-धरकर खेलते थे और उन्हें जिस तरह होता खुश रखते थे। प्रभु जब लड़खड़ाते हुए पृथ्वी पर चलते तब बहुत ही सुशोभित होते और महाराज उन्हें देखकर अति हर्षित होते थे। प्रभु विनोद करते हुए अपने अंगूठे को मुँह में दे लेते थे और उससे अमृतमय आहार का स्वाद लेते थे ॥१९९-२००॥

इसके बाद प्रभु के पाँव कुछ जमने लगे, वे अच्छी तरह दृढ़ता से पाँव जमाकर सुन्दर चाल से चलने लगे। प्रभु का मुँह पूर्ण चाँद से भी सुन्दर था, नेत्र कमल के जैसे थे। कान कुण्डलों से सुशोभित थे। प्रभु का मस्तक (ललाट) खूब विशाल था। उनके बाहु (हाथ) कल्पवृक्ष की तरह मनोरथों के साधक थे। उनका वक्षःस्थल रक्षा के लिए पूर्ण समर्थ था। वह अंजन पर्वत के तट जैसा

काञ्चीदामगुणोत्कटा स्फुटकटिः स्तम्भोपमोरू परौ
जङ्घे विघ्नहरे सुहस्तिकरवत् पादौ च पापापहौ।
पद्माभौ नखराः समृक्षविशदा वैदग्ध्यमैश्यं महत्
स श्रीनेमिजिनेश्वरो जगदिदं पातु प्रभाभासुरः ॥२०२॥

इति श्रीभट्टारकशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपाल साहाय्यसापेक्षे श्रीपाण्डवपुराणे महाभारतनाम्नि यादवद्वारिकाप्रवेशश्रीनेमीश्वरोत्पत्तिवर्णनं नामैकादशं पर्व ॥११॥

था। उनकी नाभि सुहावनी और गंभीर थी। कटिभाग करधौनी से सुशोभित था। उनके उरु स्तंभ के समान थे। जाँघें सुन्दर हाथी की सूँड के जैसी और विघ्नों को हरने वाली थीं। कमल जैसी आभा वाले उनके पाँव पाप की हरने वाले थे। उनके नख नक्षत्र के जैसे चमकते हुए थे। वे प्रभु महान् पांडित्य-पूर्ण, अतुल ऐश्वर्य के धारक और अनुपम प्रभा-मण्डल से शोभामान् थे। वे श्री नेमि जिनेश्वर संसार की रक्षा करें ॥२०१-२०२॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में यादवों के द्वारिका में प्रवेश का और नेमिजिनेश्वर की उत्पत्ति का वर्णन करने वाला ग्यारहवां पर्व समाप्त हुआ ॥११॥

❑ ❑ ❑

द्वादशं पर्व

सुपार्श्वं पार्श्वकर्तारं सुपार्श्वं पार्श्ववर्तिनाम्। स्वस्तिकोद्भासिपादान्तं स्तौमि सत्पार्श्वसिद्धये ॥१॥
अथैकदा सभायां स यादवानां विधेः सुतः। समागतो नतो नम्रैः सौत्कण्ठैर्माधवादिभिः ॥२॥
सत्यभामाशुभाभोगभवनं भासुरं गतः। तयापमानितः प्राप पत्तनं कुण्डिनं मुनिः ॥३॥
तत्र च श्रीमतीभीष्मसुतां तां रुक्मिणोऽनुजाम्। रुक्मिणीं वीक्ष्य दक्षः स सहर्षोऽभूत्स्वमानसे ॥४॥
पुण्डरीकाक्षमाक्षोभ्य नारदस्तत्प्रवार्तया। प्रेरितो बलदेवेन स चचाल सुकुण्डिनम् ॥५॥
स नियुज्य निजां सेनां तत्पुरागमनाय च। हलायुधेन तत्प्रापच्छिशुपालेन वेष्टितम् ॥६॥
रुक्मिणीं रुक्मभूषाभां नागवल्लीसुरालये। गतां वर्धापनव्याजाज्जहार मधुसूदनः ॥७॥
ज्ञापयित्वा हृतां तां तान्कम्बुशब्देन तौ द्रुतम्। अचलां चालयन्तौ च चलतुश्चञ्चलात्मकौ ॥८॥
रुक्मी मद्रीसुतस्तावत्श्रुत्वा तद्धरणं हठात्। तौ चेलतुर्घनाटोपघोटकैर्द्विरदैः समम् ॥९॥

उन सुपार्श्व प्रभु की मैं स्तुति करता हूँ जो जीवों का हित करने वाले हैं, जिनके प्रभाव से जाति-विरोधी जीव भी अपने वैर-विरोध को छोड़कर मित्र बन जाते हैं और जिनके चरण-कमलों में साथिया का चिह्न है। वे मुझे संसार-समुद्र के पार पहुँचावें ॥१॥

एक समय यादव-गण अपनी सभा में बैठे हुए थे, इतने ही में वहाँ नारदजी आ गये। उन्हें आया देख कृष्ण आदि सब यादव-गण उठ खड़े हुए और सबने उनका स्वागत कर विनीत भाव से उन्हें नमस्कार किया। इसके बाद वे महल में सत्यभामा के पास गये। सत्यभामा ने उनका यथोचित आदर नहीं किया। इससे असन्तुष्ट हो वे एकदम कुंडिनपुर को चले गये ॥२-३॥

वहाँ पहुँच कर उन्होंने भीष्म और श्रीमती की पुत्री, रुक्मी की छोटी बहन रुक्मिणी को देखा। उसे देखकर वे मन ही मन बहुत प्रसन्न हुए। वहाँ से वे फिर कृष्ण के पास द्वारिका आये। यहाँ आकर उन्होंने रुक्मिणी की सारी कहानी कृष्ण को सुनाई, जिससे कृष्ण के हृदय में उसके प्रति राग हो गया और वह उसे चाहने लगे। यह बात बलदेव के कान में पहुँची। उनने कृष्ण को कुंडिनपुर जाने की प्रेरणा की। कृष्ण उन्हें साथ लेकर कुंडिनपुर पहुँचे। कृष्ण चलते समय अपनी सब सेना को भी कुंडिनपुर आने का आदेश कर गये थे, अतः उनकी सेना भी अति शीघ्र ही वहाँ पहुँच गई। उधर रुक्मी ने पहले ही से शिशुपाल को रुक्मिणी देने का वचन दे रक्खा था, अतः शिशुपाल पहले से ही कुंडिनपुर घेरे हुए था ॥४-६॥

इन्हीं दिनों एक-दिन सोने के जैसी आभा वाली रुक्मिणी नागदेव की पूजा के लिए नाग-मन्दिर को गई हुई थी। वहाँ उसे कृष्ण नारायण ने हर लिया और इसकी उसने शंख-ध्वनि द्वारा औरों को भी सूचना कर दी। इसके बाद ही कृष्ण और बलदेव दोनों भाई वहाँ से चल दिये। उन वीरों के चलने से पृथ्वी भी चलती हुई सी जान पड़ती थी। उधर जब शंख-ध्वनि से रुक्मिणी के हरे जाने की रुक्मी और शिशुपाल को सूचना मिली तब वे दोनों भी बहुत-सी सेना को साथ लेकर कृष्ण और बलदेव

प्राङ्नियुक्तं बलं तावद् द्वारिकातः समागमत्। वैकुण्ठ बलदेवाभ्यां युयुधाते च तौ मदात् ॥१०॥
उभयोः सैन्ययोर्वीरा वल्गान्ति विगलच्छराः। वदन्तो विविधां वाणीं विदन्तो मृतिमात्मनः ॥११॥
रुक्मिणया दर्शितं विष्णू रुक्मिणं स्वसहोदरम्। प्रबध्य नागपाशेन स्वरथाधोऽक्षिपत्तराम् ॥१२॥
दमघोषसुतं क्रुद्धं शतदोषापराधिनम्। हरिर्हरिरिवात्यर्थं जघान करिणं क्रुधा ॥१३॥
संगर रणतूर्येण तूर्णितं स निषिद्धय च। सबलः सह सैन्येनोर्जयन्तगिरिमासदत् ॥१४॥
उत्साहेन समुत्साही विवाह्य विष्टरश्रवाः। तां द्वारिकां पुरीं प्राप पताकाकोटिसंकटाम् ॥१५॥
अथैकदा मुदा दूतं द्रुर्योधनमहीपतिः। प्राहिणोच्च हृषीकेशमिति शिक्षासमन्वितम् ॥१६॥
गत्वा दूतः स विज्ञप्तिं चर्करीति स्म सस्मयः। इति वैकुण्ठ सोत्कण्ठमकुण्ठो भविता सुतः ॥१७॥
यदि ते प्रथमं पुत्री ममापि भविता यदि। तयोर्विवाह इत्येवं भवतान्नियमाल्लघु ॥१८॥
श्रुत्वा तद्वचनं विष्णुस्तथेति प्रतिपद्य च। संमानितस्ततो दूतो हास्तिनं गतवान्क्षणात् ॥१९॥
ततस्तु मदनं लेभे रुक्मिणी वैरिणा हृतम्। जातमात्रं खगेशेन पालितं परमोदयम् ॥२०॥

के साथ युद्ध करने को निकले। इधर द्वारिका से आई हुई कृष्ण की सेना पहले से ही तैयार थी, अतः कृष्ण और बलदेव के साथ उन दोनों मतवालों का युद्ध छिड़ गया ॥७-१०॥

दोनों ओर के योद्धा खूब ही वीरता से शत्रु-दल के योद्धाओं को ललकार कर बाण छोड़ते थे। सबने दृढ़ता से युद्ध कर अपनी मृत्यु निश्चित कर रखी थी, कोई भी पीछे पाँव देने की तैयार न था। इसी समय युद्ध करता हुआ रुक्मी कृष्ण के सामने आ गया। रुक्मिणी ने यह देखकर अपने पिता का कृष्ण को परिचय दिया। फल यह हुआ कि उसको रुक्मिणी के आग्रह से कृष्ण ने मारा तो नहीं परन्तु नागपाश से बाँध कर अपने रथ में डाल दिया। इसके बाद सैकड़ों अपराधों के अपराधी तथा क्रोध से तप्त शिशुपाल को हरि (कृष्ण) ने मार कर एक क्षण ही में धराशायी कर दिया, जैसे कि हरि (सिंह) हाथी को मार कर बात को बात में ही धराशायी कर देता है ॥११-१३॥

इसके बाद रणभेरियों के शब्द से शब्द-मय युद्ध को उसी समय बन्द कर वह बली सेना को साथ लेकर गिरनार पर्वत पर आया। वहाँ उसने रुक्मिणी को उत्साह देकर, समझाकर उसके साथ विवाह कर लिया और बाद वह फहराती हुई करोड़ों ध्वजाओं से परिपूर्ण द्वारिका चला आया। एक दिन प्रसन्नचित्त दुर्योधन ने समझा कर एक दूत को कृष्ण नारायण के पास भेजा। दूत ने जाकर नारायण को सूचित किया कि प्रभो! दुर्योधन महाराज ने आपके पास मुझे यह समाचार देकर भेजा है कि यदि आपके पहले पुत्र और मेरे पुत्री हो या मेरे पुत्र और आपके पुत्री हो तो उन दोनों का परस्पर विवाह सम्बन्ध हो-इसमें कोई रुकावट न हो। यह सुन उत्तर में नारायण ने कहा कि ठीक है जैसी दुर्योधन महाराज की इच्छा है, मुझे स्वीकार है। इसके बाद कृष्ण ने दूत का योग्य आदर-सत्कार कर उसे वहाँ से विदा कर दिया। दूत वहाँ से चलकर अति शीघ्र हस्तिनापुर आ गया ॥१४-१९॥

इसके बाद कृष्ण के रुक्मिणी के गर्भ से प्रद्युम्न का जन्म हुआ परन्तु दैवयोग से उसे जन्म समय में ही कोई वैरी हर ले गया और विजयार्द्ध पर्वत पर रहने वाले किसी विद्याधर के यहाँ उस

तत्र लाभाञ्शुभान्लब्ध्वा षोडशाब्दे च षोडश। नारदेन समानीतो गृहं तस्थौ च मन्मथः ॥२१॥
सत्यभामा सुतं शीघ्रं सुषुवे सातसंगता। भानुं भानुमिव प्राची प्रध्वस्ततिमिरोत्करम् ॥२२॥
अथैकदा सभास्थाने भुञ्जन्तो भोगसंपदम्। स्थिता अर्धार्धसाम्राज्यं पाण्डवाः कौरवाश्च ते ॥२३॥
सुखतः समयं निन्युः समयज्ञा नयान्विताः। अर्धराज्यं प्रकुर्वाणाः पाण्डवाः पटुपण्डिताः ॥२४॥
कौरवाः कौरवं कृत्वा परर्द्धिमसहिष्णवः। दुर्योधनादयस्तस्थुः कौशिका इव भास्करम् ॥२५॥
दुष्टा दुर्योधनाद्यास्ते विधातुं संधिदूषणम्। उद्युक्ता व्यक्तवाक्येन वदन्ति स्मेति दुर्नयाः ॥२६॥
वयं शतमिमे पञ्च कथमर्धार्धभागतः। साम्राज्यं भुज्यते भङ्क्त्वा सर्वैरन्याय इत्ययम् ॥२७॥
पञ्चोत्तरशतं भागान्कृत्वा साम्राज्यमुत्तमम्। भोक्ष्यामहे वयं वर्या नान्यथा न्यायविच्युतेः ॥२८॥
प्रचण्डाः पाण्डवाः पञ्च कथमर्धस्य भागिनः। साम्राज्यस्य शतं सम्यग्वयं किंचार्धभागिनः ॥२९॥
इति दूषणदुष्टाङ्गा योद्धुं संनद्धमानसाः। दुर्योधनादयो योधा विदधुः संधिदूषणम् ॥३०॥
क्रुध्यन्ति स्म महाक्रोधाद्बुधा अपि विरोधिनः। पाण्डवास्तद्वचः श्रुत्वा भ्रुकुटीभीषणाननाः ॥३१॥

महाभाग का पालन-पोषण हुआ। वहाँ वह सोलह वर्ष की अवस्था तक रहा और उसने वहाँ सोलह लाभ भी प्राप्त किये। इसके बाद वहाँ से उसे नारदजी द्वारिका पुरी को ले आये और वहाँ वह भाग्यशाली आनंद-चैन से रहने लगा ॥२०-२१॥

प्रद्युम्नकुमार के जन्म के बाद ही सुखिनी सत्यभामा ने भानुकुमार को जन्म दिया, जिस तरह पूर्व दिशा भानु (सूरज) को पैदा करती है। भानु अँधेरे को दूर करता है, वह भी अपने शरीर की प्रभा से अँधेरे को दूर करता था। भाँति-भाँति की सम्पत्ति द्वारा आधे-आधे राज्य को भोगते हुए पाण्डव और कौरव एक समय सभा-भवन में बैठे हुए थे। इस सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि पाण्डव बड़े चतुर और विद्वान् थे। वे समय की कदर करते थे और लक्ष्मी से युक्त थे ॥२२-२४॥

अतः आधे राज्य को संभालते हुए सुख से अपना समय बिताते थे परन्तु कौरवों का स्वभाव इनसे बिल्कुल ही विपरीत था। वे हमेशा दूसरों की सम्पत्ति को देखकर जला करते थे। उनका अदेख-सखाभाव बड़ा प्रबल था। प्रजा उनसे असंतुष्ट रहा करती थी। वे सूरज को दोष देने वाले उल्लू की तरह सत्पुरुषों को दोष देते थे। अतः वे दुष्ट आपस की सन्धि तोड़ने के लिए तैयार हो गये और उन अन्यायियों ने खुल्लमखुल्ला कह दिया कि हम सौ भाई है और ये केवल पाँच ही है, फिर आधे-आधे राज्य को कैसे भोग सकते हैं-यह सरासर अन्याय है। चाहिए तो ऐसा कि कुल राज-पाट के एक सौ पाँच भाग किये जायें और इन्हें पाँच तथा हम लोगों को सौ भाग दिये जायें। भला, विचार कर तो देखिए कि पाँच के लिए आधा राज्य और उनसे बीस गुने लोगों के लिए भी उतना ही राज्य। यह अन्याय नहीं तो और क्या है? इस तरह दोषों के भण्डार और मन ही मन युद्ध करने को तैयार उन दुष्ट दुर्योधन आदि ने परस्पर के प्रेम सूत्र की तोड़ डाला ॥२५-३०॥

दुर्योधन आदि की ऐसी विषभरी बातों को सुनकर-यद्यपि पाण्डव पण्डित थे और वैर-विरोध से दूर थे तो भी भीमसेन आदि को बड़ा क्रोध आया और भौंहें चढ़ जाने से उनके मुँह भीषण

चत्वारश्चतुराश्चोचुश्चालयन्तोऽचलां चिरम्। अचला भीमसेनाद्याः संचरन्त इतस्ततः ॥३२॥
काकैरिव वराकैः किं सदा शङ्कसमाकुलैः। एभिरस्मासु शक्तेषु सत्सु सर्वैरपि स्फुटम् ॥३३॥
तदा भीमोऽवदद्भ्रार्तभस्मयामि क्षणार्धतः। इमान् दहेन्न किं दाह्यं विस्फुलिङ्गस्फुरद्रुचिः ॥३४॥
शतमप्येकवारेण क्षणादुत्क्षिप्य सागरे। क्षिपामि क्षीणचित्तानामेषां भीमोऽगदीदिति ॥३५॥
अशीशमत्तदा भीमं भीतिदं भीषणाकृतिम्। ज्येष्ठः सामोक्तिभिर्नीरैर्ज्वलन्तं ज्वलनं यथा ॥३६॥
अर्जुनोऽर्जुनवद्दीप्तो जज्वाल क्रोधवह्निना। दीप्तेन कौरवोक्तेन दारुणा ज्वलनो यथा ॥३७॥
बाणेनैकेन शक्तेन शतमेषां सुदारुणः। दारयेयं दृषत्खण्डो यथा काकशतं सकृत् ॥३८॥
इमे तावन्मदान्मुक्तमर्यादाश्च भवन्त्यहो। नाहं क्रुद्धोऽर्यमा यावत्तमांसीव घनानि च ॥३९॥
इत्युक्त्वाथ पृथुः पार्थः करे कोदण्डमादधत्। प्रचण्डेन सुकाण्डेन संयोज्य समरोद्यतः ॥४०॥
तथास्थं तं विलोक्याशु स्थिरधीश्च युधिष्ठिरः। अवारयद्वैर्वाक्यैर्यतः सन्तो विरोधहाः ॥४१॥
अवदन्नकुलः कौल्यः कुलशालं समूलतः। निर्मूल्य कौरवाणां हि निःफलं च करोम्यहम् ॥४२॥

हो गये। वे आवेश-वश इधर-उधर घूमने लगे, जिससे अचला (पृथ्वी) भी हिल गई। इसके बाद वे बोले कि हमेशा ही सशंकित रहने वाले और कौओं की तरह दीन ये विचारे हम सरीखे शक्तिशाली पुरुषों के होते हुए भला कर ही क्या सकते हैं और यह बात कुछ छुपी नहीं, स्वयं वे भी जानते हैं ॥३१-३३॥

भीम ने कहा कि भाई युधिष्ठिर, यदि आपकी आज्ञा हो तो इन दुष्टों को अभी क्षणभर में ही भस्म कर दूँ क्योंकि आग का एक छोटासा कण भी धधककर बड़े-बड़े जंगलों को जला डालता है। या कहो तो हीन विचार वाले इन सौ के सौ को ही एकदम उठा कर समुद्र में फेंक दूँ और इनका काम तमाम कर दूँ। भीम को इस तरह से क्रोधित देखकर युधिष्ठिर ने उसे मधुर वचनों द्वारा शान्त किया, जिस तरह कि जलती हुई आग पानी से ठंडी की जाती है और जिस तरह काठ का निमित्त पाकर आग जल उठती है उसी तरह कौरवों के इन वचनों को सुनकर अर्जुन (सोने) की तरह दीप्त अर्जुन की क्रोधाग्नि भी भभक उठी। वह बोला कि जिस तरह सैकड़ों कौओं को एक साथ ही भयभीत कर देने के लिए एक ही पत्थर का टुकड़ा काफी होता है उसी तरह शक्तिशाली मेरा एक ही बाण इन सौ को ही एकदम भयभीत कर देने के लिए काफी है ॥३४-३८॥

उसके सामने इनकी कुछ भी न बन पड़ेगी। ये लोग मदोन्मत्त होकर तभी तक मर्यादा को लाँघते हैं जब तक कि अँधेरे को दूर करने वाले सूरज की तरह तेजशाली मैं क्रुद्ध नहीं हुआ-मेरे क्रोध के सामने इनकी कुछ भी कला काम न आएगी, जिस तरह कि सूरज के सामने अँधेरे की कुछ भी नहीं चलती। इसके साथ ही पार्थ ने हाथ में धनुष उठाया और उस पर बाण चढ़ा कर वह युद्ध के लिए उद्यत हो गया। उसकी उस समय की अवस्था को देखकर स्थिर बुद्धि युधिष्ठिर ने उसे शान्ति से समझा कर रोका और है भी यही ठीक कि सज्जन पुरुष विरोध को दूर करने वाले होते हैं ॥३९-४१॥

इसके बाद कुलीन नकुल बोला कि मैं इसी समय इन कौरवों के कुलरूपी शालवृक्ष को जड़

कौरवा वा पतङ्गा वा मयि चापि धनंजये। स्वयं निपत्य भूतित्वं यास्यन्ति यत्नतो विना ॥४३॥
सहदेवोऽवदद्धीरः केऽमी कौरवभूरुहाः। मया परशुना छिन्नाः क्व स्थास्यन्ति विनश्वराः ॥४४॥
उत्क्षिप्य बाहुदण्डेन खण्डयित्वा च खण्डशः। कौरवांश्च दिगीशानां बलिं दास्यामि दिङ्मुखे ॥४५॥
पिशुनाञ्शून्यतापन्नान्कौरवान्गर्विणोऽखिलान्। यावन्न विदधे तावत्स्वास्थ्यं मेऽत्र कुतस्तनम् ॥४६॥
दर्पिणोऽमी सुसर्पाभाः स्थितेन च गरुत्मता। मया ते किं करिष्यन्ति रुट्फणाफूत्कराः खलाः ॥४७॥
इति तौ वीतहोत्राभौ ज्वलन्तौ ज्वालयानिशम्। युधिष्ठिरसुमेघेन शमं नीतौ वचोजलैः ॥४८॥
इति ते पूर्ववत्सर्वे शमं प्राप्ता युधिष्ठिरात्। शुद्धा युद्धमतिं हित्वा तस्थुः सुस्थिरमानसाः ॥४९॥
भुञ्जन्तो भोगिनो भोग्यां भुवं भीतिविवर्जिताः। नयन्ति स्म नृपाः कंचित्समयं स्मेरचक्षुषः ॥५०॥
अथ दुर्योधनो योद्धा दुर्बुद्धिः शुद्धिवर्जितः। दधौ धर्मात्मजादीनां हतौ मतिं वृषातिगाम् ॥५१॥
अन्यदा पत्तने तेन च्छलेनोच्छलितात्मना। लाक्षामयं क्षणैः सार्धं क्षणेन विदधे महत् ॥५२॥
क्वचिद्विकटकूटेन संकटं प्रकटं स्फुटम्। टङ्कोत्कीर्णमिवाभाति सुघण्टाटङ्कितं गृहम् ॥५३॥
जालिकाजालसंपूर्णं क्वचित्तद्वेश्म विस्तृतम्। पाण्डवानां सुजालं वा व्यभाज्ज्वलनसंनिभम् ॥५४॥

से उखाड़ नष्ट किये देता हूँ। ये तो पतंगों के समान हैं और मैं हूँ इनके लिए आग के तुल्य, अतः प्रयत्न के बिना ही ये अभी जलकर खाक हुए जाते हैं-इनमें से एक भी बचने का नहीं। इसी बीच में सहदेव भी बोल उठा कि ये कौरव-वृक्ष तो चीज ही क्या हैं मेरे द्वारा कुल्हाड़े से काटे जाने पर ये विनश्वर ठहर ही कहाँ सकते हैं ॥४२-४४॥

मैं अभी अपने बाहु-दंडों से कुल्हाड़े को उठाता हूँ और इनके टुकड़े-टुकड़े करके दिशाओं के स्वामी दिगीशों को बली दिये देता हूँ। सच कहता हूँ कि ज्ञान-शून्य, पिशुन और महान् अभिमानी इन कौरवों को जब तक मैं गर्व-रहित न कर दूँगा तब तक मुझे चैन ही न पड़ेगी। ये अभिमानी साँप के समान हैं और मैं हूँ इनके लिए गरुड़ के समान, फिर ये मेरे सामने फण उठा कर चाहे कितनी ही फुँकार क्यों न करें पर इनका कुछ वश नहीं है। आखिर इन्हें ही प्राणों के लाले पड़ेंगे। इस प्रकार क्रोध से आग के समान जलते हुए इन दोनों को भी युधिष्ठिर-रूप मेघ ने अपने वचन-रूपी जल को बरसा कर शांत किया। इस तरह युधिष्ठिर के समझाने पर वे चारों भाई पहले की तरह ही शान्तचित्त हो गए और युद्ध की कामना छोड़कर, स्थिर-चित्त से, राज्य को भोगते हुए, निर्भय हो अपना समय योग्य कार्यों में बिताने लगे। इधर दुर्बुद्धि तथा कलुषित-चित्त दुर्योधन युधिष्ठिर आदि को मारने की चिंता में अपनी धर्मशून्य-बुद्धि को व्यय करने लगा। वह हमेशा इसी चिंता में रहता था कि जिस तरह हो सके पाण्डवों का विध्वंस करूँ ॥४५-५१॥

एक बार उस उद्धत-आत्मा ने कपट से एक लाख का महल बनवाया। वह बड़ा सुन्दर और अति शीघ्रता से बनवाया गया था। उस पर बड़े ऊंचे और विशाल कूट बनाये गये थे और उन कूटों पर सुन्दर कलश चढ़ाये गये थे। वे उस पर ऐसे शोभते थे मानों सूरज जड़ दिये गये हैं। उस महल में विस्तृत और लम्बी-चौड़ी जाली लगाई गई थी, वह ऐसी जान पड़ती थी मानों पाण्डवों को फँसाने के लिए आग की समता करने वाला जाल ही लगाया गया है ॥५२-५४॥

क्वचित्कटाक्षक्षेपाय गवाक्षं क्षणसुन्दरम्। तेषां गोहृतयेऽक्ष्णां च दक्षः सममकारयत् ॥५५॥
क्वचित्तद्गृहमाभाति तरत्तोरणसुश्रिया। अतो रणच्छलं द्रष्टुं निर्मितं मूर्तिमद्रणम् ॥५६॥
सुस्तम्भस्तम्भितं क्वापि वेश्मस्तम्भनविद्यया। स्तम्भितुं वैरिणो नूनं सुस्तम्भमिव सुस्थिरम् ॥५७॥
क्वचिद्विचित्रचित्रेण चित्रितं च कुमित्रवत्। चित्रं यथा सुभित्तौ च चमत्कारकरं हि तत् ॥५८॥
प्रतोलीपरिखापूर्णं वप्रप्राकारशोभितम्। जतूदवसितं वेगाद्विदधे कौरवाग्रणीः ॥५९॥
ततस्तृप्तिं वितन्वानं पितामहमवीवदत्। कौरवा विनयावासा नयेन नतमौलयः ॥६०॥
पितामह सुगाङ्गेय गङ्गाजलसुनिर्मल। निर्मितं सद्म निश्छद्म भक्त्यास्माभिः स्मयावहम् ॥६१॥
यदुत्तुङ्गसुशृङ्गेण गगनं गन्तुमुद्यतम्। जेतुं जित्वरशीलानां सुराणां सौधसंततिम् ॥६२॥
यत्स्तम्भबाहुयुग्मेन ग्रहीतुं परवेश्मनाम्। संपदां सुपदापन्नं विपद्द्वारं रराज च ॥६३॥
अट्टालिकाललाटेन शुम्भच्छोभाललामकम्। यद्वृत्तदृद्धिसंपन्नं यथात्र कौरवं कुलम् ॥६४॥
कदाचिन्निशि संखिन्नो निशानाथोऽवतिष्ठते। यदुत्तुङ्गसुशृङ्गाग्रे ग्लानिहान्यै क्षणं क्षणी ॥६५॥

उसमें छोटे-छोटे और सुन्दर झरोखे थे, मानों उनकी दीप्ति को हरने के लिए उसने अपने नेत्र ही खचित करवा दिये थे। उस पर रत्नों के तोरण बंधे हुए थे, अतः उनसे उस महल की एक भिन्न ही शोभा थी और ऐसा भान होता था कि मानो दुर्योधन ने पाण्डवों का रण-छल देखने को यह मूर्तिमान् रण ही तोरण के छल से यहाँ खड़ा किया है। उसके थंभे ऐसे जान पड़ते थे मानों बैरियों को बाँधने के लिए स्तंभन-विद्या के रूप में खड़े किये गये सुदृढ़ स्तंभ ही है। उसमें चित्र-विचित्र चित्र लगे हुए थे, उनसे जाना जाता था कि वे शत्रु ही खचित कर दिये गये हैं। उनको देखने से चित्त में एक भिन्न ही स्फूर्ति पैदा होती थी। उसमें नाना रास्ते थे। वह खाई से घिरा हुआ था। उसके चारों ओर कोट बना हुआ था, जिससे उसकी एक सबसे निराली ही छटा थी-शोभा थी। अधिक क्या कहा जाये वह सब तरह सुशोभित था-उसमें किसी भी बात की कमी न थी। इस अपूर्व महल को कौरवों के अगुआ दुर्योधन ने बनवाया था। इसके बनवाने में उसे बहुत देर न लगी थी ॥५५-५९॥

इसके बाद दुर्योधन आदि कौरव शान्त-चित्त भीष्म पितामह के पास गये और उन्होंने विनय के साथ उन्हें मस्तक नवाकर कहा कि गंगा के जल समान निर्मल-चित्त पितामह, हम ने भक्ति से प्रेरित होकर सब तरह से सुसज्जित एक महल बनवाया है। वह इतना विशाल और ऊँचा है कि अपने शिखरों से आकाश को छूता है। महाराज, उसे देखने से ऐसा जान पड़ता है कि मानों वह विजयी देवताओं के महलों की संतति को जीतने के लिए जाने की तैयारी ही कर रहा है। वह अपने थंभों-रूप हाथों से ऐसा जान पड़ता है कि मानों उनसे शत्रुओं के मलों की सम्पत्ति ही हरना चाहता है ॥६०-६३॥

अपने शिखर रूप मस्तक से वह इतना शोभाशाली और सुन्दर जान पड़ता है और लोगों को भ्रम में डाल देता है कि कहीं ऋद्धि-सम्पन्न कौरवों का कुल ही तो नहीं है। उसके शिखर बड़े ऊँचे हैं, अतएव वहाँ आकर अपनी मार्ग की थकावट दूर करने को कभी-कभी खेद-खिन्न चाँद रात में

यत्पताकापटेनाशु पवनोद्भूतवेगिना। नाकिनः स्थितये तूर्णमाकारयति शुद्धितः ॥६६॥
सुस्तम्भैः स्तम्भकैर्नृणां जनाश्चर्यैर्जनाश्रयैः। विशाखाशिखरैः क्षिप्रं क्षिणोति खेड्गृहांश्च यत् ॥६७॥
देवेदं सदनं सम्यक्सिद्धिदं निर्मितं मया। पाण्डवानां निवासाय तेभ्यो दातव्यमञ्जसा ॥६८॥
युधिष्ठिरः स्थिरं स्थेयांस्तत्र तिष्ठत्वहर्निशम्। प्राज्यं राज्यं प्रकुर्वाणः किरंस्तेजो दिशो दश ॥६९॥
वयं च स्वगृहे स्थित्वा स्थिरा राज्यार्थलाभतः। सुखं तिष्ठाम उन्निद्राः समुद्रा इव निश्चलाः ॥७०॥
इत्याकर्ण्य सुगाङ्गेयो गिरं जगावुदारधीः। यत्त्वयोक्तं तदेवेष्टं मम मान्यं मनोगतम् ॥७१॥
तव यन्मन्त्रणं मान्यं मह्यं तद्रोचते ध्रुवम्। यदेकत्र स्थितित्वं हि परं वैरस्य कारणम् ॥७२॥
य एकत्र स्थिता गेहे ते विरोधं प्रकुर्वते। विरोधहानयेऽत्यन्तं पृथग्गेहस्थितिर्वरा ॥७३॥
कुटुम्बकलहो यत्र तत्र स्वास्थ्यं कुतस्तनम्। यथा भरतचक्रीशश्रीबाहुबलिनोर्ननु ॥७४॥
पृथक्स्थितौ शुभं सारं सुखसंततिरुन्नता। राज्यभोगो भवेच्छुभ्रोऽविरोधश्चक्षुषोरिव ॥७५॥
इति निश्चित्य गाङ्गेयस्तानाहूय सुपाण्डवान्। अवदद्राजशार्दूलो मत्या सुरगुरुपमः ॥७६॥

ठहर जाता है। उसके शिखरों में जो ध्वजायें लगी हुई हैं वे जिस समय हवा के वेग से फड़-फड़ाती हुई फहराती हैं तब ऐसा मालूम होने लगता है कि वह महल अपने हृदय में स्थान देने के लिए इन ध्वजाओं-रूप हाथों के इशारे से स्वर्ग के देवताओं को ही बुलाता है। सुस्थिर थंभों वाले और लोगों को आश्रय देने वाले उस महल के बाण के जैसे तीखे शिखरों द्वारा आकाश में विचरने वाले ग्रह-तारागणों के विमान घिस जाते हैं और क्षीण हो जाते हैं ॥६४-६७॥

देव, यह उत्तम और सिद्धि-साधक महल हमने पाण्डवों के लिए बनवाया है, अतः इसे अब उनके रहने के लिए दे दीजिए। महाराज, हम चाहते हैं कि स्थिर-चित्त युधिष्ठिर दशों दिशाओं में अपने तेज को फैलाकर, सुख-शान्ति से राज्य करते हुए इस नये महल में रहें और हम सब राज की आय से सुख भोगते हुए समुद्र को तरह अचल और चिन्ता-रहित हो, स्थिर-चित्त से अपने ही महल में रहें ॥६८-७०॥

कौरवों के इन मधुर वचनों को सुनकर उदार-बुद्धि और सरल-चित्त पितामह बोले कि जो तुमने कहा वह ठीक है, तुम्हारी बात मेरे गले उतर गई। तुमने जो कुछ सलाह दी वह मुझे पसंद आई है। कारण कि मैं जानता हूँ कि तुम्हारा एक जगह रहना परम वैर का कारण हैं। जहाँ मन में कुछ मैल रहता है वहाँ जरा-जरा सी बातों पर से वैर-विरोध खड़ा हो जाता है। इसलिए वैर-विरोध मिटाने के लिए तुम्हारा जुदा-जुदा रहना ही अच्छा है। जहाँ परिवार के लोगों में लड़ाई-झगड़ा हुआ करता है भला, वहाँ सुख हो ही कहाँ से सकता है। देखिए, भरत चक्रवर्ती और बाहुबली ने इसी कौटुम्बिक कलह से क्या कुछ फल उठाया था। अतः तुम लोगों का जुदा रहने में ही सुख है और ऐसी ही हालत में राज्य सुख से भोगा जा सकता है। देखिए, नेत्रों के रहने के स्थान जुदे-जुदे हैं, इसलिए उनमें कुछ विरोध नहीं है ॥७१-७५॥

इस प्रकार निश्चय करके बुद्धि में बृहस्पति तुल्य, राजसिंह भीष्म पितामह ने पाण्डवों को

पाण्डवाश्चण्डकोदण्डाः प्रचण्डाखण्डलोपमाः। यूयं शृणुत सद्वाक्यं सातसिद्ध्यर्थमञ्जसा ॥७७॥
उत्तमे निर्मिते धाम्नि नूतने सत्तनूपमे। स्थितिं कुरुत शीघ्रेण यूयं विघ्नौघहानये ॥७८॥
भिन्नं स्थिता भवन्तोऽत्र सुखसंदोहभागिनः। भवितारो न भेतव्यं भवद्भिर्भव्यतायुतैः ॥७९॥
इत्युक्तास्ते युताः सातैर्गुरुप्रामाण्यपूरिताः। प्रतस्थिरे गृहं गन्तुं गुणैरापूरिताशयाः ॥८०॥
ततो भेर्यो भयोन्मुक्ता भेणुर्भम्भाभिभाषणाः। दध्वनुः पटहव्यूहाः सस्वरुर्वंशजाःस्वराः ॥८१॥
नटा नेटुः समुद्भिन्नपुलका विपुलामलाः। मृदङ्गतालकंसालवीणाघुर्घरिकान्विताः ॥८२॥
मङ्गलानि सगेयानि जगुर्गीतानि नायकाः। कामिन्यः कलनादेन कलयन्त्यश्च तद्गुणान् ॥८३॥
इत्थं यथायथं योग्याः कुर्वन्तो दत्तिविस्तृतिम्। समङ्गलाः समापुस्ते सुमुहूर्ताह्नि तद्गृहम् ॥८४॥
तत्र स्थिता ददुर्दानं मानं सत्कुलवासिनाम्। चक्रुः पूजां सुपूज्येषु पाण्डवाः स्थिरमानसाः ॥८५॥
मुग्धाः शुद्धधियो धर्म्यं कुर्वन्तः कर्म कोविदाः। सातमास्तिघ्नुवानास्ते स्थितिं भेजुर्भयातिगाः ॥८६॥
तेषां दम्भमजानन्तो निर्दम्भारम्भभागिनः। तस्थुस्तत्र हि को वेत्ति दारुमध्यस्य रिक्तताम् ॥८७॥

बुलाया और उनसे कहा कि धनुष-विद्या में निपुण और इन्द्रतुल्य पाण्डव-गण, तुम मेरे वचनों को ध्यान देकर सुनो। वे तुम्हारे लिए सुख के कारण होंगे। तुम किसी अच्छे मुहूर्त में, बहुत जल्दी, सुन्दर शरीर के जैसे इस नये महल में रहने लगो। देखो, इसमें रहने से तुम्हारे सभी झगड़े-टंटे तय हो जायेंगे, फिर किसी से कोई प्रकार का वाद-विवाद या व्यर्थ का वितण्डा न होगा। देखो, तुम लोग जुदा रहने में कुछ भी भय न करो। मैं तो जानता हूँ कि तुम्हें जुदे रहने में ही सुख होगा। पाण्डव गुरु आज्ञा के प्रतिपालक और गुणों से पूर्ण थे ॥७६-७९॥

वे उसी समय शुभ मुहूर्त और शुभ दिन दिखवा कर अपने घर को चले गये और जब वह शुभ दिन आया तब उन्होंने शुभ मुहूर्त में नये महल में प्रवेश किया। उनके प्रवेश समय बड़ा महोत्सव मनाया गया था। उस समय भेरियों का सुहावना और महान् शब्द दसों दिशाओं में गूंज रहा था। नगाड़ों की गर्जना हो रही थी। वंशी की सुरीली आवाज से कर्ण-कुहर गूंज रहे थे। रोमाञ्च हुए नट-गण विशाल मृदंग, ताल, कंसाल, वीणा आदि वादित्रों की लय के साथ मनोहारी नृत्य करते थे। कामिनी-गण अपने सुन्दर नाद से पाण्डवों के गुणों को गाती थीं। गायक-गण सुहावने मंगलगीत गाते थे। इस तरह बड़े ठाट-वाट के साथ यथायोग्य दान देते हुए उन मंगल-मूर्तियों ने नये महल में प्रवेश किया ॥८०-८४॥

वहाँ रहते हुए वे स्थिर-चित्त पाण्डव गरीबों को दान देते थे और ऊँच कुली लोगों का उचित आव-आदर और मान-सम्मान करते थे एवं वे पूज्य पुरुषों की पूजा-प्रभावना में भी कभी आगा-पीछा नहीं सोचते थे। वे शुद्ध बुद्धि से धर्म-कर्म का निर्वाह करते थे। उनको कभी भी धर्म-कर्म में प्रमाद तथा आलस नहीं सताता था। तात्पर्य यह कि वे विद्वान् वहाँ सुख का अनुभव करते हुए निर्भयता से रहते थे। उन्हें न तो किसी बात का भय था और न चिन्ता ही। वे सरल चित्त थे, अतः उन्होंने कौरवों के इस कपट-माया-जाल को बिल्कुल ही नहीं जाना। अतएव वे वहाँ सरलता का

कथं कथमपि ज्ञात्वा विदुरो जतुनिर्मितम्। सदनं सदयो दीप्रस्तत्कापट्यमचिन्तयत् ॥८८॥
युधिष्ठिरं समाहूय वचनं विदुरोऽवदत्। तत्कैतवमजानानं जानानं जिनसद्रुचिम् ॥८९॥
वत्स सज्जन विश्वास्या दुर्जनाः सज्जनैर्न हि। अन्यथा ददते दुःखं दन्दशूका इवोद्धुराः ॥९०॥
विश्वास्या मुखमिष्टाश्चान्तर्मला निखिलाः खलाः। सेवालिनस्तु पाषाणा यथा पाताय केवलम् ॥९१॥
राजभिर्न च विश्वास्यं परेषां हृदयं खलु। परे तत्र कथं पुत्र विश्वास्याः स्युः सुखार्थिभिः ॥९२॥
न विश्वसन्ति भूपालाः सुतं तातं च मातरम्। भ्रातरं भामिनीं तत्र कथमन्यान्खलाञ्जनान् ॥९३॥
अतस्त्वया न विश्वास्याः कौरवाः कलिकारिणः। भवतो धाम्नि संस्थाप्य मारयिष्यन्ति दुर्धियः ॥९४॥
लाक्षागृहमिदं भद्र निर्मितं केन हेतुना। न जानीमो वयं नूनमेषां को वेत्ति छद्मताम् ॥९५॥
दिवा स्थितिर्विधातव्या जातुचिन्नात्र सद्मनि। स्थितिश्चेद्दुर्गमं दुःखं भविता भवतामिह ॥९६॥
वनक्रीडापदेशेन प्रतिघस्त्रमघस्मरैः। वने रन्तुं प्रगन्तव्यं भवद्भिर्भाग्यभोगिभिः ॥९७॥

व्यवहार करते हुए सुख से रहने लगे और है भी ऐसी ही बात कि काठ की भीतरी पोल को कौन जान सकता है कि उसमें क्या भरा है परन्तु धीरे-धीरे किसी तरह विदुर को यह पता लग गया कि यह महल लाख से बनाया गया है। विदुर दयालु था और तेजशाली था। अतः कौरवों के मायाजाल को समझ कर उसने कौरवों के कपट से अज्ञात तथा जिनदेव में सच्ची श्रद्धा रखने वाले युधिष्ठिर को बुलाकर कहा कि वत्स, सज्जनों को सज्जनों पर ही विश्वास करना चाहिए, दुर्जनों-दुष्टों पर नहीं। नहीं तो उनके द्वारा वैसे ही दुख सहने पड़ते हैं जैसे कि साँप के द्वारा। देखो, ऊपर से मीठे बोलने वाले और भीतर से महा मैले इन दुष्टों से सज्जनों को हमेशा दूर ही रहना चाहिए नहीं तो दुख अवश्यंभावी है-जैसे कि काई चढ़े हुए पत्थर पर भूल से भी यदि पैर पड़ जाये, तो भी उस पर से अवश्यंभावी पतन होता ही है ॥८५-९१॥

पुत्र, देखो नीति कहती है कि राजा लोगों को कभी दूसरे के हृदय का विश्वास नहीं करना चाहिए, फिर जो सुखी होना चाहते है उनके लिए भला शत्रु का विश्वास तो करना ही कैसे उचित हो सकता है और भी सुनो कि राजा-गण स्त्री-पुत्र, माता-पिता, भाई-बहिन आदि किसी का भी विश्वास नहीं करते, तब वे दूसरे दुष्ट पुरुषों का भरोसा तो करें ही कैसे। इसलिए तुम इन कलहकारी कौरवों का विश्वास मत करो। ये दुर्बुद्धि तुम्हें इस महल में रख कर मार डालेंगे और तुम्हारे कुल का सर्वस्व नष्ट कर देंगे ॥९२-९४॥

भद्र! यह महल लाख से बनाया गया हैं-यह तो मुझे निश्चय हो गया, पर किस मनोरथ से ऐसा किया गया इसका मुझे अभी निश्चित पता नहीं है। सो ठीक ही है कि इन माया-जालियों के मायाजाल को कोई जल्दी से नहीं जान सकता। मेरे कहने का मतलब इतना ही है कि तुम लोग कदाचित् भी इस महल में न रहो। नहीं तो तुम्हें बड़े भारी दुस्सह दुख का सामना करना पड़ेगा और एक उपाय करो कि तुम लोग प्रतिदिन क्रीड़ा के बहाने वन में जाया करो और सो भी बड़ी सावधानी से। वहाँ विघ्नों को दूर करने के लिए दिन-भर आनन्द-पूर्वक समय गुजारा करो। तुम लोगों से

आवासरं विशालेऽस्मिन्विपिने रन्तुमिच्छया। विघ्नौघहानये स्थेयं भवद्भिर्वैरिदर्पहैः ॥९८॥
त्रियामायां सुमित्रैश्च पवित्रैरत्र सद्धिया। जाग्रद्भिः सुस्थिरं स्थेयं युष्माभिर्निश्चलात्मकैः ॥९९॥
नेत्रान्ध्यमेडतां कर्णे गले घुर्घुरतामपि। कुर्वन्ती देहसंस्थैर्यं सुषुप्तिर्मरणायते ॥१००॥
इत्थं विदुरभूपेन वने स्थित्वा स्थिराशयाः। पाण्डवाः शिक्षयित्वाथ वनं जग्मे सुबुद्धिना ॥१०१॥
स तत्र चिन्तयंश्चित्ते चिरं चतुरमानसः। पाण्डवानां सुखोपायं समास्तेऽपायवर्जनम् ॥१०२॥
तावता विदुरस्यासीत्सुरङ्गाखनने मतिः। तया यतो भवेत्तेषां निर्गमो विधुरे स्थिते ॥१०३॥
खातज्ञानिति संचिन्त्य पप्रच्छ स्वच्छमानसः। आहूयादात्परां शिक्षां सुरङ्गाखनने स च ॥१०४॥
ते खातज्ञास्ततस्तूर्णं सन्निशान्तस्य कोणके। सुरङ्गां कर्तुमुद्युक्ता रेभिरेऽचलचित्तकाः ॥१०५॥
द्राघीयसीं सुरङ्गां ते गमने निर्गमे पराम्। गूढां गूढतरामूढा विधाय विदधुस्ततः ॥१०६॥
ज्वालितेऽपि निशान्तेऽस्मिन्धार्तराष्ट्रैः सुराष्ट्रगैः। निर्गच्छन्तु ततस्तूर्णं पाण्डवाःसत्पथाखिलाः ॥१०७॥
इति तां रङ्गतस्तूर्णं सुरङ्गां तद्गृहान्तरे। निर्माप्य विदुरस्तस्थौ शर्मणा चिन्तयातिगः ॥१०८॥

और ज्यादा कहने की कोई जरूरत नहीं हैं क्योंकि तुम स्वयं ही बैरियों के गर्व को खर्च करने वाले हो। परन्तु जब रात हो जाये तब यहीं आकर अपने निश्चल स्वभाव से जागते हुए समय बिताया करो ॥९५-९९॥

जागने की जरूरत तुम्हें इसलिए है कि नींद में मनुष्य मरे सरीखा हो जाता है। उसे कुछ भी सुध-बुध नहीं रह जाती, उसके नेत्र बन्द हो जाते हैं, कान बहिरे हो जाते हैं, गला घर-घर करने लगता है और शरीर बिल्कुल शिथिल हो जाता है। इस प्रकार विदुर ने वन में स्थिराशय पाण्डवों को सब बातें खूब समझा दीं। इसके बाद वह सद्बुद्धि अपने महल को चला आया ॥१००-१०१॥

इतने पर भी विदुर की फिक्र नहीं गई और वह पाण्डवों को सर्वनाश से बचाने की फिक्र में हमेशा रहने लगा। वह चतुरमना सदा इसी सोच-विचार में रहा करता था कि पाण्डव-गण किस तरह सुखी हों। इसके लिए उसके विचार में यह उपाय आया कि महल से लेकर जंगल तक एक सुरंग बनवा दी जाये तो किसी तरह की आपत्ति पड़ने पर पाण्डवगण उसके द्वारा निकल कर बच सकते हैं। यह सोचकर उस शुद्ध हृदय ने चुपचाप सुरंग खोदने वालों को बुलाया और उन्हें उसके खोदने की सब विधि समझा दी। सुरंग खोदने वाले भी महल के एक कोने में से सुरंग निकाल देने को तैयार हो गये। कारण कि वे इस काम में अति प्रवीण थे। उन्होंने गुप्त रीति से थोड़े ही दिनों में इतनी बड़ी भारी सुरंग खोद कर तैयार कर दी जो आने और जाने के लिए काफी थी। सुरंग खुद कर जब तैयार हो चुकी तब विदुर ने सोचा कि यदि कभी कौरव-गण इस लाख के महल में आग भी लगा दें तब भी पाण्डव सुरंग-मार्ग से निकल जायेंगे और अपने प्राणों की रक्षा कर लेंगे। इसमें अब तनिक भी सन्देह नहीं है। इस तरह आनन्द के साथ विदुर ने लाख के उस महल में जो कि कौरवों ने पाण्डवों के साथ छल करने के लिए बनवाया था, सुरंग बनवा दी और कौरवों से पाण्डवों को निर्भय कर दिया। इसके बाद उसने पाण्डवों के सम्बन्ध की बिल्कुल ही चिन्ता छोड़ दी-वह निश्चित ही सुख

स्वयं न लक्षिता तेन पाण्डवानां सुखात्मनाम्। सुरङ्गा ज्ञापिता नैव प्रच्छन्ना पिहिताभवत् ॥१०९॥
पुनस्ते पाण्डवास्तत्र विषादमदवर्जिताः। अध्यूषुर्व्यसनातीता युताः प्रीतिभरेण च ॥११०॥
ते हायनमितं कालं कलयन्तः कलोन्नताः। सकलाः सकला भूपा आसते स्माम्बया सह ॥१११॥
दुष्टेन धार्तराष्ट्रेण धृष्टेनानिष्टचेतसा। लाक्षाधाममहादाहश्चिन्तितस्तद्धतिकृते ॥११२॥
ज्वालिते ज्वलनेनाशु जतुवेश्मनि विस्तृते। ज्वलिष्यन्ति तदन्तःस्थाः पाण्डवाश्चण्डमानसाः ॥११३॥
इति संमन्त्र्य सद्योध्वा स्वतन्त्रेण सुमन्त्रिणा। दुर्योधनेन क्रुद्धेन चिन्तितं मारणं हृदि ॥११४॥
क्षणेन क्षणदायां स दिवाकीर्तिं सुकीर्तिमान्। अकीर्तयद् गृहध्वंसं ज्वलितेन कृशानुना ॥११५॥
जनंगम जनैर्गम्यं मन्दिरं सुन्दरं त्वकम्। ज्वालय ज्वलनेनाशु ज्वलता च मदाज्ञया ॥११६॥
दास्यामि ज्वालिते वत्स मन्दिरे वाञ्छितं तव। यत्तुभ्यं रोचतेऽस्माभिस्तद्देयं याचनां कुरु ॥११७॥
मा विलम्बय शीघ्रेण दहनं देहि मन्दिरे। ग्रामधामरमावाञ्छा वर्तते चेत्तवाधुना ॥११८॥
इत्युक्ते सोऽवदद्वाणीं किमुक्तं नृपसत्तम। न युक्तं युक्तियुक्तानामिदं संनिन्दितं बुधैः ॥११९॥

से अपना काल बिताने लगा परन्तु उसने वह सुरंग स्वयं न तो देखी और न सुखी पाण्डवों को ही दिखलाई। कारण वह तैयार होते ही किसी को बिना दिखाये ढक दी गई थी ॥१०२-१०९॥

इसके बाद पाण्डव शोक, विषाद, मद आदि से रहित हो, बिना कष्ट के, प्रीति के साथ उस महल में निवास करने लगे और इस प्रकार कुन्ती-सहित वहाँ रहते उन्हें एक साल बीत गया। उन्हें वह बिल्कुल ही नहीं जान पड़ा क्योंकि वे बहुत सी कलाओं के विज्ञ थे, अतः उनका काल शान्ति और प्रेम के साथ बीतता था। इधर धृतराष्ट्र के दुष्ट और कलुषित-चित्त पुत्र दुर्योधन ने पाण्डवों को मार डालने के लिए उस लाख के महल में आग लगाने की फिक्र की-उसने सोचा कि इस महल में आग लगा देने पर लाख पिघल जायेगी और तब उसमें रहने वाले ये दुष्ट-चित्त पाण्डव अवश्य ही जल कर भस्म हो जायेंगे। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥११०-११३॥

मंत्री के साथ इस प्रकार विचार जब वह निश्चित कर चुका तब उसने अर्ककीर्ति नाम के एक कीर्तिशाली कोतवाल को रात में बुलाकर कहा कि तुम इसी समय पाण्डवों के महल में आग लगाकर उसे भस्म कर डालो। तुम्हें इस काम में देर न करना चाहिए, यह मेरी आज्ञा है। इस महल में किसी के लिए आने जाने की रुकावट नहीं है, अतएव अति शीघ्र इसे भस्म कर दो। तुम कुछ भी आगा पीछा मत सोचो। इस काम को ठीक-ठीक हो जाने पर मैं तुम्हें वहीं दूँगा जो तुम चाहोगे। या अभी माँग लो जो तुम्हें रुचता हो। काम हो जाने पर मैं वह तुम्हें अवश्य दे दूँगा। समझ गये। सच तो यह है कि यदि तुम्हें धन-सम्पदा, जागीर आदि वैभव प्यारा हो तो विलम्ब न कर जल्दी जाओ और महल में आग लगा दो ॥११४-११८॥

दुर्योधन के इन अनिष्ट वचनों को सुनकर कोतवाल बोला कि नृपसत्तम, यह आप क्या कहते हैं। न्यायी पुरुषों को ऐसा अन्याय करना बिल्कुल ही उचित नहीं है। विद्वान् लोग ऐसी बातों की बड़ी निंदा करते हैं। सुजीवन, यह जो लोग धन का संग्रह करते हैं वह जीवन के लिए ही न करते

धनसंग्रहणं नृणां जीवितार्थं सुजीवनम्। तज्जीवितं क्षणस्थायि क्षणिकं तृणबिन्दुवत् ॥१२०॥
स्वापतेयमपि स्वापसदृशं सारवर्जितम्। मेघवृन्दसमं नित्यं क्षणिकं दृष्टनष्टकम् ॥१२१॥
रमार्थं मारणं पुंसां सा रमा विरमा मता। परं प्राणिवधात्पापं पापाद्दुर्गतिरुत्तरा ॥१२२॥
वसुना तेन किं साध्यमसुमन्नाशकारिणा। रमयालमतो नाथ किंचिदन्यत्प्रकाशय ॥१२३॥
श्रुत्वा दुर्योधनः क्रुद्धः प्रसिद्धः पापकर्मणि। पापच्यते स्म दासेर किमिदं कथितं त्वया ॥१२४॥
सत्प्रेषणकराः प्रेष्या विशेष्याः सर्वतः सदा। इत्युक्तियुक्तिसंपत्तिं सफलां कुरु कोविद ॥१२५॥
जानीयात्प्रेषणे भृत्यान्बान्धवान्विधुरागमे। मित्राणि चापदाकाले भार्याश्च विभवक्षये ॥१२६॥
प्रमाणीकृत्य मद्वाक्यं ममादेशं च मानय। यथा ते संपदां प्राप्तिरन्यथानर्थसंगमः ॥१२७॥
श्रुत्वेति तलरक्षः स सुपक्षस्तु सुलक्षणः। लक्षीकृत्य निजात्मानमाचख्यौ मरणे द्रुतम् ॥१२८॥
नृप देहि श्रियं स्फीतां हर वा मम सांप्रतम्। कुरु प्रसादं क्रोधेन मृत्युभाजनमेव वा ॥१२९॥
दत्स्व राज्यं दयां कृत्वा सर्वं वा हर भूपते। मां मानय मनोहारिन् मूर्धानं छिन्धि वा नृप ॥१३०॥

है। परन्तु विचार कर देखने से जाना जाता है कि यह जीवन भी तो ओस की बूँद की तरह क्षणिक है–नाश होने वाला है और स्वयं धन भी स्वप्न की तरह असार और देखते–देखते नष्ट हो जाने वाला है। यह मेघ–पटल की भाँति एक क्षण में ही नष्ट हो जाता है और जिस लक्ष्मी का लोभ देकर आप मुझे इन महा पुरुषों को मार डालने के लिए कह रहे हैं भला वह लक्ष्मी भी तो किसी के साथ हमेशा रमने वाली नहीं है व्यभिचारिणी स्त्री के जैसी है। वह इस घर से उस घर और उस घर से इस घर मारी–मारी फिरा करती है। महाराज! जीव–घात से होने वाले पाप–बन्ध से जीव की दुर्गति होती है। अतः उस धन से भी क्या लाभ जिसके द्वारा जीवों के प्राण पीड़े जायें। इसलिए प्रभो धन–सम्पदा की बात तो रहने दीजिए और जो आज्ञा हो सो कहिए ॥११९–१२३॥

कोतवाल के इस उत्तर को सुनकर दुर्योधन के क्रोध की सीमा न रही। वह आपे से बाहर हो गया। पाप करने में अग्रणी वह क्रोध के साथ बोला कि नीच तू यह क्या कहता है। जरा संभल कर बोल। सच्चा और सबसे उत्तम सेवक वही है जो मालिक की आज्ञा पालने में कभी आगा–पीछा नहीं करता। अतएव तुझे ऐसा ही बर्ताव करना चाहिए और इसी में तेरी भलाई छिपी हुई है। वह भी इस समय प्रकट हो जाएगी। क्या तूने नहीं सुना है कि काम पड़ने पर नौकरों की, संकट पड़ने पर भाई–बन्धुओं की, आपत्ति के समय मित्रों की और धन–हीन दरिद्री हो जाने पर भार्या की खूब पहिचान हो जाती है–उनके स्वभाव का इन समयों में अच्छा परिचय मिल जाता है। अतएव तुझे मेरी आज्ञा के अनुसार चलना चाहिए। ऐसा करने से तुझे सम्पत्ति मिलेगी और इसके विपरीत करने से विपत्ति का पहाड़ तेरे सिर पर टूट पड़ेगा ॥१२४–१२७॥

दुर्योधन के इन क्रोध भरे और उत्तेजित करने वाले वचनों को सुनकर सत्याग्रही कोतवाल अपने आपको मौत के हाथ में सौंप बोला कि राजन्! मुझे मार डालो चाहे जीता रहने दो, धन–दौलत दो चाहे मेरी और हर लो, मुझे अपनी प्रसन्नता का पात्र बनाओ चाहे क्रोध का, कृपा करके राज्य दो चाहे मेरा सर्वस्व हर लो, मेरा मान–सम्मान करो चाहे मस्तक काट डालो परन्तु देव, कपट

न युक्तं दहनं देव सद्मनश्छद्मना मम। व्यरंसीदिति संभण्य तलरक्षी दयार्द्रधीः ॥१३१॥
क्रुद्धेन स च निर्धाट्य विबन्ध्य तलरक्षकम्। स जडे निगडे कृत्वा कारागारेऽप्यचिक्षिपत् ॥१३२॥
पुरोधसं द्विजं क्षिप्रमाकार्यं कौरवाग्रणीः। वसनस्वर्णभूषाद्यैर्मानयित्वा नृपोऽवदत् ॥१३३॥
पुरोधः पृथिवीख्याता भूदेवा देववन्मताः। कुर्वन्तो भूमिकार्याणि यूयं भवत सिद्धये ॥१३४॥
मदिष्टं शिष्टकार्यं च संगोप्यं परमार्थः। त्वया कर्तव्यमेवात्र सत्कर्तव्यविधायिना ॥१३५॥
जातुषं धाम धीमंस्त्वं धम मद्धृतिहेतवे। विधातव्यमिदं कार्यमस्माकं सूखसाधनम् ॥१३६॥
यदीप्सितं गृहाण त्वं कुरु कार्यं क्षणार्धतः। इत्युक्त्वा तं प्रतोष्याशु वाञ्छितैर्धनसंचयैः ॥१३७॥
तद्दाहार्थं समादेशं भूदेवाय ददौ नृपः। तथात्वं सोऽपि संलुब्धो लोभतः प्रतिपन्नवान् ॥१३८॥
अहो लोभो महान्पापो लोभात्किं न प्रजायते। दुष्षमं विषमं कार्यं धिक् पुंसां लोभिनां लघु ॥१३९॥
इन्दिरा सुन्दरा नैव मन्दिरं दुष्टकर्मणः। तदायत्ताः प्रकुर्वन्ति किमकृत्यं न देहिनः ॥१४०॥
भ्रातरं पितरं पुत्रं मित्रं भृत्यं गुरुं तथा। लक्ष्मीलुब्धा नरा घ्नन्ति भूपतिं चान्यमानवम् ॥१४१॥

से मैं पाण्डवों के सुंदर महल में आग नहीं लगा सकता। यह कहकर वह दयालु कोतवाल बिल्कुल चुप हो गया, उसके मुँह से फिर एक शब्द भी न निकला। कोतवाल के इस उत्तर से दुर्योधन का क्रोध एकदम उभर आया और उसने उसे खूब मजबूत साँकल से बँधवाकर जेलखाने में डलवा दिया ॥१२८-१३२॥

इसके बाद कौरवाग्रणी दुर्योधन ने अपने पुरोहित को बुलवाया और वस्त्राभूषण आदि से उसका सम्मान कर उससे कहा कि पुरोहितजी, तुम सारे जगत् में प्रसिद्ध हो और पृथ्वी पर देव-तुल्य हो। वह इसलिए कि तुम लोगों के सब काम कर देते हो। आज हमारा भी एक काम आ पड़ा है, सो तुम उसको भी कर दो तो बड़ी कृपा हो। महाराज, मैं जिस काम को आपसे कराना चाहता हूँ वह बहुत ही गुप्त काम है। मेरा विश्वास है कि उसे तुम्हीं कर सकते हो क्योंकि उत्तम काम तुम सरीखे पुरुषों के द्वारा ही पूरे पड़ते हैं। वह कार्य यह है कि यह जो पाण्डवों का लाख का महल है इसे तुम रात में आग लगा कर फूँक दो। इससे मुझे बड़ा सन्तोष और सुख होगा। यदि आप मन चाहा पुरस्कार चाहते हो तो क्षणभर में ही इसे भस्म कर दो। यह कह कर दुर्योधन ने उन्हें मुँह माँगा धन देकर संतुष्ट कर दिया और महल जला डालने की उनसे स्वीकारता ले ली। लोभी द्विज ने भी लोभ के वश हो यह अनर्थ करना स्वीकार कर लिया ॥१३३-१३८॥

हाय, यह लोभ इतना बड़ा पाप है कि इसके बराबर दूसरा कोई पाप नहीं। इस लोभ से अत्यन्त कठिन और दुख-मय कार्य हो जाते हैं। अतः लोभी पुरुषों के लोभ को धिक्कार है, एक बार नहीं, सौ बार नहीं किन्तु असंख्य और अनंत बार धिक्कार हैं। यह लक्ष्मी सुख देने वाली है, जो ऐसा कहते हैं वे भारी भूलते हैं किन्तु यह तो खोटे कर्मों की खान है। इसके अधीन होकर लोग क्या-क्या दुष्कृत्य नहीं करते। जरा ही सोचो तो मालूम होगा कि इससे ही संसार के सारे अनर्थ होते हैं और तो क्या लोभी पुरुष भाई-बहिन, माता-पिता, स्त्री-पुत्र, नौकर-चाकर, गुरु और राजा आदि किसी

पद्मासद्माश्वदन्त्यादीन्पौरस्त्या नरपुङ्गवाः। दीक्षेप्सवो विमुच्याशु वन्यां वृत्तिं प्रभेजिरे ॥१४२॥
सूत्रकण्ठो विकुण्ठः स हठाद्दुर्लण्ठमानसः। लक्ष्मीलोभेन संजातस्तद्धामदहनोद्यतः ॥१४३॥
तद्धामसंनिधिं धृष्टो धाष्ट्र्येन विदध ध्रुवम्। इत्वाथ ज्वालनं क्षिप्रं चतुःपार्श्वे स वाडवः ॥१४४॥
दुर्जनाः किं न कुर्वन्ति स्वीकृतं दुष्टमानसाः। किं न खादन्ति वै काकाः किं न जल्पन्ति वैरिणः ॥१४५॥
स दुष्टोऽनिष्टसंनिष्ठः क्लिष्टचेता हुताशनम्। दत्त्वा समाटितः क्वापि शुभं चेतः क्व पापिनाम् ॥१४६॥
जज्वाल ज्वलनो ज्वाल्यं वेश्म संदीप्य ज्वालया। गगनं गतया तूर्णं दाहकानां तु का कृपा ॥१४७॥
लाक्षागृहं दहज्ज्वालालीढं च विपुलात्मकम्। दिदीपे दाहको दीप्रो दीप्यते किं न दाहकः ॥१४८॥
ततः सुप्ता नराधीशास्तदा पञ्चापि पाण्डवाः। जजागरुर्न सुश्रान्ता निद्रा हि मरणायते ॥१४९॥
लक्ष्यीकृताग्निना लाक्षा विपक्षेव क्षणार्धतः। ज्वलन्ती ज्वालयामास वस्तु वेशमगतं वरम् ॥१५०॥
कथं कथमपि प्रायः प्रीताः पञ्चापि पाण्डवाः। जजागरुर्महाज्वालालीढसद्वेशमभित्तयः ॥१५१॥
उन्निद्रा ददृशुर्ज्वालां ज्वालायन्तीं निकेतनम्। परितो जतुसंदीप्तां चलां कल्पान्तजामिव ॥१५२॥

को भी मारने से नहीं हिचकते। एक जमाना था जबकि ऐसे भी नर-पुंगव हो गये हैं जिन्होंने दीक्षा की इच्छा से लक्ष्मी, महल, हाथी-घोड़े आदि सब सम्पत्ति को जलाञ्जलि दे वन्यवृत्ति अर्थात् नग्न दिगम्बर भेष को पसंद किया था ॥१३९-१४२॥

इसके बाद वह जनेउधारी मूढ़ तथा जड़ द्विज लक्ष्मी के लोभ में फँसकर पाण्डवों के महल को जलाने के लिए तैयार हो गया और जाकर उस दुष्ट ने महल के चारों ओर आग लगा दी। सो ठीक ही है कि दुष्ट, दुर्जन जन कौन-से अनर्थ नहीं करते, कौआ कौन-सी वस्तु को नहीं खाता और वैरी कौन-सी बात को नहीं कहता। भावार्थ यह कि दुर्जन सभी अनर्थों को कर डालते हैं, कौआ विष्टा वगैरह सब कुछ घृणित वस्तु खा जाता है और वैरी जो मन में आता सो कह डालता है ॥१४३-१४५॥

इसके बाद वह दुष्ट, अनिष्टकारी और कलुषित-चित्त पुरोहित न जाने कहाँ चला गया। ग्रन्थकार कहते हैं कि पापियों का चित्त कभी शुभ नहीं हो सकता। इधर आग आकाश तक उठने वाली अपनी भयंकर ज्वाला से महल को खूब जलाने लगी। ठीक ही है कि आग लगा देने वाले पुरुषों में दया नहीं होती। इस समय उस लम्बे-चौड़े और ज्वाला से खूब घिरे हुए महल को जलाती हुई आग अत्यन्त दीप्त हो रही थी, दूर-दूर से उसका उजेला देख पड़ता था। सो ठीक ही है कि जलाने वाली आग स्वयं भी तो जलती है। अतः उसका इतना तेज हो जाना कोई बात नहीं है ॥१४६-१४८॥

परन्तु ऐसे समय में भी पाण्डव लोग जाग्रत नहीं हुए। लोग कहते है कि नींद शान्ति है-विश्राम है परन्तु उनका यह भ्रम है क्योंकि नींद विश्राम नहीं किन्तु सुध-बुध भुला देने वाली एक तरह की मौत ही है। इधर आग ने लाख को शत्रु की तरह अपना लक्ष्य बना कर क्षणभर में ही महल की सब सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ जला-कर भस्म कर दीं। धीरे-धीरे जब उसकी महाज्वाला से महल की सारी दीवालें जलने लगी और उसकी आँच का उन पर कुछ असर हुआ तब पाण्डव जाग्रत हुए और

इतस्ततः प्रपश्यन्तो निर्गमोपायमात्मना। नाशक्नुवन्पदं दातुं क्वापि ज्वालाकरालिते ॥१५३॥
तडत्तडत्प्रकुर्वन्तीं स्फोटयन्तीं सुभित्तिकाम्। ज्वालां ककुप्सु संप्राप्तां ददृशुः पाण्डवास्तदा ॥१५४॥
अनवेक्ष्य सुधर्मात्मा धर्मपुत्रः सुधर्मधीः। हेतुं निर्गमने गम्यं सस्मार श्रीजिनेशिनः ॥१५५॥
अपराजितमन्त्रेण मन्त्रयित्वा स्वमानसम्। युधिष्ठिरः स्थिरं तस्थौ स्थाम्ना स्थगितमानसः ॥१५६॥
अहो कर्मक्रियां पश्यन्नजय्यां सज्जनैरपि। फलन्तीं फलमुत्कृष्टं तत्कर्म कुरुषे कथम् ॥१५७॥
कर्मणा कलिताः सन्तः सन्तः सीदन्ति संसृतौ। कर्मणां पाकतः पुत्राः सागराः किं न दुःखिताः ॥१५८॥
अर्ककीर्तिः क्षिता ख्यातो बन्धनं जयतो गतः। कर्मणान्ये न किं प्राप्ता बन्धनं भुवि भूमिपाः ॥१५९॥
ज्वालनं ज्वलनं प्राप्ताः कर्मणा वयमप्यहो। अतः कर्मच्छिदं देवं स्मरामो विस्मयातिगाः ॥१६०॥
इति संचिन्तयंश्चित्ते स्थिरो ज्येष्ठो विशिष्टधीः। तावता सहसा बुद्धा कुन्ती संप्राप्तचेतना ॥१६१॥

जाग्रत होते ही उन्होंने देखा कि लाख के संयोग से खूब ही प्रदीप्त हुई आग की ज्वाला सब ओर से महल को जला रही है। जान पड़ता है मानों वह प्रलय की ही अग्नि है। उन्होंने अपने निकलने के लिए इधर-उधर बहुत उपाय किये परन्तु आग की ज्वाला के मारे उन्हें कहीं भी पाँव देने को जगह न देख पड़ी। उस समय पाण्डवों ने देखा कि तड़तड़ाती हुई भीतों को ढाहती हुई ज्वाला सब दिशा में फैल रही है, ऐसी जरा भी जगह नहीं बची है जहँ उसने अपना साम्राज्य न जमा लिया हो ॥१४९-१५४॥

इधर-उधर बहुत देखने पर जब कहीं से भी उन्हें निकलने का उपाय न देख पड़ा तब धर्मात्मा और धर्म-बुद्धि युधिष्ठिर स्थिर-चित्त से श्रीजिनेन्द्र का स्मरण करने लगे उनके नाम की माला जपने लगे। वह पंच नमस्कार मंत्र से अपने मन को मंत्रित करके अपने तेज से आग को भी दवाकर स्थिर हो बैठ गये ॥१५५-१५६॥

वे विचारने लगे-आश्चर्य है कि कर्म इतने विकट हैं कि उन पर सज्जनों का भी वश नहीं चलता-उन्हें वे भी नहीं जीत सकते और उसके तीव्र फल को भोगते हैं। फिर भी हे आत्मन्! तू इन कर्मों की क्यों करता है, अब तो इनसे अपना पिंड छुड़ा। इन कर्मों के कारण ही सत्पुरुष संसार में दुख उठाते हैं। देखो, इन्हीं के फल से तो सगर के पुत्र दुखी हुए और इन्हीं के जाल में पड़कर जगत् प्रसिद्ध अर्ककीर्ति जो कि भरत चक्रवर्ती का पुत्र था, जय सेनापति द्वारा बँधन में पड़ा ॥१५७-१५९॥

इसमें बिल्कुल सन्देह नहीं है तथा इनके सिवाय और-और राजा लोग भी इन्हीं के प्रेरे हुए संसार में वध-बंधन आदि के दुखों के भोक्ता हुए हैं एवं खेद की बात है कि हम भी इन्हीं दुष्ट कर्मों की कृपा से आज आग के मुँह में आ पड़े हैं और इन्हीं की कृपा से यह हमें जलाकर भस्म किये देती है। इसलिए अब विस्मय को दिल से निकाल कर हमें इन दुष्ट कर्मों की छेदने वाले प्रभु का स्मरण करना चाहिए ॥१६०॥

इस प्रकार विचार कर विशिष्ट-बुद्धि युधिष्ठिर बैठे ही थे कि इतने में सहसा संतप्त-चेतना कुन्ती जाग उठी और वह जलते हुए महल के आगे आकर उपस्थित हुए दुर्गम दुखों को देख रोने लगी कि

ज्वलत्सा सदनं वीक्ष्य रुरोद विशदाशया। अग्रतो दुर्गमं दुःखं वीक्षमाणा व्यवस्थितम् ॥१६२॥
अहो मया कृतं दुष्टं कर्म किं कलुषात्मकम्। यत्प्रभावादिदं लब्धं फलं प्रविपुलं परम् ॥१६३॥
अहो पापस्य पाकेन पापच्यन्ते परा नराः। पुनस्तदेव कुर्वन्ति धिगज्ञानं जनोद्भवम् ॥१६४॥
किं कुर्मः क्व प्रयामः क्व तिष्ठामः समुपस्थिते। वीतहोत्रे विशुद्धेऽस्मिन्गेहे प्रज्वलति स्फुटम् ॥१६५॥
रुदन्तीं तां तदा कुन्तीं कृन्तन्तीं कुन्तलान्निजान्। निषिद्ध्य निर्भयो भीमः समुत्तस्थे निजासनात् ॥१६६॥
इतस्ततो भ्रमन्भीमोऽभीतात्माऽभ्रष्टभानुकः। लेभे धरागतां पुण्यात्सुरङ्गां देशनामिव ॥१६७॥
ततस्तन्मार्गतस्तूर्णं निर्जग्मुर्गमनोत्सुकाः। सुस्नेहाः स्नेहतः कुन्त्या चिन्तयन्त्या जिनं च ते ॥१६८॥
क्षणात्ते क्षिप्तचेतस्का लङ्घयित्वा गृहं गताः। वनं भव्या भवं भुक्त्वा यथा यान्ति सुनिर्वृतिम् ॥१६९॥
अहो पश्यत पुण्याढ्याः शुद्धं सुश्रेयसः फलम्। अज्ञातात्र सुरङ्गापि दर्शिता येन तत्क्षणम् ॥१७०॥
वृषाद्वारीयते वह्निर्जलधिः स्थलति ध्रुवम्। चित्रं मित्रायते शत्रुर्नागो महालतायते ॥१७१॥
ततस्ते पाण्डवास्तूर्णं गत्वा प्रेतवनान्तरे। अशर्मकलितास्तस्थुः कुन्तीयुक्ताः सुयुक्तितः ॥१७२॥
तत्र भीम उपायज्ञो मृतकानां गतात्मनाम्। षट्कं स्वयं गृहीत्वाशु गत्वा लाक्षागृहान्तिकम् ॥१७३॥

हाय! मैंने ऐसा कौन-सा निकृष्ट कर्म किया है, जिसके प्रभाव से मुझे ऐसा भारी दुस्सह दुख-रूप फल मिला है। आश्चर्य है कि ये लोग जिस पाप के फल से तीव्र दुखों को भोगते हैं फिर भी उसी पाप को करते हैं ॥१६१-१६२॥

अहो धिक्कार है लोगों के इस अज्ञान को जिसके पंजे में फंस जाने से उन्हें कुछ भी हित-अहित का विवेक नहीं रह जाता। अब मैं क्या करूँ और कहाँ जाऊँ, जबकि सब ओर से खूब ही जल रही इस भयंकर आग में यह महल बिल्कुल ही जला जा रहा है। ऐसी हालत में मैं कहाँ ठहर कर अपने प्राणों को बचाऊँ। मुझे तो कुछ उपाय ही नहीं सूझ पड़ता है। इस तरह विलाप करती हुई कुन्ती को भीम ने समझाया और वह निर्भय अपने आसन से उठकर इधर-उधर रास्ता सोधने लगा। आग इस जोर से बढ़ रही थी कि डर के मारे उसके शरीर की कान्ति भी फीकी पड़ गई। पुण्ययोग से इसी समय उसे सच्चे उपदेशक के जैसी वह सुरंग मिल गई जो कि पृथ्वी के भीतर ही भीतर विदुर ने खुदवाई थी। परस्पर के स्नेह से भरे हुए वे सब पाण्डव जिन भगवान् को हृदय में धारण करने वाली कुन्ती-सहित उस सुरंग के रास्ते से बाहर निकल अति शीघ्र वहाँ से चलकर वन में पहुँच गये-जैसे कि भव्य-पुरुष थोड़ी ही देर में संसार को नाश कर मुक्ति में पहुँच जाते हैं। पुण्य का फल कितना मनोहर और अच्छा है कि जिसके प्रसाद से अनजानी सुरंग भी वक्त पर हाथ आ गई। इसी पुण्य से आग जल हो जाता है, समुद्र थल हो जाता है, शत्रु मित्र और साँप गिजाई हो जाता हैं ॥१६३-१७१॥

इसके बाद वे विपन्न पाण्डव कुन्ती-सहित मसान भूमि में पहुँचे। वहाँ पहुँच कर उपाय खोज निकाल ने में प्रवीण भीम ने अपनी रक्षा के लिए एक नई ही युक्ति खोज निकाली और उसने उसे कार्य-रूप में परिणत भी कर दिया। वह मसान भूमि से छह मुर्दे उठा ले जाकर उन्हें अति शीघ्र जलते हुए लाख के महल में डाल आया। इसलिए कि जिससे लोग समझें कि पाण्डव जल कर मर

अक्षिपत् क्षणतः क्षूणो न लक्ष्यो नरनायकैः। तत्र तूर्णं विनिवृत्तस्ततः सल्लक्षणान्वितः ॥१७४॥
अलक्ष्यास्ते विलक्ष्यास्ते क्षितौ क्षितिपनन्दनाः। एकत्रीभूय निर्जग्मुरहार्या इव जङ्गमाः ॥१७५॥
तत्र प्रातस्तदा जातं द्रष्टुं तान्पाण्डुनन्दनान्। धार्तराष्ट्राः समाजग्मुर्मुखतो दुःखभाषणाः ॥१७६॥
सर्वस्मिन्नगरे तद्धि विज्ञाय नागरोत्कराः। हाकारमुखरा मुख्या दुःखं भेजुरतित्वरा ॥१७७॥
किमद्य नगरे जातं सुजात्यजनवर्जनम्। अहो दुःखं खरं क्षिप्रं क्षिप्तं केनात्र पापिना ॥१७८॥
पाण्डवाः खलु पाण्डित्यमटन्तः पटुमानसाः। प्रचण्डाश्चण्डकोदण्डा घटिताः शुभकर्मणा ॥१७९॥
पराक्रमसमाक्रान्तनिःशेषभुवनेश्वराः। अनुल्लङ्घ्याः सुलङ्घ्यास्ते कथं जाताः स्वकर्मभिः ॥१८०॥
विदग्धास्ते कथं दग्धा धिग्वैदग्ध्यं तवाधुना। विधे विधुरतां नीता ईदृशा हि नरास्त्वया ॥१८१॥
संदिग्धं मानसं मेऽद्य जातमस्ति सुचिन्तनात्। ईदृशाः केन दह्यन्ते विदग्धाः कर्मणेति च ॥१८२॥
किं ते दग्धा न वा दग्धा विदग्धा मम मानसम्। संदिग्धमीदृशानां हीतीदृशं मरणं कथम् ॥१८३॥
पुण्यवन्तः पुमांसस्तु प्रायशो नाल्पजीविनः। तथापि नेदृशो मृत्युर्महतां जायते लघु ॥१८४॥
अहो अद्य पुरं जातं निःशेषं चोद्वसं लघु। उद्वसे च पुरे स्थातुं वयं शक्ताः कथं ननु ॥१८५॥

गये। उसे किसी ने भी देख न पाया और वह अति शीघ्र पीछा लौट आया। इसके बाद वे राज-नन्दन पाण्डव चुप-चाप वहाँ से चल दिये। वे जाते हुए ऐसे शोभते थे मानों पहाड़ ही चलते हैं ॥१७२-१७५॥

उधर जब हस्तिनापुर में सबेरा हुआ तब ऊपर से दुख का ढोंग दिखाते हुए कपटी कौरव पाण्डवों को देखने के लिए आये। धीरे-धीरे यह बात सारे नगर में फैल गई। इस अनहोनी बात की सुनकर नगर के सब लोगों को बड़ा दुख हुआ-सबके हृदयों में वज्र से भी भयंकर चोट लगी। उनके मुँह से निकली हुई हाहाकार की ध्वनि ने सारे नगर को शोक-पूरित कर दिया। वे लोग तीव्र दुख के आवेग से रोते और कहते थे कि आज इस नगर में समझ लो कि श्रेष्ठ और सज्जन पुरुषों का नाम शेष ही हो गया है। न जाने किस दुष्ट वैरी ने इन सत्पुरुषों को काल के मुँह में पहुँचा दिया है। पुण्य से पाण्डव कितने अच्छे पण्डित, शान्ति, निर्मल-चित्त, तेजस्वी और धनुष-विद्या-कुशल थे। वे कितने पराक्रमी थे। उनके पराक्रम के आगे सभी शीश झुकाते थे। उन्होंने अपने पराक्रम से सब राजाओं-महाराजाओं पर विजय पाली थी। आश्चर्य है कि ऐसे पराक्रमी और महाभागों को भी दुष्ट कर्मों ने अपने जाल में फंसा लिया-वे भी इनके पंजे से न छूटे। अहो, कर्म, तेरी चतुराई को धिक्कार है, असंख्य और अनंत बार धिक्कार है जो तूने ऐसे अच्छे विद्वान् और बुद्धिमान् पाण्डवों को भी भस्म कर दिया एवं पांडवों के वियोग से दुखी होकर कोई कहता था कि विचार करने से मुझे यह सन्देह होता है कि ऐसे विद्वान् और व्यवहार-कुशल पाण्डव कैसे भस्म किये गये और क्यों किये गये। मुझे यह भी सन्देह है कि ऐसे उत्तम पुरुषों का इस रीति से मरण हो। इसका कोई विशेष कारण नहीं जाना जाता और एक बात यह भी है कि, पुण्यात्मा पुरुष प्रायः, करके हीन आयु वाले नहीं होते और जो होते भी हैं उनका इस तरह से मरण नहीं होता ॥१७६-१८४॥

देखो, आज सारा नगर कैसा बुरा उजाड़ सा देख पड़ता है। हा, अब ऐसे ऊजड़ नगर में भला

अद्यैव मेघवद्ध्वस्तो मेघेश्वरमहीपतिः। अद्यैव शान्तिचक्रीशः शान्तिं यातो महीतले ॥१८६॥
अद्यैव शान्तनुः श्रीमान्गतोऽस्माकं सुदुःखतः। महाभ्यासस्तु स व्यासः किमद्यासौ मृतिं गतः ॥१८७॥
अद्यैवाहो मृतिं यातः प्रकटं पाण्डुपण्डितः। इति ते रुरुदुः पौराः पाण्डवेषु गतेषु च ॥१८८॥
मिलच्छोको गलन्मोदो गाङ्गेयो गुणगौरवः। किंवदन्तीमिमां श्रुत्वा मुमूर्च्छ मतिमोहतः ॥१८९॥
मूर्च्छया मोहितः सोऽपि मृत्युसख्येव प्राप्तया। हरन्त्या चेतनां चिन्त्यां सातं छेत्तुमवाप्तया ॥१९०॥
शनैः शनैर्गता मूर्च्छा तद्देहाच्छीतवस्तुतः। अलक्ष्मीरिव चोत्तस्थे गाङ्गेयः शोकसंगतः ॥१९१॥
स सिञ्चञ्शोकसंतप्तो धरामश्रुसुधारया। रुरोद हृदये खिन्नः प्रस्विन्नः शोकवारिभिः ॥१९२॥
अहो सुताः कथं दग्धा विदग्धाः सर्ववस्तुषु। युष्मदृते कथं सातमस्माकं शङ्कितात्मनाम् ॥१९३॥
भवादृशां कथं युक्ता पञ्चता पावकाद्भवेत्। मृत्युश्चेत्संगरे युक्तं वैरिवृन्दमदापहे ॥१९४॥
अथवा धर्मयोगेन दीक्षया शिक्षयाथ वः। संन्यासेनात्मसाध्येन मृत्युर्युक्तो न चान्यथा ॥१९५॥

हम लोग कैसे रह सकेंगे। आज तो ऐसा दीखता है कि मानों मेघ की समता करने वाला मेघेश्वर नरेश आज ही मृत्यु का ग्रास बना है और आज ही शान्तिनाथ चक्रवर्ती ने इसे अनाथ किया है। क्या हम लोगों के दुख को देख न सकने के कारण आज ही शांतनु राजा और व्यास काल-कवलित हुए हैं। क्या सचमुच आज पाण्डु की मृत्यु हुई है। तात्पर्य यह कि पाण्डवों के गुप्त रूप से चले जाने और उनकी जगह मुर्दे देखने से नगरवासी लोगों ने बड़ा विलाप किया ॥१८५-१८८॥

जब गांगेय ने इन सब बातों को सुना तब उसका मन शोक से भर आया। उसके चेहरे पर बड़ी उदासी छा गई। तीव्र मोह के कारण उसे मूर्छा आ गई वह बेहोश हो गया। जान पड़ता था मानों उसके शरीर से मृत्यु ही लिपट गई है और है भी ऐसा ही कि मृत्यु मूर्च्छा की सखी ही है, तब उसका वहाँ भ्रम होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मृत्यु से जिस तरह मनुष्य सब सुध भूल जाता है उसी तरह मूर्च्छा से भी भूल जाता है अतः मूर्छा के समय मृत्यु का भ्रम होना बहुत ही वाजिब है ॥१८९-१९१॥

इसके बाद चंदन आदि शीतोपचार से उसकी मूर्छा दूर हुई और वह दरिद्र की तरह शोक में डूबा हुआ उठा। शोक से संतप्त होने के कारण उसके नेत्रों से आँसुओं की धारा वह निकली, वह शोकरूप वारि (जल) से एकदम सरोवर के जैसा हो गया। उसके हृदय में बड़ा खेद हुआ। वह विलाप करने लगा के पुत्र, तुम तो सब बातों को जानते-समझते थे, फिर इस तरह कैसे जला दिये गये! क्या तुम्हें इस बात का कभी भान ही न हुआ था। कहिए तो अब तुम्हारे बिना हमेशा दुखित रहने वाले हम लोग सुख कैसे पा सकेंगे। हमें इस बात में सन्देह है कि भला, तुम सरीखे पुण्य-पुरुषों की मृत्यु आग से क्यों कर हुई। चाहिए तो यह था कि यदि तुम्हारी मृत्यु ही इस समय होती तो वह बैरियों के मद को उतार देने वाले युद्ध में होती अथवा धर्मधारण के साथ दीक्षा और आत्म-साध्य संन्यास के द्वारा तुम्हारी मृत्यु होती। इसके सिवाय और तरह से तुम्हारी मृत्यु होना बहुत ही बुरा हुआ। जान पड़ता है कि तुम लोगों की इन दुष्ट कौरवों ने ही जला दिया है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। पापी पुरुषों की बुद्धि पाप-रूप ही होती है, उसमें हित-अहित के विचार की तो गंध ही नहीं रहती और ऐसा

वैरिभिः कौरवैश्चाहो यूयं दग्धा भविष्यथ। पापिनां पापरूपाहो प्रज्ञा विज्ञानवर्जिता ॥१९६॥
गाङ्गेयवत्तकां द्रोणः श्रुत्वा मूर्च्छामवाप च। उन्मूर्च्छितो विलापेन मुखरं दिक्चयं व्यधात् ॥१९७॥
अहो कौरवपापानामनुष्ठानं कुचेष्टिनाम्। शिष्टातिगमनिष्टं च नन्विदं निश्चितं बुधैः ॥१९८॥
तदा कौरवभूपालान्बभाण भयवर्जितः। द्रोण इत्थं न युक्तं भोः कुलक्रमविनाशनम् ॥१९९॥
खलीकुर्वन्ति लोका हि खलाः स्खलितमानसाः। सज्जनान्कटुकान्किं न यथा कुमारिकारसः ॥२००॥
इति निर्भर्त्सिता भूपा अधोवक्त्रास्तु कौरवाः। अभवन्निर्दयानां हि का त्रपा धर्मधीश्च का ॥२०१॥
तदा लोकाः समागत्य वह्निविध्यापनं व्यधुः। शोकार्ता अर्तितः किं न कुर्वन्ति दुष्करां क्रियाम् ॥२०२॥
केचिद्भेणुर्भयग्रस्ता इति लोकाः सुलोकनैः। लोक्यन्तां तच्छरीराणि मृतावस्थां गतानि च ॥२०३॥
तदा तानि विलोक्याशु केचिदूचुः शुचं गताः। अयं युधिष्ठिरः स्थेयानयं भीमो महाबलः ॥२०४॥
सार्जुनश्चार्जुनो वर्यो नकुलोऽयं सुनिर्मलः। देवसेवासहश्चायं सहदेवः शुभाशयः ॥२०५॥
सतीयं सुकुमाराङ्गी कुन्ती सत्कुन्तला वरा। निर्मला विपुलाप्येषां जननी दग्धदेहिका ॥२०६॥
विदग्धा अर्धदग्धानि मांसपिण्डोपमानि च। शवानि तानि संवीक्ष्य बभूवुस्तत्समा इव ॥२०७॥

ही हुआ भी है ॥१९२-१९६॥

पाण्डवों की मृत्यु का हाल सुन गांगेय की तरह द्रोणाचार्य को भी मूर्च्छा आ गई और वह शोक से विलाप करने लगे जिससे दसों-दिशायें शब्द-मय हो गई। उन्होंने सोचा कि नीच काम करने वाले पापात्मा कौरवों ने ही यह शिष्टों के विरुद्ध अनिष्ट काम किया है औरों से ऐसा अनिष्ट होना असम्भव नहीं तो असाध्य अवश्य है। द्रोण से रहा न गया और उस निर्भय ने कौरव-राजाओं से खुल्लमखुल्ला कहा कि आप लोगों को इस तरह से अपने कुटुम्ब का विनाश कर देना उचित न था परन्तु दुष्ट-चित्त खल पुरुषों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे सज्जनों को भी दुर्जन बना देते हैं, जैसे कि तूमड़ी का रस मीठी से मीठी चीज को भी कड़वा बना देता है। द्रोण के इस तिरस्कार से कौरवों ने अपना सिर नीचा कर लिया, वे बहुत ही लज्जित हुए। फिर ऊँचा मुँह करने का भी उनका साहस न हुआ। सच तो यह है कि कहीं निर्दय पुरुषों के भी लाज और धर्म-बुद्धि हो सकती है। इस वक्त चारों ओर से नगर के लोग आ गये और उन्होंने महल की आग बुझाई। शोक से पीड़ित हुए पुरुष क्या कठिन काम नहीं करते किन्तु जब जैसा मौका आता है तब वैसा ही उन्हें करना पड़ता हैं क्योंकि शोक करके बैठ जाने से भी तो काम नहीं चलता। वे आग बुझाने वाले उन मुर्दों को देखकर बोले कि देखो ये पाण्डवों के मुर्दा शरीर पड़े हुए हैं। उस समय उन मुर्दों को देखकर कोई शोकातुर बोला कि यही स्थिर-चित्त युधिष्ठिर हैं, यह महाबली भीम हैं, यह सरल-चित्त अर्जुन हैं और यह निर्मल नकुल तथा देवताओं द्वारा सेव्य और पवित्र हृदय वाले सहदेव हैं और यह सुकुमार अंग तथा सुंदर वालों वाली अबला इनकी जननी कुन्ती का मुर्दा शरीर पड़ा है। देखो, यह सती कितनी निर्मल और विशाल हृदय वाली थी एवं वे सब विदग्ध पुरुष, अध-जले मांस के पिंड समान उन मुर्दों की देखकर उनके जैसे ही अध-जले हो गये-उन्हें बड़ा भारी शोक हुआ ॥१९७-२०७॥

पुनः पुनः परावृत्य कुणपान्यावनान्नृपाः। आलोक्य निश्चिता जाताः पाण्डवा ज्वलिता इति ॥२०८॥
तन्निश्चये तदा लोकास्तद्दिने पानभोजनम्। व्यापारं पण्यवीथीनां तत्यजुर्गृहकर्म च ॥२०९॥
हाकारमुखरा लोका हाकारमुखराः स्त्रियः। तदाभवन्महाशोकाद्हाकारमुखरं पुरम् ॥२१०॥
गान्धारी लब्धसंतोषा समृद्धा सर्वराज्यतः। सुतवर्धापनव्याजात्तदा चक्रे महोत्सवम् ॥२११॥
तद्वार्तां विस्तृतां लोके संप्राप्तां द्वारकां पुरीम्। दाशार्हाः शुश्रुवुर्भोजाः प्रलम्बघ्नश्च केशवः ॥२१२॥
समुद्रविजयः श्रीमान्समुद्र इव विस्तृतः। रुड्वाडवाग्निना क्षुब्धश्चचाल रुक्सुवीचिमान् ॥२१३॥
हलायुधो महायोद्धा समृद्धो विविधायुधः। युद्धार्थं स च संनद्धो बली कोऽत्र विलम्बते ॥२१४॥
दामोदरस्तदा दर्पाद्वारितानेकशात्रवः। करं व्यापारयामास संनाहे सिंहविक्रमः ॥२१५॥
शोकसंतप्तसर्वाङ्गा बाष्पपूरितलोचनाः। दुन्दुभिं दापयामासुः संगराय च यादवाः ॥२१६॥

वे लौट-लौटकर उन मुर्दों को देखने लगे और बड़ी देर तक देख भालकर उन्होंने यही निश्चय किया कि पाण्डव ही जल गये हैं और इस निश्चय के अनुसार ही शोक के मारे उन लोगों ने उस दिन खाना, पीना और अपना व्यापार धंधा भी बन्द कर दिया। सब लोग दुख से व्याकुल हुए बैठे रहे। अधिक क्या कहें उस दिन शोक के मारे क्या पुरुष, क्या स्त्रियाँ, क्या बाल-बच्चे यहाँ तक कि पशु पक्षी तक-सबकी हाय-हाय की ध्वनि से सारा शहर गूंज रहा था। भावार्थ यह कि उस दिन का दृश्य शोक का बड़ा भारी भयंकर दृश्य था, जो हृदय को विदार कर टुकड़े करने वाले वज्र-प्रहार के जैसा था। उधर पाण्डवों की मृत्यु सुन धृतराष्ट्र की रानी गांधारी को बड़ा भारी संतोष हुआ। सम्पूर्ण राज्य मिल जाने की खुशी में उसने पुत्र की बधाई के बहा ने खूब उत्सव मनाया ॥२०८-२११॥

धीरे-धीरे पाण्डवों के जल-मरने की बात सारे संसार में फैल गई और कुछ समय में वह द्वारिका पुरी में समुद्रविजय आदि दसों भाइयों और बलभद्र नारायण के कानों में पड़ी। उसको सुनकर उन्हें भी बड़ा भारी रंज हुआ। अतएव भयानक बड़वानल से क्षोभ को प्राप्त हुए समुद्रविजय से न रहा गया-कौरवों का यह अन्याय उनसे न सहा गया। अतः वे समुद्र की तरंगों की तरह सेनारूप तरंगों से लहराते हुए द्वारिका से हस्तिनापुर की ओर रवाना हुए और इसी प्रकार सब तरह से समृद्ध, भाँति-भाँति के आयुधों वाला महान् योद्धा, बली बलभद्र भी युद्ध के लिए उसी वक्त तैयार हुआ और है भी ठीक ही कि जो बलवान् होता है वह ऐसे समय कभी विलम्ब नहीं कर सकता। इसी प्रकार अनेक शत्रुओं को जड़ मूल से उखाड़ फेंक देने वाले और सिंह के जैसे पराक्रमी कृष्ण नारायण ने भी कवच पहनने को अभिमान से अपने हाथ पसारे और कवच पहिन कर वह युद्ध के लिए तैयार हो गया ॥२१२-२१४॥

इस घटना को सुनकर और सब यादवों को भी बड़ा दुख हुआ। उन सबका शरीर भी शोक से संतप्त हो उठा। उनके नेत्रों में आँसू भर आये और कौरवों के इस अन्याय से वे बहुत ही क्षुब्ध हुए। अतः उन्होंने युद्ध के लिए रण-भेरी बजवाई-युद्ध की घोषणा कर दी। उस भेरी के शब्द को सुनकर कुछ पंडित लोगों को क्षोभ हुआ और वे समुद्रविजय, कृष्ण और बलदेव के पास आकर

तद्भेरीनादतः क्षुब्धा विबुधा बोधवेदिनः। दाशार्हाश्च हृषीकेशं बलमभ्येत्य चाभणन् ॥२१७॥
किमर्थमयमारम्भो विज्ञाप्यं श्रूयतामिति। योग्ये समुद्यमो युक्तो विदुषां चान्यथा क्षितिः ॥२१८॥
हृषीकेशोऽगदीद्दीप्तो दीप्त्या भास्करसंनिभः। कौरवानत्र चानीय क्षिपामि वडवानले ॥२१९॥
अथवा खण्डशः क्षिप्रं खण्डयित्वाखिलान्रिपून्। आजौ जित्वा स्वजय्योऽहं दास्यामि ककुभां बलिम् ॥२२०॥
दग्ध्वाथ पाण्डवांश्चण्डाः क्व ते स्थास्यन्ति कौरवाः। मयि क्रुद्धे समृद्धे च मृगारौ द्विरदा इव ॥२२१॥
दुर्योधनादयो रङ्कास्तावद्गर्जन्ति जर्जराः। यावन्मां न च पश्यन्ति दर्दुरा वा भुजंगमम् ॥२२२॥
निशम्येति वचस्तस्य कश्चिद्विबुधसत्तमः। उवाच वचनं वाग्मी विदिताखिलविष्टपः ॥२२३॥
नृपेन्द्र च्छिद्रमावीक्ष्य च्छलनीया महाद्विषः। घटिका छिद्रतो नूनं जलं हरति निर्जला ॥२२४॥
निश्छिद्राः कष्टतः साध्या दुर्लक्ष्या विबुधैरपि। मुक्ताफलानि प्रोतानि निश्छिद्राणि भवन्ति किम् ॥२२५॥
अद्य कौरवाः संदृप्ताः संक्लृप्तजयसद्बलाः। शरीरजैर्बलैर्मत्ता घोटकाद्यैर्विशेषतः ॥२२६॥
मानयन्ति न ते मत्ताः परान्बलविवर्जितान्। जानन्तश्च यथा तूर्णं नरा मद्यसुपायिनः ॥२२७॥

उनसे कहने लगे कि आप लोगों का योग्य बात के लिए उद्योग करना अच्छा ही है। विद्वानों को चाहिए भी ऐसा ही, नहीं तो मरण के सिवाय और कोई दूसरा फल नहीं हो सकता है। यह सुनकर अपनी दीप्ति से सूरज की तुलना करने वाला नारायण बोला कि मैं कौरवों को यहाँ बाँध लाकर बड़वानल में डाल दूँगा अथवा युद्ध में जीत कर उनके टुकड़े-टुकड़े करके दिशाओं की बलि चढ़ा दूँगा ॥२१५-२१९॥

मैं सच कहता हूँ कि जिस तरह से सिंह के क्रुद्ध होने पर हाथियों की कहीं भी जंगल में रहने को जगह नहीं मिलती उसी तरह मुझ सरीखे समृद्धशाली के क्रुद्ध होने पर पाण्डवों को मारने वाले चंड कौरव कहाँ रहेंगे-उन्हें कहीं भी जगह न मिलेगी-वे भागे-भागे फिरेंगे। सुनिए ये रंक और जर्जर बिचारे कौरव तभी तक गरजते हैं जब तक कि इन्होंने मुझे नहीं देखा। कौन नहीं जानता कि मेंढक तब तक ही टरटर किया करते हैं जब तक कि वे साँप का दर्शन नहीं करते ॥२२०-२२२॥

कृष्ण के इन वचनों को सुनकर सम्पूर्ण बातों का ज्ञाता एक वाग्मी बोला कि नृपेन्द्र, यह सब तो ठीक है परन्तु नीति यह है कि छिद्र पाकर ही बैरियों के साथ छल करना चाहिए। देखिए खाली घड़ी के छिद्र को पाकर ही उसके छिद्र द्वारा उसमें जल भर जाता है। बिना छिद्र पाये वैरी अतीव कष्ट-साध्य होते हैं। वे देवताओं के द्वारा भी पराजित नहीं किये जा सकते। कहिए क्या छेद के बिना भी कहीं सूत में मोती पोये जा सकते हैं ॥२२३-२२५॥

देखिए, इस समय कौरव-गण भारी अभिमान से भर रहे हैं, उनके पास खासी विजयी उत्तम सेना है। उन्हें अपने शारीरिक बल का भी बड़ा भारी मद है। विशेष कर उन्हें अपने घोड़े, हाथियों आदि का बहुत घमण्ड है। अतः जिस तरह मदिरा पीने वाले मनुष्य जल्दी किसी को दबते नहीं हैं उसी तरह वे मत वाले भी वैरी को बल-रहित जान कर बिल्कुल नहीं दबेंगे-आपका कुछ भी भय न मानेंगे। इतने पर भी कौरवें को जरासंध का सहारा है। इसलिए ये और भी उद्धत हो रहे हैं। जिस

जरासन्धाश्रयाद्दृप्ता बलीयन्ते स्म कौरवाः। नृत्यन्ति दर्दुरा नागमूर्ध्नीव नागतुण्डिकात् ॥२२८॥
जरासन्धाश्रयात्पूज्याः पूजितास्ते नरेश्वरैः। यथा शिरसि सामान्याः स्थिताः कुन्तलराशयः ॥२२९॥
अतो गन्तुं न युक्तं ते कौरवैर्बुद्धिसागर। योद्धुं सत्रं पवित्रात्मन् कार्यं कालविलम्बनम् ॥२३०॥
जरासन्धसमं युद्धं यदा तवं भविष्यति। तदा ते तव निग्राह्या वैरिणो हितसिद्धये ॥२३१॥
इदानीं कौरवैः सार्धं कृते युद्धे स क्रुध्यति। तदुत्थापनतः कार्यं किं भवेत्सुप्तसिंहवत् ॥२३२॥
अतः स्वास्थ्येन संस्थेयं स्थिरैश्च स्थिरमानसैः। भवद्भिरिति संप्राप्ते काले नेष्यति तत्क्षयम् ॥२३३॥
विदुषा वारिताः सर्वे यादवा विबुधा वराः। श्रेयांस इति संतस्थुर्जानन्तो वैरिविक्रियाम् ॥२३४॥
अथ ते पाण्डवाश्चण्डा दन्तावलकरोत्कराः। पराक्रमसमाक्रान्तदिक्चक्राश्चक्रिविक्रमाः ॥२३५॥
ऐन्द्रीं दिशं समालम्ब्य परावृत्तसुवेषकाः। प्रच्छन्ना निर्गता भस्मच्छन्नपावकवद्द्राः ॥२३६॥
कुन्तीगतिविशेषेण मन्दं मन्दं व्रजन्ति ते। स्वस्थाः संशुद्धिसंपन्नाः पाण्डवास्तत्त्ववेदिनः ॥२३७॥
श्रान्तायामथ तस्यां ते श्रान्ताः स्थितिकराः स्थिराः। स्थितायामुपविष्टाश्चोपविष्टायां पटूद्यमाः ॥२३८॥
शनैः शनैर्व्रजन्तस्ते संप्रापुः सुरनिम्नगाम्। अगाधां जलकल्लोलमालिनीं जलहारिणीम् ॥२३९॥

तरह कि नागदमनी (सर्प का जहर उतारने वाली जड़ी) के सहारे को पाकर मेंढक साँप के सिर पर नाचने लगते हैं ॥२२६-२२८॥

आज कल वे जरासंघ के सहारे से राजाओं महाराजाओं द्वारा उसी तरह पुज रहे हैं, जिस तरह कि उत्तमांग (मस्तक) का आश्रय पा करके केश-राशि पुजती है। अतः बुद्धिसागर और पवित्रात्मन्! आपको इस समय कौरवों के साथ युद्ध करने को जाना उचित नहीं जान पड़ता है। कौन नहीं जानता कि धीरे-धीरे ही सब काम अच्छे बनते हैं। आप अभी कुछ दिन ठहर जाइए। बाद जब जरासंध के साथ आपका युद्ध होगा तब आप बड़ी आसानी से ही इन का निग्रह कर सकेंगे और इसी में आपका हित है। यदि आप हट कर इसी समय ही कौरवों के साथ युद्ध ठानेंगे तो जरासंध भी क्रोधित होकर युद्ध के लिए उठ खड़ा होगा तब यह कार्य सोते हुए सिंह को जगाने के जैसा ही होगा। इसलिए स्थिर-चित्त और धैर्यशाली कृष्ण, आप अभी धीरज धरें। बाद जब समय आवेगा तब में स्वयं ही उन सबका विध्वंस कर दिखाऊँगा। इस तरह उस विद्वान् के समझाने पर यादव लोग युद्ध करने से रुक गये क्योंकि वे वैरी की विक्रिया को जानते थे, व्यवहार के जानकार और स्थिर-चित्त एवं धैर्यशाली थे। उधर पाण्डव भेष बदल कर भस्म से ढकी हुई आग की तरह छुपे हुए वहाँ से पूर्व दिशा की ओर चले आये। वे बड़े तेजस्वी थे, उनकी भुजायें हाथी की सूँड़ के जैसी खूब मजबूत थी। उनके पराक्रम से दसों-दिशायें व्याप्त हो रही थीं। उनका विक्रम चक्रवर्ती के जैसा था। उनके साथ में उनकी माता कुन्ती थी, अतः वे कुन्ती की गति के अनुसार ही धीरे-धीरे चलते थे। वे निर्मल हृदय वाले तथा तत्त्ववेदी उसके थक जाने पर जब वह खड़ी हो जाती तब आप भी खड़े हो जाते और जब वह बैठ जाती तब आप भी बैठ जाते ॥२२९-२३८॥

इस प्रकार धीरे-धीरे चलते हुए वे कुछ काल में गंगा नदी के पास पहुँच गये। गंगा अथाह जल

यत्कूले कल्पशालाभाः शालाः शाखासमुन्नताः। विशालाः फलिनः फुल्लाः सुमनः शोभिता बभुः ॥२४०॥
सावर्तनाभिका लोलजलकल्लोलबाहुका। सत्स्थूलोपलवक्षोजा कूलद्वयपदावहा ॥२४१॥
प्रत्यन्तपर्वतस्थूलनितम्बा निम्नगामिनी। महाह्रदमहावक्षाः सरोजाक्षी सदाजडा ॥२४२॥
समीनकेतना हंसगामिनी पक्षिसद्वचाः। सीमन्तिनीव या भाति भासुरा देवनिम्नगा ॥२४३॥
तामगाधां समावीक्ष्य संतर्तुं विषमां समाम्। अक्षमाः क्षणतः खिन्ना विश्रब्धास्तत्र पाण्डवाः ॥२४४॥
कैवर्तान्वर्तने शक्तांस्तस्या उत्तरणक्षमान्। समाहूय समाचख्युरिति तूर्णं सुपाण्डवाः ॥२४५॥
धीवरा धृतिमापन्ना द्रुतं च तरणीं तराम्। समानयत सुव्यक्तां समुत्तरणहेतवे ॥२४६॥
इत्युक्ते तत्क्षणात्तैश्च समानीता विच्छिद्रिका। तरणी तरणोपायं सूचयन्ती तरन्त्यपि ॥२४७॥
तदा ते तां समारुह्य प्रविष्टा देवनिम्नगाम्। कुन्त्या सह सुकुन्तात्तहस्ता व्यस्तविषादकाः ॥२४८॥
प्रविवेश तरीर्मध्येसलिलं पाण्डवान्विता। चलत्कल्लोलमालाभिर्वहन्ती सुवहा वरा ॥२४९॥

से भरी हुई थी और अनन्त लहरों से लहरा रही थी। उसका प्रवाह मंद और बड़ी गंभीरता से बह रहा था। उसके किनारे पर कल्प-वृक्ष के समान ऊँची-ऊँची शाखाओं वाले और विशाल शालवृक्ष थे। वे खूब ही फले-फूले हुए थे। अतः उनसे उसकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥२३९-२४०॥

वह स्त्री के तुल्य जान पड़ती थी। स्त्री के नाभि होती है, उसके भी भँवर-रूप नाभि थी। स्त्री के बाहु होते है, उसके कल्लोल-रूप बाहु थे। स्त्री के कुंच होते हैं, उसके भी बड़े-बड़े पत्थर-रूप कुच थे। स्त्री के पाँव होते हैं, गंगा के दोनों तट ही पाँव थे। स्त्री के नितम्ब होते हैं, उसके भी नजदीक के पहाड़-रूप नितम्ब थे। स्त्री मंद-मंद चलती हैं और वह भी मंद-मंद बहती थी। स्त्री के वक्षःस्थल होता है, उसके महाहृद-रूप वृक्षःस्थल था। स्त्री के नेत्र होते हैं, उसके भी कमल-रूप नेत्र थे। स्त्री जड़-मूर्ख-होती है, वह भी जड़-जल युक्त थी। स्त्री अपने कपोल आदि पर बनाये हुए मीन, केतु वगैरइ चिह्नों से युक्त होती हैं, उसमें भी मीन, केतु वगैरह थे। स्त्री हँस के जैसी चाल चलती है अर्थात् हंसगामिनी होती है वह भी हंसगामिनी थी-उसमें हंस विचरा करते थे। स्त्री मधुर वचन बोलती है, वह भी पक्षियों के कलरव शब्द द्वारा मधुर शब्द कर रही थी। तात्पर्य यह कि वह स्त्री से किसी भी बात में कम न थी ॥२४१-२४३॥

उसको अथाह और पार होने के लिए विषम देखकर, पाण्डव असमर्थ हो उसके किनारे पर ठहर गये और पार पहुँचा देने के लिए एक धीवर को बुला कर उससे बोले कि भाई, तुम अति शीघ्र अपनी नौका ले आओ और हमें गंगा पार कर दो परन्तु ध्यान रखना कि नौका ऐसी हो जिसके द्वारा हम सकुशल और जल्दी से पार पहुँच जायें। उनके वचन के सुनकर वह धीवर उसी समय अपनी नौका ले आया। नौका छिद्र रहित थी और पानी पर तैरती हुई तैरने के उपाय को बताती थी। पाण्डव कुन्ती-सहित नौका में सवार हो, अथाह गंगा के भीतर चले। कुन्ती भय से कभी-कभी उन लोगों का हाथ पकड़ लेती थी, उसे बहुत भय मालूम पड़ता था। पाण्डव निडर थे ॥२४४-२४८॥

थोड़े ही समय में उठती हुई कल्लालों (तरंगों) के सहारे सीधी बहती हुई, नौका बीच धार में

मध्येगङ्गं गता साप्यग्रे गन्तुं न क्षमाऽभवत् अस्थिराऽपि स्थिरा तत्र स्थिता स्थगितसद्गतिः ॥२५०॥
चालितानेकधा तैश्च न चचाल चलात्मिका। पदं दातुमशक्ता सा कीलितेव स्वकर्मणा ॥२५१॥
अरित्रैर्वाह्यमानापि विविधैर्निश्चलं स्थिता। भर्त्स्यमाना कुभार्येव पदं दत्ते न सा तरीः ॥२५२॥
नान्योपायैश्च कैवर्तैश्चालितापि न साचलत्। यथा कालज्वराक्रान्ता सत्तनुस्तनुतां गता ॥२५३॥
भो कैवर्ताश्च का वार्ता चलन्ती चालितापि सा। दुर्मेधेव सुशास्त्रे वा तरणी न चलत्यतः ॥२५४॥
कैवर्ता वर्तनावर्त्या पृष्टाः पाण्डवभूमिपैः। इति ते वचनं प्रोचुः श्रुत्वा पाण्डवसद्वचः ॥२५५॥
स्वामिन्नत्र जले नित्यवासिनी जलदेवता। तुण्डिकाख्या क्षितौ ख्याता समास्ते चामृताशिनी ॥२५६॥
सा शुल्कं याचते युष्मान् नियोगान्नियमस्थिता। अतस्तस्यै प्रदायैतन्नौश्चाल्या निश्चलं स्थिता ॥२५७॥
नाथास्माकं न दोषोऽयं न दोषो भवतामपि। नियोगाद्याचतेऽप्येषा नियोग ईदृशो भवेत् ॥२५८॥
नियोगिनो नियोगेन शुल्कसंग्रहणोद्यताः। शुल्कं लात्वा प्रमुञ्चन्ति नरान्न्यायोऽत्र संमतः ॥२५९॥
अतो दत्त्वा शुभं शुल्कं तुण्ड्यै तद्योग्यमुन्नतम्। चालितव्यं भवद्भिश्च न विलम्बो विधीयताम् ॥२६०॥
नृपोऽभाणीन्निशम्यैवं कैवर्तान्वार्तयोद्यतान्। अत्र देयं न किंचिद्वै नैवेद्यं विद्यते ध्रुवम् ॥२६१॥

पहुँच गई और वहाँ पहुँच कर वह अटक गई, यद्यपि वह चंचल थी परन्तु गति के रुक जाने से बिल्कुल ही अचल हो गई। उस वक्त धीवर ने बहुत ही प्रयत्न किया परन्तु वह बिल्कुल ही न चली, एक पैड भी आगे वह न बढ़ सकी। वह ऐसी हो गई मानों कर्म के द्वारा कील ही दी गई हो। बेचारे धीवर ने नाना भाँति के सैकड़ों उपाय किये पर वह बिल्कुल ही न चली-जैसी की तैसी अचल बनी रही, जिस तरह कि दंड़ों के द्वारा मारी-पीटी गई हठी स्त्री एक पाँव भी आगे नहीं बढ़ती, वहीं की वहीं मचला करती है। या यों कहिए कि जिस तरह कालज्वर के वश होकर क्षीण हुआ शरीर बिल्कुल ही नहीं चल सकता, चाहे उसके लिए कितने ही उपाय क्यों न किये जावें। उसी तरह नौका चलाने के लिए वह धीवर सब यत्न कर-करके थक गया परन्तु नौका वहाँ से तिलमात्र भी न बढ़ी। यह देखकर पाण्डवों ने कहा कि भाई, बात क्या है। यह नौका इतने उपायों से भी क्यों नहीं चलती। यह इस समय ऐसी अटक कर क्यों रह गई, जैसी कि उत्तम शास्त्रों में खोटी बुद्धि अटक कर रह जाती है-आगे नहीं चलती। पाण्डवों के वचनों को सुनकर उत्तर में धीवर ने कहा कि स्वामिन्! इस जगह एक जलदेवी रहती है। उसका नाम है तुंडिका। वह जगत् प्रसिद्ध और अमृत का आहार करने वाली है। इस समय वह इस नौका को रोककर आप लोगों से अपने नियोग के अनुसार भेंट माँगती है। अतः आप इसे इसका हक देकर नौका को चलती करवा दीजिए। प्रभो! देखिए इसमें न तो आपका दोष है और न मेरा ही किन्तु यह अपना नियोग (हक) चाहती है। न्याय भी ऐसा ही है कि हकदार लोग अपने हक को लेकर ही मनुष्यों को छोड़ते हैं। इसलिए अब आप देरी न कीजिए किन्तु इसे इसका हक देकर यहाँ से जल्दी चलिए और यहाँ से जल्दी चल देने में ही आपका हित है ॥२४९-२६०॥

यह सुनकर नौका को चलाने के लिए तैयार हुए धीवर से युधिष्ठिर ने कहा कि इस समय यहाँ

सरित्तटे घटिष्यामः समाट्य पटवो वयम्। नैवेद्यं दीपनं रम्यमाज्यपायसमिश्रितम् ॥२६२॥
दत्त्वास्यै मानयिष्यामो नैवेद्यं विदितात्मकम्। पवित्रं सज्जनैर्मान्यं गत्वा च सरितस्तटे ॥२६३॥
सलिले विपुलेऽत्रैव न लभेमहि धीवराः। किं च लभ्यं प्रदातव्यं न्यायोऽयं विश्रुतो भुवि ॥२६४॥
धीवरा धृतये प्रोचुः श्रुत्वा वाक्यं नरेशिनः। श्रोतव्यं श्रूयतां श्रोतःसुखकृद्देववल्लभ ॥२६५॥
न तृप्यति पयःपूरैः सज्जितैः खज्जकैरपि। प्राज्यैराज्यैर्वरान्नैश्च पक्वान्नैस्तुण्डिकासुरी ॥२६६॥
निरवद्यैः सुनैवेद्यैः सद्यो मद्यैर्न तृप्यति। तुण्डिका चण्डिका खण्डप्रचण्डबलितृप्तिका ॥२६७॥
मनुष्यमांसतो मत्ता तृप्तिमेति बुभुक्षिता। अतो नरं संप्रदाय तृप्तिमेतु सुतत्त्वतः ॥२६८॥
तृप्तामेनां विधायाशु यात यूयं सरित्तटम्। अन्यथानर्थसंपत्तिरित्यवादीत्सुधीवरः ॥२६९॥
निशम्यैवं वचस्तस्य संक्षुब्धाः पाण्डुनन्दनाः। अतर्कयन्निजं वीक्ष्य मरणं समुपस्थितम् ॥२७०॥
अहो वामे विधौ नूनं कथं दुःखक्षयो भवेत्। कर्मतो बलवान्नान्यो वर्तते भववासिनाम् ॥२७१॥
पूर्वं कौरवसंघेन सत्रं युद्धे जयं गतः। ततः प्रज्वलिता लाक्षागृहाद्दैवाद्विनिर्गताः ॥२७२॥
इदानीं तरणीयोगे स्वयं च समुपस्थिते। वयं तुण्ड्याः स्वयं यामो मरणं शरणं द्रुतम् ॥२७३॥

तो हमारे पास कुछ भी नहीं है। इसलिए यहाँ से किनारे तक चलो। वहाँ पहुँच कर हम नाना प्रकार के पकवान तैयार करेंगे और फिर यहाँ आकर आदर के साथ देवी को भेंट चढ़ा देंगे। भला, इस बात को तुम्हीं कहो कि इस अथाह जल-प्रदेश में हमें क्या चीज मिल सकती है ? और यदि तुम्हें कोई चीज यहाँ मिल सकती हो तो तुम्हीं ला दो और जब कोई चीज मिल ही नहीं सकती तब क्या भेंट कर सकते हैं ॥२६१-२६४॥

युधिष्ठिर के इन वचनों को सुनकर धीवर बोला कि महाराज, देववल्लभ प्रभो, कृपा कर मेरी एक बात सुनिए। वह यह है कि यह तुंडिका देवी पकवानों से तृप्त नहीं होती हैं किन्तु देव, इसे सन्तोष होता है मनुष्य-बलि से। यह जब-जब भूखी होती है तब-तब मनुष्य के मांस से ही सन्तुष्ट होती है और वस्तुओं से न जाने इसे क्यों सन्तोष नहीं होता। अतः आप भी इसे मनुष्य मांस से तुष्ट कीजिए। महाराज, देर न कर इसे जल्दी से मनुष्य-बलि देकर पार चलिए, नहीं तो बड़ा भारी अनर्थ होगा ॥२६५-२६९॥

उस धीवर के ऐसे विकट उत्तर को सुनकर युधिष्ठिर आदि बड़े क्षोभ को प्राप्त हुए और अपनी मौत को सामने आ खड़ी हुई समझ कर वे यों विचार करने लगे कि अहो, जब कर्म ही टेढ़ा है-विमुख है तब भला हमारा दुख से पिंड छूट ही कैसे सकता है और इसलिए कहा जाता है कि संसारी जीवों के लिए कर्म जितना बलवान् होता है संसार में उतना बलवान् दूसरा और कोई भी नहीं होता। देखो, इस दैव की विचित्रता कि पहले तो हम लोगों की कौरवों के साथ युद्ध होने पर विजय हुई और बाद जब लाक्षागृह में आग लगा दी गई तब वहाँ से भी जीते जागते हम लोग सुरक्षित निकल आये और इस समय उसी दैव के प्रेरे हुए इस नौका में बैठकर अपने आप ही मरने के लिए इस तुंडिका के शरण में आ गये ॥२७०-२७३॥

महानिष्टाद्विनि:क्रान्ता लघुतो मृत्युभागिन:। उदन्वज्जलमुल्लङ्घ्य यथा जलबिले मृति: ॥२७४॥
कर्मण्युपस्थिते कोऽत्र बली कैवर्तहस्तत:। च्युतो जाले गतो मीनस्तच्च्युतो गलितो विना ॥२७५॥
इत्यातर्क्य नृपो ज्येष्ठोऽलोकयद्भीमसन्मुखम्। इति कर्तव्यतामूढो व्यूहगूढो वृषात्मक: ॥२७६॥
नृपोऽभणद्भयाक्रान्तो विपुलोदर सोदर। उदीर्यं दरनिर्णाशे वचो वीर त्वयाधुना ॥२७७॥
अन्यच्च चिन्तितं कार्यमन्यच्च समुपस्थितम्। अनिष्टं राजकन्येष्टो विप्रो वा व्याघ्रभक्षित: ॥२७८॥
मध्यविघ्नविनाशाय कोऽप्युपायो विधीयते। न मे स्फुरति शान्त्यै स चिन्तया धीर्हि नश्यति ॥२७९॥
भीमोऽभाणीद्भयातीतो भृकुटीकुटिलानन:। नृपावसरमारेक्य कृतं कार्यं सुबुद्धिना ॥२८०॥
एको हि निरवद्योऽत्रोपायोऽपायविवर्जित:। पोस्फुरीति मम स्फूर्तिकीर्तिसंपत्तिदायक: ॥२८१॥
येनोपायेन नाकीर्तिर्नापमानो न निन्द्यता। न हानि: स प्रकर्त्तव्य: सर्वकार्यप्रसिद्धये ॥२८२॥
स्फुरज्जरज्वराक्रान्त: कैवर्तो विकृताकृति:। दरिद्रो दुर्भगो दीनो दु:खदग्धो दयातिग: ॥२८३॥
इमं हत्वा बलिं दत्त्वा तोषयित्वा च तुण्डिकाम्। तरिष्यामो वयं नावा सरितं श्रमवर्जिता: ॥२८४॥

आश्चर्य है कि बड़े-बड़े अनिष्टों से तो बच आये परन्तु जरा से अनिष्ट से मृत्यु के ग्रास बने जाते हैं। तब तो यही कहना होगा समुद्र को पार करके अब यहाँ छोटे से पल्वल (क्षुद्र जलाशय) में हम लोगों की मृत्यु होगी। सच है कि कर्म के आगे किसी का बल नहीं चलता है। इसके बल के आगे सभी थककर बैठ जाते हैं। देखो, यह तो वही बात हुई कि धीवर के हाथ से किसी तरह मछली छूट पाई तो जाकर जाल में फंस गई और जाल से भी जैसे तैसे छूटी तो बगुले ने उसे अपना आहार बना लिया ॥२७४-२७५॥

इसके बाद युधिष्ठिर ने एक दृष्टि भीम की ओर डाली और इति कर्तव्यता से विमूढ़ हुए उस धर्मात्मा ने कहा कि विपुलोदर भाई भीम, इस भय से छुटकारा होने का कोई उपाय जान पड़े तो बतलाओ। देखो, क्या तो विचार किया था और क्या अनिष्ट सिर पर आकर पड़ा है। यह तो वही बात हुई कि विचारा ब्राह्मण राज-पुत्री की इच्छा से तो घर बाहर हुआ और रास्ते में उसे खा लिया व्याघ्र ने ॥२७६-२७८॥

अत: इस विघ्न को दूर करने का कोई उपाय करो और सो भी जल्दी करो। नहीं तो अभी थोड़ी ही देर में हम लोगों का सर्वनाश हो जाना संभव है। मैं बहुत विचार करता हूँ, पर मेरी समझ में कुछ भी उपाय नहीं आता। सच है कि चिंता से बुद्धि नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। इस पर निर्भय भीम ने कहा कि पूज्यपाद, अवसर देखकर ही बुद्धिमानों को काम करना उचित है। देखिए इस सम्बन्ध में मैंने एक निर्दोष उपाय सोचा है और उसमें कोई आपत्ति भी नहीं है। हाँ, उससे मेरी कीर्ति अवश्य होगी। महाराज, इस उपाय से न तो अपयश होगा और न अपमान ही एवं निंदा और हानि भी इस उपाय के करने से न होगी। इसलिए इसे कार्य-सिद्धि के लिए आप जल्दी कीजिए ॥२७९-२८२॥

वह उपाय यह है कि यह धीवर जरा-ज्वर का प्रेरा हुआ है, बदसूरत और दरिद्र है, दुखी है, निर्दय है, अत: इसी को मारकर और देवी को बलि से तुष्ट कर आगे चलिए। रही नौका चलाने की बात

भीमं भीमवचः श्रुत्वा कैवर्तः कम्प्रमानसः। चकम्पे कर्तनां प्राप्त इवैतत्क्षीणदीधितिः ॥२८५॥
सोऽवोचद्धीवरो धीमान्विदग्धः शुद्धमानसः। हते मयि नरेन्द्राद्याहते वा किं भविष्यति ॥२८६॥
भूप किं तु विशेषोऽस्ति मदृते सरितस्तटम्। को नेता भवतां नूनं यातु त्रिपथगास्थितिः ॥२८७॥
भवतामपकीर्तिस्तु भविता संततं नृप। नृपेण धीवरो ध्वस्त इति लोकापवादतः ॥२८८॥
तुभ्यं च रोचते राजन् यावज्जीवं सरित्स्थितिः। चेत्तर्हि वाञ्छितं स्वं त्वं विधेहि विधिवद्ध्रुवम् ॥२८९॥
अस्मत्कल्पास्तु युष्माकं विधास्यन्ति कदाचन। नोत्तारं सुरह्लादिन्या भीताः किं यान्ति तत्पदम् ॥२९०॥
तदाकर्ण्य कृपाक्रान्तो ज्येष्ठो भीममबीभणत्। हा वत्स वत्स हा स्वच्छसमिच्छाछन्नमानस ॥२९१॥
किमुक्तमिदमत्यर्थं यदुक्त्या कम्पतेऽखिलः। प्रेतराजाद्यथा कायः कोमलः किल कर्मकृत् ॥२९२॥
त्वं वेत्ता विदुषां मान्यो विपुलस्य फलस्य च। श्रेयःकिल्विषयोर्नूनं शुभाशुभफलात्मनोः ॥२९३॥
दयावान्यो भवेद्भीरुर्भवाद्भ्रमणभासुरात्। स एव सुखमाप्नोति श्वपाक इव निश्चितम् ॥२९४॥
यो हन्ति निर्दयो जीवान्यमातीतो मदावहः। स याति निधनं धृष्टो धनश्रीरिव दुर्धिया ॥२९५॥

सो आप इसका बिल्कुल ही भय मत करिए। मुझे भरोसा है कि हम लोग अनायास ही नौका को चला ले जाकर पार पहुँच जायेंगे। भीम के इन भयानक वचनों को सुनकर विचारा धीवर तो काँपने लग गया–उनके होश–हवाश उड़ गये उसका हृदय मानो करोत से चीर सा दिया गया हो। उसके चेहरे की सब कान्ति नष्ट हो गई। तात्पर्य यह कि उसे अपने प्राणों के लाले पड़ गये। वह कहने लगा कि धीमान्, शुद्ध हृदय वाले नृपेन्द्र, मेरे मारे जाने और न मारे जाने से तो कुछ भी हानि न होगी परन्तु इतनी बात अवश्य होगी कि मेरे मर जाने पर आपको पार कोई नहीं पहुँचावेगा। मेरे बिना आपकी इस गंगा में ही स्थिति होगी और इस लोकापवाद से आपकी बड़ी भारी अपकीर्ति भी होगी कि देखो राजा ने पार उतारने वाले बेचारे गरीब धीवर को भी मार डाला–भला करते बुरा कर दिखाया। राजन्! यदि आपको जीवन भर गंगा में ही रहना अच्छा लगता हो, तो भले ही अपने विचार माफिक काम कीजिए। मुझे मार कर देवी को तृप्त कीजिए परन्तु ध्यान रखिए कि ऐसा करने से फिर हमारे कुल के लोग कभी भी आप लोगों को इस गंगा के पार न पहुँचावेंगे। भला! आप ही सोचिए कि क्या एक बार धोखा खाया पुरुष फिर उसी मार्ग को जाता है ? ॥२८३–२९०॥

धीवर की इन बातों को सुनकर दयालु युधिष्ठिर ने भीम से कहा कि भाई, इतने चतुर होकर भी तुम यह क्या कहते हो। तुम्हारे इन वचनों को सुनकर हम लोगों का तो दिल दहल गया, जिस तरह कि यम का नाम सुनते ही कर्म का रचा हुआ. कोमल शरीर दहल जाता है। तुम्हें ऐसी बात कभी अपने मुँह से भी नहीं निकालनी चाहिए। तुम तो स्वयं ही सब कुछ समझते हो और विद्वान् लोगों में आदर पाते हो। फिर तुमसे इस विषय में और अधिक क्या कहा जावे। पुण्य और पाप का क्रम से शुभ और अशुभ या यों कहिए कि सुख और दुख–रूप फल मिलता है। यह तुम अच्छी तरह जानते हो। इस विषय में भी तुम्हें समझाना नहीं है। देखो, जो दयालु संसार परिभ्रमण से डरता है वह पुण्योदय से प्राप्त होने वाली सम्पदा की तरह ही सुख को पाता है और जो निर्दय व्रत वगैरह

अयं तु धीवरोऽधृष्टः क्षुधाखिन्नः सुखातिगः। पापार्तस्तृप्तिनिर्मुक्तः कथं हन्यो दयालुभिः ॥२९६॥
उपकारपरोऽस्माकं ह्लादिनीतारणे क्षमः। नायं हन्यः कथं हन्या उपकारकरा नराः ॥२९७॥
विपुलोदर विद्वांस्त्वमन्योपायमुपायवित्। विचारय विचारज्ञ यत्स्याम सुखिनो वयम् ॥२९८॥
इत्याकर्ण्य सुवेगेन वायविर्वचनं जगौ। विहस्य हर्षनिर्मुक्तो निर्मलोऽद्भुतविक्रमः ॥२९९॥
त्वं नाथं देहि निस्तन्द्रस्तुण्डीतृप्त्यर्थसिद्धये। संगराकुशलं कौल्यं नकुलं कुलपालिनम् ॥३००॥
सहदेवं दयातीतं व्यतीतं कुलपालनात्। हत्वा दत्स्व सुशुल्कार्थं तुण्ड्यै तृप्तिसमृद्धये ॥३०१॥
अनयोरेकतो नाथ बलिं दत्वा सुखाश्रिताः। व्रजामः सरितस्तीरं पुण्यवायुप्रणोदिताः ॥३०२॥
निशम्य महतां मान्यो मोहितो महिमाश्रितः। इति ज्येष्ठो विशिष्टात्माचष्टे स्म वचनं वरम् ॥३०३॥
हा तात तात भीमेति भणितं किं भयावहम्। आत्मजाविव संप्रीताविमौ मोहकरौ मम ॥३०४॥
मया कथं प्रहन्येते सोदरौ दरदारकौ। इमौ निजात्मदेशीयौ सदा प्रीतौ सुखात्मकौ ॥३०५॥
इमौ हत्वा गतेऽस्माकमपकीर्तिं दुरुत्तराम्। करिष्यन्ति यतो लोका आबालं लोकपालिनः ॥३०६॥

को न पाल कर मद के आवेश में जीवों को मारता है वह ढीठ पुरुष दुर्बुद्धि से नष्ट होने वाली सम्पदा की तरह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है-दुखी होता है, उसे कभी सुख नहीं मिलता है। विचार कर तो देखा कि यह धीवर कितना गरीब है, भूख से खेद-खिन्न होने के कारण कितना दुखी है, पाप से पीड़ित और असन्तुष्ट है। इसलिए दयालु भाई, इसे मारना कैसे उचित हो सकता है। दूसरे यह कि यह हम लोगों को गंगा पार ले जा रहा है, इसलिए हमारा उपकारी है। फिर तुम्हीं बताओ कि कहीं उपकारी को भी मारा जाता है ? भाई, इसे मारना किसी तरह भी उचित नहीं है। तुम कोई दूसरा उपाय सोचो, जिससे हम सब सुख से पार पहुँच जावें ॥२९१-२९८॥

यह सुनकर अद्भुत पराक्रमी, भीम मुस्करा कर बोला-तो प्रभो! आप निश्चिंत होकर इस तुंडिका को तृप्त करने के लिए युद्ध-अकुशल, नकुल को या दया-रहित और कुल की रक्षा के लिए असमर्थ सहदेव को मारकर भेंट दे दीजिए। इन दोनों में से किसी एक को बलि देकर पुण्य-रूप वायु की सहायता से सुख से पार चले चलिए, विलम्ब न कीजिए ॥२९९-३०२॥

यह सुनकर महिमाशाली और महान् पुरुषों द्वारा मान्य युधिष्ठिर को मूर्च्छा सी आ गई और वह विशिष्टात्मा भीम से बोला कि हा तात भीम! तुम्हारे मुँह से इतनी भयानक बात कैसे कही गई। मुझे तो ये दोनों भाई पुत्रों की भांति प्यारे हैं-इन पर मेरा कितना प्रेम है, यह तुम नहीं जानते ? हाय! सुख से रहने वाले प्यारे भाइयों को मैं कैसे मार सकता हूँ ? ये तो मुझे मेरे प्राणों से भी कहीं ज्यादा प्यारे हैं और इन्हीं के भरोसे मैं निर्भय हो रहा हूँ। फिर तुम्हीं बताओ कि इनको मारना क्या उचित है ? नहीं, भीम, ऐसी बात मत कहो, ऐसा करने से बड़ा अन्याय होगा-इस अन्याय की कुछ सीमा ही न रह जायेगी। देखो, यदि हम यहाँ से इनको मारकर जायेंगे तो सब लोग धिक्कार देंगे और अपयश का पटह पीटेंगे। वे कहेंगे कि देखो, यह राजा अपने जीवन को प्यारा समझ कर अपने छोटे भाइयों को मारकर देवी को भेंट दे आया है। ओह! दया बिना जीते रहने को धिक्कार है। जिसके

भूपोऽयमनुजौ दत्त्वा देव्यै दीप्तकरौ गतः। वल्लभं जीवितं मत्वा धिग्जीव्यं सुदयातिगम् ॥३०७॥
हे भीम हे दयातीतमानसातिभयंकर। न भण्यं भणनं भव्य यत्र जीवदया न तत् ॥३०८॥
अन्योपायं समाचक्ष्व विचक्षण सुखप्रदम्। श्रुत्वेति वायविर्वाचमुवाच चतुरोचिताम् ॥३०९॥
नन्वेवं रोचते तुभ्यं न चेत्पार्थः समर्थवाक्। तत्तृप्त्यै दीयतां देव यथा सा स्यात्सुविघ्नहा ॥३१०॥
श्रुत्वैवं स निजं शीर्षमाकम्प्य सुकृपापरः। अवादीद्विदिताशेषवृत्तान्तः श्रीयुधिष्ठिरः ॥३११॥
हा भ्रातः पावने भीम विपुलोदर सुन्दर। किमिदं गदितं निन्द्यं त्वया दीप्तिसुखापहम् ॥३१२॥
प्रचण्डः पाण्डवः पार्थः प्रसिद्धः पृथिवीभुजाम्। अजेयः परिपन्थीशैर्धनुर्वेदविशारदः ॥३१३॥
अस्मिन्सति निजं राज्यं कदाचित्पुनरेष्यति। यतोऽयं दोर्बली बाल्याद्विनयं प्रापयन्द्विषः ॥११४॥
शब्दवेधी सुधानुष्कः सधर्मा धृतिधारकः। धनंजयो धृतानन्दो न हन्तव्यः कदाचन ॥३१५॥
एवं चेज्जननी देया कुन्ती कमलकोमला। यतः स्वास्थ्यं च सर्वेषां पाण्डवानां हितात्मनाम् ॥३१६॥
मा भाणीद्भीम सद्भ्रातरित्येवं जननी यतः। मान्या जनैः सदा पूज्या जन्मदात्री दयावहा ॥३१७॥

हृदय में दया नहीं उसका जीना व्यर्थ है, किसी भी काम का नहीं। हे निर्दय और हे भयंकर विचार को हृदय में जगह देने वाले भीम, ऐसा वचन भूल कर भी कभी अपनी जीभ पर न लाना, जिसमें कि दया न हो। भाई, तुम्हें हमेशा दयापूर्ण वचनों का ही व्यवहार करना चाहिए। क्या दया से सने हुए अच्छे वचनों की कमी है। यदि नहीं है तो फिर निर्दय वचनों का प्रयोग ही क्यों करते हो। मेरे विचक्षण भाई, कोई अच्छा उपाय बताओ जो सुखकर हो ॥३०३-३०९॥

यह सुनकर चतुर भीम बोला कि देव, यदि आपकी मेरी यह बात भी नहीं रुची तो आप देवी को तृप्त करने के लिए समर्थ अर्जुन को भेंट में दे दीजिए, ताकि देवी कोई विघ्न न उपस्थित करे। भीम के इन वचनों को सुनते ही युधिष्ठिर का मस्तक घूम गया और वह सम्पूर्ण बातों को समझ ने वाला दया-मय बोला कि गंभीराशय भाई भीम, तुम यह क्या निंद्य वचन कहते हो। इससे तो हमारी सब सुख-शान्ति धूल में मिल जायेगी। देखो तो भला, यह पार्थ कितना तेजस्वी है। इसको सब राजा महाराजा जानते और मानते हैं। इसे कोई वैरी नई जीत सकता। यह अजय्य और धनुर्वेद-विशारद हैं। इसके जीते रहने से तो कभी अपना राज्य वापस फिर भी अपने हाथ आ जायेगा। क्या तुम नहीं जानते कि यह बालकाल से ही प्रचंड बलशाली भुजाओं वाला है और शत्रुओं का शत्रु है। उनको काल के गाल में पहुँचा देने के लिए समर्थ है। यह शब्दवेध में अतीव प्रवीण पण्डित है, अच्छा धनुर्धर है, धर्मात्मा और धीर-वीर है। इसलिए यह कभी मार डालने के योग्य नहीं है, अतः इसे नहीं मारना चाहिए ॥३१०-३१५॥

यह सुन भीम बोला कि अच्छी बात है आप किसी को भी नहीं मारना चाहते तो कमल की तरह कोमल माता कुन्ती को ही देवी को भेंट कर दो, जिससे और सब पाण्डव आपत्ति से छुटकारा पालें। इसके उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा कि मेरे भाई भीम, ऐसा मत कहो। देखो, यह अपनी जननी है, जन्म देने वाली है, अतएव सदा ही पूजे जाने योग्य है। दयालु हैं, दया की मूर्ति है और सब लोग

यया वयं निजे गर्भे नवमासान्धृता पुनः। जन्मलाभं शुभं दत्त्वा क्षालिताः पालिताः पुरा ॥३१८॥
जननीयं जगन्मान्या कथं हिंस्या हितार्थिभिः। यतस्तु जगति ख्यातैर्माता तीर्थं प्रकथ्यते ॥३१९॥
त्वं कृपासागरो नित्यं न्यायवेदी विचक्षणः। धर्माधर्मविवेकज्ञो लोकज्ञो लोकनीतिवित् ॥३२०॥
त्वत्समो विनयी लोके द्वितीयोऽत्र न विद्यते। अद्वितीयपराक्रान्तिर्यद्युक्तं तद्विधेहि भोः ॥३२१॥
ततो युधिष्ठिरेशेन विशिष्टेन हितैषिणा। स्वचित्ते भावितं भव्यं सुभावं भयहानये ॥३२२॥
भीमेन भूरिशो भक्ता भ्रातरो दर्शिता वराः। हतये जननी चापि तन्न युक्तं हि भूतले ॥३२३॥
पार्थिवः पतनोद्युक्तः स्वयमप्सु सुपावनः। आहूय बान्धवान्युक्त्या शिक्षया समयोजयत् ॥३२४॥
भवद्भिर्भ्रातरो भक्त्या भजनीया सदाम्बिका। जननीभक्तितो लभ्या यतः सर्वार्थसंपदः ॥३२५॥
तथा परोपकारेण प्रीणनीयाः परे जनाः। परोपकारनिष्ठानां विशिष्टत्वं यतो भवेत् ॥३२६॥
कौरवा न च विश्वास्या विश्वे विश्वासघातकाः। आशीविषा इवात्यर्थं तद्विश्वासे कुतः सुखम् ॥३२७॥
तथावसरमासाद्य विपाद्य कौरवान्खलान्। स्वनीवृति स्थितिं भव्या भजताद्भुतविक्रमाः ॥३२८॥

इसे मानते हैं। भाई, विचारो तो इसने हमें नौ महीने अपने गर्भाशय में रक्खा है और फिर जन्म देकर बड़े भारी कष्टों से हमें पाला-पोषा है ॥३१६-३१८॥

अतः जो सुखी होना चाहते हैं उन्हें संसार भर द्वारा मान्य जननी को मारना कभी भी उचित नहीं है। देखो, संसार के प्रसिद्ध पुरुषों ने तो जननी को तीर्थ बताया है और हम उसे-मार डालें, यह कहाँ तक योग्य और न्याय्य बात है। भाई भीम, तुम तो दया के सागर हो, न्याय के जानकार और प्रवीण हो, धर्म और अधर्म का अन्तर समझते हो तथा लोक-व्यवहार और लोकनीति को भी जानते हो और मेरा तो यह विश्वास है कि तुम्हारे समान लोक में न तो कोई विजयी है और न चतुर ही। तुम अद्वितीय पराक्रमी हो। अतः हे भाई तुम युक्ति-युक्त विचारपूर्ण बात कहो और वैसा ही उपाय भी करो। इसके बाद विशिष्टात्मा और हितैषी युधिष्ठिर ने भय को दूर करने के लिए मन ही मन यह भव्य विचार किया कि भीम ने जो प्यारे भाइयों की तथा पूज्या जननी को मारने के लिए कहा वह तो ठीक नहीं है किन्तु इस समय मुझे स्वयं अपनी ही बलि दे डालना कहीं अधिक उचित है। यह सोचकर वह पवित्रात्मा स्वयं अपनी बलि देने के लिए तैयार हुआ। उसने अपने भाइयों को कहा कि भाइयों तुम लोग हमेशा भक्ति और मान के साथ माता की सेवा करना। देखो, माता की सेवा से सब मनोरथ सिद्ध होते हैं और मनचाही सम्पत्ति मिलती है ॥३१९-३२५॥

अतः तुम कभी माता की सेवा से विमुख न होना तथा परोपकार से तुम हमेशा लोगों को प्रसन्न रखना। देखो, जो परोपकारी होते हैं, परोपकार करते है वे संसार के सरताज बन जाते हैं। तुम लोग कभी कौरवों का विश्वास नहीं करना क्योंकि वे सब बड़े विश्वासघाती हैं, दूसरों के मनोरथों में बाधा डालने वाले हैं। अधिक क्या कहें वे आशीविष साँप के समान हैं। उन पर विश्वास करने से तुम्हें कभी सुख नहीं हो सकेगा किन्तु इसके विपरीत मौका पाकर तुम कौरवों के वंश का विध्वंस करके अपने अद्‌भुत पराक्रम से सारे देश पर अधिकार जमाना और सुख-पूर्वक रहना। युधिष्ठिर ने सुशिक्षित और दक्ष भीम आदि को इस तरह खूब समझाया ॥३२६-३२८॥

इति शिक्षां प्रदायाशु सुशिष्यान्दक्षमानसान्। नीरार्द्रवस्त्रतः स्नात्वा परिहृत्य मनोमलम् ॥३२९॥
युधिष्ठिरः स्थिरो ध्याने विशुद्धो धर्ममानसः। रागद्वेषविनिर्मुक्तः पञ्चसन्नुतिभावुकः ॥३३०॥
शत्रौ मित्रे तथा बन्धौ समतारसमुद्वहन्। विवेचयन्निजात्मानं वपुषः सुस्पृहातिगः ॥३३१॥
द्विधा संन्यासभावेन भावयन्परमं पदम्। बभूव भवभीतात्मा प्रपश्यन्भङ्गुरं जगत् ॥३३२॥
क्षान्त्वा क्षमाप्य सद्भ्रातॄन् नत्वा च जननीं तदा। बलिं दातुं स्वमात्मानं यावदुद्युक्तमानसः ॥३३३॥
रुरुदुस्तावता तूर्णं भीमाद्या भयवेपिनः। अहो दैव त्वयारब्धं किमिदं दुःखकारणम् ॥३३४॥
अचिन्तितं दुराराध्यं दुःसाध्यं विधुराकुलम्। दैव त्वया समानीतमिदं कार्यं सुदुस्सहम् ॥३३५॥
गत्वा देशान्तरे स्थित्वा कियत्कालं तु पापिनः। धार्तराष्ट्रान्परावृत्य हनिष्यामो महाहवे ॥३३६॥
वयं मनोरथारूढा गूढा इति कुदैवतः। अन्यावस्थां समापन्ना धिग्दैवं पौरुषापहम् ॥३३७॥
विललाप पुनः कुन्ती करुणाक्रान्तचेतसा। दैवस्य दूषणं दुष्टं ददती दुर्दशाहता ॥३३८॥
हा पुत्र हा पवित्रात्मन् करुणारससागर। राज्यार्ह राज्यभाग्भव्य नव्यभावविदां वर ॥३३९॥

इसके बाद वह गीले वस्त्र से शरीर को साफ कर, मन के मैल को धोकर ध्यान में स्थिर हो गये और पंच परमेष्ठी का नाम जपने लगे। इस समय उनके मन में रागद्वेष को बिल्कुल ही जगह न थी, अतः शत्रु-मित्र, भाई-बन्धु सब पर उनका एक सा भाव हो गया था। वह शरीर से भिन्न आत्मा की भावना करते थे तथा इच्छाओं के जाल को तोड़कर निरीह हो गये थे। वह संसार को विनश्वर और परम पद को नित्य-रूप में देखते थे और इसी कारण वह दो प्रकार का संन्यास धारण करके निर्भय हो गये थे। इसके बाद उन शुद्धमना ने अपने सब भाइयों की क्षमा कर उनसे क्षमा करवाई और माता को नमस्कार किया। अब वह बली युधिष्ठिर अपनी बलि देने को तैयार हुए ॥३२९-३३३॥

यह देख भय के मारे काँपते हुए भीम आदि सब भाई बड़े दुखी होकर बोले कि दैव आपने यह क्या दुख का कारण उपस्थित कर दिया है, जिसको कि हमने कभी स्वप्न में भी नहीं विचारा था। यह बात बड़ी दुराराध्य, दुःसह तथा कष्ट-मय है। देव, आपका यह प्रयत्न हमारे लिए असह्य है, हमें बड़ा दुख हो रहा है। हमारी तो यह इच्छा थी कि हम लोग अपना वनवास समाप्त कर फिर वापस जायेंगे और इन दुष्ट कौरवों को घोर युद्ध करके यमराज का ग्रास बनायेंगे। सो हम तो इच्छा ही करते रह गये और देव ने एक दूसरी ही अवस्था सामने खड़ी कर दी। इस देव को धिक्कार है जो पुरुषार्थ को जगह ही नहीं देता ॥३३४-३३७॥

इन सबकी यह दशा देख दैव को दूषण देती हुई, करुणा से पूर्ण-चित्त कुन्ती भी इस दुख दशा से पीड़ित होकर विलाप करने लगी। हा पुत्र, हा पवित्रात्मन्, हा करुणरस से कोमल-चित्त, हा राज्ययोग्य, हा राज्य भोगने वाले भव्य, हा भव-भाव विदांवर, हा बाहुबल से वैरियों को खंडित करने वाले युधिष्ठिर, तुम्हारे बिना अब कुरुजांगल देश को कौन पालेगा। पुत्र, शत्रुओं की मारकर अब राज्य को तुम्हारे बिना कौन हस्तगत करेगा क्योंकि तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई भी ऐसा नहीं है

दोर्दण्डखण्डिताराते त्वां विना कुरुजाङ्गले। अचलापालने कोऽत्र भविता भाववेदकः ॥३४०॥
हत्वा शत्रून् विधातुं च राज्यं करतलस्थितम्। कौरवं त्वां विना पुत्र क्षमः कोऽन्योऽत्र जायते ॥३४१॥
रुदन्ती हृदयं दोर्भ्यां ताडयन्ती तडित्प्रभा। सा मुमूर्च्छ महामोहान्मोहो हि चेतनां हरेत् ॥३४२॥
यावदुन्मूर्च्छिता कुन्ती तावद्दोर्भ्यां युधिष्ठिरः। संपीड्य हृदयं नद्यां पतितुं च समीहते ॥३४३॥
तस्मिन्नवसरे भीमो बभाण भयवर्जितः। स्वामिन्निष्टे स्थिरं तिष्ठ पाहि पृथ्वीं सुपावनीम् ॥३४४॥
कुरुवंशनभश्चन्द्र जहि शत्रुगणांश्च माम्। आज्ञापय नराधीश गङ्गायां पतनकृते ॥३४५॥
पतित्वा तुण्डिकां तूर्णं तोषयिष्यामि दानतः। बलेर्बलिन्यमास्ये च मात्मानं देहि मा वृथा ॥३४६॥
पश्यामि पौरुषं तस्या विधाय वरसंगरम्। तयाथ घनघातेन घातयित्वा महासुरीम् ॥३४७॥
इत्युक्त्वा स ददौ झम्पां विधाय सरितः पयः। त्वं गृहाण गृहाणेति भणन्भीतिविवर्जितः ॥३४८॥
पतितं तं समालोक्य विदधुः परिदेवनम्। युधिष्ठिरादयः कुन्त्या हाकारमुखराननाः ॥३४९॥
हा भीम हा महाभाग हा सद्भुज पराक्रम। परोपकारपारीण क्षय्यपक्षक्षयंकर ॥३५०॥
त्वया शून्यं कृतं सर्वं त्वां विना शून्यमानसाः। वयं जातास्तरिष्यामः कथं वै दुःखसागरम् ॥३५१॥
तत्क्षणे तरणिस्तूर्णं ततार सरितो जलम्। तीरं गत्वा समुत्तीर्णाः पाण्डवाः शोकसंगताः ॥३५२॥

जो कौरवों का ध्वंस करने के लिए समर्थ हो। इस प्रकार बिजली की प्रभा के समान प्रभा वाली कुन्ती रोती हुई और हाथों से छाती पीटती हुई मोह के वश हो, मूर्छित हो गई। सच है मोह चेतना–सुध–बुध हर लेता है। कुन्ती तो इधर मूर्छित ही पड़ी थी कि इतने में युधिष्ठिर जल में कूद पड़ने के लिए उद्यत हुए ॥३३८–३४३॥

इसी समय भय से विह्वल होकर उनसे भीम बोला कि स्वामिन्! आप तो स्थिर रहकर पृथ्वी का पालन कीजिए और शत्रुओं को यम का घर दिखाइए। हे कुरु–वंश–रूप आकाश के चंद्रमा, आप मुझे गंगा में कूद पड़ने की आज्ञा दीजिए। मैं अपनी बलि से तुंडिका को सन्तुष्ट कर दूँगा। इस पर युधिष्ठिर ने कहा कि भाई भीम, तुम्हें व्यर्थ यम के मुँह में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। भीम ने कहा कि मैं उस महासुरी तुंडिका के साथ अपने वज्र के जैसे हाथों के प्रहारों के द्वारा युद्ध करके अभी उसे पद–दलित किये देता हूँ और देखता हूँ कि उसका पुरुषार्थ कितना है। यह कहकर निर्भय भीम ने देवी से कहा कि ''देवी! लो मेरी बलि लो, मुझे ग्रहण करो''। इसके बाद वह गंगा के अथाह जल में कूद पड़ा। उसे सचमुच ही कूदा हुआ देखकर युधिष्ठिर आदि रोने लगे और कुन्ती भी हाहाकार करती हुई विलाप करने लगी। हा भीम, हा महाभाग, हा पराक्रमशाली भुजाओं वाले, हा परोपकारपारीण और हा शत्रुपक्ष के विध्वंसक भीम, तुमने हमारे लिए सारा जगत् सूना कर दिया। तुम्हारे बिना हमें यह सारा जगत् सूना देख पड़ता है। तुम्हारे बिना हमारा मन विचार–विमूढ़ हो गया है। कहो अब हम इस दुख–रूपी सागर को तुम्हारे बिना कैसे पार करेंगे ॥३४४–३५१॥

उधर भीम ज्यों ही गंगा में कूदा कि देवता ने नौका को छोड़ दिया। फिर क्या था थोड़ी ही देर में नौका पार पहुँच गई और शोक सागर में डूबे हुए दुखी चार पाण्डव भी कुन्ती सहित गंगा के पार पहुँच गये परन्तु वे भीम के वियोग से बड़े दुखी थे। अतएव वे विचक्षण बार–बार भीम की

तद्दु:खक्षणसंक्षिप्ता वीक्षमाणा विचक्षणाः। विपुलोदरसंलग्नां कोपतुण्डां सुतुण्डिकाम् ॥३५३॥
असातशतसंतप्ताः स्मरन्तो भीमसद्गुणान्। बाष्पपूर्णेक्षणाश्चेलुर्नावमुत्तीर्य ते पथि ॥३५४॥
एतस्मिन्नन्तरे तुण्डी मकराकृतिधारिणी। महाभीमाकृतिं भीमं वीक्ष्य वेगाद्दधाव च ॥३५५॥
क्रुद्धो युद्धाय संनद्धो बंधयित्वा वधाकृतिम्। अखण्डां तुण्डिकां दृष्ट्वा बभूव स जले तरन् ॥३५६॥
अन्योन्यं पादघातेन घातयन्तौ रुषा तकौ। युयुधाते जले भीमौ मल्लाविव सुनिष्ठुरौ ॥३५७॥
तुण्डीं तुण्डेन संहत्य शतखण्डमखण्डयत्। अखण्डः स प्रचण्डात्मा सुखण्डीमिव हण्डिकाम् ॥३५८॥
तुण्डी प्रचण्डकोपेन व्यन्तरी मकराकृतिः। अगिलद्गलितानन्दमखण्डं पाण्डुनन्दनम् ॥३५९॥
क्रुद्धो भीमः स्वहस्तेन विपाट्य जठरं हठात्। तुण्ड्या उत्पाटयामास पृष्ठास्थि स्थिरसंगतम् ॥३६०॥
विह्वलीकृत्य सा मुक्ता व्यन्तरी तेन सद्रुचा। पलायिता गता क्वापि मुक्त्वा त्रिपथगापथम् ॥३६१॥
ततो भीमो भुजाभ्यां तामुत्तीर्याध्वानमाययौ। तावता ददृशे तैश्च पराङ्मुखविलोकिभिः ॥३६२॥
आयान्तं तं समावीक्ष्य युधिष्ठिरः स्थिरव्रतः। तस्थौ बन्धुजनैः सत्रं कुन्त्या हर्षितवक्त्रया ॥३६३॥
ततस्तेषां महाभीमश्चरणान्नंनमीति च। स्म समालिङ्ग्य तत्कण्ठमुत्कण्ठितमना महान् ॥३६४॥

ओर देख रहे थे। इस समय महान् दुख से उनका हृदय जला जा रहा था। भीम के गुणों का स्मरण कर उनकी आँखों में आँसू भर आते थे परन्तु दैव-वश वे कर कुछ नहीं सकते थे। आखिर नौका में से उतरकर उन्होंने अपना रास्ता लिया ॥३५२-३५५॥

महान् भयंकर भीम के गंगा में कूदते ही तुंडी मगर का रूप कर उसकी ओर दौड़ी। उसको अपनी ओर आती हुई देखकर भीम को बड़ा भारी क्रोध आया। वह जल पर तैरता हुआ उसके साथ युद्ध करने लगा। भीम का और तुंडी का आपस में पैरों के आघातों द्वारा खूब ही युद्ध हुआ। जान पड़ता था कि मानों जल के ऊपर रोष के भरे दो निष्ठुर मल्ल ही लड़ रहे है। इस समय अखण्ड और प्रचंडात्मा भीम ने पावों के प्रहार द्वारा तुंडिका को अधमरा कर दिया, जिससे वह बड़ी क्रुद्ध हुई और उसने भीम को एकदम ही निगल लिया। तब भीम के भी क्रोध की सीमा ही न रही और उस वीर ने अपने हाथ के वज्र जैसे प्रहार के द्वारा उसका पेट ही फाड़ डाला तथा उसकी पीठ की हड्डी को जो कि खूब ही मजबूत और वज्र के जैसी थी, उखाड़कर फेंक दिया और आप आराम के साथ उसके पेट से बाहर निकल आया। देवी भीम की भयानक मार से अत्यन्त विह्वल हो गई। उससे जब कुछ भी न बन पड़ा तब वह गंगा के उस मार्ग को छोड़कर उसी समय भाग गई ॥३५६-३६१॥

इस प्रकार-उसे पराजित कर भीम हाथों से गंगा को तैरकर आ गया। उसे आता हुआ देखकर, लौट-लौटकर पीछे की ओर देख रहे स्थिर व्रत युधिष्ठिर आदि पाण्डव और प्रसन्न-मुख कुन्ती सब वहीं ठहर गये। भीम ने जाकर उन सबके चरणों को नमस्कार किया और बड़ी भारी उत्कंठा के साथ गले लग कर उन सब का आलिंगन किया। इसके बाद उससे युधिष्ठिर ने पूछा कि भाई, तुम इतनी गहरी अथाह गंगा को हाथों से कैसे तैर आये और तुमने हाथों से ही उस दुष्ट तुंडिका को कैसे जीता? इसके उत्तर में भीम ने कहा कि पूज्यवर! मैं आपके पुण्य के प्रभाव से ही हाथों के प्रहार से

क्व जाह्नव्यतिगम्भीरा कथं तीर्णा सुदुस्तरा। भुजाभ्यां निर्जिता तुण्डी त्वया कथं सुमारुते ॥३६५॥
इत्युक्ते तैर्बभाणासौ तां विभज्य सुतुण्डिकाम्। घातैः सरिज्जलं तीर्त्वात्रागतोऽहं भवद्वृषात् ॥३६६॥
अन्योन्यं नृपनन्दनाः समुदिताश्चानन्दयन्तः परान् तीर्त्वा देव सरिज्जलं प्रविपुलं जित्वामरीं तुण्डिकाम्।
प्राप्ताः सद्विजयं विजय्यजयिनो जित्वा विपक्षान्क्षणात्। धर्मस्यैव विजृम्भितेन भविनां किं किं न बोभूयते ॥३६७॥
धर्मो यस्य सखा सुखं खलु वरं प्राप्नोति स श्रेयसे धर्मो यस्य शुभः स भाति भुवने भाभिन्नदुस्तामसः।
धर्मो यस्य स रक्षकः क्षितितले संरक्ष्यते सोऽमरैः धर्मो यस्य धनं समृद्धिजननं संमह्यते धार्मिकैः ॥३६८॥

इति श्रीपाण्डवपुराणे भारतनाम्नि भट्टारकश्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्मश्रीपालसाहाय्यसापेक्षे पाण्डवलाक्षागृहप्रवेशज्वलनप्रच्छन्ननिर्गमगङ्गासमुत्तरणतुण्डीनामजलदेवतावशीकरणवर्णनं नाम द्वादशं पर्व ॥१२॥

तुंडिका को हरा कर गंगा को तैर कर यहाँ आया हूँ ॥३६२-३६६॥

इस प्रकार अथाह गंगा को तैर कर, तुंडी देवी को जीतकर तथा शत्रुओं पर विजय लाभ कर वे जयशील पाण्डव परस्पर में खूब ही आनन्दित हुए।

भव्यजीवो! देखो, यह सब धर्म का ही प्रभाव है और हैं भी ऐसा ही कि यदि धर्म का समागम हो तो जीवों को भला क्या-क्या सम्पति नहीं मिल सकती-धर्मात्माओं को सब सम्पदायें अपने आप खोज कर उनकी सेवा में उपस्थित हो जाती है। तात्पर्य यह कि धर्म के प्रभाव से जीवों को सब कुछ मिल जाता है-कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता ॥३६७॥

जिसे धर्म से प्रेम होता है वही संसार में सुख पाता है, वही मोक्ष के लिए प्रयत्न कर सकता है और वही अपने शरीर की प्रभा से अँधेरे को दूर करता है अर्थात् देवताओं जैसे सुन्दर तेजशाली शरीर को पाता है। उसकी देव रक्षा करते हैं, जिसका कि धर्म सहायक होता है। उसी को धन-समृद्धि मिलती है और वही उत्तम-उत्तम पुरुषों द्वारा पूजा जाता है ॥३६८॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचंद्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में पाण्डवों का लाक्षागृह में प्रवेश, अग्नि से जल जाना, उसमें से उनका निर्गमन, गंगा को तैर जाना, तुण्डी नामक जलदेवता को वश करना इत्यादिकों का वर्णन करने वाला बारहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१२॥

❑ ❑ ❑

त्रयोदशं पर्व

चन्द्रप्रभं सुचन्द्राभं चन्द्रचर्चितपद्युगम्। चन्द्राङ्कं चन्दनैश्चर्च्यं नौमि नानागुणाकरम् ॥१॥
अथ ते पाण्डवाश्चण्डा द्विजवेषधरा वराः। कुन्तीगतिविशेषेण संजग्मुश्च शनैः शनैः ॥२॥
ततः कौशिकसन्नामपुरीं प्रापुर्नरेश्वराः। या स्वर्गतश्च्युतानीव धत्ते गेहानि सत्प्रभा ॥३॥
योच्चैः शालच्छलेनाशु जेतुं त्रिदिवपत्तनम्। उत्तस्थे सुस्थिता भूमौ नभःस्थं विगताश्रयम् ॥४॥
तां पाति सुपतिः श्रीमान्सुमतिश्रुतिकोविदः। सुवर्णो वर्णनातीतवर्ण्यो वर्णाभिधो नृपः ॥५॥
तत्प्रिया सुप्रिया भाति भूषिता च प्रभाकरी। यस्या मुखेन्दुना क्षिप्तं तमः पुरि न विद्यते ॥६॥
तयोर्वरात्मजा रम्या सुनेत्रा कमलाभिधा। कमलेव महारूपा सुगुणोदधिसंस्थिता ॥७॥
सैकदा प्रमदोद्यानं विशदश्रीनगोत्तमम्। चम्पकाचिन्त्यसज्जातिसुजातिसुमनश्चितम् ॥८॥
जगामोत्कण्ठिताकुण्ठा सोत्कण्ठितमनोभवा। लुठन्ती भासुरं तेजस्तेजोमूर्तिरिवापरा ॥९॥

उन चन्द्रप्रभ भगवान् को प्रणाम है जो गुणों के भण्डार हैं, जिनके चरणों में चन्द्रमा का चिह्न है, जिनके शरीर की प्रभा चन्द्रमा की प्रभा के समान है, जो चन्द्र द्वारा पूजे जाते हैं और जिन की चन्दन आदि उत्तम द्रव्यों के द्वारा पूजा होती है। वे हमें शान्ति दें, हमारे कर्म-कलंक को दूर करें ॥१॥

इसके बाद उन तेजस्वी पाण्डवों ने ब्राह्मण का रूप बनाया और कुन्ती की गति के अनुसार धीरे-धीरे चलकर वे लोग कौशिकपुरी में आये। कौशिकपुरी सब तरह शोभा से युक्त थी। उसमें जो उत्तम-उत्तम विशाल महल बने हुए थे वे स्वर्ग से च्युत होकर वहाँ आये हुए विमान से देख पड़ते थे। उनकी सुन्दरता स्वर्ग के विमानों जैसी थी। उस नगरी का कोट बहुत ऊँचा था। अतः जान पड़ता था कि मानों उसने पृथ्वी का आधार पाकर इस कोट के बहाने से आकाश में निराधार ठहरे हुए स्वर्गों को जीतने के लिए ही जाने का इरादा किया है ॥२-४॥

उसके स्वामी का नाम वर्ण था। वर्ण राजा श्रीमान् था, सुमति था, शास्त्र का ज्ञाता और उत्तम वर्ण का था। उसका रूप-सौंदर्य वर्णनातीत था-उसका कोई वर्णन ही नहीं कर सकता था। उसकी रानी का नाम प्रभाकरी था। वह भी अपने पति के जैसी ही थी। अतएव वर्ण उस पर खूब ही प्यार करता था। उसके शरीर की कान्ति सब ओर फैल रही थी, जिससे उसकी खूब शोभा हो रही थी। उसका मुँह चाँद के जैसा था, अतः उसकी ज्योत्स्ना के मारे कौशिकपुरी में कभी किसी जगह अँधेरे को जगह न मिलती थी, सब जगह हमेशा ही प्रकाश रहता था ॥५-६॥

वर्ण और प्रभाकरी के एक पुत्री थी। उसका नाम था कमला। कमला का रूप कमला (लक्ष्मी) के जैसा ही था। वह रूप-सौन्दर्य की सीमा थी। उसके नेत्र बहुत ही सुहावने थे, उन्हें देखने वाले की तृप्ति ही नहीं होती थी। वह गुणों की समुद्र थी। उसका शरीर तेज-शाली था। अतः वह तेज की दूसरी मूर्ति सी देख पड़ती थी ॥७-८॥

एक दिन उस मुग्धा के मानस में वनक्रीड़ा की उत्कंठा हुई और वह अपनी सखी-सहेलियों को साथ लेकर निर्मल, श्रीयुक्त, उत्तम वृक्षों वाले और चंपक आदि भाँति-भाँति के फूलों से सुंदर प्रमद

सखीभिः सह संक्रीड्य सव्रीडापीडमण्डिता। कानने तत्र खेलाभिर्दोलाभिः कृतकौतुका ॥१०॥
सा दूरतो ददर्शाशु प्रासादं विशदात्मिका। सुधाधौतं समृद्धं च शातकुम्भसुकुम्भकम् ॥११॥
तस्या जिगमिषा तत्र वन्दितुं श्रीजिनेश्वरान्। अभूत्तावत्समापुस्ते पाण्डवा जिनमन्दिरम् ॥१२॥
दृष्ट्वा चान्द्रप्रभं चैत्यं स्नात्वा ते प्रासुकैर्जलैः। निस्सहीति पदं प्राप्ताः पठन्तो विविशुर्गृहम् ॥१३॥
संपूज्य जिनपं तत्र वन्दित्वा स्तोतुमुद्यताः। विचित्रैःस्तोत्रमन्त्रैस्ते पवित्रैः परमोदयैः ॥१४॥
जिनेन्द्र जय सज्जन्तुजीवन त्वं जयोप्रत। अजय्य जय द्विट्तेजो जय जन्मापहानिशम् ॥१५॥
चन्द्रप्रभ त्वया क्षिप्तश्चन्द्रमा भासया सदा। लाञ्छनच्छलतः पादेऽन्यथा किं सोऽवतिष्ठते ॥१६॥
केवलज्ञाननेत्राढ्यो जगदुद्धरणक्षमः। त्वं पाह्यस्मान्कृपापारमितः पापाज्जगद्गुरो ॥१७॥
स्तुत्वेति जनितानन्दास्तेऽमन्दानन्दभूषिताः। यावत्तिष्ठन्ति तत्रायात्कमला वन्दितुं जिनम् ॥१८॥
सखीभिः सह संफुल्लनयना तारहारिका। नदन्नूपुरसंनादनिर्जिताखिलकोकिला ॥१९॥
स्खलन्ती सा नितम्बस्य भारेण कटिमेखलाम्। दधाना मन्दसद्गत्या जयन्ती दन्तिनीगतिम् ॥२०॥

नाम उद्यान में गई और वहीं जाकर उसने सखियों के साथ खूब क्रीड़ा की एवं उस लज्जा-रूप भूषण से विभूषित सुन्दरी ने झूले में झूल कर बहुत आनन्द-विनोद किया ॥९-१०॥

इसके बाद कमला ने दूर से एक जिन मन्दिर को देखा। वह बिल्कुल सुधा के जैसा सफेद था, समृद्धशाली था। उस पर सोने के सुन्दर कलश चढ़े हुए थे। उसे देखकर जिन भगवान् की वन्दना करने के लिए जाने की उसकी इच्छा हुई। इसी समय पाण्डव भी उस जिनमन्दिर के पास आये। उसमें चन्द्रप्रभ की मनोज्ञ प्रतिमा को देखकर और प्रासुक जल से स्नान कर पवित्र हो, निःसहि-निःसहि कहते हुए उन्होंने मंदिर में प्रवेश किया ॥११-१३॥

भगवान् की पूजा-वन्दना करके वे, पवित्र, परमोदय और विचित्र स्तोत्र-मंत्रों के द्वारा उनकी भक्तिभाव से स्तुति करने लगें कि जिनेन्द्र, भव्यों के जीवनाधार और जन्म-मरण के दुखों को हरने वाले प्रभो! तुम्हारी जय हो। सदाकाल धर्म का उपदेश करने को उद्यत, अजय्य और शत्रु-समूह को जीतने वाले चन्द्रप्रभ भगवन्, आपके कान्तिशाली शरीर की प्रभा ऐसी है कि उससे आपने चाँद को भी जीत लिया है और प्रभो, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, नहीं तो चंद्रमा चिह्न के बहाने भला आपके चरणों की सेवा ही काहे को करता। प्रभो, आपकी जय हो। आप केवलज्ञान के स्वामी हैं, संसार के उद्धारक हैं, कृपा-पारंगत हैं। अतः स्वामिन्! आप हमारी रक्षा करो। हमें संसार से पार कर इन दारुण दुखों से हमारा पिंड छुड़ाओ। इस प्रकार भक्तिभाव से प्रभु की स्तुति कर उन्हें बड़ा आनंद हुआ। उन्होंने खूब पुण्य-कर्म का बंध किया ॥१४-१७॥

इसके बाद वे पुण्यात्मा वहाँ बैठे ही थे कि इतने में वहीं सखी-सहेलियों सहित प्रभु की वन्दना करने के लिए कमला भी आ गई। उसके नेत्र-कमल खिल रहे थे और गले में मनोहर हार पड़ा था। वह अपने बिछुओं के शब्दों के द्वारा कोयलों के कंठों की लज्जित करती थी। उसके नितम्ब बड़े भारी. भार वाले थे, अतः वह स्खलित चाल से चलती हुई अपनी मंद गति से हथिनी की गति को

जिनेन्द्रभवनस्यान्तः सा प्रविश्य सुखोन्नता। ववन्दे विधिना देवान्प्रतिकृत्या समास्थितान् ॥२१॥
सुगन्धैर्बन्धुरैर्गन्धैः शुद्धैर्लब्धमधुव्रतैः। चन्दनैश्चर्चयामास सा जिनेन्द्रपदाम्बुजम् ॥२२॥
मन्दारमल्लिकाकप्रकेतकीकुन्दपङ्कजैः। चम्पकैश्चर्चते स्मासौ जिनेन्द्रपदपङ्कजम् ॥२३॥
धूपैर्धूपितदिक्चक्रैः फलैः प्रविपुलैर्जिनम्। संपूज्य निर्गताद्राक्षीत्पाण्डवान्पावनान्परान् ॥२४॥
तत्र स्थितं स्थिरं धाम्ना धर्मपुत्रं सुरूपकम्। विलोक्यातकयत्तूर्णं तद्रूपेण वशीकृता ॥२५॥
कोऽयं सुरः सुरेशो वा फणीशो रजनीकरः। सुरो वेमे नराः केऽत्र सुराः किं सूरसत्प्रभाः ॥२६॥
आज्ञातं नेत्रनिर्मेषैर्नरोऽयं कोऽपि सत्प्रभः। विनानेन कथं प्राणान्दधे धृतिविवर्जिता ॥२७॥
इति स्मरशरैर्भिन्ना प्रस्खलत्पदपङ्कजा। गृहं गन्तुं न शेके सा हतेव हतमानसा ॥२८॥
सखीभिर्वाह्यमाना सा समाप सदनं हठात्। सालसा तत्र नो भुङ्क्ते न वक्ति हसति क्षणात् ॥२९॥
ईक्षते क्षणतः खिन्ना रोदिति स्वपिति स्वयम्। उत्तिष्ठते स्वयं स्थित्वा हसित्वा पतति स्वयम् ॥३०॥

जीतती थी। उसकी कमर करधनी से सुशोभित थी। वहाँ आकर वह जिनभवन के भीतर गई। वहाँ जाकर उस सुखिनी ने जैसी विधि से चाहिए प्रभु की भक्तिभाव से वन्दना की और बाद उसने सुगन्धित चन्दन के द्वारा जिस पर के भौंरे गूंज रहे थे, प्रभु के चरण कमलों की पूजा की, उनके चरण-कमलों में मंदार, मल्लिका, केतकी, कुंद, कमल, चंपक आदि के उत्तम-उत्तम सुगन्धित पुष्प चढ़ाये, उसने सब दिशाओं को सुगन्ध-मय कर देने वाली धूप को आग में खेकर अपने कर्म-जाल को जलाया और मनोहर, उत्कृष्ट फल प्रभु की भेंट रक्खे। तात्पर्य यह कि उसने आठ द्रव्यों से प्रभु की खूब भक्ति के साथ गुण गा-गा कर पूजा की ॥१८-२४॥

इसके बाद वह जिनभवन से बाहर निकली और वहाँ उसने पवित्र पाण्डवों की देखा। उनमें तेजशाली और रूप-सौन्दर्यशाली युधिष्ठिर को देखकर वह उनके अतिशय सुन्दर रूप पर मोहित हो गई और मन ही मन विचारने लगी कि यह कौन हैं ? सुर है या सुरेश, चाँद है या सूरज, नगेन्द्र है या किन्नरदेव। ये मनुष्य से देख पड़ते हैं पर देवताओं के जैसी ही इनकी प्रभा है, अतः सुर के जैसे देख पड़ते हैं। लेकिन वास्तव में ये हैं कौन इतने विचार के बाद नेत्रों के पलक झपकने के कारण उसने पक्का निश्चय कर लिया कि यह कान्तिशाली कोई पुण्यात्मा पुरुष ही हैं। इन पुण्यात्मा ने मेरे मन को बिल्कुल ही चुरा लिया है, अतः मैं इनके बिना बिल्कुल ही अधीर हूँ। अब इन प्राणों की मैं मन के बिना कैसे रक्षा करूँगी। इस प्रकार वह काम के बाणों के द्वारा बिल्कुल ही जर्जरित हो गई, जिससे उसे वहाँ से घर जाना तक मुश्किल हो गया। वह पैर रखती थी कहीं, पर वह जाके पड़ता था और ही कई क्योंकि उसका मन बिल्कुल ही उसके काबू में न रह गया था ॥२५-२८॥

वह जैसे-तैसे सखियों के सहारे, उनकी जबरदस्ती से महल तक पहुँची। वहाँ वह सालसा न तो कुछ खाती थी और न बोलती-चालती ही थी, न हँसती थी और न किसी की ओर को देखती थी किन्तु खेदखिन्न होकर कभी रोने लगती और कभी सो जाती, कभी उठ बैठती और कभी बैठे-बैठे हँसती हुई स्वयं ही गिर पड़ती। कमला की ऐसी अवस्था देखकर उसकी माता ने सखियों

ईदृशां सुदृशीं मारावस्थासंस्थायिनीं सुताम्। माता संवीक्ष्य पप्रच्छाज्ञासीत्तच्चेष्ठितं तदा ॥३१॥
निवेदितस्तया भूपस्तच्चेष्टां क्लेशकारिणीम्। उक्त्वा तान्मन्त्रिभिस्तूर्णं समाह्वयत पाण्डवान् ॥३२॥
आगता मिलिता राज्ञा ते प्राप्तशुभभोजनाः। मानिता वरवस्त्राद्यैस्तत्र भेजुः परां स्थितिम् ॥३३॥
ततोऽसौ धर्मपुत्रं तं संप्रार्थ्यार्थसमन्विताम्। सुतां तस्मै ददौ प्रीत्या कमलां विधिनामलाम् ॥३४॥
ततः सोऽपि तया साकं भेजे भोगान्सुभासुरान्। दिनानि कतिचित्तत्र स्थितः कुन्त्या स्वबान्धवैः ॥३५॥
एकदा धर्मपुत्रं तं वर्णोऽप्राक्षीच्छृणु प्रभो। कस्त्वं कैषा नरा एते के कुतोऽत्र समागताः ॥३६॥
समाकर्ण्य नृपोऽवादीद्वर्णाकर्णय कौतुकम्। वयं पाण्डुसुता दग्धाः कौरवैर्निर्गता गृहात् ॥३७॥
द्वारावत्यां वरोऽस्माकं समुद्रविजयो महान्। मातुलस्तत्सुतो नेमिस्तीर्थकृत्सुरसंस्तुतः ॥३८॥
वैकुण्ठबलदेवौ चास्माकं तौ स्वजनौ मतौ। वयं तद्दर्शनोत्कण्ठास्तत्राटिष्याम उल्बणाः ॥३९॥
इति सर्वस्वसंबन्धमभिधाय समुद्यताः। मुक्त्वा तां तत्र निर्जग्मुः सवृषाः सत्यवादिनः ॥४०॥
देशे देशे महीयन्ते महान्तो महितैर्नरैः। पाण्डवाः परमोत्साहाः सदाचारविचारिणः ॥४१॥
आसनं शयनं यानं निघसो वसनाप्तिता। सर्वमेतद्धि सुप्रापमासीत्तेषां वृषोदयात् ॥४२॥

वगैरह से पूछकर उसकी ऐसी बुरी हालत होने के कारण को जान लिया और फिर जाकर उसने सब हाल अपने स्वामी वर्ण से कह सुनाया। सुनकर वर्ण ने उसी समय मंत्रियों को बुलाया और उन्हें पुत्री की क्लेश-मय दशा बताकर उसने पाण्डवों को बुला ले आने के लिए भेजा। पाण्डव आकर राजा से मिले। राजा ने भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि से उनका जैसा चाहिए उचित आदर किया। अतः वे प्रेम के वश हो वहीं ठहर गये। इसके बाद वर्ण राजा ने युधिष्ठिर महाराज से कन्या के लिए प्रार्थना की और उनकी अनुमति पाकर शुभ मुहूर्त में विधिपूर्वक उनके साथ कमला का प्रेम विवाह कर दिया और साथ में उन्हें बहुत धन भी दिया ॥२९-३४॥

कमला का पाणिग्रहण कर पाण्डव भी उसके साथ दिव्य भोगों को भोगते हुए माता और भाइयों सहित वहाँ कितने ही दिनों तक रहे। इसी बीच में एक दिन उनसे उनके ससुर वर्ण ने पूछा कि प्रभो! आप कौन हैं, आपके साथ यह कौन है ? और ये दूसरे चार पुरुष कौन हैं ? आप सब यहाँ आये कहाँ से हैं ? वर्ण के इन प्रश्नों के उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा कि महाराज, आप हमारे कर्म-कौतुक की बात सुनिए- हम पाँचों पाण्डु पण्डित के पुत्र पाण्डव हैं, हमें कौरवों ने जलाकर मारना चाहा था और हमारे महल में आग लगा दी थी परन्तु पुण्ययोग से हम वहाँ से निकल आये-हमें कोई कष्ट नहीं हुआ और अब हम द्वारिकापुरी को जा रहे हैं। द्वारिका के राजा समुद्रविजय हमारे मामा हैं और उनके पुत्र नेमिनाथ तीर्थंकर तथा कृष्ण, बलदेव हमारे बन्धु हैं। उनके दर्शनों की हमें बहुत ही उत्कंठा लग रही है। इसलिए यहाँ से हम द्वारिका को जायेंगे। इस प्रकार अपनी सारी बातें कह कर वे धर्मात्मा और सत्यवादी कमला को वहीं छोड़कर वहाँ से चल दिये ॥३५-४०॥

इसी प्रकार वे सदाचारी और विचारशील तथा परमोत्साही पांडव और भी जहाँ जहाँ गये वहाँ-वहाँ के माननीय पुरुषों ने उनका खूब सत्कार किया। वे जहाँ पहुँचते थे पुण्योदय से उन्हें वहाँ सब कुछ सामग्री मिल जाती थी। आसन, शयन, सवारी, आहार वगैरह सब कुछ ले-लेकर लोग

विक्रमाक्रान्तदिक्चक्राः सुक्रमाः क्रमतो नृपाः। चेक्रीयन्ते सपर्यां च वर्या वर्यजिनेशिनः ॥४३॥
सपुण्याः क्रमतः प्रापुर्भूपाः पुण्यद्रुमं वनम्। पुण्यद्रुमैः समाकीर्णं विस्तीर्णं पूर्णशोभया ॥४४॥
वनमध्ये शुभाभोगाः शरदभ्रनिभाः शुभाः। शातकुम्भसुकुम्भैश्च शोभिता व्योमसंगताः ॥४५॥
ध्वनद्दुन्दुभिसद्ध्वाना जयकोलाहलाकुलाः। अमला विपुला भव्यैर्भूषिता भूषणाङ्कितैः ॥४६॥
आसेदिरे सुप्रासादाः सदानन्दाकराः सदा। पाण्डवैः प्रीतचेतस्कैर्धर्मामृतसुपायिभिः ॥४७॥
पाण्डुपुत्राः पवित्रास्ते मात्रा चित्रसुभित्तिकान्। जिनागारान्समावीक्ष्य तदन्तर्विविशुर्मुदा ॥४८॥
हटद्हाटककोटीभिर्घटिताः सुघटाः शुभाः। संजाघटति यत्रस्थाः सच्चेतांसि सुदेहिनाम् ॥४९॥
स्वार्णरूप्याः सुरूपाभाः पावनाः परमोदयाः। प्रतिमाः प्रेक्ष्य ते प्रीतिमापुः पावनपुण्यकाः ॥५०॥
ततः पुष्पफलाद्यैस्ते चायन्ते स्म शुभार्चनैः। जिनान्यतो जनानां हि जायते पुण्यजीवनम् ॥५१॥
नत्वा स्तुतिशतैः स्तुत्वा प्रानमन्नम्रमस्तकाः। पाण्डवास्ताञ्जिनान्युक्त्या सद्धर्मामृतलालसाः ॥५२॥
वन्दित्वा सद्गुरून्गम्यान्गुणगौरवसंगतान्। गम्भीरास्तत्र पप्रच्छुर्जिनपूजाफलं च ते ॥५३॥

स्वयं ही उनके सामने आ जाते थे। उनका विक्रम दसों दिशाओं में व्याप्त हो रहा था। रास्ते में उन्हें जहाँ-जहाँ जिनमंदिर मिलते थे उन्हें वे पूजते हुए आगे को जाते थे ॥४१-४३॥

इस प्रकार धीरे-धीरे वे वृक्षों से परिपूर्ण और शोभा के स्थान पवित्र पुण्यद्रुम नाम वन में पहुँचे। उस वन के ठीक बीच में बहुत से जिनमंदिर थे। वे खूब लम्बे-चौड़े पूरे विस्तार को लिए हुए थे, शरद काल के मेघों जैसे स्वच्छ थे, आकाश तक ऊँचे तथा सोने के सुन्दर कलशों से सुशोभित थे। दुंदुभियों के गंभीर शब्द से वे शब्द-मय हो रहे थे और जय शब्दों का उनमें कोलाहल हो रहा था। वे निर्मल और विशाल थे, भाँति-भाँति के भूषणों से विभूषित भव्यों से सुशोभित थे और जीवों को नित्यानंद के दाता थे। उनको दूर से देखकर धर्मामृत के पिपासु पाण्डव प्रसन्न होते हुए उनकी ओर गये। वहाँ चित्रों से चित्रित भीतों वाले उन जिनालयों को देखकर उन्होंने हर्ष के साथ, माता-सहित उनमें प्रवेश किया ॥४४-४८॥

सोने के घरों से सुसज्जित उन सुन्दर जिनालयों में प्रवेश कर उन्हें अपूर्व आनंद हुआ। इसके बाद जब जून पुण्यात्माओं ने उन मंदिरों में विराजमान सोने और चाँदी की अतिशय रूपवाली, पवित्र परमोदय वाली प्रतिमाओं का दर्शन किया तब उनके आनंद की कुछ सीमा ही न रह गई। इसके बाद उन्होंने फल-फूल आदि द्रव्यों के द्वारा जिनबिम्बों की अतीव भक्ति-भाव से पूजा की क्योंकि पुरुषों को पवित्र जीवन प्रभु की पूजा के फल से ही मिलता है। उन्होंने सैकड़ों स्तोत्रों के द्वारा स्तुति कर मस्तक झुका कर प्रभु की प्रणाम किया ॥४९-५२॥

इसके बाद सच्चे धर्म को चाहने वाले उन पाण्डवों ने गुण-गौरवशाली, गंभीर और सम्यग्ज्ञानी गुरु की वन्दना करके उनसे जिन-पूजा के फल को पूछा। उत्तर में मुनि बोले कि भव्य, सुनिए मैं पूजा के फल को कहता हूँ, अतः इधर ध्यान दीजिए। जो भव्यजन सदा बड़ी भक्ति के साथ जिनपूजा करते हैं उन चतुर पुरुषों को जिनेन्द्र देव की पूजा से और तो क्या परम पद भी मिल जाता है, उनके

मुनिर्वाचं जगौ भव्याः शृणुतार्चनसत्फलम्। यार्चा चतुरचित्तानां ददाति परमं पदम् ॥५४॥
रजोमुक्त्यै भवेद्धारा वारां दत्ता जिनाग्रतः। सौगन्ध्याय शुभामोदो गन्धो देहे सुयुक्तिभिः ॥५५॥
अक्षता अक्षता दत्ताः कुर्वन्त्यक्षतसुश्रियम्। पुष्पस्रजः सृजन्त्याशु स्वःस्रजं देहिनां सदा ॥५६॥
उमास्वाम्याय नैवेद्यं दत्तं स्याद्देवपादयोः। दीपो दीप्तिकरः पुंसां जिनस्याग्रेऽवतारितः ॥५७॥
विश्वनेत्रोत्सवाय स्यात्सुधूपोऽगुरुसंभवः। फलं फलति संफुल्लां मुक्तिलक्ष्मीं सुलक्षिताम् ॥५८॥
अनर्घ्येण महार्घ्येण ये यजन्ति जिनेश्वरान्। ते प्राप्नुवन्ति चानर्घ्यं पदं देवनरार्चितम् ॥५९॥
इति पूजाफलं श्रुत्वा श्रावकास्ते महाश्रियः। जहर्षुर्हर्षपूर्णाङ्गा आमर्षोज्झितमानसाः ॥६०॥
ततस्ते क्षान्तिका वीक्ष्य समक्षं लक्षणान्विताः। प्रवन्द्य पुरतस्तस्थुः कुन्ती तत्पार्श्वमास्थिता ॥६१॥
तत्रैका लक्षणैर्लक्ष्या चञ्चलाक्षा सुपक्ष्मला। कटाक्षक्षेपणे दक्षा मङ्क्षु क्षेमक्षमावहा ॥६२॥
क्षपणाक्षीणसर्वाङ्गा चररक्षकरक्षिता। शिक्षमाणाक्षराण्याशु कुन्त्यैक्षि वरकन्यका ॥६३॥
तदा कुन्ती समुत्तुङ्गा क्षान्तिकां संयमश्रियम्। अप्राक्षीत्क्षान्तिकेऽक्षूणे नत्वा विज्ञप्तिमाश्रिता ॥६४॥
धर्मध्यानधरा धीरा धुरीणा धर्मकर्मसु। तपस्तपति सत्साध्वी कन्येयं केन हेतुना ॥६५॥

सभी दुख दूर हो जाते हैं और वे आत्मिक सुख को भोगने लगते हैं। उन्हें फिर कभी दुख, कष्ट आदि का सामना नहीं करना पड़ता ॥५३-५४॥

देखो, जो जिन भगवान् के चरण कमलों के आगे जलधारा देता है उसकी कर्मरज उपशान्त हो जाती है। जो सुगन्धित चन्दन चढ़ाता है उसे सुगन्धित शरीर का लाभ होता है। अक्षत चढ़ाने वाले को अक्षय सुख मिलता है। जो पुष्पों से पूजा करता है उसे स्वर्ग में दिव्य फूलों की मालायें पहनने को मिलती हैं। नैवेद्य पूजा का फल धन-दौलत की प्राप्ति और दीप पूजा का फल शरीर में दीप्ति होना है। अगुरु-चंदन की धूप से जो प्रभु की पूजा करता है उसे नेत्रों को सुहावना शरीर मिलता है। फल की पूजा का फल यह है कि उसे मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति होती है और अर्घ्य से जो पूजा की जाती है उसका फल होता है देवों द्वारा पूज्य अनर्घपद का लाभ। इस तरह मुनिराज के मुख-कमल से पूजा के फल को सुनकर महान् श्रीशाली और क्रोध आदि कषायों से रहित अतएव निर्मल-चित्त, श्रावक व्रती पाण्डव हर्ष से गद्‌गद् हो गये, उनके रोमाञ्च हो आये ॥५५-६०॥

इसके बाद पाण्डवों ने नाना लक्षणों से लक्षित एक आर्यिका को देखा। वे उसे नमस्कार कर उसके आगे बैठ गये और कुन्ती एक ओर बैठ गई। वहीं एक कन्या बैठी हुई थी। वह सुंदर लक्षणों से युक्त थी। उसके नेत्र चंचल थे और उनकी सुन्दर पलकें थीं। उसकी चितवन मन को मुग्ध कर देती थी। चंचलता, प्रेम और क्षमा का वह भण्डार थी। प्रोषध से उसका शरीर बहुत कृश हो रहा था। वह अच्छे सुशील रक्षकों द्वारा रक्षित थी। लिखना पढ़ना उसने अभी आरंभ ही किया था ॥६१-६३॥

उस सुन्दरी कन्या को देखकर कुन्ती ने आर्यिका को नमस्कार कर पूछा कि आर्ये! धर्मध्यान को धारण करने वाली और धर्म-कर्म में धुरीण यह साध्वी कन्या जो तप तपती है, इसके तप तपने में कारण क्या है? क्योंकि ऐसी विषम यौवन अवस्था में जिसमें कि काम का खूब जोर रहता है,

हेतुं विना न वैराग्यं जायते विषमे परे। यौवने वयसि स्फारे कामेन कलिताङ्गके ॥६६॥
रक्ताम्बरधरा केन हेतुना वनवासिनी। दीक्षां विना भवत्पार्श्वे तिष्ठति स्थिरमानसा ॥६७॥
वधूं कर्तुमनाः साध्वी कुन्ती तां चारुचक्षुषा। ईक्षांचक्रेऽनिमेषेण तरत्तारसुलोचनाम् ॥६८॥
अक्ष्णेनेक्षणेनासौ वीक्षमाणा युधिष्ठिरम्। तस्थौ तेनापि संवीक्ष्य पश्यता तन्मुखाम्बुजम् ॥६९॥
कटाक्षक्षेपतः सापि दत्ते स्म निजमानसम्। भूपायेक्षणतः सोऽपि ददौ तस्यै स्वमानसम् ॥७०॥
अन्योन्यमिति संपृक्तौ मनसा तौ चलात्मना। वचसा वपुषा वक्तुं नाशक्नुतां च सेवितुम् ॥७१॥
तावता गणिनी प्राह ज्येष्ठा श्रेष्ठे समासतः। शृण्वस्याश्चरितं चित्रं चीयमानं सुचेष्टितैः ॥७२॥
कौशाम्ब्यामत्र सत्पुर्यामजर्यायां वरार्यकैः। वर्यायां धुर्यसद्धैर्यसुचर्याश्रितसच्छ्रियाम् ॥७३॥
विन्ध्यसेनो नृपोऽभासीत्सुखेन शुभसंश्रितः। विन्ध्यसेनाभवत्तस्य प्रिया सुप्रीतमानसा ॥७४॥
तत्सुता सुगुणापूर्णा वसन्ताद्यन्तसेनका। सुरूपा सदृशा साध्वी कलाविज्ञानपारगा ॥७५॥
नृपेणैषा सुमन्त्र्याशु विचकल्पे सुकल्पनैः। साकल्पा पाणिपीडार्थं युधिष्ठिराय महीभुजे ॥७६॥
अनेहसा ततो दग्धाः पाण्डवाः कौरवेशिभिः। श्रुताः श्रुतौ जनैः सर्वैर्दुःखसंपीडितात्मभिः ॥७७॥

कारण के बिना वैराग्य नहीं हो सकता। अतः इसके वैराग्य का कोई न कोई कारण अवश्य। होना चाहिए। यह रंगीन वस्त्र पहिने हुए है, अतः अभी दीक्षित नहीं हुई है परन्तु फिर भी यह स्थिरमना आपके पास वन में किस कारण से रहती है ॥६४-६७॥

उसके रूप-सौंदर्य को देखकर कुन्ती की इच्छा उसे अपनी वधू बनाने की हुई। अतएव उस साध्वी ने उस चंचल नेत्रों वाली कन्या को अपने मनोहर चक्षुओं की एक टक दृष्टि से देखा। उधर वह कन्या भी अपनी चंचल दृष्टि से बैठी-बैठी चुपचाप युधिष्ठिर को देख रही थी और युधिष्ठिर भी कन्या के मुख-कमल की ओर दृष्टि डाल रहे थे। फल यह हुआ कि अपनी-अपनी दृष्टि के साथ युधिष्ठिर ने कन्या को और कन्या ने युधिष्ठिर को अपना-अपना मानस दे दिया। वे चंचलात्मा मन ही मन एक में एक खूब मिल गये। केवल शरीर से एक दूसरे का सेवन और वचन से आपस में बातचीत न कर सके। इतने में कुन्ती के प्रश्नों के उत्तर में आर्यिका ने कहा कि देवी, इसका चरित बड़ा विचित्र है। मैं थोड़े में कहे देती हूँ। तुम ध्यान देकर सुनो ॥६८-७२॥

इस पुरी का नाम कौशाम्बी है। इसमें उत्तम-उत्तम जनों का निवास है। यह उनके धैर्य, चातुर्य और उत्तम आचरण से शोभित है। यहाँ का राजा विंध्यसेन है। वह पुण्यात्मा है और उसका मुँह चंद्रमा के जैसा है। उसकी रानी का नाम विंध्यसेना है। वह सदा प्रसन्नचित्त रहती है, अतएव उन दोनों में बड़ी गाढ़ी प्रीति है। उनके एक पुत्री है। उसका नाम बसंतसेना है। वह सर्वगुण-सम्पन्न, सुन्दरी, सुन्दर नेत्रों वाली, साध्वी, कला-विज्ञान में पारंगत यही वह कन्या है। राजा ने विचार करके इसके सम्बन्ध में यह निश्चय कर लिया था कि भाँति-भाँति के भूषणों से विभूषित इस सुन्दरी कन्या का ब्याह मैं युधिष्ठिर के साथ करूँगा परन्तु थोड़े ही समय में लोक में फैलती हुई यह अफवाह सुनी गई जो कि बहुत ही दुख देने वाली है। वह यह कि कौरवों ने पाण्डवों को महल में आग लगा कर जला दिया है ॥७३-७७॥

श्रुत्वैवातर्कयच्चित्ते किमिदं च विरूपकम्। भर्तृदग्धिभवं जातं किल्बिषं चात्र कारणम् ॥७८॥
अनयेति चिरं चित्ते चिन्तितं चतुरेच्छया। युधिष्ठिरं विना नाथं न करिष्ये परं नरम् ॥७९॥
अयं दग्धस्ततस्तूर्णं करिष्ये परमं तपः। यतो नाप्नोमि कर्मैतन्निन्द्यं सर्वैर्भवे भवे ॥८०॥
दीक्षोद्यतां समावीक्ष्य पित्राद्या दुःखपूरिताः। एनां संवेगसंपन्नां बोधयामासुरुन्नताम् ॥८१॥
सुते पल्लवसत्पाणे परे कमलकोमले। हिमांशुवदने पद्मपादे सन्नादसुन्दरे ॥८२॥
क्वायं ते कोमलः कायः क्वेदं च दुष्करं तपः। शक्यं दन्तैर्यथा लोहहरिमन्थनमन्थनम् ॥८३॥
समीहसे च चेद्दीक्षां कियत्कालं स्थिरा भव। क्षान्तिकाभ्यर्णतस्तूर्णं सुश्रुतिं शृणु सर्वदा ॥८४॥
वृषतस्तव निर्विघ्नः कदाचित्स भविष्यति। ईदृशः खलु सुश्रेयान् स्वल्पायुर्न प्रजायते ॥८५॥
सति जीवति तस्मिंश्च तेनोपयममङ्गलम्। प्राप्य सौख्यं समासाद्य स्थिरा भव सुवासिनि ॥८६॥
अथान्यथा प्रव्रज्यां तां गृहणीयाः प्रार्थितेति च। स्थिरा स्थिता ममाभ्यर्णे कुर्वन्ती तनुशोषणम् ॥८७॥
एषा संयममिच्छन्ती रसत्यागविधायिनी। कायोत्सर्गकरा तन्वी चकार दुर्धरं तपः ॥८८॥
लसच्छीलसलीलाढ्या सुचारुचरिता चिरम्। शुद्धसिद्धान्तसंसिध्द्यै शुश्रावैषा शुभं श्रुतम् ॥८९॥

उसे सुनकर वसन्त सेना ने मन में सोचा कि पति का जल-मरना बहुत ही बुरा हुआ परन्तु इसमें मेरे पाप के उदय के सिवाय और कुछ भी कारण नहीं है। इस चतुरा ने तब इस बात पर बहुत विचार कर स्थिर किया कि मैं अब युधिष्ठिर के सिवाय और किसी को अपना स्वामी नहीं बनाऊँगी। वह जल चुके हैं, अब मिलने के तो है नहीं, अतः मैं अब उत्तम तप ही तपूँगी। जिससे अब आगे और किसी भव में ऐसे निंद्य कर्म का बंध न हो। यह सोचकर जब यह दीक्षा लेने को तैयार हुई तब इसके पिता आदि को बड़ा दुख हुआ और संसार से भयभीत हुई बसन्तसेना को उन्होंने बहुत समझाया कि बेटा! पत्तो की तरह बड़े कोमल तुम्हारे हाथ हैं, चाँद के जैसा सुहावना तुम्हारा मुँह है और कमल के जैसे कोमल पाँव हैं। तात्पर्य यह कि तुम्हारा सारा शरीर ही अत्यंत कोमल है, सुकुमार है। फिर ऐसे कोमल शरीर से इतना भारी दुष्कर तप भला कैसे होगा। क्या कहीं मछली भी अपने दाँतों से लोहे के चने चबा सकती है अथवा हे मधुरभाषिणी पुत्री! यदि तुझे दीक्षा ही लेना है तो कुछ दिन और ठहर जा और किसी आर्यिका के पास सच्चे शास्त्र का अभ्यास कर। कदाचित् तेरे पुण्य-प्रताप से ही युधिष्ठिर निर्विघ्न हो, उनके ऊपर आई हुई आपत्ति टल गई हो। तू इतनी जल्दी क्यों करती है। देख, ऐसे पुण्यात्मा पुरुषों की थोड़ी आयु नहीं होती, वे दीर्घजीवी होते हैं। यदि वे जीवित होंगे तो सुवासिनी पुत्री, तू उनकी पत्नी होकर उनके साथ आनन्द-चैन से घर गृहस्थी के सुखों को भोगना और नहीं तो दीक्षा लेकर तप तपना। पर अभी कुछ दिनों के लिए मेरा कहना मान जा और दीक्षा मत ले ॥७८-८७॥

इस प्रकार माता-पिता के समझाने से बसन्त सेना समझ गई और इसने कुछ दिन के लिए दीक्षा लेने का अपना इरादा बदल दिया परन्तु यह हमेशा मेरे पास आकर कायक्लेश करके शरीर को सुखाया करती है। यह संयम पालती है, रसपरित्याग तप तपती है और कायोत्सर्ग करके कठोर तप

विन्ध्यसेनसुताथेत्यचिन्तयच्चेतसि स्फुटम्। किमियं सुगुणा कुन्ती किमेते पञ्च पाण्डवाः ॥९०॥
अथ सा प्राह कन्येति का त्वं सुन्दरि मन्दिरे। गुणानां श्रेयसाकीर्णे प्रकीर्णकधमिल्लके ॥९१॥
का त्वं सर्वगुणाकीर्णा क एते पञ्च पूरुषाः। वद वत्से विचारज्ञे यथावद्भक्तवत्सले ॥९२॥
साऽभाणीत्कन्यके शीघ्रं शृणु तत्त्वं मयोदितम्। वयं तु ब्राह्मणाः सर्वे ब्रह्मविद्याविशारदाः ॥९३॥
दैवज्ञाहं ततस्तेन मदुक्ते निश्चयं कुरु। हसित्वेत्यवदत्कुन्ती तत्संजीवनसिद्धये ॥९४॥
हे पुत्रि त्वं पवित्रासि पुण्यासि त्वं महाशुभे। गुणज्ञासि गुणाधारे परमासि महोदये ॥९५॥
शुद्धं धारय शीलं त्वं यावज्जीवं च जीवनम्। प्रव्रज्याशां परित्यज्य स्थिरा भव गृहिव्रते ॥९६॥
कदाचित्तव पुण्येन ते भविष्यन्ति जोविन। तादृशां मरणं कर्तुं न क्षमन्ते सुरा अपि ॥९७॥
इति श्रुत्वा तदा कन्या गतच्छाया विषण्णधीः। आर्तध्यानेन संतप्ता विन्ध्यसेनसुताभवत् ॥९८॥
मनोमत्तगजेन्द्रं सा निरुद्धय च दुरुत्तरम्। तपस्यन्ती तपस्तस्थौ निन्दन्ती कर्म प्राक्कृतम् ॥९९॥
ततस्ते पाण्डवाश्चेलुश्चण्डाः कुन्त्या समं मुदा। लोकयन्तोऽखिलाँल्लोकाँल्लसल्लीलाविलासिनः ॥१००॥
शृङ्गाग्रलग्नसत्संगिमृगाङ्कं रङ्गसंगतम्। त्रिशृङ्गाख्यं परं द्रङ्गं जग्मुस्ते पाण्डुनन्दनाः ॥१०१॥
तत्पतिः पातितानेकपरिपन्थिजनोत्करः। दोर्दण्डमण्डितश्चाभूत्प्रचण्डश्चण्डवाहनः ॥१०२॥

किया करती है। यह साध्वी है-शीलवती है। इसका चरित बिल्कुल निर्दोष है एवं यह शुद्ध सिद्धान्त को जानने के लिए सदा अच्छे-अच्छे शास्त्रों को सुना करती है। इधर बसंतसेना ने मन में सोचा कि कहीं यही सुगुण कुन्ती और ये पाँच पाण्डव ही तो नहीं हैं ॥८८-९१॥

आखिर वह अपनी उत्सुकता को न दाब सकी और वह बोली कि गुणों की खान पुण्यात्मा और चमर के जैसे बालों वाली महाभाग देवीजी, आप कौन हैं और सर्व-गुण-सम्पन्न ये पाँचों कौन हैं? विचार-शील माताजी, आप मुझसे सब बातें कहें। कुन्ती बोली कि बेटी, सुनो मैं तुम्हें सब बातें बताये देती हूँ। हम सब ब्राह्मण हैं-ब्रह्मविद्या के जानकार दैवज्ञ हैं ॥९२-९३॥

इसलिए पुत्री, मैं जो कुछ कहूँ तुम उस पर पूरा भरोसा करना। अपनी सब बातें कहकर कुन्ती ने बसन्तसेना से हँस कर कहाँ कि पुत्री, तुम पवित्र हो, पुण्यात्मा हो, सुन्दरी सुहावनी हो, गुणज्ञा और गुणाधार हो, उत्तम और महोदया हो, अतः जन्मपर्यन्त शील को धारण करो और दीक्षा की आशा छोड़कर श्रावक के व्रतों में मन को स्थिर करो। सम्भव है तुम्हारे पुण्य से पाण्डव अवश्य ही जीवित होंगे क्योंकि ऐसे महान् पुरुषों को मनुष्य तो क्या देवता भी नहीं मार सकते हैं। यह सुनकर कान्ति-हीन और खेदखिन्न बसन्तसेना आर्तध्यान से संतप्त हो उठी परन्तु उसने अपने मनरूप मत्त गजेन्द्र को रोका और अपने पूर्व कर्म की निंदा करती हुई वह कठोर तप तपने लगी ॥९४-९९॥

इधर प्रतापी पाण्डव कुन्ती-सहित वहाँ से चलकर नाना विनोदों में मस्त हुए और प्रकृति की सुन्दरता को देखते हुए त्रिशृंग नाम नगर में आये। यह नगर बड़ा सुंदर था। इसके महल-मकान इतने भारी ऊँचे थे कि उनके शिखरों पर आकर चन्द्रमा विश्राम करता था। यहाँ का राजा चंडवाहन था। उसने अपने भुजा-रूप दंडों के द्वारा बड़े-बड़े बैरियों का सर्वनाश कर दिया था, अतः वे भुजायें उसका

प्रेयसी परमानन्दा सुपदा तस्य शोभते। विमला विमलाभासा नाम्ना च विमलप्रभा ॥१०३॥
तयोः पुत्र्यो दश ख्याताः संख्यावत्यः सुशिक्षिताः। तासां ज्येष्ठा सुगम्भीरा गुणज्ञाभूद्गुणप्रभा ॥१०४॥
द्वितीया सुप्रभा भासा सुप्रभा तृतीया पुनः। ह्री श्री रतिस्तथा पद्मेन्दीवरा सप्तमी मता ॥१०५॥
विश्वा विश्वगुणैः पूर्णा तथाश्चर्याभिधानिका। अशोका शोकसंत्यक्ता दशमी सुषमावहा ॥१०६॥
ता यौवनजवायत्ता रूपसौभाग्यशोभिताः। भूपो वीक्ष्य निमित्तज्ञमप्राक्षीत्सुखसिद्धये ॥१०७॥
आसां को भविता नाथः कथ्यतां वितथातिगः। स ब्रूते स्म निमित्तेन युधिष्ठिरं वरं वरम् ॥१०८॥
ताश्च तत्पतिमुन्निद्रा निश्चित्य सुखतः स्थिताः। तद्वार्तामन्यथा श्रुत्वा समासन्दुःखिताः पुनः ॥१०९॥
अथ तत्र पुरे श्रीमान्मित्राभो मित्रवर्धितः। प्रियमित्राभिधः स्वेभ्यः श्रेष्ठी श्रेष्ठगुणाग्रणीः ॥११०॥
दयिता सौमिनी तस्य तयोर्जाता सुता वरा। मृगनेत्रा पवित्रान्तःशुद्धा नयनसुन्दरी ॥१११॥
सुन्दरा सुन्दराकारा सेन्दिरा गुणमन्दिरा। पूर्वं युधिष्ठिरायासौ पित्रा दत्ता निमित्ततः ॥११२॥
सापि तद्दहनं श्रुत्वा खिन्ना ताभिः समं स्थिता। धर्मध्यानरताः सर्वा बभूवुर्व्रततत्पराः ॥११३॥
राजा श्रेष्ठी सभार्यौ तौ पुरुषान्तरवेदिनौ। तास्तं दातुं समुद्युक्तौ क्षितौ दुःखभरैः स्थितौ ॥११४॥

भूषण हो गई थीं। उसकी प्रिया विमलप्रभा थी। वह नित्य आनन्दित रहती थी। उसका शरीर कान्ति का पुंज था, निर्मल था और उसके पाँव अतीव सुन्दर थे ॥१००-१०३॥

चंडवाहन और विमलप्रभा के दस पुत्रियाँ थीं। वे सब सुशिक्षिता, विदुषी थीं। उनमें सबसे बड़ी पुत्री का नाम था गुणप्रभा। वह गंभीर थी और गुणज्ञा थी। बाकी की और नौ पुत्रियों के नाम ये थे– सुप्रभा, ह्री, श्री, रति, पद्मा, इन्दीवरा, विश्वा, आश्वर्या, अशोका। ये सभी गुणवती परम शोभा की स्थान थीं, रूप-सौभाग्य से सुशोभित थीं और यौवन अवस्था को प्राप्त हो चुकी थीं। एक दिन उन सबको यौवन-अवस्था में देख राजा ने एक निमित्तज्ञानी से पूछा कि इनका स्वामी कौन होगा। निमित्त-ज्ञानी ने निमित्तज्ञान से कहा कि महाराज, इनका वर युधिष्ठिर नाम पाण्डव होगा। यह बात सुनकर उन गुणवती कन्याओं ने युधिष्ठिर को ही अपना पति निश्चित किया और वे सुख से वहीं रहने लगीं परन्तु कुछ दिनों बाद उन्हें पाण्डवों के सम्बन्ध में कुछ और ही बात सुन पड़ी, जिससे वे बहुत ही दुखी हुई। यहीं एक सेठ और था। उसका नाम प्रियमित्र था। वह धनी था, श्रीमान् था। मित्र (सूरज) के समान उसकी प्रभा थी। मित्रों के द्वारा वह वृद्धिंगत था। उत्तम गुणवालों में श्रेष्ठ था। उसकी प्रिया का नाम सौमिनी था। उनके नयन सुन्दरी नाम एक कन्या थी। वह मृगाक्षी थी, उसका मानस बहुत ही निर्मल था। वह बड़ी सुन्दरी थी, गुणों की खान थी। राजा की तरह सेठ ने इसकी भी निमित्तज्ञानी के वचन से युधिष्ठिर को देनी कर रक्खी थी ॥१०४-११२॥

अतः वह भी पाण्डवों के जलने की बात सुनकर खेदखिन्न हुई और गुणप्रभा आदि राजपुत्रियों के साथ रहने लगी। इसके बाद ये ग्यारह की ग्यारह ही कन्यायें धर्मध्यान में लीन होकर व्रत-उपवास वगैरह करने लगीं और राजा, सेठ तथा उन दोनों की भार्यायें ये चारों अपनी कन्याओं के ब्याह देने की चिंता में मग्न होकर दुख से अपना समय बिताने लगे। ये मधुरभाषिणी कन्यायें

सर्वपर्वसु ताः प्रीता उपवासं सुदुष्करम्। कुर्वन्त्योऽस्थुः स्थिरा भावैः स्वभावमधुरा गिरा ॥११५॥
एकदा ताश्चतुर्दश्यां प्रोषधं द्व्यष्टयामकम्। गृहीत्वा श्रीजिनागारे वनस्थे विदधुः स्थितिम् ॥११६॥
तत्रैव ता अहोरात्रं धर्मध्यानपरायणाः। व्युत्सर्गविधिसंशुद्धा निन्युः संनिश्चयान्विताः ॥११७॥
जिनचक्रिनरेन्द्राणां ताः कथाः कथनोद्यताः। निशां नीत्वा प्रगे सर्वाश्चक्रुःसामायिकीं क्रियाम् ॥११८॥
ततः प्रोवाच सश्रीका राजपुत्री गुणप्रभा। अत्रैव पारणां शुद्धाः करिष्यामो वयं लघु ॥११९॥
तत्र चेन्मुनिदानेन पारणा सफला भवेत्। तदानीं सफलं जन्म जायतेऽस्माकमुन्नतम् ॥१२०॥
दत्त्वा च मुनये दानं ग्रहीष्यामो वरं तपः। तत्पार्श्वे शुद्धचेतस्का भावयन्तीति भावनाः ॥१२१॥
अहो संसारवैचित्र्यं विद्यते परमं महत्। सुधियामपि जायेत ममत्वं तत्र मोहतः ॥१२२॥
पुनः स्त्रीत्वं भवेन्निन्द्यं भवे दुष्कर्मयोगतः। जातमात्रा तु पितॄणां पुत्री दुःखाय कल्पते ॥१२३॥
वर्धमाना पितुर्दत्ते वरान्वेषणसंभवाम्। चिन्तां विवाहिता सापि पजितां शर्महारिणीम् ॥१२४॥
कदाचिच्चेद्वरो दुष्टो व्यसनी वा क्रियातिगः। मृषावाग्विनयातीतो दुरोदररतः सदा ॥१२५॥
सरोगो विभवातीतः परनारीषु लम्पटः। अन्यायी क्रोधसंबद्धो धर्मातीतोऽतिदुर्मतिः ॥१२६॥

सभी पर्व दिनों में स्थिरचित्त से दुष्कर उपवास करती थीं। इसी प्रतिज्ञा के अनुसार इन्होंने एक दिन चतुर्दशी को सोलह प्रहर का उपवास किया और वे एक वन के जिनमंदिर में-जहाँ किसी तरह का कोई उपद्रव न था-गई। वहाँ उन्होंने धर्म-ध्यान पूर्वक कायोत्सर्ग धर कर रात और दिन को बिताया तथा अपनी आत्मा को शुद्ध किया। उस दिन जिन भगवान् चक्रवर्ती तथा अन्य महापुरुषों की कथाओं और उनके पवित्र जीवन-चरित्रों के श्रवण-पूर्वक रात बिताकर सबेरे उन्होंने सामायिक आदि क्रियाएँ कीं ॥११३-११८॥

इस समय उन सबसे श्रीमती गुणप्रभा राजपुत्री ने कहा कि हम लोग आज यहीं पारणा करेंगी और यदि आज मुनिदान से हमारा पारणा सफल हो गया तो समझो कि जन्म ही सफल हो गया तथा एक बात यह है कि मुनि को दान देकर उनके पास से हम उत्तम तप ग्रहण करेंगी। इसके बाद वह शुद्धमना इस प्रकार भावना भाने लगी कि संसार बड़ा भारी विचित्र है, इसमें मोह के वश होकर बुद्धिमान् लोग भी ममत्व करने लग जाते हैं-इसकी विचित्रता से अपने को भूल जाते हैं। फिर भी यहाँ यह स्त्रीपना तो और भी निंद्य है, यह पाप के उदय से प्राप्त होता है ॥११९-१२३॥

देखो, कन्या के उत्पन्न होते ही तो माता-पिता संकट में पड़ जाते हैं। वे उसके जन्म की खबर पाते ही निसासें डालने लगते हैं और पुत्र की आशा छोड़कर निराशा के समुद्र में गोते लगाने लगते हैं। इसके सिवाय जब वह सयानी होती है तब उन्हें उसके विवाह की चिन्ता में जलना पड़ता है एवं किसी तरह आपत्तियों को सह कर भी वे उसके विवाह से पार पड़े तो उन्हें इस बात की चिन्ता लगी रहती है कि कन्या को पति के समागम से सुख होगा या नहीं। सुख हुआ तब तो अच्छा ही है, अन्यथा कहीं पाप के उदय से वर दुष्ट, व्यसनी, झूठा, लवार, गैरसमझ, अविनयी, अन्यायी, व्यभिचारी, रोगी, दरिद्री, परस्त्री-लंपट, क्रोधी, अधर्मी और दुर्बुद्धि हुआ तब तो उस बेचारी के

ईदृशश्चेद्दुराचारः स्त्रिया दुःकर्मपाकतः। तस्या दुःखाय जायेत तद्दुःखं कोऽत्र वेत्त्यहो ॥१२७॥
समीचीनः कदाचित्स सपत्नी दुःखदा भवेत्। सपत्नीतः परं दुःखं नाभून्न भविता स्त्रियः ॥१२८॥
तथा पत्युरमान्या वा वन्ध्या वा युवतिर्भवेत्। प्रसूतिका कदाचिच्चेद्दुःखं स्याद्गर्भसंभवम् ॥१२९॥
गर्भभारभराक्रान्ता न क्वापि लभते सुखम्। प्रसूतावामनस्यं कस्तद्दुःखं गदितुं क्षमः ॥१३०॥
मृते भर्तरि वैधव्यं तादृशं तदपि स्त्रियाः। युवतीजन्मजं दुःखं गदितुं कः क्षमो भवेत् ॥१३१॥
विवाहविधिसन्त्यक्ता वयं वैधव्यमागताः। धिक्स्त्रीत्वं भवभोगैर्नः कृतमन्यच्च श्रूयताम् ॥१३२॥
भर्तुः प्रसादतः स्त्रीणां सफलाः स्युर्मनोरथाः। धर्मार्थकामजाः सर्वं भर्त्रधीनं यतः स्त्रियाः ॥१३३॥
वृथा भर्त्रा विना जन्म स्त्रीभिर्निर्गम्यते कथम्। अतः संयममाधाय सुखिताः स्याम चालयः ॥१३४॥
शीलसंयमसम्यक्त्वध्यानैः स्त्रीलिङ्गमाकुलम्। हत्वा नरत्वमासाद्य मुक्तिं यास्याम इत्यलम् ॥१३५॥
तद्वाचमपरा श्रुत्वोवाच दीक्षाप्रशंसिनी। त्वदुक्तं सत्यमेवात्र किं चान्यच्छ्रूयतां सखि ॥१३६॥

दुख का पार ही नहीं रह जाता। फिर उस स्त्री के दुखों को-जिसको कि ऐसा पति मिला हो-कौन जान सकता है और माना कि वर निर्दोष भी मिल गया परन्तु कहीं सौत का समागम हो गया तब और भी अधिक दुख का पहाड़ ही उसके सिर पर आ पड़ता है क्योंकि स्त्रियों को जैसा दुख सौत का होता है वैसा दुख संसार में न तो किसको है, न हुआ और न होगा ही ॥१२४-१२८॥

इसके सिवाय यदि स्त्री-पति की प्यारी न हुई या बाँझ हुई तब भी दुख ही है और कदाचित् पति को प्यारी हुई और बाँझ भी न हुई तो गर्भवती होने पर नौ महीने गर्भ का दुख होता है। यह तो सभी जानते हैं कि गर्भवती स्त्री को गर्भ के भार के मारे सुख नहीं मिलता। इसके बाद भी जब बाल-बच्चा पैदा होता है तब स्त्री को इतना दुख होता है कि उस दारुण दुख को कोई कह ही नहीं सकता ॥१२९-१३०॥

इसके सिवाय स्त्री को भारी दारुण दुख पति के मर जाने पर विधवापने का भोगना पड़ता हैं। सच पूछो तो इस दुख के समान संसार में कोई दुख ही नहीं है परन्तु फिर भी जो स्त्रियाँ पतिव्रता होती हैं वे अपने सतीत्व का पालन कर इन कष्टों को भी सह लेती हैं। तात्पर्य यह है कि स्त्री जन्म का दुख कोई कह ही नहीं सकता परन्तु देखिए तो इन दुष्ट कर्म की लीला जो हम सब विवाह न हुए ही विधवा हो गई। अतएव वास्तव में यह स्त्री-पर्याय ही धिक्कार योग्य है और अब सांसारिक भोगों से भी हमारी मनसा पूरी हो गई है। अतः इसके द्वारा हमें कल्याण ही करना उचित है और सुनो कि स्त्री सर्वथा पति के अधीन होती है और इसलिए पति की प्रसन्नता से ही उसके धर्म, अर्थ और कामजन्य मनोरथ सिद्ध होते हैं-वह सुखी होती है। अतः पति के बिना स्त्री का जन्म व्यर्थ है और उसका निर्वाह भी नहीं हो सकता। इसलिए बहिनों, हम जब संयम का शरण लेंगी तभी हमें सुख होगा और तरह सुख मिलने का नहीं। देखो, शील, संयम और सच्चे ध्यान के बल से और तो क्या हम दारुण दुखदायी इस स्त्रीलिंग को छेद कर तथा पुरुष जन्म पाकर मुक्ति को भी पा सकेंगी ॥१३१-१३५॥

गुणप्रभा के इन वचनों को सुन दीक्षा लेने को उद्यत हुई कोई दूसरी राजपुत्री बोली कि सखी,

पत्युः स्नेहसुखाशार्थं गृहवासो हि केवलम्। अबलानां बलं सोऽत्र तं विना का गृहं वसेत् ॥१३७॥
विधवा स्त्री सभामध्ये शोभते न कदाचन। अविवेकी यथा मर्त्यो वाथ लोभाकुलो यतिः ॥१३८॥
विधवानां त्रपाकार्यञ्जनं ताम्बूलभक्षणम्। श्वेतवासो विना नान्यद्भूषावच्छोभते शुभम् ॥१३९॥
मृते गतेऽथवा पत्यौ युवती संयमं श्रयेत्। तपसा निर्दहेद्देहं करणानि च सत्वरं ॥१४०॥
भोजनं वसनं वार्ता कौशल्यं जीवनं धनम्। स्वस्नेहः शोभते स्त्रीणां विना नाथं कदापि न ॥१४१॥
एवं वृत्तेऽत्र वृत्तान्ते तासां संयमकोविदः। दमितारिमुनिर्ज्ञानी समायासीज्जिनालये ॥१४२॥
तास्तं योगीन्द्रमावीक्ष्य सहर्षाः कोपवर्जिताः। त्रिधा परीत्य सद्भक्त्या नेमुस्तत्पादपङ्कजम् ॥१४३॥
कन्या अकथयन्स्वामिन् योगीन्द्रं योगभास्करम्। कृपां कृत्वा प्रव्रज्यां नो यच्छ स्वच्छमनोमल ॥१४४॥
अवदंस्ता यथा वृत्तं मुनीन्द्रं पाण्डवोद्भवम्। ज्वलिते भर्तरि श्रेष्ठास्माकं दीक्षा शुभावहा ॥१४५॥
कुलजानां यतः स्त्रीणामेक एव पतिर्भवेत्। निशम्येति वचोऽवादीद्योगीन्द्रोऽवधिलोचनः ॥१४६॥

तुमने जो कुछ भी कहा है वह अक्षरशः सत्य है। उसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। यह सुन गुणप्रभा बोली कि सखी और भी सुनो। देखो, पति के स्नेह से होने वाले सुख की आशा से ही स्त्री घर-गृहस्थी में रहती है और वास्तव में अबला स्त्री के लिए पति ही बल है। फिर उस बल के न होने पर कौन घर-गृहस्थी में रह कर झंझट भोगेगी। सखी, बिना पति के विधवा स्त्री की जनसमाज में उसी तरह शोभा नहीं होती। जिस तरह कि अविवेकी मनुष्य और लोभी साधु की और भी देखो कि विधवा होने पर स्त्री की शृंगार करने, अच्छे खाने-पीने आदि बातें लज्जित करने वाली हैं। केवल सफेद वस्त्र के सिवाय और कोई वस्त्र, आभूषण वगैरह उसे शोभा नहीं देता। इसलिए पति के मर जाने या परदेश चले जाने पर स्त्री को उचित है कि वह संयम का शरण ले और तप के द्वारा शरीर को सुखा कर इन्द्रियाँ को जीते। मतलब यह है कि भोजन, वस्त्र, बोलचाल, जीवन, धन और घर-गृहस्थी से प्रेम ये सब बातें पति के बिना स्त्री की शोभा नहीं देतीं ॥१३६-१४१॥

इस प्रकार वे सब राजकन्याएँ आपस में विचार कर ही रही थीं कि इतने में ही वहाँ जिनालय में संयम-कुशल और ज्ञानी दमतारि नाम एक मुनि आ गये। उन्हें देखकर वे सब बड़ी प्रसन्न हुई और उन्होंने तीन प्रदक्षिणा देकर भक्तिभाव से उनके चरण-कमलों में नमस्कार किया। इसके बाद वे बोलीं कि स्वामिन्, योगीन्द्र, योगभास्कर और मनोमल रहित स्वच्छ भगवन्! आप कृपा करके हमें दीक्षा-दान दीजिए। हम दीक्षा के लिए बहुत दिनों से उत्सुक हैं। अब आप हमारी, उत्सुकता को मिटाइए ॥१४२-१४४॥

उत्तर में योगीन्द्र ने कहा कि पुत्रियों, सुनो एक तो तुम्हारी अभी बाल्यावस्था है और दूसरे तुम अबला हो, ऐसी अवस्था में तुम सब वैराग्य क्यों धारण करना चाहती हो? इसका कोई कारण होना चाहिए। यह सुन कन्याओं ने मुनीन्द्र को पाण्डवों पर बीती हुई सारी कथा कही और कहा कि जब हमारे पति मर चुके हैं तब हमारे लिए दीक्षा लेना ही श्रेष्ठ है, शुभ है और इसी में हमारा कल्याण भी है क्योंकि कुलीन नारियों का एक ही पति होता है। कन्याओं के इन वचनों को सुनकर उन अवधिज्ञानी

एष्यन्ति ते मुहूर्तान्ते पाण्डवाः पञ्च पावनाः। योक्ष्यध्वे तैः समं यूयं स्थिरा भवत सांप्रतम् ॥१४७॥
इत्युक्ते सज्जनास्तत्र विस्मयव्याप्तचेतसः। दध्युः कथं समायातिस्तेषां हि ज्वलितात्मनाम् ॥१४८॥
तावता पाण्डवाः पञ्च पवित्राः समुपागताः। निःसहीति प्रकुर्वन्ति श्वेतवासोवहाः पराः ॥१४९॥
नुत्वा नत्वार्चयित्वा च जिनेन्द्रप्रतियातनाः। मुनिं ववन्दिरे भूपा भक्तिसंदोहभाजनम् ॥१५०॥
शशंसुस्ता मुनीन्द्रस्य बोधिं सद्बोधभागिनः। अहो बोधो मुनीन्द्रस्य सर्वलोकप्रकाशकः ॥१५१॥
पुनः कन्याः समावीक्ष्य युधिष्ठिरमहीपतिम्। बिडौजःसदृशं श्रीभिर्युतं तुतुषुरद्भुतम् ॥१५२॥
आगतान्नृपतिञ्श्रुत्वा पाण्डवांश्चण्डवाहनः। धराधीशो मतिं दधे तत्र गन्तुं समुत्सुकः ॥१५३॥
घनगर्जनसंकाशैरातोद्यैर्दीप्तदिंमुखैः। घोटकैः सुघटाटोपैरायात्तान्मिलितुं नृपः ॥१५४॥
छत्रच्छन्नमहाव्योमा शोभमानगुणोत्करः। तत्रैत्येष्ट्वा जिनान्युक्त्या दमितारिं ननाम च ॥१५५॥
पुनः स क्षितिपो भक्त्या समुत्थाय नरेश्वरान्। गाढमालिङ्ग्य लक्ष्मीशो ननाम नतमस्तकः ॥१५६॥
विपुलं कुशलं सर्वेऽन्योन्यं प्रष्टुं समुद्यताः। साधर्मिणां हि वात्सल्यं परं स्नेहस्य कारणम् ॥१५७॥

मुनि ने कहा कि तुम अभी ठहरो। देखो, अभी एक क्षण में ही पवित्रात्मा पाँचों पाण्डव यहीं आये जाते हैं और उनके साथ अभी तुम्हारा समागम होता है ॥१४५-१४७॥

मुनिराज के इन वचनों को सुनकर वहाँ जितने श्रावक थे वे सब बड़े अचम्भे में पड़ गये। वे सोचने लगे कि भला जले हुए पाण्डव कैसे अभी यहाँ आये जाते हैं। सब इसी सोच-विचार में उलझ रहे थे कि इतने में पवित्रात्मा पाँचों पाण्डव सफेद वस्त्र पहिने हुए निःसहि-निःसहि कहते हुए वहीं आ पहुँचे और आते ही उन्होंने मुनिराज को नमस्कार किया तथा स्तुति कर उन्होंने उनकी भक्तिभाव से पूजा की। वे भक्ति के भाजन थे और मुनियों को जिन भगवान् का प्रतिनिधि जानते थे। पाण्डवों को देखकर सब कन्यायें मुनिराज के ज्ञान की प्रशंसा करने लगीं कि देखो, इन प्रभु का ज्ञान कितना बड़ा है कि ये सारे लोक को जानते हैं—इनसे कोई बात छुपी नहीं है। धन्य है ज्ञान की महिमा, जिसके द्वारा कि हो गई, हो रही और होने वाली सभी बातें सामने आ जाती हैं। इसके बाद इन्द्र जैसे और अद्भुत श्री-युक्त युधिष्ठिर महाराज को देखकर उन सब कन्याओं को बड़ा सन्तोष हुआ ॥१४८-१५२॥

उधर चंडवाहन राजा ने ज्यों ही पवित्र पाण्डवों के आगमन को सुना त्यों ही उसे उनसे मिलने की बड़ी उत्सुकता हो उठी और उससे फिर एक मिनट भी न रहा गया। अतः वह गुणों का भण्डार वहाँ से उसी समय उनके दर्शन के लिए चल पड़ा। उसके सिर पर छत्र लग रहा था और आगे आगे मेघ की तरह गर्जन वाले बाजे बजते जाते थे तथा साथ में सुन्दर-सुन्दर बहुत से घोड़े थे। उसने वहाँ जाकर पहले मुनिराज को नमस्कार किया-उनकी वन्दना की और बाद मस्तक झुकाकर पाँचों पाण्डवों का गाढ़ आलिंगन किया-उनसे भेंट की ॥१५३-१५६॥

इसके बाद सबने परस्पर में एक दूसरे से कुशल-वार्ता पूछी। ऐसा करने से आपस में प्रेम बढ़ता है, अतएव ऐसा करना ही चाहिए क्योंकि साधर्मी भाइयों के साथ वात्सल्य दिखाने से चित्त में बड़ी प्रसन्नता और स्नेह होता है-एक दूसरे के प्रति निजी भाव पैदा होता है और फिर धीरे-धीरे आत्मबल

किंवदन्तीं विधायाथ विविधां कुशलस्य च। तैः समं नृपतिर्भेजे पुरं पुत्रीसमन्वितः ॥१५८॥
भोज्यभोजनभावेन भोजयित्वा स्ववेश्मनि। तान्भूपः प्रार्थयामास विवाहार्थं युधिष्ठिरम् ॥१५९॥
ततो मङ्गलनादेन नदन्तमिव मण्डपम्। नृत्यन्तं च नटीनृत्यैर्हसन्तमिव मौक्तिकैः ॥१६०॥
वदन्तमिव मालाभिर्मन्वानमिव मञ्चकैः। अन्यान्निर्माप्य भूमीशो विवाहं विदधे वरम् ॥१६१॥
विवाहमङ्गलोद्भासिशतकुम्भीयकुम्भकाः। शोभन्ते मण्डपे रम्ये विवाहसमये तदा ॥१६२॥
युधिष्ठिरस्तु पुण्येन समाप पाणिपीडनम्। प्रतीपदर्शिनीनां वै तासां मङ्गलनिस्वनैः ॥१६३॥
ताः कन्या नृपतिं प्राप्य पार्श्वस्थाश्चातिरेजिरे। कल्पवल्ल्यो यथा कल्पपादपं कल्पितार्थदम् ॥१६४॥
अहो पुण्यद्रुमः सातं फलतीहान्यजन्मनि। ततो वृषो विधातव्यो विविधार्थो वृषार्थिभिः ॥१६५॥

इत्थं पुण्यविपाकतो नरपतिर्युद्धे स्थिरः सुस्थिरः
विख्यातस्तु युधिष्ठिरो वरवधूलाभेन संलम्भितः।
देशेऽशेषपुरे वने प्रविपुले संपूजितो भूमिपैः
वामाभिर्वरवाञ्छितार्थफलदो रेजे यथा देवराट् ॥१६६॥

बढ़ता जाता है। यहाँ तक कि वह शत्रु, मित्र सबको एक दृष्टि से देखने लगता है। इसके बाद राजा उनको साथ लेकर पुत्रियों सहित नगर को चला आया। वहाँ उसने भोजन आदि से उनका खूब आदर किया और उन्हें अपने एक महल में ठहरा दिया। इसके बाद उसने युधिष्ठिर से विवाह के लिए प्रार्थना की ॥१५७-१५९॥

चंडवाहन ने विवाहोत्सव के लिए एक बड़ा सुंदर मंडप बनवाया, जो मंगल-नादों से शब्द-मय और नटियों के नृत्यों से नृत्य-मय हो रहा था। उसमें जो मोतियों की झालरें लगी थीं उनसे वह हँसता हुआ सा दीखता था, लटकती हुई मालाओं से बोलता हुआ सा जान पड़ता था और तख्तों से आदर करता हुआ सा देख पड़ता था। विवाह के समय उसमें विवाह-मंगल के सूचक सोने के सुन्दर कलश सजाये गये थे, जिनसे उसकी अपूर्व ही शोभा हो गई थी। ऐसे सुन्दर मन को मोहने वाले अपूर्व मंडप में राजा चंडवाहन ने विवाहोत्सव किया। इसके बाद युधिष्ठिर ने पुण्योदय से मंगल-गीतों की मधुर ध्वनि के साथ उन ग्यारह ही कन्याओं के साथ विवाह किया-उनका पाणिग्रहण किया। उस समय युधिष्ठिर के पास में खड़ी हुई वे कन्यायें ऐसी शोभती थीं मानों वाञ्छित अर्थ को देने वाले कल्पवृक्षों के पास में खड़ी हुई कल्पलतायें ही हैं। यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं कि जीवों को इस लोक और परलोक में जो सुख मिलता है, वह सब पुण्य-वृक्ष का ही फल है। इसलिए जो सुख चाहते हैं उन्हें सदा धर्म में लगा रहना चाहिए ॥१६०-१६५॥

देखो, यह सब पुण्य का ही फल है, जिससे कि युधिष्ठिर सारे संसार में युद्ध में पीछे पाँव नहीं देने वाले प्रसिद्ध हुए। उन्हें श्रेष्ठ बन्धुओं का लाभ हुआ। वे देश, विदेश, भयानक वन-जंगलों में जहाँ कहीं गये वहीं राजाओं महाराजाओं ने उनका आदर किया, स्त्रियों ने उनकी पूजा की और उन्हें अपना पति बनाया। वह युधिष्ठिर वाञ्छित फल को देने वाले इन्द्र के जैसे सुशोभित हुए और भी देखो कि

क्वास्ते हस्तिपुरं सुहस्तिनिनदैः संनन्दितं सर्वदा
क्वास्ते कौशिकपत्तनं क्व वनितालाभः सतां संमतः।
कौशाम्बी च पुरी क्व विन्ध्यतनया त्रिःशृङ्गसत्पत्तनम्
क्वास्त्येकादशकामिनीसुपतिता क्वैतत्फलं पुण्यजम् ॥१६७॥

इति श्रीपाण्डवपुराणे भारतनाम्नि शुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपालसाहाय्यसापेक्षे पाण्डवपरदेश गमनयुधिष्ठिरकन्यालाभवर्णनं नाम त्रयोदशं पर्व ॥१३॥

कहाँ तो हाथियों के नादों से शब्दमय होने वाला हस्तिनापुर है-और कहाँ कौशाम्बीपुरी जहाँ से युधिष्ठिर को कन्या का लाभ हुआ, कहाँ कौशाम्बीपुरी जहाँ से उन्हें बसन्तसेना मिली और कहाँ त्रिशृंगपुर जहाँ से उन्होंने ग्यारह सुंदरियाँ लाभ कीं। यह सब क्या है, इस प्रश्न का उत्तर यही है कि पुण्य का फल ॥१६६-१६७॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचंद्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में पाण्डवों का परदेश गमन का और युधिष्ठिर को कन्यालाभ का वर्णन करने वाला तेरहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१३॥

❑ ❑ ❑

चतुर्दशं पर्व

पुष्पदन्तं सुकुन्देद्धपुष्पदन्तं जिनेश्वरम्। पुष्पदन्ताभमानौमि पुष्पदन्तात्तपत्कजम् ॥१॥
ततश्चेलुर्महाचित्ताश्चञ्चला मलवर्जिताः। पश्यन्तः परमां शोभां वीथीनां व्यथयातिगाः ॥२॥
क्रमेण ते महारण्यं शरण्यं सुशरीरिणाम्। विकटाटोपसंछन्नं पाण्डवाश्च प्रपेदिरे ॥३॥
पिपासापीडितो भूपो मार्गजातश्रमेण च। सूरतापपरिश्रान्तः समभूत्स युधिष्ठिरः ॥४॥
अहो भीम पदं दातुं न शक्नोमि तृषातुरः। स्थातव्यमत्र सर्वैश्च समुच्चार्येति संस्थितः ॥५॥
तदा तद्दुःखमक्ष्णा न क्षमो द्रष्टुं विकर्तनः। प्रतीचीं दिशमातस्थौ कः पश्येन्महदापदम् ॥६॥
तदा तिमिरवृन्देन व्याप्तः सर्वदिशां चयः। जलाक्तकज्जलाभेन मधुव्रतसमात्मना ॥७॥
तदा ब्रूते स्म भूपालः पिपासापरिपीडितः। रे भीम नीरमानीय मत्तृषां विनिवारय ॥८॥
तृषासक्ता न संसक्ताः शरीरपरिरक्षणे। सरणीं सर्तुमुद्युक्ता न भवन्ति कदाचन ॥९॥
इत्युक्त्वा धर्मजस्तस्थौ स्थिरायां स्थिरमानसः। तादृशं तं समावीक्ष्य भीमोऽभूद्भयविह्वलः ॥१०॥
सलिलं स समानेतुं तत्र संस्थाप्य सोदरम्। इयायान्यामरण्यानीं करकाक्रान्तसत्करः ॥११॥
जलकल्लोलमालाढ्यं विकसत्सुकुशेशयम्। क्वचिद्हंससमूहेन हसन्तं कोकनिस्वनैः ॥१२॥

उन पुष्पदन्त भगवान् को प्रणाम है, जिनके दाँत कुन्द के पुष्प-तुल्य हैं, कान्तिशाली हैं, जिनके शरीर का वर्ण भी कुन्द के पुष्प के जैसा निर्मल है और जो संसार के प्राणियों को निर्मल-कर्ममल रहित करते हैं। वे मुझे निर्मलता प्रदान करें ॥१॥

इसके बाद गंभीर पाण्डव आनन्द-चैन से त्रिशृंगपुर के गली-बाजारों वगैरह की सुंदर शोभा को देखते हुए वहाँ से चले और एक महान् अरण्य में पहुँचे, जो उत्तम प्राणियों का शरण और वृक्षावलि से प्रच्छन्न था। वहाँ मार्ग की थकावट और सूरज की गर्मी से युधिष्ठिर को प्यास की पीड़ा सताने लगी। उन्होंने पीड़ित होकर भीम से कहा कि प्यारे भीम, मुझे बहुत प्यास लग रही है और उसके कारण अब मैं आगे एक कदम भी नहीं जा सकता हूँ। इसलिए तुम सब कुछ देर तक यहीं ठहर जाओ। यह कह कर युधिष्ठिर पृथ्वी पर बैठ गये। उनके इस समय के प्यास के दुख को सूरज भी अपनी आँखों से देख न सका, सो इसलिए मानो वह पच्छिम की ओर अस्ताचल पर जाकर छिप गया। बात भी यही है कि दुर्द्धर आपत्ति किसी से देखी नहीं जाती। सूरज के अस्त होते ही भौरों के समान बिल्कुल काले अंधेरे के समूह ने सभी दिशाओं पर अपना अधिकार जमा लिया। इस समय प्यास से अत्यन्त दुखी होकर युधिष्ठिर ने पुनः भीम से कहा कि भाई भीम, तुम जल्दी जाओ और कही से ठंडा जल लाकर मेरी प्यास को शान्त करो। तुम्हें यह नहीं मालूम कि प्यासा पुरुष न तो मार्ग ही तय कर सकता है और न अपने शरीर की ही रक्षा कर सकता है। इतना कह कर कष्ट से युधिष्ठिर वहीं भूमि पर लेट गये। उनकी ऐसी अवस्था देखकर भीम बड़ा भयातुर हुआ और वह उसी समय वर्तन ले, जल लाने के लिए दूसरे वन में गया ॥२-११॥

दैवयोग से वहाँ पहुँचते ही उसे एक सुन्दर तालाब दीख पड़ा। उसे देखकर उसके हृदय का

वदन्तं विस्फुराकारनानामुक्ताफलान्वितम्। आह्वयन्तं तृषा क्षुण्णान्परान्कल्लोलसत्करैः ॥१३॥
तत्र पद्माकरं वीक्ष्य भीमोऽभूद्भीतिवर्जितः। कमलाक्रान्तसद्वक्त्रं करकं कमलैर्भृतम् ॥१४॥
कृत्वादाय त्वरां तत्र पावनिः पवनो यथा। यावदायाति तावच्च न्यग्रोधतलसद्भुवि ॥१५॥
सुप्तः पिपासया ज्येष्ठः पीडितः स युधिष्ठिरः। तं सुप्तं मारुतिर्वीक्ष्य विषसाद हृदा तदा ॥१६॥
अहो संसारवैचित्र्यं विषमं सर्वदेहिनाम्। दृष्टमात्रप्रियं सद्यः कुड्यालिखितचित्रवत् ॥१७॥
संसारनाटके नाट्यं नटन्ति सुनटा इव। नराः कर्मविपाकेन प्रेरिताः पावना अपि ॥१८॥
यः कौरवनृपेशानः पाण्डवानां महीपतिः। सोऽयं संस्तरमाधाय प्रसुप्तः किं विधीयते ॥१९॥
न वक्ति परमादत्ते नात्ययं किं न नेक्षते। वयं कर्तव्यतामूढा विस्मरामः स्मयावहाः ॥२०॥
चिन्तयन्निति यावत्स समास्ते विपुलोदरः। तावत्कश्चित्खगस्तत्र कन्यामादाय चागमत् ॥२१॥
स वीक्ष्य पक्वबिम्बोष्ठीं चन्द्रवक्त्रां सुलोचनाम्। मालूरपीनवक्षोजां हृदि तामित्यतर्कयत् ॥२२॥
अहो इयं सुलक्ष्मीः किं किं वा मन्दोदरी परा। किं वा सीता शची किं वा किं वा पद्माथ रोहिणी ॥२३॥

भाव कम हुआ। तालाब हंसो के द्वारा हँसता हुआ और चकवे चकवी के शब्दों द्वारा बोलता हुआ जान पड़ता था। उसमें तरंगें लहरा रही थीं और सुन्दर कमल खिल रहे थे। वह लम्बा-चौड़ा भी खूब था। उसके किनारों पर सघन वृक्षावलि उसकी अपूर्व ही शोभा बढ़ा रही थी। भाँति-भाँति के वृक्षों के फल उसमें उतरा रहे थे। वह अपनी अतीव चंचल लहरों से ऐसा जाना जाता था मानों तरंग-रूपी हाथों के इशारे से प्यास बुझाने के लिए प्यासे पुरुषों को ही बुला रहा है। भीम ने उसमें से जल भर लिया और कमल से बर्तन का मुँह ढक वह पवन की तरह तेजी से वापस गया परन्तु वह जल्दी न जा सका। युधिष्ठिर इसके पहले से ही प्यास से बड़े पीड़ित होकर एक बरगद के पेड़ के नीचे सो गये थे। उनको सोया देखकर भीम के हृदय में बड़ा विषाद हुआ ॥१२-१६॥

वह सोचने लगा कि इस संसार की विचित्रता बड़ी विषम है। वह जीवों को भीत में लिखे हुए चित्र की तरह केवल देखने में प्यारी लगती है परन्तु वास्तव में उसमें कुछ भी तथ्य नहीं है। देखो, इस संसार-रूप नाटक में कर्म के उदय की प्रेरणा से पवित्रात्मा पुरुष भी सुघर नट की तरह स्वांग बना-बना कर नाचते हैं और दुखों का भार सिर पर ढोते हैं। अधिक क्या कहा जावे यहीं देख लो कि जो कौरवों का स्वामी है और पाण्डव जिसको अपना राजा मानते हैं, वही आज यहाँ जमीन का विस्तर लगाकर सो रहा है और जिसे अपने तन वदन की भी सुध तक नहीं है। वह न बोलता है, न कुछ लेता देता है और न कुछ खाता-पीता ही है और तो क्या वह किसी की ओर दृष्टिपात तक नहीं करता है। इस समय मुझे कोई उपाय नहीं सूझ पड़ता कि मेरा इस समय कर्तव्य क्या है। वास्तव में मैं इस समय कर्तव्य-विमूढ़ सा हो रहा हूँ ॥१७-२०॥

भीम इस प्रकार विचार कर रहा था कि इतने में उसके पास अपनी कन्या को साथ लिए एक विद्याधर वहीं पहुँचा। उस पके हुए बिंबा-फल के समान ओठों वाली, चन्द्र-वदनी, सुलोचना और कठिन तथा गोल कुचों वाली कन्या को देखकर भीम मन ही मन विचार ने लगा कि यह लक्ष्मी है

तावदाह खगाधीशो नत्वा तत्पादपङ्कजम्। देवेमां धारय त्वं हि कन्यापाणिप्रपीडनैः ॥२४॥
कस्त्वं कस्मात्समायासीः का कन्या कस्य चात्मजा। कथं ददासि मां ब्रूहि भीमोऽभाणीदिति स्फुटम् ॥२५॥
सोऽवोचन्मारुते वृत्तमस्याः कर्णय सातदम्। संध्याकारपुरं चात्र संध्याजलदभासुरम् ॥२६॥
त्रिसंध्यासाधने सक्ताः सद्धियो यत्र चासते। हिडिम्बवंशसंभूतो वैरिवारणसद्हरिः ॥२७॥
सिंहघोषो नृपस्तत्र शोभते सिंहघोषवत्। तत्प्रिया हरिणीनेत्रा लक्ष्मणा लक्षणैर्युता ॥२८॥
या वक्ति परमां वाणीं यया कामोऽपि जीवति। तत्सुता च हिडिम्बाख्या या रतिं सुविडम्बयेत् ॥२९॥
कदाचिद्धृततारुण्यां दीप्तसंभिन्नतामसाम्। लावण्यसरसीं तारां गतिनिर्जितदन्तिनीम् ॥३०॥
वाससंस्थापितात्यन्तमदनां स्वशरीरके। कामाडम्बरदण्डेन सदा तां च विडम्बिताम् ॥३१॥
हिडिम्बां भूषणैर्भूष्यां क्रीडन्तीं कन्दुकेन च। सखीभिः खेचरो वीक्ष्याचिन्तयच्चेति चेतसि ॥३२॥
को वरो भविता ह्यस्याः समरूपः समक्रियः। समशक्तिः समाचारः समशीलः समप्रियः ॥३३॥
इत्यातर्क्य समाहूय दैवज्ञं भाविवेदिनम्। को वरो भवितेत्यस्याः समप्राक्षीत्खगाधिपः ॥३४॥

या मंदोदरी, सीता है या शची, एवं पद्मा है या रोहिणी। यह कितनी सुंदरी है इतने में उसके चरण-कमलों में प्रणाम कर वह विद्याधर राजा बोला कि देव, आप विधि-पूर्वक विवाह कर इस कन्या को ग्रहण कीजिए ॥२१-२४॥

यह सुनकर भीम ने उससे पूछा कि तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? यह कन्या कौन है और इसके माता-पिता कौन हैं ? एवं तुम यह कन्या मुझे क्यों-देते हे ? कृपा कर आप मेरे इन प्रश्नों का उत्तर-दीजिए। फिर विचार करके मैं आपकी बात का उत्तर दूँगा। इस पर विद्याधर बोला हे महाभाग! सुनिए, मैं इस कन्या के चरित को कहता हूँ, जो कि बहुत उत्तम और सुखकर है। राजन्! यहाँ एक संध्याकार नाम का पुर है। वह सायंकाल के मेघों की रंग-बिरंगी छटा से युक्त है। वहाँ पर तीनों संध्याओं में आत्म-साधन करने वाले सिद्ध योगीजनों का निवास है। वहाँ का राजा सिंहघोष है। वह हिडंव-वंशी है और वैरी-रूपी हाथियों के लिए सिंह है। उसकी रानी का नाम है लक्ष्मणा। वह भी उत्तम लक्षणों वाली और मृगाक्षी है। वह इतनी मधुर और प्यारी बोलने वाली है कि जिसकी बोली सुनकर कामदेव भी जीवित हो जाता है। उसी की यह रति को भी जीतने वाली हिडंवा नाम कन्या है। यह रूप-लावण्य की सरसी है, शरीर की कान्ति से अँधेरे को दूर करती है, मंदगति से हथिनी की चाल को जीतती है। यह यौवन अवस्था को प्राप्त है, कामदेव का निवास-स्थान है और इसी कारण सदाकाल कामदेव भी विडम्बना को अपने सुन्दर शरीर द्वारा भोग रही है ॥२५-३१॥

सब प्रकार शोभा-सम्पन्न यह कन्या एक दिन सुंदर वस्त्राभूषण पहिने अपनी सखी-सहेलियों के साथ गेंद खेल रही थी। इसको खेलती देखकर सिंहघोष ने मन ही मन विचार किया कि अब यह युवती हो गई है, अतः किसी योग्य वर के साथ इसका अति शीघ्र ही ब्याह कर देना चाहिए। वह वर इसी के समान रूपशाली, शक्तिशाली, सुंदर आचार-विचार वाला, अच्छे स्वभाव का और प्रीतिपात्र होना चाहिए। यह सोच कर उसने भविष्य के ज्ञाता निमित्तज्ञानी से पूछा कि हिडंवा का वर

समावेद्य निमित्तेन स चाभाषीष्ट भूमिपम्। यः पिशाचवटस्याधः स्थित्वा जागर्ति निश्चितम् ॥३५॥
स वरो भविताप्यस्याः प्रचण्डभुजविक्रमः। पुनर्निशाचरं चौरं यो जेष्यति वटस्थितम् ॥३६॥
सुभटः सुघटो वैरिविकटो विटपस्थितः। स भर्ता भविता नूनं हिडिम्बायाः सुडम्बरः ॥३७॥
ततः प्रभृति तेनाहं प्रेक्षणे रक्षितोऽत्र च। निद्रामुक्तं समावीक्ष्य त्वामिमामानयं त्वरा ॥३८॥
त्वं स्वामिन्सुधराधीश धारयोद्धृत्य धार्मिक। धरां धृतिं धियं सिद्धिं यथा धत्से तथा त्विमाम् ॥३९॥
मा विलम्बय बुद्धीश हिडिम्बां हिण्डनोद्यताम्। शर्मोपयम्य भुञ्ज त्वं सुशिक्षाविधिवेदकः ॥४०॥
हिडिम्बापि त्रपां हित्वा बम्भणीति स्म तं तदा। आडम्बरेण वेगेन हिडिम्बां मां वृणु त्वकम् ॥४१॥
मा विचारय चित्ते त्वं विचारोऽन्योऽत्र वर्तते। वटे सविटपे नाथ पिशाचो वावसीति च ॥४२॥
किंच कश्चित्खगो गच्छन्खे क्षिप्ताखिलविद्यकः। विद्यां साधयितुं तस्थौ विकटे वटकोटरे ॥४३॥
मथ्नाति मानवान्मूढो मानी स नियमस्थितः। मथिष्यति तथा मध्यं ममापि विक्रमोत्कटः ॥४४॥
तावकं भणितं श्रुत्वा पिशाचोऽचिन्त्यविक्रमः। कोपं यास्यति कोपात्मा त्वं तूष्णीं भव जीवन ॥४५॥
इत्याकर्ण्यावगण्योक्तं तस्या जगर्ज गर्जनैः। स्फोटयन् स श्रुती तस्य संस्फूजर्थुरिवोन्नतः ॥४६॥
यमराज इवोन्मादमदिष्णुर्मदमेदुरः। भीमो बभाण भीमात्मा पिशाचाकर्षणं वचः ॥४७॥

कौन होगा? उसने विचार कर उत्तर दिया कि जो महान् पुरुष पिशाचवट के नीचे ठहर कर निश्चिन्त हुआ जागता रहेगा वही पुरुष इसका वर होगा अथवा जो वटवृक्ष में रहने वाले पिशाच को अपनी भुजाओं के विक्रम से जीतेगा वह इसका वर होगा ॥३२-३६॥

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। निमित्तज्ञानी के इन वचनों पर भरोसा करके सिंहघोष राजा ने मुझे तभी से यहाँ रख छोड़ा है। अतः आपको यहाँ जागते हुए देखकर मैं इसे यहीं ले आया हूँ। स्वामिन्! जिस तरह आप धरा, धृति, बुद्धि, सिद्धि आदि को ग्रहण किये हुए हैं उसी तरह इसको भी ग्रहण कीजिए। हे बुद्धिमान् धर्मात्मा और हित-अहित के जानकार विद्वान्, आप अब देर न कर जल्दी इसे स्वीकार कर, स्वर्गीय सुखों का अनुभव कीजिए ॥३७-४०॥

हिडंवा ने भी संकोच छोड़कर कहा कि स्वामिन्! आप मेरा प्राणिग्रहण करने में विलम्ब न कीजिए और न दिल में कुछ संदेह कीजिए। यह शीघ्रता इसलिए की जाती है कि इस विशाल वटवृक्ष में एक पिशाच रहता है। वह बड़ा दुष्ट है। दूसरे एक विद्याधर एक दिन आकाश में जा रहा था सो इसके नीचे आते ही न जाने कैसे उसकी सारी विद्याएँ नष्ट हो गई। अतः वह भी विद्या साधने के लिए यहीं रहता है। वह बड़ा मानी और मूढ़बुद्धि है। वह मनुष्यों को कष्ट दिया करता है। वह मुझे भी कष्ट देने लगेगा और हे विक्रमशाली वीर, आपके वचनों को सुनकर अचिंत्य विक्रम वाला वह पिशाच क्रोधित भी होगा क्योंकि वह बड़ा भारी क्रोधी है-उसे क्रोध आते देर नहीं लगती। इसलिए जीवनाधार, अब आप कुछ न कह कर मुझे स्वीकार कीजिए ॥४१-४५॥

हिडंवा के इन वचनों को सुनकर भीम ने वज्र के शब्द जैसी बड़ी भारी गर्जना की, जो कि उस पिशाच के कानों को फाड़ देने वाली थी। मदोन्मत्त यमराज की भाँति मानी भीमात्मा भीम

एह्येहि चात्र संत्रस्त बलं दर्शय दोर्भवम्। भावत्कं येन दृप्तेन त्वया संत्रासिता नराः ॥४८॥
इत्याकर्ण्य महाघोषं ह्रादिनीघोषसंनिभम्। दधाव पाननिं भीमो निशाचौरो निशाचरः ॥४९॥
कुर्वन्किलकिलारावं कालास्यः कालदर्शनः। पिशाचः पावनिं योद्धुमुत्तस्थे क्रोधनिष्ठुरः ॥५०॥
भीमोऽभाणीत्पिशाचेश संगरे संगरोद्यत। सज्जो भव विलम्बेन त्वया संत्रासिता नराः ॥५१॥
इत्युक्त्वा तौ समालग्नौ योध्दुं संक्रुद्धमानसौ। धरन्तौ च महाधाष्ट्‌र्यं शब्दसंभिन्नपर्वतौ ॥५२॥
जघ्नतुर्घनघातेन बाहुजेन परस्परम्। वज्रमुष्टिप्रपातेन चूर्णयन्तौ शिलामिव ॥५३॥
चरच्चरणघातेन मारयन्ता मदोद्धतौ। क्षेपिष्ठौ क्षिप्रमावीक्ष्य क्षिपन्तौ सुक्षितौ क्षणात् ॥५४॥
युयुधाते सुयोद्धारौ भीमौ भीमनिशाचरौ। तावता खचरो योद्‌धुमुत्तस्थे च हिडिम्बया ॥५५॥
विडम्बयितुमारेभे हिडिम्बां तां स मण्डिताम्। आह खेचरि कोऽन्यस्त्वां मय्यहो परिणेष्यति ॥५६॥
तद्दोर्धारणधीरत्वं यावद्धत्ते खगेश्वरः। तावज्जघान तं भीमो मुष्ट्या दक्षिणदोर्भुवा ॥५७॥
निशाचरः पुनः क्रोधात्पृष्टो तेन हतस्तदा। अस्त्रपो निस्त्रपः पाप्मा पतितोऽपि समुत्थितः ॥५८॥
क्रव्यादं तं समुत्सार्य खेचरो भीमसन्मुखम्। युयुधे युद्धसंबद्धो विधुरं कर्तुमुद्यतः ॥५९॥

पिशाच की बुलाने के लिए बोला कि हे पिशाचराज! यहाँ आकर अपनी भुजाओं के पराक्रम को दिखाइए, जिसके अभिमान में आ तुम लोगों को कष्ट दिया करते हो। भीम के वज्र जैसे महान् निर्घोष को सुनकर यम सदृश और काले मुँह का वह भयानक निशाचर पिशाच भीम के पास आया और किलकारियाँ मारता हुआ क्रोध से भीम के साथ लड़ने को तैयार हुआ ॥४६-५०॥

उसको देखते ही भीम बोला कि पिशाचेश, अब देर न करो और जल्दी से द्वंद्व युद्ध के लिए तैयार हो। रे पशुघातक, तू अपने गर्व को दूर कर दे, नहीं तो अभी तेरे गर्व को खर्व किये देता हूँ। इसके बाद वे दोनों खूब क्रोध में भरे हुए और अपने शब्दों से पर्वतों को भी भेद डालने वाले शब्दों को करते हुए एक दूसरे से लड़ने लगे। वे वज्र के प्रहार से पर्वत की तरह एक दूसरे को जबरदस्त मुष्टि के प्रहार से गतविक्रम करने लगे एवं वे मद से उद्धत हुए पाँव के प्रहार से पृथ्वी पर एक दूसरे को गिराने लगे। इस तरह उन दोनों में खूब युद्ध हुआ। उन दोनों का युद्ध तो समाप्त ही नहीं हो पाया था कि इस बीच में वह विद्याधर भी, जो कि विद्या साधने के लिए वटवृक्ष में रहता था, हिडंवा के पास आकर नाना भूषणों से मंडित हिडंवा को पीड़ा देने लगा ॥५१-५५॥

वह उससे बोला कि आश्चर्य है हिडंवा, मेरे यहाँ होते हुए कोई दूसरा ही तुझे ब्याहे। यह कह उस खेचर ने ज्यों ही हिडंवा को पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाये त्यों ही भीम ने उसे अपने दाहिने हाथ के घूंसे से दूर हटा दिया और उधर पिशाच की पीठ में एक जोर की लात मार कर उसे भी नीचे गिरा दिया परन्तु वह निर्लज्ज पापी पुनः उठ खड़ा हुआ और लगा लड़ने। इतने में दौड़ कर वह विद्याधर भी आ गया, जिसको कि भीम ने घूंसे से दूर हटा दिया था और पिशाच को हटा कर स्वयं भीम से खूब ही मुस्तैदी के साथ लड़ने लगा। इधर इन दोनों का युद्ध हो रहा था। उधर क्रोध से लाल हुए उसे पिशाच को भी कब चैन पड़ने वाली थी, अतः वह भी भीम के ऊपर झपट रहा था। भीम उसका

क्रव्यादक्रममाक्रम्य पादघातेन पातितः। क्रव्यादो भीमसेनेन पृष्टौ संचूर्णितः क्षणात् ॥६०॥
खेचरोऽपि क्षणार्धेन चूर्णितस्तेन भूभुजा। दुःखीभूतो बलातीतः कृतोऽभूत्परवेपथुः ॥६१॥
ततः प्रणम्य भीमेशं संक्षमाप्य खगेश्वरः। सिद्धविद्योऽगमद्गेहं गृहीत्वा तद्गुणान्परान् ॥६२॥
समुत्थितेन ज्येष्ठेन हिडिम्बाडम्बरेण च। आपादिता सुभीमेन सहपाणिप्रपीडनम् ॥६३॥
तया सह सुखं भेजे पावनिर्विपुलं वरम्। सर्वे ते तत्र संतस्थुर्दीर्घघस्रानघातिगाः ॥६४॥
हिडिम्बा तेन भुञ्जाना भोगान्गर्भं दधौ वरम्। पूर्णे काले सुतं लेभे ज्ञास्यमानपराक्रमम् ॥६५॥
अयोजयत्सुतं भीमः प्रवरं घुटुकाख्यया। लक्षणैर्व्यञ्जनैः पूर्णं स सुतः प्रथितो भुवि ॥६६॥
ततस्ते निर्गतास्तूर्णं नृपाः सत्वरमानसाः। भीमाख्यं विपिनं प्रापुः परमश्वापदाकुलम् ॥६७॥
यत्रास्ते दुर्धरो दुष्टो विपत्कारी सुजन्मिनाम्। भीमासुर इति ख्यातो भुजदण्डबली महान् ॥६८॥
कुर्वन्कलकलारावं विरावघनगर्जितः। निर्जगाम निजस्थानात्स तान्वीक्ष्य समागतान् ॥६९॥
जगाद तांस्तदा देवः किमर्थं यूयमागताः। आस्माकीनं वनं वेगादपूतं कर्तुमिच्छवः ॥७०॥
न समर्थो नरः कोऽस्ति य आयातो वनं मम। भो मनुष्याः कथं पादरजसा मलिनीकृतम् ॥७१॥

भी प्रतिकार करता जाता था। उसे गिरा कर भीम ने पहले के जैसा ही उसे जमीन पर गिर पड़ने पर न छोड़ दिया किन्तु उसकी पीठ के ऊपर अपना पाँव पूरी तौर से जमा रक्खा एवं क्षणभर में उसने उस विद्याधर का भी मान-मद चूर डाला, जिससे वह निर्बल बड़ा दुखी हुआ। उसका शरीर काँपने लगा। इसके बाद उसने भीम को प्रणाम कर उससे अपने अपराध की क्षमा कराई और उससे कितने ही गुणों को ग्रहण करके वह विद्या को सिद्ध कर अपने घर चला गया ॥५६-६२॥

इतने में युधिष्ठिर जाग उठे और उन्होंने भीमसेन के द्वारा हिडंबा का पाणिग्रहण करवा दिया। इसके बाद युधिष्ठिर आदि पाण्डव बहुत दिनों तक वहीं रहे। भीम ने हिडंबा के साथ खूब ही सुख भोगा। भीम के साथ भोग भोगती हुई हिडंबा गर्भवती हो गई और गर्भ के दिन पूरे हो जाने पर उसने जगत् प्रसिद्ध पराक्रम वाले पुत्र-रत्न को जन्म दिया। पुत्र-जन्म से सबको बड़ा आनन्द हुआ। उसका नाम घुटुक रखा गया। घुटुक सब लक्षणों से लक्षित था, अतः उसकी बहुत जल्दी संसार में प्रसिद्धि हो गई ॥६३-६५॥

इसके बाद पाण्डव वहाँ से चले और भीम नाम के एक भयानक जंगल में आये, जो सिंह आदि हिंसक जन्तुओं से परिपूर्ण था। यहाँ एक भीमासुर नाम देव था। वह बहुत ही प्रसिद्ध था, दुष्ट था, दुर्द्धर था, जीवों को दुख देने वाला था तथा उसके भुजदण्डों में पूर्ण बल था। वह इन्हें वन में आया देखकर मेघ की तरह गर्ज कर अपने स्थान से निकला और इनके पास आकर कहने लगा। कि तुम लोग यहाँ किस लिए आये। क्या तुम लोग मेरे इस पवित्र वन को अपवित्र बना देने की इच्छा से यहाँ आये हो। नहीं तो तुम्हीं बताओ कि तुम्हारे यहाँ आने का दूसरा और कारण ही क्या है? मैं जानता हूँ कि ऐसी सामर्थ्य किसी मनुष्य में नहीं है जो मेरे इस पवित्र वन में आवे और अपने पाँवों की धूल से इसे अपवित्र करे। फिर तुम लोगों ने यहाँ आकर इसे क्यों अपवित्र किया ? ॥६६-७१॥

भीमो भीमासुरं वीक्ष्य तदाचख्यौ विचक्षणः। कथं गर्जसि वर्षाभूवद्वृषो वा खलो यथा ॥७२॥
वयं पूताः सदाचारा मनुष्यत्वात्सुचक्रिवत्। मनुष्यत्वं सदापूतं तीर्थकृच्चक्रिविष्णुवत् ॥७३॥
यद्यस्ति विपुला शक्तिस्तदेहि देहि संगरम्। दर्शयाम्यसुरत्वस्य फलं प्रविपुलं किल ॥७४॥
इत्युक्त्वा बाहुयुगलप्रधनं कर्तुमुद्यतौ। भीमभीमासुरौ तौ च मल्लाविव महोद्धतौ ॥७५॥
युयुधातेऽङ्घ्रिघातेन कम्पयन्तौ वसुंधराम्। त्रासयन्तौ मृगेन्द्रादीन्निर्घोषणरणे तकौ ॥७६॥
दुष्टमुष्टिप्रघातेन चूर्णितोऽसुरसत्तमः। भीमेन निर्मदीचक्रे सुदन्तीव मृगारिणा ॥७७॥
प्रणम्य चरणौ तस्यासुरोऽगाद्दासतां गतः। तेऽपि तूर्णं वनात्तस्मान्निर्गता गमनोत्सुकाः ॥७८॥
ततस्ते क्रमतः प्रापुः पुरं श्रुतपुरं परम्। तत्र चैत्यालये चित्राः प्रतिमाः पूजिताश्च तैः ॥७९॥
क्षणमास्थाय ते तत्र निशि वासाय सत्वरम्। वणिग्गेहं समाजग्मुः शयनं कर्तुमिच्छवः ॥८०॥
तत्कुट्यां कुटिलायां ते विकटाः संकटापहाः। तस्थुः कथां प्रकुर्वाणाश्चैत्यचैत्यालयोद्भवाम् ॥८१॥

उस भीमासुर को ऐसी बेढब बातें करते हुए देखकर विचक्षण भीम ने कहा कि तू व्यर्थ ही मेंढक की तरह या गाल फुलाने वाले दुष्ट पुरुष की तरह क्यों गर्जता है और खेदखिन्न होता है। तू हमें अपवित्र बताकर आप पवित्र बनना चाहता है, यह तेरा झूठा अभिमान है। हम अपवित्र नहीं हैं किन्तु बड़े पवित्र हैं। हम सदाचारी हैं, जैसे कि चक्रवर्ती वगैरह होते हैं। बात यह है कि मनुष्य पर्याय सदा ही पवित्र है क्योंकि तीर्थंकर, नारायण वगैरह उत्तम-उत्तम पुरुष सब इसी में उत्पन्न होते है और इसे पवित्र बनाते हैं। फिर तू क्या कह रहा है, जरा हित-अहित को भी विचार और सुन, यदि तुझमें कुछ ताकत हो, तुझे अपने असुरपने का अभिमान हो तो आ हमारे साथ युद्ध कर। हम अभी ही तुझे तेरे असुरपने का फल चखाये देते हैं ॥७२-७४॥

बाद वे दोनों भीम और भीमासुर अपने-अपने बाहु युगल को ठोक-ठोक कर मदोद्धत मल्लों की तरह युद्ध करने को तैयार हो गये। इन दोनों के पाँव के कठोर आघात से पृथ्वी काँपती थी। इनके वज्र जैसे भयंकर शब्द को सुनकर सिंह वगैरह वनजन्तु भी अपने प्राणों को लिये इधर-उधर भाग रहे थे और दुखी हो रहे थे। इन दोनों का बड़ी देर तक घनघोर युद्ध हुआ परन्तु आखिर में अपनी मुष्ठि के प्रहार से भीम ने भीमासुर को निर्मद कर दिया, जैसे सिंह हाथी का मद उतार कर उसे निर्मद कर देता है। इसके बाद भीमासुर ने भीम के चरणों में प्रणाम किया और उसकी दासता को मंजूर कर वह अपने स्थान को चला गया। इधर पाण्डव भी अति शीघ्र उस वन से चल दिये। ये आगे जाने को बहुत ही उत्सुक हो रहे थे ॥७५-७८॥

पाण्डव वहाँ से चलकर धीरे-धीरे श्रुतपुर नाम के एक नगर में आये और यहाँ उन्होंने एक जिनालय में जा भगवान् की प्रतिमाओं का पूजन किया और भक्तिभाव से उनकी स्तुति की। वहाँ कुछ देर ठहर कर वे रात में रहने के लिए एक वणिक् के घर पर आये वे बहुत थके हुए थे, इसलिए शयन करना चाहते थे। वे उसकी कुटी में ठहर गये। संकट को हरने वाले विकट पराक्रमी, पाण्डव बैठे हुए वहाँ के विचित्र जिनालयों की बावत कुछ चर्चा कर रहे थे कि इतने में संध्या होते ही, उस घर वाले

तावत्संध्यामुखे वैश्यवनिता विललाप च। दुःखिता दैन्यतो दीनं विलपन्ती महाशुचा ॥८२॥
तदा कुन्ती कृपाक्रान्ता तामाश्वास्य गतान्तिकम्। अप्राक्षीत्खेदसंखिन्नां बाष्पाकुलविलोचनाम् ॥८३॥
कथं रोदिषि रे बाढं गाढं शोकसमाकुला। अबीभणद्वणिग्भार्या श्रूयतामत्र कारणम् ॥८४॥
अत्र श्रुतपुरे श्रीमान्बको नाम महीपतिः। बकवद्वृषहीनात्मा लोकपालनकोविदः ॥८५॥
पललासक्तचित्तेन मतिर्दध्रे पलेऽनिशम्। सूपकारः सदा दत्ते तिरश्चां तस्य मांसकम् ॥८६॥
हन्ति हन्त हतात्मा स तिरश्चां समजं तदा। संस्कृत्य पललं तस्मै दत्ते दीनो दयातिगः ॥८७॥
एकदा पशुमांसस्यालाभतः पाककारकः। तदानीं मृतिमापन्नं बालं गर्तस्थमानयत् ॥८८॥
तदामिषं च संस्कृत्य संपच्य पचनोत्सुकः। सूपकारः सुभूपायार्पयत्खादितुमञ्जसा ॥८९॥
भूपोऽपि तरसं तूर्णमदित्वा सरसं मुदा। सहर्षः सूपकारं तं न्ययुङ्क्त रसनाहतः ॥९०॥
पाककार शुभं पक्वं तरसं तरसा कुतः। आनीतं स्वाददं रम्यं न दृष्टं चेह ब्रूहि भोः ॥९१॥
अभयं याचयित्वासौ बभाण भयभीतधीः। नरक्रव्यमिदं राजन्दत्तं तुभ्यं विपच्य च ॥९२॥
ब्रूते स्म भूपतिभव्यम् क्रव्यं संस्कृतिसंस्कृतम्। मार्त्यं मह्यं महीयाश देयं तृप्तिकरं सदा ॥९३॥
सूपकारस्ततो वीथ्यामित्वा डिम्भान्सुखेलितान्। मेलयित्वा ददौ स्वाद्यं खाद्यं तेभ्यः समोदकम् ॥९४॥

वैश्य की भार्या महान् शोक से पीड़ित होकर अत्यन्त दीनता के साथ विलाप करने लगी। तब दयालु कुन्ती ने उसके पास जाकर उसे आश्वासन दिया-धीरज बँधाया और आँसुओं से परिपूर्ण नेत्रों वाली खेदखिन्न उस वैश्यभार्या से प्रेम के साथ पूछा कि तुम इतना भारी शोक क्यों कर रही हो ? वैश्यभार्या ने कहा कि सुनिए, मैं अपने दुखपूर्ण रोने का कारण बताती हूँ ॥७९-८४॥

देवी, इसी श्रुतपुर में श्रीमान् बक नाम राजा था। वह बगुले की तरह ही धर्म-हीन था परन्तु प्रजा के ऊपर शासन करने में अच्छा प्रवीण था। उसे कारण-वश मांस खाने की चाट पड़ गई और वह इतनी जबरदस्त कि वह हमेशा मांस के संबंध में ही अपनी सारी बुद्धि खर्च किया करता था। उसका रसोइया उसे सदा पशु का मांस पका-पका कर देता था और वही नीच निर्दय उसके लिए पशुओं का घात करता था। लेकिन एक दिन कहीं से भी जब उसे पशु का मांस न मिला तब वह दुष्ट मांस की खोज में नगर से बाहर निकला और मसान भूमि से किसी गड्ढे में से एक मरे हुए बच्चे को खोदकर ले आया एवं उस पापी ने उस बच्चे को मसाला आदि डालकर बड़ी चतुराई से पकाया और उसका मांस बक राजा को खिला दिया। राजा को वह मांस बहुत ही अच्छा स्वादु मालूम पड़ा। अतः उस मांस लोलुपी ने बड़े भारी आग्रह के साथ रसोइये से पूछा कि पाककार! तुम ऐसा अच्छा सुस्वादु मांस कहाँ से लाये। मैंने तो कभी ऐसा उत्तम मांस खाया ही नहीं। यह सुन रसोइया अभयदान माँग कर डरता-डरता बोला कि प्रभो! माफ कीजिए, यह मांस मनुष्य का है। आज कहीं से भी जब मुझे पशु का मांस न मिल सका तब मैंने इसे ही चतुराई से पकाकर आपको खिलाया है ॥८५-९२॥

यह सुनकर राजा बोला कि प्रिय! यह मांस मुझे बहुत ही अच्छा मालूम हुआ है और इससे मुझे तृप्ति हुई है। इसलिए अब से तुम मुझे मनुष्य का ही मांस खिलाया करो। राजा की इतनी

गच्छत्सु तेषु स सूपकारः पाश्चात्यबालकम्। गृहीत्वा मारयित्वा च ददौ तस्मै च तत्पलम् ॥९५॥
प्रतिवासरमेवं स कुर्वाणः कौतुकैर्जनैः। दृष्टः पृष्टो नृपेणैतत्कारितं चेत्यवीवदत् ॥९६॥
ततः संमन्त्र्य सर्वैस्तैर्निष्कासितस्ततो बकः। स वने मारयत्याशु स्थित्वा लोकाननेकशः ॥९७॥
ततो विमृश्य तत्रस्थैर्नरैरिति निबन्धनम्। चक्रेऽस्मै पुरुषो देय एकैकं प्रतिवासरम् ॥९८॥
एवं निबन्धने जाते गेहे गेहे दिने दिने। एकैकः पुरुषं दत्ते स्वदिनेऽस्मै जनोऽखिलः ॥९९॥
द्वादशाब्दा गता एवमद्य मत्पुत्रवासरः। समागतोऽस्ति तेनाहं संरोदिमि सुदुःखतः ॥१००॥
अद्यैव स्यन्दने स्वाद्यं निवेश्य मत्सुतेन च। मुक्त्वा महिषसंयुक्तं दास्यते सकलैर्जनैः ॥१०१॥
ममैकस्तनयस्तन्वि किं करिष्यामि तद्हतौ। किं मे न स्फुटति स्वान्तं न जाने केन हेतुना ॥१०२॥
तदा कुन्ती कृपाक्रान्ता शान्तयित्वा वणिग्वधूम्। उवाच चतुरालापा चिन्तन्ती तत्सुखोदयम् ॥१०३॥

सम्मति पाकर वह रसोइया और भी निडर हो गया और अब वह हमेशा मनुष्य के मांस की खोज में गली-कूचों में जाकर नगर के बच्चों को मिठाई आदि बाँटने लगा। मिठाई लेकर सब बच्चों के चले जाने पर जो बच्चा पीछे रह जाता उसे पकड़कर वह उसका गला घोंट देता और उसका मांस राजा को खिला देता। ऐसा दुष्कृत्य वह रोज-रोज करने लगा ॥९३-९६॥

उधर धीरे-धीरे जब नगर के बचे प्रति दिन कम होने लगे तब सारे नगर में खलबली पड़ गई और लोगों ने छुप-छुप कर बच्चों के घातक को देखना-खोजना आरम्भ कर दिया। इसके थोड़े ही दिनों में वह रसोइया पकड़ा गया। लोगों के पूछने पर उसने साफ-साफ कह दिया कि मेरा तनिक-सा भी इस दुष्कृत्य में अपराध नहीं है किन्तु मुझसे राजा ने जैसा करवाया वैसा ही मैंने किया। इस पर सब लोगों की सम्मति से राजा बक राजगद्दी पर से उतार दिया गया। इसके बाद बक वन में रह कर मनुष्यों को मारकर खाने लगा। धीरे-धीरे जब उसने नगर के बहुत से मनुष्यों को मार खाया तब नगर के लोगों ने मिलकर विचार कर यह निश्चय किया कि इसके लिए बारी-बारी से हर रोज एक मनुष्य खाने को देना चाहिए। बस, इसी नियम के अनुसार अपनी-अपनी बारी पर सब लोगों ने उसे घर-घर से एक-एक मनुष्य प्रति दिन खाने की दिया और धीरे-धीरे आज बारह वर्ष ऐसे ही बीत गये। पापयोग से आज मेरे प्यारे बच्चे की बारी है और इसी से दुखी होकर मैं रो रही हूँ। देवी, मेरे रोने का दूसरा और कोई निमित्त नहीं है। नगर के लोग आज ही एक गाड़ी में मिठाई आदि भरकर और उसके बीच में मेरे प्यारे पुत्र को बैठाकर उस अधर्मी को भेंट में देंगे तथा साथ में एक भैंसा भी देंगे। माता, मेरे यह एक ही तो प्यारा आँखों का तारा सर्वस्व पुत्र है और यही आज काल के गाल में पहुँचाया जा रहा है। इसके बिना हाय अब मैं क्या करूँगी और कैसे अपना जीवन बिताऊँगी। पुत्र के वियोग का चित्र मेरी आँखों के सामने खिच रहा है और वह मेरी छाती चीरे डालता है-हृदय में वज्र के जैसी चोट कर रहा है। बताइए अब मैं कैसे और किसके भरोसे धीरज धरूँ। मुझे तो कोई उपाय ही नहीं सूझ पड़ता ॥९७-१०२॥

यह सुनकर कुन्ती का हृदय दया से भीग गया। वह मिष्टभाषिणी उसके लिए सुख का उपाय

वणिग्वधु न भेतव्यं दिवसे समुपस्थिते। सूनोरद्य करिष्याम्युपायं त्वत्पुत्ररक्षणे ॥१०४॥
दास्यामि मत्सुतं भूतबल्यर्थं रूपभासुरम्। मन्दिरे नन्दनस्तेऽद्यानन्दान्नन्दतु निश्चितम् ॥१०५॥
इत्युक्त्वा सा गता कुन्ती यत्रास्ते पावनिः सुतः। समुत्थाय स तां वीक्ष्य ननाम तत्पदाम्बुजम् ॥१०६॥
क्षणं स्थित्वा स्थिरा साप्यगदीद्गद्दया गिरा। बकवृत्तं च निःशेषं निःशेषस्वान्तहारिणी ॥१०७॥
पावने शृणु शान्तः सन्नस्या एकोऽस्ति सत्सुतः। यातुधानाय सल्लोकैर्दास्यते बलयेऽद्य सः ॥१०८॥
दुःखिनीयं सदादुःखा सुतवित्तविवर्जिता। हते सुते वराकी च किं करिष्यति सर्वदा ॥१०९॥
अद्य रात्रौ स्थिता यूयमस्या वेश्मनि विस्मिताः। प्राघुर्ण्यमनया नीता विनीता वसनोदकैः ॥११०॥
परोपकारिणो यूयं परोपकृतिसिद्धये। अस्यां जीवन्सुतो गेहे यथा तिष्ठेत्तथा कुरु ॥१११॥
मनुष्यराक्षसश्चायं लोकानचि निरन्तरम्। निर्दयो वारणीयस्तु त्वया कम्रकृपात्मना ॥११२॥
कुन्त्युक्तं पावनिः श्रुत्वा जगौ कार्यकदम्बकृत्। अम्बैतत्किं त्वया प्रोक्तं यतस्त्वत्सेवकोऽस्म्यहम् ॥११३॥
त्वद्वचःपालनायाशु यातुधानबलिकृते। तद्वासरं विनाद्याहं संयास्यामि च सत्वरम् ॥११४॥

सोचती हुई उसे शान्ति देकर बोली कि वणिग्वधू, तुम डरो मत। सबेरा होने दो। तुम्हारे पुत्र की बारी आने पर मैं उसकी रक्षा का उपाय करूँगी। सुनो, मैं उस भूत की बलि के लिए अपना अतीव रूप-शाली पुत्र भेज दूँगी। तुम्हारा पुत्र आनंद-चैन से अपने मंदिर ही में रहेगा। तुम्हें और उसे कोई चिंता न करनी चाहिए। उस वैश्य-भार्या को इस तरह समझा कर कुन्ती वहाँ गई जहाँ कि भीम बैठा हुआ था। उसे आती देखकर भीम उठ खड़ा हुआ और उसने उसके चरण-कमलें में प्रणाम किया। इसके बाद कुछ देर बैठ कर सबके मन को अपनी ओर झुकाने के लिए कुन्ती ने भीम को उस दुष्ट बक राजा का सारा हाल कह सुनाया ॥१०३-१०७॥

वह बोली कि भीम जरा शान्तचित्त से मेरी बात पर ध्यान दो। इस बेचारी वैश्यपत्नी के एक ही तो पुत्र है और उसी की लोग आज नरभक्षी बक राक्षस के लिए बलि देंगे। पुत्र के बिना यह बेचारी जन्म-भर के लिए दुःखिनी ही जायेगी। इसे अपना जीवन भी बोझ-मय हो जायेगा। देखो, आज रात में तुम लोग इसके घर बड़े आराम के साथ ठहरे हो। इसके सिवाय इसने तुम्हारा खूब अतिथि-सत्कार किया है, वस्त्र, जल आदि द्वारा तुम्हारी पाहुनगत की है। अस्तु, जबकि तुम लोग परोपकारी हो और तुम्हारा यही सच्चा व्रत है तब तुम्हें इन बातों की तो परवाह नहीं है कि कोई तुम्हारी भलाई करें या न करे। तब तुम परोपकार दृष्टि से ही ऐसा काम करो जिससे कि इसका प्यारा पुत्र जीता रह जाये-इसकी आँखों के सामने बना रहे और बेटा, भीम, आगे के लिए कोई ऐसा उपाय कर दो जिससे यह मनुष्य जो कि हमेशा मनुष्यों को खाया करता है और महान् निर्दय है, नरभक्षण से रुक जाय। आगे ऐसा दुष्कृत्य न करे, जिससे लोगों में बड़ी भारी खलबली मच रही है ॥१०८-११२॥

कुन्ती के वचनों को सुनकर कर्मवीर भीम ने कहा कि माता, भला आप यह क्या कहती हो, मैं तो तुम्हारा आज्ञाकारी हूँ। तुम्हारी आज्ञा-पालने के लिए आज ही उस मनुष्य राक्षस के पास जाने को तैयार हूँ। इस प्रकार अति प्रवीण और न्याय के जानकार माता-पुत्र इस प्रकार परोपकार की बातें

इति मातृसुतौ तत्र तन्वानौ जल्पमुत्तमम्। आसाते किंवदन्तीशौ यावत्सुन्यायकोविदौ ॥११५॥
तावदाकारणं तस्याः सुतस्य समुपस्थितम्। एह्येहीति प्रकुर्वाणैः संकृतं तलरक्षकैः ॥११६॥
भो वणिग्वर वेगेन तद्बल्यर्थसुसिद्धये। शकटारोहणं कृत्वा त्वमागच्छ समुद्यतः ॥११७॥
विलम्बेन बलेनापि न सेत्स्यति हितं तव। किं क्लिश्नासि क्षणस्थित्यै स्वात्मानं त्वं त्वरां कुरु ॥११८॥
इत्युक्तं पावनिः श्रुत्वा प्रोवाच तलरक्षकान्। यात यात समेष्यामि तस्मै दास्यामि मद्बलिम् ॥११९॥
श्रुत्वा तद्वचनं सर्वे तलरक्षास्त्वरान्विताः। समवर्तिभुजिष्याभा यावज्जग्मुः सहर्षिताः ॥१२०॥
तावता भानुमान् प्राच्यामुदितो वेदितुं यथा। तच्चरित्रं कृपाक्रान्त आयाति वीक्षितुं हि तत् ॥१२१॥
ततः सज्जीकृतं तेन शकटं विकटं परम्। कटाहमात्रनैवेद्यैः पूर्णं सत्तूर्णतां गतम् ॥१२२॥
पावनी रथमारुह्य निर्भयो भीतिदारुणः। चचाल चञ्चलश्चित्रं दाहको वायुमित्रवत् ॥१२३॥
बकाख्यो दानवस्तावद्दृष्ट्वा तं विपुलोदरम्। आयान्तं संमुखं क्षिप्रमयासीत्समवर्तिवत् ॥१२४॥
भीमस्तं राक्षसं वीक्ष्य कलयन्तं ककुप्चयम्। क्रुद्धं कलकलारावं कुर्वाणं सोऽगदीदिति ॥१२५॥
आगच्छागच्छ दैत्येन्द्र ददाम्यद्य महाबलिम्। आलोक्य भुजदण्डस्य बलं प्रविपुलं तव ॥१२६॥
एतावत्कालपर्यन्तं हता हन्त त्वया नराः। वराका दन्तसंलग्नतृणा नश्यन्त एव च ॥१२७॥
ततस्तौ करमास्फाल्य लग्नौ क्रोधोद्धुरौ नरौ। दारयन्तौ हृदाकाशं स्फोटयन्तौ भुजान्तरम् ॥१२८॥

कर ही रहे कि इतने में उस वैश्य-पुत्र को ले जाने के लिए कोतवाल ने आकर उससे कहा कि वैश्यवर, उस मनुष्य-राक्षस की बलि के लिए गाड़ी में सवार होकर अति शीघ्र मेरे साथ चलो, देर न करो और जरा देर के जीवन के लिए देर करने से भी क्या होगा ॥११३-११८॥

कोतवाल की बात सुनकर उससे भीम ने कहा कि आप जाइए, मैं आकर उस नर-पिशाच को अपनी बलि दे दूँगा। भीम के वचनों को सुनकर यम के दूत जैसा कोतवाल हर्षित होता हुआ चला गया। इसी समय पूर्व दिशा में सूरज का उदय हो आया। जान पड़ता था कि मानों उसके दुश्चरित्र को देखने के लिए ही आया है और है भी सच कि दयालु पुरुष लोगों के दुश्चरित्र को देखकर-जहाँ तक बन सकता है-उसे सुधारने की कोशिश करते हैं ॥११९-१२१॥

इसके बाद एक गाड़ी सजाई गई और उसमें कढ़ाई भर भोजन रक्खा गया। उसके ऊपर भीम बड़ी निर्भयता-पूर्वक सवार होकर चला। वह ऐसा जान पड़ता था मानों उस नर-पिशाच को जलाने के लिए आग ही जा रही है। वह थोड़ी ही देर में उस यम के जैसे पापी बक के पास पहुँच गया। उसे सामने आया देखकर वह दुष्ट उसके ऊपर झपटा और क्रोध से गर्जना कर उसने सभी दिशाओं को शब्द-मय बना दिया। उसे इस तरह क्रोधित देखकर भीम ने कहा कि दैत्येन्द्र, आओ मैं आज तुम्हारे भुजदण्डों का पराक्रम देखकर ही तुम्हें अपनी बलि दूँगा, वैसे नहीं। खेद है कि इतने काल तक तुमने इन गरीब लोगों को व्यर्थ ही सताया। सच है कि जो दीनता दिखाते है, दाँतों में तिनकों को दबा कर रहते हैं वे संसार में मारे जाते है। तात्पर्य यह कि गरीबों पर ही सब का वश चलता है, बलवानों पर नहीं क्योंकि बली का सामना करने के लिए कुछ ताकत की जरूरत होती है ॥१२२-१२७॥

इसके बाद क्रोध से उद्धत हुए वे दोनों ही खम ठोक कर भिड़ गये और आकाश तथा पृथ्वी को

मस्तकैर्मस्तकैर्मत्तौ प्रहरन्तौ परस्परम्। पद्भ्यां पद्भ्यां महाघातं ददानौ सद्दयातिगौ ॥१२९॥
कूर्परैः कूर्परैः कोपात्स्फोटयन्तौ शिरस्तदा। एवं युद्धे प्रवृत्तौ तौ समवर्तिसुताविव ॥१३०॥
भीमस्तं तृणवन्मत्वा भुजदण्डेन मूर्धनि। जघान घस्मरं दुष्टं कृतघ्नं कोपकम्पितम् ॥१३१॥
पुनः कोपेन तत्पृष्ठौ दत्त्वा पादं दयातिगः। पापिनं पातयामास तं भीमो भुवि निर्दयम् ॥१३२॥
गृहीत्वा चरणौ तस्याभ्रामयद्वसुधातले। नभोभागे भयत्यक्तो स आस्फोटयितुं यथा ॥१३३॥
ततो बद्ध्वा भयक्रान्तं समक्षं सर्वजन्मिनाम्। सेवकं सेवकीकृत्य पादलग्नं मुमोच सः ॥१३४॥
ज्ञात्वा तत्संगरं शीघ्रमायाता नगरीनराः। वीक्षन्ते स्म तयोर्युद्धं क्रोधसंबद्धभागिनोः ॥१३५॥
बकं च निर्मदीभूतं विमुखीभूतमानसम्। नरघातात्समालोक्य नरा हर्षमुपागताः ॥१३६॥
जना जयारवं चक्रुर्भणन्तो भक्तिनिर्भराः। तत्प्रशंसनमाभेजुस्ततो जीवनमानिनः ॥१३७॥
त्वं कोऽपि महतां मान्यो जगदानन्ददायकः। यशसा धवलीकुर्वञ्जगत्त्वं जय सज्जन ॥१३८॥

उन्होंने गुंजा दिया। वे कभी मस्तक के द्वारा और कभी पाँवों के द्वारा एक दूसरे पर प्रहार करते थे तथा हाथों की कुहनियों से एक दूसरे का सिर फोड़ते थे। इस समय वे दोनों ही दया से कोसों दूर थे-कोई भी किसी पर तीव्र प्रहार करने में कसर न रखता था। दोनों ही निर्दय-भाव से एक दूसरे पर टूटते थे। यम के पुत्र जैसे उन दोनों में बड़ा भारी भीषण युद्ध हुआ ॥१२८-१३०॥

आखिर निर्भय भीम ने उस पापी, नरभक्षक, दुष्ट और क्रोध से काँप रहे नर-पिशाच को तृण के जैसा निःसत्व कर उसके सिर में अपने भुज-दण्ड का एक ऐसा भीषण प्रहार किया कि वह बिल्कुल ही हतप्रभ हो गया। इसके बाद ही वह फिर न उठ खड़ा हो इसके लिए क्रोध में आकर बली भीम ने उसकी पीठ में एक ऐसी जोर की लात मारी कि जिससे वह अधम जमीन पर लौट गया। भीम ने उसका तब भी पिण्ड न छोड़ा और वह उसके दोनों पाँव पकड़, उसे आकाश में चारों ओर घुमाने लगा। जान पड़ता था कि वह उसे जमीन पर पछाड़ना ही चाहता है। तब वह नर-पिशाच बड़ा डरा और भीम के हा-हा खाने लगा। यह देख भीम ने उसे सब लोगों के सामने जो कि उन दोनों के युद्ध को सुनकर वहाँ अति शीघ्र आ गये थे और खड़े-खड़े क्रोध से उद्धत हुए उन दोनों का युद्ध देखते थे, अपना सेवक बना कर छोड़ दिया और उससे आगे के लिए मनुष्य-घात न करने की प्रतिज्ञा करवा ली। तात्पर्य यह कि भीम ने उसका सारा मद उतार कर उसे सीधा साधा मनुष्य बना कर छोड़ दिया। उसको इस तरह निर्मद हुआ देखकर दर्शक लोगों को बड़ी खुशी हुई और वास्तव में खुशी होने की बात ही थी ॥१३१-१३६॥

उस खुशी के मारे वे लोग भीम का जय-जयकार करने लगे तथा भक्ति से स्वाभिमानी भीम की मुक्त कंठ से प्रशंसा करने लगे कि आप अवश्य ही बड़े-बड़े पुरुषों द्वारा मान्य है, संसार को आनन्दित करने वाले हैं और संसार को अपने निर्मल यश से पवित्र करते हैं। अतः हे सज्जन आपकी जय हो। देखिए हम लोगों को यहाँ जीना भी मुश्किल पड़ रहा था परन्तु महाभाग, आपके प्रसाद से अब हमें कोई भी खटका नहीं रहा। अतः अब हम बेफिक्र होकर अपने जीवन को आनंद-चैन से बिता

अतः प्रभृति जीवामो वयं लोका निराकुलाः। त्वत्प्रसादाद्यथा मेघात्तृणानि सुमहामते ॥१३९॥
इति स्तुत्वा ददुर्दक्षा धनकोटिं सुधान्यकम्। तस्मै श्रीभीमसेनाय भक्ताः किं न प्रकुर्वते ॥१४०॥
तेन वित्तेन ते भक्ता जिनचैत्यालयं मुदा। अकारयन्पुरे तत्र पाण्डवाः परमोदयाः ॥१४१॥
घनाघनस्तदा तत्र वर्षन् धारा धराधरान्। धरां च छादयामास पयःपूरैः सुखप्रदैः ॥१४२॥
उष्णतापं निराकर्तुं प्रोद्गतो हि घनाघनः। स्ववैरिणं निराकर्तुं को नोदेति महान्नरः ॥१४३॥
पन्थानं च समासाद्य जलं जलधरोऽमुचत्। सर्वलोकान्सुखीकर्तुमायात इव भूतले ॥१४४॥
वर्षाकालं समावीक्ष्य पाण्डवास्तत्र संस्थिताः। धर्मध्यानं प्रकुर्वन्त आचतुर्मासकं मुदा ॥१४५॥
क्षणे क्षणे क्षणं क्षिप्रं कुर्वन्तो मेघकालजम्। स्वकारिते जिनेशस्य चैत्यवेश्मनि संस्थिताः ॥१४६॥
प्रावृट्कालं समाप्याशु ततस्ते पान्डुनन्दनाः। कम्पयन्तो धरां पादैश्चेलुः कुन्त्या समन्विताः ॥१४७॥
क्रमेण पावनीं प्रापुः ख्यातां चम्पापुरीं नृपाः। कर्णो यत्र महीनाथो राजते राजसिंहवत् ॥१४८॥
कुम्भकारगृहे तत्र शुम्भत्कुम्भसुशोभिते। चक्रचक्रसमाक्रान्ते तस्थुस्ते पाण्डुनन्दनाः ॥१४९॥

सकेंगे। तात्पर्य यह है कि आज से हम सब अपनी नींद सोयेंगे और अपनी ही नींद उठेंगे। हमें अब कुछ चिन्ता नहीं हैं। कौन नहीं जानता कि जब मेघों की कृपा होती है तब तृण वगैरह सब खूब हरे भरे रहते हैं। वे जरा भी नहीं मुरझाते हैं। इस प्रकार उन दक्षों ने भीम की खूब स्तुति की और भेंट में उसे अनन्त धन-सम्पदा दी और है भी यही बात कि भक्त लोग जिसके ऊपर मुग्ध हो जाते हैं उसके लिए वे फिर कोई बात उठा नहीं रखते-जो कुछ सम्पत्ति उनके पास होती है वह सब देने को वे तैयार हो जाते हैं ॥१३७-१४०॥

इसके बाद जिनभक्त परमोदयशाली पाण्डवों ने वह सब सम्पत्ति जो कि उन्हें लोगों ने भेंट में दी थी, श्रुतपुर में ही एक विशाल जिनालय बनवाने में लगा दी। इसी बीच में वर्षा का आरम्भ हो गया और मेघों ने धारासार जलवर्षा कर नदी, पर्वत और पृथ्वी को जल-मय कर दिया। ऐसा भान होता था मानों सूरज के ताप को दूर करने के लिए ही मेघों ने वह धारासार वर्षा की है। अपने-अपने वैरी को नष्ट करने के लिए सभी महान् पुरुष तैयार होकर प्रयत्न करते हैं। इस समय इतनी वर्षा हुई कि जल के मारे मार्ग भी नहीं देख पड़ता था और पानी ही पानी दीखता था। जान पड़ता था मानों लोगों को सुखी करने के लिए पृथ्वी पर मेघ ही आ गये है। वर्षा ऋतु को आ गई जान कर पाण्डव वहीं ठहर गये और उन्होंने धर्म-ध्यान पूर्वक बरसात के चार महीने वहीं बिताये। वहाँ वे वर्षा ऋतु के योग्य महोत्सवों को करते हुए अपने निज के बनवाये जिनालय में रहते थे ॥१४१-१४६॥

जब चौमासा पूरा हो गया तब वे वहाँ से चले और पृथ्वी को लाँघते हुए कुछ समय में कुन्ती-सहित उस पवित्र और प्रसिद्ध चंपापुरी में आये जहाँ कि कर्ण राजा था। वहाँ आकर वे सुन्दर-सुन्दर घड़ों और चक्रों से सुशोभित एक कुंभार के घर ठहरे। वहाँ विनोद में आकर भीम स्थास, कोश, कुशूल वगैरह कैसे बनते हैं यह देखने के लिए कुंभार का चाक फिराने लगा एवं

विनोदनोदितो भीमो भ्रामयंश्चक्रमुत्तमम्। तत्र द्रष्टुं मनः क्षिप्रं चक्रे स्थासादिकां क्रियाम् ॥१५०॥
आस्फोटयत्स्फुटारम्भो राभस्येन स पावनिः। उदञ्चनमहाकुम्भस्थालीकरकसद्‌घटीः ॥१५१॥
तत्प्रस्फोटनजं स्पष्टं स्फोटं प्रस्पष्टमानसा। कुन्ती श्रुत्वा प्रकोपेन भीमं भीत्या न्यवारयत् ॥१५२॥
भीम भीम त्वयाकृत्यं किं कृतं चपलात्मना। प्रयासि यत्र यत्र त्वं तत्रानर्थं करोषि वै ॥१५३॥
चञ्चलौ चोद्धतौ दोषौ सदोषौ दूषणावहौ। तव नित्यं प्रदुष्टस्य शिष्टाचारातिगस्य च ॥१५४॥
उपालम्भं समाश्रित्य जनन्या मौनमाश्रितः। निर्जगाम ततो भीमः सुसीमोल्लङ्घनोद्यतः ॥१५५॥
भक्ष्यकारापणं प्राप पूपोत्करविराजितम्। पूतात्मा पावनिस्तत्र भोक्तुकामोऽतिकोविदः ॥१५६॥
देहि कान्दविकान्नं मे हिरण्येन हठात्मना। भ्रातरोऽत्र बुभुक्षाभिर्यतः सन्ति सुदुःखिनः ॥१५७॥
तुष्टः कान्दविको यावदन्नं दातुं समुद्यतः। हिरण्यदानतः कोत्र न तुष्यति महीतले ॥१५८॥
तावद्‌बुभुक्षितं भीममस्थापयत्स्थिरासने। भक्ष्यकारः सुभक्ताढ्यो भोजनाय सभाजनम् ॥१५९॥
भीमो बुभुक्षितः सर्वं भुक्तवान्मोदकादिकम्। अन्नमाकण्ठपर्यन्तं तत्र किञ्चिन्न चोद्‌धृतम् ॥१६०॥
भ्रात्रर्थं देहि मे भक्तमिति निर्धाटितो वणिक्। अवशिष्ठं न विद्येत किं देयमिति भीतिभाक् ॥१६१॥
क्षणार्धेन प्रदास्यामीति च कान्दविकस्तदा। प्रणम्य तत्पदं भक्त्यातोषयत्पावनिं परम् ॥१६२॥

हँसी-विनोद में ही उसने दण्ड को हाथ में ले उस कुम्भार के ढक्कन, मटके, कुण्डे आदि बहुत से बर्तन फोड़ डाले। उनके फूटने की आवाज सुनकर निर्मलमना कुन्ती ने कुछ कोप और भय दिखा कर भीम से कहा कि भीम, तुम बड़े चंचल हो। तुमने यह क्या किया। तुम जहाँ जाते हो वहीं अनर्थ करते हो। तुम बड़े दुष्ट हो। तुम्हारे पास शिष्टाचार की तो तू भी नहीं है। तुम्हारे हाथों में भी चंचलता का बड़ा दोष है। भाई, तुम तो अपराध के सिवाय दूसरा काम करना जानते ही नहीं। माता के ऐसे उलाहने को सुनकर भीम चुप सा हो गया और माता की मर्यादा के भय से वह उसी समय वहाँ से चल दिया ॥१४७-१५५॥

इसके बाद भोजन करने की इच्छा से वह पवित्रात्मा प्रवीण भीम हलवाई की दुकान पर पहुँचा। वहाँ उसने एक हलवाई से कहा कि भाई, यह चमकती हुई सोने की मोहर लेकर हमें भोजन के लिए मिठाई दे दो। देर मत करो क्योंकि हमारे भाई भूख से दुखी हो रहे हैं। हलवाई उस मोहर को लेकर खूब संतुष्ट हुआ। सो ठीक ही है कि सोने को पाकर कौन सन्तुष्ट नहीं होता। इसके बाद हलवाई ने भीम को भोजन करने के लिए एक मजबूत आसन पर बैठाया और भक्ति-भाव से उसके सामने भोजन का थाल परोस दिया। भीम बहुत ही भूखा था सो उसने धीरे-धीरे कंठ तक-वहाँ जितनी सामग्री मिली उसे खूब खाया, जरा भी कोई चीज उसने बाकी न छोड़ी। भीम ने खा-पी कर संतुष्ट हो हलवाई से कहा कि अब भाइयों के लिए भोजन दो। यह देख वह चकराया और डरता-डरता बोला कि अब आप ही कहिए कि मैं क्या दूँ, कुछ बाकी तो बचा ही नहीं है। हाँ, कहें तो क्षणभर में मैं तैयार करवाये देता हूँ। यह कह कर उसने भक्तिभाव से भीम के चरणों में नमस्कार कर उसे सन्तुष्ट किया। यह सुन भीम थोड़ी देर के लिए वहीं ठहर गया ॥१५६-१६२॥

तावताङ्कुशमुल्लङ्घ्य कर्णदन्तावलो वरः। मदोन्मत्तो महाकायो भङ्क्त्वालानं विनिर्ययौ ॥१६३॥
पातयन्नापणान्रम्यगृहान्वृक्षान्पुरःस्थितान्। उच्छालयच्छलाच्छित्वा दन्ताभ्यां द्विरदो बली ॥१६४॥
नगरं व्याकुलीकृत्य कुर्वन्पथि सुवेपथुम्। श्रुतो भीमेन सत्कर्णे स आजग्मे तदन्तिकम् ॥१६५॥
रक्ष रक्षेति कुर्वाणा जनाश्च श्रीवृकोदरम्। प्रोचुः शरणमापन्ना भयकम्पितविग्रहाः ॥१६६॥
भवता बलिना विप्र रक्ष्येयं विपुला प्रजा। यतस्त्वं बलिनां मान्यो नाम्नासि विपुलोदरः ॥१६७॥
ततः सोऽपि समुत्तस्थे गजं जेतुं मदोद्धरम्। वज्रघातनिभेनाशु मुष्टिघातेन ताडयन् ॥१६८॥
पद्भ्यां संचूर्णयन्पादाञ्शुण्डादण्डं विखण्डयन्। दन्तावुन्मूलयन्भीमो निर्मदं च चकार तम् ॥१६९॥
तदा कश्चिन्नृपं गत्वा न्यवेदयदिति स्फुटम्। देवैकेन सुविप्रेण प्रचण्डेन गजो हतः ॥१७०॥
यो रणे शत्रुभिः शक्यो गजः साधयितुं न हि। सोऽनेन क्षणतो नीतो निर्मदत्वं महाबलात् ॥१७१॥
स त्वया देव निग्राह्यो विग्रहेण विना छलात्। ब्रुवन्तमिति कर्णेशस्तं निवार्य सुखं स्थितः ॥१७२॥
तत्र ते जयमापन्ना नीत्वा कालं च कंचन। निर्गताः पाण्डवाः प्रापुर्वैदेशिकपुरं पराम् ॥१७३॥
नृपो वृषध्वजो यत्र वृषध्वजो विराजते। दिशावली प्रिया तस्य दिशाव्याप्तमहायशाः ॥१७४॥

इतने ही में कर्ण का एक महाकाय हाथी मद से उन्मत्त होने के कारण निरंकुश हो साँकल तोड़ कर निकल भागा और जो-जो बाजार के मनोहर मकान, वृक्ष वगैरह उसके सामने आये उन्हें उसने उखाड़ कर फेंक दिये। धीरे-धीरे उसके उत्पात की खबर भीम के कानों में पड़ी और वह उसके पास पहुँचा। लोग उसे देखते ही कहने लगे कि हम सब आपकी शरण में हैं, हमें इससे बड़ा भय हो रहा है। देखिए इसी के कारण हम सब काँप रहे हैं। अतः अब आप हमारी रक्षा कीजिए, हमें इस संकट से बचाइए। महाराज, आप बड़े बली हैं। अतः आपको प्रजा की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि आपको बड़े-बड़े बली भी मानते हैं और आपका नाम भी विपुलोदर है। ऐसे भयानक समय में बलवानों की ही हिम्मत पड़ सकती है। उन लोगों के ऐसे दीनता भरे वचनों को सुनकर भीम उस मदोद्धत हाथी को जीतने के लिए तैयार हुआ। उसने वज्र के जैसे अपने मुष्टिप्रहार, पैरों के प्रहार और भुजदण्डों के प्रहार से उसे क्षणभर में निःसत्व कर उसके दाँत को उखाड़कर मद-रहित कर दिया। यह देख एक मनुष्य ने जाकर भीम की यह सारी लीला कर्ण को कही। उसने कहा कि देव, एक प्रचंड ब्राह्मण ने आपके हाथी को एक क्षण में ही वश में कर लिया है। महाराज! बड़े अचम्भे की बात है कि जिस हाथी को युद्ध में कोई भी नहीं जीत सकता था उसी हाथी को उस बली ने एक क्षण में ही निर्मद कर दिया है। देव, वह बड़ा बलवान् है, शायद कोई उपद्रव खड़ा कर दे। अतएव आप युद्ध के बिना ही छल से उसका निग्रह कर डालिए। उसके वचनों को सुनकर कर्ण ने उसे समझा कर टाल दिया और आप अपने महल में चला गया ॥१६३-१७२॥

इसके बाद विजयी पाण्डव कुछ दिन तो वहाँ और रहे, बाद वहाँ से चलकर वे वैदेशिकपुर में आये। यहाँ का राजा वृषध्वज था। वह धर्मात्मा था। उसकी रानी का नाम दिशावली था। उसका यश सब दिशाओं में फैला हुआ था। वृषध्वज और दिशावली के एक पुत्री थी। वह बड़ी शुद्ध हृदय

दिशानन्दा महाशुद्धा तयोरासीत्सुता वरा। जघनस्तनभारेण गच्छन्ती लीलया च या ॥१७५॥
तत्र तान्पाण्डवान्मुक्त्वा संगतान् श्रमसंगतान्। शेषान्बुभुक्षितान्भीमः पुरं भिक्षार्थमाययौ ॥१७६॥
विप्रवेषधरो धीमान्भीमो भव्यगुणाम्बुधिः। भिक्षार्थं भूपसद्माग्रे ययौ बलकुलाकुलः ॥१७७॥
तदा गवाक्षसंरूढा दिशानन्दा शुभानना। तं निरीक्ष्य निजे चित्तेऽचिन्तयच्चेति निर्भरम् ॥१७८॥
किमयं मन्मथो मानी नररूपं समाश्रितः। भिक्षाछलात्समायातो नान्यश्चेदृग्विधो भवेत् ॥१७९॥
मेषोन्मेषविनिर्मुक्तां तदासक्तां नृपस्तदा। ज्ञात्वा तां दातुमुद्युक्तः समाकारयति स्म तम् ॥१८०॥
अप्राक्षीद्भूपतिर्विप्र किमर्थमागतोऽसि भोः। भिक्षार्थं चेद्गृहाण त्वं कन्याभिक्षां ममाग्रहात् ॥१८१॥
इत्युक्त्वा तां महारूपां नानाभरणभूषिताम्। तस्याग्रे धृतवान्भूपो दिशानन्दां सुनन्दिनीम् ॥१८२॥
भीमोऽभाणीत्तदा राजन्नाहं वेद्मि च वेत्ति वै। मज्ज्येष्ठसोदरः क्वास्ते स भूप इत्यब्रीभणत् ॥१८३॥
पुरोपान्ते स्थितश्चेति भीमवाक्यान्महीपतिः। ज्ञात्वाभ्यर्णं चचालाशु तस्य भीमेन संयुतः ॥१८४॥
युधिष्ठिरसमीपं च गत्वा नत्वा समाहितः। पप्रच्छ कुशलं स्नेहादन्योन्यं स्नेहसंगतः ॥१८५॥

की धारक थी। उसका नाम दिशानंदा था। वह आपने जघन और स्तनों के भार से मंद-मंद चलती हुई हथिनी की गति को जीतती थी और अपने चन्द्रमा समान मुख से वह सारे घर के अँधेरे की दूर करती थी ॥१७३-१७५॥

वहाँ पहुँच कर भूखे और थके हुए पाण्डवों को किसी विश्राम की जगह छोड़कर उत्तम गुणों का सागर और बलशाली भीम अकेला ही भिक्षा के लिए नगर में गया और ब्राह्मण का वेष बना वह राजा के महल के आगे पहुँचा। उस समय झरोखे में बैठी हुई शुभानना दिशानन्दा ने उसे देखकर मन ही मन सोचा कि कहीं यह मनुष्य रूपधारी मानी कामदेव ही तो-भीख माँगने के छल से यहाँ नहीं आया है। क्योंकि ऐसा सुन्दर रूपशाली दूसरा कोई और तो हो ही नहीं सकता। भीम को देखते ही वह उसके रूप पर निछावर हो गई और एकटक दृष्टि से उसी की ओर देखने लगी। उसकी यह दशा राजा को भी मालूम पड़ गई कि इस सुन्दर युवा पर पूर्ण मोहित होकर दिशानन्दा ने अपना सर्वस्व भी इसे अर्पण कर दिया है। यह देख उसने भीम को बुलाया और उससे पूछा कि विप्र, तुम यहाँ किसलिए आये हो। यदि सचमुच ही भीख माँगने के लिए आये हो तो लो मेरी इस राजकुमारी को भीख के रूप में ग्रहण करो। यह कह कर राजा ने महान् रूपशाली, भाँति-भाँति के गहनों से विभूषित और लोगों को आनंद देने वाली दिशानन्दा को लाकर भीम के आगे खड़ाकर दिया। यह देख भीम बोला कि राजन्, इस सम्बन्ध में मैं कुछ भी नहीं कह सकता। मेरे बड़े भाई जो कुछ करेंगे वही मुझे प्रमाण होगा। इस पर राजा ने पूछा कि वे कहाँ हैं। भीम ने बतलाया कि वे नगर के बाहर प्रदेश में ठहरे हुए हैं। तब राजा भीम के साथ-साथ जहाँ पाण्डव ठहरे हुए थे-वहाँ गया ॥१७६-१८४॥

वहाँ युधिष्ठिर के पास पहुँच कर उसने उन्हें नमस्कार किया तथा स्नेह के साथ उनसे कुशल-समाचार पूछा। इसके बाद बड़े स्नेह से राजा ने उनसे नगर में चलने के लिए प्रार्थना की और पाण्डव भी राजा के स्नेह-वश नगर में चले आये। वहाँ राजा ने भोजन आदि से उनकी खूब भक्ति की-

अभ्यर्थ्यं ते पुरं नीता राज्ञा भोजनभक्तितः। आवर्जितः समर्ज्याशु सुखं तस्थुः पुरे वरे ॥१८६॥
भीमेन सह् कन्याया विवाहार्थं युधिष्ठिरः। अभ्यर्थितो नृपेन्द्रेण तथेति प्रतिपन्नवान् ॥१८७॥
ततस्तयोः शुभे लग्ने विवाहमकरोन्नृपः। पुण्याद्भिक्षागतेनैव लब्धा तेन सुकन्यका ॥१८८॥
राज्ञा भक्तिभरेणाशु प्रीणितास्तोषमागताः। कियद्दिनानि ते स्थित्वा निर्जग्मुस्तत्र पाण्डवाः ॥१८९॥
ततः सोमोद्‌भवां रम्यां सरितं पाण्डुनन्दनाः। उत्तीर्य खेदनिर्मुक्ताः प्रापुर्विन्ध्याचलं वरम् ॥१९०॥
दूरतस्तत्समुत्तुङ्गशृङ्गसङ्गी जिनगृहम्। अष्टापदे यथा स्वर्णं नानाशोभासमन्वितम् ॥१९१॥
दृष्ट्वा ते गन्तुमुद्युक्तास्तत्र श्रान्ता अपि स्वयम्। आरुरुहुर्महोत्तुङ्गं शृङ्गं विन्ध्याभिधाचलम् ॥१९२॥
तत्र हर्षप्रकर्षेण प्रकृष्टाः पाण्डुनन्दनाः। चैत्यालयं महाशालशुम्भच्छोभाविराजितम् ॥१९३॥
स्वर्णसोपानपङ्क्त्याढ्यं नानावनविराजितम्। दत्ताररमहाद्वारं शुम्भत्स्तम्भसुशोभितम् ॥१९४॥
समालोक्य समुद्विग्ना अभवन्भयवर्जिताः। तत्प्रवेष्टुमशक्तास्ते क्षणं खेदेन संस्थिताः ॥१९५॥
ततो भीमः समुत्थाय द्वारोद्घाटनसद्धिया। द्वारे दत्त्वा करं वेगात्कपाटमुदघाटयत् ॥१९६॥
मध्येगृहं प्रविष्टास्ते कुर्वन्तो जयनिःस्वनम्। स्वर्णरूप्यमयान्बिम्बान्ददृशुः श्रीजिनेशिनः ॥१९७॥

उनका उचित आदर किया। इसके बाद राजा ने भीम के साथ अपनी कन्या का विवाह करने के लिए युधिष्ठिर से प्रार्थना की। युधिष्ठिर ने उसके लिए अपनी स्वीकारता दे दी। तब शुभ लग्न में राजा ने उन दोनों का बड़े ठाट-बाट के साथ विवाह कर दिया। देखो, पुण्य की महिमा कि भीम आया तो था भिक्षा के लिए और प्राप्त हुआ उसे कन्या रत्न। राजा की भक्ति से पाण्डव बड़े सन्तुष्ट हुए ॥१८५-१८८॥

इसके बाद पांडव कुछ दिनों तक और ठहरकर वहाँ से चल दिये और बिना श्रम के वे मनोहर नर्मदा नदी को पार कर विंध्याचल पर्वत के पास आये। वहाँ दूर से ही उनकी दृष्टि विंध्याचल के उन्नत शिखर पर बने हुए जिनालय पर पड़ी, जो नाना प्रकार की शोभा से शोभित और कैलास पर बने हुए सोने के मंदिर सरीखा देख पड़ता था। उस समय यद्यपि वे थके हुए थे, पर भक्ति के आवेश में आकर विंध्याचल के अतीव ऊँचे शिखर पर चढ़ने को तैयार हुए और थोड़े ही समय में वहाँ पहुँच गये। वहाँ पहुँच कर उन सत्पुरुषों ने उस चैत्यालय की विचित्रता को देखकर बड़ा हर्ष प्रकट किया। उस जिनालय के चारों ओर एक सुन्दर कोट था, जिससे उसकी अपूर्व ही शोभा थी। उसमें जाने-आने के लिए सोने की मनोहर सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। उसमें भाँति-भाँति के चित्र बने हुए थे। उसके दरवाजों के किवाड़ बड़े सुन्दर थे। उसमें चित्र विचित्र खंभे लग रहे थे। ऐसे विशाल जिनभवन को देखकर उन्हें पहले तो बड़ा हर्ष हुआ परन्तु जब वे किसी तरह उसके भीतर न जा सके तब दुख से कुछ उद्विग्न हुए। इसके बाद द्वार के किवाड़ खोलने की इच्छा से भीम ने उठ कर ज्यों ही किवाड़ को हाथ लगाया त्यों ही किवाड़ खुल गये ॥१८९-१९६॥

तब पाण्डव जय-जय ध्वनि करते हुए उस जिनालय के भीतर गये और वहाँ उन्होंने भव्य प्रतिमाओं के दर्शन किये। इसके बाद उन्होंने फलों और पुष्पों से उनकी पूजा की-उनके आग

पूजयित्वा फलैः पुष्पैरनर्घ्यैरर्घ्यदानतः। जिनांस्ते तुष्टुवुस्तुष्टा विशिष्टेष्टगुणोत्करैः ॥१९८॥
अद्यैव सफलं जन्म गतिरद्यैव सार्थका। अद्यैव सफले नेत्रे जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥१९९॥
अद्य त्वच्चिन्तनासक्तं स्वान्तं सुश्रान्तिवारकम्। सफलं विपुलं जातं जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥२००॥
अद्यैव सफलाः पादा अद्यैव सफलाः कराः। अद्यैव सफला भावा जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥२०१॥
अद्य जाता वयं धन्या अद्य मान्या मनोहराः। अद्य निःश्रेयसं प्राप्ता जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥२०२॥
ते स्तुत्वेति जिनान्नत्वा बहिरित्वा क्षणं स्थिताः। यावत्तावत्समायासीद्यक्षः श्रीमाणिभद्रकः ॥२०३॥
नत्वावोचत्तदा यक्षो यूयं धन्या नरोत्तमाः। विवेकिनः सदा श्रेष्ठा विशिष्टा गुणसंपदा ॥२०४॥
जिनचैत्यालयद्वारसमुद्घाटनतो मया। यूयं पुण्यतमा ज्ञातास्तथा योगीन्द्रवाक्यतः ॥२०५॥
इत्युदीर्य महाधैर्यधारिणे शौर्यशालिने। गदां भीमाय दत्ते स्म यक्षः शत्रुक्षयंकराम् ॥२०६॥
यन्नामतो रणाद्यान्ति शत्रवः संगरोद्यताः। भयं याति यतो नृणां गववृन्दं यथौषधात् ॥२०७॥
रत्नवृष्टिं ततश्चक्रे वस्त्राभरणसन्मणीन्। यक्षेट् दत्ते स्म पञ्चभ्यस्तेभ्यो भक्तिप्रणोदितः ॥२०८॥
अनवद्यां महाविद्यां दस्युदर्पापहां गदाम्। समादाय दरोन्मुक्तास्तस्थुस्ते तत्र पाण्डवाः ॥२०९॥

जयति जितविपक्षः संगरे शुद्धपक्षो नरपतिगणवन्द्यः सर्वहर्षोऽनवद्यः।
सुगतियुवतिलाभैर्लब्धिलीलाभिशोभैर्युत इह वरभीमः सर्वसौख्याभिसीमः ॥२१०॥

भक्तिभाव से अर्घ चढ़ाया और शान्त-चित्त से उनके गुणों का गान कर खूब स्तुति की कि हे जिनेन्द्र, आपके दर्शन करने से आज हमारा जन्म सफल हो गया-हमें मनुष्य पर्याय का फल मिल गया। हमारे नेत्र भी सफल हो गये। हे प्रभो! आपके गुणों का चिंतन करने से आज हमारा हृदय सफल हुआ, एवं हमारी सब थकावट दूर हो गई। भगवन्! आपकी यात्रा से आज हमारे हाथ-पाँव भी सफल हो गये तथा परिणाम भी सफलीभूत हुए। अधिक क्या कहें हम आज कृतार्थ हो गये, मनोहर और मान्य हो गये-मानों हम आज ही मोक्ष को प्राप्त कर चुके ॥१९७-२०२॥

इस प्रकार जिनदेव की स्तुति कर तथा उन्हें नमस्कार कर वे जिनालय से बाहर निकले। वे बाहर आकर वहाँ बैठे ही थे। कि इतने में वहाँ श्री मणिभद्र नाम का यक्ष आया और उनको नमस्कार कर बोला कि नरोत्तम, आप बड़े विवेकी हैं, श्रेष्ठ हैं और गुण-सम्पदा से युक्त हैं। अतः मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। हे मान्य पुरुष, आपने इस जिनालय के किवाड़ खोले हैं, मैंने इसी से जान लिया है कि आप बड़े पुण्यात्मा जीव हैं और ऐसा ही एक योगिराज ने कहा था। इतना कह कर उस यक्ष ने महान् धीरजधारी, शूरवीर भीम को शत्रु विघातनी नाम एक गदा दी, जिसके नाम को सुनते ही भीषण युद्ध के लिए उद्यत शत्रु भी रणांगण छोड़कर भाग जाते हैं, जैसे कि दवाई से मनुष्यों के रोग भाग जाते हैं। इसके बाद उस यक्ष ने रत्नों की बरसा कर भक्ति से प्रेरित हो उन पाँचों ही पाण्डवों को वस्त्र, आभूषण और मणि-मुक्ता वगैरह भेंट में दिये एवं उसने उन्हें निर्दोष विद्या भी दी। उस निर्दोष विद्या और शत्रुघातकी गदा को पाकर पाण्डव निर्भय होकर ठहरे ॥२०३-२०९॥

वह भीम योद्धा जय को प्राप्त हो, जो भाँति-भाँति की लीला से युक्त गजगामिनी ललनाओं

योनिर्भर्त्स्य निशाचरं वरगतिं विद्याधरं च भृशम्
नानायुद्धशतैः खगेशतनयां लब्ध्वा हिडिम्बां प्रियाम्।
छित्त्वा दन्तिमदं वृषध्वजसुतामाप्त्वा गदाख्यायुधम्
लेभे श्रीविपुलोदरो जिनगृहद्वारं समुद्घाटयन् ॥२११॥

इति श्रीपाण्डवपुराणे भारतनाम्नि भट्टारकश्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपालसाहाय्यसापेक्षे
भीमपाण्डवकन्याद्वयप्राप्तिघुटुकसुतोत्पत्तिगजवशी-
करणगदालाभवर्णनं नाम चतुर्दशं पर्व ॥१४॥

को पाकर सांसारिक सुख की सीमा पर पहुँच गया, जो रण में शत्रुओं पर विजय को लाभ कर चुका, जिसकी राज-गणों ने वन्दना स्तुति की और जो शुद्ध पक्ष वाला, सबको हर्ष देने वाला और निर्दोष था एवं जिसने सैकड़ों युद्ध करके निशाचर और विद्याधर को भय चकित कर-गर्व रहित कर हिडंबा नाम की विद्याधर-कन्या को पाया, हाथी का मद उतारा, दिशानन्दा को ब्याहा और जिनालय के द्वार के किवाड़ों को खोल कर गदा को प्राप्त किया वह विपलोदर भीम सदा जय को पावे ॥२१०-२११॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में भीमसेन को दो राजकन्याओं के साथ विवाह होना, घुटुकपुत्र की प्राप्ति होना, गज वश करना और गदा की प्राप्ति होना इनका वर्णन करने वाला चौदहवां पर्व समाप्त हुआ ॥१४॥

❑ ❑ ❑
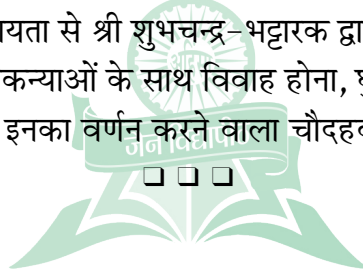
पञ्चदशं पर्व

शीतलं शीललीलाढयं शीतलं ललिताङ्गकम्। लसल्लक्ष्मीविशालं च स्तुवे श्रीवृक्षलाञ्छनम् ॥१॥
अथ धर्मात्मजो राजा यक्षं पक्षीकृतं जगौ। हेतुना केन भीमाय त्वया दत्तं गदायुधम् ॥२॥
तदावोचत्सुपक्षाढ्यो यक्षो रक्षितशासनः। शृणु भूप वदाम्येतत्कारणं दत्तिसंभवम् ॥३॥
मध्येभारतमुत्तुङ्गो विजयार्धो महाचलः। पूर्वापराब्धिसंस्पर्शी मानदण्ड इवापरः ॥४॥
पञ्चविंशतिरुत्तुङ्गः पञ्चाशद्विस्तृतो यकः। सपादषङ्गतो मूले योजनानां महागिरिः ॥५॥
यश्च श्रेणिद्वयं धत्ते दक्षिणोत्तरभेदगम्। तत्र दक्षिणसच्छ्रेणौ नगरं रथनूपुरम् ॥६॥
तत्पतिः पातितानेकविपक्षो मेघवाहनः। तत्प्रिया प्रीतिदा प्रीतिमती नाम्नाऽभवद्वरा ॥७॥
घनवाहनसंसेव्यस्तत्सुतो घनवाहनः। विद्यासाधनसंसक्तो विक्रमाक्रान्तशात्रवः ॥८॥
राज्यविस्तीर्णतां वाञ्छन्विपक्षान्क्षेप्तुमुद्यतः। गदासिद्धिकरीविद्यासिद्धयै विन्ध्याचले गतः ॥९॥
तत्र साधयतो विद्यां चिरं तस्याभवद्गदा। सिद्धा सुविद्यया सिद्धा प्रसिद्धा च जगत्त्रये ॥१०॥
चतुर्णिकायदेवौघा गच्छन्तो व्योम्नि तत्क्षणे। दृष्ट्वा विद्याधरेशेन विद्याविभववासिना ॥११॥

शीतलनाथ भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ जो पूर्ण शील के स्वामी हैं, जिनका अतीव मनोहर शरीर है, जो जीवों को शान्ति-दाता हैं, उत्कृष्ट लक्ष्मी के स्थान हैं और जो श्रीवृक्ष के लक्षण से युक्त हैं ॥१॥

इसके बाद युधिष्ठिर ने उस यक्ष से पूछा कि यक्षराज, तुमने भीम के लिए जो गदा दी है उसके देने का क्या कारण है। इसके उत्तर में उस उत्तम पक्ष वाले और शासन-कुशल यक्ष ने कहा कि राजन्! सुनिए, मैं गदा देने का कारण बताता हूँ ॥२-३॥

इस भरत क्षेत्र के बीच में एक अति ऊँचा विजयार्द्ध नाम पहाड़ है। वह पूर्व और पच्छिम की ओर को लम्बा है और दोनों ओर के कोनों से लवण समुद्र को छूता है। अतः वह ऐसा जान पड़ता है मानो भरत क्षेत्र को नापने के लिए मान-दंड ही है। वह पच्चीस योजना ऊँचा है, पचास योजन का उसका विस्तार है और सवा छह योजन की उसकी जड़ है। उसकी दो श्रेणियाँ हैं। एक दक्षिण श्रेणी और दूसरी उत्तर श्रेणी। दक्षिण श्रेणी में रथनूपुर नाम एक नगर हैं ॥४-६॥

उसका स्वामी मेघवाहन था। उसने रण में बहुत से बैरियों पर विजय पाई थी। उसकी प्रिया का नाम प्रीतिमती था। वह राजा को बहुत प्यारी थी और वह भी राजा पर पूर्ण प्रेम रखती थी। इन दोनों के एक पुत्र था। उसका नाम था घनवाहन। घनवाहन के बहुत से अच्छे-अच्छे वाहन थे। वह विद्या साधने में दत्तचित्त था। उसने अपने पराक्रम से बहुत से शत्रुओं को तो वश में कर लिया था और अपने राज्य को बढ़ाने की इच्छा से बाकी शत्रुओं को जीतने को वह तैयार था। इसलिए वह गदा देने वाली विद्या साधने के लिए विंध्याचल पर्वत पर गया था। वहाँ उसने बहुत दिनों तक विद्या साधी। उसके फल से उत्तम विद्या-साधन से सिद्ध होने वाली और तीन लोक में प्रसिद्ध यह गदा उसे प्राप्त हुई। इसी समय आकाश मार्ग से देव जा रहे थे। उनको जाते हुए देखकर विद्या के वैभव से युक्त उस विद्याधरों

इमे कुत्र सुरा यान्ति गगने केन हेतुना। इति पृष्टः सुरः कश्चित्तेनोवाच महामनाः ॥१२॥
शृणु खेचर विन्ध्याद्रौ केवलज्ञानसंभवः। क्षमाधरयतीन्द्रस्यात्राभूद्भुवनभासकः ॥१३॥
वयं तं वन्दितुं यामो लिप्सवो बोधसंपदम्। चिकीर्षवः सुकल्याणं धर्मामृतपिपासवः ॥१४॥
तच्छ्रुत्वा खेचरः सोऽपि प्रगत्य तत्क्रमाम्बुजम्। वन्दित्वा धर्मपीयूषं पपौ पापपराङ्मुखः ॥१५॥
निर्विण्णो भवभोगेषु जिघृक्षुः संयमं परम्। स प्रार्थयन्मुनिं दीक्षां क्षमाक्षिप्तक्षमः क्षमी ॥१६॥
गदाविद्या तदागत्य तमुवाच विचक्षणम्। अस्मत्साधनसंक्लेशं त्वं चकर्थ कृतार्थवित् ॥१७॥
सुसिद्धायाः फलं तस्या गृहाणागमकोविद। अन्यथा क्लेशसंपत्तिर्विहिता च कथं त्वया ॥१८॥
प्रौढा दृढा गदाविद्या संगरे जयकारिणी। कीर्तिलक्ष्मीप्रदा दिव्या नानाभोगप्रसाधिनी ॥१९॥
कथं संसाधिता सिद्धा चेत्कथं कथमप्यहो। त्वं तत्फलं गृहाणाशु गम्भीरो भव सर्वथा ॥२०॥
यत्प्रभावात्सुपर्वाणो भवन्ति भृत्यसंनिभाः। अन्येषां का कथा नृणां विरक्तस्तेन मा भवः ॥२१॥
अवादीत्स गदाविद्यां श्रुत्वेति प्रवरं वचः। एतल्लब्धं फलं त्वत्तो विद्ये यन्मुनिसंगमः ॥२२॥

के राजा ने कहा कि ये देव कहाँ जा रहे है और किस लिए जा रहे हैं। इस पर एक देव ने कहा कि सुनिए, मैं आपको सब हाल कहता हूँ? ॥७-१२॥

विंध्याचल पर्वत पर क्षमाधर नाम योगीराज को तीन लोक को प्रकाशित करने वाला केवल ज्ञान लाभ हुआ है। इसलिए ज्ञान-सम्पत्ति को चाहने वाले हम सब धर्मामृत पीने की इच्छा से प्रभु का ज्ञानकल्याणक करने के लिए वहाँ जा रहे हैं। यह सुनकर वह विद्याधर भी वहाँ गया और पाप से पराङ्मुख हो उसने मुनि के चरण-कमलों में प्रणाम करके धर्मामृत का पान किया और संसार से विरक्त होकर संयम लेने की इच्छा से उस क्षमा के भण्डार और शान्त परिणामी विद्याधर ने दीक्षा के लिए मुनिराज से प्रार्थना की ॥१३-१६॥

यह देख उस गदा विद्या को बड़ी चिन्ता हुई और वह आकर उस विचक्षण से कहने लगी कि हे कृत अर्थ को जानने वाले विद्वान्, आपने मेरे साधने में इतना भारी कष्ट सहा तब कहीं मैं सिद्ध हुई और अब आप मेरा कुछ भी फल प्राप्त न कर दीक्षा ले रहे हैं, यह क्या बात है। यदि आपकी ऐसी ही मनसा थी तो फिर मेरे साधने के लिए आपने व्यर्थ ही इतना क्लेश उठाया। यह प्रौढ़ और दृढ़ गदा युद्ध में जय दिलाती है, संसार में कीर्ति फैलाती है और भाँति-भाँति के दिव्य भोगी को देती है। अतएव जब आपने इसे साधा है और यह सिद्ध हो गई है तब इसका आप अवश्य ही फल प्राप्त कीजिए और गंभीरता से काम लीजिए। भला जिसके प्रभाव से देव भी आकर नौकरी बजाते हैं और मनुष्य सदा ही सेवा में हाजिर रहते हैं ऐसी उत्तम विद्या से आप उदास होते हैं, यह कहाँ तक उचित है। अतः आप इससे किसी तरह भी उदास मत हूजिए ॥१७-२१॥

विद्या के इन वचनों को सुनकर उसने उत्तम वचनों में कहा कि विद्यादेवि, तुमसे मैंने यही भारी फल पा लिया है जो मुझे तुम्हारे प्रभाव से ऐसे महा मुनिराज का समागम मिल गया। तुम्हीं कहो कि यदि मैं विद्या न साधता तो इनका समागम प्राप्त कर सकता। अतः मैं जो तुमसे मुनि

असाधयिष्यं नो विद्यां चेदलप्स्ये कथं मुनिम्। अतस्त्वत्तः फलं प्राप्तं लब्धो यन्मुनिरुत्तमः ॥२३॥
तं निश्चलं परिज्ञाय विद्या प्रोवाच सद्‌गिरा। मां प्रसाध्य नरेन्द्राद्य मा त्याक्षीस्त्वं विचक्षण ॥२४॥
अहं स्वस्थानमुत्सृज्य त्वां प्राप्ता पुण्यतस्तव। मां तित्यक्षस्यहं जातोभयभ्रष्टा करोमि किम् ॥२५॥
कश्चिद्राज्यं परित्यज्य दीक्षित्वा च ततश्च्युतः। यद्वत्तद्वदहं जातोभयभ्रष्टा महामते ॥२६॥
स तस्याः कृपणं वाक्यमाकर्ण्य कृतिनं मुनिम्। माणिभद्रोऽहमित्याख्यद्विनयी नयपेशलः ॥२७॥
भविष्यति पतिः कोऽस्या विद्याया वद सत्वरम्। सोऽवचद्यक्ष भीमोऽस्या भविता पतिरुत्तमः ॥२८॥
स कः कथं पुनर्ज्ञेय इति पृष्टो मया मुनिः। जगाद जगदानन्दं विदधानः प्रमोदवाक् ॥२९॥
अत्रैव भरते हस्तिनागद्रङ्गे गुणोत्करः। प्रचण्डो भविता पाण्डुस्तत्सुतो भीमनामभाक् ॥३०॥
स सत्रं भ्रातृभिर्भीमः समेष्यत्यत्र वन्दनाम्। त्रैलोक्यसुन्दरे चैत्ये कर्तुं भावपरायणः ॥३१॥
कपाटपिहितं द्वारं यः समुद्‌घाटयिष्यति। गदापतिः स एवात्र भविष्यति न संशयः ॥३२॥
विद्याधरस्तथा चाहं श्रुत्वैवं खगनायकः। शिक्षां दत्त्वा सुविद्यायाः प्राव्राजीन्मुनिसंनिधौ ॥३३॥
ततः प्रभृति तद्रक्षां कुर्वन्वो वीक्षितुं नृपान्। स्थितोऽद्यापि तथा वीक्ष्य तुष्टोऽस्मै च गदामदाम् ॥३४॥

समागम रूप फल पा चुका–यही मेरे लिए बहुत है ॥२२–२३॥

इस उत्तर से उसको निश्चल जानकर विद्या ने मधुर वाणी द्वारा फिर भी कहा कि नरेन्द्र, तुम बड़े विचक्षण पुरुष हो, सब कुछ जानते हो। देखो, मैं फिर भी कहती हूँ कि तुम मुझे साध कर मत छोड़ो। मैं तुम्हारे पुण्य-प्रताप से ही अपना स्थान छोड़ तुम्हारे पास आई हूँ और तुम मुझे छोड़ना चाहते हो। तब आप ही कहें कि मैं दोनों ओर से भ्रष्ट होकर अब क्या करूँ। इस वक्त मेरी वैसी ही गति हो रही है जैसी कि राज्य छोड़कर दीक्षा ले पुनः दीक्षा से भी भ्रष्ट हो जाने वाले पुरुष की होती है। वह न इधर का रहता है और उधर का। यही हाल मेरा भी है जो मैं न इधर की रही न उधर की–मेरा कोई ठिकाना ही नहीं रहा। राजन्! उस विद्या के ऐसे दीन वचनों को सुनकर मैंने उन कृती मुनिराज से पूछा कि प्रभो! अब इस विद्या का कौन नीतिवान् विनयी पुरुष पति होगा। मुनिराज ने उत्तर दिया कि यक्ष, इसका स्वामी अब महापुरुष भीम होगा। यह सुनकर मैंने फिर मुनिराज से पूछा कि भीम कौन है? और वह कैसे जाना जायेगा? इसके उत्तर में संसार को आनन्द देने वाले वे मुनिराज प्रमोद के साथ यों कहने लगे ॥२४–२९॥

इसी भरत क्षेत्र में एक हस्तिनापुर नाम नगर है। वहाँ का राजा पाण्डु था। वह गुणों का समुद्र था। भीमसेन उसी का पुत्र है और वह शुद्ध परिणामी तीन लोक में सुन्दर इस चैत्यालय की वन्दना के लिए अपने भाइयों सहित अति शीघ्र ही यहाँ आवेगा। स्पष्ट बात यह है कि जो कोई यहाँ आकर इस जिनालय के किवाड़ों को खोलेगा वही इस गदा का स्वामी होगा। यह सुनकर वह विद्याधर राजा तो विद्या को समझा कर मुनि के पास दीक्षित हो गया और मैं तभी से इसकी रक्षा करता हुआ और आप लोगों की प्रतीक्षा करता हुआ यहीं ठहरा हुआ हूँ। आज आप लोगों को आया देखकर मुझे बड़ा भारी संतोष हुआ और मुनि के कहे अनुसार मैंने भीम को यह गदा दी। इसके बाद उस यक्ष ने वस्त्र,

इत्युक्त्वा पूजयित्वा तान्वस्त्राद्यैर्वरभूषणैः। यक्षोऽगान्निजमावासं स्मरंस्तेषां गुणावलिम् ॥३५॥
ततस्ते दक्षिणान्देशान्विहृत्य हस्तिनं पुरम्। गन्तुं समुद्यताश्चासन्भुञ्जन्तो धर्मजं फलम् ॥३६॥
क्रमान्मार्गवशात्प्रापुर्माकन्दीं नगरीं नृपाः। स्वःपुरीमिव देवौघा बुधसीमन्तिनीश्रिताम् ॥३७॥
विशालेन सुशालेन संस्कृता भाति भूतले। भालेन भामिनी यद्वद्या सद्वर्णसमाश्रिता ॥३८॥
तत्र ते पाण्डवा गत्वा द्विजवेषधराः पराः। कुलालसदनं प्राप्य तस्थुः प्रच्छन्नतां गताः ॥३९॥
पश्यन्तः पावनां पूर्णां बुधैस्तां लोकपालकैः। पाण्डवास्तोषमासेदुरमराः स्वःपुरीमिव ॥४०॥
तत्रास्ति भूपतिर्भव्यो द्रुपदो द्रुपदस्थिरः। सवीर्यो धैर्यसंपन्नो न जय्यो जितशात्रवः ॥४१॥
प्रिया भोगवती तस्य नाम्ना भोगवती सदा। भजन्ती परमान्भोगान्भूषणानि बभार या ॥४२॥
धृष्टद्युम्नादयः पुत्रास्तयोः सुद्युम्नदीपिताः। स्ववीर्याक्रान्तदिक्चक्राः शक्रा इव मनोहराः ॥४३॥
द्रौपदी च परा पुत्री तयोरासीत्सुलक्षणा। सुरूपेण गुणैश्चापि या जिगाय शचीं पराम् ॥४४॥
गत्या मरालसत्पत्नीं नखैस्ताराः सुपङ्कजम्। अङ्घ्रिणा कदलीस्तम्भं जङ्घया जघनेन च ॥४५॥

आभूषण आदि के द्वारा उनकी पूजा-भक्ति की और अन्त में उनके गुणों को याद करता हुआ वह अपने स्थान को चला गया ॥३०-३५॥

इस प्रकार पाण्डव दक्षिण के देशों में विहार करते और धर्म के फल को भोगते हुए हस्तिनापुर जाने को तैयार हुए। वहाँ से चल कर वे धीरे-धीरे मार्ग में पड़ने वाली माकन्दी नाम नगरी में आये। वह देवताओं जैसे सत्पुरुषों का और देवांगनाओं जैसी ललनाओं का निवास था, अतः स्वर्गपुरी-सी जान पड़ती थी। उसके चारों ओर एक सुन्दर विशाल कोट था। जैसे स्त्रियाँ माँग में उत्तम लाल वर्ण का सिंदूर भर कर शोभा पाती हैं वैसे ही उसमें भी उत्तम वर्ण के लोग भर रहे थे, अतः वह भी अतीव शोभा पाती थी। तात्पर्य यह कि वह सुंदर सजावट से ऐसी जानी जाती थी मानों स्वर्गपुरी ही नीचे उतर कर यहाँ आ गई है ॥३६-३८॥

वहाँ पहुँच कर वे ब्राह्मण वेष-धारी पाण्डव एक कुँभार के घर गये और वहाँ ठहर गये। इसके बाद वे पवित्र और लोकों को पालने वाले पंडितों से परिपूर्ण उस पुरी को देखने के लिए निकले। उसकी शोभा देखकर वे बड़े संतुष्ट हुए, जैसे कि स्वर्गपुरी को देखकर अमर-गण संतुष्ट होते है। वहाँ का राजा द्रुपद था। वह वृक्ष की जड़ जैसा स्थिर था, वीर्यशाली था, धीरज-धारी था और शत्रुओं को जीतने वाला था। वह स्वयं किसी से नहीं जीता जाता था। उसकी प्रिया का नाम भोगवती था। वह वास्तव में भोगवती ही थी-भोगों की खान थी। भाँति-भाँति के मनोहर भोगों को भोगती थी। वह आभूषणों से खूब सजी हुई थी ॥३९-४२॥

द्रुपद के कई पुत्र थे। वे सुवर्ण के समान कान्ति वाले थे। उन्होंने अपने पराक्रम से सब दिशाओं पर अधिकार जमा लिया था। वे इन्द्र की तरह मनोहर थे। उनके नाम धृष्टद्युम्न आदि थे। इनके सिवा उसके एक पुत्री भी थी। उसका नाम द्रौपदी था। वह उत्तम लक्षणों वाली थी और अपने सुन्दर रूप तथा गुणों से इन्द्राणी को भी जीतती थी। अपनी चाल से वह हँसी को और नखों से

कामक्रीडागृहं स्वर्णनितम्बेन शिलां पराम्। सावर्तां सरसीं नाभिमण्डलेन च वक्षसा ॥४६॥
कनकाद्रितटं स्वर्णकुम्भौ नागकलङ्कितौ। स्तनाभ्यां हारपूर्णाभ्यां बाहुना कल्पशाखिकाम् ॥४७॥
वक्त्रेणेन्दुं स्वरेणैव पिककान्तां च चक्षुषा। मृगाङ्गनां सुवंशं च नासया विधिपत्रकम् ॥४८॥
ललाटेन धमिल्लेन भुजंगं या जिगाय वै। कलाकुशलसंलीना तन्वङ्गी कठिनस्तनी ॥४९॥
पञ्चाभिः कुलकम्
द्रुपद्रो वीक्ष्य तां पुत्रीं यौवनोन्नतिशालिनीम्। आहूय मन्त्रिणः प्राह विवाहार्थं विशांपतिः ॥५०॥
सचिवाः स्वस्वयोग्येन बोधेनोचुः परं वचः। अनेकशो वरान् दक्षान्दर्शयन्तो नृपात्मजान् ॥५१॥
कांस्कान्वीक्ष्य नृपेन्द्रोऽथ याच्ञाभङ्गभयादिति। आह् स्वयंवरः ख्यातमण्डपः क्रियतां लघु ॥५२॥
दूतानाहूय वेगेन सलेखान्प्राहिणोन्नृपः। कर्णदुर्योधनादीनामानयनार्थमञ्जसा ॥५३॥
सुरेन्द्रवर्धनः खेटः खगाद्रौ सुखसाधनः। नैमित्तिकं समप्राक्षीत्कन्याया वरमुत्तमम् ॥५४॥
स समालोक्य चोवाच शृणु राजन् समासतः। माकन्द्यां यो बली ज्यायां गाण्डीववरकार्मुकम् ॥५५॥

तारा-गण को जीतती थी। चरणों से कमल की और जाँघों से केले के स्तंभों को जीतती थी। जघनों से कामक्रीड़ा के घर को और नितम्बों से सोने की शिला को जीतती थी। नाभि-मण्डल से भँवरों वाले सरोवर की और वक्षस्थल से कैलास के तट को जीतती थी। जिन पर हार लटक रहा था ऐसे कुचों के द्वारा वह सांपों से वेष्टित कुंभों को जीतती थी। हाथों के द्वारा कल्पवृक्ष की शाखाओं को, मुख से चाँद को और स्वर से कोकिला को जीतती थी। आँखों से मृगी को, नाक से बाँस की सुंदर बाँसुरी को और ललाट से अष्टमी के चंद्रमा को जीतती थी। अपने सुंदर केशपास से वह भुजंग को जीतती थी। वह कला-कौशल में पूर्ण कुशल थी। उसका कटिभाग कृश था और स्तन गोल और कठिन थे ॥४३-४९॥

एक दिन द्रुपद ने देखा कि पुत्री अब युवती हो गई है, अतः इसका जल्दी विवाह कर देना चाहिए। यह सोचकर उसने अपने मंत्रियों को बुलाया और उनसे इस सम्बन्ध में सलाह ली। उन्होंने भी अपनी-अपनी योग्यता और बुद्धि के अनुसार सलाह दी और बहुत से राजाओं के नाम कहे और कहा कि, इनमें से राजन्! आप जिसे पसन्द करें, उसी के साथ द्रौपदी का ब्याह कर दें। मंत्रियों की इस सम्मति के अनुसार राजा ने भी किसी किसी कुमार की ओर दृष्टि दौड़ाई पर फिर याचना भंग होने के भय से उसने यही निश्चित किया कि स्वयंवर की तैयारी करके अति शीघ्र एक सुन्दर स्वयंवर-मण्डप बनवाया जाये। स्वयंवर के बिना ठीक नहीं होगा। किसी से वर की याचना की गई और उसने मंजूर न की तो उल्टा दुख ही होगा। इसके बाद राजा ने दूतों को बुलाया और उन्हें निमंत्रण पत्र देकर कर्ण और दुर्योधन आदि राजाओं के पास भेज दिया ॥५०-५३॥

खगाचल पर्वत पर एक विद्याधर राजा रहता था। उसका नाम सुरेन्द्रवर्धन था। उसे सब साधन प्राप्त थे। उसके एक कन्या थी। एक समय उसने एक नैमित्तिक से पूछा कि मेरी कन्या का वर कौन होगा। नैमित्तिक ने कहा कि राजन्! माकंदी पुरी में आकर जो बलवान् पुरुष गांडीच धनुष चढ़ावेगा

रोहयिष्यति ते पुत्र्या द्रौपद्याश्च जनिष्यति। वरः कोऽपि बली श्रीमान्पुण्यवान्परमोदयः ॥५६॥
इत्याकर्ण्य स्वगश्चायं गाण्डीवं वरकन्यकाम्। समादाय समागच्छन्माकन्द्यां कुन्दसद्यशाः ॥५७॥
अभ्येत्य द्रुपदं तत्र प्रवृतिं कन्यकोद्भवाम्। प्रजल्प्य जल्पवित्तस्मै ददौ गाण्डीवकार्मुकम् ॥५८॥
ततस्तु द्रुपदो भूपो मण्डपन्यासमुत्तमम्। कुम्भकोद्भूतसत्स्तम्भं शातकुम्भसुतोरणम् ॥५९॥
वितानतानसंछन्नं मुक्तालम्बूपशोभितम्। नानाचित्रितसद्हेमभित्तिकापरिवेष्टितम् ॥६०॥
पताकापटसंछन्नगगनं नगरोपमम्। विशाखाढ्यं समुत्तुङ्गमध्यवेदिमतल्लिकम् ॥६१॥
हटद्धाटकसंघट्टघटितं स्तम्भमञ्चकम्। अकारयज्जनाभोगभोग्यदं सुभगाकृतिम् ॥६२॥
तावता भूमिपाः सर्वे कर्णदुर्योधनादयः। यादवा मगधाधीशा जालन्धराश्च कौशलाः ॥६३॥
अभ्येत्य मण्डपे तस्थुर्महारूपसुशोभिनः। द्विजवेषधरास्तत्र पाण्डवाः पञ्च संस्थिताः ॥६४॥
तावद्द्रुपदविद्येशावित्यकारयतां वराम्। घोषणां घोषनिर्भिन्नघनघोषां सुपोषणाम् ॥६५॥
गाण्डीवकार्मुकं ज्यायामारोप्य यो विधास्यति। राधानासास्थमुक्ताया वेधं च स वरोऽनयोः ॥६६॥
इति कन्याप्रतिज्ञायाः शुश्रुवुर्घोषणां घनाम्। अभ्येत्य चापमावेष्ट्य द्रोणकर्णादयस्तथा ॥६७॥
चापं द्रष्टुमपि स्पष्टं न क्षमास्ते महीभुजः। स्पर्शनाकर्षणे तेषां कुतस्त्या शक्तिरिष्यते ॥६८॥

वही पुण्यशाली, श्रीमान् और परमोदयशाली तुम्हारी कन्या और द्रौपदी का वर होगा। यह सुनकर कुंद के समान यश वाला वह विद्याधर गांडीव धनुष और अपनी कन्या को लेकर माकन्दी पुरी में आया और वहाँ द्रुपद राजा के पास जाकर उससे उसने कन्या के सम्बन्ध की सारी बात कह दी और साथ ही उस स्पष्टवक्ता ने द्रुपद को वह धनुष भी दे दिया ॥५४-५८॥

इसके बाद द्रुपद ने अति शीघ्र एक सुन्दर मंडप तैयार करवाया। उसमें सोने के खंभे लगे हुए थे और सोने का ही तोरण बाँधा गया था। उस पर मुक्ताफलों से विभूषित चंदोवे तने हुए थे। भाँति-भाँति के चित्रों से सुशोभित सोने की उसकी भींतें थीं। उस पर इतनी पताकायें फहरा रही थीं कि उनसे सारा गगन-मण्डल ढक गया था। वह नगर के जैसा दीख पड़ता था। उसमें बहुत-सी गलियाँ बनी हुई थीं। उसके ठीक बीच में एक ऊँची वेदिका बनाई गई थी। दीप्तिशाली सोने के पायों के उसमें बहुत से तख्त पड़े हुए थे। वह बहुत ही सुन्दर आकार का था और भाँति-भाँति की भोग-सम्पति का दाता था ॥५९-६२॥

स्वयंवर के समय कर्ण, दुर्योधन आदि यादव, मगधाधीश, जालंधर और कौशल आदि के सब राजा आये और वे महान् रूप-सौन्दर्यशाली मण्डप में आकर विराजे। ब्राह्मण-वेष में पाँचों पांडव भी यहीं माकन्दी पुरी में ठहरे हुए थे। इसी समय द्रुपद और सुरेन्द्रवर्द्धन विद्याधर ने मेघ के शब्द को भी जीतने वाली घोषणा करवाई कि जो कोई गांडीव धनुष चढ़ाकर राधावेध करेगा वही पुण्यवान् इन दोनों कन्याओं का वर होगा। कन्याओं की यह प्रतिज्ञा-घोषणा सुनकर कर्ण आदि सब राजा आकर उस धनुष को देखने लगे। वह इतना कान्तिशाली था कि उसके तेज को वे लोग सह न सके। उसे फिर छूने और चढ़ाने के लिए तो उनमें शक्ति ही कहाँ थी ॥६३-६८॥

तावता द्रौपदी कन्या नानाभूषणभूषिता। दुकूलपरिधानेन छादयन्ती निजां तनूम् ॥६९॥
श्लक्ष्णकञ्चुकसंछन्नस्तनकुम्भभराश्रिताम्। रणन्नूपुरनादेन जयन्ती कामभामिनीम् ॥७०॥
लसन्नासापुटाग्रस्थस्वर्णमुक्ताफलान्विता। उपमण्डपसद्गेहमागता तान्दिदृक्षया ॥७१॥
तावन्नृपाः सुमञ्चस्था वीक्षन्ते स्म सुकन्यकाम्। लसल्लावण्यलीलाढ्यां वेष्टितां स्वसखीजनैः ॥७२॥
धात्रीहस्तसुविन्यस्तमणिमालां मलापहाम्। कटाक्षक्षेपमात्रेण क्षिपन्तीं भूरिभूमिपान् ॥७३॥
ते तां वीक्ष्य समुत्क्षिप्तमदना आहुरुद्धियः। सुरूपा सुभगाकारा नास्त्यन्या चेदृशी क्वचित् ॥७४॥
कश्चिन्मित्रेण वै सत्रं चित्रालापं सुनर्मणा। कुर्वाणः कन्यकां कम्रां कटाक्षेण स्म वीक्षते ॥७५॥
नागवल्लीदलं लात्वा कश्चिच्चिच्छेद भूपतिः। ईषत्स्मितेन रागाढ्यान्दशनान्दर्शयन्स्फुटम् ॥७६॥
पादाङ्गुष्ठेन सौवर्णं लिखति स्म वरासनम्। कश्चित्सव्याङ्घ्रिमादाय वामोरूपरि संदधे ॥७७॥
विधत्ते जृम्भणं कश्चित्कश्चिद्धत्ते स्म शेखरम्। मूर्ध्नि कश्चिन्निजं चाङ्गमङ्गदेन न्यपीडयत् ॥७८॥
कश्चिच्च पाणिना श्मश्रु चालयामास सर्वतः। कश्चित्स्वमुद्रिकोद्भासिकरान्संदर्शयत्यहो ॥७९॥
एवं स्थितेषु भूपेषु स्वनो वीणामृदङ्गजः। वंशजश्च विशेषेणाविरासीत्पटहादिजः ॥८०॥

इसी समय अनेक प्रकार के गहनों से विभूषित और रेशमी ओढ़नी से अपने शरीर को ढके हुई द्रौपदी मंडप में आये हुए राजाओं को देखने की इच्छा से वहाँ आई। वह बारीक कंचुकी से प्रच्छन्न कुचकुंभों के भार से युक्त थी और अपने नूपुरों के रण-झण शब्द से रति को भी जीतती थी। उसकी नासा के अग्रभाग में मुक्ताफलों से, जड़ी हुई सोने की सुंदर नथ सुशोभित थी। तात्पर्य यह कि इस वक्त वह अपूर्व ही शोभायुक्त थी और इन्द्राणी के जैसी देख पड़ती थी। वह रूपलावण्य की खान थी। उसके सब ओर उसकी सखियाँ थीं। धाय के हाथ में उसने मणियों की माला दे रक्खी थी। वह निर्मल थी और अपने कटाक्षपात द्वारा उन राजाओं के मन को मोहित करती थी। ऐसी मनमोहिनी मूर्ति वाली द्रौपदी को उन राजाओं ने ज्यों ही देखा कि उनकी कामाग्नि धधक उठी। वे मन ही मन बोले कि ऐसी सुन्दरी रूप-सौन्दर्य की सीमा दूसरी स्त्री तो हमने आज तक नहीं देखी। इसका रूप-सौन्दर्य संसार भर से बढ़ा चढ़ा है ॥६९-७४॥

इस समय वहाँ जितने राजा थे सबकी विचित्र ही चेष्टा हो रही थी। कोई अपने मित्र के साथ बातें करता हुआ द्रौपदी पर मंद कटाक्ष फेंक रहा था। कोई मंद मुस्कान से अपने पान के रंग से लाल हुए दाँतों को दिखाता हुआ दाँतों के नीचे पान दवाकर उसे बड़े जोर से चबा रहा था। कोई पाँव के अँगूठे के द्वारा सिंहासन पर लिख सा रहा था। कोई दाहिने पाँव को बायें पाँव पर रक्खे हुए था। कोई जँभाई ले रहा था। कोई सिर पर मुकुट रख रहा था। कोई अपने हाथों के कड़ों को इधर-उधर घुमा रहा था, जिससे उसकी भुजायें ऐंठती सी थीं। कोई हाथ से मूंछों को मरोड़ता था। कोई अँगूठियों की कान्ति से प्रकाशित हाथों को ऊँचे उठा-उठाकर दिखाता था। इस प्रकार विचित्र चेष्टायें करते हुए वे लोग वहाँ बैठे हुए थे। उसी समय वीणा, मृदंग, बाँसुरी, नगाड़े आदि की आवाज हुई, जिससे सब दिशायें गूँज उठीं ॥७५-८०॥

सुलोचना ततो धात्री स्वर्णयष्टिकरा सुवाक्। दर्शयामास भूपालान् द्रौपद्यै मञ्चकस्थितान् ॥८१॥
अधीशोऽयमयोध्यायाः सूर्यवंशशिरोमणिः। सुरसेनः सुनासीर इव भाति बुधेश्वरः ॥८२॥
वाराणसीपतिश्चायं विपक्षक्षपणोद्यतः। अयं चम्पापुरीनाथः कर्णः स्वर्णसमानरुक् ॥८३॥
अयं दुर्योधनो धीमान् हस्तिनागनरेश्वरः। दुःशासनोऽयं तद्भ्राता दुर्मर्षणमहीपतिः ॥८४॥
इमे यादवभूपाला इमे मगधमण्डनाः। इमे जालन्धराधीशा इमे बाल्हीकभूभुजः ॥८५॥
एतेषु सत्सु भूपेषु न जाने को महीपतिः। धनुरादाय बाणेन न जाने किं करिष्यति ॥८६॥
ज्वलदग्निमहाज्वालाजालसज्जटिलो धनुः। सुरनागफणास्फीतफूत्कारमुखराननः ॥८७॥
ज्वालयन्धर्तुमायातान्भात्यधीशान्धनुर्धरान्। तत्र तज्ज्वालया ध्वस्ताः पिधायागुः स्वलोचने ॥८८॥
अन्ये तस्थुः स्थिता दूरात् संवीक्ष्य विषमोरगान्। भयतः कम्पमानाङ्गाः संमीलितविलोचनाः ॥८९॥
अन्ये ज्वालाहताः पेतुर्धरायां धरणीधराः। मुमूर्च्छुरपरे स्वच्छज्वालातापप्रपीडिताः ॥९०॥
अनयालं परे प्रोचुर्यास्यामो मन्दिरं मुदा। दास्यामो दुर्धरं दानं दीनानाथदरिद्रिषु ॥९१॥
जगुः केचित्स्वयोषाभिः क्रीडिष्यामः स्वमन्दिरे। रूपसंपूर्णया चालमनया प्राणयातनात् ॥९२॥

इसके बाद उस मिष्टभाषिणी सुलोचना धाय ने जो कि वरमाला हाथ में लिये हुए थी, वहाँ बैठे हुए राजाओं का द्रौपदी को परिचय कराया। वह बोली बेटी, देखो ये अयोध्या के राजा हैं। ये सूर्यवंश के शिरोमणि हैं। इन्द्र के जैसी विभूति के धारक हैं। पण्डित लोग इनका आश्रय लेते हैं। इनका नाम सुरसेन है। ये शत्रुपक्ष के विघातक बनारस के राजा हैं। ये सुवर्ण की सी कान्ति वाले चंपापुरी के राजा कर्ण हैं। ये हस्तिनापुर के राजा दुर्योधन हैं। बड़े बुद्धिमान् हैं और यह इन्हीं का भाई दुश्शासन है। यह शत्रुओं का नाश करने वाला दुर्मर्षण राजा है। देखो, ये यादववंशीय राजा हैं। ये मगध देश के अधिपति हैं। ये जलंधर देश के राजा हैं। ये वाल्हीक देश के राजा हैं। पुत्री, मैं नहीं कह सकती कि इन राजाओं में से कौन धनुष को उठाकर बाण के द्वारा राधावेध करेगा ॥८१-८६॥

बहुत से राजे लोग तो उस धनुष को उठाने के लिए इसलिए असमर्थ हुए कि वह जलती हुई आग की महान् ज्वाला से व्याप्त था, नागों के फणों की फुंकारों से वह शब्द-मय हो रहा था। अतः जो उसे उठाने के लिए उसके पास जाते उन्हें वह अपनी प्रचंड ज्वाला के द्वारा भस्म किये डालता था, जिससे वे अपनी आँखें बन्द कर-करके उससे दूर भागते थे। कोई राजा उन भयंकर जहरीले साँपों को देखकर दूर ही से डर के मारे काँपते थे और उनको न देख सकने के कारण अपने नेत्रों को ढंक लेते थे। कोई हिम्मत बाँधकर उसके पास तक जाते भी थे तो उसकी विषम ज्वाला से पीड़ित होकर वे जमीन पर गिर पड़ते थे और उनमें बहुतों को मूर्छा तक आ जाती थी ॥८७-९०॥

कोई बेचारे कहते थे कि हमें द्रौपदी नहीं चाहिए किन्तु हम सकुशल अपने घर पहुँच जायें तो बड़ी खुशी मनायें और आनंदपूर्वक दीन, अनाथ और दरिद्रों को दान दें। कोई कहते थे कि हम तो अपने घर जाकर अपनी स्त्रियों के साथ ही क्रीड़ा, मनोविनोद करेंगे, हमें ऐसी सुन्दरी द्रौपदी नहीं चाहिए, जिसके पीछे प्राणों के ही लाले पड़ जायें और जिन राजाओं के कामिनियाँ न थीं वे कहते

ब्रुवन्ति स्म परे भूपा अलं कामसुखेच्छया। नेष्यामः समयं कंचिद् ब्रह्मचर्येण चारुणा ॥९३॥
रूपेणेयं नरान् हन्ति कांश्चिद्रागविषार्चिषा। मारवेगेन कांश्चिच्च हंहो कन्या महाविषा ॥९४॥
तदा दुर्योधनोऽवोचद्दधानो मानसे मदम्। मत्तः कोऽन्यः समर्थोऽस्ति राधावेधविधायकः ॥९५॥
राधानासासुमुक्तायाः करिष्यामि सुवेधनम्। इत्युक्त्वा स समुत्तस्थे रक्तनेत्रो वराननः ॥९६॥
गाण्डीवकार्मुकोत्पन्नज्वलज्ज्वालाकरालितः। सोऽपि स्थातुमशक्तात्मा पतितस्तु पलायितः ॥९७॥
एवं कर्णादयो भूपास्तज्ज्वालां सोढुमक्षमाः। मुमुचुर्मानमुद्रां ते तदा स्वस्थानमास्थिताः ॥९८॥
युधिष्ठिरस्तदावादीत्स्वानुजन्मानमर्जुनम्। धनुःसंधानमाधातुमेतेषां कोऽपि न क्षमः ॥९९॥
अत उत्तिष्ठ संधेहि धनुःसंधानमुद्धुरम्। गाण्डीवजीवनं त्वां हि विना कोऽत्र करिष्यति ॥१००॥
इत्युक्ते पार्थिवः पार्थः कृतसिद्धनमस्क्रियः। अग्रजं प्रणिपत्याशु समुत्तस्थे विशुद्धधीः ॥१०१॥
द्विजवेषधरं पार्थं रूपनिर्जितमन्मथम्। द्रौपदी वीक्ष्य दूरस्था हता कामस्य सायकैः ॥१०२॥
सर्वानुल्लङ्घ्य भूपालान्स स्थितो धनुषः पुरः। तदा शरासनं शान्तं जातं ज्वालातिगं शुभम् ॥१०३॥
अहो पुण्यवतां प्रायः प्रयोगाच्छान्तता भवेत्। शूराणामपि सांनिध्यात्तेषां किं कथ्यते बुधैः ॥१०४॥

थे हमें ऐसे प्राण के घातक विषय-सुख की चाह नहीं है। इससे तो हम घर जाकर कुछ समय ब्रह्मचर्य से रहें यही परम उत्तम है। देखिए एक तो यह अपने रूप से ही लोगों के प्राण लिये लेती है और उस पर साँप के विष की तीव्र ज्वाला जैसे काम के वेग से मारे डालती है। यह कन्या नहीं है किन्तु कहना चाहिए कि महान् विष ही है। यह देखकर मद के आवेश में आ दुर्योधन बोला कि मेरे सिवा इस राधावेध के लिए दूसरा और कौन समर्थ हो सकता है। इस राधा के मोती को तो मैं ही वेधूँगा। इतना कहकर वह नेत्रों को लाल करके उठा और धनुष के पास पहुँचा परन्तु उस धनुष से उत्पन्न हुई ज्वाला से पीड़ित होकर वह भी उसके पास ठहर न सका और असमर्थ होकर भूमि पर गिर पड़ा और बड़ी कठिनता से उठकर अपनी जगह पर आकर बैठा ॥९१-९७॥

इसी प्रकार कर्ण आदि और-और राजा भी उसकी ज्वाला को न सह सकने के कारण मान को छोड़कर अपने-अपने स्थान पर चुपचाप आ बैठे। जब कोई भी उस धनुष को न चढ़ा सका तब युधिष्ठिर ने अपने छोटे भाई अर्जुन से उसके चढ़ाने के लिए कहा। वे बोले कि जान पड़ता है इन राजाओं में से कोई भी यह धनुष नहीं चढ़ा सकता है। इसके लिए ये सब असमर्थ हैं, अतः तुम उठो और इस धनुष की चढ़ाओ। तुम्हारे सिवा इस धनुष को और कौन ऐसा है जो सिद्ध करेगा। युधिष्ठिर के वचनों की सुनकर सिद्धों को और अपने बड़े भाई युधिष्ठिर को प्रणाम कर विशुद्ध-बुद्धि अर्जुन उठ खड़ा हुआ। उस समय उस द्विजवेषधारी और कामदेव से भी अतिशय रूपशाली को दूर से ही देखकर द्रौपदी उसके रूप पर मोहित हो काम के बाणों द्वारा बेधी जाने लगी ॥९८-१०२॥

इसके बाद अर्जुन सब राजाओं को लाँघकर धनुष के आगे जाकर खड़ा हो गया। उसके वहाँ पहुँचते ही पुण्य से वह सब ज्वाला उसी समय बिल्कुल शान्त हो गई और सब साँप अन्तर्हित हो गये। पुण्यात्मा पुरुषों के सम्बंध से बहुधा सब शान्त हो जाते हैं और वे यदि शूरवीर हों तब तो

स गाण्डीवं सुकोदण्डं करे कृत्वा धनुर्धरः। मौर्व्यामारोप्य पूतात्मा स्फालयामास तद्गुणम् ॥१०५॥
तदास्फालनशब्देन बाधिर्यं भूमिपाः श्रुतौ। दधुर्घोटकसंघाता अचलन्त इतस्ततः ॥१०६॥
गजाश्च दिग्गजाश्चान्ये गर्जन्तो ध्वनिकर्णनात्। जगर्जुः प्रतिशब्देन समुत्क्षिप्तकरास्तदा ॥१०७॥
तदास्फालानशब्दं च श्रुत्वा द्रोणो रुरोद च। इत्ययं सोऽर्जुनः किं वा मृतोऽपि समुपस्थितः ॥१०८॥
ततः पार्थः पृथुर्बाणं गुणे संरोप्य विक्रमी। संभ्रमच्चावधीद्राधानासामौक्तिकमुन्नतम् ॥१०९॥
समौक्तिकं तदा भूमौ पतितं वीक्ष्य सायकम्। जहर्षुः पार्थिवाः सर्वे तद्गुणग्रहणोत्सुकाः ॥११०॥
यादवा मागधा भूपास्तं शशंसुर्द्विजोत्तमम्। द्रुपदः सात्मजश्चित्तं सोत्कण्ठोऽभूत्स्वमानसे ॥१११॥
ततो द्रुपदराजेन्द्रसुता पार्थस्य कन्धरे। सुलोचनाकराल्लात्वाक्षिपन्मालां मनोहराम् ॥११२॥
तदा दैववशान्माला वायुना चलिता चला। पञ्चानामपि पर्यङ्के विकीर्णा पार्श्ववर्तिनाम् ॥११३॥
लोकोक्तिर्निर्गता मौढ्यादियं कर्मविपाकतः। पञ्चानया वृता मर्त्या दुर्जनाश्चेत्यघोषयन् ॥११४॥
सार्जुनस्य समीपस्था साक्षाल्लक्ष्मीरिवोर्जिता। पाकशासनपार्श्वस्था शचीव शुशुभे तराम् ॥११५॥
अर्जुनाज्ञां समासाद्योपकुन्ति द्रौपदी स्थिता। मेघालिं संगता विद्युदिव रेजे मनोहरा ॥११६॥
तावद्दुर्योधनो दुष्टो मलीमसमुखो नृपान्। जगौ सर्वेषु भूपेषु कोऽधिकारोऽत्र ब्राह्मणे ॥११७॥

कहना ही क्या है। धनुर्धर अर्जुन ने उस गांडीव धनुष को उसी क्षण हाथ में उठा लिया और चढ़ाकर उस पवित्र आत्मा ने उसकी डोरी का शब्द किया, जिसे सुनकर वहाँ बैठे हुए सब राजा बहिरे हो गये और घोड़े भड़क कर इधर-उधर भागने और हींसने लगे। हाथी चिंघाड़ने लगे तथा दिग्गज अपनी प्रतिध्वनि के द्वारा शब्द करते हुए ऐसे जान पड़ने लगे मानो सूंड़ उठा कर गर्ज ही रहे हैं ॥१०३-१०७॥

उस विशाल शब्द को सुनकर द्रोणाचार्य चकित होकर बोल उठे कि क्या यहाँ मरा हुआ अर्जुन आ गया है। इसके बाद उस महान् विक्रमी पार्थ ने धनुषबाण चढ़ाया और घूमते हुए राधा की नाक के मोती को बात ही बात में ही वेध दिया। उस समय मोती के साथ बाण को पृथ्वी पर गिरा हुआ देखकर वहाँ बैठे हुए सभी राजाओं को बड़ा भारी हर्ष हुआ और वे उसके गुणों को ग्रहण करने के लिए उत्कंठित हो उठे। इस द्विज-वेष-धारी पार्थ की यादव, मागध आदि राजाओं ने बड़ी प्रशंसा की और द्रुपद राजा तथा उसके पुत्र भी मन ही मन बहुत आनंदित हुए। इसके बाद ही द्रौपदी ने अपनी धाय के हाथ में से 'वरमाला' लेकर अर्जुन के गले में पहिना दी परन्तु दैववशात् वह माला वायु के अति वेग से टूट गई, जिससे वहीं पास में बैठे हुए चार पाण्डवों की गोद में भी उसके मोती जा पड़े। अतः लोगों की मूर्खता से यह दन्तकथा चल पड़ी कि इसने पाँचों ही पाण्डवों को वरा है। उन दुर्जनों ने- जहाँ तक उनसे बन सका-इसकी संसार में खूब घोषणा कर दी ॥१०८-११४॥

इस समय द्रौपदी अर्जुन के पास में खड़ी हुई ऐसी शोभती थी मानों साक्षात् लक्ष्मी ही है। अर्जुन की आज्ञा को पाकर द्रौपदी कुन्ती के पास जाकर बैठ गई। इस समय वह मनमोहनी ऐसी जानी जाती थी मानों मेघमाला से युक्त बिजली ही है। ये सब बातें दुर्योधन से न सही गई, अतः वह दुर्मुख राजा

धार्तराष्ट्रैश्च संमन्त्र्य प्रेषितो द्रुपदं प्रति। दूतश्चन्द्राख्यया ख्यातः सुशिक्षितः सुलक्षणः ॥११८॥
वचोहरो विनीतात्मा वीक्ष्येत्वा द्रुपदं जगौ। मन्मुखेन वदन्त्येते नृपा इति समुद्धताः ॥११९॥
द्रोणे दुर्योधने कर्णे यादवे मगधेश्वरे। स्थितेष्वेतेषु भूपेषु कन्ययाकारि दुर्णयः ॥१२०॥
अयमज्ञातदेशीयो वाडवो वडवो यथा। अतृप्तस्तु कथं याति कन्यां लात्वा नृपे स्थिते ॥१२१॥
अस्मै वाथ वितृप्ताय काञ्चनं रत्नमुत्तमम्। दत्त्वैनमृजुभावेन विसर्जय सुसज्जितः ॥१२२॥
नृपयोग्यामिमां कन्यां यच्छ भूपाय भूमिप। अथवा संगरे सज्जः सद्यो भव नृपैः समम् ॥१२३॥
द्रुपदः कोपतोऽवादीन्न युक्तमिति भाषणम्। नृपाणां न्याययुक्तानां स्वयंवरविदां सदा ॥१२४॥
अयमेष वरः साध्व्या अस्या भूमिसुरो महान्। स्वयंवरविधौ लब्धो नान्यथा क्रियते मया ॥१२५॥
तुमुले तूलसादृश्ये कोऽधिकारो नृपेशिनाम्। यतः स्वयंवरे लब्धे नीचो वान्यः पतिः स्त्रियाः ॥१२६॥
संगरे संगरो योग्यो न तेषां तत्र चेन्मतिः। दास्यामि संगरातिथ्यं वितथोत्पथपातिनाम् ॥१२७॥
इत्याकर्ण्य क्षणाद्दूतश्चर्करीति स्म भूपतीन्। विज्ञप्तिं भूपसंदिष्टां परावृत्य परार्थवित् ॥१२८॥

लोगों को भड़काने लगा कि आप लोग ही कहिए कि इतने राजाओं के यहाँ होते हुए एक दीन ब्राह्मण को भला इस बात का अधिकार ही क्या था कि राजाओं की सभा में राधावेध करे। इसके बाद उसने और सब कौरवों से सलाह करके द्रुपद राजा के पास चन्द्र नाम के एक सुशिक्षित दूत को भेजा। उसने द्रुपद के पास जाकर नम्रता के साथ कहा कि महाराज ये सब तेजस्वी राजे मेरे द्वारा कहते है कि द्रोण, दुर्योधन, कर्ण, यादव, मागध इत्यादि सभी राजाओं के होते हुए कन्या ने जो एक दीन ब्राह्मण को वरा है यह बड़ा भारी अन्याय किया है ॥११५-१२०॥

आप ही सोचिए कि जो परदेशी है, जिसके देश का कुछ पता नहीं है और जो एक लोभी ब्राह्मण है जैसे कि और-और ब्राह्मण होते हैं तव वह इतने राजाओं के रहते हुए यहाँ से कन्या-रत्न को कैसे ले जा सकता है। अतः आप इस लोभी ब्राह्मण को कुछ रत्न वगैरह भेंट में देकर सीधी-साधी बातों से टाल दीजिए और राजा के योग्य इस कन्या को किसी राजा के हवाले कीजिए। यदि यह बात आपके काबू की न हो तो आप इन राजाओं के साथ युद्ध करने को तैयार होइए। चंद्र दूत के मुँह से राजाओं के अभिप्रायों को सुनकर क्रोध में आ द्रुपद ने उत्तर में कहा कि न्याय के जानकार और स्वयंवर विधि को जानने वाले राजाओं को अपने मुँह से ऐसे वचनों का निकालना ही अधर्म हैं। इस सम्बन्ध में और विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। साध्वी द्रौपदी ने स्वयंवर विधि से जिसको वरा है वही यह भूसुर (ब्राह्मण) इसका वर है। मैं इसमें कुछ भी फेर-फार नहीं कर सकता। इसमें युद्ध करने का इन राजाओं को अधिकार ही क्या है क्योंकि चाहे नीच हो या ऊँच स्त्री का वही वर होता है जिसे वह अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वरती है। इसलिए युद्ध की प्रतिज्ञा करना इनका ठीक नहीं है। हाँ, यदि वे न मानें और उन्हें युद्ध करने ही में मजा है तो मैं भी इन व्यर्थ ही बुरे मार्ग पर जाने वालों को युद्ध के लिए निमंत्रण देता हूँ ॥१२१-१२७॥

यह सुन दूत लौट कर दुर्योधन आदि के पास आया और उसने द्रुपद के संदेश को ज्यों का

दुर्योधनादयो भूपाः क्रुद्धा रणसमुद्धताः। अदापयन् रणातिथ्यसूचकं दुन्दुभिं भृशम् ॥१२९॥
श्रुत्वा भेरीस्वनं भूपा निर्ययुः साधनावृताः। दन्तावलबलोपेता वाहवाहनसंस्थिताः ॥१३०॥
रथस्थितिं भजन्तश्च केचित्कोदण्डपाणयः। खड्गखेटककुन्ताढ्याः पत्तयश्च मदोद्धताः ॥१३१॥
केचिदूचुस्तदा क्रुद्ध्वा गृह्यतां गृह्यतां त्वरा। कन्या निर्धाट्यतां धृष्टो वाडवो यो मदोद्धुरः ॥१३२॥
मार्यतां द्रुपदो मानी समापाद्यापदां पदम्। इति शत्रुस्वरं श्रुत्वा चकम्पे द्रुपदात्मजा ॥१३३॥
प्रविष्टा शरणं तस्य नरस्य स्वेदिला सती। तादृक्षां तां समावीक्ष्याचख्यौ पवननन्दनः ॥१३४॥
मा बिभीहि भव स्वस्था पश्य मे भुजयोर्बलम्। करोमि क्षणतो दूरं वैरिणः पर्वतं गतान् ॥१३५॥
तदा कलकलो जज्ञे बलयोरुभयोरपि। कोदण्डचण्डबाणेन क्षुभ्यतो रणसंस्थयोः ॥१३६॥
समग्रं परसैन्यं तु संप्राप्तं शमनोपमम्। द्रुपदाद्याः समावीक्ष्याभूवन्संनद्धमानसाः ॥१३७॥
द्रुपदं प्रार्थयामास युधिष्ठिरद्विजोत्तमः। सास्त्रशस्त्रसमूहेन देहि पञ्चरथान्युतान् ॥१३८॥
श्रुत्वैते धृष्टद्युम्नाद्याश्चिन्तयन्ति स्वमानसे। अहो एते महामर्त्या याचयन्ते यतो रथान् ॥१३९॥

त्यों उन्हें सुना दिया। यह देख दुर्योधन आदि बड़े कुद्ध हुए और रण के लिए तैयार हो गये। उन्होंने उसी वक्त रण के आमंत्रण को सूचित करने वाली रण भेरी बजवा दी। जिसे सुनकर युद्ध के सब साधन से युक्त होकर राजा लोग निकल पड़े ॥१२८-१२९॥

वे हाथियों की विशाल सेना से युक्त और अपने-अपने वाहनों पर सवार थे। उनके साथ में जो योद्धा-गण थे उनमें कई रथों पर सवार थे, कोई अन्य-अन्य वाहनों पर थे तथा कोई पैदल थे। वे भाँति-भाँति के हथियार लिये हुए थे। कोई दंड लिये था, कोई ढाल तलवार बाँधे था और कोई भाला लिये थे। वे सभी मद से उद्धत हुए मन-मानी बातें करते जाते थे। कोई क्रोध में आकर कहते थे कि जल्दी से कन्या को पकड़ लो और इन दुष्ट तथा मतवाले ब्राह्मणों को यहाँ से मार भगा दो। यह सुनकर कोई मानी कहते थे कि ऐसा क्यों ? पहले मानी द्रुपद को ही पकड़ कर न मार डालो, जिसके कारण से यह सब झगड़ा खड़ा हुआ हैं। इस प्रकार शत्रुओं के शब्दों की सुनकर द्रौपदी काँप उठी। उसे पसीना आ गया। वह अर्जुन की शरण आ गई। उसको इस तरह घबड़ाई हुई देखकर भीम ने कहा कि तुम डरो मत। प्रसन्न होकर मेरी भुजाओं के पराक्रम को देखो। मैं अभी इन बैरियों को मार कर भगाये देता हूँ। मेरे मारे ये अभी एक क्षणभर भी यहाँ नहीं ठहर सकेंगे और पर्वत की गुफाओं की जाकर शरण लेंगे ॥१३०-१३५॥

इसके बाद रणांगण में आई हुई उभय पक्ष की सेनाओं में प्रचण्ड बाणों के छोड़ने का शब्द होने लगा और बड़ा भारी क्षोभ मच गया। यह देखकर कि यम के तुल्य शत्रु पक्ष की सारी की सारी सेना चढ़ करके युद्ध स्थल में आ पहुँची है, द्रुपद आदि भी युद्ध के लिए तैयार हो गये। इसी समय द्विजोत्तम युधिष्ठिर ने द्रुपद से प्रार्थना की कि आप हमें अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित पाँच रथ दीजिए। यह जानकर धृष्टद्युम्न आदि द्रुपद के पुत्रों ने मन ही मन सोचा कि ये लोग जो अस्त्र-शस्त्रों से सजे हुए रथ चाहते हैं इससे जान पड़ता है कि ये कोई महान् पुरुष हैं। इसके बाद धृष्टद्युम्न पाँचाली

धृष्टद्युम्नेन पाञ्चाली स्वरथे स्थापिता तदा। युधिष्ठिरो रथस्थोऽभाद्यथा सौधर्मदेवराट् ॥१४०॥
अर्जुनोऽपि सगाण्डीवः श्वेतवाजिरथे स्थितः। संनद्धो बलसंधानः शुशुभे स उपेन्द्रवत् ॥१४१॥
द्रुपदो विपदां दातुं वैरिणां संपदाकुलः। स्वर्णवर्मसुसंपन्नो रेजे मुकुटमण्डितः ॥१४२॥
तावता दुर्धरं सैन्यं परकीयं समागतम्। वीक्ष्य भीमः समुन्मूल्य महीरुहं दधाव वै ॥१४३॥
परेतराडिव क्रुद्धो जघानाग्रे स्थितान्नृपान्। हयान् हेषारवापन्नान्स गजान्गर्जनोद्यतान् ॥१४४॥
रथान्संचूर्य चक्रौघै रहितान्विदधे स च। तत्र कोऽपि नरो नासीद्यो भीमेन हतो न हि ॥१४५॥
स्वयं गर्जति गम्भीरगिरा भीमो गजेन्द्रवत्। परांस्तर्जति निष्कम्पो भूपान्कौणपवत् कृती ॥१४६॥
एवं रणाङ्गणे रम्ये रेमे भीमो मृगेन्द्रवत्। दलयन्निखिलं सैन्यं तृणलूश्च यथा तृणम् ॥१४७॥
मध्यस्थवर्तिनो भूपास्तदा दृष्ट्वा च पावनिम्। रममाणं शशंसुस्ते जयकारप्रदायिनः ॥१४८॥
भीमेन भज्यमानं तद्वीक्ष्य दुर्योधनो नृपः। उत्तस्थे तूर्यनादेन त्रासयन्निखिलान्रिपून् ॥१४९॥
कर्णोऽपि स्वगणैः सार्धं डुढौके च धनंजयम्। क्षिपन्विशिखसंघातान्विघ्नानिव सुसज्जितान् ॥१५०॥
बाणपूरैः प्रपूर्याशु पुष्कलं पुष्कलोदयः। कर्णो धनंजयेनामा युयुधे योद्धृसंगतः ॥१५१॥

(द्रौपदी) को अपने रथ में बैठाकर उसकी रक्षा करने लगा। इधर युधिष्ठिर रथ पर आरूढ़ हो सौधर्म इन्द्र के जैसे शोभने लगे और गांडीव धनुष लेकर अर्जुन सफेद घोड़ों के रथ पर सवार हो प्रतीन्द्र जैसा शोभने लगा। वह धनुष पर बाण चढ़ाये हुए था। इसी प्रकार द्रुपद भी सोने के कवच को पहिन कर वैरियों को कष्ट देने के लिए तैयार हुआ अपने वैभव और मुकुट से अपूर्व ही शोभा पाता था ॥१३६-१४२॥

इतने ही में शत्रु की दुर्द्धर सेना को चढ़ आई देखकर भीम एक वृक्ष को जड़ से उखाड़ उसके ऊपर दौड़ पड़ा और यम के समान क्रुद्ध हो उसने अपने आगे आने वाले राजाओं को, हींसते हुए घोड़ों को, गर्जते हुए हाथियों को मारा और रथों को चूर करके उन्हें चक्र-रहित कर दिया। बात यह है कि वहाँ ऐसा कोई भी नहीं बचा जो भीम के द्वारा अधमरा न कर दिया गया हो। इस समय भीम अपनी गंभीर वाणी के द्वारा गजेन्द्र के जैसा गर्जता था और यम की तुल्य निर्भय होकर शत्रुओं की दंड देता था। इस तरह सम्पूर्ण सेना को मारता पीटता हुआ भीम रमणीय रणांगण में सिंह के जैसा शोभता था और घास काटने वाला, जैसे घास को काटता जाता है उसी तरह वह भी शत्रुदल का संहार करता जाता था। भीम के ऐसे अपूर्व पराक्रम को देखकर वहाँ जो मध्यस्थ राजा थे वे उसकी जय-जय ध्वनि के साथ तारीफ करते थे ॥१४३-१४८॥

इस तरह भीम के द्वारा अपनी सेना को नष्ट हुई देखकर तूर्यनाद से सारे शत्रुओं को त्रास देता हुआ दुर्योधन उठा। उधर से सेना लेकर कर्ण भी धनंजय पर छूट पड़ा और उस वीर ने विघ्न समूह के जैसे बाणों को सब और छोड़कर सारे आकाश को बाणों से पूर दिया। इस प्रकार अपने योद्धाओं को लेकर उसने अर्जुन के साथ खूब भीषण युद्ध किया। उधर से पार्थ भी कर्ण के छोड़े हुए बाणों को बड़ी शीघ्रता के साथ छेदता जाता था क्योंकि वह लक्ष्यवेध करने में बड़ा भारी कुशल था। अतः जैसे वायु मेघों को उड़ा देता है वैसे ही वह कर्ण के बाणों को वारण करता था। उसके ऐसे अपूर्व धनुष-

कर्णमुक्तान्शरान्पार्थः क्षणोति स्म क्षणान्तरे। स दक्षो लक्ष्यसंवेधे मातरिश्वा यथा घनान् ॥१५२॥
धानुष्कं वीक्ष्य दुर्लक्ष्यं कर्णोऽभूत्तस्य विस्मितः। ईदृक्षं भूतले दृष्टं धानुष्कं क्वापि नो मया ॥१५३॥
कर्णोऽभाणीद्द्विजेश त्वं धनुर्विद्याविशारदः। चारु चारगुणं चर्च्यं धानुष्कं दर्शितं त्वया ॥१५४॥
पुनर्विहस्य चापेशोऽगदीद्गद्गदनिस्वनः। दधानो धन्वसंधानं पिधाय तं शरोत्करैः ॥१५५॥
भो द्विजेश त्वया कुत्र धनुर्विद्या महोन्नता। लब्धा लब्धिसमा रम्या चिच्चमत्कारकारिणी ॥१५६॥
नाकात्पाकात्स्वपुण्यस्य पतितः किं द्विजोत्तम। अस्माभिर्न श्रुतः कोऽपि धनुर्वेदी त्वया समः ॥१५७॥
त्वं किं शक्र उतार्को वा वीतहोत्रो भवान्किमु। अर्जुनः किं रणौद्धत्यं दधानो वा मृतोत्थितः ॥१५८॥
वीरोऽवादीद्धसन्राजन्धरादेवोऽहमत्र च। पार्थस्य सारथीभूय स्थितो धानुष्कतां गतः ॥१५९॥
कर्णो बभाण भो विप्र पूर्वं मुञ्च शरोत्करान्। लभस्वाद्य ससामर्थ्यान्मामकीनान् शरान्वरान् ॥१६०॥
इत्युक्त्वा तौ रणे लग्नौ कर्णाकृष्टशरासनौ। हृदयं दारयन्तौ च यथा सिंहकिशोरकौ ॥१६१॥
ध्वजं स ध्वंसयामास कार्णं पार्थः समर्थवाक्। छत्रं संछन्नसप्ताश्वं कवच वचनं यथा ॥१६२॥
द्रुपदो विपदां दातुमुत्तस्ते सर्वविद्विषाम्। छादयन्कौरवीं सेनां विशिखैः सुखहारिभिः ॥१६३॥

बाण-कौशल को देखकर कर्ण को बड़ा भारी अचम्भा हुआ। वह मन ही मन सोचने लगा कि मैंने पृथ्वी पर आज तक ऐसा धनुष-बाण चलाने वाला कोई पुरुष नहीं देखा। कर्ण अपने हृदय के भावों को न रोक सका। वह बोल उठा कि द्विजेश, तुम धनुष-विद्या के बड़े अच्छे पंडित हो। तुमने आज धनुष-विद्या के कौशल को दिखाने में कमाल ही कर डाला। हम तुम्हारी इस कुशलता की प्रशंसा ही नहीं कर सकते। यह तुम्हारी कुशलता संसार भर द्वारा स्तुत्य है ॥१४९-१५४॥

इसके बाद कर्ण ने बाणों से अर्जुन को पूरते हुए हँसते-हँसते कहा कि द्विजेश, भला तुमने यह महोन्नत विद्या कहाँ पर सीखी है जो तुम्हारे आत्मा के जैसे विलक्षण चमत्कार को दिखाती है और मन को मोहित करती है। तुम्हारी यह विद्या लब्धि के तुल्य है। हे द्विजोत्तम! क्या तुम पुण्य के उदय से स्वर्ग से तो यहाँ नहीं आये हो क्योंकि मैंने तुम्हारे जैसा धनुष-विद्या का पंडित और कहीं नहीं देखा। तुम इन्द्र हो या सूरज, अथवा अग्नि हो या रण में उद्धतपने को दिखाने वाले मरे हुए अर्जुन ही हो यहाँ जी कर आ गये हो ॥१५५-१५८॥

सच कहो तुम हो कौन? कर्ण के इन प्रश्नों को सुनकर हँसता हुआ अर्जुन बोला कि राजन्! मैं ब्राह्मण ही हूँ, लेकिन पार्थ का सारथी रह कर मैंने यह धनुषविद्या पाई है और इसके बल यहाँ ठहर सका हूँ। इस पर कर्ण ने कहा कि अच्छी बात है विप्र, पहले तुम अपने उत्तम से उत्तम बाणों को चला लो और फिर बाद अपनी सामर्थ्य से मेरे महान् शरों को सहो। इतनी बातचीत के बाद वे दोनों सिंह की तरह पराक्रमी योद्धा कान तक धनुषों को खींच-खींच कर युद्ध करने लगे और एक दूसरे के हृदय को विदारने लगे। अन्त में पार्थ ने कर्ण के वचनों की तरह उसकी ध्वजा, सूरज की गर्मी को दूर करने वाले छत्र और कवच को छेद डाला ॥१५९-१६२॥

उधर सारे शत्रुओं को आपदा के पंजे में फँसाने के लिए द्रुपद ने कौरवों की सारी सेना को

धृष्टद्युम्नादयो वीरा हन्तुकामाः स्ववैरिणः। उत्तस्थिरे स्थिरस्थैर्याः कुर्वन्तो रणखेलनम् ॥१६४॥
दुर्योधनं पुरस्कृत्य भीमसेनो रथस्थितः। युयुधे वैरिणो वेगात्संछिदन्कवचं वरम् ॥१६५॥
पाण्डवीयैः शरैर्विद्धो न को नाभून्महाहवे। मर्त्या मतङ्गजो मत्तो घोटको वा समुत्कटः ॥१६६॥
भज्यमानं बलं वीक्ष्य निजं गाङ्गेयभूपतिः। जहार रणशौण्डीर्यं शुण्डानां रणवेदिनाम् ॥१६७॥
पितामहं समालोक्य रणस्थं रणकोविदः। आगच्छन्तं महाबाणै रुणद्धि स्म धनंजयः ॥१६८॥
पार्थः पञ्चास्यवल्लग्नो गाङ्गेयं च महागजम्। कुर्वाणो व्यर्थतां तस्य बाणानां बाणकोविदः ॥१६९॥
तावद् द्रोणोऽगदीद्वाक्यं दुर्योधनमहीपतिम्। रेणुभिः पश्य खं छन्नं तुरंगमखुरोत्थितैः ॥१७०॥
इमं पश्य नरं कंचिद्रणकेलिक्रियाकरम् अर्जुनं विद्धि नेदृक्षान्यत्र चापविदग्धता ॥१७१॥
मृषा विद्धि विदग्धास्ते पाण्डवा जतुवेश्मनि। दग्धा इति यतः प्राप्ता जीवन्तः संयुगेऽप्यमी ॥१७२॥
श्रुत्वा दुर्योधनो भूपो विकम्प्याकम्प्रमानसः। मूर्धानं समुवाचेति हसित्वा विस्मिताशयः ॥१७३॥
द्रोण विद्रावणं वाक्यं किमुक्तं भवताप्यहो। जतुगेहे मया दग्धा कुतस्ते पुनरागताः ॥१७४॥
अर्जुनोऽपि तथा तत्र दग्धः कथमिहागतः। धनंजयाभिधानं त्वं न मुञ्चसि तथाप्यहो ॥१७५॥

बाणों की बरसा करके पूर दिया। इसी तरह बैरियों को नष्ट करने के लिए धृष्टद्युम्न आदि धीर वीर स्थिरता के साथ रण-स्थल में युद्ध करने लगे एवं रथ पर सवार होकर भीमसेन ने दुर्योधन का सामना किया और बात ही बात में उसका वखतर छेद डाला। इस महा समर में ऐसा कोई भी मनुष्य, मत्त हाथी और महान् उत्कट घोड़ा न बचा जो कि पाण्डवों के बाणों से न वेधा गया हो। अपनी सेना के इस तरह नष्ट होती हुई देखकर भीष्म पितामह समर के लिए तैयार हुए और उन्होंने युद्ध-कुशल शरों की रण-कुशलता को अपनी कुशलता से भुला दिया ॥१६३-१६७॥

उनको इस तरह युद्धस्थल में उतरे हुए देखकर युद्ध-कुशल अर्जुन ने अपने शरों द्वारा उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया और वह पार्थ केसरी पितामह के बाणों को अपने रण-कौशल से निष्फल करने लगा। इतने में द्रोणाचार्य ने दुर्योधन से कहा कि राजन्! देखो, घोड़ों की टापों से उठी हुई धूल से आकाश कैसा ढक गया है और रण में अद्भुत क्रीड़ा करने वाला यह पराक्रमी कैसी रण-कुशलता दिखा रहा है। राजन्! जान पड़ता है यह अर्जुन ही है क्योंकि अर्जुन के सिवा और किसी में इतनी धनुष-कुशलता आ कहाँ से सकती है। यह बिल्कुल ही झूठ है कि विद्वान् पाण्डव लाख के महल में जल गये क्योंकि वे जले नहीं किन्तु जीते जागते ही वहाँ से निकल गये और वे ही ये युद्ध में आ गये हैं ॥१६८-१७२॥

यह सुनकर दुर्योधन का चित्त बड़ा व्याकुल हुआ और मस्तक घूम गया। वह चकित हो हँसता-हँसता बोला कि वाह गुरुराज! आप भी अच्छी बातें कहते हैं। भला, जब पाण्डव लाख के महल में ही जल चुके तब फिर वे यहाँ कहाँ से आ गये। उनके साथ ही अर्जुन भी वहीं जल चुका था फिर वह कहाँ से आया। गुरुवर! आश्चर्य है कि इतना होते हुए भी आप धनंजय के नाम की रटंत को नहीं छोड़ते हैं। मैंने तो संसार में आपके मोह का महत्व एक निराला ही देखा जो आप मरे हुए अर्जुन को निर्द्वंद्व

महीयो मोहमाहात्म्यं भवतां भुवि वीक्षितम्। यतः स्मरसि निर्द्वन्द्वं मृतार्जुनयुधिष्ठिरौ ॥१७६॥
द्रोणः श्रुत्वा करे कृत्वा धनुषं शरसंयुतम्। धनंजयमुवाचेदं सज्जो भव त्वमाहवे ॥१७७॥
द्रोणं प्राप्तं समावीक्ष्य पार्थो व्यर्थीकृताहितः। वीरोऽथ तुमुले चित्तेऽचिन्तयच्चेति विग्रहे ॥१७८॥
एष श्रीमान्समभ्यर्च्यो गुरुर्गुणगणाग्रणीः। यस्य प्रसादतो लब्धा धनुर्विद्या मयामला ॥१७९॥
यस्य प्रसादतो लब्धः संयुगे सुजयो महान्। तेन सार्धं कथं युद्धे युद्ध्यते महता मया ॥१८०॥
गुरूंश्च गणनातीतगुणान्सद्धितकारिणः। ये विस्मरन्ति ते पापाः क्व यास्यन्ति न वेद्म्यहम् ॥१८१॥
चिन्तयित्वेति चित्ते स न लक्ष्यः सप्तपादकम्। उत्सृज्य नमनं चक्रे द्रोणस्य श्रीधनंजयः ॥१८२॥
पुनः स प्रेषयामास मार्गणं गुणतो गुणी। सलेखं यत्तदङ्के सोऽपतत्पार्थेन प्रेषितः ॥१८३॥
सलेखं विशिखं वीक्ष्य लात्वा द्रोणोऽप्यवाचयत्। लेखं लेखार्थसंजातहर्षोत्कर्षितमानसः ॥१८४॥
द्रोणं स्वगुरुमानम्य भक्त्या नम्रमहाशिराः। कुन्तीसुतोऽर्जुनश्चाहं भवच्छिष्यो गुणाम्बुधेः ॥१८५॥
चर्करीमि सुविज्ञप्तिं श्रूयतां सावधानतः। निष्कारणं मया क्षिप्ता योद्धारः सकला रणे ॥१८६॥
निष्कारणं वयं दग्धुमारब्धाः कौरवैः खलैः। कथं कथमपि स्वामिंस्तस्माद्गेहाद्विनिर्गताः ॥१८७॥
देशान्भ्रान्त्वा पुनः प्राप्ता माकन्दीं सातकन्दलीम्। अत्रपुण्यप्रभावेन वयं प्राप्तास्त्वदङ्घ्रिकौ ॥१८८॥
अपसृत्य क्षणं तिष्ठाधुनान्तेवासिनस्तव। भुजयोबलमीक्षस्व सार्थकोऽहं भवामि यत् ॥१८९॥

हुए याद करते रहते हैं ॥१७३-१७६॥

दुर्योधन की यह मर्म भेदी वाणी सुनकर द्रोणाचार्य ने हाथ में धनुष-बाण लेकर अर्जुन से ललकार कर कहा कि वीरवर, युद्ध के लिए तैयार हो। अपने परम गुरु द्रोणाचार्य को सामने देखकर धनंजय ने चित्त में विचारा कि यह तो मेरे पूज्य गुरु हैं, गुणों के समुद्र हैं। इन्हीं के प्रसाद से मैंने इस युद्ध में विजय पाई है। फिर मैं इतना विचारशील होकर इनके साथ कैसे युद्ध करूँ। मैं नहीं जानता कि वे पापी कहाँ जायेंगे, कौन-सी दुर्गति में पड़ेंगे जो असंख्य गुणों के भण्डार और हितैषी गुरुओं को भूल जाते हैं ॥१७७-१८१॥

यह विचार कर धनंजय ने सात पैंड़ आगे जाकर द्रोण के चरणों में नमस्कार किया और द्रोण के पास लिखे हुए पत्र के साथ एक बाण छोड़ा। बाण जाकर द्रोण के पास गिरा। उसे देखकर द्रोण ने उठा लिया और उसमें बँधे हुए पत्र को बाँचा। पत्र पढ़कर हर्ष के उत्कर्ष से द्रोण का मन खिल उठा। उस पत्र में लिखा था कि ''परम गुरु द्रोणाचार्य के चरणों में मेरा मस्तक नम्र है। मैं कुन्ती का पुत्र और आपका गुणसागर शिष्य हूँ। गुरो! मेरा नाम अर्जुन है। मैं आपसे एक प्रार्थना करता हूँ। उसे आप सुनिए। वह यह कि मैंने बिना कारण ही जो इस रण में इतने योद्धाओं को मारा है इसका मुझे बड़ा दुख है। गुरो! दुष्ट कौरवों ने हम लोगों की बिना कारण ही जला देने का उपक्रम आरम्भ किया था परन्तु पुण्य-योग से किसी तरह हम उस महल से निकल आये। वहाँ से नाना देशों में घूमते हुए सुख के सदन-रूप इस माकंदीपुरी में आये ॥१८२-१८८॥

पुण्य से आज यहाँ हमें आपके चरणों के दर्शन हुए, इसका हमें बड़ा आनन्द है। अन्त में

दुर्योधनादिभूपानां पाण्डवज्वालनोद्भवम्। दर्शयामि फलं द्रोणस्तमवाचयदित्यलम् ॥१९०॥
ततोऽश्रुजलसंपूर्णनेत्रो द्रोणो बभाण च। कर्णदुर्योधनादिनामग्रे पत्रोद्भवं खलु ॥१९१॥
कर्णोऽवोचद्विना पार्थं सामर्थ्यं कस्य संभवेत्। ईदृशं यो रणे छेत्तुं क्षमः शत्रून् शरैः परैः ॥१९२॥
एको भीमो रणं सर्वं संहर्तुं च सदा क्षमः। युधिष्ठिरादयश्चान्ये समर्थाः सर्ववस्तुषु ॥१९३॥
इति वृत्तान्तसर्वस्वं निशम्य कौरवाग्रणीः। इतिकर्तव्यतामूढो विलक्षोऽभूदिह क्षणम् ॥१९४॥
पाण्डवानां समभ्यर्णं द्रोणस्तावदगाद्भृशम्। ते तं वीक्ष्य समालिङ्ग्य नतास्तत्पादपङ्कजम् ॥१९५॥
वृत्तान्तं पूर्वजं सर्वं ते तं वाचीकथन्मुदा। द्रोणो निवारयामास युद्धं बन्धुसमाश्रितः ॥१९६॥
अबीभणत्पुनर्द्रोणो यूयं शृणुत मद्वचः। कौरवाणामयं दोषो न ग्राह्यो हितवेदिभिः ॥१९७॥
रोषो विशेषतः पुत्रा न कर्तव्यो हितेच्छुभिः। भवतां पुण्यमाहात्म्यं भुवने कोऽत्र वर्णयेत् ॥१९८॥
हुताशनज्वलद्गेहान्निर्गतास्तन्महाद्भूतम्। देशे देशे गता यूयं कन्याद्यैः पूजिताश्चिरम् ॥१९९॥
एवं वार्तां प्रकुर्वाणा यावत्सन्ति महीभुजः। तावद्गाङ्गेयसत्कर्णकौरवाश्च समाययु ॥२००॥
अन्योन्यं मिलिताः सर्वे नम्राश्च ते यथायथम्। अगर्वाः कौरवास्तस्थुरधोवक्त्रा मदच्युताः ॥२०१॥

आपसे मेरा यही नम्र निवेदन है कि आप थोड़ी देर ठहर जाइए और चुपचाप अपने इस विद्यार्थी की भुजाओं के बल को देखिए ताकि मैं भी सार्थक हो जाऊँ। दुर्योधन आदि ने जो पाण्डवों की जलाकर मारना चाहा था, इन्हें भी इनकी करतूत का फल चखा दूँ'' ॥१८९-१९०॥

उस पत्र को पढ़कर द्रोणाचार्य की आँखों में पानी भर आया। उन्होंने जाकर कर्ण और दुर्योधन आदि से पत्र का सारा हाल कहा। पत्र को सुनकर कर्ण ने कहा कि सच है कि अर्जुन के बिना और किसमें ऐसी सामर्थ्य थी जो इस तरह रण में बाणों के द्वारा शत्रुओं के सिरों को छेदता ? इसी तरह एक भीम ही सारे रण का संहार करने के लिए सदा समर्थ है तथा युधिष्ठिर आदि पाण्डव भी इसके लिए खूब समर्थ हैं। यह सब हाल सुनकर कौरवाग्रणी दुर्योधन क्षणभर के लिए इति-कर्तव्यविमूढ़ हो चकित सा रह गया। इतने में ही द्रोण पाण्डवों के पास पहुँचे। पाण्डवों ने उनके दर्शन कर, उनका आलिंगन कर उनके चरण कमलों में नमस्कार किया और अपने पर बीता हुआ सारा हाल कह सुनाया। अन्त में भाई-भाइयों में होने वाले इस महान् युद्ध को द्रोणाचार्य ने रोक दिया। इसके बाद उन्होंने पाण्डवों से कहा कि तुम लोग मेरी एक बात सुनो। वह यह कि तुम लोगों को कौरवों के इस दोष पर ध्यान नहीं देना चाहिए क्योंकि तुम जानते हो कि हित किसमें है। पुत्रो! तुम लोगों को अब रोष करना उचित नहीं। कारण रोष करने से कुछ हित साधन नहीं होता। तुम लोगों के पुण्य के माहात्म्य को कौन कह सकता है कि जिसके प्रभाव से जलते हुए महल में से भी तुम जीते जागते निकल आये और जहाँ-जहाँ गये वहीं-वहीं कन्या आदि सम्पदा के द्वारा पूजे गये। पाण्डव इस तरह द्रोणाचार्य के साथ वार्तालाप कर ही रहे थे कि इतने में भीष्म पितामह, कर्ण आदि कौरव राजा भी वहीं आ पहुँचे और वे सब प्रीति के साथ आपस में नम्रता-पूर्वक यथायोग्य रीति से मिले-भेंटे तथा गर्व-रहित हुए कौरव नीचा मुँह करके चुपचाप बैठ गये और वे बड़े लज्जित हुए ॥१९१-२०१॥

गाङ्गेयद्रोणकर्णाद्यैः पाण्डवाः कौरवाः क्षमाम्। अन्योन्यं कारितास्तूर्णं सतां योगः शुभाप्तये ॥२०२॥
दुर्योधनो धराधीशः पुनराह नरेश्वराः। ज्वलनो न मया दत्तस्तत्र साक्षी जिनेश्वरः ॥२०३॥
पाण्डवानां गृहे येन दत्तो हि हुतभुक् खरः। स एव नरकं घोरं यातु जन्तुप्रपीडकः ॥२०४॥
समीचीनमिदं जातं युष्माकं यः समागमः। अस्माकं पुण्ययुक्तानामपवादनिवारकः ॥२०५॥
यज्जन्मान्तरजं कर्म तन्निषेद्धुं हि न क्षमः। कश्चिद्येन सुकीर्तिश्चापकीर्तिर्जायते नृणाम् ॥२०६॥
इति दौष्ट्यं समाच्छाद्य छद्मना मुखमिष्टताम्। अभजत्कौरवो दुष्टो दौष्ट्यं केन हि हीयते ॥२०७॥
इति सर्वनरेन्द्राणां चित्तेषु तोषमुल्बणम्। अकुर्वन्कौरवास्तूर्णं सर्वतोषप्रदायिनः ॥२०८॥
कुम्भकारगृहं प्राप्ताः कुन्तीं नेमुर्नराधिपाः। भक्तिनम्रा विशेषेण कुलवैपुल्यपालिनीम् ॥२०९॥
धार्तराष्ट्राः पुनः कुन्तीं जननीं नतमस्तकाः। नत्वा संतोषमुत्पाद्य पुरस्तस्थुः स्थिराशयाः ॥२१०॥
चलन्नेत्रा तदावोचत्कुन्ती दुर्योधनं प्रति। धृतराष्ट्रमहावंशे त्वया दत्ता मषिः कथम् ॥२११॥
त्वया त्ववसितं किं भो दुर्योधनमहीपते। स्ववंशज्वालनं वंशक्षयकारणमुत्कटम् ॥२१२॥
ये निर्धूय स्वयं वंशं वाञ्छन्ति परमं सुखम्। त एव निधनं यान्ति वह्नितो वेणवो यथा ॥२१३॥
राज्यार्थश्चार्थिभिः साध्योऽभ्यर्थितः कृच्छ्रदो भवेत्। अन्यथानर्थसंपातो दुःखाय परिकल्पते ॥२१४॥

इसके बाद कर्ण, द्रोण, भीष्म (गांगेय) आदि ने कौरवों की और पाण्डवों की परस्पर में क्षमा करवाई–उनके हृदय का मैल दूर करवाया। यह ठीक ही है कि सज्जनों का समागम शुभ कृत्यों के लिए ही होता हैं। अन्त में दुर्योधन ने कहा कि लाख के महल में मैंने आग नहीं लगाई और इस विषय में मैं श्रीजिनेन्द्र की साक्षी देता हूँ। मैं तो यही कहता हूँ कि जिस दुष्ट ने महल में आग लगाई हो वह जन्तु–पीड़क पुरुष घोरातिघोर नरक में पड़े परन्तु यह बड़ा अच्छा हुआ जो आप लोगों का समागम फिर हो गया और इससे हम लोगों का अपवाद दूर गया। नहीं तो लोग हमें ही कलंक लगा रहे थे कि इन्होंने पाण्डवों को जला दिया है। यह सच है कि पहले जन्म में किये हुए कर्म को कोई रोक नहीं सकता चाहे फिर उससे जीवों की कीर्ति हो या अपयश। इस तरह बहाना करके कौरवों ने अपना दोष छिपाकर मुख पर मीठापन दिखाया। सच है दुष्टों की दुष्टता घट नहीं सकती। इस प्रकार कौरवों ने सब राजाओं के दिलों में जैसे बना सन्तोष करा दिया ॥२०२–२०८॥

इसके बाद कुँभार के घर जाकर भक्ति–भाव से नम्र राज–गण ने कुल की मर्यादा पालने वाली कुन्ती को बड़े विनय से नमस्कार किया। इसी प्रकार दुर्योधन आदि भी कुंती को मस्तक झुका नमस्कार कर और उसे सन्तोषित कर स्थिर–चित्त से उसके आगे बैठ गये। तब कुन्ती ने दुर्योधन से कहा कि भाई! धृतराष्ट्र के इस महान् वंश में तुमने न जाने क्यों कालिमा लगाई। दुर्योधन! तुमने यह क्या किया जो अपने वंश को भी जलाने का यत्न कर वंश के नाश ही की चेष्टा की। देखो! जो अपने कुटुम्ब का नाशकर उत्तम सुख चाहते हैं वे वैसे ही कुमौत मरते हैं जैसे कि आग से हरे बाँस जलकर खाक हो जाते हैं। यह राज्य भी तो तभी तक सुख देता है जब तक कि दिल में इसकी चाह रहे। जब दिल से इसकी चाह निकल जाती है तव यही उसे संताप, दुख देने वाला हो जाता है और बड़े–बड़े अनर्थ

तृणाग्रबिन्दुवद्राज्यं नश्वरं किं तदर्थिभिः। वंश्यान्हत्वा समिष्येत तत्तेषां जीवितं हि धिक् ॥२१५॥
धार्तराष्ट्रा इदं श्रुत्वाधोवक्त्राः कृष्णतां गताः। शशंसुस्तद्गुणांस्तूर्णमपकीर्तिं समागताः ॥२१६॥
द्रुपदोऽपि ततः शीघ्रं विवाहार्थं समुद्यतः। सुन्दरे मन्दिरे भूपान्पाण्डवान्समवासयत् ॥२१७॥
ततस्तूर्यनिनादेन जयकोलाहलैः समम्। विवाहमण्डपं प्राप पार्थः सद्रथसंस्थितः ॥२१८॥
सुमुहूर्ते शुभे लग्नेऽधिवेदि स च मण्डपे। पाणिग्रहणमाभेजे द्रौपद्याः खचरीसमम् ॥२१९॥
दध्वनुः सुन्दरध्वानाः पटहाः प्रकटास्तदा। नेदुर्दुन्दुभयो नित्यं ननृतुर्नर्तकीगणाः ॥२२०॥
संमानिता महीशाना महीशेन महात्मना। द्रुपदेन सुवस्त्राद्यैर्भूषणैर्वरवस्तुभिः ॥२२१॥
तद्विवाहं समावीक्ष्य भीष्मकर्णादिभूमिपाः। स्वं स्वं मन्दिरमासेदुः सुन्दरं युवतीजनैः ॥२२२॥
चतुरङ्गबलोपेताः पाण्डवाः कौरवास्तदा। हस्तिनागपुरं चेलुश्चञ्चलाश्चतुराश्च ते ॥२२३॥
उत्तोरणं महाकुम्भशोभाभ्राजिष्णुमन्दिरम्। विविशुः सर्वशोभाढ्यं पुरं ते पाण्डुनन्दनाः ॥२२४॥
या संशुद्धा विबुधशुभधीः शीलसंपत्समेता दीप्यद्रूपा वरगुणनरं सेवते पञ्च नैव।
तत्संसक्ता भवति हि सती कथ्यते चेत्कथं सा साध्वीनां वै प्रथममुदिता द्रौपदी वंशभूषा ॥२२५॥

का कारण हो जाता है क्योंकि यह राज्य वास्तव में तृण के अग्र भाग में लगी हुई ओस की बूँद के समान ही नष्ट होने वाला है। फिर न जाने इसको चाहने वाले क्यों अपने वंश के लोगों को भी मार कर इसे चाहते हैं। ऐसे स्वार्थियों के जीवित को धिक्कार है–एक बार नहीं, सौ बार नहीं किन्तु असंख्य बार अनंत बार धिक्कार है। यह सुनकर दुर्योधन आदि का मुँह काला पड़ गया और लज्जा के मारे वे नीचा मस्तक करके रह गये ॥२०९-२१६॥

इसके बाद जब द्रुपद को यह जान पड़ा कि ये ब्राह्मण वेषधारी पाण्डव हैं तब उसे बड़ी खुशी हुई और वह अतिशीघ्र द्रौपदी का विवाह करने को तैयार हो गया। उसने पाण्डवों को एक सुन्दर महल में ठहराया। इसके बाद रथ में सवार होकर बाजों के शब्द और जय कोलाहल के साथ अर्जुन विवाह-मण्डप में आया और उसने मण्डप की वेदी के ऊपर शुभ मुहूर्त और शुभ लग्न में उस विद्याधर की पुत्री सहित द्रौपदी का पाणिग्रहण किया ॥२१७-२१९॥

इस समय नगाड़ों के सुन्दर शब्द हुए, दुंदुभियों की गर्जना हुई और नटियों के मनोरम नृत्य हुए। कान्तिशाली द्रुपद राजा ने इस समय आगन्तुक राजाओं का दिव्य वस्त्राभूषण और उत्तम-उत्तम वस्तुओं द्वारा खूब आदर सत्कार किया। इसके बाद भीष्म, कर्ण आदि अर्जुन के विवाहोत्सव को देखकर युवतिजनों के साथ अपने-अपने सुन्दर महलों में चले गये और चतुरंग सेना सहित चतुर पाण्डव तथा कौरव हस्तिनापुर चले आये ॥२२०-२२३॥

वहाँ पाण्डवों ने बड़े ठाट-बाट के साथ नगर में प्रवेश किया। इस समय हस्तिनापुर में घर-घर तोरण बाँधे गये थे और द्वार-द्वार पर सुन्दर शोभाशाली कलश रक्खे गये थे। तात्पर्य यह कि इस वक्त हस्तिनापुर में खूब ही शोभा की गई थी। सती द्रौपदी पवित्र थी, बड़ी विदुषी थी, शील-सम्पति से युक्त थी, रूपसौन्दर्य की सीमा थी। वह उत्तम गुणों के आकर एक अर्जुन को ही भजती थी, अन्य

कश्चिल्लोको वदति समदो द्रौपदी दिव्यमाप्य भर्त्रा पञ्चाप्यनुमतिगता सेवते यान्सुशीला।
एकासक्ता विपुलमतयः पाण्डवास्ते कथं स्यु-र्दारिद्राणां भवति वनिता भिन्नभिन्ना सदैव ॥२२६॥
पञ्चासक्ता कथमपि भवेद् दौपदी चेत्सतीत्वम् तस्याः स्यात्किं विमलमतयश्चेति चित्ते विचार्य।
तां संशुद्धां सुधृतिधिषणाः साधयन्तां वदन्ति एवं तस्या निजमतरतास्ते क्व यास्यन्ति पापाः ॥२२७॥
यः शीलं श्रुतिसातदं शिवकरं सत्सेव्यमाशंसितम् सद्भिः संगसुधारसैकरसिकं संसारसारं सदा।
सत्कुर्वीत समाश्रयत्यसमकं सोऽशोकशङ्काशमम् संवित्तिं च सुवृत्तमेव सकलं संसक्तसंगापहम् ॥२२८॥

इति श्रीपाण्डवपुराणे भारतनाम्नि भट्टारकश्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपालसाहाय्यसापेक्षे पार्थद्रौपदीविवाहपाण्डवहस्तिनागपुरसमागमवर्णनं नाम पञ्चदशं पर्व ॥१५॥

पाण्डवों की नहीं क्योंकि यदि वह और-और पाण्डवों पर भी आसक्त-चित्त होती तो सती कैसे कही जाती तथा उस वंश-भूषण का नाम सारी सतियों में पहले क्यों लिया जाता ॥२२४-२२५॥

इस सम्बन्ध में कोई मत्त पुरुष कहते हैं कि द्रौपदी दिव्य रूप-सम्पत्ति को पाकर कामासक्त हो गई थी, अतएव उसने पाँचों पाण्डवों की अपना हृदय दिया परन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जिन पाँचों को वह भजती थी वे तो बड़े सुशील और निर्मल-बुद्धि थे। फिर वे कैसे एक पत्नी पर आसक्त चित्त हुए। वे तो स्वयं श्रीमान् थे, उनके लिए कोई कमी नहीं थी। जब दीन, दरिद्र लोगों के भी जुदी-जुदी स्त्रियाँ होती हैं तब ऐसे समझदार पाँचों के बीच एक ही स्त्री हो यह आश्चर्य है। हम पूछते हैं कि यदि मान भी लिया जाये कि द्रौपदी पाँचों पर आसक्त थी तो क्या फिर कोई उसे सती कहने के लिए तैयार हो सकता है। नहीं, हरगिज नहीं। बुद्धिमानों को इस पर विचार करके उसे शुद्ध और गंभीर-बुद्धि साध्वी ही कहना चाहिए। जो अपने मत के अन्ध श्रद्धालु ऐसी सती को दोष देते हैं भगवान् जाने वे पापी कौन-सी दुर्गति में पड़ेंगे ॥२२६-२२७॥

जो जीव ज्ञान और सुख को देने वाले, मोक्ष के मार्ग, उत्तम पुरुषों द्वारा प्रशंसा और सेवा किये गये, अमृत का स्थान और सारे संसार में सार वस्तु शील-धर्म का आदर करता है वह कभी शोक का पात्र नहीं होता और उसे कभी क्रोध आदि कषायें भी नहीं सता सकतीं। उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का लाभ होता है, जिससे कि उसका सारा मोह, अज्ञान और विषय-राग नष्ट हो जाता है ॥२२८॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचंद्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में अर्जुन ओर द्रौपदी का विवाह और हस्तिनागपुर में पाण्डवों के प्रवेश का वर्णन करने वाला पंद्रहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१५॥

❑ ❑ ❑

षोडशं पर्व

श्रेयोजिनं सदा श्रेय:श्रेयांसं श्रेयसे श्रये। सश्रियं श्रितलोकानां श्रेय:कर्तारमुन्नतम् ॥१॥
पाण्डवा: कौरवास्तत्र राज्यार्धार्धं विभज्य च। वसुंधरां हयांस्तुङ्गान्दन्तिनो मदमेदुरान् ॥२॥
रथान्सार्थांस्तथा योधॄन्लक्ष्मीकोशं परं समम्। अर्धार्धं भुञ्जते सर्वेऽन्योन्यं प्रीतिमुपागता ॥३॥
अथेन्द्रपथमावास्य स्थानीयं तत्र सुस्थिर:। युधिष्ठिर: स्थिरं तस्थौ स्थगिताशेषशात्रव: ॥४॥
तत्रैवावास्य विपुलं पुरं श्रीविपुलोदर:। नाम्ना तिलपथं पथ्यं संतस्थे पृथुमानस: ॥५॥
पार्थ: सुनपथे व्यर्थीकुर्वन्वैरिनरेश्वरान्। पालयन्परमां पृथ्वीं तत्र तस्थौ स्थिराशय: ॥६॥
नकुल: सफलं कुर्वन् कुलं जलपथस्थित:। वणिक्पथपुरे प्रीत्या सहदेव: स्थितिं व्यधात् ॥७॥
एवं स्वस्वनियोगेन पाण्डवा: परमोदया:। भुञ्जते परमां लक्ष्मीं सदा सातसमैषिण: ॥८॥
युधिष्ठिरेण भीमेन याश्च पूर्वं पुरे पुरे। परिणीता: समानीता राजपुत्र्यस्तदाखिला: ॥९॥
कौशाम्ब्याश्च समानीय विन्ध्यसेनसुतां पराम्। तया युधिष्ठिर: प्राप परमं पाणिपीडनम् ॥१०॥
भीमादयो भुवं पान्तो युधिष्ठिरनियोगत:। भजन्त: परमं सातं तस्थु: सेवकवत्सदा ॥११॥
धनैर्धान्यैर्हिरण्यैश्च न हि तेषां प्रयोजनम्। परं साधनसंवृद्ध्यै प्रयोजनमभूत्तदा ॥१२॥

मैं उन श्री श्रेयांस भगवान् का आश्रय लेता हूँ जो कल्याणमय है, जिन्होंने घाति कर्मों को आत्मा से जुदा कर दिया है अतएव जिन्हें जिन कहते हैं, जो बाह्य और अभ्यन्तर लक्ष्मी से युक्त हैं, आश्रितों को श्रेय के दाता हैं और उन्नत हैं। वे प्रभु मुझे भी कल्याण-मार्ग पर लगावें ॥१॥

इसके बाद पाण्डव और कौरव सारे राज्य को आधा-आधा बाँटकर एक दूसरे के साथ स्नेह रखते हुए राज्य भोगने लगे। इसी तरह पाण्डव भी अपने हिस्से के पाँच भागकर और पाँच मुख्य स्थान नियत कर जुदा-जुदा रहने लगे। उनमें से शत्रु-विजयी, स्थिर-चित्त युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ (देहली) में रहते थे। गंभीराशय भीमसेन वहीं देहली के पास ही तिलपथपुर में रहते थे। नीति-निपुण और विचारशील अर्जुन शत्रुओं को व्यर्थ कर नीति से पृथ्वी को पालते हुए सुनपत में रहते थे। नकुल अपने कुल को सफल करते हुए जलपथ में निवास करते थे और प्रीतिभाजन सहदेव वणिकपथपुर में रहते थे ॥२-७॥

तात्पर्य यह कि वे महाभाग इस तरह जुदा-जुदा रह कर अपने-अपने हक के अनुसार आनंद-चैन से उत्तम लक्ष्मी को भोगते थे। जब सब समुचित प्रबन्ध हो चुका तब युधिष्ठिर और भीम ने जो देश-देश में राज-पुत्रियाँ ब्याही थीं, उन सब को वे वहीं ले आये। साथ ही वे कौशाम्बी पुरी से विंध्यसेन राजा की पुत्री बसन्तसेना को भी लिवा ले आये और युधिष्ठिर ने उसके साथ ब्याह कर लिया ॥८-१०॥

भीमसेन आदि युधिष्ठिर की आज्ञा के अनुसार पृथ्वी को पालते हुए सदा उत्तम सुख भोगते थे और उनकी सेवा के लिए तैयार रहते थे। इन्हें धन-धान्य और सोने-चाँदी आदि जंगम विभूति से कुछ अधिक प्रयोजन न था किन्तु ये सदा ही अपनी सेना की बढ़ती में दत्त-चित रहते थे। तात्पर्य

दन्तावलतुरङ्गाणां वर्धनं विदधुर्ध्रुवम्। कौन्तेयाः कृतितां प्राप्ता विकसन्मुखपङ्कजाः ॥१३॥
गाङ्गेयमिव गाङ्गेयं गुरुं गर्वपरिच्युताः। सावधानतया नित्यं सेवन्ते पाण्डुनन्दनाः ॥१४॥
तेषामैक्यं विलोक्याशु कौरवो वचनं जगौ। पितामह किमारब्धं त्वया दुर्णयचेतसा ॥१५॥
पाण्डवं कौरवीयं च समभागेन भुञ्जताम्। राज्यं पाण्डवपक्षत्वं कथं हि क्रियते त्वया ॥१६॥
क्रोधसंमिश्रितं वाक्यं तस्याकर्ण्य पितामहः। उवाच कौरवाधीश शृणु तत्रास्ति कारणम् ॥१७॥
इमे सत्पुरुषाः शूराः सन्ति सद्गुणभाजनम्। न्यायनिश्चयवेत्तारः सद्धर्मामृतपायिनः ॥१८॥
न शोचन्ते गतं वस्तु भविष्यच्चिन्तयन्ति न। वर्तमानेषु वर्तन्ते ततस्ते मम वल्लभाः ॥१९॥
विष्टरश्रवसा तेन सव्यसाची सुमोहतः। एकदाकारितस्तूर्णमूर्जयन्ते महागिरौ ॥२०॥
सुवंशं सुमहापादं तिलकाढ्यं महोन्नतम्। अनेकप्राणिसंकीर्णं ददर्श तं नरं यथा ॥२१॥
कृष्णस्तत्र समायासीदद्रौ रैवतके वरे। अर्जुनोऽपि तथा तत्र रन्तुं संसक्तमानसः ॥२२॥
समालिङ्ग्य पुनस्तत्र नरनारायणौ मुदा। ऊर्जयन्ते महाचित्तौ चिरं चिक्रीडतुर्वरौ ॥२३॥

यह कि इनका अपनी सेना को बढ़ाने में खूब यत्न था। इनके हृदय बिल्कुल साफ थे और यही कारण है कि इनके चेहरे सदा ही कमल से खिले रहते थे, ये अपने मन की स्वच्छता से सब कामों में सफल होते थे। इन लोगों को राज्य का बिल्कुल गर्व न था। ये सरल भाव से सदा ही गंगा के जल के जैसे स्वच्छ भीष्म पितामह की भक्ति भाव से सेवा-उपासना करते थे और इसलिए पितामह भी इन पर पूरा स्नेह रखते थे ॥११-१४॥

पाण्डवों के साथ पितामह की ऐसी प्रीति देखकर एक समय कौरवों ने उनसे कहा कि कलुषित-चित्त पितामह, तुमने यह क्या करना शुरू किया है। भला सोचिए तो जब आप पाण्डवों और कौरवों की राज-सम्पति को बराबरी से भोगते हो तब फिर इस प्रकार पाण्डव की ओर ही आप का झुकाव क्यों है? इसका कारण क्या है। दुर्योधन आदि के ऐसे क्रोध भरे शब्दों को सुनकर पितामह ने कहा कि कौरवाधीश, सुनिए, इसका भी कारण है और वह यह कि ये सत्पुरुष हैं, शूरवीर हैं, अच्छे गुणों के पात्र हैं, नीति-न्याय के पण्डित हैं और सच्चे धर्म-रूप अमृत के पीने वाले हैं। इसके सिवा इनमें बड़ा भारी गुण यह है कि ये बीती हुई और आने वाली बातों की व्यर्थ चिन्ता नहीं करते। ये वर्तमान में उपस्थित विषय पर ही पूरा-पूरा विचार करते हैं। बस, इसी से ये मुझे अतीव प्यारे हैं ॥१५-१९॥

एक समय कृष्ण ने प्रेम के वश हो अर्जुन को क्रीड़ा के लिए गिरनार पर्वत पर बुलाया। विशाल गिरनार पर्वत मनुष्य की तुलना करता था। मनुष्य के वंश होता है उसमें वंश-बाँस थे। मनुष्य के पाँव होते हैं उसके किनारे की भूमि ही पाँव थे। मनुष्य तिलक लगाते हैं उसमें भी तिलक वृक्ष थे। वह बड़ा भारी उन्नत था और उसमें नाना जाति के जीव-जन्तु रहते थे। कुछ समय में उधर से तो कृष्ण गिरनार पहुँचे और इधर से क्रीड़ा में दत्तचित अर्जुन भी वहाँ पहुँच गया। उन दोनों ने प्रेम के साथ एक दूसरे का आलिंगन किया और वे महामना आनंद-चैन से गिरनार पर क्रीड़ा करने लगे ॥२०-२३॥

वनक्रीडां प्रकुर्वाणौ शक्रप्रतिशक्रसन्निभौ। रेमाते रागसंरक्तौ नरनारायणौ सदा ॥२४॥
कदाचिद्वनखेलाभिः कदाचिज्जलमज्जनैः। कदाचिच्चन्दनोद्भूतनिर्यासैः कुङ्कुमाश्रितैः ॥२५॥
ऊर्जयन्ते समारोहैरवरोहैः कदाचन। रम्भाभनिर्तकीनृत्यैर्नानागीतैस्तदुद्भवैः ॥२६॥
कदाचित्कन्दुकक्रीडां कुर्वाणौ तौ नरोत्तमौ। रेमाते स्नेहसंबद्धौ चिरं तत्र महागिरौ ॥२७॥
विष्णुना सह संप्राप ततो द्वारावतीं पुरीम्। पुरन्दरसुतः श्रीमान् पुरन्दर इवोन्नतः ॥२८॥
अर्जुनो विष्णुना साकं रममाणश्चिरं स्थितः। घोटकैर्दन्तिसंदोहैर्नरेन्द्रैः क्रीडनोद्यतैः ॥२९॥
अथैकदा पृथुः पार्थो गच्छन्तीं स्वच्छमानसाम्। सुभद्रां भद्रभावाढ्यां संवीक्ष्येति व्यचिन्तयत् ॥३०॥
केयं सुरूपशोभाढ्या साक्षाच्छक्रवधूरिव। नदन्नूपुरनादेन जयन्तीव दिगङ्गनाः ॥३१॥
कटाक्षक्षेपमात्रेण जीवयन्ती मनोभुवम्। यं ददाह पुरा योगी ध्यानकृपीटयोनिना ॥३२॥
किमियं रतिरेवाहो पद्मा पद्मावती किमु। रोहिणी सूर्यकान्ता वा सीता वा किन्नरी पुनः ॥३३॥
लभ्यते चेदियं रम्या मया मृगविलोचना। वक्त्रेन्दुजिततामस्का तदाहं स्यात्सुखी महान् ॥३४॥
विनानया नरत्वं हि निष्फलं निश्चितं मया। अतः केनाप्युपायेन करोमीमां स्ववल्लभाम् ॥३५॥

क्रीड़ा करते हुए वे दोनों स्नेही ऐसे जान पड़ते थे मानों इन्द्र और प्रतीन्द्र ही क्रीड़ा करते हैं। उनकी क्रीड़ा विलक्षण ही थी। वे कभी वन में दौड़ते फिरते थे, कभी पानी में डूबते निकलते थे, कभी एक दूसरे पर वे केसर मिले हुए चंदन की पिचकारी भरकर छोड़ते थे, कभी दौड़ते-दौड़ते गिरनार पर चढ़ जाते और पीछे पाँव लौट आते थे, कभी देवांगनाओं के जैसी नृत्यकारणियों के नृत्यों और गीतों द्वारा मनोविनोद करते थे और कभी गेंद खेलते थे। तात्पर्य यह है कि इस तरह से उन दोनों ने स्नेह के साथ गिरनार पर खूब क्रीड़ा-विनोद किया और दिल को बहलाया ॥२४-२७॥

इसके बाद कृष्ण के साथ-साथ अर्जुन भी द्वारिका में आया। वह उसमें प्रवेश करता हुआ अतुल विभूति के धारक इन्द्र के जैसा शोभता था। अर्जुन मनोविनोद पूर्वक काल बिताता हुआ कृष्ण के साथ द्वारिका में बहुत दिनों तक रहा। उसके साथ अन्य राजा भी सुख-पूर्वक अपने समय को बिताते हुए वहीं रहे। इन राजाओं के साथ पूरी-पूरी राजविभूति थी। हाथी घोड़ों आदि की पूरी-पूरी सेना थी ॥२८-२९॥

एक समय महत्त्वशाली अर्जुन ने स्वच्छमना और भद्र विचारों वाली सुभद्रा को जाते हुए देखकर सोचा कि रूप-सौन्दर्य से इन्द्राणी को भी जीतने वाली यह सुन्दरी कौन है। यह अपने रण-झण शब्द करते हुए नूपुरों के शब्द से देवांगनाओं को जीतती है और कटाक्ष-निक्षेप से उस काम को भी जीवित कर देती है जिसे पहले ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा योगीजन जला चुके हैं। नहीं जान पड़ता यह रूप-सौन्दर्य की सीमा कौन है। रति है या लक्ष्मी, पद्मावती है या रोहिणी, या सूरज की प्रिया है। जो हो यदि यह मृगनयनी और सुख-चन्द्र से अँधेरे को दूर करने वाली अनिंद्य सुन्दरी मुझे मिले-मेरी प्रिया बने तब ही मैं अपना सौभाग्य समझूँगा और तब ही मुझे सुख होगा। इसके बिना मेरा जन्म ही व्यर्थ है। अतः किसी न किसी उपाय से मैं इसे अपनी प्राण-बल्लभा बनाऊँगा ॥३०-३५॥

इत्यातर्क्य स पप्रच्छ पार्थो दामोदरं मुदा। कस्येयं तनुजा साक्षाल्लक्ष्मीरिव सुलक्षणा ॥३६॥
हरिराह विहस्याशु किं न वेत्सि धनंजय। सुभद्रा नामतः कम्रा स्वसा मे रूपशालिनी ॥३७॥
पार्थः प्राह हसित्वाथ ममेयं मातुलात्मजा। परिणेतुं मया योग्या मत्तमातङ्गगामिनी ॥३८॥
अभाणीद्भास्वरो भोगिमर्दनश्च धनंजय। दत्तेयं च मया तुभ्यं गृहीत्वा गम्यतां त्वया ॥३९॥
इत्याकर्ण्य सुकौन्तेयस्तदाशासक्तमानसः। क्षणं तस्थौ पुनस्तस्यास्यपद्मं संविलोकयन् ॥४०॥
तस्याकूतं परिज्ञाय मुरजिन्मृदुमानसः। स्वस्यन्दनमदात्तस्मै वायुवेगाश्ववेगिनम् ॥४१॥
सुभद्रां सन्मुखीकृत्य नानोपायैर्धनंजयः। तदासक्तां विधायाश्वारोपयत्स्यन्दनं निजम् ॥४२॥
सरथः पाण्डवस्तूर्णं कन्यां तां कनकप्रभाम्। वायुवेगाश्ववेगेन चचाल वायुवेगवत् ॥४३॥
सुभद्राहरणं श्रुत्वा तदा यादवपुङ्गवाः। क्रुद्धाः संनाहसंबद्धा दधावुर्धन्विनो ध्रुवम् ॥४४॥
कवचेन पिधायाङ्गं दधावुः परिघान्विताः। केचित्कुन्तकराः केचिद्दीप्यत्कृपाणपाणयः ॥४५॥
केचिद्वररथारूढाः केचित्संसक्तशक्तयः। केचिदुत्तुङ्गतुरगतरङ्गितनभस्तलाः ॥४६॥
केचिदूचुर्भटाः किं भो वाजिना वारणेन च। कृपाणैर्नर किं यूयं समुद्घाटितविग्रहाः ॥४७॥
यादवानां सुतां हृत्वा स क्व यास्यति दुर्जनः। अर्जुनश्चार्जुनीभूय परेऽवादिषुरित्यतः ॥४८॥

मन ही मन यह सोचकर उस मनस्वी ने कृष्ण से पूछा कि महाराज, साक्षात् लक्ष्मी जैसी और उत्तम लक्षणों वाली यह किस महाभाग की पुत्री है। उत्तर में कृष्ण ने कुछ मुसकरा कर कहा कि धनंजय, क्या तुम इसे सचमुच ही नहीं जानते। यह अतीव रूप-सौन्दर्यशालिनी मेरी सुभद्रा नाम बहिन है। यह सुन पार्थ ने हँसकर उत्तर दिया कि तब तो यह गजगामिनी मेरे मामा की पुत्री है और मेरे सम्बन्ध के योग्य है। इस पर कृष्ण ने कहा कि अच्छी बात है धनंजय, तुम्हारी इस राय से मैं खुश हूँ और इसके साथ तुम्हारा संबंध स्थिर करता हूँ। तुम इसे स्वीकार करो। यह सुन अर्जुन कृष्ण के मुख-कमल की ओर देखने लगा। तब कृष्ण ने अर्जुन का अभिप्राय जानकर उसके लिए वायु के वेग जैसे शीघ्रगामी घोड़े वाला एक सुन्दर रथ मँगवा दिया, जिसे पाकर अर्जुन प्रसन्न हुआ। इसके बाद वह सुभद्रा को परस्पर प्रेमालाप द्वारा अपने पर मोहित कर, रथ में बैठा, वायु के वेग से भी जल्दी चलने वाले घोड़ों के द्वारा, वायु के वेग की तरह अति शीघ्र ही वहाँ से चल दिया। उधर जब यादवों ने सुभद्रा के हरे जाने की बात सुनी तब वे बड़े क्रुद्ध हुए और कवच वगैरह पहन-पहनकर, धनुष-बाण ले उसी वक्त दौड़ पड़े। कोई कवच पहिन कर हाथ में मुदगर लेकर दोड़े, कोई भाला और चमकती हुई तलवार लेकर भागे, कोई रथों में सवार होकर और कोई पैदल ही शक्ति हाथ में लेकर चले, कोई आकाश-तल में तरंगों की तरह उछलने कूदने वाले घोड़ों पर सवार होकर चले और कोई यह कहते हुए चले कि घोड़े आदि सवारियों की जरूरत ही क्या हैं, आखिर काम तो तलवारों से ही पड़ेगा। अतः वे कवच वगैरह बिना पहिने ही हाथ में तलवार लिये हुए भागे। कुछ वीरगण अर्जुन की इस धोखेबाजी पर बड़े क्रोधित होकर कहने लगे कि यादवों की कन्या को हर ले जाकर यह दुर्जन अर्जुन छिप करके जायेगा ही कहाँ? हम लोगों के मारे पानी में डूबने पर भी तो नहीं बचेगा ॥३६-४८॥

समुद्र इव गम्भीरश्चतुरङ्गसुवीचिभृत्। समुद्रविजयो भूपः प्रतस्थे बान्धवैः सह ॥४९॥
बलभद्रो बलैः पूर्णो हयहेषारवोन्नतैः। अयासीच्च रणातिथ्यं समर्थः कर्तुमुद्यतः ॥५०॥
हरिर्हरिरिवोत्तस्थे शार्ङ्गं धनुषमावहन्। मन्दं मन्दं बलोपेतः कुर्वन्पञ्चाननारवम् ॥५१॥
अन्येऽपि भूमिपा भूरिभूतयो भुवनोत्तमाः। बभ्रमुर्भूतलं भीतिमुक्ता भास्वन्त उद्भटाः ॥५२॥
इतस्ततो हरिर्गत्वा व्यावृत्त्यागाद्बलैः समम्। स्वां पुरीं तत्र चाहूय बलादीन्भूपतीञ्जगौ ॥५३॥
विस्तरेण किमत्राहो कार्यं पार्थाय दीयताम्। कन्या हरणदोषेण दुष्टा सल्लक्षणान्विता ॥५४॥
पुनरस्मै प्रदातुं हि भागिनेयाय भासुरा। योग्येयमिति संचर्च्य देया तस्मै स्वहस्ततः ॥५५॥
वृथा कलिर्न कर्तव्योऽनेनेति शाम्बरं वचः। आकर्ण्य सज्जनः सर्वस्तथेति प्रतिपन्नवान् ॥५६॥
ततः सन्मन्त्रिणो मार्गसन्मार्गणसमुद्यताः। तदानयनसंसिद्ध्यै प्रेषिता हरिणा तदा ॥५७॥
ते गत्वा तत्र संनत्य नरं विनयसंयुताः। कार्यसिद्ध्यै वचो दत्त्वा निन्युर्द्वारावतीं पुरीम् ॥५८॥
तत्रैत्य परमोत्साहादातोद्यवरनादतः। नटन्नटीनटोत्साहान्नानावित्तप्रदानतः ॥५९॥
मण्डपे सुमुहूर्तेऽथ सुभद्रां परिणीतवान्। पार्थः परमया प्रीत्या रन्तुकामस्तथानिशम् ॥६०॥

इस प्रकार समुद्र के जैसा गंभीर और चतुरंग सेना-रूप तरंगों से तरंगित समुद्रविजय अपने बन्धु-वर्ग की साथ लेकर चला और घोड़े के हींसने के शब्द से उन्नत सेना-सहित बलदेव भी चला। इनके साथ ही पराक्रमी नारायण धनुष-बाण लेकर, पाँचजन्य शंख का मंद-मंद शब्द करता हुआ कुछ सेना को साथ ले सिंह की तरह बढ़ा। इसी प्रकार भूरि विभूति वाले, लोकोत्तम, तेजस्वी और निर्भीक राजा भी इनके साथ रवाना हुए ॥४९-५२॥

इसके बाद, नारायण इधर-उधर कुछ घूमकर सेना-सहित द्वारिका वापस आ गया और बलदेव आदि को बुलाकर उसने कहा कि दादा, बात यह है कि अब ज्यादा झगड़ा बढ़ाने से कुछ लाभ नहीं। अतः अच्छा यही है कि सुलक्षणा होने पर भी हरे जाने के दोष से दूषित हुई बहिन सुभद्रा पार्थ को ही दे दीजिए और अर्जुन अपना भनेज ही है तब उसके लिए यह सर्वथा योग्य है। अतएव सोचकर उसे अर्जुन के लिए अपने हाथ से ही देना योग्य है क्योंकि अर्जुन के साथ झगड़ा करना अब व्यर्थ ही है। कृष्ण के ऐसे माया भरे शब्दों को सुनकर उन लोगों ने अर्जुन के लिए सुभद्रा देना स्वीकार कर लिया। इसके बाद कृष्ण ने अपने चतुर मंत्रियों की बुलाया और उन्हें सुभद्रा को ले आने के लिए सुनपत भेज दिया। उन्होंने वहाँ जाकर अतीव विनय के साथ अर्जुन को प्रणाम किया और अर्जुन को वचन देकर सुभद्रा के साथ वे द्वारिका वापस आ गये ॥५३-५८॥

इसके बाद वहाँ ब्याह की सब तैयारी की गई और एक सुन्दर विवाह मंडप निर्माण किया गया। उसमें परम उत्साह के साथ शुभ मुहूर्त, शुभ लग्न में परम प्रीति के साथ अर्जुन ने सुभद्रा का पाणिग्रहण किया। अर्जुन उसके लिए बड़ा उत्सुक हो रहा था। विवाह के समय अनेक प्रकार के बाजों के शब्द से दिशायें शब्द-मय हो रही थीं। नट-नटियों के मनोहारी नृत्य हो रहे थे। दीन-हीन गरीब अनाथों को खूब दान-मान, धन-दौलत से तृप्त किया जा रहा था। इस विवाहोत्सव में यादवों

तद्विवाहक्षणे क्षिप्रं चत्वारश्चतुरा नराः। पाण्डवास्तद्विवाहाय हूता यादवराजभिः ॥६१॥
ततो लक्ष्मीमतिं प्राप ज्येष्ठः शेषवतीं पराम्। भीमोऽथ नकुलो रम्यां विजयां चानुजो रतिम् ॥६२॥
एवं सर्वेषु भूपेषु यथास्थानं गतेषु च। कृष्णः पार्थेन संप्राप रन्तुं चोपवनं परम् ॥६३॥
तत्र तौ सफलौ रम्ये रेमाते माधवार्जुनौ। जलकल्लोलमालाभिश्छादयन्तौ परस्परम् ॥६४॥
तावता गच्छता तत्र ब्राह्मणेन धनंजयः। अवाचि चारुणा वाक्यं परं संतोषदायिना ॥६५॥
भो पार्थ भोजनं देहि मां प्रीणय सुवस्तुभिः। अहं दावानलो राजंस्त्वं श्रीकौरवनन्दनः ॥६६॥
खण्डयस्व वनं मेऽद्यानुचरैश्चरितार्थिभिः। श्रुत्वा तद्वचनं पार्थो बम्भणीति स्म भासुरः ॥६७॥
रथो नास्ति ममाद्यापि धनुर्धर्ता न कश्चन। सर्वकार्यकरा दिव्यशरा वर्तन्त एव न ॥६८॥
तच्छ्रुत्वा स द्विजस्तस्मै कपिलाञ्छनलाञ्छितम्। द्विड्भिर्योद्धुमशक्यं च समदाद्रथमुत्तमम् ॥६९॥
पुनर्विहस्य देवोऽस्मै द्विजवेषधरोऽप्यदात्। वह्निवारिभुजंगाख्यताक्ष्र्यमेघमरुच्छरान् ॥७०॥
गोविन्दाय पुनः सोदाद्गदां ताक्ष्र्यध्वजं रथम्। अन्यानि बहुरत्नानि नानाकार्यकराणि च ॥७१॥
लब्ध्वा पार्थ इमान्बाणांस्तत्र दावानलाभिधम्। मुमोच बाणमादाय वनज्वालनहेतवे ॥७२॥

के बुलाये हुए सब पाण्डव भी आकर सम्मिलित हुए थे। इस प्रकार अपनी प्यारी सुभद्रा को पाकर अर्जुन सुख के साथ समय बिताने लगा। इधर भीमसेन ने लक्ष्मीमती और शेषवती का पाणिग्रहण और किया तथा नकुल ने विजया का और सहदेव ने जो सबसे छोटा था, सुरति का पाणिग्रहण किया ॥५९-६२॥

इस प्रकार विवाहोत्सव के समाप्त हो जाने पर सब राजा जब अपनी-अपनी राजधानी में चले गये तब एक दिन पार्थ के साथ कृष्ण उपवन में क्रीड़ा करने को गया और वहाँ उन दोनों ने सफल-मनोरथ होने के कारण अतीव प्रसन्नता के साथ जल-कल्लोलों से खूब क्रीड़ा की। वे जल-क्रीड़ा में निमग्न हो रहे थे कि इतने में उधर से जाते हुए और अपने मीठे वचनों से सबको सन्तुष्ट करने वाले एक ब्राह्मण ने अर्जुन से कहा कि पार्थ, मुझे भोजन और उत्तम-उत्तम वस्तुएँ देकर सन्तुष्ट करो ॥६३-६६॥

राजन्! मैं दावानल हूँ और आप कौरवों के वीर पुत्र हैं। मैं चाहता हूँ कि आप अपने समर्थ सेवकों को साथ लेकर मेरे इस वन को जलाकर नष्टकर दीजिए। उसके इन वचनों की सुनकर उत्तर में तेजस्वी पार्थ ने कहा कि आज न तो मेरे पास रथ है और न कोई धनुर्धर ही है और मेरे सब कार्यों के साधक दिव्य शर भी मेरे पास नहीं हैं। यह सुनकर उस द्विज ने अर्जुन को एक ऐसा रथ दिया जो वानर के लक्षण से युक्त था और शत्रु जिसको जीत नहीं सकते थे। इसके बाद फिर उस द्विज-वेषधारी देव ने मुसकरा कर अर्जुन को वह्नि, वारि, भुजंग, ताक्ष्र्य, मेघ और वायु आदि बाण दिये। नारायण को उसने गदा और गरुड़ की ध्वजा से चिन्हित एक रथ दिया और नाना कार्य करने वाले बहुत से रत्न नारायण की भेंट किये ॥६७-७१॥

इस समय इन बाणों को पाकर पार्थ ने उस वन को जलाने के लिए एक बाण छोड़ा, जिससे भयभीत हुए वनेचर जन्तुओं को जलाता हुआ दावानल धीरे-धीरे सारे वन को घेर कर सब ओर से

देवोऽवोचत्पुनर्यच्च यच्च तुभ्यं हि रोचते। तज्ज्वालय सुरेन्द्रो वा यमो न रक्षितुं क्षमः ॥७३॥
तावद्दावानलो लग्नो वनं दग्धुं समग्रतः। वनेचरगणं सर्वं ज्वालयंस्त्रस्तमानसम् ॥७४॥
अग्निज्वाला गता व्योम्नि ज्वालयन्ती च पक्षिणः। फणिनः करिणः सर्वान्मृगेन्द्रान्मृगशावकान् ॥७५॥
ज्वालयामास स सर्वाञ्शाखिनस्तृणसंहतीः। बुभुक्षितो यमः क्रुद्धः किं नात्ति सुरमानवान् ॥७६॥
सर्वेषां ज्वालनं वीक्ष्य तक्षको नागनिर्जरः। क्रुद्धो देवगणांस्तूर्णं स्माकारयति तत्क्षणम् ॥७७॥
देवौघाः क्रोधमापन्ना दधावुरिति वादिनः। तिष्ठ तिष्ठ महामर्त्य क्व यास्यस्मत्सुकोपतः ॥७८॥
ततस्तैर्निखिलं व्योम मेघमालाकुलं कृतम्। जगर्ज घनसंघातः कज्जलाभो महाध्वनिः ॥७९॥
गर्जन्तं तं तदा वीक्ष्य समर्थः स कपिध्वजः। जनार्दनं जगादेति विद्युद्वन्तं च दर्शयन् ॥८०॥
पश्य पश्य मुरारे त्वं बाणतः सुरसंततिम्। भनज्म्यहं च भक्ष्यामि यशोराशिं यतः स्वयम् ॥८१॥
दावानलमहाबाण यथेष्टं तिष्ठ निष्ठुर। शीघ्रेण सुरसंघातं घातयामि सुघस्मरम् ॥८२॥
इत्युक्त्वा स करे कृत्वा गाण्डीवं पाण्डुनन्दनः। ज्यायामारोप्य संचक्रे टंकारबधिरं जगत् ॥८३॥
तट्टंकाररवं श्रुत्वा यमहुंकारसंनिभम्। तत्क्षणं सुरसंघाता भेणुर्यद्दर्शितं भयम् ॥८४॥
किरीटिन्कपटं कृत्वा वनं दग्ध्वा सुराग्रतः। क्व यास्यसि सुपर्णाग्रे बलवान्पन्नगो यथा ॥८५॥

वन को जलाने लगा। पक्षी, साँप, हाथी, सिंह और मृगों आदि को जलाती हुई वह आग की ज्वाला आकाश में बहुत ऊँचे तक जाने लगी। उसने थोड़ी ही देर में सारे वृक्ष और तृण-समूह को जलाकर खाक में मिला दिया। सच है जब भूखा यम क्रोध करता है तब देव-दानव और मनुष्य आदि किसी को भी वह नहीं छोड़ता। इसके बाद अर्जुन को एक बाण देते हुए उस द्विज ने कहा कि इस बाण के प्रभाव से जिस वस्तु को आप चाहें जला सकते हैं और निश्चय रखें कि जिसको आप जला देंगे उसको फिर न तो सुरेन्द्र बचा सकता है और न यम ही ॥७२-७६॥

इस प्रकार सारे वन के समस्त जीव-जन्तुओं को जलते हुए देखकर एक तक्षक नाम नाग को बड़ा भारी क्रोध आया और उसने सब देवताओं को निमंत्रित किया। उसने क्रोध में आकर सब देवता यह कहते हुए दौड़े आये कि महानुभाव पार्थ! ठहरिए। अब तुम हमारे क्रोध से बचकर जाओगे कहाँ? हम तुम्हें कहीं छोड़ने के नहीं। यह कहकर उन देवों ने सारे गगन-मण्डल को मेघों से भर दिया। काजल के जैसे काले वे मेघ महान् ध्वनि करते हुए गर्जने लगे। उनको गर्जते हुए देखकर अर्जुन ने बिजलियों को दिखाते हुए कृष्ण से कहा कि देखिए मैं इस मेघमाला को एक ही बाण से अभी उड़ाये देता हूँ। मैं सुरों की इस मेघविद्या को एक ही बाण के द्वारा अभी छेदे डालता हूँ। इसके बाद वह दावानल से बोला कि हे दावानल! तुम यथेष्ट रीति से विहार करो। तुम्हें कोई नहीं रोक सकता। तुम्हारे साथ द्वेष करने वाले या तुम्हारी भक्षक इस मेघमाला को तो मैं अभी नष्ट किये देता हूँ। इतना कहकर अर्जुन ने गांडीव धनुष हाथ में उठाया और उसे चढ़ाकर उसने उसकी टंकार की, जिसको सुनकर सारा जगत् बहरा हो गया और धनुष की यम के हुँकार जैसी ध्वनि को सुनकर अर्जुन को डराने के लिए देवगण बोले कि अर्जुन! कपट से वन को जलाकर तुम हम जैसे विक्रमशाली देवों से बचकर कहाँ रहोगे। गरुड़ के आगे बलवान् साँप की भी क्या चल सकती है? ॥७७-८५॥

अथोग्रधारया देवा ववृषुः क्षुब्धमानसाः। छादयन्तो धरां सर्वां तदिच्छां छेत्तुमिच्छवः ॥८६॥
तदा स शरसंघातैर्विरच्य वरमण्डपम्। वृष्टिं कर्तुं न दत्ते स्म जज्वाल ज्वलनोऽधिकम् ॥८७॥
द्विगुणस्त्रिगुणस्तूर्णं स ववर्ष चतुर्गुणम्। मेघौघो विघ्नसंघातं चिकीर्षुश्च दवानले ॥८८॥
तावता केशवः क्रुद्धो वायुबाणं करे पुनः। कृत्वा मुमोच शीघ्रेण त्रासयन्तं घनाघनान् ॥८९॥
धनंजयस्य बाणेन तदा नेशुः सुरासुराः। यथा तार्क्ष्यसुपक्षेण सफूत्काराः फणीश्वराः ॥९०॥
तदा सुराः समभ्येत्य मघवानं महेश्वरम्। अचीकथन्स्ववृत्तान्तं तत्पराभूतमानसाः ॥९१॥
देव खण्डवनं दग्धं तरुखण्डसमाश्रितम्। भवक्रीडाकृते योग्यं पार्थेन विफलीकृतम् ॥९२॥
वयं निर्धाटितास्तूर्णं हठेन कुण्ठमानसाः। निर्लोठिताः समायाता भवत्पार्श्वे भयाकुलाः ॥९३॥
मघवा तत्समाकर्ण्य क्रुद्धः संनद्धमानसः। ऐरावतं गजं सज्जीचकार स रणोद्यतम् ॥९४॥
सुरानाज्ञापयामास रणभेरीसमागतान्। वज्रपाणिः करे वज्रं कृत्वा गन्तुमनास्तदा ॥९५॥
तदा व्योमरवो जज्ञे सुरेशेति च संवदन्। नाकं हित्वा क्व गम्येत सुरसंघातसंयुतम् ॥९६॥
तत्र तं विघ्नसंघातं विधातुं न क्षमो भवेत्। यत्र वंशे स विख्यातो बभूव भुवनेश्वरः ॥९७॥
नेमिर्नारायणश्चापि पाण्डवोऽपि महान्पुमान्। जडत्वं त्वं परित्यज्य स्वस्थो भव निजे पदे ॥९८॥

इसके बाद देवों ने क्षुब्ध होकर धारासार जल की बरसा की और थोड़ी ही देर में सारी पृथ्वी को जलमय कर दिया। उन्हें अर्जुन की वन को जला डालने की इच्छा को नष्ट करना था। यह देख अर्जुन ने शर-समूह के द्वारा एक उत्तम मण्डप रचा और पानी की एक बूँद भी दावानल पर नहीं पड़ने दी, जिससे दावानल न बुझ कर बढ़ता ही गया। अन्त में देवताओं ने और अधिक बरसा की पर उससे भी वह दावानल शान्त नहीं हुआ ॥८६-८८॥

इसी समय क्रोध में आकर कृष्ण ने वायु बाण छोड़ा, जिससे उन मेघों को बड़ा त्रास हुआ और साथ ही अर्जुन ने बाण चलाये, जिससे बात की बात में सब मेघ नष्ट हो गये, जैसे कि गरुड़ के मारे पूर्ण बलशाली फणेश्वर भी भाग जाते हैं। तब अर्जुन से इस प्रकार तिरस्कृत होकर देवगण महान् ऐश्वर्यशाली इन्द्र के पास गये और इन्द्र से उन्होंने अपना सारा हाल कहकर कहा कि देव, आपके क्रीड़ा करने के योग्य, सुंदर वृक्षावली से सुशोभित खांडव वन को अर्जुन ने जलाकर खाक कर दिया है। हम लोगों ने उसके बचाने का बहुत कुछ उपाय किया परन्तु उस मानी ने हमें वहाँ से मार भगाया और हमारा बड़ा तिरस्कार किया, जिससे भयातुर होकर हम सब आप की शरण में आये हैं ॥८९-९३॥

यह सुनकर इन्द्र को बड़ा क्रोध आया। वह उद्विग्न हुआ। इसके बाद वह ऐरावत हाथी को सजाकर रण के लिए तैयार हुआ उसकी रणभेरी को सुनकर आये हुए देवगण को उसने चलने के लिए आदेश दिया और वह स्वयं भी हाथ में वज्र लेकर चला परन्तु इस समय अकस्मात् यह आकाशवाणी हुई कि ''सुरेश! स्वर्ग को छोड़कर देवताओं के साथ कहाँ जाते हो। तुम अर्जुन के लिए कुछ भी विघ्न उपस्थित नहीं कर सकते क्योंकि वह उसी-पवित्र वंश का है, जिस वंश में प्रसिद्ध और तीन लोक के स्वामी नेमिप्रभु, कृष्ण नारायण और पाण्डव जैसे महान् पुरुष पैदा हुए

निशम्येति स्थिरं तस्थौ सुरराट् सुरशंसितः। अर्जुनोऽपि विसर्ज्याशु विघ्नं विपिनसंभवम् ॥९९॥
हस्तिनागपुरं प्रेम्णा समियाय समुत्सुकः। केशवः स्वपुरं प्राप प्रमोदभरभूषितः ॥१००॥
सुभद्रया परान्भोगान्भुञ्जानो वानरध्वजः। अभिमन्युसुतं लेभे लसल्लक्षणलक्षितम् ॥१०१॥
एकदा धार्तराष्ट्रेण दुर्योधनमहीभुजा। कौन्तेयाः कपटेनैवाकारिताः खलबुद्धिना ॥१०२॥
बहुस्नेहाविलं वाक्यं गान्धारेयो जगौ तदा। युधिष्ठिरं स्थिरं बुद्ध्या भीमाद्यैः समलंकृतम् ॥१०३॥
कुरु क्रीडां सुकौन्तेय नानाक्षक्षेपणक्षमाम्। धर्मपुत्रेण स द्यूतमारेभे कौरवाग्रणीः ॥१०४॥
द्वावक्षौ दोलयन्तस्ते कौरवाः शतसंख्यया। धर्मपुत्रेण धैर्येण रेमिरे छद्मसंगता ॥१०५॥
कौरवाणां शतं पुत्रा द्वावक्षौ पातयन्त्यलम्। आज्ञाकराविवात्यन्तं दासेरौ सुष्ठु शिक्षितौ ॥१०६॥
भीमहुंकारनादेन पेततुस्तावितस्ततः। न स्थिरं तस्थतुर्भीताविव भीमस्य नादतः ॥१०७॥
व्याजेन वेश्मतो वायुपुत्रं ते निरकासयन्। पुनर्द्यूतं समारब्धं छलेन च्छलवेदिभिः ॥१०८॥
धर्मपुत्रस्तु धर्मात्मा छद्मना तेन निर्जितः। हारितं धर्मपुत्रेण सर्वस्वं स्वविरोधकम् ॥१०९॥
केयूरकुण्डलस्फारहारहाटककङ्कणम्। धनं धान्यं सुरत्नानि मुकुटं तेन हारितम् ॥११०॥
पुनर्देशो विशेषेण शेषस्तेनैव हारितः। तुरंगमाश्च मातङ्गा रथाः खलु पदातयः ॥१११॥
अमत्राणि पवित्राणि सर्वः कोशः सुखावहः। हारयित्वेति संरब्धं द्यूतं धर्मात्मजेन च ॥११२॥

हैं। इसलिए तुम अपना हठ छोड़कर आनन्द से अपने स्थान पर ही रहो।'' यह सुनकर सुरेन्द्र अपने स्थान पर ही रह गया। उधर अर्जुन भी सब विघ्नों को दूर करके प्रेम के साथ हस्तिनापुर चला आया एवं उत्कण्ठित कृष्ण भी प्रमोद के साथ अपनी नगरी में आ गये। अपनी राजधानी में पहुँच कर अर्जुन सुभद्रा के साथ रमता हुआ दिव्य भोगों को भोगने लगा। इसके कुछ काल बाद उसके सुभद्रा के गर्भ से पुत्र रत्न का जन्म हुआ। वह सब उत्तम लक्षणों से युक्त था। उसका नाम अभिमन्यु था ॥९४-१०१॥

एक समय दुष्टबुद्धि दुर्योधन ने कपट से पाण्डवों को बुलाया और स्नेह-वचनों द्वारा धीर-बुद्धि युधिष्ठिर से कहा कि कौन्तेय, आइए हम आप दिल बहलाने के लिए अक्षक्रीड़ा करें-जुआ खेलें। यह कहकर कौरवाग्रणी दुर्योधन ने युधिष्ठिर के साथ जुआ खेलना शुरू किया। कपट से कौरव जो पाँसे फेंकते थे वे उनके अनुकूल ही पड़ते थे। देखकर ऐसा जान पड़ता था मानों अच्छी तरह से सिखाये गये दोनों पाँसे कौरवों के आज्ञाधारी सेवक ही है और वे जो कभी भीम के हुँकार के मारे इधर-उधर जाकर पड़ते थे उससे ऐसा जान पड़ता था मानों भीम के नाद के डर के मारे वे स्थिर ही नहीं होने पाते किन्तु इधर-उधर जाकर उल्टे पड़ जाते हैं। यह देख कौरवों ने किसी बहाने से भीम को महल से बाहर भेज दिया और उन छलियों ने अब पूरे कपट से द्यूत-क्रीड़ा आरम्भ की और थोड़े ही समय में छली दुर्योधन ने छल से धर्मात्मा युधिष्ठिर को जीत लिया। युधिष्ठिर अपना सर्वस्व हार गये। उन्होंने बाजूबंद, कुण्डल, विशाल हार, सोने के कंकण, धन-धान्य, रत्न-मुकुट आदि और समस्त देश, घोड़े, हाथी, रथ, योद्धा वगैरह सब धन-सम्पति जुआ में हार दी ॥१०२-११२॥

योषितः सकलाः सर्वे भ्रातरस्तु विशेषतः। पणीकृत्य स्वखेलार्थं दर्शितास्तेन भूभुजा ॥११३॥
तावता पावनिः प्राप्तो हुंकारमुखराननः। हारितं निखिलं पशेयन् धृतं शेषं व्यलोकयत् ॥११४॥
राजन्युधिष्ठिर भ्रातर्भीमोऽभाणीद्भयावहः। किमिदं किमिदं द्यूतं त्वयारब्धं सुहानिकृत् ॥११५॥
द्यूतेन याति निःशेषं यशो लोकापवादतः। भवेद्भवे दु निःशेषा द्रव्यहानिः पदे पदे ॥११६॥
सर्वानर्थकरं द्यूतमिहलोकविनाशकम्। क्षणात्क्षिपति निःशेषं परलोकं सुदेहिनाम् ॥११७॥
व्यसनानामिदं चाद्यं द्यूतं दुर्धरदुःखदम्। अदीपि दीपितज्ञानैर्मुनिभिः स्थितिवेदिभिः ॥११८॥
द्यूतकाराः सदा हेयाः सदा मद्यपवद्भुवि। विद्धि द्यूतसमं पापं न भूतं न भविष्यति ॥११९॥
इति वाक्येन संक्षुब्धो द्वादशाब्दावधिं महीम्। हारयित्वा स कौन्तेयो द्यूतं वारयति स्म च ॥१२०॥
धर्मपुत्रो गृहं प्राप भीमाद्यैर्म्लानमानसः। वचोहरं तदा क्षिप्रं प्राहिणोत्स युधिष्ठिरम् ॥१२१॥
दूतो गत्वा प्रणम्यात्र विज्ञप्तिं चर्करीति च। धर्मपुत्र जगावेवं मन्मुखेन सुयोधनः ॥१२२॥
द्वादशाब्दावधिर्यावत्तावदत्रैव संस्थितिः। न कर्तव्या महीनाथ यतो न स्यात्सुखासिका ॥१२३॥
वने वासो विधातव्यो भवद्भिः सुखकाङ्क्षिभिः। द्वादशाब्दं न जानाति यावत्त्वन्नाम कोऽप्यलम् ॥१२४॥

यहाँ तक कि सुख को देने वाली तमाम वस्तुएँ हारकर भी युधिष्ठिर ने द्यूतक्रीड़ा बंद न की। अन्त में वे अपनी रानियों और प्यारे भाइयों को भी दाव पर रखने को तैयार हो गये। इतने में ही हुंकार करता हुआ भीम वहाँ आ पहुँचा और सारी सम्पत्ति को हारी हुई तथा बाकी को दाव पर रक्खी हुई देखकर उसने भयभीत हो युधिष्ठिर से कहा कि पूज्य भाईसाहब! यह क्या है? तुमने सारी हानि करने वाला यह जुआ काहे को शुरू किया ॥११३-११५॥

क्या आपको नहीं मालूम है कि इस जुआ से सारा यश नष्ट हो जाता है और सारे संसार में बदनामी होती है। इससे पद-पद पर हानि भोगनी पड़ती है। महाराज, यह द्यूत सभी अनर्थों का मूल है और इस लोक का बिगाड़ने वाला तो है ही परन्तु एक क्षण भर में जीवों के परलोक को भी बिगाड़ देता है ॥११६-११७॥

यह सब व्यसनों में प्रधान है, दुर्द्धर दुखों का दाता है। विद्वान् मुनिजनों ने इसी लिए इसे भी मदिरा की तरह बिल्कुल ही हेय बताया है। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि इसके समान संसार में न तो कोई पाप है, न हुआ और न होगा। भीम के ऐसे उत्तम वचनों को सुनकर युधिष्ठिर क्षुब्ध हो उठे और जुआ खेलना उन्होंने बंद भी कर दिया परन्तु इसके पहले ही वे बारह वर्ष के लिए सारी पृथ्वी को पण पर रखकर हार चुके थे ॥११८-१२०॥

इसके बाद व्यथित मन हो युधिष्ठिर भीम आदि के साथ घर की ओर चले आये। उनके घर पहुँचते ही दुर्योधन ने एक दूत को उनके पास भेजा। दूत ने आकर युधिष्ठिर को प्रणाम किया और कहा कि हे महीनाथ! मेरे मुख से दुर्योधन महाराज कहते हैं कि बारह वर्ष के लिए आप यहाँ से चले जायें क्योंकि यहाँ रहने में आपका हित नहीं है। आप अपना भला चाहते हैं तो आप को बारह साल तक वन में रहना चाहिए और सो भी इस तरह कि जिसमें इतने दिनों तक कोई आप लोगे का नाम

स्थातव्यं तत्र तावच्च भवद्भिः सातसिद्धये। नेतव्यं पाण्डवैः क्वापि गुप्तैर्वर्ष त्रयोदशम् ॥१२५॥
अद्यापि रजनीं रम्या न स्थेयात्र स्थिराशयाः। अन्यथानर्थसंपातो भविता भवतामिह ॥१२६॥
वचोहरो निवेद्येति निर्गत्य सदनं गतः। तावद्दुःशासनो दुष्टो द्रौपदीसदनं ययौ ॥१२७॥
स तां कुन्तलपाशेन गृहीत्वा निरजीगमत्। गृहात्साक्षान्महालक्ष्मीमिव पद्मनिवासिनीम् ॥१२८॥
गाङ्गेय इति संवीक्ष्य प्रोवाच गुरुकौरवान्। भो भो युक्तमिदं नैव भवतां भवभागिनाम् ॥१२९॥
इत्थं कृतेऽखिले लोकेऽपकीर्तिः कीर्तिता भवेत्। यशस्यं जायते लोके तथा कुरुत कौरवाः ॥१३०॥
इदं भ्रातृकलत्रं हि पवित्रं पतितां गतम्। खलीकारे कृते तस्य महती स्यादधोगतिः ॥१३१॥
तावता द्रौपदी क्षुण्णा रुदन्ती बाष्पलोचना। इयाय पाण्डवाभ्यर्णं दुःखिता दुर्दशां गता ॥१३२॥
बभाण भवतां यादृग्वर्तते सा पराभवः। ततोऽधिको ममाप्यासीन्मद्वेण्याकर्षणक्षणे ॥१३३॥
यदग्रे मम शीर्षस्य वेणी नोद्धरति स्फुटम्। अन्यत्किं विपुलं वस्तु तेषामग्रे यमाग्रवत् ॥१३४॥
हा शिखण्डधर प्राज्ञ पार्थपूर्वज पूर्वतः। इमं पराभवं कोऽत्र त्वां विना विनिवारयेत् ॥१३५॥
पराभवभवं वाक्यं पाञ्चाल्या विपुलोदरः। श्रुत्वावादीन्महाक्रोधो घुर्घुरस्वरघूर्णितः ॥१३६॥

भी न सुन सके। कहने का मतलब यह है कि आपको इसमें सुख है कि आप वनवास स्वीकार करें। आप लोग आज ही रात यहाँ से चले जायें, नहीं तो आप लोगों को संताप भोगना पड़ेगा। इसके अनंतर तेरहवाँ वर्ष आप गुप्तरीति से व्यतीत करें, दूत इतना निवेदन करके चला गया॥१२१-१२५॥

इधर दुष्ट दुःशासन द्रौपदी के महल में आकर, द्रौपदी की चोटी पकड़ उसे महल से बाहर खींच लाया। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानों उसने कमल-वन में रहने वाली महान् लक्ष्मी को ही कमल-वन से निकाल लिया है। यह हाल देख भीष्म पितामह ने कौरवों से कहा कि यह आप लोग अच्छा नहीं करते। इससे सारे संसार में तुम्हारी अपकीर्ति होगी। काम वह करो, जिससे संसार भर में तुम्हारा यश विस्तृत हो। देखो, यह तुम्हारे भाई की स्त्री है, पवित्र है, जिसको तुमने घर से निकाल कर बाहर कर दिया है। विश्वास रक्खो कि जो कोई अपनी भौजाई का तिरस्कार करता है उसे दुर्गति के दुःसह अनन्त दुख झेलने पड़ते हैं ॥१२६-१३१॥

अपनी इस दुर्दशा से दुखी हो आँसू बहाती और रोती हुई द्रौपदी ने पाण्डवों के पास आकर कहा कि देखिए जितना आप लोगों का तिरस्कार हुआ है उससे भी अधिक-चोटी पकड़कर खींची जाने के कारण-मेरा हुआ है। हाय! जिसके आगे मेरा सिर कभी खुला नहीं रहा उसी ने मेरा सिर खोलकर चोटी खींची। बतलाइए अब मेरा बचा ही क्या? यम के जैसे दुष्ट दुःशासन के आगे मैं कर ही क्या सकती थी। उसने मेरी सब इज्जत ले ली। द्रौपदी ने भीम को सम्बोधित करके कहा कि हा भीम, यह मैं जान चुकी कि मेरे इस अपमान का बदला तुम्हारे बिना कोई नहीं ले सकता ॥१३२-१३५॥

किसी में ऐसी सामर्थ्य नहीं जो इस पराभव की दूर करे। द्रौपदी के ऐसे तिरस्कार भरे वाक्यों को सुनकर क्रोध में आकर भीम ने युधिष्ठिर से कहा कि स्वामिन्! मैं आज शत्रुओं के कुल को जड़ मूल से उखाड़े फेंके देता हूँ। द्रौपदी के इस तिरस्कार को न सह सकने के कारण, पार्थ भी उठा। यह

स्वामिन्नद्य प्रकुर्वेऽहं क्षयं वैरिकुलस्य वै। पुनः पार्थः समुत्तस्थे द्रौपद्याश्च पराभवात् ॥१३७॥
तदा युधिष्ठिरोऽवोचन्महानाज्ञां न लङ्घयेत्। क्षुब्धोऽपि मारुतौघेन मर्यादां किं सरित्पतिः ॥१३८॥
इति यौधिष्ठिरं वाक्यमाकर्ण्य पाण्डुनन्दनाः। गन्तुकामाः समुत्तस्थुर्मदान्ध्यपरिवर्जिताः ॥१३९॥
विदुरस्य गृहे कुन्तीं रुदन्तीं विधुरात्मिकाम्। मातरं मोहयुक्तास्ते विमुच्य निर्गतास्ततः ॥१४०॥
पराभवपराभूता मुच्यमाना न द्रौपदी। तत्र तिष्ठति तैः सार्धं निर्जगाम सती शुभा ॥१४१॥
त्यक्तमाना निजे चित्ते चिन्तयन्तः सुभावनाम्। ते चाचलंति कौन्तेया मार्गे मन्दगतिप्रियाः ॥१४२॥
वने चोपवने ते च वसन्ति स्म कदाचन। शिलायां शिखरिशृङ्गे मृगेन्द्रा इव निर्भयाः ॥१४३॥
सरिज्जलं पिबन्ति स्मादन्ति वृक्षफलानि च। नानावल्कलवासांसि दधते ते नरोत्तमाः ॥१४४॥
ततस्ते क्लेशतः प्रापुरुत्तीर्य बहुभूधरान्। कालिञ्जरवनं वीरा विविधद्रुमराजितम् ॥१४५॥
पत्रोपशोभितः स्पष्टः शाखासद्घटनाश्रितः। प्रौढप्ररोहविकटो वटस्तैस्तत्र वीक्षितः ॥१४६॥

देखकर युधिष्ठिर ने कहा कि यह हम लोगों के लिए उचित नहीं है। जिस तरह वायु के वेग से क्षोभित होने पर भी समुद्र अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता उसी तरह ही महान् पुरुष भी किसी भी अवस्था में अपनी मर्यादा को नहीं लाँघते ॥१३६-१३८॥

युधिष्ठिर ने इस तरह समझाकर वचन-रूपी अंकुश से भीम-रूपी मदोन्मत्त हाथी को अनर्थ करने से रोका और अर्जुन की क्रोध-वह्नि को भी उसने वचनरूपी शीतल जल से शान्त कर दिया। वह उन्हें समझाने लगे कि भाइयों! अभी कुछ समय धीरज रक्खो। बाद जब मैं समर्थ हो जाऊँगा तब शत्रु-कुल का अवश्य ही नाश करूँगा-इसमें तनिक-सा भी सन्देह नहीं परन्तु यह निश्चित है कि चाहे जो हो, अपने वचन नहीं हारूँगा। मेरे अद्भुत पराक्रमी वीर भाइयों! अब यहाँ रहने की मति छोड़कर शीघ्र चल दो और वन में जाकर डेरा डालो। अब से हमें वन ही अपनी राजधानी बनानी होगी ॥१३९॥

युधिष्ठिर के इन वचनों को सुनकर भीम, अर्जुन आदि चारों भाई मान छोड़कर वन चलने के लिए उठ खड़े हुए और अपने वियोग से अतीव दुःखित अतएव रोती हुई जननी कुन्ती को विदुर के घर ही छोड़ गये। उन्होंने अपमान से दुखी हुई द्रौपदी को भी वहीं छोड़ना चाहा, पर वह रूप-सौन्दर्य की सीमा वहाँ नहीं ठहरी। वह उनके साथ ही वन को चली। धर्मात्मा पाण्डव मन ही मन भावनाओं पर विचार करते हुए द्रौपदी की गति के अनुसार मंद-मंद चले जाते थे। वे वन, उपवन, शिला और पहाड़ की चोटी पर सिंह की तरह निर्भय होकर वास करते थे। वे मार्ग में जो फले हुए वृक्ष मिलते थे उनके फलों को खाते, रास्ते में पड़ने वाली नदियों का पानी पीते और वल्कलों के वस्त्र पहनते थे ॥१४०-१४४॥

इसके बाद वे मार्ग के कष्टों की सहते हुए पहाड़ों आदि विषम स्थलों को लाँघकर भाँति-भाँति के वृक्षों से सुशोभित कालिंजर नाम के वन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक ऐसा बरगद का पेड़ देखा, जो पत्तों और डालियों से खूब छायादार था। उसे देखकर भूख-प्यास से थके हुए पाण्डव उसके नीचे

छायासंछन्नभूभागे तस्याधस्ते स्थितिं व्यधुः। क्षुत्पिपासातपश्रान्ता वारयन्तः श्रमं परम् ॥१४७॥
व्यसनभुजगगर्तं धर्मनामप्रवर्तं नरकगमनमार्गं सर्वदोषस्य सर्गम् ।
परिभवतरुमूलं चापदासिन्धुकूलं निहतसुभगबुद्धि द्यूतमेतद्विरुन्द्धि ॥१४८॥
द्यूतं दुर्गतिदायकं भृशमृषावादस्य संपादकम्
सर्वेषु व्यसनेषु चाद्यमुदितं लौल्यव्यवस्थापकम्।
मांसाशापरिवर्धकं च मदिरापानप्रपापेशलम्
चौर्याखेटकलञ्चिकान्यवनितासंसक्तिदं त्यज्यताम् ॥१४९॥
द्यूतात्पाण्डवनन्दना नरवरा मुक्त्वा वरं नीवृतम्
तिष्ठन्तो वटकानने परिहृताहारादिसाताः स्वयम्।
व्याघ्रव्यालभयाकुले निरुपमाः सीदन्ति सन्तः स्म च
धिग्द्यूतस्य विचेष्टितं हि महतां दुःखस्य संपादकम् ॥१५०॥

इति श्रीपाण्डवपुराणे भारतनाम्नि भट्टारकश्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपालसाहाय्यसापेक्षे पाण्डवद्यूतक्रीडाकरणवनवासगमनवर्णनं नाम षोडशं पर्व ॥१६॥

घनी छायावाली भूमि में आराम करने के लिए ठहर गये। जुआ नरक का रास्ता है, दुख-रूपी साँप का बिल है, धर्म का विध्वंसक है, सब दोषों का स्थान है, पराभव को देता है, आपत्ति का समुद्र है और हित-अहित के विवेक को भुला देने वाला है। इसलिए सुख के चाहने वालों को उससे सदा दूर ही रहना चाहिए ॥१४५-१४९॥

और भी देखो कि यह द्यूतकर्म दुर्गति को देने वाला है, झूठ तथा पाप का खजाना है। मांस-मदिरा की रुचि को बढ़ाता है, अतएव शिकार में प्रवृत्ति कराता है, वेश्या और परस्त्री की चाह को बढ़ाता है और चोरी की शिक्षा देता है। इसकी संगति से जीवों की लोलुपता बढ़ जाती है। मतलब यह कि यह सभी व्यसनों में प्रवृत्ति कराता है और इसी कारण से आचार्यों ने इसे सारे व्यसनों में प्रधान बताया है, अतः उत्तम पुरुष को इसका नाम भी नहीं लेना चाहिए।

देखो, यह सब इसी जुआ का ही प्रभाव है कि जिसके निमित्त से उपमा रहित प्रवीण पाण्डव भी अपने देश से भ्रष्ट होकर व्याघ्र, साँप वगैरह के निवास स्थान वन में रहे और सो भी आहार आदि के बिना दारुण दुखों को सहते हुए ॥१५०॥

अतः महान्-महान् पुरुषों को भी दारुण दुखों में डालने वाले इस दुष्ट कर्म की चेष्टा को धिक्कार है और यह सब अनर्थों का मूल छोड़ने योग्य है।

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में पाण्डवों की द्यूतक्रीड़ा और वन में निवस के लिये जाने का वर्णन करने वाला सोलहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१६॥

❑ ❑ ❑

सप्तदशं पर्व

वासुपूज्यं नरैः पूज्यं वसुपूज्यसुतं स्तुवे। वासवैः सेवितं शस्तं वसुपूजाप्रदं मुदा ॥१॥
अथ तत्र समायासीद्यतिसंघो विशुद्धधीः। कृतेर्यापथसंशुद्धिर्निःसंगः शीललक्षितः ॥२॥
यतिसंघं च ते वीक्ष्य गत्वा नत्वा पुरःस्थिताः। आनन्दोन्नतचेतस्का धर्मभावसमुद्यताः ॥३॥
युधिष्ठिरः पुनश्चित्ते चिन्तयामास कोविदः। वने निवसता पापात्किं कर्तव्यं मयाधुना ॥४॥
फलभुक्त्या च नीयन्ते घस्रा दुर्विधिसंगताः। विना वित्तेन दीयन्ते किं दानानि मुनीशिने ॥५॥
अद्याहो जीवितं मे धिङ् निर्द्रव्यस्य शवस्य वा। जीवितान्मरणं श्रेष्ठं विना दानेन देहिनाम् ॥६॥
चिन्तयन्तमिमं भूपं ज्ञात्वावादीन्महामुनिः। नाशर्मात्र विधातव्यं त्वया स्थितिसुवेदिना ॥७॥
त्वं महान्विनयी भव्यो वात्सल्यभरभूषणः। यदावयोरभूद्योगो विद्धि तद्वृषवैभवम् ॥८॥
अत्रानर्थस्तु कालेन भविता तव निश्चितः। न विषादो विधेयोऽत्र तद्धि वैदुष्यजं फलम् ॥९॥
इत्युक्त्वा योगिनां संघस्ततो निर्गत्य सद्गिरिम्। सिंहशार्दूलहस्त्याढ्यं समियाय महोन्नतम् ॥१०॥

उन वासुपूज्य तीर्थेश्वर को प्रणाम है जो वसुपूज्य के पुत्र हैं, इन्द्र, नरेन्द्र आदि जिन की पूजा-स्तुति करते हैं और जिनके प्रसाद से जीव स्वयं भी पूज्य बन जाते हैं। वे प्रभु मुझे संसार-समुद्र से पार करें ॥१॥

इसके बाद जहाँ पाण्डव ठहरे हुए थे, वहाँ एक मुनियों का संघ आ गया। वह सब गुण-सम्पन्न था, निर्मल-बुद्धि का धारक था, ईर्यापथ शुद्धि का पालक था, परिग्रह-रहित और शील से विभूषित था। उसको देखकर पाण्डव बहुत हर्षित हुए और वे धर्मात्मा उसी वक्त मुनियों की वन्दना के लिए गये तथा उन्हें विनीत भाव से प्रणाम कर उनके आगे बैठ गये ॥२-३॥

इसके बाद विचार-चतुर युधिष्ठिर ने मन ही मन विचार किया कि मेरे पाप का बड़ा उदय है और उसी का प्रेरा हुआ मैं वन में बस रहा हूँ। इस समय मैं अपने कर्तव्य को कैसे निर्वाह सकता हूँ, जबकि मैं स्वयं यहाँ फलों पर निर्भर रहकर ज्यों त्यों अपने कुदिनों को बिता रहा हूँ। मेरे पास कुछ धन भी नहीं है। तब ऐसी हालत मैं इन महात्मा मुनिजनों को दान कैसे हूँ और जन्म सफल करूँ। मुर्दे जैसे मुझ गरीब का यह जीवन धिक्कार का पात्र है। मुनिदान के बिना दिये जीते रहने से तो कहीं मरना ही अच्छा है ॥४-६॥

युधिष्ठिर इसी चिन्ता में उलझ रहे थे। उन्हें इस प्रकार चिंतित देखकर संघनायक महामुनि ने उनसे कहा कि युधिष्ठिर, जबकि तुम संसार की हालत को जानते समझते हो तब तुम्हें इस सम्बन्ध में तनिक-सा भी विषाद और खेद नहीं करना चाहिए। विनय के आगार और वात्सल्य के भण्डार भव्य, तुम देखो कि हमारा तुम्हारा जो समागम हो गया है यह भी एक भारी धर्म का वैभव है, इसे तुम कुछ थोड़ा न समझो और एक बात यह है कि यहाँ से आगे तुम्हें और भी बड़े-बड़े कष्ट होंगे परन्तु तुम उससे विचलित न होकर उन्हें शान्ति से सह लेना ॥७-८॥

इसके बाद वह मुनियों का संघ तो सिंह, शार्दूल आदि के निवास-स्थान और महान् उन्नत

पाण्डवानामधीशोऽत्र चिरं तस्थौ स्थिराशयः। नयन्कालं स धर्मेण न्यायमार्गविशारदः ॥११॥
एकदा च करे कृत्वा गाण्डीवं वानरध्वजः। इन्द्रक्रीडां प्रकर्तुं स समियाय मनोहरः ॥१२॥
ददर्शाथ दरातीतो गच्छन्मार्गे महाभये। मनोहराभिघं रम्यं महीध्रं जिष्णुनन्दनः ॥१३॥
आरुरोह धराधीशं धरां द्रष्टुमनाः स तम्। महोपलं द्रुमव्रातविषमं विषयी कृती ॥१४॥
तत्रारुह्य पुनः प्राह पार्थ एव विचक्षणः। कोऽप्यस्ति पर्वते देवो नरो विद्याधरोऽथवा ॥१५॥
यद्यस्ति मां स वा वक्तु यतो मे वाञ्छितं भवेत्। कार्यं सर्वेष्टसिद्धिश्च पुरुषस्येष्टसाधनी ॥१६॥
आविरासीत्तदा व्योम्नि वाणी सर्वत्र विस्तृता। सावधानमनाः पार्थ शृणु मद्वचनं परम् ॥१७॥
वैताढ्योऽत्र महीध्रोऽस्ति श्रेणीद्वयविराजितः। तत्र याहि यतस्तूर्णं जयश्रीस्तव सेत्स्यति ॥१८॥
शतं शिष्या भविष्यन्ति तव सर्वार्थसाधकाः। पञ्च वर्षाणि तत्रैव त्वया स्थातव्यमञ्जसा ॥१९॥
पुनः स्वबान्धवैर्योगो भविता तव पाण्डव। इत्याकर्ण्य प्रहृष्टात्मा यावत्तिष्ठति तत्र सः ॥२०॥
तावद्वनेचरः कश्चिद्भ्रमरच्छविरुन्नतः। शुष्कौष्ठवदनो वाग्मी दन्तुरः कोलकेशकः ॥२१॥
प्रचण्डाखण्डकोदण्डधर्ता विशिखपाणिकः। भ्रूभङ्गारुणनेत्राढ्यः प्रादुरासीद्भयंकरः ॥२२॥
तदावादीन्नरो देहि मह्यं हंहो धनुर्धर। मम योग्यमिदं शस्त्रं भारं वहसि मा वृथा ॥२३॥

सद्गिरि नाम पहाड़ पर चला गया और न्याय के ज्ञाता तथा गंभीराशय पाण्डव धर्म द्वारा अपना समय बिताते हुए बहुत दिनों तक वहीं रहे ॥९-११॥

एक समय रूप-सौन्दर्यशाली अर्जुन, हाथ में गांडीव धनुष ले इन्द्र-क्रीड़ा के लिए निकला। उस समय उस निर्भय ने किसी भयंकर रास्ते में जाते हुए एक मनोहर नाम के मनोहर पहाड़ को देखा। देखने की इच्छा से वह उस पर चढ़ गया। वहाँ से उसने बड़े-बड़े विशाल पत्थरों और वृक्षों से विषम पृथ्वी तल को देखा। इसके बाद वह जोर से चिल्लाकर बोला कि इस पहाड़ पर कोई देव, विद्याधर या मनुष्य है? यदि हो तो वह मेरे सामने आवे और मुझे कोई ऐसा उपाय बतावे जिससे मेरा अभीष्ट सिद्ध हो और अन्य जनों के सब मनोरथों को साधने वाले पदार्थों की सिद्धि हो। इसके उत्तर में आकाश में फैलती हुई आकाशवाणी हुई कि पार्थ! मेरी बात एकाग्र चित्त से सुनो ॥१२-१७॥

इसी भरत क्षेत्र में वैताढ्य नाम एक पहाड़ है। उसकी दो श्रेणियाँ हैं। एक उत्तरश्रेणी और दूसरी दक्षिणश्रेणी। आप वहाँ जाइए। वहाँ अतिशीघ्र ही आपको जयलक्ष्मी अपनावेगी और आपके सौ ऐसे शिष्य होंगे जो आपके सभी मनोरथ को साधेंगे परन्तु वहाँ आपको पाँच साल तक रहना चाहिए। निश्चय रखिए कि इसके बाद नियम से आपका आपके बान्धवों के साथ समागम होगा। इस आकाशवाणी को सुनकर अर्जुन को बढ़ी खुशी हुई। वह बैठा ही था कि इतने में वहाँ एक भील आ गया। उसका शरीर भौंरे जैसा काला और लम्बा था। उसका मुँह और ओंठ सूखे हुए थे। वह वातुल था, दन्तुर था, काले केशों वाला था। वह एक हाथ में प्रचंड अखण्ड धनुष और दूसरे हाथ में बाण लिये था और उसे चढ़ाने के कारण उसके नेत्र रक्त जैसे लाल हो रहे थे ॥१८-२२॥

सारांश यह है कि वह बड़ा भयंकर मूर्ति था। उसको देखकर अर्जुन ने कहा कि वनेचर, यह

अथवा शोभते चेदं सत्करे महतामिह। विफलं त्वं स्वमात्मानं कदर्थयसि किं नर ॥२४॥
क्रुद्धेन तेन श्रुत्वेदं विरुद्धेन निजं धनुः। आस्फालितं स्वहस्तेन खे गर्जन्मेघवत्सदा ॥२५॥
बाणमारोपयामास गुणे स सुवनेचरः। कंपयन्कंप्रशीलानि वनेचरमनांसि च ॥२६॥
धनंजयः किरातश्च तदा तौ सन्मुखं स्थितौ। रणाय रणशौण्डीरौ प्रहरन्तौ परस्परम् ॥२७॥
बाणैर्बाणैस्तयोर्वृत्तं युद्धं तूर्णप्रणोदितैः। आकर्णं ज्यां समाकृष्य विमुक्तैः परमोदयैः ॥२८॥
बाणैर्विरचितो भाति ताभ्यां मुक्तैर्महांस्तयोः। मध्ये जनाश्रयः स्थातुमिव संभिन्नचेतसा ॥२९॥
धनंजयेन क्रुद्धेन ये ये बाणा विसर्जिताः। ते ते निष्फलतां नीताः किरातेन महात्मना ॥३०॥
कीशकेतुर्विलोक्याशु किरातं दुर्जयं रणे। धनुर्हित्वा दधावासौ विधातुं बाहुविग्रहम् ॥३१॥
बाहुदण्डैः प्रचण्डौ तौ वल्गन्तौ रणकोविदौ। मल्लाविव विरेजाते लिङ्गितौ स्नेहतो यथा ॥३२॥
अजय्यं तं परिज्ञाय पार्थो व्यर्थीकृताशयः। चकार चरणद्वन्द्वं करे तस्य महाद्युतिः ॥३३॥
स विभ्राम्य शिरः पार्श्वे यावदास्फालयत्यलम्। महीतले किरातं तं परितः प्राणपेशलम् ॥३४॥
तावता प्रकटीभूतो विकटोऽपि महाभटः। दिव्यरूपधरो धीमान् बभूव वरभूषणः ।३५॥

धनुष मेरे योग्य है, इसलिए इसे तुम मुझे दे दो। तुम व्यर्थ का भार क्यों लिये फिरते हो। ऐसा उत्तम धनुष महान् पुरुषों के ही हाथ में शोभा देता हैं। तुम व्यर्थ ही अपने आपको कष्ट में काहे के लिए डाल रहे हो, अर्जुन की इन बातों से तो उसे बड़ा क्रोध आया और वह उसके विरुद्ध खड़ा हो गया। उसने आकाश में मेघ की तरह गर्जने वाले धनुष का टंकार किया और उस पर बाण चढ़ाया। इस समय उसके धनुष की आवाज सुनकर सारे वनेचरों के दिल दहल गये ॥२३-२६॥

इसके बाद धनंजय और वह भील दोनों ही युद्ध के लिए आमने-सामने खड़े हुए। उन शूरवीरों में परस्पर में खूब ही तीन प्रहारों द्वारा युद्ध छिड़ा। कर्ण पर्यन्त डोरी को खींच-खींचकर छोड़े गये तीक्ष्ण बाणों के द्वारा उनमें खूब युद्ध हुआ। दोनों ओर से इतने बाण छोड़े गये कि उनके द्वारा उन दोनों के बीच में एक मंडप-सा बन गया। वह ऐसा शोभने लगा मानों भग्नहृदय पुरुषों के लिए आश्रय ही खड़ा किया गया है। इस समय क्रोध के आवेश में आकर उस भील पर अर्जुन ने जो-जो बाण छोड़े उस भील ने उन सबको ही व्यर्थ कर दिया। उसे दुर्जय देखकर अर्जुन ने धनुष-बाण तो छोड़ दिया और वह बाहु-युद्ध करने के लिए उस पर झपटा ॥२७-३१॥

तब रण-कुशल और तेजस्वी वे दोनों बाहुदण्डों के द्वारा परस्पर में भिड़ते हुए ऐसे जान पड़े मानों दो मल्ल स्नेह में आकर एक दूसरे का आलिंगन ही करते हैं परन्तु इस बाहुयुद्ध में भी जब पार्थ उस पर विजय न पा सका तब वह उसे सर्वथा अजेय समझकर कुछ हतोत्साह-सा हुआ। लेकिन उसने हिम्मत नहीं हारी। इसके बाद उसने बड़े साहस के साथ चट से उस किरात के दोनों पाँव पकड़कर उसे मस्तक की ओर से चारों ओर खूब घुमा डाला। तब विचारे भील पर बड़ी विपत्ति आई और कुछ समय में ही उसके प्राण शिथिल हो गये ॥३२-३४॥

इसके बाद अर्जुन उसे पृथ्वी पर पछाड़ना ही चाहता था कि वह विकट महाभट प्रकट होकर

विनयेन ततः पार्थं ननाम नतमस्तकम्। स उवाच नराधीश प्रसन्नोऽस्मि तवोपरि।३६॥
त्वं याचस्व वरं दिव्यं तवेष्टं पाण्डुनन्दन। श्रुत्वा जजल्प पार्थेशः परमार्थविशारदः ॥३७॥
सारथित्वं भज त्वं भो मम स्यन्दनवाहने। तथेति प्रतिपन्नं हि खेचरेण मुदा तदा ॥३८॥
संतुष्टो मनसा पार्थो बंभणीति स्म तं प्रति। कस्त्वं कस्मात्समायातो युद्धवान्केन हेतुना ॥३९॥
आचख्यौ खेचरः क्षिप्रं श्रुत्वा तद्वचनं वरम्। युद्धस्य कारणं कीशकेतो चाकर्णयाधुना ॥४०॥
अस्त्यत्र भारते भव्यो विजयार्धो धराधरः। यः शृङ्गैर्गगनं मातुमुत्थितोऽतिमहोन्नतः ॥४१॥
तद्दक्षिणमहाश्रेणौ रथनूपुरसत्पुरम्। वरं विशालशालेन तर्जयद्यत्सुरालयम् ॥४२॥
नमिवंशसमुद्भूतो भूपतिस्तत्र भासुरः। विद्याविधिविशुद्धात्मा खगो विद्युत्प्रभो बभौ ॥४३॥
सुतस्तस्य स्फुरद्वीर्यो बभूवेन्द्रसमाह्वयः। विद्युन्माली परः पुत्रः शत्रुसंततिशातनः ॥४४॥
विद्युत्प्रभो विरक्तस्तु शक्रे राज्यश्रियं परे। न्यस्यादीक्षत वीक्ष्य स्वं यौवराज्यं सुते प्रभुः ॥४५॥
जग्राह दारान्पौराणां मूषाणान्यधनानि च। पुषाण युवराट्पीडां पुरीं स इत्युपाद्रवत् ॥४६॥

भूषणों से विभूषित एक दिव्य रूप में देख पड़ा। उसने पृथ्वी तक मस्तक झुका कर विनय के साथ अर्जुन को नमस्कार किया और कहा कि नराधीश! मैं तुम्हारे ऊपर अतीव प्रसन्न हूँ। अतः तुम चाहो जो दिव्य वर माँगो। मैं इस समय तुम्हें सब कुछ देने को तैयार हूँ। उसकी बातें सुनकर परमार्थ के ज्ञाता अर्जुन ने उत्तर दिया कि अच्छा मैं यही चाहता हूँ कि तुम मेरे सारथी बनो। इसके उत्तर में अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उस विद्याधर ने कहा कि तुम जो कहते हो मुझे वह स्वीकार है। उसके ऐसे प्रतिज्ञा-बद्ध शब्दों को सुनकर पार्थ को बड़ा संतोष हुआ और उसने प्रेम भरे शब्दों में उससे पूछा कि भाई! तुम कौन हो? कहाँ से आये हो? और तुमने यह युद्ध किस मतलब से किया था? उत्तर में विद्याधर ने कहा कि प्रभो! सुनिए, मैं युद्ध का कारण तुम्हें बताता हूँ ॥३५-४०॥

इसी भरत-क्षेत्र में एक विजयार्द्ध नाम मनोहर पहाड़ है। वह इतना ऊँचा है कि उसके शिखर आकाश को छूते हैं। जान पड़ता है कि वह पृथ्वी और आकाश के बीच को नापने के लिए ही इतना ऊँचा उठा हुआ है। उसकी दक्षिण श्रेणी में एक रथनूपुर नाम उत्तम नगर है, जो कि अपने विशाल कोट से स्वर्ग के विमानों की भी तर्जना करता है। वहाँ का राजा विद्युत्प्रभ था। वह नमि के वंश का था। वह कान्तिशाली और विद्याओं के विधान से विशुद्ध आत्मा का धारक था। वह विद्याधर था। उसके पुत्र का नाम इन्द्र है। वह स्फूर्तिवान् और बड़ा शक्तिशाली है। इसके सिवा उसका एक पुत्र और भी हैं। उसका नाम विद्युन्माली है। वह शत्रु-सन्तति का बड़ा भयानक शत्रु है। एक दिन क्षण में नष्ट होने वाले बादलों को देखकर विद्युत्प्रभ संसार-देह-भोगों से विरक्त हो गया, अतएव इन्द्र को राज-पाट और विद्युन्माली को युवराज-पद देकर वह स्वयं निःशल्य हो, दीक्षित हो गया ॥४१-४५॥

इसके बाद युवराज विद्युन्माली ने प्रजा पर बड़ा अन्याय करना आरम्भ किया। वह कभी नगर के लोगों की स्त्रियों को पकड़ लेता, कभी उनका धन हरण कर लेता और कभी उन्हें और-और संकट देता। सारांश यह कि वह सब तरह प्रजा को दुख देता था। आखिर परिणाम यह हुआ कि

कृत्वैकान्ते कनीयांसं रसापतिरशिक्षयत्। समजायत वैराय तस्मिञ्शिक्षापि दुर्मदे ॥४७॥
मुक्त्वाथ स पुरीं कोपाद्बहिः स्थित्वा च लुण्टति। खरदूषणवंशीयैः सह स्वर्णपुरे स्थितः ॥४८॥
संतापितः सपत्नौघैः स सुखं लभते न हि। अहर्निशं निशानाथो राहुणेव विरोधितः ॥४९॥
पुरीं स पिहितद्वारां विधाय विधिवत्स्थितः। तत्सेवको विशालाक्षसुतोऽहं चन्द्रशेखरः ॥५०॥
दुश्चिन्तं तं परिज्ञाय मया नैमित्तिकोऽन्यदा। नत्वा पृष्टो विनीतेन कदास्य वैरिसंक्षयः ॥५१॥
स बभाण निमित्तज्ञो मनोहरगिरौ शृणु। यस्त्वां जेष्यति पार्थः स तद्रिपूंश्च हनिष्यति ॥५२॥
तच्छ्रुत्वाहं ततस्तस्थौ प्रच्छन्नोऽत्र महागिरौ। स्वामिंस्त्वं वृषपाकेन मिलितोऽसि महामते ॥५३॥
एह्येहि च त्वया साकं गम्यते तत्र सांप्रतम्। इत्युक्त्वा तौ स्थितौ व्योमयाने प्रोद्गतसद्ध्वजे ॥५४॥
चचाल चञ्चलं व्योमयानं मानसमन्वितम्। ताभ्यामुपरि संस्थाभ्यां रणद्घण्टारवाकुलम् ॥५५॥
ततस्तौ संस्थितौ याने विजयार्धमहागिरौ। याताविन्द्रनृपः श्रुत्वा समायासीच्च सन्मुखम् ॥५६॥

उसके मारे सारे नगर में उपद्रव ही उपद्रव मच गया। यह देख उसे एक दिन इन्द्र ने एकान्त में बुलाकर कुछ उचित सीख दी परन्तु उसका विद्युन्माली पर विपरीत ही प्रभाव पड़ा, जिससे वह इन्द्र से भी विमुख हो गया और मद से मत्त हो उससे वैर रखने लगा। इसके बाद वह क्रोध में आ नगरी छोड़कर ही चला गया और बाहर रह कर लोगों को लूटने-खसोटने लगा। वहाँ से कुछ दिनों में वह खरदूषण के वंश के लोगों के साथ स्वर्णपुर में जाकर वहीं रहने लगा ॥४६-४८॥

इस प्रकार जब इन्द्र को शत्रु की ओर से अत्यधिक संताप पहुँचा तब उसे राहु के द्वारा ग्रसे गये चंद्रमा की भाँति क्षणभर के लिए भी सुख पाना कठिन हो गया। वह हमेशा ही चिन्ता से व्यग्र रहने लगा और यही कारण है कि भय के मारे वह अब नगरी के फाटक बन्द करवाये रहता है और गुप्त रीति से अपने दिन बिताता है ॥४९॥

महाराज! मैं उसी इन्द्र के सेवक का एक पुत्र हूँ, जिसका नाम विशालाक्ष है और मेरा नाम चन्द्रशेखर है। अतः पिता के स्वामी को इस तरह चिन्ता से संतत और शोकाकुल देखकर मुझसे नहीं रहा गया और इसी कारण मैंने एक निमित्तज्ञानी को प्रणाम कर विनय के साथ पूछा कि विभो! इन्द्र के शत्रुदल का नाश कैसे और कब होगा? उत्तर में उन निमित्तज्ञानी ने कहा कि जो मनोहर गिरि पर तुझे जीतेगा वही पार्थ धनुर्धर इन्द्र के शत्रुओं का भी संहार करेगा ॥५०-५२॥

बस, प्रभो! उस नैमित्तिक के वचनों पर विश्वास करके ही मैं गुप्त वेश में इस गिरि पर रहता हूँ। स्वामिन्! पुण्ययोग से आज मुझे आप जैसे महामति पुरुषों के दर्शन भी मिल गये हैं, जिसके लिए कि मैं बहुत दिनों से लालायित था। अब अन्त में आपसे मेरा यही नम्र निवेदन है कि आप मेरे साथ चलिए और अपना कर्तव्य कीजिए। इसके बाद वे दोनों फहराती हुई ध्वजाओं वाले एक व्योमयान में बैठ कर वहाँ से चल दिये। जिस विमान पर वे सवार थे वह बड़ी तेजी से चलता था और रण-घन्टा के शब्द से शब्दमय किया जा रहा था ॥५३-५५॥

वे थोड़ी ही देर में विजयार्द्ध महागिरि पर पहुँच गये। उनके आने का हाल सुनकर इन्द्र सन्मुख

तावता वैरिणस्तस्य श्रुत्वा तस्यागमं ध्रुवम्। चेलुर्विमानसंरूढा व्याप्तव्योमदिगन्तराः ॥५७॥
इन्द्रेण व्योमयानस्थः पार्थः प्रत्यर्थिनः प्रति। इयाय रणतूर्येण नावि नाविकवत्सह ॥५८॥
ततस्ते रणशौण्डीराश्चण्डकोदण्डमण्डिताः। आरेभिरे रणं कर्तुं पार्थेन सुधनुष्मता ॥५९॥
सामान्यशस्त्रतो जेतुमशक्याः सव्यसाचिना। ज्ञात्वेति वैरिणो हन्तुमारब्धा दिव्यशस्त्रतः ॥६०॥
नागपाशेन ते बद्धाः केचित्केचिच्च वह्निना। ज्वालिताश्चार्धचन्द्रेण छिन्नास्तेनारयः परे ॥६१॥
इन्द्रं निर्वैरिणं कृत्वा ययौ तेन धनंजयः। आतोद्यनादवृन्देन नगरं रथनूपुरम् ॥६२॥
गृहे गृहे स्म गायन्त्यङ्गना मङ्गलनिस्वनम्। धनंजयजयं वैरिपक्षक्षयसमुद्भवम् ॥६३॥
पाण्डवानां वरो वंशो गीयते मागधैर्मुदा। अर्च्यतेऽर्चनया पार्थः खेटैः क्षपितदुर्णयैः ॥६४॥
अग्रेकृत्य खगान् क्षिप्रं श्रेणीयुग्मं विलोकितुम्। गत्वा वीक्ष्य स आयातो नगरं रथनूपुरम् ॥६५॥
एवं च पञ्च वर्षाणि विद्याधरमहाग्रहात्। स्थित्वा मित्रैः सुगन्धर्वताराद्यैर्निर्ययौ ततः ॥६६॥
चित्राङ्गप्रमुखैः शिष्यैर्धनुर्विद्यासुशिक्षकैः। शतसंख्यैः समं चेले पार्थेन पृथुकीर्तिना ॥६७॥
तत्रागत्य नृपान्भ्रातॄन्समुत्तीर्य विमानतः। वीक्ष्य संमिलितो भक्त्या ननाम स यथायथम् ॥६८॥

आकर उनसे बड़े स्नेह के साथ मिला। उधर इन्द्र के शत्रुओं को ज्यों ही पार्थ के आने की खबर लगी त्यों ही वे विमानों पर सवार हो होकर आये और उन्होंने सब दिशाओं को घेर लिया। यह देखकर अर्जुन खेवटिया की भाँति इन्द्र के साथ विमान में बैठ शत्रुओं के सामने गया और उसने रण-घोषणा कर दी ॥५६-५८॥

जिसको सुनकर प्रचंड धनुषधारी रण-कुशल शत्रु पार्थ धनुर्धर के साथ युद्ध के लिए तैयार हुए और उन्होंने उसके साथ युद्ध छेड़ दिया। वह युद्ध इतना भीषण था कि जिससे पार्थ को भी यह पता चल गया कि शत्रु सामान्य शस्त्र से नहीं जीते जा सकेंगे किन्तु दिव्य शस्त्र से पराजित होंगे। अतः उसने दिव्यास्त्र के द्वारा कितने ही शत्रुओं को नागपाश से बाँध लिया, बहुतों को जलाकर भस्म कर दिया और बहुतों को अर्द्धचन्द्र बाण द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया। अन्त में वह इन्द्र को शत्रु-रहित करके नगाड़ों की आवाज के साथ-साथ रथनूपुर चला आया। इस समय रथनूपुर की स्त्रियों ने घर-घर में मंगल गीत गाये और धनंजय की जय के समाचार दिगंगनाओं के कानों तक पहुँचाये। गाथकों ने पाण्डवों के वंश की तारीफ की और उसका यश वर्णन किया तथा मद-रहित हुए सब विद्याधरों ने भक्तिभाव से पार्थ की पूजा-प्रशंसा की ॥५९-६४॥

इसके बाद अर्जुन बहुत से विद्याधरों को साथ लेकर विजयार्द्ध की दोनों श्रेणियों को देखने के लिए गया और थोड़े ही समय में उन्हें देखकर वह वापस रथनूपुर में आ गया ॥६५॥

इसके बाद उसने विद्याधरों के आग्रह से गंधर्व आदि मित्रों के साथ वहाँ पाँच साल बिताये और बाद वह वहाँ से मित्रों सहित चला आया। उस यशस्वी के साथ ही धनुषविद्या सीखने वाले चित्रांगद आदि उसके सौ शिष्य भी चले आये। वह वहाँ आया जहाँ उसके भाई युधिष्ठिर आदि ठहरे हुए थे। उन्हें देखकर वह विमान से उतरा और उसने उन्हें भक्तिभाव से यथायोग्य नमस्कार किया ॥६६-६८॥

वियोगार्ताश्चिरं चित्ते सुखं भेजुस्तदाप्तितः। पाण्डवा मिलिते स्वीये कस्य सौख्यं न जायते ॥६९॥
पुनः पार्थः स पाञ्चालीं प्राप्य प्रणयपूरिताम्। प्रपेदे परमं सातं पुण्यपूर्णः प्रतापवान् ॥७०॥
चित्राङ्गप्रमुखाः शिष्याश्चापविद्याविशारदाः। गरीयांसो वरीयांसः सेवन्ते स्म धनंजयम् ॥७१॥
मानयन्तो महामान्या युधिष्ठिरमहीपतेः। जज्ञिरे परमामाज्ञां सुज्ञा विज्ञानगाश्च ते ॥७२॥
दुर्योधनेन ते ज्ञाता एकदा पाण्डवा नृपाः। सहायवनसंप्राप्ताः सन्न्यायपथचारिणः ॥७३॥
संनद्धः क्रोधसंबद्धो दुर्योधनमहीपतिः। स्वबलैर्बलसंपन्नो ययौ तान् हन्तुमुद्यतः ॥७४॥
एतस्मिन्नन्तरेऽप्यायान्नानर्षिऋषिवद्यमी। चित्राङ्गदसमभ्यर्णं कथयितुं तदागमम् ॥७५॥
चित्राङ्गद किमर्थं त्वं वने भयसमाकुले। वैरिवर्गसमाक्रान्ते तिष्ठसीति बभाण सः ॥७६॥
भो गन्धर्व सुताराख्य किमर्थं खगनायक। सेव्यन्ते पाण्डवाः स्पष्टं त्वयापि वनवासिनः ॥७७॥
चित्राङ्गदो बभाणेति नानर्षे शृणु मद्वचः। अस्माकं गुरुरेवायं गरीयान् श्रीधनंजयः ॥७८॥
येनेन्द्रः स्थापितो राज्ये निवार्यारिकदम्बकम्। स्वाम्यस्माकमयं पार्थो वयं तत्सेवकाः सदा ॥७९॥
नानर्षिर्भाषते तावच्छ्रुत्वा तद्वचनं वरम्। दुर्योधनो रिपुः प्राप्त इदानीमत्र दुर्जयः ॥८०॥
यद्येतस्य सुशिष्यत्वमवेदिष्यमहं तव। धार्तराष्ट्रान्क्षणार्धेनाहनिष्यं सकलान् रिपून् ॥८१॥

जब से अर्जुन चला गया तब से उसके वियोग से पाण्डव बड़े दुखी हो रहे थे। अतः उसके समागम से उन्हें भी बड़ा हर्ष हुआ। कौन ऐसा पुरुष है जिसे अपने बन्धु के समागम से सुख न हो। इसके बाद पुण्यात्मा पार्थ जाकर प्रणयवती द्रौपदी से मिला। उससे मिलकर उस प्रतापी को बहुत शान्ति मिली। इस समय धनुष-विद्या-कुशल चित्रांगद आदि सत्पुरुष विद्याधर भक्ति से सदा धनंजय की सेवा में उपस्थित रहते थे तथा महामान्य और विज्ञानी युधिष्ठिर की आज्ञा को भी शिरोधार्य करते थे ॥६९-७२॥

उधर एक दिन दुर्योधन को खबर लगी कि न्याय-मार्गगामी पाण्डव सहाय वन में आ गये हैं। यह सुन उसे बड़ा क्रोध आया और वह बहुत-सी सेना को साथ लेकर उनको मार डालने के लिए निकला ॥७३-७४॥

इसी समय इस बात की खबर देने के लिए ऋषितुल्य संयमी नारद चित्रांगद के पास आये। वे उससे बोले कि चित्रांगद! तुम वैरियों से भरे हुए और भयावने इस जंगल में किस लिए रहते हो। उन्होंने गंधर्व आदि को भी सम्बोधित करके कहा कि कुछ समझ में नहीं आता कि तुम लोग इन वनवासी पाण्डवों की सेवा में ऐसे क्यों लीन हो रहे हो। यह सुनकर चित्रांगद ने कहा कि प्रभो! महापुरुष धनंजय हमारा गुरु है। इस महाभाग ने वैरियों को वारण करके इन्द्र को राज-गद्दी पर बैठाया है, अतः यह हमारा स्वामी है और हम सब सदा के लिए इसके सेवक हैं। यह सुन नारद ने कहा कि देखो, अभी यहाँ दुर्जय दुर्योधन आ रहा है। इसलिए हम तुम्हारा सच्चा शिष्यपना तभी समझेंगे जबकि तुम लोग एक क्षण में ही उसे साथियों सहित मार भगाओगे और यम का घर दिखा दोगे। नहीं तो तुम्हारा यह गाल-फुलाना किसी भी काम का नहीं कि हम अर्जुन के बड़े सेवक हैं।

आजन्म ब्रह्मचारित्वं विद्यते मयि निश्चितम्। सदा धर्मरतश्चाहं नारीनामपराङ्मुखः ॥८२॥
यो गाङ्गेयो गरिष्ठात्मा पितामहो महामतिः। तद्वाक्यं न प्रकुर्वन्ति कौरवाः कलिकारिणः ॥८३॥
यो द्रोणो विदुरश्च स्तः पितृव्यौ परमोदयौ। तद्वाक्यविरता वैरं वहन्तः सन्ति कौरवाः ॥८४॥
इदानीं संगरं कर्तुं संप्राप्ते कौरवेश्वरे। सज्जा भवत भो भक्ता रणातिथ्यप्रदायिनः ॥८५॥
तन्निशम्य तदा क्रुद्धो वैरिकादम्बकादवः। चित्राङ्गो गर्वसंपन्नो रणं कर्तुं समुद्यतः ॥८६॥
तावद्दौर्योधनं सैन्यं संनद्धं बन्धुबन्धुरम्। चतुरङ्गं रणं कर्तुं समायासीत्सहोदरैः ॥८७॥
तदा क्रोधाग्निसंतप्तश्चित्राङ्गश्चित्रचित्तभृत्। गन्धर्वेण दधावाशु धवलं दधता यशः ॥८८॥
संक्षुब्धः सैन्यजलधिश्चित्राङ्गागस्तिना तदा। शोषितोऽशेषमात्रोऽपि विचित्रेण महात्मना ॥८९॥
शल्यश्चाथ विशल्यश्च सबलो दुष्टमानसः। दुःशासनादयोऽप्यन्ये समुत्तस्थू रणोत्सुकाः ॥९०॥
चित्राङ्गशरसंघातैश्छिन्ना बाणास्तदीरिताः। जेघ्नीयन्ते घनैर्घातैस्तेऽन्योन्यं रणलालसाः ॥९१॥
प्रहरन्तो महाबाणैर्गदाभिः कुन्तकोटिभिः। तीक्ष्णधाराधरैः खड्गैर्योयुध्यन्ते भटा रणे ॥९२॥

क्या तुम लोग मुझे जानते हो, यदि नहीं जानते तो सुनो, मैं आजन्म ब्रह्मचारी–स्त्री के नाम से भी विमुख–और धर्मकर्म में लीन रहने वाला नारद हूँ। देखो, भीष्म पितामह महान् बुद्धिशाली और बड़े पराक्रमी हैं ॥७५–८३॥

परन्तु ये कलहकारी कौरव उनकी भी सीख नहीं मानते और न ये अपने परम गुरु द्रोणाचार्य और चाचा विदुर की बात सुनते हैं। ये उन्मार्ग–गामी, जो जी में आता है वही वैर–विरोध का काम कर बैठते हैं। ये न्याय–शून्य अपनी मन–मानी कर यहाँ युद्ध के लिए आ रहे हैं। इसलिए भक्ति वत्सल और रण को आतिथ्य देने वाले आप लोग भी युद्ध के लिए तैयार हो जाइए ॥८४–८५॥

नारद के इन उत्तेजक वचनों को सुनकर चित्रांगद क्रोध से लाल हो उठा और वैरी–रूपी–जंगल के लिए दावानल के जैसे उस वीर योद्धा ने उसी समय गर्व के साथ रण के लिए तैयारी कर दी। इसी समय उधर से दुर्योधन की चतुरंग सेना भी सज कर युद्ध के लिए। इसमें दुर्योधन के सब भाई थे और वे जी–जान से युद्ध का प्रयत्न करते थे ॥८६–८७॥

दुर्योधन की सेना को देखकर चित्रांगद क्रोध से संतप्त हो उठा और उसके मन में नाना प्रकार की तरंगें उठने लगी। वह स्वच्छ यशशाली गंधर्व के साथ ही शत्रु पर टूट पड़ा। यह देख दुर्योधन के सेना–समुद्र में बड़ा क्षोभ मच गया। देखते–देखते ही उस विचित्र योद्धा ने जैसे अगस्त ऋषि ने समुद्र को सुखा दिया था वैसे ही उस–सारे सेना–समुद्र को सुखा दिया ॥८७–८९॥

अपने पक्ष की सेना को इस तरह नाश होती हुई देखकर बलशाली दुष्टचित्त शल्य, विशल्य और दुःशासन आदि योद्धा युद्ध के लिए उठे। उन्होंने खूब जोर से बाण चलाना शुरू किया परन्तु उधर चित्रांगद उनके छोड़े हुए बाणों को अपने शर–कौशल से छिन्न–भिन्न करता जाता था। इस तरह रण की लालसा रखने वाले दोनों ओर के वीरों में परस्पर खूब बाणों की मारा–मार हुई, जिसमें हजारों को तो प्राणों से हाथ धो बैठना पड़ा। इस युद्ध में योद्धागण महान् तीक्ष्ण बाणों, गदाओं, भालों और

मुशलैर्मारिता मत्ता मनो मानं विमुच्य च। म्रियन्ते तद्रणे किं न यदनिष्टमजायत ॥९३॥
हलैर्विदारिता हृद्ये हृदये च पतन्त्यहो। भटाः संघट्टसंपन्ना भूगर्भा इव संभ्रमात् ॥९४॥
धार्तराष्ट्रैर्महाबाणैर्विद्धं वीक्ष्य निजं बलम्। विव्याध तारगन्धर्वो मोहनेन शरेण तान् ॥९५॥
मोहितं तेन बाणेन सकलं विपुलं बलम्। अयशोभाजनं भूत्वैकको दुर्योधनः स्थितः ॥९६॥
मानमुक्तो महाशूरो दुर्योधनमहीपतिः। आहवे विह्वलस्तेनाहूतश्चित्राङ्गवैरिणा ॥९७॥
चित्राङ्गः कौरवोऽन्योन्यं प्रहरन्तौ वरेषुभिः। वीक्ष्यमाणौ सुरौघेण शंसितौ तौ पुनः पुनः ॥९८॥
युध्यमानं स्थिरं युध्दे चित्राङ्गं वीक्ष्य चार्जुनः। शशंसान्यमहाशिष्यानादिदेश युयुत्सया ॥९९॥
लब्धलक्ष्यस्तु गन्धर्वो लब्ध्वावसरमुत्तमम्। चिच्छेद तद्ध्वजं धीमान्पत्रिणा शीघ्रगामिना ॥१००॥
गन्धर्वोऽपातयत्तूर्णं गन्धर्वौ तद्रथस्थितौ। दौर्योधनं रथं बाणैर्बभञ्ज भुजविक्रमी ॥१०१॥
जगाद पार्थधानुष्को गन्धर्वः कौरवं प्रति। क्व यासि सांप्रतं दुष्ट स्वलीकृत्य जगत्खल ॥१०२॥
दौर्जन्येन नरान्हन्तुं प्रवृत्तः पापपण्डितः। पश्येदानीं फलं तस्य प्राप्तं पाप गतायुध ॥१०३॥

तीक्ष्ण तलवारों के द्वारा एक दूसरे से घोर युद्ध कर रहे थे। इस रण में मूशलों की मार से कितने ही युद्ध-कुशल प्राणों को खोकर धराशायी हो गये थे। सच तो यह है कि ऐसा कोई भी अनिष्ट नहीं जो कि उस युद्ध में न हुआ हो ॥९०-९४॥

कितने ही युद्ध-वीरों के हृदय हलों से चिर गये थे। अतः वे पृथ्वी पर पड़े हुए ऐसे जान पड़ते थे मानों मूर्च्छा के कारण पृथ्वी पर सोये हुए ही हैं। इस समय जब गंधर्व ने देखा कि कौरवों के तीक्ष्ण बाणों के द्वारा मेरी सेना वेधी जा रही है तब उसने मोहन-बाण छोड़कर सब कौरवों को मूर्च्छित कर दिया उनमें केवल अपयश का पात्र एक दुर्योधन ही होश में रहा ॥९५-९६॥

इस प्रकार अपनी सारी सेना को मूर्च्छित देखकर दुर्योधन बड़ा घबड़ाया। वह तब अपनी मर्यादा भूल कर विह्वल-सा हुआ रण-स्थल में इधर-उधर घूमने-फिरने लगा। यह देख चित्रांगद ने उसे ललकारा। फिर क्या था, उन दोनों का तीक्ष्ण बाणों के द्वारा परस्पर में भीषण युद्ध होने लगा, जिसे देखकर देवों ने उन दोनों की भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥९५-९८॥

इस तरह चित्रांगद को युद्ध में धीरता से डटा देखकर अर्जुन ने उसकी खूब तारीफ की। उसने अपने और-और शिष्यों की भी युद्ध के लिए आदेश किया। इससे लक्ष्य बाँधने में प्रवीण गंधर्व को अच्छा मौका मिला। उसने उसी वक्त अपने शीघ्रगामी बाणों के द्वारा बात ही बात में ही दुर्योधन की ध्वजा को छेद दिया और बड़ी बहादुरी के साथ बाण-प्रहार जारी रक्खा। अन्त में उसने थोड़े ही समय में उसके रथ के घोड़ों को बेधकर अपने अपूर्व पराक्रम से रथ को भी वे-काम कर दिया ॥९९-१०१॥

इसके बाद वह धनुर्धर गंधर्व दुर्योधन से बोला कि दुष्ट, तू अब भाग कर कहाँ जायेगा? हे खल! तूने अपनी खलता से सारे संसार को खल बना डाला है। पर अब तुझे देखता हूँ कि तू कैसा बहादुर है। अब मेरे मारे तू कहीं भी नहीं बचेगा। पाप-पण्डित, तूने अपनी दुर्जनता से अनेक प्राणियों का व्यर्थ ही वध किया है। देख, यह तुझे तेरे उसी पाप का फल मिला है और उसी के कारण

इत्युक्त्वा नागपाशेन पपाश पशुवन्नृपम्। तस्मिन्बद्धे भटा भक्ता भेजुः काष्ठां भयावहाम् ॥१०४॥
गन्धर्वस्य यशो भूमौ बभ्राम विधुनिर्मलम्। दुर्योधनसुबन्धोत्थं न्यायात्कस्य जयो न हि ॥१०५॥
तावता पत्तयः सर्वे सादिनश्च विषादिनः। नियन्तारो गजस्थाश्च कौरवाः शुचमाययुः ॥१०६॥
पापेन प्राप्तदुर्माना दुर्योधनजनाः क्षणात्। मोहिता मोहबाणेन मुमूर्च्छुश्छद्मकारिणः ॥१०७॥
तदा भानुमती प्राप तत्प्रिया प्रियवादिनी। प्रियबन्धनजां श्रुत्वा किंवदन्तीं रुदत्यलम् ॥१०८॥
शोकसंतापसंतप्ता नेत्राश्रुजलधारया। सिञ्चन्ती कुं रुदन्ती च भूपतीन्सावदद्गिरा ॥१०९॥
अन्योन्यवदनेक्षां च कुर्वन्तः किं नृपाः स्थिताः। मन्नाथे बन्धनं नीते भवतां का सुखासिका ॥११०॥
मोचयध्वं ममाधीशं कौरवाणामधीश्वरम्। अन्यथा भवतां कुत्र स्थास्नुत्वं कीर्तिकृन्तिनाम् ॥१११॥
बिलापमुखरां वीक्ष्य रुदन्तीं तां पितामहः। प्राह भानुमतीं प्रीतां दददाश्वासनामिति ॥११२॥
किं क्रन्दसि कृपापात्रे किं रोदिषि जने जने। मोचयितुं समिच्छा चेत्पतिं तन्मे वचः कुरु ॥११३॥
याहि याहि स्नुषे धर्मपुत्रस्य शरणं ध्रुवम्। यतो बन्धविमुक्तिः स्यात्तव पत्युर्दुरात्मनः ॥११४॥

से तू हथियार-रहित बिल्कुल ही दीन बन गया है। इसके बाद उसने दुर्योधन को पशु की तरह नागपाश से बाँध लिया। यह देख डर के मारे उसके और-और वीर-गण दिशारूपी स्त्रियों की शरण में भाग गये। फिर उनका कुछ पता न चला ॥१०२-१०४॥

इधर दुर्योधन को बाँध लेने से चन्द्रमा के जैसा निर्मल गंधर्व का यश भी संसार में फैल गया। लोग मुक्तकण्ठ से उसके गुण गाने लगे कि तू धन्य है जिसने कि दुर्योधन जैसे वीर शिरोमणि को भी बाँध लिया। सच है न्याय से किसकी जीत नहीं होती अर्थात् नीति से सभी की विजय होती है। उधर दुर्योधन के पकड़े जाने पर सब योद्धा, सवार, महावत और हाथियों पर चढ़े हुए कौरव शोकसागर में डूब गये। यह सब ही पाप का फल है जो उसके योद्धाओं का इतना भारी अपमान हुआ ॥१०५-१०७॥

उधर दुर्योधन की स्त्री भानुमती ने ज्यों ही उसके पकड़े जाने की खबर सुनी त्यों ही वह रोती हुई वहाँ आई। वह शोक-संताप में बिल्कुल ही डूब रही थी और आँसुओं की अविरल धारा से पृथ्वीतल को सींच रही थी। वह चित्रांगद आदि के पास आकर रोती हुई उनसे बोली कि हे वीरगण! आप लोग एक दूसरे के मुँह की ओर ताकते हुए क्या बैठे हैं। बताइए कि आप लोगों ने जो मेरे स्वामी को बाँध लिया है इससे आपको क्या सुख और लाभ होगा। अतएव अच्छा हो यदि कौरवों के अधीश्वर मेरे पतिदेव को आप छोड़ दें, अन्यथा आप लोगों की बड़ी अपकीर्ति होगी और ऐसी हालत में आप लोग कैसे शान्ति लाभ करेंगे और कौन आप लोगों को अच्छा कहेगा ॥१०८-१११॥

भानुमती को इस तरह विलाप करती हुई देखकर भीष्म पितामह ने उसे आश्वासन दिया और कहा कि कृपापात्रे, तू क्यों इतनी घबरा रही है और क्यों हर एक के पास जा-जाकर रोती है। देख, यदि तुझे अपने पति को छुड़ाना ही है तो तू मेरा कहना मान और युधिष्ठिर की शरण में जा। वे तेरे दुरात्मा पति की बंधन से तुरंत छुटकारा दे देंगे। यद्यपि युधिष्ठिर के साथ तेरे पति दुर्योधन ने बड़ा भारी अन्याय किया है परन्तु फिर भी वह धर्म-बुद्धि है, अतः अपराधी कौरव राजाओं को वह अवश्य

कृतेऽपि दुर्णये तेन धर्मपुत्रस्तु धर्मधीः। क्षमः क्षाम्यति भूपालान्कौरवान्कृतदूषणान् ॥११५॥
स धीरो विधुरान्धर्तुं धरण्यां धरणीधरान्। समर्थो न जहात्याशु निजं शीलं कदाचन ॥११६॥
श्रुत्वा तद्वचनं भानुमती तीव्राशया ततः। गता सबान्धवो यत्र समास्ते धर्मनन्दनः ॥११७॥
देहि देहि दयाधीश भर्तृभिक्षां सुखावहाम्। मह्यं क्षान्त्वापराधानां शतं शीतल सन्मुख ॥११८॥
तावता पार्थशिष्येण विबन्ध्य कौरवं नृपम्। रथे संरोप्य संचेले स्वपुरं स्वः पुरोपमम् ॥११९॥
नीयमानं नृपं श्रुत्वावादीत्स विपुलोदरः। भव्यं भव्यमिदं जातं यद्धृतः कौरवाग्रणीः ॥१२०॥
वधो विधीयते यस्तु स्वहस्तेन मया त्वया। स एव स्वयमाप्तोऽस्ति परहस्तेन किं शुचा ॥१२१॥
हसन्तं पावनिं ज्येष्ठो वर्जयित्वा वचो जगौ। उत्तमानामयं भावो न याति विक्रियां क्वचित् ॥१२२॥
दुर्जनैः खिद्यमानोऽपि महान्नो याति विक्रियाम्। राहुणा छाद्यमानोऽपि चन्द्रो नोज्ज्वलतां त्यजेत् ॥१२३॥
पार्थं बभाण संप्राप्तो धर्मपुत्रस्तवाधुना। विद्यतेऽवसरो नूनं तन्मोचनकृते कृतिन् ॥१२४॥
पाण्डवानां जगत्यत्रापकीर्तिर्जायते न हि। यावत्तावद्विमोच्योऽयं कुरूणामधिपस्त्वया ॥१२५॥
यावन्न म्रियते तावत्स विमोच्य त्वमानय। मृतेऽस्मिन्पाण्डवानां हि न सौरूप्यं कदाचन ॥१२६॥
इत्युक्तः स दधावाशु सरथः शक्रनन्दनः। मुच्यतां मुच्यतां नेयो न गेहेऽयमिति ब्रुवन् ॥१२७॥

क्षमा कर देगा। वह धीर सब राज को आपत्ति से छुटकारा दिलाने के लिए समर्थ है। वह अपने दयालु स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता, अतः मुझे आशा तथा विश्वास है कि वह अवश्य ही दुर्योधन को छोड़ देगा ॥११२-११६॥

पितामह की बात मानकर भानुमती वहीं गई जहाँ अपने बन्धुवर्ग के साथ युधिष्ठिर बैठे हुए थे। वहाँ पहुँच कर वह बोली कि दयाधीश, शान्त-चित्त और विवेकी राजन्! आप हम लोगों के सब अपराधों को भूल जाइए और सब सुखों की देने वाली मुझे पति की भीख दया करके दीजिए। उधर गंधर्व विद्याधर दुर्योधन को बाँधकर और रथ में बैठाकर इन्द्रपुरी के जैसी अपनी नगरी को ले गया। इस समाचार को सुन भीम बोला कि दुर्योधन पकड़ा गया यह अच्छा ही हुआ। इसमें शोक करने की बात ही क्या है। जिसका वध मुझे या तुम्हें करना था वह दूसरे के द्वारा हो गया। यह तो खुशी की बात हुई। इस तरह हँसते हुए भीम को युधिष्ठिर ने रोका और कहा कि भाई, उत्तम पुरुषों का ऐसा स्वभाव होता है जो किसी हालत में भी विकृत नहीं होता किन्तु सदा एक-सा रहता है। देखो, जिस तरह राहु के द्वारा ग्रसे जाने पर भी चंद्रमा अपनी उज्ज्वलता को नहीं छोड़ता उसी तरह महान् पुरुष भी दुर्जनों के द्वारा कष्ट दिये जाने पर भी विकार भाव को नहीं प्राप्त होते ॥११७-१२३॥

इसके बाद धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने पार्थ से कहा कि भाई, इसी समय दुर्योधन को छोड़ देने का यत्न करो, जिससे संसार में पाण्डवों की ऐसी अपकीर्ति न उड़ने पावे कि उन्होंने अपने कुटुम्बी के साथ ही ऐसा खोटा व्यवहार किया। तुम शीघ्र जाओ और वह मर न जाये इसके पहले ही छुड़ा कर उसे यहाँ ले आओ। उसके मर जाने से पाण्डवों की भारी अपकीर्ति होगी। युधिष्ठिर के वचन शिरोधार्य कर अर्जुन उसी वक्त रथ पर सवार होकर दौड़ा गया और गंधर्व के पास पहुँच कर उससे

गन्धर्वस्तद्वचः श्रुत्वा स्थितोऽवसरमात्मनः। वीक्ष्यावोचत्प्रकुर्वाणः स्ववीर्यं प्रकटं परम् ॥१२८॥
भवतामस्ति चेच्छक्तिरयं संत्याज्यतां लघु। धनुर्वेदमहाविद्यां दर्शयित्वा निजां पराम् ॥१२९॥
तावत्सस्यन्दनोऽधावत्सुतारस्तरलस्त्वरा। गन्धर्वपक्षमालक्ष्य विपक्षीभूतमानसः ॥१३०॥
शिष्येण सह पार्थेशो युयुधे क्रुद्धमानसः। बाणावल्याथ निःशेषं नभं संछादयंस्त्वरा ॥१३१॥
खचरः शरसंघातैश्छादयंश्च धनंजयम्। पश्यामि ते धनुर्वेदं हसन्निति महामनाः ॥१३२॥
उत्तस्थे सुरथस्थोऽपि खगश्चित्ररथो रथम्। वाहयञ्शक्रपुत्रं च संक्रीडितुमिवोन्नतम् ॥१३३॥
यान्याञ्शरांश्च चित्राङ्गो मुञ्चते सव्यसाचिनम्। व्यर्थीकरोति पार्थस्तांस्तान्मेघानिव मारुतः ॥१३४॥
दिव्यास्त्रेण समारब्धं पुनर्युद्धं सुदारुणम्। ताभ्यां चापसमृद्धाभ्यां क्रुद्धाभ्यां भीरुभीतिदम् ॥१३५॥
चित्राङ्गमुक्तदावाग्निं चिच्छेद जलदेन सः। चिच्छेद जलदं चित्रो वायुना सर्वहारिणा ॥१३६॥
आबाधयत्तदा वायुं वाडवेन धनंजयः। तन्मुक्तं नागपाशं च गरुडेन जघान सः ॥१३७॥
तेन मुक्ताञ्शरानेवं व्यर्थीचक्रे धनंजयः। जयलक्ष्मीमवापाशु साधुकारं जनौघतः ॥१३८॥
तच्छिष्यैः सकलैः पार्थो गुरुभक्त्या नतस्तुतः। दुर्योधनोऽपि पार्थेन प्रीणितो बहुभाषणैः ॥१३९॥

उसने कहा कि दुर्योधन को यहीं और अभी छोड़ दो, इसे न ले जाओ। यह सुनकर गंधर्व ने अपने वीर्य को प्रकट करते हुए अर्जुन से कहा कि हम इसे नहीं छोड़ेंगे। यदि तुममें ताकत हो तो अपनी अपूर्व धनुष-विद्या के बल पर छुड़ा लो ॥१२४-१२९॥

यह देख अर्जुन का एक शिष्य उससे विमुख हो, रथ में सवार होकर उसकी ओर दौड़ा। तब क्रोध में आकर पार्थ ने शिष्य के साथ खूब युद्ध किया और देखते-देखते बाणों की पंक्ति से सारे आकाश-मण्डल को ढँक दिया। यह देख शत्रु विद्याधर ने यह कहकर कि आपके धनुर्वेद को देखता हूँ, हँसते-हँसते अपने बाणों से धनंजय को ही प्रच्छन्न कर दिया।

इसके बाद चित्रांगद भी रथ में सवार होकर युद्ध के लिए उठा और अपने रथ को लेकर अर्जुन की और आया। उसे देख यह जान पड़ता था मानों वह अर्जुन के साथ महती क्रीड़ा करने को ही आ रहा है ॥१३०-१३३॥

इस समय चित्रांगद ने अर्जुन के ऊपर जो-जो बाण चलाये उन्हें अर्जुन ने मेधों को नष्ट करने वाले वायु की भाँति बिल्कुल नष्ट कर दिया। तब वे क्रोध से लाल होकर दोनों ही धनुर्धर दिव्य हथियारों के द्वारा भीषण युद्ध करने लगे, जिसको देखकर डरपोकों को अपने प्राणों की ही आ पड़ती थी। यह देख चित्रांगद ने दावानल बाण छोड़ा जिसको कि पार्थ ने जलद बाण से वारण कर दिया। बाद चित्रांदग ने वायुबाण के द्वारा जब पार्थ के जलद को छेद दिया तब धनंजय ने वाडव-बाण से उसके सर्वहारी वायुबाण को नष्ट कर दिया। तब चित्रांगद ने नागपाश बाण को छोड़ा, जिसे कि धन्जय ने गरुड़ बाण से वारण कर दिया। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार अपने शर-कौशल से धनंजय ने चित्रांगद के छोड़े हुए सभी बाणों को जब निवार दिया तब जयलक्ष्मी स्वयं ही उसके हाथ में आ गई और लोग उसे साधुवाद देने लगे। यह देख पार्थ के शिष्यों ने उसकी भक्ति से खूब पूजा-स्तुति

शरसोपानमालाश्च विधाय विधिवद्बुधः। दुर्योधनं गिरेः शृङ्गात्समुत्तारयति स्म सः ॥१४०॥
आनीय नृपतेः पार्श्वे कौरवं शक्रनन्दनः। मुमोच बन्धनात्खिन्नं बन्धात्खेदो हि जायते ॥१४१॥
युधिष्ठिरं स संनुत्य नत्वा क्षान्त्वा स्थितो जगौ। विपाशीकृत्य संपृष्टः कुशलं धर्मजेन च ॥१४२॥
नाथ बन्धनजं नाभूद्दुःखं मम यथा तथा। मोचितोऽनेन चेत्युक्तिर्नर्माशर्मप्रदायिनी ॥१४३॥
मानभङ्गभवाद् दुःखान्नापरं शर्म हानिदम्। इति संप्रेषितस्तेन प्राप भूपः पुरं परम् ॥१४४॥
गतो निजपुरं दुःखी चिन्तयामास मानसे। हा हा मे मानुषं जन्म गतं निष्फलतां क्षणात् ॥१४५॥
क्वाहं च कौरवाधीशः क्व मे चित्तसमुन्नतिः। तत्सर्वं दलितं तेन रणे मोचयता मम ॥१४६॥
रणे बद्ध्वा पुनर्मुक्तः पार्थेनाहं सुदुःखितः। तद्दुःखं केन वार्येत मम प्राणापहारकम् ॥१४७॥
यः कोऽपि मारयत्याशु पाण्डवांश्चण्डशासनान्। स पराभवशल्यं मे समुद्धरति दुर्धरम् ॥१४८॥
तस्मै ददामि राज्यार्धं तद्हन्त्रे हतमानसः। कोऽप्यस्ति भवने मर्त्यो मम दुःखनिवारकः ॥१४९॥
इति श्रुत्वा जगौ धीमान्कनकध्वजभूपतिः। सप्तमे वासरे तान् वै हनिष्यामि सुपाण्डवान् ॥१५०॥

की। इसके बाद पार्थ ने दुर्योधन की विश्वास दिलाकर प्रसन्न किया और बाणों की सीढ़ी रचकर दुर्योधन को पहाड़ के शिखर से उतारा। इसके बाद उसे युधिष्ठिर के पास लाकर उसने बंधन रहित कर दिया। सच है कि बंधन से सभी को खेद होता है ॥१३४-१४१॥

इस उदारता के बदले दुर्योधन ने युधिष्ठिर की बहुत-बहुत स्तुति की और उन्हें प्रणाम किया। युधिष्ठिर ने भी उससे कुशल पूछा, जिसके उत्तर में दुर्योधन ने कहा कि नाथ, मुझे बंधन का उतना दुख नहीं हुआ जितना कि छूटने पर हुआ है। यह छुटकारा मुझे बहुत ही खटकता है क्योंकि इससे मुझे नीचा देखना पड़ा है और पड़ेगा भी। महाराज मानभंग के दुख के बराबर प्राणियों के सुख का घातक दूसरा नहीं है। यही एक संसार में भारी दुख है, जिसके मारे जीव जीते जी ही मरे के जैसे हो जाते है ॥१४२-१४४॥

इसके बाद युधिष्ठिर ने उसे उसके नगर को भेज दिया। यद्यपि वह सकुशल अपनी राजधानी में पहुँच गया पर उसके हृदय में मानभंग की शल्य भाले की नोंक जैसी चुभ रही थी। अतः उसने मन ही मन सोचा कि हाय, मेरा यह मनुष्य जन्म क्षण में ही व्यर्थ हो गया। कहाँ तो मैं कौरवों का स्वामी और कहाँ मेरे उन्नत विचार परन्तु यह सब बातें उसने मुझे रण में छोड़कर पद-दलित कर दीं। मेरा सब कुछ महत्त्व धूल में मिला दिया गया। मुझे जितना रण में पकड़े जाने का दुख नहीं उतना अर्जुन के द्वारा छुड़ाये जाने का दुख है। नहीं मालूम प्राणों को हरने वाले मेरे इस दारुण दुख को कौन निवारण करेगा। मुझे विश्वास है कि जो कोई महापुरुष इन तेजस्वी पाण्डवों को यमालय भेजेगा वही महाभाग मेरी इस पराभव-रूपी शल्य को भी मिटा सकेगा। उसने पुकार कर कहा कि क्या संसार में कोई ऐसा पुरुष है जो मेरे इस दुख को दूर करे। मैं उसे अपना आधा राज्य दूँगा ॥१४५-१४९॥

यह सुन बुद्धिशाली कनकध्वज राजा ने कहा कि महाराज! मैं विश्वास दिलाकर कहता हूँ कि मैं आज से सातवें दिन अवश्य ही पाण्डवों का काम तमाम कर दूँगा। यदि न करूँ तो प्रतिज्ञा

न हन्मि चेद्वदाम्याशु स्वात्मानं पावके भृशम्। इत्युक्त्वा निर्गतो दुर्धीर्वन ऋष्याश्रमे गतः ॥१५१॥
कृत्यां विद्यां स्थितस्तत्र संसाधयितुमुद्यतः। मन्त्रहोमविधानज्ञः कनकध्वज इत्वरः ॥१५२॥
तावद् ब्रह्मसुतो ज्ञात्वा गत्वा पाण्डवसंनिधिम्। जगाद मधुरालापैः पाण्डवानां सुखाप्तये ॥१५३॥
सप्तमे वासरे राजन् कृत्याविद्याप्रभावतः। हनिष्यति हतात्मायं भवतः कनकध्वजः ॥१५४॥
इति श्रुत्वा सुधर्मात्मा धर्मपुत्रः पवित्रधीः। नासाग्रदृङ्निरीहः सन् निःसंगो निश्चलः स्थितः ॥१५५॥
शुभध्यानरतः शुद्धो दुःसंसारपराङ्मुखः। समाहितमनास्तस्थौ निमीलितनिजेक्षणः ॥१५६॥
प्राणीप्सितसुशर्माणि जायन्ते धर्मतो ध्रुवम्। भो भ्रातरः कुरुध्वं हि धर्ममेकं सुसिद्धये ॥१५७॥
अस्माकं परलोकाय यो वृषः सकलैः स्तुतः। सुरासुरैः सदा भूयाद्विघ्नसंघातघातकः ॥१५८॥
धर्मः सोऽप्यत्र संसिद्ध्यै सहायो मे भविष्यति। धर्मतो नापरं विद्धि सातहेतुं सनातनम् ॥१५९॥
आपदा धर्मतः पुंसां संपदायै भवेल्लघु। ग्रीष्मे सूर्यकरा यद्वत्सुवृक्षाणां फलर्द्धये ॥१६०॥
इति धर्मं स्तुवन्धर्मपुत्रोऽयमवतिष्ठते। तावदासनकम्पेन धर्मदेवः प्रबुद्धधीः ॥१६१॥

करता हूँ कि मैं अपने आपको अग्नि देव को भेंट कर दूँगा। इसके बाद वह दुर्बुद्धि वहाँ से निकला और वन में ऋषियों का जहाँ एक आश्रम था वहाँ पहुँचा। वहाँ वह उद्धत कृत्या विद्या को साधने लगा और होम-मंत्र-आदि विधि करने लगा। जब इस बात की खबर नारदजी को हुई तब वे उसी समय पाण्डवों के पास आये और उनके हित की वांछा से मधुर शब्दों में बोले कि आज से सातवें दिन कृत्या विद्या के प्रभाव से दुरात्मा कनकध्वज तुम लोगों को मारना चाहता है और इसी लिए वह कृत्या विद्या को वन में साध रहा है ॥१५०-१५४॥

नारद के वचनों को सुनकर पवित्र-बुद्धि धर्मात्मा युधिष्ठिर ने अपनी सारी इच्छाओं को एकदम रोक दिया और वह मेरुवत् निश्चल होकर धर्म-ध्यान करने लगे। उन्होंने परिग्रह से ममता छोड़कर नाक के अग्रभाग पर दृष्टि जमाई। वह संसार से एकदम विमुख-उदासीन-हो गये और अपने मन पर उन्होंने पूरा-पूरा अधिकार जमा लिया। वह आत्म-स्वरूप की चिन्तना में ऐसे उलझे कि सब तरफ से मन को मोड़कर आत्मा में ही लीन हो गये ॥१५५-१५६॥

उन्होंने अपने भाइयों से कहा कि भ्रातृगण, धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जिसके प्रभाव से प्राणियों के सब मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। अतः आप लोग भी अपने मनोरथों की सिद्धि के लिए एक धर्म का ही अद्वितीय शरण ग्रहण करें। देखिए जिस धर्म को परलोक के लिए सुर-असुर आदि सब सेवन करते हैं, करते थे और सदा काल करते रहेंगे वह धर्म विश्वास रखो कि अवश्य ही तुम्हारे विघ्नों को दूर करेगा और तुम्हें सब सुख देगा। मेरा तो यही विश्वास है कि धर्म के सिवा जीवों को और कोई भी ऐसा नहीं जो सुखी करे या सुख दे। इस धर्म के प्रभाव से आपत्ति भी पुरुषों के लिए सम्पत्ति-रूप हो जाती है और सुख देती है। कौन नहीं जानता कि ग्रीष्म के सूरज की किरणें भी वृक्षों में फल-फूल रूप ऋद्धि पैदा करती है ॥१५७-१६०॥

इस प्रकार युधिष्ठिर धर्म की प्रशंसा कर रहे थे कि इसी समय अपने आसन के कंपित होने

तदुपद्रवमाज्ञाय सहसा स समाययौ। अवामि पाण्डवं वंशं क्षीयमाणं वदन्निति ॥१६२॥
स सुरः प्रकटीभूय जजल्प गूढमानसः। अस्मत्स्थाने स्थिता यूयं कथं सुस्थिरमानसाः ॥१६३॥
अस्मन्माहात्म्यमाज्ञातं भवद्भिः किं पुरा न हि। क्षीयन्तेऽस्मत्प्रकोपेन क्षणार्धेन क्षितौ जनाः ॥१६४॥
इत्याभाष्य विशुद्धात्मा जहार द्रौपदीं सतीम्। धावन्ति स्म तदा क्रुद्धाः कौन्तेयाः कृन्तितुं सुरम् ॥१६५॥
तावन्मद्रीसुतौ तूर्णं दधावतुर्महाक्रुधौ। जल्पन्ताविति वेगेन सुपर्वाणं वरत्विषम् ॥१६६॥
क्व यासि रे महावीर हृत्वेमां सुन्दरीं वराम्। मार्यमाणं स्वमात्मानं किं न जानासि सत्वरम् ॥१६७॥
यत्र यत्र सुरो याति पाञ्चाल्या सह पावनः। तत्र तत्राटतुस्तूर्णं मद्रीपुत्रौ मनोहरौ ॥१६८॥
पिपासापीडितौ तावज्जातौ तौ निर्जले वने। जग्मतुः क्वापि पानीयं पातुं पीवरसद्‌भुजौ ॥१६९॥
निर्मिनोति स्म तावत्स जलकल्लोलसंकुलम्। कमलाकरसंकीर्णं पद्माकरं वृषः सुरः ॥१७०॥
नकुलः सहदेवश्च देवखातं पिपासितौ। पातुं पावनपानीयं पवित्रौ वीक्ष्य तावितौ ॥१७१॥
अप आपीय पूतौ तौ पतितौ जलयोगतः। न वित्तः स्म च मूर्च्छाढ्यौ कौचिद्विषजलं यथा ॥१७२॥
तदा पार्थो जगादैवं क्व गतौ भ्रातरौ मम। शीघ्रेण दीर्घकालेन नायातौ किं महाद्‌भुतम् ॥१७३॥

से एक अवधि-ज्ञानी देव को पाण्डवों के इस उपद्रव की खबर लगी। वह उसी समय वहाँ आया और बोला कि मैं नष्ट होते हुए पाण्डवों के कुल की रक्षा करूँगा, उन्हें तिलमात्र भी दुख न होने दूँगा। इसके बाद वह प्रकट होकर पाण्डवों से बोला कि तुम लोग ऐसे बेफिक्र होकर मेरे स्थान में क्यों ठहरे हो। क्या तुम लोग मेरे महात्म्य को नहीं जानते और न पहले क्या कभी तुमने उसे सुना ही है। देखो, मेरा महात्म्य ऐसा है कि मेरे कोप के मारे कोई मनुष्य पृथ्वी पर एक क्षण भी नहीं टिक सकता। इसके बाद उस विशुद्धात्मा ने द्रौपदी सती को हर लिया। उसके द्वारा द्रौपदी को हरी गई देखकर पाण्डवों को बड़ा भारी क्रोध आया और वे उसे मारने को उसके पीछे भागे। उनके साथ ही नकुल और सहदेव क्रोधित हो उसके पीछे वेग से यह कहते हुए दौड़े कि दुष्ट तू द्रौपदी सती को हरकर कहाँ जायेगा। अब तू अपने आपको मरा हुआ ही समझ। काहे को इधर-उधर भागता फिरता है ॥१६१-१६७॥

निश्चय समझ कि हम तुझे अब जीवित न छोड़ेगे। इसके बाद पांचाली सहित वह जहाँ-जहाँ भागता गया नकुल और सहदेव भी वहीं-वहीं उसके पीछे-पीछे भागे गये। भागते-भागते वे दोनों भाई एक निर्जन वन में आ गये। उन्हें प्यास की बड़ी पीड़ा हो रही थी। वे जल की खोज में उस वन में इधर-उधर घूमने लगे। इतने में एक ओर उस देव का निर्माण किया हुआ तालाब उन्हें दिखाई पड़ा जो जल की कल्लोलों से व्याप्त था, कमलों से भरपूर था। उसको देखकर वे पवित्र आत्मा दोनों भाई पानी पीने के लिए उस पर गये और उसका पानी पीने के साथ ही वे जमीन पर गिरकर मूर्च्छित हो गये, जैसे कि विषैले जल को पीकर मनुष्य सुध-बुध-रहित हो जाते हैं। बड़ी देर तक उन्हें वापस लौटे न देखकर अर्जुन दुखित हो बोला, हाय! मेरे प्यारे भाई कहाँ चले गये? उन्हें अति शीघ्र ही लौट आना चाहिए था सो इतना काल बीत गया तब भी वे वापस नहीं आये, न जाने कहाँ चले गये ॥१६८-१७३॥

केनचित्कथिते तावत्तत्स्वरूपे धनंजयः। नत्वा युधिष्ठिरं तूर्णं निर्गतस्तौ विलोकितुम् ॥१७४॥
तेन कासारतीरे तौ कनिष्ठौ गतजीवितौ। इव वीक्ष्य विषण्णेन रुरुदे करुणस्वरम् ॥१७५॥
अहो किं पतितौ भूमौ सूर्याचन्द्रमसौ च खात्। भुजौ वा धर्मपुत्रस्य पतितौ किं महाहवे ॥१७६॥
किमुत्तरं प्रदास्याम्यनयोर्भ्रात्रे सुखात्मने। विलप्येति चिरं चित्ते दधार धीरतामसौ ॥१७७॥
पुनर्धनंजयः क्रुद्धो धृत्वा गाण्डीवसद्धनुः। करे बभाण भीमेन स्वरेण क्षोभयन्दिशः ॥१७८॥
भ्रातरौ येन केनापि हतौ हन्त हतात्मना। मम तं प्रेषयिष्यामि सत्वरं यममन्दिरे ॥१७९॥
बभाण भीतिमुक्तात्मा साक्षाद्धर्म इवोन्नतः। धर्मः प्रच्छन्नरूपेण पार्थं प्रत्यर्थिनं यथा ॥१८०॥
तव भ्रातृयुगं योग्यं युगपद्विनिपातितम्। मया चेच्छक्तिमांस्त्वं हि कुरु तर्हि ममोदितम् ॥१८१॥
मत्कासारे क्रुधं त्यक्त्वा पिपासां हन्तुमुल्बणाम्। पयः पिब पवित्रात्मन्यद्यस्ति बलवान्भवान् ॥१८२॥
इत्युक्ते क्रुद्धचित्तेन पपे तस्य सरोजलम्। भ्रमद्देहः पपातासौ विषेणेव जलेन च ॥१८३॥
यावत्प्रत्येति पार्थो न भीमं प्रोवाच धर्मतुक्। पार्थः किं न समायातो विलम्बयति केन वा ॥१८४॥

इतने में एक मनुष्य ने आकर उनकी जो हालत हुई थी, वह सारी की सारी अर्जुन से कह सुनाई। सुनकर धनंजय फिर एक क्षण भर भी न ठहरा और वह युधिष्ठिर को प्रणाम कर अतिशीघ्र ही उन्हें देखने के लिए निकला। थोड़ी देर में वह उसी तालाब पर पहुँचा जहँ दोनों मूर्च्छित पड़े हुए थे। उन्हें उस तालाब के किनारे मरे हुए की भाँति बेहोश पड़े देखकर उसे बड़ा भारी विषाद हुआ। वह शोकसागर में डूब गया। उसका मुँह मलिन हो कर मुरझा गया। उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली और आखिर उसका धीरज छूट गया। वह अतीव कातर हो विलाप करने लगा कि हाय! ये कौन हैं? क्या आकाश से पृथ्वी पर सूरज और चाँद ही तो नहीं आ पड़े हैं, या महायुद्ध के समय युधिष्ठिर की दोनों भुजायें भग्न होकर तो नहीं गिरी हैं। देखो, ये कैसी हालत में पड़े हुए हैं। इन्हें देखकर तो मेरा हृदय ही फटा जाता है, वह बिल्कुल धीरज ही नहीं धरता। हाय! मैं यहाँ से जाकर इनके सम्बन्ध में बड़े भाई को क्या उत्तर दूँगा। इस प्रकार अर्जुन ने बड़ा विलाप किया।

जब उसका हृदय कुछ शांत हुआ तब क्रोध में आ उसने अपने भयावने स्वर से सारी दिशाओं को क्षोभित करते हुए कहा कि जिस किसी दुष्टात्मा ने मेरे इन परम प्यारे भाइयों को मारा है मैं उस दुष्ट को अभी ही यम-मन्दिर का अतिथि बनाये देता हूँ ॥१७४-१७९॥

अर्जुन की इस विभीषिका को सुनते ही साक्षात् धर्म-रूप और निर्भय उस देव ने, जैसे कोई शत्रु से कहता है वैसे ही छिपे-छिपे, अर्जुन से कहा कि वीर पार्थ, तुम्हारे इन दोनों योग्य भाइयों को, सच कहता हूँ कि मैंने ही मारा है और तुमसे भी कहता हूँ यदि तुम में कुछ ताकत हो तो तुम भी मेरा एक कहना कर देखो। तुम थोड़ी देर के लिए अपने क्रोध को तो छोड़ दो और अपनी प्यास बुझाने के लिए मेरे इस तालाब का थोड़ा-सा पानी पी देखो ॥१८०-१८२॥

देव की ऐसी आश्चर्य-पूर्ण बात सुनकर क्रोध में भूल अर्जुन ने भी उस तालाब का पानी पी लिया और इसके थोड़े ही समय में वह भी उस विषैले जल से बेसुध हो चक्कर खाकर जमीन पर

त्वं याहि ब्रूहि तं लात्वा समेहि हितकारक। इत्युक्ते पावनिः प्रीतामवनिं विदधद्गतः ॥१८५॥
पदप्रहारघातेन काश्यपीं कंपयन्पराम्। पद्माकरं प्रपेदेऽसौ परमो विपुलोदरः ॥१८६॥
गतस्तत्र ददर्शासौ पतितांस्त्रीन्सुबान्धवान्। हाकारमुखरः क्षीणो विलक्षः क्षीणमानसः ॥१८७॥
विललापेति हा दैव किमनिष्टमनुष्ठितम्। अद्यैव पतिता लोकास्त्रयो वा बान्धवा मम ॥१८८॥
बान्धवांस्त्रीन्विमुच्याहं क्व व्रजामि स्थितिं भजे। क्व केन वचनं वच्मि क्व पश्यामि सहोदरान् ॥१८९॥
पावनिर्विलपन्नेवमपप्तन्मूर्च्छया भुवि। कृच्छ्रेण च्छिन्नशाखीव मुक्तशोभो गतक्रियः ॥१९०॥
वायविर्वायुना जातस्तत्रत्येन पयःकणैः। गतमूर्च्छः समुत्थाय पश्यति स्म दिशो दश ॥१९१॥
उवाच पावनिश्चेति हता मे येन बान्धवाः। तमीक्षे चेत्स्वहस्तेन हत्वा दास्यामि दिग्बलिम् ॥१९२॥
ततो गगनमार्गस्थो वृषोऽवादीद्वचो वरम्। यः कोऽहि बलवाञ्लोके प्रविश्य सरसं सरः ॥१९३॥
पयः पिबति तस्यैव शक्तिं वेद्मि निरङ्कुशाम्। इत्युक्ते पावनिस्तत्र प्रविश्य स्नातवाञ्जले ॥१९४॥
पपौ परमपानीयं पावनिस्तस्य निर्भयः। निर्गतो यावदास्ते स समुत्कृष्टमहाबलः ॥१९५॥

गिर पड़ा। उधर जब बहुत काल तक पार्थ भी वापस न लौटा तब खेदित होकर युधिष्ठिर ने भीम से कहा कि भाई, मालूम नहीं पड़ता कि अर्जुन को भी इतना विलम्ब क्यों लगा। तुम जल्दी जाकर वह जहाँ हो उसे खोजो। युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर जगत् को प्रसन्न करने वाला भीम उसी वक्त वहाँ से चलकर अपने पाद-प्रहार से जमीन को कंपित करता हुआ वहीं जा पहुँचा जहाँ वे तीनों ही बे-सुध पड़े थे ॥१८३-१८७॥

भीम उनकी मृतक जैसी दशा देखकर बड़ा दुखी हुआ और विलाप करने लगा। उनकी वह दुख-मय अवस्था न सह सकने के कारण उसका दिल टूट-सा गया। वह दैव को उलाहना देने लगा कि राक्षस! तूने यह क्या अनिष्ट उपस्थित कर दिया है। आज यह जान पड़ता है मानों मेरे भाई ही नहीं मरे किन्तु समस्त लोक ही नष्ट हो गया दुष्ट, अब तू ही बता कि इन्हें छोड़कर हम कहाँ जायें, कहाँ रहें, किससे बातें करें और कहीं अब इन प्यारे सहोदरों को देखें इस प्रकार विलाप करता हुआ महाभट भीम दुख के मारे मूर्च्छित होकर पृथ्वी की गोद में लेट गया, जैसे कि काट दिया गया पेड़ क्रिया-विहीन होकर जमीन पर गिर पड़ता है। इसके बाद जब वह ठंडी हवा के स्पर्श से कुछ सचेत हुआ तब उठकर चकित की भाँति सब दिशाओं की ओर देखने लगा और बोला कि जिस दुष्ट ने मेरे इन परम प्यारे भाइयों के प्राण लिये है उसको यदि मैं देख पाता तो कभी न छोड़ता। अपने हाथों के वज्र जैसे प्रहार से उसे गतप्राण कर दिशाओं की बलि चढ़ा देता। भीम के गर्व-युक्त वचनों को सुनकर आकाश में ठहरा हुआ वह देव बोला कि सुनिए, आप चाहे अपने मुँह मियांमिट्ठू भले ही बनें, पर मैं तो उसी को निरंकुश शक्ति वाला मानूँगा जो निर्भय हुआ मेरे इस तालाब में जाकर पानी पियेगा ॥१८८-१९३॥

देव के कहने के साथ ही भीम तालाब पर गया और उसने निर्भय हो स्नान कर उसका पानी पिया। इसके बाद ज्यों ही वह महा बली बाहर आकर बैठा कि उसे भी उसी वक्त मूर्च्छा आ गई और

तावद्विषेण संछिन्नो मुमूर्च्छ धरणीमितः। न विदन्विदितात्मापि स्वेष्टानिष्टानि किंचन ॥१९६॥
तावद्युधिष्ठिरो धीमान्विषण्णो निजचेतसि। अचिन्तयच्चिरं चित्ते नायाता मम बान्धवाः ॥१९७॥
स उत्थाय स्थितस्तत्र वनषण्डं विलोकयन्। ददर्श पतितान्भ्रातॄनितस्ततः सुमूर्च्छितान् ॥१९८॥
दुःखेन खिन्नचेताः स मूर्च्छया पतितो भुवि। कथं कथमपि प्राप्तचेतनो विललाप च ॥१९९॥
भो भ्रातरः पिबन्तोऽम्भो मूर्च्छिताः किमु निश्चितम्। वज्रस्तम्भे कथं लग्नो घुणो निर्घृणघुर्घुरः ॥२००॥
विलासमेष्यति क्रुद्धः पूर्णराज्यस्य कौरवः। अद्य पाण्डववंशस्य स्वयं जातः क्षयः क्षणात् ॥२०१॥
बद्धोऽपि कौरवः क्रुद्धैः स्वयोधैर्युधि बन्धुरैः। मया मारयितुं नैव दत्तो दैववशेन च ॥२०२॥
तथापि बान्धवा मेऽद्य हता दैवेन दुर्दृशा। दैवस्याथो अदैवत्वकरणे मम शक्तता ॥२०३॥
मारयन्तो महामत्ताः कौरवान्मम सेवकाः। रक्षिता मयका धात्रेदृग्विधं विहितं भुवि ॥२०४॥
पापठीति स्म भूपीठे कोदण्डेन हता मया। बान्धवाश्चण्डकोदण्डा धर्मदेवस्तु इत्यलम् ॥२०५॥
धर्मपुत्र समर्थोऽस्यवगाह्य यदि मत्सरः। पयः पिब स्वशक्त्या किं वृथा गर्जसि भेकवत् ॥२०६॥

वह एकदम बेहोश हो गया। आखिर अन्य भाइयों की भाँति उसे भी पृथ्वी की गोद में लेट जाना पड़ा। सच है कि बड़े-बड़े महात्मा भी अपने ऊपर आने वाले अनिष्टों को नहीं जान पाते हैं ॥१९४-१९६॥

उधर जब समय बहुत बीत गया और भीम भी पीछा न लौटा तब युधिष्ठिर को बड़ी चिन्ता ने घेरा। उनका मुँह फीका पड़ गया। वह मन ही मन सोचने लगे कि इतना समय बीत गया और अब तक भी बन्धु-गण पीछे नहीं आये। मालूम नहीं क्या हुआ। जाकर देखूँ कि क्यों नहीं आये। इसके बाद वह उठे और वन को देखते हुए वहीं पहुँचे। वहाँ उन सबको मूर्च्छित देखकर उन्हें भी मूर्च्छा आ गई। इसके बाद जब वे सुध में आये तब विलाप करने लगे कि बन्धु-गण, जान पड़ता है आप लोग इस तालाब के पानी से मूर्च्छित हो गये हैं। खेद है कि सड़ी चीजों में लग जाने वाला घुन इन वज्र जैसे खंभों में कैसे लग गया। हाय! आज यहाँ पाण्डव-कुल का सर्वनाश हो गया। अब दुष्ट और क्रोध के भण्डार दुर्योधन की खूब बन पड़ेगी। वह सारे राज्य का अधीश्वर बन कर मन की मुराद पूरी कर लेगा। उस दुष्ट के अन्याय को रोकने वाला अब कोई नहीं रह गया है। जब उस दुष्ट को क्रुद्ध हुए योद्धाओं ने युद्ध में बाँध लिया था तब देव के हाथ से मैंने ही उसे छुड़ाया था, उसे मारने नहीं दिया था परन्तु हाय! उसी दैव ने अब मेरे ही प्यारे भाइयों को मार डाला है। मुझमें उस दुष्ट दैव को भी हतप्रभ करने की शक्ति है और उसी का यह फल था जो मैंने उस वक्त उन मत्तों के हाथ से कौरवों को मौत से बचा लिया था परन्तु फिर भी दुष्ट दैव को भय न लगा और उसने मेरे ही साथ ऐसा व्यवहार किया ॥१९७-२०४॥

दैव के प्रति यह उलाहना सुन वह देव बोला कि धर्मराज, तुम्हारे इन प्रचण्ड धनुषधारी बान्धवों को मैंने ही अपने प्रभाव से इस अवस्था को पहुँचाया है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। तुम भी मेरी एक बात सुनो। वह यह कि यदि तुम भी कुछ शक्ति रखते हो तो इस तालाब का पानी पिओ। अन्यथा अपनी शक्ति का व्यर्थ अभिमान क्यों करते हो। क्यों मेंढक के जैसे गरजते हो। तुम्हारी इस

इत्याकर्ण्य प्रबुद्धात्मा धर्मपुत्रः समर्थधीः। सरः प्रविश्य पानीयं पपौ पूतमनाः स्वयम् ॥२०७॥
तत्क्षणं स पपाताशु भुक्तहालाहलो यथा। धिक्चेष्टितं विधेर्येन तेषामीदृग्विधं कृतम् ॥२०८॥
कनकध्वजभूपस्य जपमन्त्रविधानतः। सप्तमेऽह्नि कथंचिच्च कृत्या सिद्धिमगात्तदा ॥२०९॥
सागतादेशमिच्छन्ती साधकच्छन्दवर्तिनी। ययाचे परमादेशं कनकध्वजभूपतिम् ॥२१०॥
अतुला विपुला शक्तिर्भवत्याश्चेत्त्वरा भृशम्। अटित्वा झटिति प्रीते जहि तान्पञ्च पाण्डवान् ॥२११॥
लब्धादेशा क्रुधा तत्र सा चचाल सुपाण्डवाः। पतिता आसते यत्र मूर्च्छां प्राप्ता मृता इव ॥२१२॥
तावता शबरीभूय धर्मदेवः शुचाकुलः। आयासीत्पाण्डवाभ्यर्णं पाण्डवान्भाषयन्मृतान् ॥२१३॥
इतस्ततः परावृत्य गतजीवाञ्शवाकृतीन्। ज्ञात्वा कृत्यापि प्रोवाच शबरं शाम्बरीमयम् ॥२१४॥
कनकध्वजभूपेन प्रेषितो हन्तुकाम्यया। अहं पाण्डवभूपालान्कुरुजाङ्गलनायकान् ॥२१५॥
इमे मया मृता दृष्टा दैवतो वद सत्वरम्। किं कर्तव्यं किरातेश समाकर्ण्येति सोऽवदत् ॥२१६॥
हताशयं जहि त्वं तं गत्वा सत्वरमञ्जसा। श्रुत्वा सा निर्गता हन्तुं तं खलं विफलोदयम् ॥२१७॥
पतित्वा तस्य शिरसि सा जघानाघविघ्नितम्। कनकध्वजभूपालमद्रिं वाशनिरूर्जितम् ॥२१८॥
कृत्य स्वकृत्यमाकृत्य जगाम स्थानमात्मनः। धर्मोऽथ निखिलं वृत्तं निश्चिकायासुरीभवम् ॥२१९॥

टर-टर से कुछ काम न चलेगा। कुछ करके दिखाना पड़ेगा। देव की ऐसी अचम्भे में डालने वाली बात सुनकर प्रबुद्ध, पवित्रमना और धर्म-बुद्धि युधिष्ठिर चट से तालाब में घुसे और उन्होंने निडर हो उसका पानी पी लिया। इसके थोड़ी ही देर बाद वह भी अन्य भाइयों की तरह विष पीने वाले पुरुष की तरह, उसी वक्त धराशायी हो गये। हाय! धिक्कार हैं उस दैव की दुष्ट चेष्टा को जिसने कि ऐसे धर्म-बुद्धि और धर्म के अवतारों की भी ऐसी शोचनीय हालत कर दी ॥२०५-२०८॥

उधर कनकध्वज के मंत्र-विधान से सातवें दिन उसे कृत्या विद्या सिद्ध हो गई और उसके पास आकर उससे आज्ञा माँगने लगी। कनकध्वज ने कहा कि यदि तुम्हारी शक्ति अतुल और विपुल है तो तुम अति शीघ्र जाकर पाण्डवों का सर्व-नाश कर दो। उसके इस आदेश को पाकर क्रोध से लाल हो वह चली गई और वहाँ पहुँची जहाँ कि पाण्डव मूर्च्छित हो मरे से पड़े थे। इसी समय धर्मदेव शोकातुर भील का रूप बना कर वहीं आया और उन्हें इधर-उधर लौट-लौटकर देखने लगा। तब उन्हें निश्चय से मरा हुआ जानकर उससे वह विद्या बोली कि मुझे पाण्डवों को मारने के लिए कनकध्वज राजा ने भेजा था परन्तु मैंने यहाँ आकर कुरुजांगल देश के इन स्वामियों को अपने आप ही मरा पाया। भीलराज, कहो अब मैं क्या करूँ? विद्या के इन वचनों को सुनकर भील ने कहा कि वह दुष्ट इतना नीच है तो तुम जाकर उस हताशय कनकध्वज को ही यमालय भेजो। भील की यह सलाह उसे ठीक जँच गई। वह उसी वक्त उस विफल मनोरथ को मारने के लिए वहाँ पहुँची और उस पापी के सिर पर पड़कर उसने उसका सर्वनाश कर दिया, जैसे अति कठोर वज्र-प्रहार पर्वत का चकनाचूर कर देता है। इस प्रकार अपने कृत्य को पूरा करके वह कृत्या अपने स्थान को चली गई ॥२०९-२१९॥

सिञ्चयित्वाखिलान्भूपान्धर्मश्चामृतबिन्दुना। सुसुप्तानिव वेगेन समुत्थापयति स्म सः ॥२२०॥
तदा धर्मसुतोऽप्राक्षीत्किरातं को भवानिति। उपकारकरोऽस्माकं शुभकर्म यथा नृणाम् ॥२२१॥
भिल्लः श्रुत्वा वचोऽवादीद् भो धर्मात्मज धर्मधीः। आराधितस्त्वया धर्मो विशुद्धो विबुधोत्तमः ॥२२२॥
तत्प्रभावादहं बुद्ध्वावधिबोधाद्बुधोत्तम। सौधर्माधिपतेः प्रीत उपसर्गो महात्मनाम् ॥२२३॥
पाण्डवानां समागत्य कृत्यां किल्बिषसंनिभाम्। अवारयं पुनः सेत्वा व्यधक्षत्कनकध्वजम् ॥२२४॥
इति वृत्तान्तमावेद्य धर्मः पार्थाय द्रौपदीम्। दत्त्वा स्वसदनं यातो नत्वा तत्पादपङ्कजम् ॥२२५॥
कौन्तेयाः क्रमतः प्रापुः पुरं मेघदलाभिधम्। सिंहाख्यस्तत्प्रभुः ख्यातः काञ्चनाभास्य कामिनी ॥२२६॥
तयोः सौरूप्यसंपन्ना सुता कनकमेखला। शचीव सुचिरं चित्ते जाता प्रीतिं वितन्वती ॥२२७॥
भीमो भोजनसिद्ध्यर्थं पुरं प्राप्तः समाप्तवान्। राज्ञा दत्तां परां कन्यां ज्येष्ठभ्रातृनियोगतः ॥२२८॥
तत्र स्थित्वा कियत्कालं देशं कौशलसंज्ञकम्। विलोक्य निर्गताः प्रापुः क्रमाद्रामगिरिं गिरिम् ॥२२९॥
पाण्डवाः क्रमतो भेजुर्भ्रमन्तो भूतलं शुभम्। विराटविषये रम्यं विराटनगरं वरम् ॥२३०॥
तत्र तैर्विहितो मन्त्रः स्वतन्त्रैश्चित्रमानसैः। द्वादशाब्दावधिः पूर्णो जातोऽस्माकं महौजसाम् ॥२३१॥
एतावत्कालपर्यन्तं वनेचरवनेचराः। इव तस्थिम सन्मानधर्मशर्मविवर्जिताः ॥२३२॥

इसके बाद उसने उन पाण्डवों को अमृत की बूँदों के द्वारा सींचा और सोने से उठ बैठने की भाँति उन्हें पूरा-पूरा सचेत कर दिया। उस वक्त युधिष्ठिर ने उससे पूछा कि शुभ कर्म के जैसे हमारे उपकारी तुम कौन हो। देव ने कहा कि धर्मात्मा धर्मराज, मैं सौधर्म इन्द्र का प्रीतिपात्र एक देव हूँ। तुमने जो अभी विशुद्ध धर्म की आराधना की थी उसके प्रभाव से अवधिज्ञान द्वारा तुम्हारे भावी उपसर्ग को जानकर उसे दूर करने के लिए मैं आया हूँ ॥२२०-२२३॥

मैंने यहाँ आकर वज्र पाप के जैसी कृत्या विद्या को वारण किया जो कि तुम्हारा सर्वनाश करने के लिए कनकध्वज की भेजी हुई यहाँ आई थी। मैंने सब बातें जानकर उसे ऐसी सम्मति दी कि जिससे उसने जाकर कनकध्वज को ही भस्म कर दिया। यह सब वृतान्त कहकर, पार्थ को द्रौपदी सौंपकर और उनके चरण-कमलों को नमस्कार कर वह धर्मदेव अपने स्थान को चला गया ॥२२४-२२५॥

इसके बाद वहाँ से चल कर पाण्डव मेघदलपुर में आये। यहाँ का स्वामी सिंह राजा बहुत प्रसिद्ध था। उसकी रानी का नाम कांचनाभा था। वह वास्तव में कंचन के जैसी आभा वाली थी और सच पूछो तो इसी कारण से ही कांचनाभा उसका नाम पड़ा था। सिंह और कांचनाभा के एक पुत्री थी, जो रूप सौन्दर्य-सम्पन्न थी। उसका नाम कनकमेखला था। वह इन्द्र की इन्द्राणी जैसी थी। सब को वह बड़ी प्यारी थी। बड़े भाई की आज्ञा से राजा की दी हुई उस राज-कन्या का भीम ने पाणिग्रहण किया ॥२२६-२२८॥

इसके बाद पाण्डव बहुत दिनों तक वहीं रहे और उन्होंने कोशल देश को खूब देखा। बाद वहाँ से भी चल कर धीरे-धीरे वे रामगिरि पहाड़ पर आये। यहाँ से धूमते हुए वे सुन्दर विराट नगर में पहुँचे। वहाँ आकर उन्होंने विचार किया कि हमारे पूरे बारह वर्ष तो वन में वनेचरों की तरह बीत गये। अब एक वर्ष और है जो अधिक मास का है। अतः एक साल भेष बदल, छिपे रहकर यहीं

वर्षैकं केवलं कम्प्राः प्रच्छन्नाः स्वच्छमानसाः। तिष्ठामो दर्शयन्तोऽत्र स्वकौशल्यं जनोत्करान् ॥२३३॥
ज्येष्ठो जगौ भवाम्यत्र पुरोधा धर्मदेशकः। भीमोऽभाणीद्भवाम्याशु बल्लवो भोजनकृते ॥२३४॥
पार्थः प्रार्थयते स्पष्टमहं नाटकनायकः। भूत्वा सुनर्तकीर्नित्यं नर्तयामि सुनर्तिताः ॥२३५॥
देहे च शाटकं धृत्वा निचोलं हृदयस्थले। बृहन्नडाभिधो भूत्वा तिष्ठामि शीलसंयुतः ॥२३६॥
नकुलः कलयामास वचो वाजिसुरक्षणे। तिष्ठामि स्थिरचेतस्कः सहदेवस्तदा जगौ ॥२३७॥
रक्षामि गोधनं धन्यं धनधान्यविवर्धकम्। द्रौपदी प्राह सन्मालाकारिणी च भवाम्यहम् ॥२३८॥
इमां सुरचनां चित्ते विरचय्य सुपाण्डवाः। स्वस्ववेषान्परित्यज्य यथोक्ताचारचारिणः ॥२३९॥
सर्वे कार्पटिका भूताः काषायवसनावहाः। महीशमन्दिरं जग्मुर्मनोनयननन्दनम् ॥२४०॥
विराटभूपतिस्तत्र निहताशेषशात्रवः। बभूव भूरिभूमीशमौलिसन्मणिपूजितः ॥२४१॥
तमभ्येत्य स्थितास्तत्र कौन्तेयास्तेन मानिताः। कुर्वन्तः कुशलाः स्वं स्वं नियोगं निर्मलाशयाः ॥२४२॥
विज्ञानिनः स्वविज्ञानं दर्शयन्तः सुदर्शनाः। सुघटाय विराटाय धर्ममार्गरताय च ॥२४३॥
मासा द्वादश तेषां हि गताः सत्कार्यकारिणाम्। भूपप्रियां च पाञ्चाली स्तुवन्त्यस्थात्सुदर्शनाम् ॥२४४॥
चूलिकायामथो पुर्यां चूलिकोऽभून्महीपतिः। विकचाख्या प्रिया तस्य विकसन्नेत्रपङ्कजा ॥२४५॥
कीचकाद्याः सुतास्तस्य शतं जाता गुणोन्नताः। कदाचित्कीचकोऽप्यागाद्विराटे स्वसृसंनिधिम् ॥२४६॥

बिताना चाहिए। इस निश्चय के अनुसार युधिष्ठिर ने कहा कि मैं धर्मोपदेश करने वाला पुरोहित बनूँगा। भीम ने कहा कि मैं भोजन पकाने वाला रसोइया बनूँगा। अर्जुन ने कहा कि मैं नाटक की नायिका बनूँगा, उत्तम नृत्य करना सिखाऊँगा और साड़ी तथा चोली पहिन कर रहूँगा। अपना नाम मैं रखूँगा बृहंनला। नकुल ने कहा कि मैं घोड़ों की रक्षा पर रहूँगा और धीर-चित्त सहदेव ने कहा कि मैं धन-धान्य को बढ़ाने वाले गोधन की रक्षा करूँगा एवं द्रौपदी ने भी कहा कि मैं उत्तम माला गूँथने वाली मालिन बनूँगी ॥२२९-२३८॥

इस प्रकार सब बातें ध्यान में रखकर उन्होंने अपना-अपना वेष बदला और मैले कपड़े पहनकर कपट-वेष से वे राजमन्दिर गये। राजमन्दिर देखने में बड़ा सुंदर और आनंद देने वाला था। वहाँ का राजा विराट था। उसने शत्रु-समूह का दमन कर बहुत से राजाओं को नमा दिया था-वह बहुत से राजाओं द्वारा पूजा जाता था। पाण्डव उसके पास गये। उसने भी उनका यथायोग्य आदर किया और बाद उनकी इच्छा जानकर उन्हें उनके योग्य कामों पर नियुक्त कर दिया। वे भी उस चतुर और न्याय-मार्ग-गामी राजा को अपने-अपने कामों से खुश करते हुए कुशलता से काल बिताने लगे। इस प्रकार वहाँ उनके बारह महीने बीत गये। उधर पांचाली ने भी विराट की रानी सुदर्शना को खुशकर अपना समय सुख से पूरा किया ॥२३९-२४४॥

चूलिका नामक पुरी के राजा का नाम चूलिक था और उसकी प्रिया का नाम विकचा था। उसके नेत्र खिले हुए कमल के जैसे मनोहर थे। चूलिक और विकचा के कीचक आदि सौ पुत्र थे। वे सब गुणी थे और विराट के साले थे। अतः इसी बीच में एक समय कीचक अपनी बहिन के पास

ददर्श द्रौपदीं तत्र नृपशालककीचकः। पुलोमजामिवोत्तुङ्गां साक्षाल्लक्ष्मीमिवापराम् ॥२४७॥
भोजने शयने याने ततः प्रभृति कीचकः। विरक्तोऽभूत्तदालापदर्शने दत्तचित्तकः ॥२४८॥
यत्र यत्र पदं दत्ते पाञ्चाली तत्र तत्र सः। अटन्सुचाटुकारांश्च प्रयुङ्क्ते तां स्मरार्दितः ॥२४९॥
स्फुरिताधरया पार्थपत्न्या निर्भर्त्सितः स हि। न युक्तमिति वादिन्या कटुकाक्षरभाषणैः ॥२५०॥
भाषमाणं पुनश्चेत्थं लम्पटं कीचकं प्रति। सावादीत्कृतकोपेन निष्ठुराक्षरभाषिणी ॥२५१॥
महापराक्रमाक्रान्ता गन्धर्वाः सन्ति पञ्च मे। ते ज्ञास्यन्ति च चेदेवं त्वां नेष्यन्ति यमालयम् ॥२५२॥
तच्छ्रुत्वा विकसद्वक्त्रोऽवादीत्तां द्रौपदि शृणु। त्वां भोक्ष्यामि समाक्रम्यानेकदन्तिबलोऽप्यहम् ॥२५३॥
प्रसादं कुरु सीदन्तं मां समासीद सुन्दरि। जीवन्तं जीवनोपायैर्भोगैर्मां रक्ष रक्षिके ॥२५४॥

विराट देश में आया और वहाँ उसने रूप-सौन्दर्य की खान द्रौपदी की देखा। वह उसे इन्द्र की इन्द्राणी जैसी या लक्ष्मी के जैसी दिख पड़ी। उसे देखते ही वह उस पर जी-जान से निछावर हो गया। उसे अब खाना-पीना, सोना-उठना आदि कुछ भी नहीं सुहाने लगा। वह सब कामों से उदासीन हो गया। उसको दिन रात एक मात्र द्रौपदी की रट लगी रहने लगी। वह हमेशा द्रौपदी के ही मीठे आलाप को सुनना चाहता था, उसी के अनोखे रूप को देखना चाहता था। उसी का स्पर्श करना चाहता था और उसी के मुँह की सुगन्ध सूँघना चाहता था। सच तो यह है कि द्रौपदी के सिवाय उसे और कुछ सुहाता ही न था। जहाँ द्रौपदी जाती वह वहाँ उसके पीछे-पीछे जाता और काम से अन्धा होकर उसके साथ चाटुकारपने की बातें बनाने का यत्न करता ॥२४५-२४९॥

उसका यह हाल देखकर एक बार पार्थ-पत्नी ने उसे खूब डाँटा और उससे अतीव कटुक शब्दों में कहा कि कीचक, यह बात तुम्हें बिल्कुल शोभा नहीं देती। देखो सोचो-समझो और कुछ विवेक से काम लो तो तुम्हें जान पड़ेगा कि यह व्यवहार अनुचित है, नीच है, निंद्य है एवं नीचों के जैसा है परन्तु वह इतने पर भी अपने खुशामदी चाटुकार वाक्यों से बाज न आया। तब द्रौपदी को बड़ा क्रोध आया और उसने अतिशय कठोर शब्दों में यों कहना आरम्भ किया कि कीचक, पर-स्त्री-लम्पट कीचक, तू मुझे अकेली मत समझ, मैं अकेली नहीं हूँ किन्तु मेरे साथ अद्भुत पराक्रम वाले पाँच गंधर्व और हैं और देख कहीं उन्होंने तेरे इस क्षुद्र बर्ताव को जान लिया तो सन्देह नहीं कि वे तुझे क्षणभर में यमालय का अतिथि बना देंगे ॥२५०-२५२॥

इस पर कीचक ने मुसकरा कर कहा कि द्रौपदी, प्यारी द्रौपदी, सुनो, जिन पाँच गन्धर्वों का तुम्हें अभिमान हैं वे मेरा कुछ भी नहीं कर सकते। मेरे पास अनेकानेक हाथी-घोड़ों आदि की सेना है, मेरे पास इतनी शक्ति है कि मैं चाहूँ तो जबरदस्ती लेकर तुम्हें भोग सकूँ। पर नहीं, मैं ऐसा करना ठीक नहीं समझता, अपनी प्यारी को कष्ट देना नहीं चाहता। सुन्दरी, अब विलम्ब मत करो। देखो मैं बड़ा दुखी हो रहा हूँ, अतः कृपा करके मेरे इस दुख का इलाज करो, प्रसन्न हो। प्यारी, अब मैं तुम्हारे साथ रमने के सिवाय अपने जीने का और कोई उपाय नहीं पाता हूँ। अतः जैसे उचित समझो, मेरी रक्षा करो। उसकी इस नीचता का वह शीलवती कुछ उत्तर न देकर चली गई। इधर कीचक भी

अवगण्यैव तं साध्वी गता सा शीलसंयुता। कीचकोऽपि मृतावस्थामाप मारशराहतः ॥२५५॥
विजने वेश्मनि प्राप्यैकदा तां कीचकः खलः। करे धृत्वा जगावेवं मां धारय शुभैः सुखैः ॥२५६॥
कथं कथमपि स्फीता तस्मादुल्लङ्घ्य तं गता। रुदन्ती द्रौपदी प्राप ज्येष्ठं शिष्ठं युधिष्ठिरम् ॥२५७॥
प्राह सा तं कृतं कर्म कीचकेन दुरात्मना। रक्षितं च मया शीलं तव देव प्रभावतः ॥२५८॥
धर्मात्मजो जगादैवं संक्रुद्धो बद्धभ्रूकुटिः। यत्र भूपो दुराचारी दुश्चरित्राः प्रजा न किम् ॥२५९॥
उक्तं च-
राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः। राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥२६०॥
रुदन्तीं तां पुना राजा निवार्योवाच सद्वचः। सुशीला भव निःशल्या सुशीले शीलसंपदा ॥२६१॥
सीता सुरैः सदा पूज्या जाता मन्दोदरी तथा। शीलान्मदनमञ्जूषा जुष्टा योग्यगुणैरभूत् ॥२६२॥
शीलेन शोभना नार्यः शीलेन सुगुणाः सदा। शीलेन संपदः सर्वाः शीलतो नापरं शुभम् ॥२६३॥

काम के शरों की मार से मुर्दे जैसा होकर पड़ा रहा ॥२५३-२५५॥

इसके बाद एक समय किसी एक शून्य मकान में उस दुष्ट ने द्रौपदी का हाथ पकड़ लिया और उससे बोला के देवी, बस, अब तुम मुझे सुखी करो, मैं मरा जा रहा हूँ। यह देख द्रौपदी भारी आपत्ति में फँस गई। उसके ऊपर मानों वज्रपात हुआ परन्तु फिर भी हिम्मत बाँधकर उस वीर नारी ने उस दुष्ट के हाथ से उस समय भी छुटकारा पा लिया। इसके बाद वह रोती हुई युधिष्ठिर के पास आई। वहाँ आकर उसने उस दुष्ट के सारे दुष्कृत्य को युधिष्ठिर से कहा और वह बोली कि हे देव! ऐसी विषम अवस्था में भी जो मैंने आपके प्रभाव से अपने शीलरत्न को बचा पाया यह मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात है ॥२५६-२५८॥

द्रौपदी की इन बातों को सुनते ही युधिष्ठिर की क्रोध से भौंहें चढ़ गई और उन्होंने कहा कि हाय! जहाँ राजा भी इतना दुराचारी है वहाँ की प्रजा के दुराचार का तो फिर ठिकाना ही क्या है? विद्वानों ने ठीक कहा है कि-

जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है। राजा धर्मात्मा हो तो प्रजा भी धर्मात्मा होती है और राजा पापी हो तो प्रजा भी पापी होती है। तात्पर्य यह कि जैसा राजा होगा वैसी ही प्रजा भी होगी क्योंकि प्रजा राजा की नकल करती है ॥२५९-२६०॥

इसके बाद उन्होंने घबराई हुई द्रौपदी की साहस बँधाया और कहा कि सुशीले! तुम बड़ी वीर नारी हो जो तुमने स्वयं शील की रक्षा की। तुम अब कुछ भी चिन्ता-भय न करो। क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि शील-सम्पत्ति के बल से ही सीता की देवताओं ने पूजा की थी और मन्दोदरी, मदनमंजूषा आदि की भी इसी के द्वारा इतनी प्रतिष्ठा हुई। तुम सच करके मानो कि संसार में स्त्रियों की शोभा शील से ही होती है। यह शील ऐसी कला है कि इसके होते हुए जीवों में और-और गुण स्वयं आ जाते हैं। इसी से जीवों को सब सम्पत्ति मिलती है। सच पूछो तो संसार में शील के सिवा कोई उत्तम पदार्थ नहीं है, न हुआ और न होगा ॥२६१-२६३॥

पाकशासनिरुत्तस्थे केसरीव क्रुधा तदा। ज्येष्ठेन वारितस्तावद् घस्त्रान्दश विलम्बय ॥२६४॥
रणं मा कुरु पार्थेश यत्तत्किंचिद्भविष्यति। दशघस्नात्पुनस्तावन्निशा जाता दिनात्ययात् ॥२६५॥
विपुलोदरपार्श्वे सा गत्वा नेत्राश्रुपूरिता। वक्त्रमाच्छाद्य मन्दाक्षखिन्नाचख्याविदं वचः ॥२६६॥
जीवद्भिर्मे भवद्भिः किं कीचको नीचमानसः। आपादयति संपाद्यां दुःखावस्थामिमां यदि ॥२६७॥
भीमोऽभाणीत्तदा श्रुत्वा गजशुण्डामहाभुजः। भण भ्रातृप्रिये दुःखं तेन किं कृतमुत्कटम् ॥२६८॥
पराभूय च तं येन प्रापयिष्यामि पञ्चताम्। न स्थास्यामि नृपेणैव वारितोऽपि कदाचन ॥२६९॥
पाञ्चाली प्राह भीमेश त्वयि जीवति को नरः। करोति मम वै दुःखं पञ्चाननसमप्रभे ॥२७०॥
अनेन कीचकेनाहं हन्त हस्ते धृता मम। परा भीतिर्भवेद्भव्य लाव्यमेतन्ममासुखम् ॥२७१॥
पराभवो ममेत्येवं भवतीश्वर दुःखकृत्। तत्करस्पर्शतोऽद्यात्रैजतेङ्ग मे विलोकय ॥२७२॥
तन्निशम्य मरुत्पुत्रो बभाण भयवर्जितः। दावानल इव क्रुद्धस्तं हन्तुं विहितोद्यमः ॥२७३॥
वने कुरुष्व संकेतं श्वो निशायां सुसुन्दरी। यत्र नो जायते केषां प्रवेशो वेषधारिणि ॥२७४॥
पुनः सा द्रौपदी प्रातर्गता कीचकसंनिधिम्। कपटाल्लम्पटं प्राह स्मरसंभिन्नमानसम् ॥२७५॥

इस समय अर्जुन भी वहीं द्रौपदी की दुख भरी बातों को सुन रहा था। उसकी ऐसी अवस्था को न सह सकने के कारण उसे बड़ा क्रोध आया और वह सिंह की तरह गर्ज कर उठ खड़ा हुआ परन्तु उसे युधिष्ठिर ने यह कहकर रोक लिया कि अभी कुछ दिन ठहरो, बाद जो जी में आवे, करना। धीरे-धीरे सूरज अस्त हुआ और रात का आगमन हुआ। इस समय द्रौपदी नेत्रों में आँसू भरे हुए युधिष्ठिर के पास से भीम के पास गई और लज्जा से खेद-खिन्न हो बोली कि आप जैसे महाबली के रहते यह नीच कीचक दुष्ट मेरी ऐसी बुरी हालत करे, इससे अधिक और क्या लज्जा की बात हो सकती है ॥२६४-२६७॥

यह सुनते ही हाथी की सूँड़ जैसी मजबूत भुजा वाले उस वीर ने कहा कि भ्रातृजाये, कहो, उस दुष्ट ने तुम्हें क्या दुख दिये हैं। उस दुष्ट का तिरस्कार करके मैं उसे अभी यमालय भेज सकता हूँ। बोलो क्या कहती हो। तुम्हारा तिरस्कार मैं नहीं सह सकता। इस पर पांचाली ने कहा कि महाभाग सिंह जैसे पराक्रमी आपके रहते मुझे दुख तो दे ही कौन सकता है परन्तु मुझे अपने इस अपमान का बड़ा ही दुख है कि दुष्ट कीचक ने मेरा हाथ पकड़ लिया और मुझसे अपनी नीच वासना प्रकट की। आप मेरे इसी अपमान का बदला लीजिए। प्रभो! मुझे बड़ा दुख हो रहा है। देखिए उसके करस्पर्श से मेरा शरीर अब तक भी थर-थर काँप रहा है ॥२६८-२६९॥

यह सुनते ही भीम दावानल की भाँति क्रोध से लाल हो उठा और कीचक को मार डालने के लिए तैयार होकर उसने कहा कि सती, इसके लिए एक उपाय करो। वह यह कि तुम जाकर उससे दूसरे दिन रात में वन में आने के लिए संकेत कर आओ, पर इस बात का ख्याल रखना कि वह जगह ऐसी हो जहाँ कि मनुष्यों का संचार न हो ॥२७०-२७४॥

इसके बाद द्रौपदी भीम के कहे अनुसार कीचक के पास गई और उसने काम से पीड़ित हुए उस

भवतो रोचते यत्र संकेतं कुरु तत्र हि। सोऽवदन्नाट्यशालायां सायमागच्छ मानिनि ॥२७६॥
त्वदिष्टमिष्टमिष्टेन पूरयिष्यामि मालिनि। इत्युक्त्वा मारुतिं गत्वा व्याजहार तदुद्भवम् ॥२७७॥
श्रुत्वा भीमः प्रहर्षात्मा सायं सीमन्तिनीसमम्। रूपं निरूपयामास स्फुरत्सौभाग्यसंकुलम् ॥२७८॥
दधौ स नूपुरं पादे सुकट्यां कटिमेखलाम्। करयोः कङ्कणं रम्यं हारं वक्षसि लक्षितम् ॥२७९॥
कर्णयोः कुण्डले रम्ये माले तिलकमद्भुतम्। अञ्जनं नेत्रयोर्मूर्ध्नि चूडामणिं स्फुरत्प्रभम् ॥२८०॥
फुल्लिकापुष्पनागैश्चालङ्कृताकृतिधारिणी। सीमन्तिनीव भूत्वासौ कुर्वती विभ्रमं परम् ॥२८१॥
रतिर्वा किं शची वाहो लक्ष्मीर्वा किं भुवं गता। कुर्वती विभ्रमं चागात्सा संकेतनिकेतनम् ॥२८२॥
तत्र गत्वा क्षणं भीमो यावत्तिष्ठति निर्भयः। तावदायात्स्मराक्रान्तः कीचकस्तद्गताशयः ॥२८३॥
तमोविभागतः सोऽयं मुखरागरसोत्कटा। इयं द्रुपदसंजाता कृत्वेत्यासीत्तदुन्मुखः ॥२८४॥
तामिमां मन्यमानः स तत्करग्रहणं व्यधात्। यावत्तत्करकार्कश्यं तावल्लग्नं विवेद च ॥२८५॥
कीचकोऽचिन्तयच्चित्ते सैषा नेंति च निश्चतम्। अन्यः कोऽपि समायातो धूर्तो धृष्टमनाः स्वयम् ॥२८६॥
नैमित्तिकवचश्चेति मरणं विपुलोदरात्। कीचकस्य ममेदानीं जातं सत्यं तदीक्ष्यते ॥२८७॥

कपटी से कहा कि मैं आपको चाहती हूँ। अतएव जो जगह आपको रुचे आप वहीं आ जाने के लिए मुझे संकेत बताइए। मैं वहीं आ जाऊँगी। द्रौपदी के इन वचनों को सुनकर अतीव प्रसन्न कीचक ने कहा कि मानिनी, तुम शाम के समय नाट्यशाला में आना। वहाँ मैं तुम्हारी सब इच्छा की पूर्ति कर, सकूँगा। इसके बाद द्रौपदी भीम के पास आई और उसने भीम से उस दुष्ट की कही हुई सारी बातें कह दी ॥२७५-२७७॥

द्रौपदी की बातों को सुनकर हर्ष के साथ, शाम के समय सौभाग्य और स्फूर्तिशाली भीम ने पैरों में नूपुर पहिने, कमर में करधौनी, हाथों में सुन्दर कंकण और हृदय में हार पहना। कानों में कुण्डल पहिने और मस्तक में तिलक लगाया। नेत्रों में कज्जल लगाया और सिर पर दीप्तिशाली चूड़ामणि गूंथा। इस प्रकार दिव्य वस्त्राभूषण आदि के द्वारा उसने अपने आपको खूब ही अलंकृत किया। वह बिल्कुल ही सीमन्तिनी-सौभाग्यवती-स्त्री के जैसा ही बन गया। उसको देखकर ऐसा भ्रम होता था कि वह रति है या इन्द्राणी अथवा पृथ्वी पर अवतरित हुई लक्ष्मी ही है ॥२७८-२८२॥

इस प्रकार लोगों को भ्रम पैदा करता हुआ भीम झपाटे के साथ संकेत-स्थान पर पहुँचा। निर्भय भीम वहाँ क्षण भर बैठा ही था कि उधर से द्रौपदी पर निछावर हुआ काम से जर्जरित हृदय दुष्ट कीचक भी वहीं आ गया। उसके हृदय में राग की उत्कटता और गाढ़ अंधेरा इतना व्याप्त हो रहा था कि उसके मारे उसे उस समय कुछ भी भान न हुआ। उसने उसे सचमुच ही द्रौपदी समझा। अतः वह उसकी ओर आगे बढ़ा और उसने उसका हाथ पकड़ा। इसके बाद ही वह हाथ की कठोरता का अनुभव कर बड़े सोच-विचार में पड़ गया। उसे जान पड़ा कि वह द्रौपदी नहीं है किन्तु कुछ छल है और कोई दुष्ट धूर्त ही इस द्रौपदी के वेष में आया है। देखूँ, आगे क्या होता है? एक बात और याद पड़ती है कि एक समय नैमित्तिक ने कहा था कि कीचक की मृत्यु महाबली भीम

ध्यात्वेति तेन तद्धस्तात्स्वहस्तो मोचितो हठात्। कीचकेनाशु मौनेन ध्यायता मरणं ततः ॥२८८॥
ततस्तौ प्रवरौ लग्नौ रणं कर्तुं कृपातिगौ। हस्तपादप्रहारेण प्रहरन्तौ परस्परम् ॥२८९॥
संदष्टोष्ठपुटौ स्पष्टौ रुधिरारुणलोचनौ। प्रस्वेदोदकदीप्राङ्गौ दरदौ देहिनां सदा ॥२९०॥
भीमेन वज्रघाताभकरघातेन वक्षसि। जघ्ने हुंकारनादेन कीचकः पतितो भुवि ॥२९१॥
ततस्तडत्तडत्संधिबन्धास्थिः स्थगितो हृदि। पादाभ्यां भीमसेनेन कीचकः कण्ठरुद्धवाक् ॥२९२॥
पादौ दत्त्वा तदा तस्य हृदये पावनिर्जगौ। रे दुष्टानिष्टसंक्लिष्ट पररामेष्टिसंरत ॥२९३॥
फलं प्रविपुलं पश्य पररामारतेर्द्रुतम्। इत्युक्त्वा भीमसेनस्तं पिपेषोरसि निष्ठुरम् ॥२९४॥
पररामारतस्त्वं हि क्व यासि व्यसनोद्यतः। इत्युक्त्वा पादघातेन मारितः स मृतः क्षणात् ॥२९५॥
द्रौपद्या ज्ञापितं तत्र गन्धर्वैः कीचको हतः। इति श्रुत्वा विराटेशो भयभीतः क्षणं स्थितः ॥२९६॥
तत्सेवकास्तदा श्रुत्वा दधावुर्धूलिधूसराः। आययुर्नर्तनागारे सांकेतिकजनाकुले ॥२९७॥
तत्रालोकि विलक्षैस्तैः कीचको विगतासुकः। असृक्संघातसंकीर्णो दैवेनेव हतो हठात् ॥२९८॥
ते तं मृतं समालोक्य कीचकं विकटा भटाः। गन्धर्वेण हतं चित्ते निश्चिक्युर्व्रीडया वृताः ॥२९९॥

के हाथ से होगी। जान पड़ता है कि उसका कहना बिल्कुल ही सच्चा है। यह सोच करके उसने अपना हाथ उसके हाथ से छुड़ाने का यत्न किया, पर वह उसे नहीं छुड़ा सका ॥२८३-२८८॥

फिर क्या था, वे दोनों हाथ-पैरों के प्रहारों के द्वारा निर्दयता-पूर्वक परस्पर में युद्ध करने लगे। क्रोध के मारे उनकी आँखें लाल हो गई। वे अपने-अपने ओंठ और दाँत पीसने लगे। पसीने की बूँदों से उनका शरीर चमकने लगा। इस समय उन दोनों का इतना भयंकर युद्ध हुआ कि उसे देखकर डरपोक-कायरों-के प्राण पखेरू ही उड़े जाने लगे। अन्त में भीम ने हुंकार नाद करके कीचक की छाती में एक वज्र के आघात जैसा हाथ का ऐसा प्रहार किया कि वह धड़ाम से पृथ्वी पर गिर गया और उसके शरीर की सब हड्डियाँ चटक गईं। इसके सिवा भीम ने उसकी छाती में एक ऐसी लात और लगाई कि जिससे उसकी साँस रुक गई और फिर उसे एक शब्द बोलना भी कठिन हो गया। उसका कंठ रुक गया। उसकी छाती पर पाँव देकर भीम ने उससे कहा कि दुष्ट, अनिष्टकारी, संक्लिष्ट-चित्त, परस्त्रीरत नीच, देख यह सच परस्त्री-लंपटता का ही दोष है ॥२८९-२९४॥

इसके बाद भीम ने उसे बड़ी निष्ठुरता से पीसकर कहा कि तू अब कहाँ जायेगा। मैं तुझे कभी जीता न छोड़ूँगा। इतने पर भी भीम को सन्तोष न हुआ सो उसने उस दुष्ट की छाती में एक ऐसी जोर की लात जमाई कि जिससे उसका एक क्षणभर में ही काम तमाम हो गया, वह मर गया।

इसके बाद द्रौपदी ने राज-मंदिर में जाकर समाचार दिया कि आज गन्धर्वों ने कीचक को मार डाला है। जिसे सुनकर विराट बड़ा भयभीत हुआ ॥२९५-२९६॥

यह समाचार ज्यों ही कीचक के सेवकों के कानों पड़ा त्यों ही वे दौड़े हुए उस नृत्यशाला में आये। उस समय वह हजारों जनों से व्याप्त हो रही थी। उन्होंने वहाँ आकर कीचक को मरा हुआ पाया। वह वहाँ मृत्यु की गोद में अचेत पड़ा था। जान पड़ता था मानों उसे दैव ने ही मार डाला है। उन्हें

गन्धर्वेण शवं सत्रं ज्वालनीयं च पावके। प्रच्छन्नं को न जानाति यथावत्क्रियते लघु ॥३००॥
प्रभातसमये जाते ज्ञास्यन्ति निखिला जनाः। वृत्तमेत्प्रवृत्तं हि सहेलं हास्यकारणम् ॥३०१॥
तमिस्रायां विमिश्रायां तमसा त्वरयान्वितैः। कल्प्यतां कीचको वह्नौ गन्धर्वेण समं ध्रुवम् ॥३०२॥
इत्युक्त्वा ते गता यत्र पाञ्चाली परमोदया। समास्ते तत्र तां धृत्वा हस्ते ते निरकासयन् ॥३०३॥
पाञ्चाली निर्गता हा धिग्वदन्ती परिमुञ्चती। अश्रुधारां सुगन्धर्व हाहेति मुखरानना ॥३०४॥
पाञ्चालीवचनं श्रुत्वा विभज्ज्य वरणं वरम्। मुक्तकेशः समुन्मूल्य महीरुहमखण्डतः ॥३०५॥
करे कृत्वा दधावासौ वायुवद्वायविस्तदा। कुर्वाणो जनतारेकां सद्यो विस्मयकारिणीम् ॥३०६॥
अहो किं राक्षसः साक्षात्क्षिप्रमेति क्षयंकरः। सकलं विपुलं कुर्वन्कालोऽयं किं किलागतः ॥३०७॥
तदा दर्शनमात्रेण तस्य ते नृपसेवकाः। मुक्त्वा तन्मृतकं नेशुश्चकिता वा भयार्दिताः ॥३०८॥
कुर्वन्कलकलारावं कृतान्त इव भीषणः। तेषां पृष्ठे दधावासौ मतङ्गज इवोद्धतः ॥३०९॥
भग्नो भटगणः पश्चान्न पश्यति न तिष्ठति। मृतेर्भयादहो भीतः को भजेत्स्थास्नुतामहो ॥३१०॥
पुनः पावनिना लात्वा पाञ्चाली पावनीकृता। कारयित्वा च सुस्नानं शुद्धा च विदधे ध्रुवम् ॥३११॥
प्रविष्टा पत्तनं प्रातः पाञ्चाली प्रेक्षिता जनैः। प्रलयश्रीरिव श्रीर्वा जनानन्दपदायिनी ॥३१२॥

जब यह जान पड़ा कि इसे गंधर्व ने मारा है तब वे महाभट बड़े लज्जित हुए और उन्होंने परस्पर सलाह कर यह निश्चय किया कि चुपचाप इसी समय गंधर्व सहित इसे दग्ध कर देना चाहिए। सबेरा होने पर यदि यह समाचार लोगों में फैल गया तो बड़ी भारी हँसी होगी। इसके बाद वे वहाँ पहुँचे जहाँ कि सौभाग्यवती पांचाली थी। उन्होंने जबरदस्ती उसका हाथ पकड़कर उसे बाहर निकाला। द्रौपदी भय से चिल्लाती, आँसू बहाती तथा गंधर्व को पुकारती हुई निकली ॥२९७-३०४॥

द्रौपदी का यह हाहाकार शब्द जो कि करुणाजनक था, भीम के कानों में जाकर पड़ा। उसे सुनते ही भीम को इतना क्रोध आया कि वह उसी वक्त कोट की दीवाल लाँघकर, बाल बिखेरे हुए, एक वृक्ष को उखाड़ हाथ में लेकर वायु के वेग की भाँति अति शीघ्र दौड़ा। उसे देखकर लोगों को ऐसा भ्रम होता था कि क्या यह राक्षस है जो कि देखते-देखते ही सब नष्ट किये देता है या सबको एकदम ग्रस लेने के लिए जबरदस्त काल ही आ पहुँचा है। इस समय ज्यों ही इसे कीचक के भटों ने इस हालत में देखा त्यों ही वे सब उस मुर्दे को वहीं छोड़कर भय से चकित हुए अपने प्राणों को लेकर- जिसे जिधर जगह मिली-भागे परन्तु किलकारियाँ मारते हुए यम के जैसे भीम ने तब भी उनका पीछा न छोड़ा-वह उनके पीछे भागा ही गया, जैसे कोई मतवाला हाथी लोगों के पीछे पड़ जाता है और फिर उनका पीछा नहीं छोड़ता। इस वक्त उन भटों का यह हाल था कि वे बेचारे भग्न हुए न तो पीछे को मुड़कर देखते थे और न कहीं ठहरते ही थे और है भी यही बात कि मृत्यु से डरा हुआ कोई भी ऐसा नहीं जो फिर स्थिर रह सके ॥३०५-३१०॥

इसके बाद बल से उद्धत हुए कीचक के सौ भाइयों ने जब कहीं भी कीचक को न पाया तब उन्होंने सब से पूछताछ की और किसी तरह द्रौपदी के द्वारा उसे मरा हुआ जानकर द्रौपदी को ही

कीचकभ्रातरस्तेऽथ शतसंख्या बलोद्धताः। स्वबान्धवमपश्यन्तः संपृच्छन्ति स्म सर्वतः ॥३१३॥
सैरन्ध्रीतो मृतं ज्ञात्वा कथंचित्सोदरं तकौ। सैरन्ध्रीं दग्धुमुद्युक्ताश्चितां कृत्वा हठाच्छठाः ॥३१४॥
भीमेनैकेन संज्ञाय चितौ क्षिप्ता गताः क्षणात्। समदा दुर्दशां प्राप्ता भस्मसात्कण्टका यथा ॥३१५॥
त्रपापरा भटाः प्रातः सकलङ्का गृहं गताः। भीमो नरपतिं नत्वा बंभणीति स्म सद्वचः ॥३१६॥
कीचकेन कृतं वृत्तं ह्यो रात्रौ द्रौपदीसमम्। भीमेन गदितं श्रुत्वा धर्मपुत्रोऽवदद्वचः ॥३१७॥
त्रयोदश दिनान्यत्र स्थेयं प्रच्छन्नतो बुधाः। भ्रात्रेति वारितास्तस्थुर्भीमाद्या धर्ममानसाः ॥३१८॥
तस्मिन्नवसरे प्रेष्याः प्रेषिताः प्रेक्षितुं नृपान्। दुर्योधनमहीशेन प्राप्ताः कीर्तिकलङ्किना ॥३१९॥
भृत्यास्ते वीक्षितुं याता महीध्रे च महीतले। अटव्यां सलिले दुर्गे लोकयन्ति स्म नो क्वचित् ॥३२०॥
समीक्ष्य निर्वृतास्तेऽपि नत्वा कौरवभूपतिम्। न दृष्टाः क्वापि कौन्तेया जीवन्तो न श्रुतौ श्रुताः ॥३२१॥
न क्वापि लक्षिता भूमौ प्राप्तास्ते च परासुताम्। इति विज्ञाप्य संप्रापुर्वेश्म वित्तं च कौरवात् ॥३२२॥
अगदीद्गुरुगाङ्गेयः कौरवाः श्रृणुताद्भुतम्। प्रचण्डाः पाण्डवाः पञ्च न म्रियन्तेऽल्पमृत्युतः ॥३२३॥

जलाकर खाक कर देना चाहा और इसके लिए उन्होंने चिता भी रच डाली। यह सब बातें महाबली भीम के कानों में पहुँची। उसका परिणाम यह हुआ कि उसने उसी वक्त जाकर उन सौ के सौ ही भाइयों को उस चिता पर बलात् डालकर जला डाला, जैसे कि कोई एक काँटे को उठाकर आग पर फेंक जला देता है। इस प्रकार द्रौपदी की रक्षा कर भीम ने स्नान वगैरह से उसे पवित्र किया ॥३११-३१५॥

सबेरा हुआ। पांचाली की नगर में प्रवेश करते हुए सभी नागरिकों ने देखा। वह किसी को प्रलयश्री सी और किसी को आनंद देने वाली लक्ष्मी सी देख पड़ी। उधर कीचक के सब भट अपने माथे में कलंक का टीका लगाकर लज्जित हो अपने स्थान को चले गये। इसके बाद भीम ने युधिष्ठिर के पास जाकर उनसे द्रौपदी के साथ गई रात में किये हुए कीचक के सारे वृत्त को कह सुनाया, जिसको सुनकर युधिष्ठिर ने कहा कि हम लोगों को यहाँ तेरह दिन और चुपचाप रहना चाहिए और कोई बखेड़ा खड़ा न करना चाहिए। इस प्रकार अपने बड़े भाई के मना करने पर वे धर्ममना सब भाई बिल्कुल मौन हो रहे ॥३१६-३१७॥

इसी बीच में दुर्योधन ने अपयश पाये हुए अपने सेवकों को पाण्डवों की खोज में भेजा। उन्होंने पहाड़, पृथ्वी, वन, जल, दुर्ग आदि सभी स्थान देख डाले, पर उन्हें कहीं भी पाण्डवों का पता न लगा। आखिर वे सब जगह देखभाल कर वापस आ गये और दुर्योधन को नमस्कार कर उससे बोले कि महाराज! हमने न तो कहीं पाण्डवों को देखा, न किसी के मुख से कहीं जीता सुना और न कहीं उन्हें हमने मरे हुए पड़े पाया। इस प्रकार दुर्योधन को सन्तुष्ट कर और धन-मान पाकर वे अपने-अपने घर चले गये ॥३१८-३२२॥

यह देख भीष्म पितामह ने कौरवों से कहा कि राजन्! मेरी एक बात सुनिए। वह यह है कि प्रचंड पाण्डव बिना मौत तो मारे नहीं जा सकते, चाहे जो भी तुम उपाय करो। कारण कि वे बड़े भारी पराक्रमी हैं, मेरु जैसे अचल हैं, दीप्ति के धारक तेजस्वी है, मोक्ष-गामी है, सर्वश्रेष्ठ महापुरुष

महापराक्रमाक्रान्ता निश्चलाः पञ्चमेरुवत्। पञ्च ते परमाश्चान्त्यदेहा दीप्तिधरा ध्रुवम् ॥३२४॥
ममाग्रे मुनिना प्रोक्तं राज्यभागी युधिष्ठिरः। भविता तपसा सिद्धिं याताः शत्रुंजये गिरौ ॥३२५॥
ते सन्ति संततं सन्तो जीवन्तो विसृता गुणैः। सर्वत्र सुगुणैः पूज्याः पूज्यपूजनतत्पराः ॥३२६॥
यत्रैते परमोदयाः परभुवि प्राप्ताः प्रतिष्ठां पराम् संनिष्ठाः सुगरिष्ठशिष्टमहिताः सच्चेष्टया वेष्टिताः।
प्रेष्ठाः स्वेष्टजनस्य कष्टरहिताः प्रस्पष्टमिष्टाक्षराः
श्रेष्ठाः सन्तु समस्तविघ्नविमुखा वः श्रेयसे पाण्डवाः ॥३२७॥
पाञ्चाली परमा सुपावनयशाः सच्छीललीलावहा
लावण्यामृतवापिका वरगुणा गाम्भीर्यधैर्यावृता।
सच्छीलेन च कीचकः कृतमहापापः समापाशु च
पञ्चत्वं परहास्यतां च जयतात्तच्छीलवृन्दं सदा ॥३२८॥

इति श्रीपाण्डवपुराणे भारतनाम्नि भट्टारकश्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपाल साहाय्यसापेक्षे पाण्डवानां कृत्योपद्रवविनाशनविराटगमनद्रौपदी-शीलरक्षणकीचकवधवर्णनं नाम सप्तदशं पर्व ॥१७॥

हैं। एक मुनीश्वर ने मेरे सामने ही कहा था कि युधिष्ठिर राज्यभोगी बनेगा और पीछे तप तप कर शत्रुंजय पहाड़ पर से मोक्ष जायेगा। मुझे विश्वास है कि वे अपने गुणों द्वारा पूज्य और पूज्यों की पूजा में तत्पर रहने वाले गुणों के भण्डार अब तक जीते हैं, मरे नहीं हैं ॥३२३-३२६॥

वे पाण्डव तुम्हारा कल्याण करें, जिन्होंने सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओं को नष्टकर स्थान-स्थान पर प्रतिष्ठा पाई, जो बड़े-बड़े शिष्ट पुरुषों द्वारा पूजित हुए, जिनकी सभी चेष्टायें परोपकार के लिए ही हुई, जो उत्तम पुरुषों के अग्रगण्य हुए, जिनको कोई भी कष्ट नहीं दे सका और जो स्पष्ट मिष्ट भाषी हुए ॥३२७॥

उस पांचाली द्रौपदी के शीलधर्म की जय हो, जो परम पवित्र और मिष्ट-भाषिणी हुई, शील की प्रवर्तक हुई, लावण्यामृत की बावड़ी हुई, उत्तम गुण, गंभीरता और धीरज की खान हुई और जिसके शील के प्रभाव से महापापी कीचक काल के गाल में गया और लोक हास्य का पात्र बना ॥३२८॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में पाण्डवों के कृत्योपद्रव का विनाश, विराट राजा के यहाँ गमन, द्रौपदी का शीलरक्षण और कीचक का वध इन विषयों का वर्णन करने वाला सत्रहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१७॥

❑ ❑ ❑

अष्टादशं पर्व

विमलं विमलालापं विमलं विमलप्रभम्। विमलैः सेव्यपादाब्जं मलहान्यै स्तुवे जिनम् ॥१॥
पितामहः प्रपञ्चेनाथावादीद्द्रोणमुत्तमम्। चतुर्थे पञ्चमेवाह्नि समायास्यन्ति पाण्डवाः ॥२॥
पाण्डवाः प्रकटीभूत्वा संघटिष्यन्ति ते स्फुटम्। दुर्घटं कार्यमेवाहं जानामीति सुनिश्चितम् ॥३॥
तदाजालंधरो जाल्मो जगाद जननिष्ठुरः। विराटे भेटनं स्पष्टं भविता विकटे परे ॥४॥
कीचकः परचक्राणां भयदः प्रकटो भटः। दुर्जयो विग्रहे योद्धा कौरवीयसुपक्षभृत् ॥५॥
गन्धर्वेण सगर्वेण हतः स श्रूयते लघु। असहायो विराटोऽपीदानीं संजातवानिह ॥६॥
विपुलं गोकुलं तस्य विख्यातमखिले जने। अटित्वा तत्र वै तूर्णं हर्तव्यं च मयाधुना ॥७॥
रणशूरान्मम पृष्ठे संगतान्विकटान्भटान्। हत्वा समानयिष्यामि गोकुलं तस्य चाखिलम् ॥८॥
पाण्डवाः प्रकटास्तत्र समेष्यन्ति युयुत्सवः। हनिष्यामि महाद्रोहान्गुप्तदेहांश्च तांस्त्वरा ॥९॥
आकर्ण्येति सुगान्धार्यास्तं प्रशस्य सुतः परम्। जालंधरं नृपं हर्तुं प्रेषयामास गोकुलम् ॥१०॥
स चचाल तरत्तुङ्गरङ्गै रिङ्खणोद्धतैः। सज्जैर्गजैश्चलत्केतुसंघातैः सुरथैः सह ॥११॥
तत्रेत्वा नृपतिर्जालंधरः क्रोधसमुद्धतः। जहार गोकुलं सर्वं गोरक्षै रक्षितं सदा ॥१२॥

उन विमल प्रभु की मैं स्तुति करता हूँ जिनकी ध्वनि निर्मल है, जो मल रहित विमल हैं, जिनके शरीर की प्रभा विमल है और पवित्र पुरुष भी जिनके चरण-कमलों की पूजा-भक्ति करते हैं। वे जिन मेरे कर्म-कलंक को हरें और मुझे निर्मल करें ॥१॥

इसके बाद भीष्म पितामह ने प्रपंच के साथ द्रोणाचार्य से कहा कि आज से चौथे-पाँचवें दिन पाण्डव अवश्य ही आ जायेंगे और भरोसा है कि वे महाभट प्रकट होकर दुर्घट कामों को कर दिखावेंगे। इस समय निष्ठुर और अविचारी जालंधर राजा बोला कि मैं शीघ्र ही विराट देश को प्रयाण करता हूँ। सुना जाता है कि सारे संसार में प्रसिद्ध महाभट, परचक्र को भयभीत करने वाला, रण में दुर्जय और कौरवों का पक्षपाती कीचक किसी गंधर्व के द्वारा मारा गया है और इसी कारण इस समय विराट देश का राजा भी निःसहाय हो रहा है ॥२-६॥

उसके यहाँ संसार भर में विख्यात भारी गो-समूह है, अतः इस अवसर पर मैं वहाँ जाकर उसका गो-धन हरूँगा। कारण कि फिर कभी ऐसा अवसर मिलना दु:साध्य है एवं गायों को हर कर लाते वक्त जो रण-शूर विकट भट मेरा पीछा करेंगे उनको मारकर मैं अखिल गो-समूह को यहाँ ले आऊँगा। सन्देह नहीं कि उस वक्त वहाँ युद्ध की अभिलाषा से प्रकट होकर पाण्डव भी युद्ध-भूमि में उतरें। अतः उन गुप्त-वेष-धारी महा द्रोहियों को भी मैं यमालय का अतिथि बना सकूँगा ॥७-९॥

जालंधर के इन वचनों से दुर्योधन का हृदय फूल गया और उसने उसकी बड़ी प्रशंसा की। परिणाम यह निकला कि उसने प्रसन्नता के साथ जालंधर को विराट के गोकुल को हरने के लिए भेज दिया। वह अपने साथ में चंचल, ऊँचे और हिनहिनाते हुए घोड़े, सजे हुए हाथी और फहराती हुई ध्वजाओं वाले रथ आदि की बहुत-सी सेना लेकर रवाना हुआ। वह क्रोध से उद्धत हुआ वहाँ पहुँचा

तदा तद्रक्षकाः सर्वे पूत्कुर्वाणा भयावहाः। नष्ट्वा चक्रुश्च पूत्कारं विराटाग्रे विशेषतः ॥१३॥
देव जालंधरो धेनुवृन्दं संहृत्य यात्यहो। चतुरङ्गेन सैन्येन सागरो वारिणा यथा ॥१४॥
निशम्य भूपतिः क्रुद्धो विराटनगरेश्वरः। दापयामास सद्भेरीं युद्धौद्धत्यविधायिनीम् ॥१५॥
श्रुत्वा शूराः समुत्तस्थुर्युद्धसंनाहसंगिनः। कुर्वन्तो बधिरं व्योम ध्वनिना धन्ववर्तिना ॥१६॥
घोटका घण्टिकाटोपाः स्वर्णपर्याणभूषिताः। तरङ्गा इव संचेलुः संग्रामाब्धेः ससादिनः ॥१७॥
सकुथाः सत्पथास्तत्र जगर्जुर्गजराजयः। रथ्यायां संस्थिता रम्या रथाः संरुद्धसत्पथाः ॥१८॥
एवं विराटभूमीशश्चतुरङ्गबलान्वितः। पुररक्षां विधायाशु निर्जगाम रथस्थितः ॥१९॥
प्रच्छन्नाः पाण्डवाः पश्चाच्चेलुश्चञ्चलमानसाः। सरथा धावमानास्ते धराधरा इवोन्नताः ॥२०॥
संग्रामातोद्यवृन्दानि दध्वनुर्ध्वनिमिश्रिताः। धनुषां व्योम्नि संबद्धा मेघध्वाना इवोद्धताः ॥२१॥
रोमाञ्चिता महाशूराः समालोक्य तयो रणम्। भीरूणां विकटं नृणां संकटं प्रकटं तदा ॥२२॥
शरेण रणशौण्डीरा धनुः संधाय धन्विनः। मुमुचुर्हृदयं वेध्यं विधाय विद्विषां शरान् ॥२३॥
खण्डिताः खड्गघातेन परे पेतुर्महाहवे। तयोश्च वल्गतोर्यद्वत्पर्वताः पविपाततः ॥२४॥

और पहुँचकर उसने ग्वालों से सुरक्षित विराट के सारे गोकुल को हर लिया। तब भयभीत होकर रोते चिल्लाते हुए ग्वालों ने भागकर विराट नरेश के सामने पुकार की। वे कहने लगे कि देव, दुख है कि जालंधर राजा ने सारा गोकुल हर लिया है और जल से युक्त समुद्र की तरह चतुरंग सेना से युक्त हो वह उसको ले करके अपने देश को जा रहा है। ग्वालों की इस दुख भरी पुकार को सुनते ही विराट नरेश्वर को बड़ा क्रोध आया। उसने उसी समय युद्ध की उद्धतता को फैलाने वाली रण-भेरी बजवा दी-युद्ध की घोषणा कर दी ॥१०-१५॥

जिसको सुनकर योद्धा कवच आदि अस्त्र-शस्त्र से सजकर उठ खड़े हुए और उन्होंने धनुषों की ध्वनियों के द्वारा आकाश को बहरा कर दिया। इस वक्त युद्ध-स्थल के लिए सोने के पलानों से विभूषित, युद्ध-समुद्र की तरंगों की तरह, चंचल और खूब सजे हुए घोड़े चले। उन सब पर सवार सुशोभित थे। सुन्दर चाल वाले हाथी गर्जते हुए निकले और गलियों के मार्ग को रोककर चलने को तैयार खड़े हुए रमणीय रथ सुशोभित हुए। इस प्रकार चतुरंग सेना सहित पुर की रक्षा का उचित प्रबन्ध करके रथ में सवार हो विराट नरेश नगर से बाहर निकला ॥१६-१९॥

उसके पीछे पर्वत के जैसे उन्नत गुप्त वेषधारी पाण्डव-रथ में सवार हो चले। उधर धनुषों के शब्द से मिला हुआ रण-भेरियों का शब्द हुआ। विराट और जालंधर के इस वक्त के भीषण युद्ध को देखकर भीरुओं के प्राण संकट में पड़ गये और महाभटों के रोमांच हो आये। दोनों ओर के रण-शौंडीर योद्धा धनुषों को कर्ण पर्यन्त खींचकर अविरल बाणों की बरसा से शत्रुओं के हृदयों को बड़ी निर्दयता से वेधते थे। वज्र प्रहार से खंडित होने वाले पर्वत की तरह तलवारों के प्रहार से खंडित होकर योद्धागण पृथ्वी पर पड़ते थे। सारांश यह है कि उन दोनों में रात-रात तक बड़ा भीषण युद्ध हुआ। इस समय के उनके युद्ध को देखकर ऐसा कोई भी जीवधारी नहीं रहा, जिसे कि भय न मालूम पड़ा हो। अन्त

महाहवस्तयोर्जातः सर्वलोकभयप्रदः। निशीथिन्यां हिमांशोश्चोद्गमे वीरसमुद्गमे ॥२५॥
जालंधरो धरन्योद्धृन्दधाव धनुषा क्षिपन्। विशिखाञ्शाखया मुक्तान्कुर्वन्वृक्षान्यथा करी ॥२६॥
विराटं विकटं धीरमाहूय शरजालकैः। जालंधरोऽथ विव्याध ससारथिं समुद्धतम् ॥२७॥
व्याजेनासौ परां दत्त्वा झम्पां तद्रथमूर्धनि। बबन्ध बन्धनैर्वीरं विराटं संकटं गतम् ॥२८॥
गृहीत्वा तं नृपं चागात्स्वरथे व्यथयान्वितम्। जालंधरो यथा तार्क्ष्यो भुजगं व्योम्नि भीषणम् ॥२९॥
जीवग्राहं गृहीतं तं विराटं धर्मनन्दनः। उवाचाकर्ण्य संकीर्णं शौर्येण विपुलोदरम् ॥३०॥
रथं वाहय वेगेन तन्मोचय महाहवे। सकलं गोकुलं कुल्यबलं पश्यामि तेऽधुना ॥३१॥
विराटं संकटाकीर्णं बद्धं भूयिष्ठबन्धनैः। विमोच्य पूरय त्वं मे मनोरथं महारथिन् ॥३२॥
भ्रातृवाक्यं समाकर्ण्य नत्वा तं विपुलोदरः। समुत्क्षिप्य महावृक्षं विवेश विषमाहवे ॥३३॥
कुर्वन्कलकलारावं वैवस्वत इवोन्नतः। मतङ्गज इवात्यर्थं दधाव विपुलोदरः ॥३४॥
गाण्डीवजीवनः पार्थो नकुलो विपुलाशयः। सहदेवो ययुस्तत्र निर्मर्यादाब्धयो यथा ॥३५॥
भीमो भीमाकृतिस्तावन्मर्दयन्सिन्धुरान्रथान्। एकादशशतं भङ्क्त्वा रथानां स स्थितो रथी ॥३६॥

में अपने धनुष के द्वारा बाणों पर बाण छोड़ता हुआ और योद्धाओं की धर-पकड़ करता हुआ जालंधर राजा विराट की ओर दौड़ा। वह योद्धाओं के हाथ-पाँवों को काटता हुआ ऐसा जान पड़ता था मानों वृक्षों को डालियों से रहित ही करता जा रहा है ॥२०-२६॥

आखिर विराट तक पहुँच कर उसने उसे ऐसा ललकारा कि उसके होश-हवाश बिगड़ गये। बाद क्षणभर में ही अपने तीक्ष्ण बाणों के द्वारा विराट को सारथी सहित वेध दिया और कूदकर वह उसके रथ में पहुँच गया। इसके बाद उसने संकट में पड़े हुए वीर विराट को बाँधकर विवश कर दिया और अपने रथ में बैठाकर वह वहाँ से चलता बना, जैसे कि भयंकर साँप को लेकर गरुड़ आकाश में चला जाता है ॥२७-२९॥

उधर यह बात जब युधिष्ठिर ने सुनी कि दुष्ट जालंधर ने विराट को पकड़ लिया है तब उसने शूरवीरता के स्थान भीम से कहा कि भीम, रथ को जल्दी ले जाकर इस महारण में पकड़े गये विराट नरेश को बन्धन से मुक्त करो और जालंधर से अखिल गोकुल को छीन लाकर तुम मुझे अपना बल दिखाओ। तुम्हारे बल की परीक्षा का यही समय है। हे महारथी! तुम जाकर संकट में फँसे हुए और दृढ़ बन्धनों से बँधे हुए विराट नरेश को बन्धन मुक्त कर-आपत्ति से छुड़ाकर-मेरे मनोरथ को पूरा करो। अपने भाई के ऐसे वाक्यों को सुनकर विपुलोदर उसी वक्त तैयार हो गया और युधिष्ठिर को प्रणाम कर एक वृक्ष को जड़ से उखाड़ वह उस महायुद्ध में घुस पड़ा। घोर शब्द करते हुए उसने इधर-उधर खूब दौड़ लगाई। उस समय वह अपने घोर शब्द से यम के जैसा और उखाड़े हुए वृक्ष से मतवाले हाथी के जैसा जान पड़ता था एवं युधिष्ठिर की प्रेरणा से गांडीव धनुर्धारी पार्थ, विपुलाशय नकुल और सहदेव भी मर्यादा रहित समुद्र की तरह उमड़कर युद्ध के लिए उद्यत हुए ॥३०-३५॥

इस समय भीमाकृति भीम ने ग्यारह सौ रथों को चूर डाला, पार्थ ने अपने शर-कौशल से साढ़े

पञ्चाशता स युक्तानि शतानि नव वाजिनाम्। जघान घनघातेन परिघातेन भूयसा ॥३७॥
नकुलो निःकुलीकुर्वन्वैरिणो युयुधे रणे। सहदेवः सह प्रौढैर्विपक्षैः कृतवान्रणम् ॥३८॥
तदा जालंधरः प्राप्तो धनुर्धृत्वा च पावनिम्। चिच्छेदाजिह्मगैर्धीरो नभो वा मेघसंचयैः ॥३९॥
भीमोऽपि शरपातेन तत्सारथिमपातयत्। उत्सलय्य रथं तस्यारुरोह रणरङ्गवित् ॥४०॥
पुनर्बबन्ध धैर्येण जालंधरमहीपतिम्। विराटं मोचयामास भीमो भीतिविवर्जितः ॥४१॥
भग्नं शत्रुबलं तावन्ननाश निहतं शरैः। भीमो विराटमामोच्य गोधनं च नृपं ततः ॥४२॥
तावद्दुर्योधनः श्रुत्वा किंवदन्तीमिमां जनात्। क्रुद्धो योद्धुं सुसंबद्धो निर्जगाम सुसाधनः ॥४३॥
विराटनगरं प्राप्य दुर्योधनमहायुधः। उत्तरस्यां प्रतोल्यां हि संस्थितः संगरेच्छया ॥४४॥
संचरत्संचरच्चारु जहार वरगोकुलम्। तदोत्तरपुरं क्षुब्धं समभूद्भयविह्वलम् ॥४५॥
चिन्तयन्ति स्म ते चित्ते चिन्ताशनिसमाहताः। किं कुर्मः क्व प्रगच्छाम इति शोकसमाकुलाः ॥४६॥
साहाय्येन विना सर्वं वैरिणा गोकुलं हृतम्। बभाषे द्रौपदी तावल्लोकान्लोलसुलोचना ॥४७॥

नौ सौ घोड़ों को बेकाम कर दिया, नकुल ने अपने आरम्भ किये घन-घात के द्वारा बैरियों के कई कुलों को नष्टकर दिया और सहदेव ने भी दुर्जेय शत्रुओं के साथ बड़ी भारी शूरता से युद्ध किया। जिससे कि जालंधर के सैन्य-समुद्र में बड़ा भारी क्षोभ मच गया। कहीं भी शान्ति की जगह न रह गई। यह देख जालंधर जलकर आग हो गया और धनुष-बाण लेकर भीम के ऊपर टूट पड़ा एवं उस धीरज धारी ने भीम को बाणों की अविरल बरसा से एकदम ढक दिया, जैसे मेघ आकाश को ढक देते हैं। उधर से भीम ने भी अपने बाणों की बरसा शुरू की और बात की बात में ही उसने जालंधर के सारथी को मार गिराया। बाद रण-रंग का ज्ञाता भीम उछलकर उसके रथ पर जा झपटा और साहस के साथ उसने जालंधर महीपति की बाँधकर विराट की बंधन-मुक्त कर दिया। यह देख शरों की मार से जर्जरित हुई जालंधर की सारी सेना अपने प्राण लेकर भाग गई। इस प्रकार विराट तथा गोधन को स्वतंत्र कर भीम ने आकर युधिष्ठिर के चरणों में प्रणाम किया। युधिष्ठिर ने भी भीम की पीठ थप-थपा कर बड़ा सन्तोष प्रकट किया ॥३६-४२॥

उधर जालंधर के पकड़े जाने का समाचार ज्यों ही दुर्योधन के कानों तक पहुँचा त्यों ही क्रोध में आ, युद्ध के लिए उद्यत हो वह सेना-सहित विराट देश को चल पड़ा और विराट नगर के पास आकर उस महायोद्धा ने उत्तर दिशा की ओर वाले नगर के फाटक पर पड़ाव डाल दिया और वहाँ पर जो विराट का श्रेष्ठ गोकुल चरता फिरता था उस पर उसने अपना अधिकार जमा लिया। यह देख उत्तर की ओर का पुर क्षोभ-मय हो गया ॥४३-४५॥

वहाँ सब जगह भय ने अपना अड्डा जमा लिया। वहाँ के सब लोग भय के मारे विह्वल से हो गये और चिन्ता-रूपी वज्र पात की ताड़ना से शोकाकुल होकर वे मन ही मन सोचने लगे कि हम इस वक्त क्या करें, कहाँ जायें एवं इस समय हमारी रक्षा कैसे हो। आखिर निराश होकर वे कहने लगे कि क्या करें हमारा कोई भी सहायक नहीं है। इसी का यह परिणाम है कि वैरी ने हमारा सारा

अयं बृहन्नटो वीरो जानाति रणसत्क्रियाम्। पार्थस्य सारथिर्भूत्वावाहयद्बहुशो रथान् ॥४८॥
श्रुत्वा विराटपुत्रेण ददे तस्मै महारथः। गजवाजिरथैश्चागात्पुरतो राजनन्दनः ॥४९॥
पुरो बहिः स्थितः पुत्रो वीक्ष्यासंख्यबलं रिपोः। संख्योन्मुखं क्षणार्धेन भयं भेजे भ्रमन्मतिः ॥५०॥
रणेनानेन दुष्टेन पूयतां पूर्यतां मम। शत्रुसैन्यं ससंनाहं प्रबलं बहुघोटकम् ॥५१॥
शक्नोम्यत्र नहि स्थातुमाहवे प्राणहारिणि। इत्युक्त्वा नोत्तरं दत्त्वा ननाश नृपनन्दनः ॥५२॥
तदा बृहन्नटो व्यक्तं प्रोवाच नृपनन्दनम्। अहो हो भज्यते युद्धे कथं वै त्वयका प्रभो ॥५३॥
विदधासि कुलं लज्जाकुलं राज्ञो महामते। अर्जुनः सारथिः प्राप्तः पुण्यात्तेऽत्राहमुत्कटः ॥५४॥
ततस्त्वं कातरो वीर मा भूया दरदारक। मया सह रणे शत्रूञ्जहि हन्त रणोद्धतान् ॥५५॥
एवं समुच्यमानेऽपि स मुमोच समुच्चयम्। आहवस्य रथं तूर्णं स्म निवर्तयति स्वयम् ॥५६॥
तावद्वृहन्नटो वाणीं प्रोवाच शृणु नन्दन। सोऽहं पार्थः प्रसिद्धात्मा मा संशीतिं भजस्व भोः ॥५७॥
स्थिरीभव भयातीतो भूत्वा सज्जो विसर्जय। शराञ्शत्रुसमूहस्य शिरश्छेत्तुं समुत्कटान् ॥५८॥

का सारा ही गोकुल छीन लिया है। यदि हमारा कोई सहायक होता तो ऐसा दृश्य कभी भी हमारे देखने में न आता। यह देखकर द्रौपदी ने अर्जुन की ओर अंगुली उठाकर उन लोगों से कहा कि देखो यह बड़े वीर हैं और रण-कला के ज्ञाता विद्वान् हैं। इन्होंने कई बार पार्थ का सारथीपन किया है। तुम इनकी शरण लो। यह तुम्हारी रक्षा करेंगे ॥४६-४८॥

द्रौपदी के वचनों को सुनकर विराट के पुत्र ने उस नटवर को एक महारथ दिया और आप स्वयं भी हाथी, घोड़े, रथों की सेना सहित नगर से बाहर निकला और बाहर आकर उसने ज्यों ही दुर्योधन की असंख्य सेना पर दृष्टि डाली त्यों ही उस चंचल बुद्धि के देवता कूच कर गये और वह एक क्षणभर में ही वहाँ से भाग-निकलने का मार्ग देखने लगा। वह अर्जुन से बोला कि मैं तो इस रण से बिल्कुल ही सन्तुष्ट हो गया, मुझे अब युद्ध की इच्छा नहीं है। शत्रु की सेना बड़ी प्रबल है। देखो, यह घोड़ों की सेना कितनी भारी और विकट है। मैं तो इस प्राणहारी युद्ध में एक क्षण भी नहीं टिक सकता हूँ। इतना कहकर वह राजपुत्र चुप हो गया और किसी बात का उत्तर न देकर वह वहाँ से एक दम भाग खड़ा हुआ। उसे इस प्रकार भागते देख अर्जुन ने उससे स्पष्ट शब्दों में यों कहा कि आप युद्ध में बैरियों को पीठ देते हैं और अपने कुल की लजाते हैं। तुम्हारे पुण्य-प्रताप से अर्जुन जैसे वीर का सारथी मैं तुम्हें मिल गया फिर भी तुम कातर होते हो। यह तुम जैसे क्षत्रियों को उचित नहीं। युवराज! डरो मत और मेरे साथ रण में इन उद्धत शत्रुओं की उद्धतता का इलाज करो ॥४९-५५॥

अर्जुन ने उसे इस प्रकार यद्यपि बड़ा साहस दिलाया परन्तु उसने न माना और युद्ध-स्थल छोड़ भागने के लिए स्वयं अपना रथ वापस फेर लिया। यह देख अर्जुन ने फिर कहा कि युवराज कायरों की भाँति डरकर भागो मत। मेरी बात सुनो। मैं वही प्रसिद्ध अर्जुन हूँ जिसका नाम सुनकर शत्रु काँप उठते हैं। इसमें तनिक भी सन्देह मत करो। अब स्थिर होइए और भय को हृदय से निकाल कर शत्रु-समूह का शिर छेदने के लिए अपने समुत्कर शरों को छोड़ना शुरू कीजिए ॥५६-५८॥

दुर्योधनबलं बाणैर्विभज्य भयविद्रुतम्। विधास्यामि क्षणार्धेन पश्य मे प्रबलं बलम् ॥५९॥
अनेन वचसा यावद्विश्वे विश्वासवर्जिताः। न विश्वसन्ति पार्थं चेमं चेतसि भयाविलाः ॥६०॥
तावच्छक्रात्मजो युद्धे रथं तूर्णमवाहयत्। उत्तरं सारथिं कृत्वा वाजिवाहनतत्परम् ॥६१॥
रथं वाहय वेगेन त्वमुत्तर रणाङ्गणे। अहं हन्मि शरैः शत्रून्यथा नश्यन्ति तेऽखिलाः ॥६२॥
कृत्वा शत्रुंजयं क्षत्तः समुपार्ज्य यशश्चयम्। यास्यामो जयसंपन्नाःस्वपुरं पुण्यसंपदा ॥६३॥
इत्युक्त्वा तिष्ठ तिष्ठेति स्थिर वैरिगणो ध्रुवम्। वदन्नेवं चचालासौ स्यन्दनस्थो धनंजयः ॥६४॥
निरुत्तरं प्रकुर्वाणो विपक्षं स महोत्तरः। सारथिः स्वरथं यावत्संवाहयति वेगतः ॥६५॥
ज्वलनो निर्जरस्तावत्प्रसन्नः पार्थसाहसात्। नन्दिघोषाभिधं तस्मै समर्थं रथमाददे ॥६६॥
देवताधिष्ठितं पार्थो रथमारुह्य संयुगे। शत्रून्हन्तुं चचालासौ कृत्वोत्तरं सुसारथिम् ॥६७॥
तं तादृशं समावीक्ष्य द्रोणाचार्यस्तु विस्मितः। उवाच कौरवान्क्रूरान्कृतकोदण्डमण्डलान् ॥६८॥
संगरे संगरं मुक्त्वा यूयमद्यापि निश्चितम्। विधत्त संधिमुन्निद्रा यद्युष्माकं सुखं भवेत् ॥६९॥
केऽत्र पार्थशरान्सोढुं समर्थाः सन्ति भूभुजः। दावाग्नौ दीपिते दारुचयास्तिष्ठन्ति किं पुनः ॥७०॥
कपटप्रकटा हित्वा कपटं गोकुलं पुनः। संगरं प्रीतिमुत्पाद्य यूयं यात निजे गृहे ॥७१॥

थोड़ी देर के लिए भला मेरा बल ही तो देखो कि मैं क्षण भर में ही दुर्योधन की सेना को कैसी भयभीत और तितर बितर किये देता हूँ। अर्जुन के इन वचनों की सुनकर भी अविश्वासी और भयभीत लोगों ने विश्वास नहीं किया कि यह 'वही अर्जुन है।' वे इसी विचार में उलझ रहे थे कि पार्थ ने घोड़ों को चलाने में तत्पर हुए विराट-पुत्र को अपना सारथी बना कर अति शीघ्रता से रथ को शत्रु की ओर दौड़ाते हुए कहा कि युवराज! तुम रणांगण में शीघ्रता से रथ चलाओ और मैं शरों के तीक्ष्ण प्रहार से अभी शत्रुओं को धराशायी किये देता हूँ। मैं शत्रुओं का नाशकर, यश सम्पादन कर, जय-सम्पन्न हो, पुण्य सम्पत्ति लेकर ही अपने पुर को जाऊँगा ॥५९-६३॥

इसके बाद अर्जुन बैरियों से यह कहता हुआ कि ठहरिए, स्थिर होइए, रथ में बैठकर शत्रु की ओर चला। इधर शत्रु-समूह को निरुत्तर करता हुआ महत्त्वशाली उत्तरकुमार भी बड़े वेग से रथ को चलाये लिये जा रहा था। पार्थ के साहस से खुश होकर ज्वलन नामक देव ने पार्थ को नंदिधोष नामक एक समर्थशाली रथ भेंट किया। अर्जुन भी देवताधिष्ठित उस रथ पर सवार हो, उत्तर को सारथी बना शत्रु-समूह का नाश करने के लिए युद्ध-स्थल में आगे बढ़ा। उसको इस प्रकार निर्भयता से आगे बढ़ता देखकर द्रोणाचार्य अचम्भे में पड़ गये और वह क्रूर स्वभाव वाले उन धनुर्धर कौरवों से बोले कि कौरवों, अब भी कुछ नहीं गया, युद्ध की प्रतिज्ञा की छोड़कर आप लोग सन्धि कर लीजिए, जिसमें कि आपको सुख हो। नहीं तो आप लोग ही बताइए कि इसमें कौन राजे ऐसे समर्थ हैं जो कि पार्थ के तीक्ष्ण बाणों को सह सकेंगे। क्या कहीं दावानल के जलते हुए कोई काठ बिना जला रह सकता है ॥६४-७०॥

मेरी तो यही सम्मति है कि अब आप लोगों का कपट खुल गया है, अतः आप लोग कपट,

आगता गृहतो यूयं दुर्निमित्तशतानि वै। यदाभवंस्ततस्तूर्णं निवर्तयत निश्चितम् ॥७२॥
इत्याकर्ण्य महाक्रोधाद्रुधिरारुणलोचनः। दुर्योधनो जगादैवं योद्धुं योद्धृन्विलोकयन् ॥७३॥
द्रोण विद्रावणं वाक्यं किं वक्षि नयवर्जितम्। वैरिणां शंसने कोऽत्रावसरस्ते रणाङ्गणे ॥७४॥
क्रुद्धे मयि च कः पार्थः कस्त्वं दुर्बलमानसः। क्षत्रियाणां न जानासि मार्गं सर्गसमुत्कटम् ॥७५॥
कर्णोऽवोचद्रथस्थोऽपि भो गाङ्गेय गुरो शृणु। केनाहं निर्जितो दृष्टो रणे च त्वयका बली ॥७६॥
उत्तरेण समं पार्थं प्रथमानमहोदयम्। दारयामि तथा तिष्ठेद्यथाणुर्नास्य भूतले ॥७७॥
रुष्टः क्लिष्टमनास्तावज्जल्पति स्म पितामहः। क्व दृष्टः संगरः कर्ण भूमौ शत्रुभयंकरः ॥७८॥
आहवे नैव शक्योऽयं निवारयितुमर्जुनः। रुष्टो दत्ते धरासुप्तिं भवतामपि नान्यथा ॥७९॥
शल्यो बल्यांस्तदा ब्रूते स्मास्माकं कलहः किल। कारितस्त्वयका तात त्रपासंभिन्नचेतसाम् ॥८०॥
तावत्सुसाधनं योद्धुममर्यादं सुसाधितम्। दधाव शुद्धिसंपन्नं गजवाजिरथाकुलम् ॥८१॥

गो-धन और युद्ध की प्रतिज्ञा को तो छोड़कर और परस्पर में प्रीति करके अपने घर को चलिए। क्या आप लोगों को ख्याल नहीं है कि घर से निकलते समय सैकड़ों खोटे अपशकुन हुए थे, जिनसे सभी अकुशल ही अकुशल झलकता था। अतः युद्ध न छेड़कर यही उचित समझ पड़ता है कि आप लोग सन्धि करके घर चलें। द्रोण के इन वाक्यों को सुनकर दुर्योधन की आँखें क्रोध से लाल रक्त के जैसी हो गई। वह अपने भटों को बढ़ते हुए देखकर द्रोण से बोला कि नय-नीति-विहीन द्रोण, तुम ऐसे विद्रोह के वचन कहते हो! भला यह बैरियों की तारीफ का अवसर है। जान पड़ता है कि तुम अभी तक क्षत्रियों के स्वाभाविक मार्ग से परिचित नहीं हो। यदि यही बात हो तो सुनो, मेरे क्रोध के सामने पार्थ क्या वस्तु है और तुम सरीखे निर्बल मन वाले कायर, भला कर ही क्या सकते हैं ॥७१-७५॥

उधर रथ, पर सवार हुए कर्ण ने भीष्म पितामह से कहा कि गुरुराज! क्या तुमने मुझ सरीखे बली को भी रण में किसी के द्वारा जीता गया देखा है। अब जरा मेरे पराक्रम को भी देखो कि मैं देखते-देखते, महाभाग अर्जुन को उत्तर-सहित कैसा छिन्न भिन्न किये देता हूँ, जिसमें कि पृथ्वी पर उसका नाम-निशान भी न रहे। कर्ण के इन वचनों को सुनकर पितामह को बड़ा रोष आया और उन्हें बड़ा क्लेश हुआ। वे वाले कि कर्ण, पहले तुम यही बताओ कि पृथ्वी पर तुमने ऐसा भयंकर युद्ध कहीं देखा भी है? सच करके मानों कि युद्ध में अर्जुन का बाल भी बाँका कर सकने वाला संसार में कोई पुरुष नहीं है। यदि वह रोष में आ जायेगा तो सन्देह नहीं कि तुम सबको एक क्षण में ही पृथ्वी पर सुला देगा ॥७६-७९॥

इसी बीच में कूद करके शल्य बोल उठा कि तात, सच तो यह है कि यह जो हम सरीखे लज्जाशील पुरुषों में परस्पर युद्ध छिड़ा है यह सब आप ही की करामात है और कोई भी इसमें कारण नहीं है। द्रोणाचार्य ने देखा कि दुर्योधन ने उनकी बात नहीं मानी। तब वे तथा भीष्म पितामह उसकी सुशिक्षित हाथी, घोड़े, रथों वाली सेना सहित, उमड़ करके पार्थ से भिड़ने के लिए आगे को बढ़े। उधर से पार्थ ने अतिशीघ्र ही गांगेय के पास दो बाण ऐसे छोड़े कि जिन पर उसका नाम लिखा

तदा पार्थः शरौ शीघ्रं स्वनामाक्षरसंगतौ। प्रेषयामास गाङ्गेयं तौ शरौ तत्र संगतौ ॥८२॥
साक्षरं वीक्ष्य बाणैकं लात्वेत्यवाचयद् गुरुम्। धनंजयश्च विज्ञप्तिं विदधाति पितामह ॥८३॥
त्वत्पादपङ्कजं नत्वा सेवेऽहं सज्जमानसः। त्रयोदशाद्य वर्षाणि यातानि परिपूर्णताम् ॥८४॥
इदानीं शत्रुसंघातं हत्वा भुञ्जामि भूतलम्। विशिखाक्षरमाला च दर्शिता गुरुणा तदा ॥८५॥
क्षुब्धा वीक्ष्य भयत्रस्ता अभवन्कौरवा नृपाः। वाहयित्वा रथं पार्थो लक्षीकृत्य विपक्षकम् ॥८६॥
उवाचेदं क्व यासि त्वं दुर्योधन महाधम। वैवस्वतपथं द्रष्टुं त्वां प्रेषयामि सत्वरम् ॥८७॥
स तद्रथं समावीक्ष्याकस्मात्कश्मलतां गतः। कातरत्वं जगामाशु कम्पमानः प्रमुक्तधीः ॥८८॥
चातुरङ्गबलं तावदायासीत्कौरवं क्षणात्। विशिखासंख्यपातेन वैराटं जर्जरं व्यधात् ॥८९॥
धनंजय इवोद्भूतः स धनंजयपाण्डवः। सुबाणज्वालयारण्यं ज्वालयामास कौरवम् ॥९०॥
स गाण्डीवकरोऽवोचद्यद्यस्ति भवतामिह। भटः कोऽप्यवतात्तर्हि दुर्योधनं ममाग्रतः ॥९१॥
क्रुद्धः कर्णस्तदोत्तस्थे वीतहोत्र इव ज्वलन्। अर्जुनं प्रति वेगेन धावमानो महामनाः ॥९२॥
कर्णार्जुनौ तदा लग्नौ छादयन्तौ महाशरैः। दलन्तौ धरणीं पादैर्हसन्तौ हास्यवाक्यतः ॥९३॥

हुआ था। बाण जाकर गांगेय के पास पड़े। गांगेय ने देखकर उन्हें बाँचा। उनमें लिखा था कि, ''धनंजय, पितामह से प्रार्थना करता है कि मैं नत होकर आपके चरण-कमलों में मस्तक झुकता हूँ। मैं हमेशा ही आपकी सेवा के लिए तैयार रहता हूँ। हर्ष है कि आज तेरह वर्ष पूरे हो गये और भाग्य से हमें फिर आपके चरणों की सेवा का अवसर मिला। अब आगे मैं शत्रु-समूह का विनाशकर अपनी वीरता से, पृथ्वी को भोगूँगा।'' पितामह ने उस बाण को कौरवों को दिखाया। देखकर वे क्षोभित हो उठे और उन्हें बड़ा भय हुआ ॥८०-८५॥

इसके बाद लक्ष्यवेधी पार्थ ने शत्रु-दल को अपना लक्ष्य-बनाया और उसके अनुसार शत्रु की ओर उसने अपना रथ भी चलाया। बाद वह दुर्योधन से बोला कि अधम दुर्योधन! तू अब मेरे मारे कहाँ जायेगा? मैं तुझे अब यमालय का अतिथि बिना बनाये-कभी न छोड़ूँगा ॥८६-८७॥

इसके साथ ही सहसा पार्थ के रथ को अपनी ओर आता देखकर मूर्ख और दुष्टचित्त दुर्योधन काँप उठा और बड़ा भयभीत हुआ। इसी बीच में पार्थ के सामने कौरवों की सेना आ डटी और उसने अपने संख्यातीत बाणों के द्वारा विराट-पुत्र को जर्जरित कर दिया। यह देख धनंजय आग की तरह जल उठा और उसने एक ऐसा बाण छोड़ा जिसकी ज्वाला से कौरवों की सारी सेना दावानल से जलने वाले वन की भाँति जलने लगी। इसके बाद ही धनंजय ने गांडीव धनुष उठाकर कौरवों की सेना को ललकार कर कहा कि यदि तुम में कोई भट कुछ भी सामर्थ्य रखता हो तो वह आये और मेरे आगे से दुर्योधन को जीता बचा ले जाये ॥८८-९१॥

पार्थ के इन वचनों से कर्ण क्रोध से आग की तरह जल उठा और युद्ध के लिए तैयार होकर अर्जुन पर टूट पड़ा। फिर क्या था, वे दोनों ही वीर आपस में भिड़ गये और अपने पाँवों के प्रहार से पृथ्वी को कम्पित करते हुए तथा हँसी भरे वाक्यों के द्वारा एक दूसरे की हँसी उड़ाते हुए एक

परस्परं महाबाणैश्छिन्दन्तौ छिदुराञ्शरान्। शीघ्रं जेघ्नीयमानौ तौ विघ्नौघैरिव चासिभिः ॥९४॥
हेषारवं प्रकुर्वाणौ हयाविव महोद्धतौ। चूर्णयन्तौ चरन्तौ तौ दलन्तौ दन्तिनाविव ॥९५॥
हिंसन्तौ सिंहवद्धीरौ पूरयन्तौ च पुष्करम्। विशिखैः संख्यया मुक्तैर्दुरुक्तैश्च परस्परम् ॥९६॥
पार्थेन पूरितं व्योम विशिखैर्जलदैरिव। शात्रवीयं बलं भङ्गं निन्ये तूलं च वायुना ॥९७॥
कर्णचापगुणं पार्थश्चिच्छेद सुधनुर्वहन्। स सारथिं रथं तस्य चूर्णयामास चञ्चलम् ॥९८॥
द्वादशात्मसुतस्तस्थौ स्थिरायां रथवर्जितः। तावच्छत्रुंजयो जेतुं शत्रून्संप्राप संगरे ॥९९॥
दुर्योधनानुजः सोऽयं छादयञ्शत्रुसंहतीः। शरैः सैन्यं समापूर्णं कुर्वाणो हि मृगारिवत् ॥१००॥
अभ्यागमागतं वीक्ष्य तं जगाद धनंजयः। याहि याहि रणाद् बाल किं तिष्ठसि ममाग्रतः ॥१०१॥
मृगारिचरणाघातं सहते हरिणः किमु। ताक्ष्यपक्षस्य निक्षेपं क्षमते किं महोरगः ॥१०२॥
न मुञ्चामि शरं बाल तवोपरि विशक्तिक। तदा तेन विक्रुद्धेन विमुक्ताः पञ्चमार्गणाः ॥१०३॥
ते पार्थहृदये लग्ना भग्ना इव क्षणं स्थिताः। पार्थेन दशबाणेन स हतो गतवान्क्षितिम् ॥१०४॥
कर्णानुजस्तदा प्राप विकर्णाख्योऽपकर्णयन्। मार्गणान्पार्थसंमुक्तान्रौद्रसंगरकारकः ॥१०५॥

दूसरे को अपने-अपने महान् तीक्ष्ण बाणों द्वारा आच्छादित करने लगे। वे परस्पर में कभी तो महान् प्रखर बाणों की बरसा से एक दूसरे के छोड़े हुए शरों को छेदते और कभी विघ्नों समूह जैसे खड्गों के द्वारा एक दूसरे का हनन करते। वे लड़ते हुए जो शब्द करते थे उससे ऐसा जान पड़ता था मानों घोड़े ही हींसते हैं। वे अपनी मारकाट से पृथ्वी को चकचूर करते हुए हाथी के जैसे जाने जाते थे। वे सिंह की भाँति ही जीवों को मार रहे थे। अब और बढ़ाकर कहने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने अपने संख्यातीत बाणों के द्वारा सारे के सारे गगन-मण्डल को ही पूर दिया था ॥९२-९६॥

इसके बाद भी पार्थ ने बाणों की बरसा जारी रक्खी और मेघों की तरह बाणों से आकाश को बिल्कुल ही ढँक दिया। अर्जुन की वीरता देख शत्रु-दल युद्ध-स्थल को छोड़कर ऐसा भागा जैसे वायु के मारे मेघ भागते हैं। इसके बाद धनुषधारी अर्जुन ने अपने शर-कौशल से कर्ण के धनुष की डोरी को काट डाला और बात की बात में ही उसके रथ को भी सारथी-सहित नष्ट कर दिया। कर्ण तब रथ रहित हो गया। इसके बाद शत्रुओं को जीतने की इच्छा से दुर्योधन का छोटा भाई शत्रुंजय, शत्रु-दल को बाण प्रहार से प्रच्छन्न करता हुआ सिंह के जैसा गर्ज कर पार्थ पर झपटा ॥९७-१००॥

उसको युद्ध-स्थल में उतरा देख करके उससे अर्जुन ने कहा कि बालक, जाओ, रण से वापस लौट जाओ। तुम व्यर्थ ही अपने प्राण क्यों गँवाते हो? क्या कहीं बेचारा हिरण भी सिंह के पाँव के आघात को सह सकता है? या महान् सर्प भी गरुड़ के पक्ष के प्रहार को सह सकता हैं? तुम अभी बालक हो, शक्ति-विहीन हो, असमर्थ हो, इसलिए तुम पर बाण छोड़ने को मैं तैयार नहीं। अर्जुन की इस गर्वोक्ति से उसे बड़ा क्रोध आया। उसने अर्जुन के ऊपर अत्यन्त तेजी के साथ एकदम पाँच बाण चलाये जो पार्थ की छाती से टकराकर वे-काम हो गिर पड़े। यह देख पार्थ ने उस पर दस बाण चलाये, जिनसे उसके प्राण पखेरू उड़ गये और वह धराशायी हो गया। शत्रुंजय को मरा देख अर्जुन

अर्जुनः सारथिं हत्वा रथं तस्य बभञ्ज च। शरजालेन तं शीघ्रं छादयन्विफलीकृतम् ॥१०६॥
बीभत्साख्यो रणं प्राप कुरुसैन्यं विमर्दयन्। दधानो धन्वसंधानं कालरूप इवोन्नतः ॥१०७॥
तत्क्षणे विशिखेनासौ चकर्त वैरिमस्तकम्। विकर्णः क्रन्दनासक्तो जगाम यममन्दिरम् ॥१०८॥
दधाव कौरवं सैन्यं वीक्ष्य विकर्णपातनम्। तदा तत्पृतनां पार्थो रुरोध रणसंगतः ॥१०९॥
निरुध्य निखिलं सैन्यं भानुपुत्रः पवित्रवाक्। पार्थमाकारयामास चमूसंचूर्णनोद्धुरम् ॥११०॥
सव्यसाची शुचा मुक्तो मुमोच तं हि मार्गणान्। कर्णोऽपि विफलीचक्रे ताञ्शरान्संगरावहान् ॥१११॥
त्रिभिर्बाणैस्तदा कर्णो विव्याध च धनंजयम्। त्रिभिश्च सारथिं केतुं त्रिभिस्त्रिभिश्च सद्रथम् ॥११२॥
क्रुद्धो धनंजयस्तावत्कर्णं विव्याध मार्गणैः। निपपात महीपृष्ठे कर्णो मूर्च्छामुपागतः ॥११३॥
कर्णमुत्सारयामास रथे कृत्वाथ कौरवः। तावद् दुःशासनः प्राप्तो दुस्साध्यो युधि क्रुद्धधीः ॥११४॥
सहस्व मार्गणान्मेऽद्य ध्वनन्निति धनंजयम्। जघान शरघातेन दुःशासनो हि सद्धृदि ॥११५॥
तदा धनंजयः क्रुद्धः पञ्चविंशतिमार्गणैः। जघान युवराजं तं कृतं मृतमिवोन्नतम् ॥११६॥

के बाणों को काटता हुआ भयानक युद्ध करने वाला कर्ण का छोटा भाई विकर्ण अर्जुन पर दौड़ पड़ा। फल यह हुआ कि अर्जुन ने सारथी को मारकर उसका भी रथ नष्टकर डाला और जब वह असमर्थ हो गया तब अर्जुन ने उसे भी बाणों से पूर दिया ॥१०१-१०६॥

इसी बीच में धनुष चढ़ाये हुए यम के जैसा एक वीभत्स नाम योद्धा कौरवों की सेना को तितर-वितर करता हुआ युद्ध-स्थल में उतरा और उसने देखते-देखते अपने एक ही बाण के द्वारा विकर्ण का मस्तक धड़ से जुदा कर दिया। तब एकदम विकर्ण का चिल्लाना बन्द हुआ और वह यम-मन्दिर को प्रयाण कर गया। विकर्ण को धराशायी होता देखकर कौरवों की सारी सेना उसी वक्त पार्थ पर टूट पड़ी परन्तु वह पार्थ का बाल भी बाँका न कर सकी। पार्थ ने उसे उसी समय बढ़ने से रोक दिया। यह देख उधर से कर्ण ने सेना को भागने से रोका और उसे नष्ट करने को उद्यत हुए पार्थ को ललकारा ॥१०७-११०॥

फिर क्या था, अर्जुन भी कर्ण पर बाणों की बरसा करने लगा और कर्ण उसके बाणों को व्यर्थ करने की चेष्टा करने लगा। अन्त में कर्ण ने एक साथ चलाये हुए तीन बाणों के द्वारा धनंजय को, उसके सारथी को, रथ को और उसकी ध्वजा को वेध दिया। यह देख धनंजय को बड़ा क्रोध आया और उसने थोड़ी ही देर में अपने बाणों की मार से कर्ण को धराशायी कर दिया, जिससे उसे मूर्च्छा आ गई। वह वेहोश हो गया ॥१११-११३॥

उसी वक्त कौरवों ने कर्ण को रथ में बैठाकर युद्धस्थल से बाहर किया और वे उसका उपचार करने लगे। इधर क्रोध से अन्धा हुआ दुःसाध्य दुःशासन युद्ध-स्थल में कूद पड़ा और उसने यह कहकर अर्जुन के हृदय में एक बाण मारा कि यदि ताकत हो तो तू मेरे बाणों को सह देख। उसके बाण के लगते ही धनंजय को भी बड़ा क्रोध आया और उसने उसके ऊपर एकदम पच्चीस बाण चलाये, जिनसे उसे एक क्षण में ही अधमरा-सा हो जाना पड़ा। इसके बाद और-और राजा भी जो पार्थ के

अन्ये ये रणमायान्ति ददाति तान्दिशो बलिम्। पार्थः समर्थसिद्धार्थः कृतार्थः परिपन्थिहृत् ॥११७॥
गाङ्गेयस्तु समायातो योद्धुं पार्थं प्रति त्वरा। तं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य पार्थोऽवोचत्पितामहम् ॥११८॥
त्रयोदश सुवर्षाणि गमितानि मयाधुना। भ्रमता तव पादाब्जं प्राप्तं पुण्यवशादिह ॥११९॥
धनुस्त्वं धर धीरत्वं भज भव्य पितामह। अस्माकमथ युष्माकं यथा राज्यं भवेदिह ॥१२०॥
गाङ्गेयस्तु तदा ज्यायां धनुरास्फालयन्ददौ। अष्टावष्टौ शराञ्शीघ्रं मुमोच मदमेदुरः ॥१२१॥
सुनासीरसुतस्तूर्णं चिच्छेद रथसारथी। गाङ्गेयस्य तदा क्रुद्धो गाङ्गेयो गर्विताशयः ॥१२२॥
युयुधाते महायोधौ मार्गणैस्तौ महाहवे। असाध्यौ खलु मन्वानौ सामान्यास्त्रैः स्वयं स्थितौ ॥१२३॥
उच्चाटनं महाबाणं सैन्योच्चाटविधायकम्। मुमोच मोहनं बाणं मोहयन्तं बलं गुरुः ॥१२४॥
तथा च स्तम्भनं बाणं स्तम्भयन्तं चमूं पराम्। चक्रे स विफलान्सर्वान्बाणान्पार्थः परोदयः ॥१२५॥
सस्मार मानसे पार्थो वीतहोत्रसुपर्वणः। चचाल ज्वालयन्सोऽपि भूमिभूरुहसज्जनान् ॥१२६॥
गाङ्गेयस्तच्छरं मत्वा चिच्छेद निजविद्यया। अन्तरीक्षे क्षणं देवा ईक्षन्ते स्म तयो रणम् ॥१२७॥

आगे आये, उन्हें भी उसने मार गिराया और दिगीशों को उनकी बलि चढ़ा दी। अन्त में इस प्रकार सब शत्रुओं पर विजय पाकर अर्जुन बड़ा कृतार्थ हुआ और उस शत्रु-समूह के विध्वंसक के सारे मनोरथ सिद्ध हुए ॥११४-११७॥

इसके बाद अति शीघ्रता से पार्थ के साथ युद्ध करने के लिए पितामह युद्धस्थल में उतरे और उन्होंने पार्थ को भीषण ध्वनि के द्वारा ललकारा। तब पार्थ ने तीन प्रदक्षिणा दे, नमस्कार कर उनसे नम्र शब्दों में कहा कि पूज्यपाद, वन में घूमते हुए हम लोग तेरह साल बिताकर बड़े पुण्ययोग से फिर भी आपके चरणों में आये हैं। अतः प्रभो! अब आप धनुष को रख दीजिए और धीरज की शरण लीजिए, जिससे आपके सेवकों का राज्य हो जाय परन्तु पितामह गांगेय ने अर्जुन की बात पर कुछ भी ध्यान न दिया और रोष में आकर अर्जुन के ऊपर उन्होंने एक साथ सोलह बाण छोड़ दिये ॥११८-१२२॥

तब उधर से अर्जुन ने भी बाण-प्रहार शुरू किया और गांगेय के रथ को सारथी-सहित वेध दिया। यह देख मदमाते गांगेय के क्रोध का कुछ ठिकाना न रहा। फिर दोनों में बाणों की तीव्र मार के द्वारा महान् भीषण युद्ध होने लगा। युद्ध करते-करते जब वे सामान्य बाणों के द्वारा एक दूसरे पर विजय न पा सके तब उन्होंने विशेष बाणों का प्रहार जारी किया। पहले ही पितामह ने शत्रु की सेना का मोहन, उच्चाटन और स्तंभन करने वाले मोहन, उच्चाटन और स्तंभन नाम बाणों को छोड़ा और उन सबको महाभाग पार्थ ने अपने कौशल से व्यर्थ कर दिया ॥१२३-१२५॥

इसके बाद पार्थ ने मन ही मन अधिदेव की याद किया। अर्जुन के याद करते ही वह देव पृथ्वी, वन और सेना को भस्म करता हुआ आया और सर्वत्र अपना प्रभाव जमाने लगा। गांगेय ने उसे पार्थ का बाण समझ कर अपनी विद्या के बल से छेद दिया। इस वक्त देवगण आकाश में ठहरे हुए उन दोनों का भीषण युद्ध देख रहे थे और उनके कला-कौशल्य की तारीफ कर रहे थे। बल से उद्धत हुए अर्जुन ने गांगेय के उस बाण को भी छेद दिया जो कि उसने अर्जुन के अग्निबाण को छेदने

भीमानुजस्तु चिच्छेद गुरुबाणं बलोद्धतः। तयोर्मध्ये न कोऽप्यत्र पराजयत एव हि॥१२८॥
यावद्धनंजयेनाशु धनुश्छिन्नं गुरोरपि। अन्तरे च तयोस्तावद् द्रोणाचार्यः समाययौ॥१२९॥
अङ्कुशेन विनिर्मुक्तोऽनेकपो वा समुत्थितः। द्रोणो विद्रावयञ्शत्रूंस्तावत्पार्थेन संनतः॥१३०॥
बभाषे भीषणः पार्थस्त्वं गुरुर्मे महागुणः। कथं योयुध्यते साकं त्वया सन्नयशालिना॥१३१॥
त्वं भो याहि निजं स्थानं जेघ्नीयेऽहं रिपून्परान्। अगदीद्द्रोण इत्युक्ते पार्थ सज्जो भवाधुना॥१३२॥
प्रहारं देहि देहि त्वं दोषो नास्त्यत्र कश्चन। पार्थोऽभाणीद्भयातीतः प्रथमं मुंच मार्गणान्॥१३३॥
पश्चात्सेवां करिष्यामि हरिष्यामि महाबलम्। तदा तौ गुरुशिष्यौ हि रणं कर्तुं समुद्यतौ॥१३४॥
वीक्ष्यमाणौ सुरौघेणान्तरीक्षे क्षिप्रमुद्धतौ। गुरुर्विंशतिबाणैश्च च्छादयामास पुष्करम्॥१३५॥
पार्थस्तान्खण्डयामासार्धपथेऽथ समुद्धतः। पुनर्लक्षशरान्द्रोणो मुमोच मघवात्मजं॥१३६॥
सोऽपि द्विलक्षबाणैश्च ताञ्जघान महाशरान्। वीक्षितो जयलक्ष्म्या च सव्यसाची शुभंकरः॥१३७॥
तावदुत्सारितो द्रोणो रणात्तन्नन्दनो महान्। अश्वत्थामा समापाशु संगरं रणकोविदः॥१३८॥
तौ केशरिकिशोराभौ बद्धामशौ मदोद्धतौ। युयुधाते महायोधौ द्रोणपुत्रार्जुनौ रणे॥१३९॥

के लिए छोड़ा था। लेकिन अब तक उन दोनों में से कोई भी हारा और जीता न था॥१२६-१२८॥

इसके बाद अर्जुन ने अपने एक प्रबल बाण के द्वारा पितामह का बाण छेदा ही था कि इसी बीच में उन दोनों के मध्य में द्रोणाचार्य आ गये। शत्रु को कष्ट देने वाले वे निरंकुश हाथी की भाँति खड़े थे। अर्जुन ने उनके चरणों में झुककर बड़े भक्तिभाव से प्रणाम किया और उनसे वह बोला कि आप मेरे गुण-गरिष्ठ गुरु हैं, फिर हे नीति-नय के परम विद्वान् आप ही कहिए कि मैं आप ही का शिष्य होकर आपके साथ कैसे युद्ध करूँ॥१२९-१३०॥

अतः गुरुवर्य! आप अपने स्थान को जाइए। मैं आज बैरियों को यम मन्दिर का अतिथि बनाऊँगा। यह सुन द्रोण ने कहा कि पार्थ, तुम जल्दी तैयार हो और बराबर वे रोक टोक मेरे ऊपर प्रहार करो। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। द्रोणाचार्य के इन वचनों से डरकर पार्थ ने उनसे कहा कि गुरुवर्य! तब पहले आप ही बाण छोड़ें, पीछे से यथाशक्ति मैं भी आपकी सेवा करूँगा और आपके बल को देखूँगा। इसके बाद अभिमान में भूलकर वे दोनों गुरु-शिष्य आपस में युद्ध करने को उद्यत हुए॥१३१-१३४॥

इस समय के इन दोनों के भीषण युद्ध को आकाश में से -देवगण और नीचे से दोनों पक्ष की सेना के लोग देखते थे और देखकर बड़े अचम्भे में पड़ रहे थे। इसके बाद द्रोण ने एक साथ बीस बाणों को छोड़कर सारे आकाश को ढँक दिया। उधर से उद्धत पार्थ ने उन आते हुए बाणों को आधे मार्ग में ही छेद डाला। तब क्रोध में आ द्रोण ने अर्जुन के ऊपर एकदम लाख-बाण छोड़े जिनकी कि उसने दो लाख बाणों से निवार दिया। यह देख जय-लक्ष्मी अर्जुन जैसे शुभंकर भव्य मूर्ति पर निछावर हो गई। इस प्रकार अर्जुन ने अपने प्रखर बाणों की मार से द्रोणाचार्य को युद्ध स्थल से हटा दिया॥१३५-१३८॥

इसी बीच में युद्ध की प्रतिज्ञा करता हुआ उधर से द्रोण का पुत्र अश्वत्थामा युद्धस्थल में आ

अश्वत्थामा हयौ तावद्रथस्थौ हतवान्हठात्। बीभत्सस्तौ तथा भूमौ पतितौ गतजीवितौ ॥१४०॥
अश्वत्थामा महाबाणैर्गाण्डीवगुणमच्छिनत्। अन्यां ज्यां च समारोप्यार्जुनो धनुषि तत्क्षणम् ॥१४१॥
जघान द्रोणपुत्रस्य हृदयं हृदयंगमः। सव्यसाची शरैः शीघ्रं धनुषा प्रेरितैः स्फुटम् ॥१४२॥
अश्वत्थामा महीपीठे मुमूर्च्छ पतितो द्रुतम्। अर्जुनं समुवाचेदं तावदुत्तरसारथिः ॥१४३॥
वाहयामि रथं नाथ दुर्योधननृपं प्रति। संधानं कुरु धानुष्काहिताञ्जहि महात्वरान् ॥१४४॥
पार्थः प्रोवाच दुर्जेयान्विपक्षान्सम्मुखांस्तदा। कुर्वन्विविधवाक्यैश्च मर्म नर्मविधायिभिः ॥१४५॥
तैः समं विषमं व्योम छादयद्भिर्महाशरैः। युयुधे युद्धशौण्डीरो धनंजयमहीपतिः ॥१४६॥
तावत्तत्क्रममुल्लङ्घ्य राजबिन्दुः समाययौ। पार्थं च वेष्टयन्सैन्यैर्गजवृन्दैर्मृगेन्द्रवत् ॥१४७॥
एकेन तेन पार्थेन समर्थेन धनुष्मता। चिच्छेद वाहिनी तस्य मेघमालेव वायुना ॥१४८॥
गजान्रथान्ध्वजानश्वान्लक्ष्यीकृत्य सुलक्ष्यवित्। निहत्य पातयामास धरायां स धनंजयः ॥१४९॥
कांस्कान्हन्मि नृपानत्र हिंसया पातकं यतः। ध्यात्वेति सुरराट्सूनुर्मोहनास्त्रं मुमोच च ॥१५०॥

उतरा। फिर क्या था, अर्जुन और वह दोनों महायोद्धा परस्पर भीषण सिंह के बच्चों की भाँति भीषण युद्ध करने लगे। इतने ही में वीभत्स ने अश्वत्थामा के रथ के दोनों घोड़ों के छेद दिया, जिससे वे प्राणरहित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। इधर अश्वत्थामा ने भी अपने महाबाणों के द्वारा अर्जुन के गांडीव-धनुष की डोरी को छेद दिया परन्तु अर्जुन ने धनुष पर, उसी वक्त दूसरी डोरी चढ़ाकर अश्वत्थामा के हृदय में कई ऐसे बाण मारे कि जिनसे वह अतिशीघ्र बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ा। इसके बाद उत्तर सारथी ने अर्जुन से कहा कि नाथ, अब मैं दुर्योधन की ओर को रथ फेरता हूँ, अतः हे धनुर्धर, आप धनुष पर शर संधान कर अतिशीघ्र ही इन शत्रुओं का काम तमाम कर दीजिए। इस पर अर्जुन ने दुर्जेय शत्रुओं को अपनी ओर आकर्षित कर मर्म को नर्म करने वाले वचनों द्वारा समझाया और साथ ही उस शौंडीर ने अपने विषम-बाणों के द्वारा आकाश को पूर दिया ॥१३९-१४६॥

यह देख राजबिन्दु पार्थ पर झपटा और उसने अपनी सेना के द्वारा उसे चारों ओर से घेर लिया। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानों हाथियों ने सिंह को घेर लिया है। अर्जुन सिंह जैसा था और राजबिन्दु के सैनिक-गण हाथियों जैसे। लेकिन वह सेना अर्जुन का कुछ भी न कर सकी और है भी ऐसा ही कि क्या कहीं हाथी बहुत से मिल कर भी एक सिंह का कुछ कर सकते है। राजबिन्दु की सारी सेना की अकेले अर्जुन ने ही तितर-बितर कर दिया, जैसे कि थोड़ी-सी वायु भी बड़े-बड़े मेघों की तितर-बितर कर देती है। इसके बाद उस महाबली ने लक्ष्य बाँधकर राजबिन्दु के हाथी, घोड़े, रथ और ध्वजाओं को छेदकर सबको धराशायी कर दिया ॥१४७-१४९॥

यह सब मार काट देख अर्जुन बड़ा विपन्न हुआ और उसने अन्त में सोचा कि इस युद्ध में मैं किस-किस राजा को मारूँ किस-किसके प्राण लूँ। हिंसा करने से तो बड़ा पाप होता है, अतः किसी को भी मारना उचित नहीं। यह सब सोच-विचार कर हिंसा दूर करने के लिए धनंजय ने मोहन-बाण छोड़ा और उन्हें ऐसा वे-सुध कर दिया मानों उन्होंने धतूरे का फल ही खा लिया है। वे उसके नशे

सद्धाटकफलेनेव तेन सर्वे विमोहिताः। पेतुः पृथ्वीतले तूर्णं निर्जीवा इव भूमिपाः ॥१५१॥
तेषां छत्रध्वजादीनि गजवाजिमहारथान्। आदायाभूत्तदा तुष्टोऽर्जुनो निर्जितशात्रवः ॥१५२॥
विराटो वरवादित्रैर्नाट्यैः सद्भटकोटिभिः। तत्क्षणे कारयामास क्षणं श्रीपार्थभूपतेः ॥१५३॥
तावता धर्मपुत्रोऽपि मोचयामास गोकुलम्। प्रहृष्टः शिष्टसंसेव्यः समभून्निर्भयो महान् ॥१५४॥
कथं कथमपि प्राप्ताश्चेतनां कौरवा नृपाः। प्रपेदिरे त्रपापूर्णाः पुरं प्रमोदवर्जिताः ॥१५५॥
विराटो विकटो मत्वा तानिमान्पञ्च पाण्डवान्। नत्वा करपुटं कृत्वा मूर्ध्नि विज्ञप्तिमातनोत् ॥१५६॥
एतावत्समयं देव न ज्ञातो भगवान्भवान्। मया धर्मात्मजस्त्वं हि तदागः क्षम्यतां मम ॥१५७॥
अतस्त्वमेव स्वाम्यत्र किंकरोऽहं तव प्रभो। अत्रैव क्रियतां राज्यं प्राज्यं सद्बान्धवैः सह ॥१५८॥
विवेश पत्तनं सार्धं कौन्तेयैः स महोत्सवैः। विनयी विनयं कुर्वंस्तेषां प्रार्थयत स्थितिम् ॥१५९॥
इत्युक्त्वा विनयं कृत्वा गोष्ठेऽसौ गोकुलं न्यधात्। स पुनः प्रार्थयामास पार्थमुद्वाहसिद्धये ॥१६०॥
धनंजय सुता धन्या ममास्ति भोगभाजनम्। जरासंधसुतैः पूर्वं प्रार्थितानेकशोऽपि सा ॥१६१॥
सुदती न मया दत्ता सुरूपा भूप भोगदा। तेभ्योऽतो भज तत्पाणिपीडनं पार्थ पार्थिव ॥१६२॥
पार्थोऽवोचद्विराटेड् योऽभिमन्युर्मम नन्दनः। सुभद्रायास्तुजे तस्मै देहि दीप्तिधरां सुताम् ॥१६३॥

से बेसुध हो गये, सबके सब राजा मुर्दे के जैसे पृथ्वी पर गिर पड़े। इस प्रकार शत्रुओं पर विजय पाकर और उनके छत्र-ध्वजा, हाथी-घोड़े, रथ-महारथ वगैरह पाकर अर्जुन बड़ा सन्तुष्ट हुआ ॥१५०-१५२॥

इसके बाद विराट ने उसी वक्त नौवते झड़वाई और असंख्य वीरों के साथ पार्थ का बड़ा भारी आदर और अपूर्व उत्सव किया। इसी समय हर्षित-चित और शिष्टों द्वारा सेवित निर्भय युधिष्ठिर ने उधर से गो-कुल को भी छुड़ा लिया। इसके बाद किसी तरह जब कौरव होश में आये तब वे बड़े लज्जित और निर्मद हो दीन की भाँति अपने पुर को चले गये ॥१५२-१५५॥

इधर जब विराट को यह निश्चय हो गया कि ये पाँचों ही वास्तव में पाण्डव हैं तब हाथ जोड़, नमस्कार कर उसने युधिष्ठिर से कहा कि देव, इतने समय तक मैंने आपको जाना नहीं था कि आप ही धर्मपुत्र हैं। अतः आप मेरे अपराधों को क्षमा करें। प्रभो, अब से इस राज्य के आप ही स्वामी हैं और मैं किंकर आपका हूँ। अतः आप बन्धुवर्ग सहित यहीं राज्य कीजिए। इसके बाद विराट गोकुल की बाड़े में बन्द करवा कर आप स्वयं पाण्डवों-सहित बड़े भारी उत्सव के साथ नगर में आया ॥१५६-१५९॥

विराट ने युधिष्ठिर आदि से बड़े विनय-पूर्वक रहने के लिए प्रार्थना की और पार्थ से इच्छा प्रकट की कि वह उसकी पुत्री के साथ विवाह करे। वह बोला कि धनंजय, मेरी भोग-योग्य और सब तरह से कृतार्थ एक पुत्री है। वह रूप-सौन्दर्य की सीमा है। पहले जरासंध के पुत्र ने मुझसे उसके लिए बहुत बार प्रार्थना की थी परन्तु मैंने उसे नहीं दी। इसलिए हे पार्थ! आप उसका पाणिग्रहण कीजिए। इस पर पार्थ ने कहा कि महाराज! सुभद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुआ अभिमन्यु नाम मेरा एक पुत्र है। आप अपनी सुंदरी कन्या को उसे दीजिए। अर्जुन को इस कहने को स्वीकार कर विराट ने विवाह-मंगलों के द्वारा बड़े भारी ठाट-बाट के साथ अभिमन्यु के साथ अपनी कन्या का

तत्क्षणं स क्षणं कृत्वा विवाहवरमङ्गलैः। विराटः सुघटाटोपैर्ददौ तामभिमन्यवे ॥१६४॥
तदा कुन्ती समायाता ज्ञात्वा तेषां सुवैभवम्। किंवदन्ती तदा याता द्वारवत्यां महापुरि ॥१६५॥
ततो हलधरो धीमान्विकुण्ठो विष्टरश्रवाः। प्रद्युम्नो भानुमुख्याश्च प्राप्तास्तत्र महीभुजः ॥१६६॥
धृष्टार्जुनः सुसज्जः सन्नूर्जस्वीं स समाययौ। अखण्डाज्ञः शिखण्डी च भूपोऽपि परमोदयः ॥१६७॥
एवमन्ये महानन्दाः सेन्दिरा रूपसुन्दराः। तत्रापुर्भूमिपास्तूर्णं मनोरथशताकुलाः ॥१६८॥
विवाहानन्तरं तत्र कियतो वासरान्नृपाः। स्थित्वा सन्मानिताः सर्वे वस्त्राद्यैः स्वपुरं ययुः ॥१६९॥
हरिर्हलधरेणामा अक्षौहिणीबलान्वितः। पाण्डवैः सह सत्प्रीत्या चचाल चञ्चलैस्त्वरा ॥१७०॥
यादवाः स्वपुरे याताः कुन्त्या सह च पाण्डवैः। तत्र तस्थुः स्थिरं स्थैर्यादन्योन्यप्रीतिमानसाः ॥१७१॥
अक्षौहिणीप्रमाणं किं वद गौतम सोऽवदत्। खं सप्ताष्टैकयुग्माङ्का २१८७० दन्तिनो यत्र संमताः ॥१७२॥
तथा रथाश्च तावन्तः २१८७० खैकषट्पञ्चपङ्क्तयाः ६५६१०।
पत्तयः शून्यपञ्चत्रिनवशून्यैकसंमताः १०९३५० ॥१७३॥
तत्रैकदा जगादैवं दिवस्पतितनूद्भवः। देवकीनन्दनं नीत्या संनिर्जितबृहस्पतिः ॥१७४॥
यस्याप्यपयशो लोके वरीवर्ति वरातिगम्। अवगण्यं वचोऽतीतं गणनातीतमञ्जसा ॥१७५॥
तद्वक्तुं कौरवाणां हि कः क्षमो जगतीतले। वयं जतुगृहे क्षिप्ता ज्वालिता तैश्च छद्मना ॥१७६॥

विवाह कर दिया ॥१६०-१६४॥

इसके बाद पाण्डवों का यह सब हाल जब द्वारिका में पहुँचा तब वहाँ से बलभद्र, नारायण, प्रद्युम्न, भानु आदि विराट नगर में आये। तेजस्वी धृष्टार्जुन और अखण्ड सत्ताशाली महाभाग शिखण्डी भी आया। इसी भाँति रूप-सौन्दर्य से सुशोभित, आनंद के भरे, सैकड़ों मनोरथों को चित्त में रखकर और-और राजा भी आये। विवाह के बाद भी पाण्डव और राजा लोग कितने ही दिन वहाँ और रहे। इसके बाद वस्त्राभूषण आदि के द्वारा सम्मानित हो वे अपनी-अपनी राजधानी को चले गये। सबको विदा कर नारायण और बलभद्र आदि राजा लोग तीन अक्षौहिनी सेना लेकर प्रीति के साथ, पाण्डवों सहित वहाँ से रवाना हो द्वारिका में आ गये और वहाँ वे परस्पर बड़ी प्रीति से रहते हुए अपना समय बिताने लगे ॥१६५-१७१॥

इसी समय श्रेणिक ने गौतम भगवान् से पूछा कि भगवन्! अक्षौहिणी का प्रमाण कितना होता है? गौतम ने उत्तर दिया कि २१७८० हाथी, इतने ही रथ, ६५६१० घोड़े, १०९३५० पयादे योद्धा इन सबको मिला एक अक्षौहिणी होती है ॥१७२-१७३॥

दुर्योधन का अपयश जगत में उत्तमता का उल्लंघन कर रहा है, वह तिरस्कार करने लायक शब्दों से अवर्णनीय और निश्चय से गणना के अगोचर है। कौरवो के अपराध कहने के लिये जगत में कौन समर्थ है ? ॥१७४-१७५॥

द्वारिकापुरी में रहते हुए अर्जुन ने एक दिन नीति से बृहस्पति को भी जीतने वाले कृष्ण से कहा कि कौरवों ने छल से हमें लाख के महल में रक्खा और बाद उन शठों ने उसमें आग लगा दी।

गृहीत्वा द्रौपदीकेशान्गृहान्निष्कासिताः शठैः। मुरारिस्तद्वचः श्रुत्वा रसनां दशनान्तरे ॥१७७॥
स्थापयित्वा जगादैवं निःप्रमादो महामनाः। दुर्योधनकृतिं पार्थ प्रेक्षस्व कृतसत्क्षतिम् ॥१७८॥
निर्बन्धुत्वं च दुष्टस्याकुलीनत्वं नयच्युतिम्। इत्युक्त्वा मन्त्रयित्वा च पाण्डवैर्विष्टरश्रवाः ॥१७९॥
कार्यं विचार्य वेगेन प्राहिणोच्च वचोहरम्। क्रमेणाक्रम्य भूपीठं स जगाम सुहस्तिनम् ॥१८०॥
गत्वा नत्वा नृपं नीत्या बभाण कौरवेश्वरम्। द्वारकातः समायातो दूतोऽहं विधिवेदकः ॥१८१॥
राजन्नत्र महीपीठे न जेयाः पाण्डवा रणे। वृथा किं क्रियते वंशच्छेदः स्वस्य महीपते ॥१८२॥
पाण्डवानां तु साहाय्यं करोति मधुमर्दनः। विराटो विकटो भूमौ द्रुपदः सरथः सदा ॥१८३॥
प्रलम्बघ्नः सदा येषां विघ्नौघपरिघातकः। दशार्हाश्चार्हणां प्राप्ताः प्रद्युम्नाद्याः सुपक्षिणः ॥१८४॥
तैः समं समरे स्थातुं किं भवान्क्षणमर्हति। मानं विमुच्य भीतात्मन्शुद्धसंधिं विधेहि भोः ॥१८५॥
अर्धार्धभूर्विभज्याशु द्वाभ्यां भोज्या सुभाग्यतः। दूतोक्तमेवमाकर्ण्य विदुरं कौरवोऽवदत् ॥१८६॥
ताताद्य किं प्रकर्तव्यं मया राज्यं प्रभुज्यते। पूर्णं तूर्णं कथं ब्रूहि प्रोवाच विदुरस्तदा ॥१८७॥
धर्मेण लभते सौख्यं धर्माद्राज्यं निराकुलम्। धर्माच्च सुधरा धीमन् धर्माद्वैरिगणात्ययः ॥१८८॥
पुरुषस्य विशुद्धिस्तु धर्मः साधर्मिकैर्मतः। मनोवचनकायानामकौटिल्यं विशुद्धता ॥१८९॥

पुण्य से हम लोग उस समय बाल-बाल बच गये। इसके सिवा उन, दुष्टों ने एक बड़ा भारी अपराध यह किया है कि द्रौपदी की चोटी पकड़कर उसे बलात् घर बाहर किया और उसका घोर अपमान किया। अर्जुन के वचनों को सुनकर महामना नारायण दाँतों तले जीभ दबा कर बोले पार्थ! दुर्योधन ने यह सचमुच ही बड़ा अन्याय और बहुत ही क्षुद्रता की है। यह दुष्ट न तो बन्धुवर्ग को चाहता है और न इसमें कुछ कुलीनता ही है। इसी कारण संसार में इसका इतना अपयश फैल रहा है, जिसकी कोई सीमा नहीं। कौरवों के दुराचारों को पृथ्वी पर ऐसा कोई नहीं जो सह सके। पाण्डवों के साथ इस विषय पर खूब विचार कर नारायण ने अपना कर्तव्य निश्चित किया और फिर दुर्योधन के पास एक दूत भेजा। दूत थोड़े ही समय में हस्तिनापुर पहुँचकर उसने दुर्योधन को नमस्कार किया और नीति के साथ वह बोला कि महाराज, मैं द्वारिका से आया हूँ। मैं एक निपुण दूत हूँ ॥१७६-१८१॥

राजन्! पृथ्वी पर ऐसा कोई नहीं जो पाण्डवों को जीत सके। फिर व्यर्थ ही आप अपने कुल का उच्छेद क्यों करते हैं। देखिए नारायण, संसार भर में विकट विराट, द्रुपद, सब विघ्नों को दूर करने वाला प्रलंवघ्न, सब प्रकार योग्य दशार्ह-गण तथा प्रद्युम्न आदि सब राजा पाण्डवों की पक्ष में हैं, उनकी सहायता के लिए तत्पर हैं। फिर युद्ध में उनके सामने आप एक क्षण भी कैसे ठहर सकते है। इसलिए राजन्, अब आप मान छोड़कर उनके साथ कपट रहित सन्धि कर लीजिए और आपस में आधी-आधी पृथ्वी को बाँटकर दोनों महाभाग अपने-अपने हिस्से का उपभोग कीजिए और सच पूछो तो इसमें आपकी भलाई है। दूत के इन वचनों की सुनकर दुर्योधन ने विदुर से कहा कि तात, बताइए, इस समय क्या किया जाये। वह कौन-सा उपाय है जिससे हम पूरे राज्य को भोग सकें। यह सुन विदुर ने कहा कि भाई, जीवों को सुख धर्म से मिलता है और राज्य भी निरंकुश इसी

क्रोधलोभसुगर्वाणां त्यागो हि वृष उच्यते। अतस्तांस्त्वं परित्यज्य कुरु धर्मे महामतिम् ॥१९०॥
यदि वाञ्छसि स्वच्छत्वं स्वेच्छया वत्स पाण्डवान्। आकार्य विनयेनाशु देहि देशार्धमुत्तरम् ॥१९१॥
श्रुत्वा दुर्योधनः क्रुद्धः समवादीद् हृदा दधत्। आमर्ष हर्षनिर्मुक्तो विदुरं विदुरं सदा ॥१९२॥
अहं ते भक्तिनिर्भिन्नस्त्वं वाञ्छसि च गौरवम्। पाण्डवानां परं राज्यं ममाराज्यं विशेषतः ॥१९३॥
इत्युक्त्वा दुष्टवाक्येन दूतो निर्घाट्य संसदः। तेन निःसारितः प्राप पुरीं द्वारावतीं पराम् ॥१९४॥
नत्वा नृपांश्च कौन्तेयान्यादवांश्च वचोहरः। यथावत्सर्ववृत्तान्तं न्यवेदयत्स कार्यवित् ॥१९५॥
राजन्न कुर्वते संधिं कौरवाः कृतकिल्बिषाः। न तुष्टास्ते च तिष्ठन्ति भवतामुपरि स्फुटम् ॥१९६॥
तच्छ्रुत्वा संजगौ वाक्यं पाण्डुपुत्रः पवित्रवाक्। अस्माभी रक्षिता नीतिरयशोऽपि निवारितम् ॥१९७॥
तदर्थं प्रेषितो दूतो येनानीतिर्न जायते। इत्युक्त्वा पाण्डवा यातुं यादवैस्तान्समुद्ययुः ॥१९८॥
तावदन्यकथासंगः श्रूयतां सावधानतः। ज्ञायते येन सद्विष्णुप्रतिविष्णोः सुखासुखम् ॥१९९॥
भ्रान्त्वा भूवलयं विराटनगरे नानाभटैः संकटे गत्वा वेषधराः सुपाण्डुतनया जित्वा रणे दुर्जयान्।
कौरव्यान्किल गोकुलं जनकुलानन्दप्रदं संख्यके रक्षन्ति स्म सपक्षतो वरवृषात्प्रापुर्विराटे जयम् ॥२००॥

से होता है। वह धर्म और कोई बाहरी चीज नहीं किन्तु आत्मा की विशुद्धि है एवं आत्म-विशुद्धि मन-वचन-काय की सरलता को कहते हैं अथवा क्रोध, लोभ और गर्व के त्याग को धर्म कहते हैं। इसलिए तुम क्रोध आदि छोड़कर अपनी बुद्धि को धर्म में लगाओ। यदि तुम निर्मल यश चाहते हो तो वत्स! अपने आप ही पाण्डवों की बुलाकर विनय के साथ उन्हें आधा राज्य बाँट दो ॥१८२-१९१॥

यह सुन दुर्योधन को बड़ा क्रोध आया। उसका हृदय गर्व से भर आया, चेहरा लाल हो उठा। वह विदुर से बोला कि मैं हमेशा से आपकी इतनी भक्ति करता आ रहा हूँ कि जिसका कोई ठिकाना नहीं परन्तु आप इतने कठोर है जो पाण्डवों का ही गौरव और राज्य चाहते हैं और हमें उससे वंचित रखना चाहते हैं ॥१९२-१९३॥

इसके बाद उसने अपमान भरे वचन कहकर दूत को भी सभा से निकाल दिया। अपमान के साथ द्वारिका आकर उस कुशल दूत ने पाण्डवों और यादवों को प्रणाम कर उनसे दुर्योधन का सब हाल कह सुनाया। वह बोला कि राजन्, कौरव बड़े दुष्ट और पापी हैं। उनका स्वभाव बिल्कुल ही क्षुद्र है। वे संधि करना नहीं चाहते और न वे आप लोगों से सन्तुष्ट ही हैं। यह सुन मिष्टभाषी युधिष्ठिर ने कहा कि जो हो, हम तो नीति का पालन कर अपयश से बरी हो गये और अनीति न हो इसलिए हमने तुम्हें भी भेजा। इसके बाद ही पाण्डव यादवों सहित कौरवों पर चढ़ाई करने की तैयारी में लग गये ॥१९४-१९८॥

इस अध्याय में यह बात कही गई कि पाण्डव सारी पृथ्वी पर घूमकर गुप्त वेष में नाना भटों से परिपूर्ण विराट नगर में आये। वहाँ उन्होंने दुर्जेय कौरवों को युद्ध में पराजित किया और जन-समूह को आनंद देने वाले गो-कुल की उनसे रक्षाकर पुण्य-योग से वे जयी हुए॥१९९-२००॥

धर्माद्वैरिजनस्य भेदनमहो धर्माच्छुभं सत्प्रभम्
धर्माद्बन्धुसमागमः सुमहिमालाभः सुधर्मात्सुखम्।
धर्मात्कोमलकम्रकायसुकला धर्मात्सुताः संमताः
धर्माच्छ्रीः क्रियतां सदा बुधजना ज्ञात्वेति धर्मः श्रियै ॥२०१॥

इति श्रीपाण्डवपुराणे भारतनाम्नि शुभचन्द्रप्रणिते ब्रह्म० श्रीपालसाहाय्यसापेक्षे पाण्डवानां विराटनगरे कौरवभङ्गप्रापणगोकुलविमोचनाभिमन्यु-विवाहद्वारावतीप्रवेशवर्णनं नामाष्टादशं पर्व ॥१८॥

और ठीक ही है कि धर्म से ही वैरी नष्ट होते हैं, बन्धुओं का समागम होता है, सुन्दर शरीर मिलता है, मन की मुग्ध करने वाली सुंदर स्त्रियाँ और सुख मिलता है, कोमल शरीर और कला-विज्ञान प्राप्त होते हैं, पुत्र-पौत्र आदि सम्पत्ति प्राप्त होती है और बढ़ाकर कहाँ तक कहें जीवों की मोक्ष लक्ष्मी से भेंट भी यही धर्म कराता है। इसलिए समझदार लोगों को सदा धर्म का सेवन करते रहना चाहिए ॥२०१॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में विराटनगर में कौरवों को पराजय प्राप्ति, गोकुलों को कौरवों से छुड़ाना, अभिमन्यु का विवाह और द्वारावती में प्रवेश इन विषयों का वर्णन करने वाला अठारहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१८॥

❑ ❑ ❑
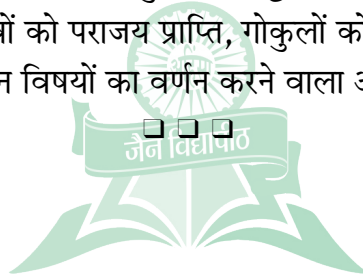
एकोनविंशं पर्व

अनन्तानन्तसंसारसागरोत्तारसेतुकम्। अनन्तं नौम्यनन्तत्वं गुणानां यत्र वर्तते ॥१॥
अथ दायादसंदोहक्रियाशङ्काविरक्तधीः। संसारासुखसंभारभङ्गुरो विदुरोऽभवत् ॥२॥
स वैराग्यभराक्रान्तस्वान्तवृत्तिरचिन्तयत्। धिक् संपदः प्रभुत्वं धिक् धिक् च वैषयिकं सुखम् ॥३॥
यत्कृते पितरं पुत्रः पिता पुत्रमपि क्वचित्। सुहृच्च सुहृदं बन्धुर्बान्धवं च जिघांसति ॥४॥
एतांश्च कर्मचाण्डालसंश्लेषमलिनान्कुरून्। न खलु द्रष्टुमीशिष्ये म्रियमाणान्रणाङ्गणे ॥५॥
एवमालोच्य विज्ञानी विदुरः कौरवान्नृपान्। प्रकथ्य विपिनं गत्वानंसीद्विपुलमानसम् ॥६॥
विश्वकीर्तिं नतः श्रुत्वा वृषं संयमिनो वृषम्। जग्राहोपधिनिर्मुक्तः संचरन्परमं तपः ॥७॥
अथैकदा जनः कश्चिद्विपश्चिद्राजमन्दिरम्। पुरं प्राप्य सुरत्नौघैः प्राभृतीकृत्य भूमिपम् ॥८॥
नतः पृष्टो नरेन्द्रेण कस्मादायातवानिति। स जगौ द्वारिकातोऽहं प्राप्तोऽत्र त्वद्दिदृक्षया ॥९॥
तत्र कोऽस्ति महीपालो जरासंधेन भूभुजा। पृष्टोऽवोचत्स वैकुण्ठो नेमिना तत्र भूपतिः ॥१०॥
तत्रस्थान्यादवाञ्श्रुत्वा जरासंधो महाक्रुधा। चचालाकालकल्पान्तचलितात्मबलाम्बुधिः ॥११॥
निर्हेतुसमरप्रीतो माधवं नारदोऽब्रवीत्। जरासंधमहाक्षोभं वैरिविध्वंसकारकम् ॥१२॥

उन अनंतनाथ भगवान् को प्रणाम है जो अनंत संसार-समुद्र से पार उतरने के लिए सेतु हैं और जो अनंत गुणों के भण्डार हैं। वे मुझे भी अनन्त चतुष्टय का दान दें ॥१॥

इसके बाद विदुर ने विरक्त हो सांसारिक सुख को क्षणभंगुर समझा। वैराग्य में लीन हो वे सोचने लगे कि इस सम्पत्ति, प्रभुता और विषयजन्य सुख को धिक्कार है जिसके लिए पिता-पुत्र को, पुत्र-पिता को, मित्र-मित्र को और बन्धु-बन्धु को भी मार डालता है। ये कौरव अधर्मरूपी चांडाल के सम्बन्ध से मलिन हो रहे हैं। अतः ये अवश्य ही युद्ध में अपने प्राण देंगे और इसी लिए अब मैं इन दुष्टों का मुँह देखना नहीं चाहता। इस प्रकार विचार करके विज्ञानी विदुर कौरव राजाओं से कहकर वन को चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने विपुलमना विश्वकीर्ति मुनि को प्रणाम कर उनसे धर्म का उपदेश सुना तथा मुनिधर्म की दीक्षा ले ली। बाद परिग्रह रहित दिगम्बर मुनि हो परम तप, तपते हुए वे विहार करने लगे ॥२-७॥

एक दिन एक पुरुष राज-मन्दिर पुर में आया और उसने जरासंध को रत्न-समूह भेंट कर प्रणाम किया। जरासंध ने उससे पूछा कि तुम कहाँ से आये हो। उत्तर में वह बोला कि राजन्, मैं आपके दर्शनों की इच्छा से द्वारिका से यहाँ आया हूँ। जरासंध ने पुनः पूछा कि वहाँ का राजा कौन है। उस आगन्तुक ने कहा कि नेमि प्रभु के साथ-साथ कृष्ण नारायण वहाँ का राज्य करते हैं। वहाँ यादवों का निवास सुनकर जरासंध के क्रोध का पारा एकदम चढ़ गया। वह असमय में क्षुभित होने वाले प्रलय काल की भाँति अपनी सेना द्वारा समुद्र को क्षोभित करता हुआ द्वारिका को चल पड़ा ॥८-११॥

उधर बिना कारण ही इस युद्ध को छिड़ता देखकर नारद को बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने वैरियों का विध्वंस करने वाले जरासंध के महान् क्षोभ का हाल आकर कृष्ण से कहा। तब कृष्ण नेमिप्रभु

मुरारिरपि नेमीशमभ्येत्य पुरतः स्थितः। अप्राक्षीत्क्षिप्रमात्मीयं जयं शत्रुक्षयोद्‌भवम् ॥१३॥
नेमिर्नम्रामराधीशो विष्णुमोमित्यभाषत। स्मिताद्यैः स्वजयं ज्ञात्वा योद्‌धुं विष्णुः समुद्ययौ ॥१४॥
बलनारायणौ राजा समुद्रविजयो जयी। वसुदेवोऽप्यनावृष्टिर्धर्मपुत्रश्च भीमकः ॥१५॥
अर्जुनो रौक्मिणेयश्च धृष्टद्युम्नस्तु सत्यकः। जयो भूरिश्रवा भूपौ सहदेवश्च सारणः ॥१६॥
हिरण्यगर्भ इत्याख्यः शम्बोऽक्षोभ्यो विदूरथः। भोजः सिंधुपतिर्वज्रो द्रुपदः पौण्ड्रभूपतिः ॥१७॥
नागदो नकुलो वृष्टिः कपिलः क्षेमधूर्तकः। महानेमिः पद्मरथोऽक्रूरो निषधदुर्मुखौ ॥१८॥
उन्मुखः कृतवर्मा च विराटश्चारुकृष्णकः। विजयो यवनो भानुः शिखण्डी सोमदत्तकः ॥१९॥
बाल्हीकप्रमुखाश्चेलुर्यादवानां महानृपाः। युद्धे संबद्धकक्षास्ते विपक्षक्षयकारकाः ॥२०॥
दुर्योधनं समाप्राप्य जरासंधवचोहरः। नत्वा प्रोवाच वागीशो यथादिष्टं सुचक्रिणा ॥२१॥
येनास्तो दुर्धरः कंसो बुधश्चक्रिसुतापतिः। चाणूरश्चूर्णितो येन मुष्टिघातेन सद्‌बली ॥२२॥
गोवर्धनं धराधीशं समुद्दध्रेऽहिमर्दकः। गोपालः स क्षितौ ख्यातमहावक्षाः सुरक्षकः ॥२३॥
ये यादवा रणे नष्टाः प्रविष्टा हुतभुक्‌चये। श्रूयन्ते तत्र जीवन्तः सुस्थिता जलधौ परे ॥२४॥
प्राभृतीकृत्य रत्नानि वैश्येनैकेन चक्रभृत्। यादवानां महाराज्यप्रभावश्च निवेदितः ॥२५॥
जरासंधः समाकर्ण्य यादवान्पाण्डवान्स्थितान्। द्वारावत्यां महाक्रोधात्प्राहिणोत्प्रणिधीन्नृपान् ॥२६॥

के पास आये और उन्होंने शत्रु के क्षय से होने वाली अपनी विजय के बाबत उनसे पूछा। उत्तर में इन्द्रों द्वारा सेवित प्रभु कुछ न कहकर कुछ मुसकाये गये। प्रभु के इस मंदस्मित से अपनी विजय निश्चय कर कृष्ण युद्ध के लिए तैयार हुए। उनके साथ ही यादवों के अन्य बहुत से राजा शत्रु का ध्वंस करने के लिए बद्ध परिकर होकर युद्ध-स्थल में उतरने को चल पड़े। वह राजे बलदेव, नारायण, जयशील, समुद्र-विजय, वसुदेव, अनावृष्टि, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, प्रद्युम्न, धृष्टद्युम्न, सत्यक, जय, भूरिश्रव, भूप, सहदेव, सारण, हिरण्यगर्भ, शंव, अक्षोभ्य, विद्‌भरथ, भोज, सिंधुपति, वज्र, द्रुपद, पौंड्रभूपति, नारद, नकुल, वृष्टि, कपिल, क्षेमधूर्तक, महानेमि, पद्मरथ, अक्रूर, निषध, दुर्मुख, उन्मुख, कृतवर्मा, विराट, चारु, कृष्णक, विजय, यवन, भानु, शिखण्डी, सोमदत्तक और वाह्लीक आदि थे ॥१२-२०॥

उधर जरासंध का भेजा हुआ दूत दुर्योधन के पास गया और उसने दुर्योधन को प्रणाम कर उससे जरासंध के उद्देश्य को कह सुनाया। उसने कहा कि जिस बली ने दुर्द्धर विद्वान् और जरासंध के दामाद कंस का ध्वंस किया, जिसने अपने मुष्टि-प्रहार से चाणूर को चूर डाला और गोवर्द्धन नाम पहाड़ को उठा लिया वह साँपों का मर्दन करने वाला, प्रजा का सुरक्षक और महान् वक्षःस्थल वाला गोपालकृष्ण-संसार भर में विख्यात है। उसे सब जानते हैं और जो यादव युद्ध में भागकर आग में जल गये थे, सुना जाता है कि वे सब जीते हैं और पश्चिम की ओर वाले समुद्र में रहते हैं। यह सब हाल बहुत से रत्न वगैरह भेंट देकर वहीं से आये हुए एक वैश्य ने जरासंध चक्रवर्ती से कहा है। उसने कहा है कि द्वारिका में यादवों का बड़ा भारी राज्य है और वहाँ उनका पूरा-पूरा वैभव है। उसके मुँह से यादवों और पाण्डवों को द्वारिका में रहते हुए सुनकर जरासंध को बड़ा क्रोध आया ॥२१-२६॥

उसने नृपों के पास दूत भेजकर सब राजाओं को बुलाया। उनके निमंत्रण से सभी राजा सज

आकारिता नृपाः सर्वे प्रधानपुरुषोत्तमाः। संवत्सरेण चैकेन मिलितास्तत्र तेऽखिलाः ॥२७॥
दुर्योधन धराधीश प्रेषितोहं तवान्तिकम्। चक्रिणा कारणायैव गन्तुं कुरु मतिं विभो ॥२८॥
वाहिनीं विविधां वीरविशिष्टामिष्टचेष्टिताम्। सज्जीकृत्य समागच्छ स्वच्छो वत्स ममान्तिकम् ॥२९॥
इति लब्धमहादेशो रोमाञ्चितशरीरकः। कौरवोऽपूजयद्दूतं वसनैर्भूषणैर्धनैः ॥३०॥
अचिन्तयच्चिरं चित्ते यदिष्टं मनसि स्थितम्। तदेव चक्रिणानीतमिदानीमिति कौरवः ॥३१॥
योद्धा दुर्योधनो धीमान्रणभेरीमदापयत्। सभ्यान्सभापतीन्क्षुब्धान्कुर्वन्तीं रणलालसान् ॥३२॥
मत्ता मतङ्गजाश्चेलुः कुथाच्छादितविग्रहाः। रथाः सारथिभिः शीघ्रं श्वेतवाजिविराजिताः ॥३३॥
चञ्चलास्तुरगाश्चेलुश्चलच्चामरचर्चिताः। पूर्णाः पदातयश्चापि परायुधसमुत्करैः ॥३४॥
चतुरङ्गबलेनामा समियाय स कौरवः। छादयन्निखिलं व्योम रेणुभिः सुखरोत्थितैः ॥३५॥
जरासंधं समापासौ वाहिन्या कौरवाग्रणीः। सुरापगाप्रवाहो वा सागरं सर्वतोऽधिकम् ॥३६॥
ततो मागधभूपेन मानितो बहुमानतः। कर्णेन कौरवः साकं भानुना किरणौघवत् ॥३७॥
पुनः संप्रेषयामास चक्री दूतं सुयादवान्। स दूतस्तत्र विज्ञप्तिमकरोदेत्य सत्वरम् ॥३८॥
आज्ञापयति चक्रीशो भवतो यादवान्प्रति। त्यक्त्वा देशं भवन्तोऽत्र कथं तस्थुर्महार्णवे ॥३९॥

करके वहाँ इकट्ठे हो गये हैं। अतः हे दुर्योधन महाराज, आपको बुलाने के लिए भी चक्रवर्ती ने मुझे आपके पास भेजा है। इसलिए विभो, आप चलने की तैयारी कीजिए। स्वामिन्! चक्रवर्ती ने यह संदेशा भेजा है कि यशस्वी वत्स, वीरों से युक्त, इष्ट को साधने वाली अपनी सब सेना लेकर अति शीघ्र ही आइए। दूत के हाथ जरासंध के इस संदेश को पाकर आनन्द के मारे दुर्योधन के रोमाञ्च हो आये। खुशी में आकर उसने वस्त्राभूषण और धन देकर दूत का खूब आदर किया। वह मन ही मन सोचने लगा कि जिस बात को मैं पहले से ही चाहता था, उसी को चक्रवर्ती कर रहे हैं यह बहुत ही अच्छा हुआ ॥२७-३१॥

इसके बाद वीर दुर्योधन ने उसी समय रणभेरी बजवाई। जिसे सुनकर रण की लालसा रखनेवाले वीर योद्धा बड़े प्रसन्न हुए। वे सब सेना को सजाकर चले। उनके साथ झूलों से प्रच्छन्न मतवाले हाथी चले। सारथियों के द्वारा तेजी से चलाये गये शीघ्रगामी घोड़ों वाले रथ चले। चलते हिलते हुए किसवार वाले चंचल घोड़े चले। हाथों में भाँति-भाँति के हथियार लिये हुए पयादे चले। इस प्रकार चतुरंग सेना सहित घोड़ों की टापों से उड़ती हुई धूल से आकाश की ढँकता हुआ दुर्योधन राज-मन्दिर पुर की ओर चला और जैसे गंगा का प्रवाह समुद्र में जाकर मिलता है वैसे ही वह कौरवाग्रणी वाहिनी-सेना सहित चक्रवर्ती जरासंध की सेना में आकर मिल गया। जरासंध ने उसका कर्ण-सहित बड़ा आदर किया जैसा के लोग सूरज के साथ किरणों को आदर करते हैं ॥३२-३७॥

इसके वाद चक्रवर्ती ने यादवों के पास द्वारिका को दूत भेजा। दूत ने जाकर वहाँ यादवों को यह सूचना दी कि आप सब यादवों पर चक्रवर्ती जरासंध यह आज्ञा करते है कि अपने देश को छोड़कर आप लोग इस समुद्र में क्यों रहते हैं? बुद्धिमान् समुद्रविजय और वसुदेव मुझे बहुत ही

समुद्रविजयो धीमान् वसुदेवोऽपि मत्प्रियः। वञ्चयित्वा निजात्मानं कथं प्रच्छन्नतां गतौ ॥४०॥
यूयं सेवध्वमत्राहो विगर्वाः सर्वतश्च्युताः। चक्रीशचरणद्वन्द्वं सर्वसातप्रदायकम् ॥४१॥
श्रुत्वा बली बलः क्रुद्धो जगादेति वचोहरम्। कोऽन्यश्चक्री हरिं मुक्त्वा सेवको यस्य सागरः ॥४२॥
तच्छ्रुत्वा निजगादेति दूतो विस्फुरिताधरः। यद्भयेन भवन्तोऽत्र प्रविष्टाः सागरान्तरे ॥४३॥
तत्पादसेवने कोऽत्र दोषः स कथ्यतां मम। समागच्छति क्रुद्धोऽत्र धीरः श्रीमगधेश्वरः ॥४४॥
एकादशप्रमाख्याताक्षौहिणीभिः क्षितीश्वरः। भवद्गर्वापहारं स करिष्यति हरन्पदम् ॥४५॥
पाण्डवः प्रकटोऽवोचच्छ्रुत्वा तद्वचनं खरम्। निस्सार्यतामयं दूतो जल्पाकश्च यदृच्छया ॥४६॥
वचोहरो वचः श्रुत्वा तस्य क्रुद्धो विनिर्गतः। आचख्याविति चक्रेशं यादवानां महोन्नतिम् ॥४७॥
देव ते मन्वते त्वां न पीतमद्या इवोन्नताः। सद्यस्त्वत्सेवनामुक्ता वियुक्ताः शुभकर्मणा ॥४८॥
श्रुत्वा वाक्यं धराधीशः क्रुद्धो निर्याणसंमुखः। दुन्दुभिं दापयामास कुर्वन्तं बधिरा दिशः ॥४९॥
खेचराः खेचरन्तश्च वव्रिरे विपुलोदयाः। विमानस्था नरेन्द्रं तं भास्वन्तमिव भानवः ॥५०॥

प्रिय हैं। फिर ये अपने आपको ठगकर यहाँ क्यों आ छिपे। इनके लिए ऐसी छिपने की बात ही क्या थी। अस्तु, अब भी कुछ गया नहीं है। वे अपने गर्व को छोड़कर सब सुख के देने वाले मेरे चरणों की सेवा करें। दूत के मुँह से जरासंध की इस आज्ञा को सुनकर बलशाली बलभद्र ने अभिमान के साथ में यों कहना आहम्भ किया कि दूत, जाओ और अपने महाराज से कह दो कि कृष्ण को छोड़ करके और दूसरा चक्रवर्ती नहीं जिसके चरणों की सागर (समुद्रविजय) सेवा करे ॥३८-४२॥

बलभद्र के इन वचनों को सुनकर ओठ डँसता हुआ दूत बोला कि मुझे यह तो बताइए कि जिसके भय से आप यहाँ समुद्र के बीच में आ छिपे है उसके चरणों की सेवा में दोष ही क्या है। अस्तु, आपकी जैसी इच्छा परन्तु आपके इस गर्व को कृष्ण नहीं सह सकता और वह क्रोध से तप्त होकर अभी यहीं आता है। उसके साथ में ग्यारह अक्षौहिणी सेना है। वह आपके गर्व को खर्व करेगा, आपको पद-च्युत करेगा ॥४३-४५॥

दूत के ऐसे कठोर वचनों की सुनकर भीम को बड़ा क्रोध आया। वह प्रकट होकर बोला कि स्वतंत्रता से बकने वाले इस दूत को यहाँ से अभी निकाल दो। यह सुनकर दूत क्रोध के मारे उसी समय वहाँ से चल दिया और जरासंध के पास जाकर उसने उससे यादवों की गुजरी हुई सारी कहानी कह सुनाई। वह बोला कि देव, वे लोग मदिरा के नशे की भाँति मतवाले हो रहे हैं और को कुछ भी नहीं समझते हैं। महाराज, वे पुण्यहीन पापी हैं और इसलिए आपकी सेवा नहीं करना चाहते ॥४६-४८॥

दूत के वचनों को सुनकर जरासंध को अत्यंत क्रोध आया और युद्ध के लिए उद्यत हो उसने सब दिशाओं को बहरा कर देने वाली रणभेरी बजावा दी, युद्ध की घोषणा कर दी। उसकी घोषणा को सुनकर आकाश मार्ग से जाते हुए बहुत से विद्याधरों ने आकर अपने विमानों से जरासंध को चारों ओर से घेर लिया ॥४९-५०॥

इस वक्त वह ऐसा शोभता था जैसा कि किरणों से घिरा हुआ सूरज शोभता है एवं कुमुद

नरेन्द्राश्चन्द्रसंकाशाः कुमुदोल्लासकारिणः। सदा ग्रहसमुत्तुङ्गा व्योमेव नृपमन्दिरम् ॥५१॥
आजग्मुस्तेजसा व्याप्तदिङ्मुखास्ते नरेश्वराः। सुगम्भीरामृतोल्लासाः सत्पथस्यावगाहिनः ॥५२॥
द्रोणेन भीष्मभूपेन कर्णेन नृपरुक्मिणा। अश्वत्थाम्ना सुशल्येन जयद्रथमहीभुजा ॥५३॥
कृपेण वृषसेनेन चित्रेण कृष्णवर्मणा। रुधिरेणेन्द्रसेनेन हेमप्रभेण भूभुजा ॥५४॥
दुर्योधनधरेशेन दुःशासनमहीभुजा। दुर्मर्षणेन दुर्धर्षणेन कलिङ्गभूभुजा ॥५५॥
एवमन्यैर्महीपालैः कुरुक्षेत्रमगान्नृपः। कम्पयन्वसुधां सर्वां पादभारेण निर्भरम् ॥५६॥
तदाकर्ण्य नृपाः केचित्पूजयन्ति स्म देवताः। अहिंसादिव्रतान्यन्ये जगृहुर्गुरुसंनिधौ ॥५७॥
मुञ्चताशु तनुत्राणं गृह्णीतासिलतां शिताम्। आरोपयन्तु चापौघान् संनह्यन्तां च सद्गजाः ॥५८॥
विधीयन्तां सुगन्धर्वा बद्धपर्याणपावनाः। भुञ्जन्तां भोगवस्तूनि युज्यन्तां वाजिभी रथाः ॥५९॥
एवं केचिज्जगुर्भूपा भृत्यान्स्वस्वाधिकारिणः। शस्त्रौघग्रहणोद्युक्तान्कुर्वन्तो वित्तदायिनः ॥६०॥
केशवस्य तदा दूतः कर्णाभ्यर्णं समाप्य च। नत्वा तं भक्तितोऽवोचद्विज्ञाप्यं श्रूयतामिति ॥६१॥
यद्युक्तं तद्विधातव्यं कर्ण संकर्ण्यतां क्वचित्। भविता केशवश्चक्री नान्यथा जिनभाषितम् ॥६२॥

(कुमुदपुष्प और पक्ष में पृथ्वी) को विकसित करने वाले चन्द्रमा के जैसे बहुत से भूमिगोचरी राजा आये। वे राजनीति के अच्छे ज्ञाता और उसी के अनुसार चलने वाले थे। गंभीराशय और सब प्रकार सुख-सम्पन्न थे। उनका सुयश सभी दिशाओं में व्याप्त था। अतएव जैसे तारागण के द्वारा आकाश की शोभा होती है वैसे ही उनके द्वारा राज-मन्दिर की शोभा हो रही थी। इनके सिवा और भी बहुत से वीर राजे उसके साथ हुए। वे द्रोण, भीष्म, कर्ण, रुक्मी, शल्य, अश्वत्थामा, जयद्रथ, कृप, अर्जुन, चित्र, कृष्णकर्म, रुधिर, इन्द्रसेन, हेमप्रभ, भूभुज, दुर्योधन, दुःशासन, दुर्मर्षण, कलिंग आदि थे। इत्यादि अनेक राजाओं महाराजाओं के साथ अपने भार से सारी पृथ्वी को कँपाता हुआ जरासंध राजा कुरु-क्षेत्र के युद्ध-स्थल में जो उतरा ॥५१-५६॥

उसके वहाँ आने के समाचार सुनकर जीवन से निराश हो बहुत से लोगों ने जाकर प्रभु की पूजा की और गुरु के निकट जाकर अहिंसा आदि व्रत ले वे विरक्त हो गये एवं बहुतों ने शस्त्र-ग्रहण के लिए उद्यत अपने अधीन सेवकों को धन आदि देकर उनसे कहा कि भृत्य-गण, अब शरीर-रक्षा की परवाह मत करो किन्तु हाथों में चमकती हुई तलवारें लो, धनुषों को चढ़ाओ, हाथियों को सजाओं, घोड़ों पर पलान वगैरह रखो और रथों में घोड़ों को जोतो ॥५७-६०॥

इसके बाद कृष्ण का दूत कर्ण के पास आया और उसे भक्तिभाव से नमस्कार कर बोला कि राजन्! नारायण का आपके लिए यह संदेश है कि राजन्! वही कीजिए जो आपको योग्य जान पड़े परन्तु मेरा तुमसे इतना ही कहना है कि कृष्ण थोड़े ही समय में नियम से चक्रवर्ती राजा बनेंगे। इसमें कुछ सन्देह नहीं क्योंकि जिन भगवान् का ऐसा ही कहना है और उनका कहा झूठ नहीं होता। अतः हे नृप! तुम कुरुजांगल देश का राज्य ग्रहण करो और झगड़े में न फँसो। तुम पाण्डु के पुत्र हो और

कुरुजाङ्गलराज्यं त्वं गृहाण सकलं नृप। पाण्डोः पुत्र पवित्रात्मन् कुन्त्यां च भवदुद्भवः ॥६३॥
भ्रातरः पाण्डवाः पञ्च तत्रागच्छ ततस्त्वकम्। निशम्येति जगौ कर्णो द्रुताकर्णय मद्वचः ॥६४॥
अधुना गमनं नैव युक्तं मे न्यायवेदिनः। न मुञ्चन्ति नृपा न्यायं रणे च समुपस्थिते ॥६५॥
रणे याते न मुञ्चन्ति मर्त्या भूपं सुसेवितम्। मुञ्चन्ति चेत्कदाचिच्चान्यायोऽयं नरनिन्दितः ॥६६॥
निवृत्ते संगरे नूनं राज्यं दास्यामि कौरवम्। पाण्डवेभ्यः प्रचण्डेभ्य इति त्वं याहि संगरात् ॥६७॥
इत्युक्तो निर्गतो दूतो जरासंधं सकौरवम्। गत्वा नत्वा स विज्ञप्तिं चर्करीति स्म चक्रिणम् ॥६८॥
संधिं कुरु जरासंध यादवैः समहोदयैः। अन्यथाकर्णय त्वं हि जिनोक्तं सत्यसंयुतम् ॥६९॥
केशवाद्भविता तेऽत्र पञ्चता परमाहवे। गाङ्गेयस्य गुरोर्ज्ञेयं खण्डनं तु शिखण्डिनः ॥७०॥
धृष्टार्जुनेन धृष्टेन द्रोणस्य मरणं मतम्। युधिष्ठिरेण शल्यस्य भीमाद् दुर्योधनस्य च ॥७१॥
जयद्रथस्य पार्थेशादभिमन्युकुमारतः। कुरुपुत्रान्मृतान्विद्धि विधिचेष्टा नृपेदृशी ॥७२॥
इति यद्गदितं सद्यो मया निश्चिनु निश्चितम्। सत्यं न चान्यथाभावं भजते मगधाधिप ॥७३॥
इत्युक्त्वा निर्गतस्तस्माद् ध्रुवं द्वारावतीं पुरीम्। गत्वा नत्वा हृषीकेशमवोचत वचोहरः ॥७४॥
देव तद्वाहिनी प्राप्ता कुरुक्षेत्रं सुदारुणम्। कर्णो नायाति वैकुण्ठं संकटे समुपस्थितः ॥७५॥

कुन्ती से तुम्हारा जन्म हुआ है ॥६१-६३॥

इस कारण पाँचों पाण्डव तुम्हारे भाई हैं। यह सुन कर्ण ने उत्तर में कहा कि दूत, मेरी बात सुनो। न्याय के कारण मुझे इस वक्त यहाँ से वहाँ जाना योग्य नहीं है। नीति यही है कि युद्ध छिड़ जाने पर राजा लोग न्याय को नहीं छोड़ते और इसी तरह सुसेवित भूप को युद्ध-समय में भृत्य-गण भी नहीं छोड़ते और जो ऐसा करते हैं समझो कि वह अन्याय करते हैं। लोग उनकी निंदा करते है। हाँ, इतना मैं अवश्य करूँगा कि युद्ध बन्द हो जाने पर बलवान् पाण्डवों को कौरवों से राज्य नियम से दिला दूँगा। इसमें तुम तनिक भी सन्देह मत करो ॥६४-६७॥

यह कहकर उसने दूत से चले जाने के लिए कहा। दूत भी वहाँ से चलकर कौरवों-सहित बैठे हुए जरासंध के पास पहुँचा। वहाँ उसने जरासंध को नमस्कार कर यह कहा कि राजन् जरासंध! आप महाभाग यादवों के साथ सन्धि कर लीजिए। नहीं तो जिनदेव की यह सच्ची वाणी सुनिए कि ''इस महायुद्ध में कृष्ण के हाथ से आपकी मृत्यु होगी। पितामह की मृत्यु शिखण्डी के हाथ से होगी और धृष्टार्जुन के हाथ से द्रोणाचार्य की मृत्यु होगी। इसके सिवा शल्य का युधिष्ठिर के हाथ से और दुर्योधन का भीम के हाथ से मरण होगा और इसी प्रकार जयद्रथ का अर्जुन के हाथ से और कुरु-पुत्रों का अभिमन्यु कुमार के हाथ से वध होगा। इसमें तुम तनिक भी सन्देह न करो क्योंकि भवितव्य ही ऐसा है।'' यह कहकर दूत अति शीघ्र द्वारिका पहुँचा। वहाँ उसने कृष्ण को प्रणाम कर कहा कि देव, जरासंध की सुदारुण सेना कुरु-क्षेत्र में पहुँच चुकी है और कर्ण किसी तरह भी यहाँ आना स्वीकार नहीं करता। वह युद्ध-स्थल में उपस्थित है ॥६८-७४॥

देव, अब आपको भी कुरु-क्षेत्र में पहुँच कर इस महायुद्ध में शत्रु-योद्धाओं के साथ-घोर

त्वया देव प्रगन्तव्यं कुरुक्षेत्रे विचित्रिते। शत्रुभिस्तत्र योद्धव्यं त्वया योधैर्महारणे ॥७६॥
निशम्येति तदा विष्णू रणातोद्यप्रणोदितः। पाञ्चजन्यप्रणादेन ययौ धुन्वन्नभोऽङ्गणम् ॥७७॥
स्थलीकुर्वञ्जलं रम्यं जलीकुर्वन्स्थलं बलम्। चचाल चालयन्कुल्यानचलानचलासमम् ॥७८॥
रणोत्थरेणुना व्याप्तं पुष्करं सूरहारिणः। चतुरङ्गबलेनापि भूतलं विपुलं खलु ॥७९॥
आतोद्यवृन्दनादेन दिशां वृन्दं विजृम्भितम्। दिग्गजाः सज्जिताः सर्वेऽभूवन्सगर्जबृंहितैः ॥८०॥
अगण्या ध्वजिनी धौर्या यादवीया महोदया। कुरुक्षेत्रबहिर्भागे स्थापिता यदुनायकैः ॥८१॥
तदा मागधसत्सैन्ये दुर्निमित्तानि निश्चितम्। अजायन्त जयाभावसूचकानि पुनः पुनः ॥८२॥
रवेर्ग्रहणमाभेजे व्योम्नि विश्वभयावहम्। वारिदैर्वारिधाराभिर्व्यानशे तस्य वाहिनी ॥८३॥
ध्वाङ्क्षा ध्वजेषु पूर्वाह्णे रटन्ति रविसम्मुखाः। गृध्राः क्रुद्धाः स्थिता दृष्टाश्छत्राद्युपरी दुर्धराः ॥८४॥
दुर्निमित्तानि संवीक्ष्य विचक्षणं क्षणावहम्। मन्त्रिणं प्राह दुर्योध्यो दुर्योधनमहीपतिः ॥८५॥
उन्मील्यन्ते महामन्त्रिन्दुर्निमित्तानि भूरिशः। सोऽवोचत्कुरुक्षेत्राख्यमिदं किं न श्रुतं त्वया ॥८६॥
सर्वं गिलिष्यति क्षेत्रं तिमिंगिल इवोन्नतम्। पुनः स कौरवोऽभाणीन्मन्त्रिन्ब्याहि ममेप्सितम् ॥८७॥
विपक्षवाहिनी मन्त्रिन्कियन्मात्राभिमन्त्रयते। योद्धारो युद्धसंनद्धाः कियन्तः सन्ति सन्नराः ॥८८॥
स जगौ शृणु राजेन्द्र ये नृपा बलसंकुलाः। दाक्षिणात्याः क्षितीशाश्च तेऽभूवन्विष्णुसेवकाः ॥८९॥

युद्ध करना होगा। इसके बाद ही रणभेरी दिलवाकर अपने पाँचजन्य शंख के नाद से आकाश को कँपाता हुआ कृष्ण कुरुक्षेत्र को चले और जल को थल और थल को जल करती हुई उसकी सेनायें चलीं। जान पड़ता था मानों पृथ्वी के साथ-साथ नहरें ही बहती हुई चली जा रही हैं। इस समय सेना के द्वारा उड़ी हुई धूल से सारा आकाश ढँक गया। सूरज कहीं दिखाई ही न देता था। कृष्ण की अनंत चतुरंग सेना से सारा भूतल भर गया। बाजों की आवाज से दिशायें शब्द-मय हो गईं। सजे हुए दिग्गज चिंघाड़ने लगे। इस प्रकार अपनी सेना को ले जाकर यादवों ने उसे कुरु-क्षेत्र के बाहरी भाग में ठहराया ॥७५-८१॥

इस वक्त जरासंध चक्री की सेना की हार के सूचक बार-बार बहुत से अपशकुन हुए और इसी समय संसार को भय उत्पन्न करने वाला आकाश में सूर्यग्रहण पड़ा। मेघ ने जल बरसा कर उसकी सारी सेना को जल से पूर्ण कर दिया। सेना की ध्वजाओं पर सूरज की ओर मुँह कर बैठे हुए कौए बोले। छत्रों के ऊपर क्रोध से भरे छुए दुर्द्धर गीध पक्षी बैठे देख पड़े। इन अपशकुनों को देखकर दुर्योध्य दुर्योधन ने अपने सुचतुर मंत्री को बुलाकर पूछा कि मंत्री महोदय, ये खोटे निमित्त क्यों देख पड़ रहे हैं। इस पर मंत्री ने कहा कि देखो, यह वह भयानक कुरुक्षेत्र है जो मछली की तरह सबको निगल जायेगा। अच्छी बात है, कहकर दुर्योधन ने फिर पूछा कि मंत्री महाशय, मतलब की बात बताइए कि शत्रु की सेना कितनी है और युद्ध के लिए उद्यत योद्धा कितने हैं ॥८२-८८॥

मंत्री ने कहा कि राजेन्द्र, बलशाली दक्षिण के जितने राजा हैं वे सब नारायण के सेवक हो चुके हैं। रण में नष्ट होने वाले बहुत से राजाओं से तो क्या हो सकता है, पर उनमें एक ही अर्जुन

अथवा बहुभिः साध्यं नृपैः किं रणनाशिभिः। धनंजयेन चैकेन पूर्यतां पूर्यतामिति ॥९०॥
चूर्यन्ते येन पार्थेन सन्नरा रणचञ्चवः। न शक्नुवन्ति तं विष्णुं वारयितुं सुरा नराः ॥९१॥
बलः प्रविपुलो बान्यान्मुशलेन हलेन च। दस्यूदराणि दीप्रेण दारयत्येव दुर्धरः ॥९२॥
प्रज्ञप्तिप्रमुखा विद्याः समर्थाः शत्रुशातने। सिद्धा यस्य स्मरः केन वार्यते स रणाङ्गणे ॥९३॥
पावनिः पावनो भूमौ पातयन्योऽरिसंहतिम्। तं निवारयितुं शक्यः कोऽस्ति सद्गदयाङ्कितम् ॥९४॥
एवमन्ये महीपालास्तद्बले बलशालिनः। खेचराः संचरन्त्यत्र संख्यातीता महाहवे ॥९५॥
स सप्ताक्षौहिणीयुक्तो विष्णुरास्ते निरस्तद्विट्। निशम्येति स चक्रेशमगदीत्कौरवाग्रणीः ॥९६॥
श्रुत्वेति च जरासंधो मदान्धः क्रूरमानसः। जगाद गरुडात्किं हि फणी फूत्कुरुते कियत् ॥९७॥
भासते किं तमोभारो विभाकरसुभानुतः। पुरस्तान्मम भूपालास्तथा तिष्ठन्ति किं पुनः ॥९८॥
भणित्वेति त्रिखण्डेशः खण्डयन्खण्डिताशयान्। अखण्डचण्डकोदण्डप्रचण्डो रणमाययौ ॥९९॥
आतोद्यैश्च दिशां नाथान्नर्तयन्तो नभोऽङ्गणम्। सुच्छत्रैश्छादयन्तस्ते नृपा योद्धुं समुद्ययुः ॥१००॥
अपृथ्वीयत द्योभागः सैन्योत्थरेणुसंचयैः। अराहूयत सूर्योऽपि स्थगितश्छत्रसद्ध्वजैः ॥१०१॥
रेणुना तमसेवाशु तदा व्याप्तं रणाङ्गणम्। तूर्यनादच्छलात्सैन्यानीत्युवाच महाहवः ॥१०२॥

ऐसा है जो सबसे समझ लेगा। उसने पहले भी रण में झूठ ही वीरता की डींग हाँकने वाले बहुत से वीरों को चूर डाला था। सच तो यह है कि विष्णु को कोई देवता या मनुष्य युद्ध में जीत नहीं सकता। आप जानते हैं हरि के पक्ष में बलभद्र है, जो मूशल और हलों की मार से बैरियों के उदर फाड़ डालता है–उसके सामने कोई भी नहीं उठ सकता, वह बड़ा दुर्द्धर है और उस प्रद्युम्न को रणांगन में कौन निवार सकता है जिसे कि शत्रु का विध्वंस करने वाली प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ सिद्ध हैं तथा उस पवित्र भीम को अपनी छाती पर से कौन हटा सकता है जो शत्रु-समूह को बात ही बात में ही धराशायी कर देता है। इस प्रकार के हरि की सेना में और भी बलशाली विद्याधर राजा हैं जो असंख्य हैं और महायुद्ध में इधर से उधर घूमते हुए दिखाई दे रहे हैं। राजन्, शत्रुघातक विष्णु के पास सात अक्षौहिणी सेना है ॥८९-९६॥

दुर्योधन ने सब हाल जरासंध से कहा परन्तु तब भी वह कुछ न चेता और क्रोध में भर कर उस मदांध ने कहा कि ओह, गरुड़ के सामने साँप कितना फण फटकारेगा। क्या सूरज की किरणों के आगे अँधेरा कहीं ठहर सकता है? वैसे ही ये राजा-गण मेरे सामने भी कैसे ठहर सकेंगे। यह कहकर तीन खण्ड का स्वामी प्रचंड आत्मा जरासंध कायरों का खण्डन करता हुआ अखण्ड और प्रचंड धनुष को हाथ में ले रण-स्थल की ओर रवाना हुआ ॥९७-९९॥

फिर क्या था, बाजों के शब्दों के द्वारा दिशाओं को पूरते हुए और छत्रों के द्वारा आकाश को ढँकते हुए राजा लोग भी युद्ध के लिए उद्यत हो चले। इस वक्त सेना के द्वारा उड़ी हुई धूल के द्वारा आकाश व्याप्त हो गया, छत्र और ध्वजाओं के मारे सूरज का प्रकाश रुक गया और रात-सी जान पड़ने लगी। धूल के मारे सारा रणांगण अंधकारमय बन गया। इस समय के बाजों के नाद से ऐसा जान पड़ता था मानों शब्द के बहाने से महायुद्ध सैनिकों से यही कहता है कि सैनिकों, तुम लोग

यात यात रणात्सैन्या भवतां तूर्णमारकात्। इत्येवं वारिता योधा युद्धार्थे धृतिमाययुः ॥१०३॥
जरासंधः स्वसैन्येऽस्मिंश्चक्रव्यूहमकारयत्। तार्क्षध्वजः स्वसेनायां तार्क्षव्यूहमरीरचत् ॥१०४॥
घोरान्धकारिते सैन्ये तयो रेणुभिरुत्थितैः। कोकयुग्मानि सूर्यास्तशङ्कया नीडमाश्रयन् ॥१०५॥
ध्वाङ्क्षारयो निशां मत्वा पूत्कुर्वाणा भटस्वरान्। उत्तस्थुरनुकुर्वन्त इव घस्रेऽपि संगरम् ॥१०६॥
निष्कास्यासीन्स्वयं स्यन्ति सुभटाः सुभटान्रणे। कुन्ताग्रेण च कृन्तन्ति मूर्ध्नो वल्लीगणानिव ॥१०७॥
गर्जन्तो गर्जघातेन घ्नन्ति केचिद् घनानिव। वायवोऽत्र विपक्षाणां हृदयानि मदावहाः ॥१०८॥
छित्त्वा कुम्भस्थलान्याशु कुम्भिनां ककुभः पराः। कुङ्कुमेनेव कुर्वन्ति रक्तास्तद्रक्तधारया ॥१०९॥
तदा चक्रिबलेनाशु संभग्नं वैष्णवं बलम्। यथा जलप्रवाहेण ज्वलनो ज्वालयन्परान् ॥११०॥
तदा शम्बुकुमारोऽपि धीरयन्धारयन्निजान्। भटान्परान्विभज्याशु रणं कर्तुं समुद्यतः ॥१११॥
क्षेमविद्धः सुसंनद्धः खेचरः शम्बभूभुजा। युध्यमानो रथत्यक्तः कृतो भूमौ पलायितः ॥११२॥
तावदन्यः समुत्तस्थे खगो विद्याविशारदः। योद्धुं शम्बेन निस्त्रिंशैर्वारितोऽपि पलायितः ॥११३॥
कालसंवरभूमीशस्तदायाद्धृतकङ्कट। विपक्षान्विमुखान्संख्ये कुर्वन्कौतुकसंगतः ॥११४॥

युद्ध-स्थल छोड़ कर जल्दी चले जाओ, नहीं तो तुम पर बड़ी भारी विपत्ति आने वाली है ॥१००-१०३॥

इसके बाद जरासंध ने अपनी सेना में चक्र-व्यूह रचा और कृष्ण ने अपनी सेना में ताक्ष्र्य-व्यूह को रचा। उस समय उभय पक्ष की सेनाओं में इतनी धूल उड़ी कि सब जगह घोर अन्धकार छा गया। जिससे सूरज के अस्त की शंका से कौए घोंसलों में घुस गये और उल्लू पक्षी रात समझ कर अपने घू-घू शब्द के द्वारा भटों के स्वरों की नकल करते हुए दिन में ही उड़ने लगे। थोड़ी देर में दोनों सेनाओं का घोर युद्ध शुरू हो गया। इस रण में सुभट-गण तलवारें निकाल-निकाल कर सुभटों को मारते थे और भालों की तीक्ष्ण नोकों से फल की तरह शत्रुओं के सिर छेदते थे। कोई मतवाले जोर की गर्जना करते हुए अपनी गर्जना के आघात से ही शत्रुओं के हृदयों को भेदते थे, जैसे वायु मेघों को भेदता है। कोई हाथियों के कुम्भों को विदार कर उनके रक्त की धारा से केसर की भाँति दिशाओं को लाल करते थे ॥१०४-१०९॥

इस वक्त जरासंध की सेना ने विष्णु की सेना को कुछ ठंडा कर दिया, जैसे जलप्रवाह जलती हुई आग को ठंडा कर देता है। यह देख अपनी सेना के योद्धाओं की धीरज देता हुआ शंबुकुमार युद्ध के लिए उद्यत हुआ और उसने शत्रु-दल के योद्धाओं को वीरता से इधर-उधर भगा दिया। तब शंबुकुमार के साथ युद्ध करने को क्षेमविद्ध नाम एक विद्याधर उठा। शंबु ने उसे बात की बात में ही रथ-विहीन कर दिया। अपनी दुर्दशा देख वह उसी वक्त भाग गया। इसके बाद शंबु के साथ युद्ध करने को एक दूसरा विद्याधर उठा और वह तलवारों द्वारा युद्ध करने लगा परन्तु शंबु ने उसे भी वारण कर भगा दिया ॥११०-११३॥

इसके बाद युद्ध में शत्रुओं को पछाड़ देने वाला कालसंवर राजा बड़े साहस के साथ युद्ध में आया। यह देख सूरज की भाँति दीप्तिशाली प्रद्युम्न शंबु को युद्ध करने से रोककर स्वयं मेघ जैसे

तदा शम्बं निवार्याशु प्रद्युम्नो द्युम्नदीधितिः। मेघौघ इव संवर्षन्नाययौ शरधारया ॥११५॥
बभाण खचरं मारः पितृतुल्यो भवानिह। योद्धुं युक्तं त्वया साकं नातस्तेन निवर्त्यताम् ॥११६॥
नावाच्यं मार सोऽवोचत्स्वामिकार्यसुकारिणः। सेवकाः सन्ति तेन त्वं संधानं धन्वनः कुरु ॥११७॥
तदा मारो विमोच्याशु प्रज्ञप्तिं कालसंवरम्। विबन्ध्य स्वरथे चक्रे युध्यमानः परैर्भटैः ॥११८॥
शल्यखेटस्तदायासीत्प्रद्युम्नं योध्दुमुध्दतम्। मारः शरसमूहेन तस्य चिच्छेद स्यन्दनम् ॥११९॥
खेटोऽन्यरथमारुह्य तेन चक्रे महारणम्। शिशुपालानुजः प्राप्तः कर्तुं मारणसंगरम् ॥१२०॥
मारो हतस्तु बाणेन यथा तेन विमूर्च्छितः। रथं बभञ्ज कामस्य स शरैः शत्रुभेदकैः ॥१२१॥
सारथिर्भयसंत्रस्तस्तदा तस्थौ समुत्थितः। कामः स्वसारथिं स्वस्थो जगाद गुरुसद्गुणः ॥१२२॥
इत्थं कृते रणे क्षत्तो लज्यते सुरसंसदि। मर्त्येषु खेचरेशेषु लज्यते पाण्डवेष्वपि ॥१२३॥
दशार्हेषु विशेषेण लज्यते बलकृष्णयोः। अनेनाशुचिदेहेन किं साध्यं दुःखकारिणा ॥१२४॥
सरसाहारतः पुष्टे शरीरे को गुणो भवेत्। इत्युक्त्वान्यरथे स्थित्वा मन्मथः संस्थितो रणे ॥१२५॥

जल वर्षाते हैं वैसे ही शर-धारा को छोड़ता हुआ उसके सामने आया। उसने कालसंवर से कहा कि प्रभो, आप मेरे पिता तुल्य हैं, इसलिए आपके साथ युद्ध करना मुझे उचित नहीं है, अतः आप लौट जाइए। उत्तर में उसने कहा कि प्रद्युम्न यह न कहो, मैं क्षत्रिय हूँ, वापस नहीं लौट सकता क्योंकि वे ही सच्चे सेवक कहाते हैं जो जी-जान से स्वामी के कार्य में काम आते हैं। इस लिए वीर, तुम कुछ ख्याल न करके धनुष संधान करो। अन्त में लाचार हो प्रद्युम्न ने प्रज्ञप्ति विद्या को छोड़कर उसी समय कालसंवर को बाँध लिया और शत्रु-दल के योद्धाओं के साथ युद्ध करते हुए उसे अपने रथ में बैठा लिया ॥११४-११८॥

यह देख शल्य विद्याधर प्रद्युम्न के साथ युद्ध करने को उद्यत होकर आया। प्रद्युम्न ने उसे आते ही अपने तीक्ष्ण बाणों के द्वारा उसके रथ को छेद डाला। तब वह दूसरे रथ पर सवार होकर उसके साथ घोर संग्राम करने लगा। इसी बीच में प्रद्युम्न के साथ युद्ध करने के लिए शिशुपाल राजा का छोटा भाई तैयार हुआ और उसने प्रद्युम्न पर एक ऐसा बाण छोड़ा जिससे वह मूर्छित होकर वे-सुध हो गया। फिर क्या था, अवसर पाकर उसने शत्रु का ध्वंस करने वाले बाणों के द्वारा प्रद्युम्न का रथ भी तोड़ ताड़ डाला ॥११९-१२१॥

यह देख प्रद्युम्न का सारथी बड़ा डरा और उसने भागना चाहा परन्तु इसी समय प्रद्युम्न ने होश में आकर सारथी से कहा कि यह क्या करते हो? युद्ध-स्थल से भागने का विचार भी किया तो देवताओं, मनुष्य, विद्याधर, पाण्डव, समुद्रविजय आदि यादवों और खास कर कृष्ण, बलभद्र के आगे बड़ा लज्जित होना पड़ेगा-सिर उठाना मुश्किल पड़ जायेगा। फिर इस दुखदायी और अशुचि शरीर से बन ही क्या पड़ेगा और रसीले आहार से पेषे गये इससे लाभ ही क्या होगा। यह कहकर शीघ्र ही प्रद्युम्न दूसरे रथ पर सवार हो युद्ध के लिए उठ खड़ा हुआ। फिर क्या था, वे दोनों ही युद्ध-कुशल योद्धा युद्ध करने लगे। उनको युद्ध करते देखकर कृष्ण के मन में भी कुछ क्षोभ पैदा हो उठा और

पुनस्तौ संगरे लग्नौ योद्धुं संग्रामकोविदौ। वीक्ष्य क्षिप्तमना विष्णुरन्तरेऽस्थात्तयोरपि ॥१२६॥
तदा शल्यः समायासीत्खगः श्रीमगधेशिनः। ब्रुवन्निति हनिष्यामि शरैः शत्रून्समुद्धतान् ॥१२७॥
तदा खगेन संछन्नं निखिलं व्योम निश्चलम्। केनापि खलु नो दृष्टा रथसारथिकेशवाः ॥१२८॥
शरपञ्जरमध्यस्था इव जीवितसंशयाः। नरैर्दृष्टाः क्षणे तस्मिन्कश्चिदायान्नरः परः ॥१२९॥
पथकल्पनया क्लृप्तो रुधिरारुणसत्तनुः। कम्पमानो नरोऽवोचत्केशवं कलितं नृपैः ॥१३०॥
मुरारे किं वृथा युद्धं कुरुषे पाण्डवा हताः। दशार्हाश्चक्रिनाथेन बलभद्रो हतो रणे ॥१३१॥
अन्येऽपि रणशौण्डीरा जरासंधेन ते हताः। द्वारावती गृहीता च वैरिणा तव निश्चितम् ॥१३२॥
द्वारावतीपुरीस्थोऽपि सत्सिन्धुविजयो महान्। रणातिथ्येऽरिभिस्तूर्णं प्रेषितो यममन्दिरम् ॥१३३॥
वृथा किं म्रियसे नाथ रणाद्याहि सुखेच्छया। मायानरवचः श्रुत्वा क्रुद्धः प्रोवाच माधवः ॥१३४॥
मयि जीवति को हन्तुं क्षमो रे दुष्ट यादवान्। इति तद्वचसा मायानरो नष्टः प्रबुद्धधीः ॥१३५॥
स कोदण्डं करे कृत्वा केशवो वैरिणोऽचलत्। तावन्निशाचरो भूत्वा कश्चिदायाद् भयप्रदः ॥१३६॥
किं युध्यसे त्वमत्राहो वसुदेवो नभोऽङ्गणे। पतितस्तं विना खेटाश्चेलुः संगरभूमिषु ॥१३७॥

वह उन दोनों के बीच में आ गया ॥१२२-१२६॥

तब जरासंध की पक्ष का शल्य नाम विद्याधर यह कहता हुआ युद्ध-स्थल में उतरा कि मैं इन उद्धत शत्रुओं को अपने बाण-प्रहार से अभी धराशायी किये देता हूँ। ये अब जीवित नहीं रह सकते। इसके बाद उसने थोड़ी ही देर में अपने बाणों से सारा आकाश ढँक दिया और इसी कारण उस वक्त किसी को भी न नारायण देख पड़ता था और न उसका रथ तथा सारथी ही देख पड़ते थे। देख पड़ता था तो सिर्फ शरों के बीच में कृष्ण फँसा हुआ सा देख पड़ता था, उसके जीवित में भी लोगों को संशय होता था और यही उसके सारथी की भी हालत थी ॥१२७-१२९॥

इसी बीच में वहाँ एक मनुष्य आया जो मायामय था, रुधिर से जिसका शरीर लाल हो रहा था और जो थर-थर काँप रहा था। उसने आकर बहुत से राजाओं से घिरे हुए कृष्ण से कहा कि कृष्ण, तुम व्यर्थ ही क्यों युद्ध करते हो। उधर जरासंध ने पाण्डव, यादव और बलभद्र का काम तमाम कर दिया है। इतना ही नहीं किन्तु उसने और-और रणशौंडीरों को भी काल के गाल में पहुँचा दिया है, तुम्हारी द्वारिका पुरी पर भी अधिकार जमा लिया है और द्वारिका में सुखासन समुद्रविजय को भी रण का आतिथ्य देकर यमालय का अतिथि बना दिया है ॥१३०-१३३॥

फिर नाथ, आप भी यहाँ व्यर्थ अपने प्राण क्यों गँवाते हैं! अतः यदि आप को सुखी होने की वाञ्छा हो तो आप रण-स्थल छोड़ कर चले जाइए। उस मायामय पुरुष के इस प्रकार के वाक्यों की सुन कर कृष्ण को बड़ा क्रोध आया। वह बोला कि दुष्ट, मेरे जीते रहते हुए ऐसी शक्ति किस पुरुष में है जो यादवों को यमालय का अतिथि बनाये। कृष्ण के ऐसे विकट वचनों को सुन कर वह दुष्ट बुद्धि-माया-मय पुरुष उसी समय वहाँ से भाग गया और कृष्ण हाथ में धनुष उठाकर शत्रुओं की ओर चला। रास्ते में कृष्ण को एक निशाचर मिला, जिसे देखकर बड़ा भय लगता था। वह कृष्ण से बोला कि कृष्ण, तुम तो यहाँ युद्ध करते हो और उधर वसुदेव युद्ध में मारा गया है। उसके बिना

इत्युक्त्वा वृक्षविशिखमक्षिपत्स जनार्दनम्। विष्णुना शिखिबाणेन भिद्यते स्म द्रुमाशुगः ॥१३८॥
खेचरेण क्षणात्क्षिप्तः क्ष्माभृद्बाणो दृषत्प्रदः। हरिणाशनिबाणेन स रुद्धः प्रपलायितः ॥१३९॥
तदा नरैः सुरैः सर्वैः शंसितो विष्टरश्रवाः। पुनः सोऽपि हरिं नत्वा बभाण भुवि संभ्रमन् ॥१४०॥
द्वितीयोऽयं नरेन्द्रात्र खगो यावच्छिनत्ति न। ध्वजं छत्रं रथं वापि तावत्त्वं याहि संगरात् ॥१४१॥
निष्कारणं कथं कृष्ण करिष्यसि महारणम्। जरासंधशिरः शीघ्रं लुनीहि निजचक्रतः ॥१४२॥
यशोऽर्जय जगत्यत्र वृथा किं लोकमारणैः। निशम्येति जगादैवं माधवः क्रुद्धमानसः ॥१४३॥
वराको निर्जितो यावन्मया नायं महारणे। जीयते किं जरासंधस्तावत्किं भुज्यते मही ॥१४४॥
इत्युक्त्वा हरिणा खेटः शल्येन नन्दकासिना। द्विधाकृत्य हतो भूमौ पपात प्राणवर्जितः ॥१४५॥
लक्षितं जयलक्ष्म्या तं पुष्पवृष्टिं ववर्ष च। सुरसंघः स्वविघ्नौघघातकं मधुसूदनम् ॥१४६॥
हरिणाथ बलः प्रोक्तश्चक्रव्यूहस्तु दुर्धरः। भिद्यते समुपायेन केन संचिन्त्यतां लघु ॥१४७॥
विष्णुस्ततस्त्रिभिः शूरैर्गत्वा संगरसंगरी। चक्रव्यूहं बभञ्जाशु दम्भोलिः पर्वतं यथा ॥१४८॥
जरासंधस्तदा क्रुद्धो भटान्दुर्योधनादिकान्। त्रीन्परान्प्रेषयामास शत्रुसंघातहानये ॥१४९॥
पार्थो दुर्योधनेनामा रथनेमिर्महाहवे। विरूप्येन च सेनान्या युयुधे धर्मनन्दनः ॥१५०॥

सारे विद्याधर युद्धस्थल से चले जाने को तैयार हो रहे हैं। यह कहकर छल से उसने कृष्ण पर वृक्ष बाण छोड़ा, जिसको विष्णु ने अग्नि-बाण के द्वारा उसी वक्त जला दिया ॥१३४-१३८॥

इसके बाद उस विद्याधर ने पत्थरों को गिराने वाला क्षमाभृत् बाण छोड़ा और हरि ने उसे वज्रबाण से वारण कर दिया। आखिर कृष्ण के सामने वह विद्याधर न ठहर सका और भाग गया। यह देख उस वक्त नर, सुर आदि सबने कृष्ण की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। इसी समय उस विद्याधर ने आकर जो पहले निशाचर के रूप में था, कृष्ण को प्रणाम करके कहा कि नरेन्द्र, जब तक मैं इस विद्याधर के साथ युद्ध करता हूँ तब तक आप उधर जाकर अपने चक्र के द्वारा जरासंध का सिर छेद डालिए और संसार में अपना यश विस्तृत कीजिए। व्यर्थ ही औरों को मारने से क्या होगा। यह सुन कर क्रोध में आ कृष्ण ने कहा कि इस महायुद्ध में जब तक मैं इसे न जीत लूँगा तब तक कैसे तो जरासंध जीता जायेगा और कैसे पृथ्वी भोगी जा सकेगी। यह कहकर हरि ने शल्य के साथ-साथ उस विद्याधर को भी दो टूक करके प्राण रहित कर दिया, जिससे कि वह उसी समय धराशायी हो गया। इसके साथ ही मधुसूदन के हाथ में जय-लक्ष्मी आ गई और उसके सब विघ्न नष्ट हो गये। इस समय उसके ऊपर देवताओं ने पुष्पों की बरसा की ॥१३९-१४६॥

इसके बाद चक्रव्यूह भेदने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ कृष्ण ने तीन शूरवीरों को अपने साथ में लिये और जाकर थोड़े ही समय में जरासंध का चक्रव्यूह भेद दिया, जैसे वज्र पहाड़ को भेद डालता है। यह देख जरासंध को बड़ा क्रोध आया। उसने शत्रु का नाश करने के लिए दुर्योधन आदि तीन योद्धाओं को भेजा। तब दुर्योधन के साथ पार्थ, विरूप्य के साथ रथनेमि और हिरण्यनाभ के साथ युधिष्ठिर उधर से भी महायुद्ध करने को उद्यत हुए। ये सब युद्ध-प्रवीण योद्धा हुंकार शब्द करते हुए परस्पर में युद्ध

परस्परं तदा लग्ना भटा हुंकारकारिणः। चूर्णयन्तो गजानश्वान्रथान्युयुधिरे चिरम् ॥१५१॥
शूरास्तदा सुसंनद्धाः कातराश्च पलायिताः। नारदाद्याः सुरौघेण जहर्षुर्नटनोद्यताः ॥१५२॥
दुर्योधनो जगौ पार्थं त्वं वह्नौ भस्मितो मया। वृथा वहसि किं गर्वं निर्लज्जः किं नु सज्जितः ॥१५३॥
धनुरास्फालयामास पार्थः श्रुत्वा स्फुरद्गुणम्। गर्जन् प्रलयकालस्य मेघौघ इव विघ्नहृत् ॥१५४॥
आच्छाद्य शरसंघातैः कौरवं स धनंजयः। चिच्छेद तद्धनुर्मध्ये जालंधरः समाययौ ॥१५५॥
विषमः समरस्तेन चक्रे पार्थेन दुर्धरः। तदा पार्थमुवाचेति कुमारो रूप्यसंज्ञकः ॥१५६॥
सुलक्षणान्यायपक्षं कुरुषे किं वृथा यतः। परकन्याहरो विष्णुः परद्रव्याभिलाषुकः ॥१५७॥
तच्छ्रुत्वा शक्रसूनुस्तु बभाषे भीषणाकृतिः। दर्शयामीह सज्जस्त्वं न्यायान्यायं भवाधुना ॥१५८॥
इत्युक्त्वा शरसंघातैश्चूर्णितः खचरः क्षणात्। धनंजयेन रूप्याख्यो विघ्नौघ इव श्रेयसा ॥१५९॥
युधिष्ठिरः स्थिरो युद्धे श्वेतवाजी जवोन्नतः। रथनेमी रथारूढो रेजुरेते जयोद्धुराः ॥१६०॥
चक्रव्यूहं निकृत्याशु त्रयस्ते यशसावृताः। यादवीयं बलं प्रापुः प्रीणिताखिलसज्जनाः ॥१६१॥
हिरण्यनाभसेनान्यं सच्छूरं रुधिरात्मजम्। जरासंधस्य सद्युद्धे स जघान युधिष्ठिरः ॥१६२॥

करने लगे। उन्होंने बहुत देर तक युद्ध किया और बहुत से घोड़े, हाथी और रथों को चूर डाला। उनके उस वक्त के युद्ध को देखकर शूरवीर तो युद्ध को तैयार हुए और कायर भागने के लिए मार्ग सोधने लगे ॥१४७-१५२॥

यह देख नृत्योद्यत नारद आदि देवगण बड़े हर्षित हुए। इस वक्त दुर्योधन ने अर्जुन से कहा कि पार्थ, उस वक्त तो आग में जलने से भाग्य से तुम बच गये। अब व्यर्थ फिर अहंकार क्यों कर रहे हो। तुम्हें कुछ लज्जा नहीं आती जो सजे हुए मेरे सामने खड़े हो। यह सुन कर धनुष हाथ में ले, प्रलय काल के मेघों की भाँति गर्जते हुए उस विघ्न-समूह को हरने वाले वीर अर्जुन ने धनुष का भयावना शब्द किया और फिर बात की बात में उसने शरों से दुर्योधन को पूर दिया तथा उसका धनुष भी छेद डाला परन्तु इतने में ही उनके बीच में जालंधर राजा आ गया और उसने पार्थ के साथ अत्यन्त घोर, दुर्धर संग्राम किया ॥१५३-१५५॥

इसके बाद रूप्यकुमार युद्ध-स्थल में उतरा और उसने पार्थ से कहा कि सुलक्षण, आप अन्याय पक्ष काहे को लेते हैं। देखी, यह विष्णु पर-कन्या का हरने वाला बड़ा अन्यायी है। यह सुन पार्थ ने भयंकर चेहरा बनाकर उससे कहा कि कुमार, अब तैयार हो, मैं तुम्हें न्याय और अन्याय सब यहीं बताये देता हूँ। यह कहकर धनंजय ने एक क्षण में ही विघ्न-रूप रूप्य नाम विद्याधर को अपने शरों की भीषण मार से छेद डाला। इस समय स्थिरता से युद्ध में उठा हुआ युधिष्ठिर उन्नतिशील अर्जुन और रथारूढ़ रथनेमि ये तीनों ही जय के लिए उद्यत हुए युद्ध-स्थल में अपूर्व ही शोभा पाते थे। इसके बाद वे शीघ्र ही जरासंध के चक्रव्यूह को भेदकर, यशस्वी बनकर सज्जनों को प्रसन्न करते हुए यादवों के सैन्य में आ गये ॥१५६-१६१॥

इसके बाद युधिष्ठिर ने पुनः युद्ध-आरम्भ किया और युद्ध में लहूलुहान हुए जरासंध के

ब्रध्नोऽपि तद्वधं वीक्ष्य संखिन्नः पश्चिमार्णवम्। इव स्नातुं जगामाशु शान्तये श्रमशालिनाम् ॥१६३॥
त्रियामायां यमैर्ये च गृहीता विकटा भटाः। तेषां यथायथं कृत्वा संस्थिता नृपनन्दनाः ॥१६४॥
जरासंधो बभाणेदं मन्त्रिणो मन्त्रकोविदान्। सेनापतिपदे कोऽपि स्थापनीयः परः प्रभुः ॥१६५॥
इत्याकर्ण्य तदा सर्वैर्मेचकः स्थापितो मुदा। तत्पदे कौरवस्तावत्प्राहिणोच्च व चोहरम् ॥१६६॥
स गत्वा पाण्डवान्नत्वा विज्ञप्तिकरोदिति। अद्य यावन्मया नानादुःखानि विहितानि वः ॥१६७॥
स्मृत्वा तानि कथं युद्धे नागम्यते त्वरान्वितैः। जीवतोऽतो न मुञ्चामि युष्माञ्शंसितशासनान् ॥१६८॥
निशम्येति जगुः पाण्डुपुत्राः प्रत्युत्तरक्षमाः। यातुं यमपुरं तूर्णमुद्यतोऽस्ति भवत्प्रभुः ॥१६९॥
प्रेषयामि जरासंधसार्धं युष्मान्यमालयम्। स श्रुत्वेति त्वरा गत्वा धार्तराष्ट्रान्यवेदयत् ॥१७०॥
तत्सर्वं वीक्षितुं ब्रध्न इत्यगादुदयाचलम्। प्राह्णातोद्यानि संनेदुर्भटानामुद्यमाय च ॥१७१॥
रथस्थः पार्थ इत्याख्यत्सारथे सरथान्नृपान्। ब्रूहि ब्रूते स्म सोऽश्वादिकेतुकीर्तनपूर्वकम् ॥१७२॥
एष तालध्वजो गङ्गासुतः श्यामतुरंगमः। शोणसप्तिरयं द्रोणो बली बार्णनिकेतनः ॥१७३॥

हिरण्य नाम बड़े भारी वीर योद्धा को अनेक वीरों के साथ यमपुर भेज दिया। उसका वध देखकर सूरज को भी बड़ा खेद हुआ और इसलिए वह शोक-जनित श्रम दूर करने को पच्छिम समुद्र में स्नान करने की मनसा से अति शीघ्र ही पच्छिम की ओर को चला गया। तब रात हुई जानकर मरे हुए भटों की यथायोग्य व्यवस्था करके राजे लोग भी अपने-अपने डेरों पर आ गये ॥१६२-१६४॥

इसके बाद जरासंध ने अपने मंत्र-कुशल मंत्रियों से कहा कि सेनापति के पद पर अब की बार और कोई ऐसा समर्थ पुरुष नियत करना चाहिए जो शत्रुओं पर दबाव डाल सके। यह सुन मंत्रियों ने सम्मति करके बड़े हर्ष के साथ सैनिक पद पर मेचक को स्थापित किया। इसी समय उधर दुर्योधन ने पाण्डवों के पास दूत भेज कर उनसे यह कहलवाया कि आज तक मैंने तुम लोगों को जो-जो दुख दिये हैं उन्हें याद करके तुम लोग स्वयं ही अतिशीघ्र युद्ध के लिए क्यों नहीं आते ? सच कहता हूँ कि मैं अब तुम लोगों को जीता न छोड़ूँगा, चाहे लोग तुम्हारी और तुम्हारे शासन की कितनी ही तारीफ क्यों न करें। यह सुन कर समर्थ पाण्डवों ने दूत से कहा कि जाकर अपने स्वामी से कह दो कि यम-पुर जाने के लिए अब वह तैयार हो जाये। हम जरासंध के साथ-साथ उसे भी यमालय का अतिथि बनावेंगे। यह सुनकर दूत ने अति शीघ्र जाकर धार्तराष्ट्रों से वह सब हाल निवेदन किया ॥१६५-१७०॥

उसी समय मानों वह सब देखने के लिए ही सूरज उदयाचल पर उदित हुआ। तब भटों को उत्साहित करने के लिए प्रातःकालीन मंगल बाजे बजे। सब योद्धा युद्ध के लिए तैयार हो युद्ध-स्थल में पहुँचे। उन्हें देख रथ में बैठे हुए पार्थ ने अपने सारथी से कहा कि मुझे बताओ कि रथों में कौन-कौन राजे हैं। सारथी उनके घोड़ों और ध्वजाओं को बतलाता हुआ बोला कि राजन्, देखिए ताल की ध्वजा वाले रथ में बैठे हुए पितामह है। उनके रथ में काले घोड़े जुते हुए हैं। यह लाल घोड़ों वाला द्रोण का रथ है और उस बली की कलश की ध्वजा है। नाग की ध्वजा वाला और नीले घोड़ों

सैष दुर्योधनो धन्वी नीलाश्वो नागकेतनः। दुःशासनोऽयमानायकेतुः पीततुरङ्गमः ॥१७४॥
द्रोणसूनुः कियाहाश्वोऽश्वत्थामायं हरिध्वजः। शल्यः सीताध्वजः सोऽयमश्वैर्बन्धूकबन्धुरैः ॥१७५॥
कोलकेतुरयं भाति लोहिताश्वो जयद्रथः। एवं ज्ञात्वान्यभूपालानुत्तस्थे योद्धुमर्जुनः ॥१७६॥
तदा गजघटालग्ना भटाः सुघटनावहाः। संजाघटन्ति संग्रामं स्वामिकार्यपरायणाः ॥१७७॥
गाङ्गेयः सुगुणं चापे धृत्वा दधाव धीरधीः। अभिमन्युमभिप्रेत्याभिमानरसमुद्वहन् ॥१७८॥
गाङ्गेयस्य सुबाणेन स चिच्छेद महाध्वजम्। प्रथमं कौरवाणां हि सुमहत्त्वमिवोन्नतम् ॥१७९॥
दशबाणैस्तु गाङ्गेयः कुमारध्वजमाच्छिनत्। सौभद्रः सारथिं वाहौ गाङ्गेयस्याच्छिनद्ध्वजम् ॥१८०॥
वदन्ति स्म तदा वाणीं विदोऽयमभिमन्युकः। साक्षात्पार्थ इवोत्तस्थे सुस्थिरः प्रथितो भुवि ॥१८१॥
अनेनैकेन बाणेन वैरिवृन्दं निराकृतम्। निरङ्कुशेन नागेन यथा सर्वस्वहारिणा ॥१८२॥
पार्थसारथिना शल्य उत्तरेण रणान्तरे। समाहूतो रणार्थं हि कुन्तासिधन्वधारकः ॥१८३॥
शल्येन तेन क्रुद्धेन जघ्ने चोत्तरसारथिः। प्रचण्डो भुजदण्डो वा पार्थस्य पृथुविग्रहः ॥१८४॥
वैराटभूपतेः सूनुः श्वेतनामा दधाव च। शल्यस्य ध्वजछत्रास्त्रवृन्दं संपातयन्भुवि ॥१८५॥

वाला धनुर्धर दुर्योधन है। पीले घोड़ों वाला वह रथ दुःशासन का है, जिसमें कि जाल की ध्वजा लगी हुई है। वह सफेद घोड़ों वाला अश्वत्थामा का रथ है। उस पर वानर की ध्वजा फहराती है। वह लाल घोड़ों वाला रथ जिस पर कि सीता की ध्वजा है, शल्य का है ॥१७१-१७५॥

कोल की ध्वजा वाला और लाल घोड़ों वाला वह रथ जयद्रथ का है। इस प्रकार सब राजाओं का परिचय प्राप्त कर अर्जुन युद्ध के लिए उठा। उस समय हाथियों की घटाओं के साथ स्वामी के कार्य में तत्पर योद्धा रण-साज सज कर युद्ध-स्थल में आये। उधर अभिमान से भरे हुए पितामह वहाँ आये। आते ही वह धीर-बुद्धि अपने धनुष पर डोरी चढ़ा कर अभिमन्यु के ऊपर टूटे। अभिमन्यु ने एक क्षण में ही अपने बाणों द्वारा उनकी ध्वजा को छेद दिया। उसे देख यह जान पड़ता था, मानों उसने पहले पहल कौरवों के उन्नत महत्त्व को ही छेद दिया है। बाद इसके गांगेय ने भी अपने बाणों द्वारा अभिमन्यु की ध्वजा को छेद डाला। तब अभिमन्यु ने उनके सारथी को बाण से बेधकर पितामह के हाथों और ध्वजा को भी बेध दिया। यह देख विद्वानों ने उसकी बड़ी तारीफ की कि अभिमन्यु साक्षात् पार्थ ही है। यह बड़ा धीरज-धारी है और इसकी स्थिरता संसार-प्रसिद्ध है। इस एक ही बालक ने सैकड़ों बैरियों को नष्ट किया है, जैसे निरंकुश हुआ एक ही हाथी सब नष्ट कर डालता है ॥१७६-१८२॥

इतने ही में पार्थ के सारथी उत्तर कुमार ने दूसरे रण-स्थल में रण के लिए भाला, तलवार और धनुष लिये हुए शल्य को ललकारा। यह देख शल्य को बड़ा क्रोध आया। उसने उसे एक बाण ही में मार गिराया। उस वक्त उसे युद्ध भूमि में गिरा हुआ देखकर यह जान पड़ता था कि मानों पार्थ का प्रचंड भुजदण्ड ही गिर पड़ा है। अपने बड़े भाई की यह दशा देखकर विराट का दूसरा पुत्र श्वेतकुमार दौड़ा आया और उसने उसी वक्त शल्य के ध्वजा-छत्र और अस्त्र वगैरह छेदकर उन्हें पृथ्वी पर गिरा

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धो गाङ्गेयः संचचाल च। श्वेतेन संनिरुद्धः स धावमानो यदृच्छया ॥१८६॥
छादयामास गाङ्गेयं शरैर्वैराटनन्दनः। अदृश्यतां परं नीतो मेघौघ इव भास्करम् ॥१८७॥
तदा दुर्योधनः प्राप्तो मार्यतां मार्यतामयम्। वदन्पार्थेन संरुद्धो वारिणेव धनंजयः ॥१८८॥
धनंजयः करे कृत्वा गाण्डीवं दशविंशतिं। चत्वारिंशच्च सद्बाणान्विससर्ज स कौरवम् ॥१८९॥
तावन्योन्यं रणे लग्नौ पार्थदुर्योधनौ नृपौ। कृपाणकुन्तघातेन प्रहरन्तौ महोद्धतौ ॥१९०॥
वैराटनन्दनस्तावद्युद्ध्यमानो महायुधि। पितामहस्य चिच्छेद चापं छत्रं ध्वजं तथा ॥१९१॥
उरःस्थले जघानासौ गाङ्गेयं करवालतः। तदा हाहारवो जज्ञे कौरवाणां बलेऽखिले ॥१९२॥
तदा दिव्यस्वरो जज्ञे गगने च सुधाशिनाम्। कातरो भव माद्यात्र गाङ्गेय भज धीरताम् ॥१९३॥
हन्तव्या आहवे वीरास्त्वया चतुरचेतसा। निशम्येति पुनः सोऽभूत्सावधानः स्थिरायुधः ॥१९४॥
लक्षबाणान्स संधाय मुक्त्वा श्वेतमपातयत्। पतितः सोऽपि संस्मृत्य जिनांश्चित्ते दिवं गतः ॥१९५॥
तदा निशीथिनी जज्ञे योद्धॄणां कृपयेव वै। वारयन्ती रणं नृणां प्रहारान्शोधयन्त्यपि ॥१९६॥
वैजयन्त्यौ यथास्थानं तदा जग्मतुरुन्नते। वेराटोऽथ वधं श्रुत्वारोदीत्पुत्रस्य चेत्यलम् ॥१९७॥

दिये। इसी समय क्रोध से जलते हुए पितामह दौड़े। उन्हें श्वेत ने बहुत रोका। पर जब वह न रुके तब उसने उन्हें शरों की वर्षा से बिल्कुल ही ढँक दिया। यहाँ तक कि वह देख ही न पड़ने लगे, जैसे मेघों के द्वारा ढँक जाने पर सूरज नहीं देख पड़ता है। यह देख इस को मारो, छोड़ो मत, यह कहता हुआ दुर्योधन दौड़ा आया परन्तु जैसे आग को जल बुझा देता है वैसे ही पार्थ ने उसे जहाँ का तहाँ रोक दिया, आगे न बढ़ने दिया और गांडीव धनुष हाथ में लेकर उसने दुर्योधन पर एक साथ सैकड़ों बाण छोड़े परन्तु उससे दुर्योधन को कुछ हानि न हुई। तब वे दोनों ही वीर भाला, तलवार आदि के द्वारा प्रहार करते हुए मदमत्त होकर परस्पर में भीषण युद्ध करने लगे ॥१८३-१९०॥

उधर इस महायुद्ध में युद्ध करते हुए उस विराट कुमार श्वेतने पितामह के धनुष, छत्र, ध्वजा आदि छेद दिये और उनके वक्षस्थल में तलवार का एक ऐसा आघात किया कि जिससे कौरवों की सारी सेना में हाहाकार मच गया। इस वक्त देवताओं ने आकाश में से दिव्य स्वर में कहा पितामह! कायर मत हो, धीरज की शरण लो। हे वीर, इस महायुद्ध में वीरों का संहार करो-घबड़ाओ मत।

यह सुन कर पितामह ने सावधान हो स्थिरता से हथियार हाथ में उठाया और लक्ष्य बाँधकर श्वेत पर एक साथ सैकड़ों ही बाणों को छोड़ा, जिससे वह धराशायी हो गया और जिन भगवान् का स्मरण करते हुए मर कर स्वर्ग में देव हुआ ॥१९१-१९५॥

इसी समय सूर्य अस्ताचलगामी हुए। रात हो गई। जान पड़ता था मानों रण बन्द करने और घायल मनुष्यों का पता लगाने के लिए दयादेवी ही आई है। उभय पक्षों की सेनायें अपने-अपने डेरे को चली गई। रण बन्द हो गया। बाद जब घायलों का पता लगाया गया तब जान पड़ा कि विराट के पुत्र श्वेत का देवलोक हो चुका है। यह सुन विराट को बड़ा दुख हुआ। पुत्र-वियोग में वह बड़ा विलाप करने लगा। हा पुत्र! युद्ध में तेरी किसी ने भी रक्षा न की। हा धर्मात्मा धर्मपुत्र, क्या तुमने

पुत्र हा संगरे नापि केन त्वं परिरक्षितः। हा धर्मपुत्र धर्मात्मंस्त्वया किमु न रक्षितः ॥१९८॥
भीममूर्ते महाभीम धनंजय धनंजय। भवद्भिर्दृश्यमानोऽयं कथं नीतोऽथ वैरिणा ॥१९९॥
तावद्युधिष्ठिरो धीमानभिधत्ते स्म दारुणम्। घस्रे सप्तदशे शल्यं मारयिष्यामि निश्चितम् ॥२००॥
न हन्मि यदि तत्रेमं ज्वलिष्यामि तदानले। झम्पां दत्त्वा जनैः प्रेक्ष्यमाणो मानविवर्जितः ॥२०१॥
शिखण्डीं खण्डितारातिर्जगौ वै नवमे दिने। पितामहं हनिष्यामि संगरे संगरो मम ॥२०२॥
अन्यथाहं च होष्यामि हुताशे स्वं पुनर्जगौ। धृष्टद्युम्नो हनिष्यामि सेनान्यं संगरोद्यतम् ॥२०३॥
तावता च हरन्नैशमुदियाय दिवाकरः। तमः संवीक्षितुं वृत्तं जनानामिव जन्यके ॥२०४॥
सैन्ययोस्तु सुयोद्धारो युद्धमारेभिरे तदा। परस्परं शरीराणि खण्डयन्तो महायुधैः ॥२०५॥
गजा गजै रथास्तूर्णं रथैः सद्वाजिनो हयैः। पत्तियः पत्तिभिः सार्धं संक्रुद्धा योद्धुमुद्धताः ॥२०६॥
धनंजयो दधावाशु क्षणे तस्मिन्सुलक्षणान्। सुभटान्मत्तमातङ्गान्केसरीव जयं गतः ॥२०७॥
संख्ये संख्यातिगैर्बाणैरवृणोत्तं पितामहः। आगच्छन्तं प्ररुन्धानो यथा कूलं सरिज्जलम् ॥२०८॥
सुरापगासुतेनापि बाणैश्छन्नं नभः स्थलम्। पार्थेनैकेन तत्सर्वं निन्ये निष्फलतां क्षणात् ॥२०९॥
शुण्डालानां महाशुण्डा घोटकानां महोन्नतान्। चरणानथचक्राणि पार्थश्चिच्छेद सच्छरैः ॥२१०॥

भी मेरे प्यारे पुत्र की रक्षा न की। हे भीममूर्ति भीम तथा शत्रु-समूह के लिए अग्नि जैसे हे धनंजय! आपके देखते हुए मेरे पुत्र को वैरी ने कैसे मार डाला? ॥१९६-१९९॥

विराट की वह दशा देख, क्रोध में आकर बुद्धिमान् युधिष्ठिर ने दृढ़ प्रतिज्ञा की कि मैं आज से सत्रहवें दिन तक शल्य को अवश्य ही मार डालूँगा। यदि न मार सका तो अपने मान को छोड़कर आप लोगों के देखते हुए ही आग में कूद पड़ूँगा और अपने को भस्म कर दूँगा। बैरियों का विध्वंस करने वाले शिखण्डी ने यह प्रतिज्ञा की कि मैं आज से नौवें दिन पितामह को अवश्य ही धराशायी कर दूँगा। यदि नहीं करूँ तो मैं भी अपने आप को आग में होम दूँगा। इसी तरह धृष्टद्युम्न ने यह कहा कि मैं युद्ध के लिए उद्यत हिरण्यनाभ सेनापति को अवश्य ही यमलोक दिखाऊँगा ॥२००-२०३॥

इसी समय अँधेरे की दूर करके योद्धा लोगों का हाल देखने के लिए ही मानो सूरज का उदय हुआ। फिर क्या था, दोनों ओर के वीरों ने फिर भयंकर युद्ध आरम्भ किया और वे महायुद्ध करके एक दूसरे के शरीरों को छेदने लगे एवं क्रोध में भर कर हाथी-हाथियों के साथ, रथ-रथों के साथ, घोड़े-घोड़ों के साथ, पयादे-पयादों के साथ युद्ध करने को उद्यत हुए। इसी समय धनंजय वीर सुभटों के ऊपर टूट पड़ा और उनको क्षणभर में ही तितर-बितर कर डाला, जैसे सिंह मदोन्मत्त हाथियों की तितर-वितरकर देता है। धनंजय की विजय हुई। यह देख पितामह ने असंख्य बाणों के द्वारा अर्जुन को पूरकर आगे बढ़ने से रोक दिया, जैसे जल को नदी के किनारे रोक देते हैं। इस प्रकार अनंत बाणबरसा कर गांगेय ने सारे आकाश को ही बाणों से भर दिया। यह देख पार्थ ने उन सब बाणों को अपने एक बाण के द्वारा ही निष्फल कर दिया और अपने बाणों की अविरल वर्षा से उसने हाथियों की सूंडों, घोड़ों के ऊँचे पाँवों को और रथों के पहियों की एकदम छेद डाला। इसके सिवा

स शूराणां च वर्माणि मर्माणीव सुनर्मणा। पार्थश्चिच्छेद दिव्येन गाण्डीवेन जयार्थिना ॥२११॥
दुर्योधनो जगौ क्रोधाद् गङ्गापुत्रं विनिन्दयन्। तात तात किमारब्धं रणं पराजयप्रदम् ॥२१२॥
तथा कुरु यथा पार्थः स्थातुं शक्नोति नो रणे। अरौ प्राप्ते रणे तात को निश्चिन्तो भवेद् भटः ॥२१३॥
श्रुत्वेति जाह्नवीपुत्रः पार्थेन योद्धुमुद्यतः। तदा नरो जजल्पेदं शृणु शीघ्रं पितामह ॥२१४॥
आयोधनमिदं सर्वं शून्यं भूयात्तथापि च। त्वां नेष्यामि यमागारं प्राघूर्णीकृत्य तस्य वै ॥२१५॥
इत्युक्त्वा तौ समालग्नौ रणं कर्तुं कृपोज्झितौ। तदा द्रोणः समायासीद् धृष्टद्युम्नं महाहवे ॥२१६॥
द्रोणेन च क्षुरप्रेण जह्रेऽस्य स्यन्दनध्वजः। धृष्टार्जुनः पुनस्तस्य जहार च्छत्रसद्ध्वजान् ॥२१७॥
शक्तिबाणं मुमोचाशु द्रोणो विद्रावितापरः। धृष्टार्जुनः क्षणार्धेन तं चिच्छेद सुतीक्ष्णधीः ॥२१८॥
धृष्टार्जुनेन निर्मुक्ता लोहयष्टिः प्रहृष्टिहृत्। छिन्नान्तरे च तातेन रणे ज्ञातेन सज्जनैः ॥२१९॥
द्रोणस्तां वञ्चयित्वाशु गृहीत्वा वसुनन्दकम्। करे च दक्षिणे खड्गं चचाल प्रधनोद्यतः ॥२२०॥
एतस्मिन्नन्तरे भीमो गदाहस्तो जघान तम्। कलिङ्गतनयं न्यायनिपुणं च मदोद्धतम् ॥२२१॥
कौरवांस्त्रासयन्काष्ठाः कष्टं खलु समागतान्। कुर्वन् रेमे रणे शत्रून्दलयन्स बलोद्धतः ॥२२२॥
गदाघातेन संचूर्ण्य रथान्सप्तशतप्रमान्। वैरिभिः पूरयामास भीमो भूमिबलीनिव ॥२२३॥

उस जय के अर्थी ने मर्म की भाँति शूरों के कवच भी अपने दिव्य गांडीव धनुष के द्वारा छेद दिये ॥२०४-२११॥

यह देखकर पितामह की निंदा करता हुआ दुर्योधन बोला कि तात, तुमने यह पराजयकारी युद्ध क्यों शुरू कर रक्खा है। इस तरह युद्ध करिए जिससे अर्जुन युद्ध में ठहर ही न सके। भला, वैरी के आगे आ उपस्थित होने पर कौन ऐसा सुभट होगा जो आप की भाँति निश्चिंत हुआ बैठा रहेगा। दुर्योधन की यह मर्मभेदी वाणी सुनकर गांगेय पार्थ के साथ युद्ध के लिए फिर बड़ी वीरता से उद्यत हुए। यह देख अर्जुन ने उनसे कहा कि पितामह, आप का मेरे साथ युद्ध करना व्यर्थ है। मैं अभी आप को यमालय भेजकर इस युद्ध को समाप्त किये देता हूँ ॥२१२-२१५॥

इसके बाद ही वे दोनों सुभट बड़ी क्रूरता से युद्ध करने लगे। इसी बीच में द्रोण आकर धृष्टद्युम्न पर झपटे और उन्होंने महायुद्ध कर थोड़ी देर में ही धृष्टद्युम्न के रथ की ध्वजा हर ली। यह देख धृष्टार्जुन ने द्रोण के छत्र, ध्वजा आदि को हर लिया। तब शत्रु को दुख देने वाले द्रोण ने धृष्टार्जुन पर शक्तिबाण छोड़ा, जिसके कि उस वीर धृष्टार्जुन ने आधे क्षण में ही छेद दिया॥२१६-२१८॥

यह देख धृष्टार्जुन ने पितामह के ऊपर गदा चलाई और पितामह ने उसे बीच में से ही वारण कर दिया। इसके बाद गदा वारण कर बाँये हाथ में ढाल और दाहिने हाथ में तलवार लेकर युद्ध के लिए तैयार हो द्रोण आये ॥२१९-२२०॥

उधर हाथ में गदा लेकर भीम दौड़ा और उसने महोन्नत कलिंग-पुत्र को मार गिराया एवं बल से उद्धत होकर वह कौरवों को त्रास देता, दिशाओं को कष्ट-मय बनाता और रण में शत्रुओं को दलता क्रीड़ा करने लगा। उसने अपनी गदा के आघात से बैरियों के साथ-साथ सात सौ रथों को भी चूर

सहस्त्रैकं गजानां च चूरयित्वा रणोद्धतः। जयलक्ष्मीं समापाशु गदया पावनिः परः ॥२२४॥
एतस्मिन्नन्तरे धृष्टार्जुनस्यासिं समुज्ज्वलम्। द्रोणश्चिच्छेद छेदज्ञः कुठार इव शाखिनम् ॥२२५॥
अभिमन्युकुमारेण छिन्नो द्रोणस्य सद्रथः। दुर्योधनसुतश्चायाल्लक्ष्मणाख्यः सुलक्षणः ॥२२६॥
स चिच्छेद सुभद्रायास्तनुजस्य शरासनम्। अन्यं चापं समादायावारयत्स परान् रिपून् ॥२२७॥
सर्वैः संवेष्टितः पार्थपुत्रः प्रौढमना महान्। पञ्चास्यविक्रमः सिंहो यथा मत्तमहागजैः ॥२२८॥
पार्थो गाण्डीवचापेन वेष्टयित्वा रिपून्स्थितान्। स्वपुत्रं वारयामास वायुर्वा घनसंचयान् ॥२२९॥
युध्यमानेषु योधेष्वेवं चायान्नवमो दिनः। तदा शिखण्डिना युद्धे समाहूतः पितामहः ॥२३०॥
तदाभाणीन्महापार्थः प्रचण्डं च शिखण्डिनम्। गृहाण मे परं बाणं वैरिविध्वंसनक्षमम् ॥२३१॥
येन बाणेन संदग्धं मया खण्डवनं पुरा। तेनाग्राहि तदा बाणः स चण्डेन शिखण्डिना ॥२३२॥
वैवस्वत इवोत्तस्थे शिखण्डी खण्डयन्रिपून्। तदा परस्परं लग्नौ श्रीगाङ्गेयशिखण्डिनौ ॥२३३॥
एकेनापि तयोर्मध्ये जीयते न परस्परम्। युध्यमानौ च तौ देवैः सिंहाविव सुशंसितौ ॥२३४॥
निर्भर्त्सितः शिखण्डी तु धृष्टद्युम्नेन धीमता। भो शिखण्डिन्मया दृष्ट आहवो विहितस्त्वया ॥२३५॥

डाला और उनसे पृथ्वी के बिलों को पूर दिया। इस प्रकार रणोद्धत बलवान् भीम ने अपनी गदा के बल से एक हजार हाथियों को दूर करके जय-लक्ष्मी को प्राप्त किया ॥२२१-२२४॥

इसी बीच में छेदन-कला-निपुण वीर द्रोणाचार्य ने धृष्टार्जुन की उज्ज्वल तलवार को छेद दिया, जैसे कुठार वृक्ष को छेद देता है। उधर अभिमन्यु ने द्रोण का रथ छिन्न-भिन्न कर दिया। इतने में दुर्योधन का पुत्र सुलक्षण लक्ष्मण आ धमका और उसने अभिमन्यु के धनुष को तोड़ डाला। तब अभिमन्यु दूसरा धनुष लेकर शत्रुओं को हटाने लगा। उसे इस प्रकार असह्य देख एक साथ हजारों ही शत्रुओं ने आकर उस प्रौढ़मना और महावीर अभिमन्यु को सब ओर से घेर लिया। उस समय ऐसा भान होता था मानों मतवाले बहुत से हाथियों ने महान् पराक्रमी सिंह को ही धर लिया है। तब हाथ में गांडीव धनुष उठा पार्थ आया और उसने सब शत्रुओं को बात ही बात में ही तितर-वितरकर अपने वीर पुत्र को स्वतंत्र कर दिया, जैसे वायु मेघों को तितर-वितर करके सूरज को स्वतंत्र कर देता है। इस प्रकार योद्धाओं का युद्ध होते-होते जब नौवाँ दिन आया तब शिखण्डी ने युद्ध के लिए गांगेय को ललकारा ॥२२५-२३०॥

उस समय पार्थ ने शिखण्डी से कहा कि बैरियों का ध्वंस करने के लिए सर्वथा समर्थ मेरा यह बाण लो और तुम इसके द्वारा बैरियों का ध्वंस करो। देखो, इसी बाण के द्वारा मैंने पहले खण्ड वन को दग्ध किया था, अतः तुम इस की शक्ति में कुछ सन्देह न करो। यह सुन कर वीर शिखण्डी ने उस बाण को ले लिया और बैरियों का ध्वंस करता हुआ वह यम की तरह युद्ध के लिए उठ खड़ा हुआ। गांगेय और शिखण्डी दोनों ही वीर आपस में भीषण युद्ध करने लगे। उन्हें युद्ध करते हुए बहुत समय बीत गया पर उनमें से किसी ने भी किसी को जीत न पाया। इस वक्त इन दोनों को सिंह की तरह भिड़ते हुए देखकर देवताओं ने इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥२३१-२३४॥

यह देख बुद्धिमान् धृष्टद्युम्न ने शिखण्डी से कहा कि शिखंडिन् तुमने युद्ध तो बहुत किया है,

अद्यापि गुरुगाङ्गेयो रणे गर्जति मेघवत्। अद्यापि स्यन्दनं तस्य पताका च विजृम्भते ॥२३६॥
पार्थः पूरयतेऽद्यापि पृष्टिं पिष्टमहारिपुः। वैराटस्तव साहाय्यं विदधाति महारणे ॥२३७॥
निशम्येति शिखण्डी तु तर्जयन्धन्विदुर्धरम्। गाङ्गेयमाजुहावेति धनुःसंधानमावहन् ॥२३८॥
तावद् द्रुपदपुत्रेण बाणैः सहस्त्रसंख्यकैः। छाद्यते स्म सुगाङ्गेयो मेघैर्वा व्योममण्डलम् ॥२३९॥
कौरवीयं बलं तावन्मुञ्चति स्म शिखण्डिनि। शरांस्ते तस्य लग्नन्ति न भीता इव संगरे ॥२४०॥
धृष्टद्युम्नविनिर्मुक्ताः शरा वज्रमुखास्तदा। वज्राणीव सुलग्नन्ति नगे विपक्षवक्षसि ॥२४१॥
ये गाङ्गेयविनिर्मुक्ताः पुष्पायन्ते शिखण्डिनः। शरा लग्नाः सुखाय स्युः पुण्यात्सर्वं सुखाय वै ॥२४२॥
यं यं चापं समादत्ते गाङ्गेयो गुणसंगतम्। तं तं छिनत्ति बाणेन धृष्टद्युम्नः समुद्धतः ॥२४३॥
पुण्यक्षये च क्षीयन्ते समक्षं सर्वजन्मिनः। धनानीव महायूंषि पुत्रमित्रसुखानि च ॥२४४॥
द्रौपदस्तु सुबाणेन गाङ्गेयकवचं हठात्। बिभेद वनयूथं वा प्रावृण्मेघः सुधारया ॥२४५॥
पातयामास भूपीठे सारथिं च रथध्वजम्। गाङ्गेयस्य हयौ हर्षाच्छरैः श्रीद्रुपदात्मजः ॥२४६॥
पितामहः सुनिष्कम्पो रथातीतो दधाव च। कृपाणं स्वकरे कृत्वा कृन्तितुं द्रुपदात्मजम् ॥२४७॥

पर अब तक भी गांगेय रण में मेघ की तरह गाज रहे हैं, उनका रथ भी वैसा ही अखण्ड है एवं पताका भी वैसी ही उड़ रही है। फिर तुम्हारे इस युद्ध से लाभ ही क्या हुआ। अतः अपने पराक्रम की बराबर काम में लाकर शत्रु का शीघ्र नाश करो। तुम निःसहाय नहीं हो, तुम्हारी पीठ पर शत्रुओं को पीस डालने वाला पार्थ है और विराट भी इस महारण में तुम्हारी सहाय कर रहा है ॥२३५-२३७॥

यह सुन शिखण्डी को खूब जोश आया। उसने धनुष चढ़ा और एक साथ असंख्य बाणों को छोड़ कर धनुर्धर दुर्द्धर पितामह को बाण से पूर दिया, जैसे मेघ आकाश को पूर देते हैं। यह देख कौरवों की सेना ने भी शिखण्डी पर खूब बाणों की बरसा की परन्तु उसके बाण उसे न लगे, मानों वे उससे डरते थे। इसी समय वज्र जैसे कठोर मुँह वाले बाणों को धृष्टद्युम्न भी छोड़ रहा था जो शत्रुओं के वक्ष-स्थलरूप पर्वत में वज्र की तरह विषम घाव करते थे। उधर से गांगेय के छोड़े हुए बाण आकर शिखण्डी के हृदय में फूल के जैसे लगते थे जिनसे कि उसे उल्टा सुख होता था और है भी ठीक ही कि पुण्य के उदय से कष्ट भी सुख रूप हो जाता है ॥२३८-२४२॥

पितामह इस समय जो-जो धनुष हाथ में लेते थे उसे समुद्धत धृष्टद्युम्न बाण के द्वारा छेदता जाता था। सच है कि पुण्य क्षीण होने पर सब कुछ देखते-देखते ही विला जाता है। चाहे धन हो, चाहे आयु हो, चाहे पुत्र-मित्र-कलत्र आदि हो, एवं चाहे सुख हो॥२४३-२४४॥

इसी समय शिखण्डी ने अपने बाणों के द्वारा गांगेय का कवच भेद डाला, जैसे बरसा काल के मेघ की धारा वनों को भेद डालती है। उसने थोड़ी ही देर में उसके सारथी और रथ की ध्वजा को पृथ्वी पर गिरा दिया तथा रथ के दोनों घोड़ों को बाणों की मार से जर्जरित कर दिया। यह देख पितामह अकंप होकर-रथ बिना ही-हाथ में तलवार ले शिखण्डी को छेद डालने के लिए दौड़े। शिखण्डी ने अपने प्रखर बाणों के द्वारा उनकी तलवार को भी बेकाम कर दिया और उस हतात्मा ने उनके

कृपाणो द्रौपदेनैव तस्य च्छिन्नो महाशरैः। हृदयं च क्षुरप्रेण हतं हन्त हतात्मना ॥२४८॥
पितामहः पपाताशु पृथिव्यां पावनस्तदा। गतं जीवितमालोक्य स संन्यासं समग्रहीत् ॥२४९॥
स दधे परमं धैर्यं धर्मध्यानपरायणः। सुपरीक्ष्यामनुप्रेक्षां ररक्ष निजचेतसि ॥२५०॥
तदा सर्वे नृपास्त्यक्त्वा रणं तत्पार्श्वमाययुः। पाण्डवास्तत्पदं नत्वा रुरुदुर्दुःखसंगताः ॥२५१॥
आजन्म ब्रह्मचर्यं च पालितं व्रतमुत्तमम्। त्वया गुणगणेशेन तदेत्याहुः सुपाण्डवाः ॥२५२॥
युधिष्ठिरस्तदावोचद्भो व्रतिन् सुव्रतोत्तम। अस्माकं किं न चायाता मृतिः किं ते समागता ॥२५३॥
स बाणजर्जरोऽवोचत्कौरवान्पाण्डवान्प्रति। ददध्वं भव्यजीवानामभयं भव्यसत्तमाः ॥२५४॥
अन्योन्यं च कुरुध्वं भो मैत्र्यं मुक्त्वा च शत्रुताम्। अहो एवं गता घस्रा भवतां न च निश्चितम् ॥२५५॥
ये केऽत्र मृतिमापन्नास्ते गता गर्हितां गतिम्। इदानीं क्रियतां धर्मो दशलक्षणलक्षितः ॥२५६॥
एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तौ चारणौ चरणोज्ज्वलौ। गुणचुञ्चू चरन्तौ च सुतपोऽत्र नभोऽङ्गणात् ॥२५७॥
मुनीन्द्रौ हंसपरमहंसौ संशुद्धमानसौ। गाङ्गेयसंनिधिं गत्वा प्रोचतुः परमोदयौ ॥२५८॥
गाङ्गेय त्वं महावीरो वीराणामग्रणीः पुनः। त्वां विनान्यो महाधीरो विद्यते न महीतले ॥२५९॥

हृदय को भी वेध दिया ॥२४५-२४८॥

इसके साथ ही वह पावन वीर धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़े और अपने प्राणों को निकलते देख उन्होंने संन्यास ले लिया। इस प्रकार धर्म में लीन होकर उन्होंने परम धैर्य का सहारा लिया। उन्होंने अपने हृदय में सु-परीक्षित बारह भावनाओं को धारण किया ॥२४९-२५०॥

पितामह की यह हालत देखकर सब राजे युद्ध छोड़ कर उनके पास आ गये। पाण्डवों को उनकी दशा से बड़ा दुख हुआ। वे उनके चरणों में प्रणाम कर आँसू बहाते हुए बोले-हे गुणी, आपने जन्म भर वह ब्रह्मचर्य पाला है जो सब व्रतों में उत्तम है और जिसका पालना बड़ा कठोर है। इस व्रत के बराबर कठिन दूसरा कोई व्रत नहीं है। उस समय दुख से जर्जरित होकर युधिष्ठिर ने कहा कि हे सुव्रतिन्, हे उन्नत हृदय वीर, यह मौत हम लोगों को क्यों नहीं आई आपके इस दुख को हम नहीं सह सकते। तब बाणों से जर्जरित भीष्म पितामह ने कौरवों और पाण्डवों से कहा कि हे भव्यो, अन्त में मेरा आप लोगों से यही कहना है कि अब परस्पर की शत्रुता छोड़ कर आप लोग मैत्री कर लें और इन बेचारों को अभयदान दें। कहते दुख होता है कि ये नौ दिन यों ही चले गये, किसी के हाथ कुछ नहीं लगा। हाँ, इतना जरूर हुआ कि युद्ध में जो लोग मरे हैं वे विचारे निंद्य गति में गये होंगे। अस्तु, जो हो गया सो तो हो गया। अब आप लोग दस लक्षण धर्म की धारण करें ॥२५१-२५६॥

इसी समय आकाश-मार्ग से वहाँ दो चारण मुनीश्वर आ गये। उनके नाम हंस और परमहंस थे। वे शुद्ध मन वाले थे, गुणों के भण्डार थे, उत्तम-उत्तम तपों को तपने वाले थे और उनके चरण-कमल आकाश में चलने के कारण अतीव उज्ज्वल थे धूसरित न थे। वे महाभाग पितामह के पास जाकर बोले कि हे महा पुरुष, तुम बड़े वीर हो, वीरों के शिरोमणि हो। इस पृथ्वी पर तुम्हारे जैसा दूसरा कोई वीर और धीर नहीं है। यह सुनकर अगणित गुणों के पुंज और गंभीराशय पितामह उन

तन्निशम्य मुनीन्द्रौ तौ नत्वा प्रोवाच सद्गिरा। गाङ्गेयो गणनातीतगुणो गम्भीरमानसः ॥२६०॥
भगवन्भवकान्तारे भ्रमता परमो वृषः। मया लब्धोऽधुना नैव करवाण्यहमत्र किम् ॥२६१॥
शरच्छिन्नः प्रविष्टोऽहं शरणं तव संसृतौ। लप्स्ये फलं सुखादीनां त्वत्प्रसादान्महामुने ॥२६२॥
हंसोऽवोचत्सुगाङ्गेय नम सिद्धान्सनातनान्। आराधय समाराध्यमाराधनचतुष्टयम् ॥२६३॥
दर्शनाराधनां विद्धि तत्त्वश्रद्धानलक्षणाम्। आराध्यते सुसम्यक्त्वं यत्र निश्चयतश्च ताम् ॥२६४॥
भावनां यत्र विज्ञानं जिनोक्तानां सुनिश्चयात्। सा ज्ञानाराधना प्रोक्ता निश्चयेन चिदात्मनः ॥२६५॥
चर्यते चरणं यत्र निवृत्तिः पापकर्मणः। पुनः प्रवृत्तिश्चिद्रूपे चारित्राराधना मता ॥२६६॥
यत्तपस्तप्यते द्वेधा श्रीयते संयमो द्विधा। तपआराधना प्रोक्ता निश्चयव्यवहारगा ॥२६७॥
आराधनाविधिं प्रोच्य गतौ चारणसन्मुनी। दधावाराधनां धीमान्गाङ्गेयो गुणसंगतः ॥२६८॥
सल्लेखनां विधत्ते स्म चतुर्धाहारदेहयोः। दर्शने चरणे ज्ञाने दत्वा चित्तमनारतम् ॥२६९॥
क्षमाप्य सकलाञ्जीवान्क्षान्त्वा सत्क्षमया युतः। जपन्पञ्चनमस्कारान्स तत्याज तनुं तराम् ॥२७०॥
स पञ्चममहानाके सुरोऽभद्ब्रह्मनामनि। यत्र ब्रह्मोद्भवं सौख्यं भुञ्जते भविनः सदा ॥२७१॥
कौरवाः पाण्डवास्तत्र रुदन्ति स्म महाशुचा। जगतां शून्यतां नित्यं मन्यमाना महौजसः ॥२७२॥

दोनों मुनियों को प्रणाम कर अपनी मधुर वाणी के द्वारा बोले कि प्रभो, इस संसार-रूप वन में भटकते हुए मैंने अब तक यह परम धर्म नहीं पाया। अब बताइए कि मैं क्या करूँ? महामुने, मैं अब आपकी शरण हूँ। मुझे आशा है कि मैं आपके प्रसाद से संसार पार कर सकूंगा ॥२५७-२६२॥

यह सुन मुनिराज ने कहा कि हे भव्य, तुम सनातन सिद्धों को नमस्कार कर चार आराधनाओं का आराधन करो। तत्त्वार्थ-श्रद्धान को दर्शन-आराधना कहते हैं और इस में सम्यक्त्व की आराधना की जाती है। आत्मा के निश्चित ज्ञान को ज्ञान आराधना कहते हैं और इसमें जिनदेव की कही हुई भावनाओं के ज्ञान की आराधना होती है। चैतन्य-स्वरूप में प्रवृत्ति करने को चारित्र-आराधना कहते हैं और इसमें कर्मों की निवृत्ति और आत्मा में प्रवृत्ति की आराधना की जाती है और जो दो प्रकार का तप तपा जाता है, दो तरह का संयम लिया जाता है उसे तप-आराधना कहते हैं। इन सब आराधनाओं में निश्चय और व्यवहार का सम्बन्ध लगा हुआ है। इस प्रकार आराधनाओं की विधि बता कर वे महामुनि तो चले गये और इधर गुणी, बुद्धिमान् पितामह ने आराधनाओं को धारण आराधना शुरू किया ॥२६३-२६८॥

इसके बाद उन्होंने चार प्रकार आहार और शरीर से ममता छोड़ कर तथा दर्शन-ज्ञान-चरित्र में लीन हो सल्लेखना ग्रहण की और सब जीवों से क्षमा कराकर तथा सबको क्षमा करके पंच नमस्कार मंत्र को जपते-जपते उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। वह जाकर ब्रह्म नाम पाँचवें स्वर्ग में देव हुए, जहाँ कि भव्यजीव सदा आत्मा से उत्पन्न हुए सुखों को भोगते हैं ॥२६९-२७१॥

इसके बाद जगत् की शून्यता को नित्य मानते हुए तेजस्वी कौरव और पाण्डव शोक-सन्तत होकर खूब रोये एवं और लोगों ने भी शोक से वह रात बिताई। बाद सबेरा हुआ। सूरज का उदय

एवं प्राप्तां निशां निन्यु: शोकेन सकला नरा:। शोकं वर्तुमिवायासीत्तस्य प्रातर्दिवाकर: ॥२७३॥

इत्थं संसारचक्रे नरनिकरधरे यान्ति जीवा घनौघा:
यद्वद्यातीह लक्ष्मीस्तडिदिव चपला चञ्चलं जीवितव्यम्।
संध्यारागप्रभासं स्वजनसुतसुखादीनि भङ्गोपमानि
मत्वैवं शुद्धधर्मे विदधतु सुमतिं श्रद्दधाना भवन्त: ॥२७४॥

गाङ्गेयो ब्रह्मचारी शुभमतिसुगति: संगरे संगरं य:
कृत्वा धर्मस्य यातो वरसुरसदनं पञ्चमं प्रीणयन्स्वम्।
हित्वा पात्वा च पापं शुभनयसुमतिं धर्मत: सोऽपि जीयात्
धर्मात्मा धर्मपुत्रो वरनयधिषणाधिष्ठितो धर्मचेता: ॥२७५॥

इति श्रीपाण्डवपुराणे भारतनाम्नि भट्टारकश्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपाल-साहाय्यसापेक्षे जरासंधकृष्णसंगरवर्णनगाङ्गेयसंन्यासग्रहणपञ्चमस्वर्ग-गमनवर्णनं नाम एकोनविंशतितमं पर्व ॥१९॥

हुआ। ऐसा जान पड़ा कि मानों सूरज पितामह का शोक मनाने के लिए ही आया है ॥२७२-२७३॥

अनंत मनुष्यों को धारण करने वाले इस संसार-चक्र में जीव, मेघ-समूह की भाँति बिखर जाते हैं, लक्ष्मी बिजली की तरह चपल है, जीवन संध्या के राग की प्रभा के समान चंचल है और स्वजन-सुत-सुख आदि जल की कल्लोलों की भाँति विनश्वर हैं। इस प्रकार सब बातों को जान कर सच्चे श्रद्धानी लोगों को चाहिए कि वे शुद्ध-धर्म में बुद्धि लगावें ॥२७४॥

जो शुभमति महान् ब्रह्मचारी पितामह युद्ध में धर्म की प्रतिज्ञा कर और अपने आत्मा को शान्त रखकर पाँचवें ब्रह्मस्वर्ग को प्राप्त हुए उनकी जय हो और उन धर्मात्मा, धर्म के ज्ञाता, नय-कुशल युधिष्ठिर की भी जय हो जो धर्म के बल से शुभ नय-ज्ञान को प्राप्त हुए और जिन्होंने पाप से अपने आत्मा को सुरक्षित रखा ॥२७५॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में जरासन्ध और कृष्णराजाओं का युद्ध-वर्णन, गांगेय का संन्यास ग्रहण कर पाँचवे स्वर्ग-गमन वर्णन करने वाला उन्नीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१९॥

❑ ❑ ❑

विंशं पर्व

धर्मं धर्ममयं सर्वं कुर्वाणं धर्मशालिनम्। धर्मराजहरं धर्म्यं वन्दे सद्धर्मदेशकम् ॥१॥
अथ प्रातः समुत्थाय भटा भेजू रणाङ्गणम्। प्रलयानलसंक्षुभ्यत्सागरा इव निर्घृणाः ॥२॥
पादभारेण भञ्जन्तो भुजङ्गान्भुवि संस्थितान्। क्षोभयन्तः ककुब्नाथान्भटा योद्धुं समुद्यताः ॥३॥
पार्थस्तु प्रथयामास प्रधनं निधनोद्यतः। भटघोटकसंघट्टान्खण्डयंश्च मतङ्गजान् ॥४॥
एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तोऽभिमन्युः सुभटो महान्। विश्वसेनेन संयुद्धं सह कर्तुं समुद्ययौ ॥५॥
पातयामास विश्वस्य सारथिं पार्थनन्दनः। स्वहस्ते धन्वसंधानं कुर्वन्धुन्वनिपूत्करान् ॥६॥
शल्यपुत्रः समायासीच्छल्यीभूतश्च वैरिणाम्। अभिमन्युसमं योद्धुं वाहयन्स्वरथं रथी ॥७॥
तावन्योन्यं समालग्नौ छादयन्तौ परैः शरैः। अभिमन्युशरैर्ध्वस्तः शल्यपुत्रो मृतिं ततः ॥८॥
लक्ष्मणो लक्षणैर्युक्तो लक्ष्यीकृत्य सुपार्थजम्। छादयामास बाणौघैर्घनघातविधायिभिः ॥९॥
लक्ष्मणं स जघानाशु बाणैः कोदण्डनिर्गतैः। यमप्राघूर्णकं कृत्वाभिमन्युस्तं रणे स्थितः ॥१०॥
चतुर्दशसहस्राणि कुमाराणां सुचारिणाम्। अभिमन्युर्जघानैवमाशुगैरसुहारिभिः ॥११॥
रणकेलिं प्रकुर्वाणो गजानिव महाद्विषः। केशरीव हरन्भेजे सौभद्रो भद्रसंगतः ॥१२॥

उन धर्मनाथ प्रभु को नमस्कार है जो धर्म के उपदेशक हैं, धर्मयुक्त और धर्मशाली हैं, जो अन्य जीवों को भी धर्मात्मा बनाते हैं और धर्मराज (यम) को हरने वाले हैं। वे मुझे भी धर्म-बुद्धि दें ॥१॥

सबेरा हुआ। भट-गण उठें और निर्दय हो प्रलयकाल की वायु से क्षोभ को प्राप्त हुए सागर की भाँति क्षुब्ध होकर रणांगण में पहुँचे। वे पृथ्वी में रहने वाले साँपों को पद-दलित करते और दिशा-नाथों को क्षुब्ध करते युद्ध के लिए उद्यत हुए। उधर से पार्थ ने मृत्यु का आलिंगन करने को हाथ चढ़ाये हुए भटों, घोड़ों और मतवाले हाथियों को तितर-वितर करके उस युद्ध का और भी विस्तार कर दिया। इसी समय महान् सुभट अभिमन्यु युद्धस्थल में आया और विश्वसेन के साथ युद्ध करने को उद्यत हुआ एवं हाथ में धनुष लेकर शत्रुओं को कंपित करने वाले उस पार्थ-नन्दन ने थोड़ी देर में ही विश्वसेन के सारथी को धराशायी कर दिया ॥२-६॥

इतने में बैरियों के हृदय में शल्य-सा चुभने वाला और अपने रथ को अपने आप ही चलाता हुआ शल्य-पुत्र अभिमन्यु के साथ युद्ध करने के लिए आया। वे दोनों अपने-अपने बाणों को बरसा से परस्पर में एक दूसरे को पूरने लगे। आखिर अभिमन्यु के शरों के द्वारा शल्य-पुत्र ध्वस्त हो काल के गाल में चला गया। यह देख सुलक्षण लक्ष्मण ने लक्ष्य बाँधकर पार्थ-पुत्र को वज्र के जैसे तीव्र प्रहार करने वाले बाणों के द्वारा खूब पूर दिया। अभिमन्यु ने भी तब बाणों को चलाना शुरू किया और लक्ष्मण को यम का अतिथि बना दिया। उसने रण में स्थिर बने रह कर अपने प्राणाहारी बाणों के द्वारा चौदह हजार और-और कुमारों को भी मार गिराया। इस समय वह भद्र रण-क्रीड़ा करता हुआ और महान्-महान् शत्रुओं को पृथ्वी की गोद में लिटाता हुआ ऐसा शोभता था मानों हाथियों को तितर-बितर कर उनके मस्तकों को विदार रहा पराक्रमी सिंह ही है ॥७-१२॥

तदा दुर्योधनः क्रुद्धो मानसे म्लानितामितः। प्रेक्षते स्म महाशूरान्वचोभिर्भावितात्मनः ॥१३॥
विचित्राश्चञ्चलाश्चेलुर्गजवाजिरथस्थिताः। भ्रूभङ्गभीषणा भूपा भाषयन्तः सुभाषणम् ॥१४॥
द्रोणो विद्रावञ्शत्रून्सुलिङ्गैर्लिङ्गिताङ्गकः। कलिङ्गः कर्णभूपालोऽप्येवं चेलुर्नृपा रणे ॥१५॥
कलिङ्गकुम्भिनं तावच्चकार विगतासुकम्। सौभद्रः कर्णभूपस्य जहार गर्वसंततिम् ॥१६॥
द्रोणं स जर्जरीचक्रे जरयेवास्त्रमालया। यत्र यत्र रणं चक्रेऽभिमन्युस्तत्र संजयी ॥१७॥
न कोऽप्यभूत्तदा शूरोऽभिमन्युरणसंमुखः। जायते मत्तमातङ्गः किं सिंहाभिमुखः क्वचित् ॥१८॥
अभिमन्युशरेणाशु वाजिनो गजराजयः। स्यन्दनाः पत्तयस्तत्र न च्छिन्ना नाभवन्निति ॥१९॥
स्वसैन्यमक्षयं कुर्वन्कुमारोऽक्षयसंज्ञकः। दशबाणैर्जघानैनमभिमन्युं महाहवे ॥२०॥
मूर्च्छितश्छिन्नचेतस्कः स पपात महीतले। उन्मूर्छितः समुत्तस्थे पुनः पार्थस्य नन्दनः ॥२१॥
अश्वत्थामा तदा धाम दधदाप च सद्धनुः। विमुखः क्षणतस्तेन शरैश्चक्रेऽभिमन्युना ॥२२॥
कर्णोऽप्राक्षीद् गुरुं द्रोणं लक्ष्मणप्रमुखा रणे। कुमारा मरणं नीताः पार्थजेन सहस्त्रशः ॥२३॥
न हन्तुं कोऽपि शक्नोत्यभिमन्युं मन्युमानसम्। कदाचिन्म्रियते पार्थो नायं कालेऽपि संयुगे ॥२४॥

यह देख दुर्योधन को बड़ा क्रोध आया। उसका मन अत्यन्त क्षुब्ध हुआ। उसने मधुर मायाभरे शब्दों द्वारा उत्साह देते हुए अपने महान् शरों की ओर बड़ी आशा से देखा। उसके इस स्नेह से कृतज्ञ हो वीरगण विचित्र और चंचल हाथी, घोड़ों तथा रथों पर सवार हो-हो कर युद्ध-स्थल को चले। वे कठोर शब्दों का प्रयोग करते हुए चले जाते थे। उनके चेहरे भयंकर हो रहे थे। उनके साथ ही सुलक्षणों से लक्षित द्रोण भी शत्रु-दल को भयभीत करता हुआ चला। कलिंग और कर्ण भी युद्ध-स्थल में पहुँचे। दोनों ओर की सेना की मुठभेड़ हुई ॥१३-१५॥

अभिमन्यु ने थोड़ी ही देर में कलिंग के हाथी को मार गिराया और कर्ण के गर्व को खर्व कर दिया एवं उसने द्रोण को भी जरा की तरह अपने शस्त्र-प्रहार से बात ही बात में जर्जरित कर दिया। बात यह है कि अभिमन्यु ने जहाँ-जहाँ युद्ध किया वहाँ-वहाँ सब जगह ही उसने विजय पाई। उस समय ऐसा कोई वीर न था जो युद्ध में उसका सामना करता और यह सच है कि मत वाला होने पर भी हाथी सिंह का सामना नहीं कर सकता। उस समय रण-स्थल में घोड़े, हाथी, रथ पियादे वगैरह कोई भी ऐसे न बचे जो अभिमन्यु के बाण के लक्ष्य न हुए हों, उसके बाण द्वारा न वेधे गये हों ॥१६-१९॥

यह देख अपनी सेना की रक्षा करते हुए वीर अक्षयकुमार ने दस बाणों को छोड़ कर अभिमन्यु को घायल कर दिया। तब वह सुध-बुध रहित हो पृथ्वी पर गिर पड़ा। बाद थोड़ी देर में जब उसकी मूर्च्छा दूर हुई, तब वह फिर उठ खड़ा हुआ और धनुष लिये दौड़ कर आते हुए तेजस्वी अश्वत्थामा को उसने अपने बाणों की मार से एक क्षण में ही विमुख कर दिया। यह देख, कर्ण ने द्रोणाचार्य से पूछा कि गुरुवर्य, अभिमन्यु ने लक्ष्मण को आदि लेकर हजारों कुमारों को यमलोक पहुँचा दिया, परन्तु उसे कोई भी नहीं मार सका। तब बताइए कि वह भी इस काल जैसे कराल युद्ध में मरेगा या नहीं। सुन कर द्रोण ने कहा कि कर्ण, भला तुम्हीं कहो कि जिस रणशौन्डीर ने अकेले

श्रुत्वा द्रोणो बभाणेदं हन्यते यो न भूभुजा। एकेन रणशौण्डेन स केन वद हन्यते ॥२५॥
कृत्वा कलकलं सैन्यं संमेल्य मिलितान्नृपान्। हन्यतां हन्यतां चायं छिद्यतामस्य सद्धनुः ॥२६॥
इति द्रोणवचः श्रुत्वा कृत्वा कोलाहलं नृपाः। न्यायक्रमं विमुच्याशु तेन योद्धुं समुद्ययुः ॥२७॥
एकेन तेन ते सर्वे आहवे निर्जिताः क्षणात्। पुनरुद्यम्य ते सर्वे सोत्कण्ठा योद्धुमुद्यताः ॥२८॥
कुमारस्य रथाश्छिन्नः सपताकः परैर्नृपैः। लष्टिदण्डं समादाय कुमारस्तानचूरयत् ॥२९॥
स जयार्द्रकुमारस्तु कुमारं तं महाशरैः। अताडयत्तथा भूमौ स पपातातिदुःखितः ॥३०॥
स स्थिरः संस्थितो भूमौ तदा हाहारवोऽजनि। देवैः कृतो नृपैः प्रोक्तमन्यायोऽयं नृपैः कृतः ॥३१॥
कर्णेनोक्तं कुमार त्वं पयः पिब सुशीतलम्। सुमना अभिमन्युस्तु निर्मलं वचनं जगौ ॥३२॥
न पिबामि पयो नूनं वरिष्येऽनशनं नृप। करिष्यामि तनुत्यागं स्मृत्वाहं परमेष्ठिनः ॥३३॥
इत्युक्ते निर्जने नीतोऽभिमन्युर्मन्युवर्जितः। द्रोणादिभिः स्थितः सोऽपि चैतन्यं चिन्तयन्निजम् ॥३४॥
कषायकाययोः कृत्वा सल्लेखनां जिनान्स्मरन्। क्षान्त्वा सर्वजनांस्तूर्णं मुमोच मलिनां तनुम् ॥३५॥
स स्वर्गे संगतो देहं समीहापरिवर्जितः। विक्रियावधिसंयुक्तं दिव्यं वरगुणोत्करम् ॥३६॥

ही इतने बड़े राजाओं को पछाड़ दिया है उसे कौन मार सकता है? ॥२०-२५॥

इसके बाद रणनाद करते हुए द्रोण ने क्रोधित हो राजा लोगों से कहा कि मारो-मारो, इसे मार डालो और इस का धनुष छीन कर तोड़ डालो। देखो, वह भागने न पावे। द्रोण की वीर वाणी सुन कर राजा लोग जोश के साथ उठे और न्याय-अन्याय कुछ न गिन कर रणनाद करते हुए वे एक साथ उस पर छूट पड़े परन्तु उस बली ने अकेले ही उन सबसे युद्ध कर क्षणभर में ही उन्हें पराजित कर दिया। लेकिन थोड़ी ही देर में पुनः उद्यत हो वे सब बड़े जोश के साथ फिर युद्ध के लिए आ डटे और उन्होंने कुमार का पताका सहित रथ छिन्न-भिन्न कर डाला। यह देख अभिमन्यु ने वज्रदण्ड हाथ में लेकर बात की बात में उन सबको चूर डाला ॥२६-२९॥

इसी समय जयार्द्र ने अभिमन्यु को अपने महा शरों के द्वारा बेध दिया परन्तु तब भी वह धीरज के साथ उसके सामने स्थिर हो डटा रहा। अन्त में वह पीड़ित हो पृथ्वी पर गिर पड़ा। इस समय देवों के हाहाकार शब्द से पृथ्वी भर गई। न्यायी राजाओं ने कहा कि अभिमन्यु के साथ यह बड़ा भारी अन्याय हुआ है जो एक साथ इतने वीरगण एक बालक पर टूट पड़े। उसे पीड़ित देख कर्ण ने कहा कि कुमार, पानी पिओ। इस से तुम्हें कुछ शान्ति होगी। सुमना अभिमन्यु ने उत्तर में निर्मल वचनों द्वारा कहा कि नृप, मैं अब जल न पीकर उपवास करूँगा और परमेष्ठी का स्मरण करते हुए प्राणों का त्याग करूँगा। यह सुन कर द्रोण आदि क्षमाशील अभिमन्यु को निर्जन स्थान में ले गये। वह वहाँ आत्मस्वरूप का चिंतन करता हुआ स्थिर रहा और काय तथा कषाय को क्षीण करके जिनदेव का स्मरण करते हुए तथा सबको क्षमा कर और सब से क्षमा कराते हुए उस वीरात्मा ने इस अशुचि शरीर का त्याग किया और निदान-रहित हो स्वर्ग में विक्रिया-युक्त दिव्य गुणों के भण्डार दिव्य शरीर को पाया ॥३०-३६॥

ज्ञात्वाथ कौरवा भूपा दुर्योधनपुरस्सराः। कुमारमरणं हृष्टाः प्राप्ता वादित्रनिस्वनान् ॥३७॥
निशीथिन्यथ निःशेषं रणं वारयितुं द्रुतम्। आजगाम प्रकुर्वाणोत्सवं च कोरवे बले ॥३८॥
तदा जानार्दने सैन्ये रुरुदुर्निखिला नृपाः। विलापमुखराश्चाश्रुधारासंधौतसन्मुखाः ॥३९॥
तस्य मृत्युं निशम्याशु मुमूर्च्छ धर्मनन्दनः। पपात पृथिवीपीठे कुलशैल इवोन्नतः ॥४०॥
कथं कथमपि प्राप्य चेतनां धर्मनन्दनः। रुरोद करुणाक्रान्तस्वरं संभाषयन्निति ॥४१॥
हा पार्थपुत्र कोन्योऽत्र त्वत्समः संगरोद्धुरः। एकोऽनेकसहस्राणि हन्तुं शक्तो नरेशिनाम् ॥४२॥
स द्वादशसहस्राणि जालंधरमहेशिनाम्। हत्वा हन्त जयं प्राप्तो हतस्त्वं केन पापिना ॥४३॥
तावत्पार्थः समायासीद्धर्मपुत्रसमीपताम्। प्रगुणः शोकसंतप्तः श्रुत्वाथ करुणस्वरम् ॥४४॥
पार्थः प्रोवाच भो भ्रातः समायाताः समुन्नताः। कुमाराः किं न पश्यामि स्वसुतं सुतरां शुभम् ॥४५॥
किं वैरिणा हतः पुत्रश्चक्रव्यूहेऽथ किं मृतः। तदा युधिष्ठिरोऽवोचच्छृणु शक्रसुत ध्रुवम् ॥४६॥
क्षात्रं मुक्त्वा नरौघेण हतस्ते बालनन्दनः। तन्निशम्य मुमूर्च्छाशु पार्थः पृथ्वीमुपागतः ॥४७॥
पुनरुन्मूर्च्छितः पार्थो रुरोदेति शुचं सरन्। त्वया विनात्र भो पुत्र धरां धर्तुं च कः क्षमः ॥४८॥
राज्यं भर्ता कुलं त्राता को हनिष्यति वैरिणः। तावदायान्नृपस्तत्र मुकुन्दो मुरमर्दनः ॥४९॥

उधर दुर्योधन आदि कौरवों ने जब अभिमन्यु के मरण का समाचार सुना तब वे बड़े हर्षित हुए और उन्होंने खूब खुशी मनाई। इसी समय सूर्य अस्ताचल पर पहुँचा। रात हुई। जान पड़ा कि मानों वह युद्ध को वारण करने और कौरवों की सेना को नया उत्साह देने के लिए ही आई है ॥३७-३८॥

अभिमन्यु की मृत्यु से कृष्ण की सेना में बड़ा शोक फैल गया। विलाप करते और आँसुओं की धारा बहाते राजा-गण बड़े दुखी हुए। अभिमन्यु की मृत्यु से युधिष्ठिर मूर्च्छित हो उन्नत कुलाचल की भाँति पृथ्वी गिर पर पड़े। इसके बाद जब वह होश में आये तब दुख-पूर्ण स्वर से यह कहते हुए रोने लगे कि हा पुत्र, तुम्हारे सिवाय और कौन ऐसा संग्राम करने वाला है जो अकेला ही हजारों शत्रुओं को इस वीरता के साथ मौत का घर दिखा सके। तुमने जालंधर राजा की बारह हजार सेना को नष्ट करके विजय पाई थी। हाय! न जाने किस पापी ने तुम जैसे शूर को भी धराशायी कर दिया ॥३९-४३॥

युधिष्ठिर को इस प्रकार विलाप करते देख शोक से सन्तत हुआ अर्जुन आया और बोला कि भाई और-और सब कुमार तो युद्धभूमि से आ गये, परन्तु अभिमन्यु अब तक नहीं देख पड़ा, यह क्यों? क्या चक्रव्यूह में उसे शत्रुओं ने मार डाला है या वह स्वयं मर गया है? युधिष्ठिर ने बड़े दुख के साथ कहा कि अर्जुन, वह हाल सुन कर ही तुम क्या करोगे? कैसे धैर्य धरोगे? कहते हुए छाती फटती है कि क्षत्रिय धर्म को छोड़कर नीच राजाओं ने एक साथ मिल कर अन्याय से अभिमन्यु को मार डाला है। सुनते ही पार्थ को मूर्च्छा आ गई और वह पृथ्वी पर धड़ाम से गिर पड़ा। इसके बाद उसे जब चेतना हुई तब वह भी शोकपूर्ण हो बड़ा विलाप करने लगा कि पुत्र, तुम्हारे बिना पृथ्वी का पालन करने के लिए कौन समर्थ है। तुम्हारे बिना कौन तो राज्य भोगेगा, कौन कुल की रक्षा करेगा तथा कौन बैरियों को जीतेगा ॥४४-४९॥

नो पार्थ केवलं तेऽद्य सुतो यातो ममापि च। विधवत्वं परं सैन्यं नीतं तेन गतेन वै ॥५०॥
ममातिवल्लभो भव्यो दुर्लभत्वं गतोऽधुना। शोकेनालं नरेन्द्रात्र शत्रुशर्मविधायिना ॥५१॥
विद्यतेऽवसरो नात्र शोकस्य शृणु वैरिणः। संयुगे जहि धीरत्वं धर धर्मविशारद ॥५२॥
जहि पुत्रस्य हन्तारं तत्फलं च प्रदर्शय। अभिमन्युमृतिं श्रुत्वा सुभद्रा भूतलं गता ॥५३॥
प्राप्ता मूर्च्छां समुच्छिन्नवल्लीव गतचेतना। उन्मूर्च्छिता रुरोदाशु हा पुत्रेति प्रजल्पिनी ॥५४॥
सुसहायपरित्यक्तः सुतो मेऽद्य मृतिं गतः। कथं सुप्तः सुत त्वं हा दुस्तरे शरसंस्तरे ॥५५॥
हा युधिष्ठिर भूमीश त्वया किं रक्षितो न सः। कुलत्रातात्र भवतां भविता भुवने सुतः ॥५६॥
हा भीम भूपते भव्य त्वया किं स न पालितः। हा धनंजय धन्यात्मन्युधि धीर न रक्षितः ॥५७॥
हा जनार्दन मे भ्रातर्जन्ये जनभयंकरे। न रक्षितः सुतः किं भो मम प्राणसमो महान् ॥५८॥
केनापि न धृतो बालो बलवान्विपुलो गुणैः। सर्वस्मिन्नगरे लोका दुःखितास्तद्वियोगतः ॥५९॥
बान्धवो मे धराधीशो माधवो विधुरातिगः। ज्येष्ठो युधिष्ठिरो ज्येष्ठः श्रेष्ठो भीमो ममोत्तमः ॥६०॥

इसी समय वहाँ कृष्ण आ गये और बोले कि पार्थ, आज केवल तुम्हारा पुत्र ही नहीं गया, किन्तु वह मेरी सेना को एक विधवा स्त्री की भाँति कर गया है। वह मुझे बड़ा प्यारा था। आज वह मुझे दुर्लभ हो गया है। अतः भाई, इस वक्त शोक न करो क्योंकि अभी शोक करने का मौका नहीं है। यदि इस वक्त तुम शोक करोगे तो इससे शत्रु बड़े खुश होंगे और उनका साहस बहुत बढ़ जायेगा। इस लिए हे धर्म-विशारद, तुम धीरज धरो और युद्ध में शत्रुओं का ध्वंस करो। बात यह है कि अभिमन्यु के मारने वाले को उसके अपराध का फल चखा देना इस समय तुम्हारा पहला कर्तव्य है ॥५०-५३॥

उधर अभिमन्यु की मृत्यु सुन कर सुभद्रा भी मूर्च्छित हो ऐसे गिरी जैसे जड़ से उखाड़ दी गई बेल चेतना रहित हो गिर पड़ती है। इसके बाद जब वह कुछ होश में आई तब हा हा पुत्र कहती हुई विलाप करने लगी। हा पुत्र, तुम सहाय के बिना मृत्यु के ग्रास बन गये। यदि कोई तुम्हारी सहाय पर होता तो तुम्हारी ऐसी हालत कभी न होती। हा पुत्र, तुम इस दुस्तर शरों के बिछौने पर कैसे सो गये? क्या किसी ने तुम्हारी रक्षा नहीं की? ॥५४-५५॥

हा प्रभो, युधिष्ठिर! आपने भी मेरे पुत्र की रक्षा नहीं की। अब आपके महल में ऐसा कुलदीपक पुत्र फिर कौन अवतार लेगा। हा भीम, आपने अभिमन्यु को क्यों नहीं बचाया। हे प्राणप्यारे! धीर धनंजय, तुम्हें तो अपने प्यारे पुत्र की रक्षा करनी थी। हा प्यारे भाई कृष्ण, इस महान् भयंकर युद्ध में आपने भी प्राणों से अधिक प्यारे मेरे पुत्र की परवाह न की। हा, गुणों के भण्डार बली पुत्र की किसी ने भी रक्षा न की। देखो, आज अभिमन्यु के वियोग से सारे नगर के लोग दुखी हो रहे हैं ॥५६-५९॥

हाय! मेरे कृष्ण के जैसा सुखी, पृथ्वी-पालक भाई है, युधिष्ठिर, भीम जैसे उत्तम पुरुष जेठ हैं

पतिः पार्थस्तु भूपीठे पाता पावनमानसः। तथापि क्रन्दनं प्राप्ता दुःखिताहं विमर्दिता ॥६१॥
तदा दीर्घं समुच्छ्वस्य पार्थः प्रोवाच भो प्रिये। शृणु मे वचनं पथ्यं तथ्यं सर्वमतिप्रदम् ॥६२॥
संजयार्द्रकुमारस्य मूर्धानं नो लुनामि चेत्। प्रविशामि तदा वह्नौ न सहे सुतदुर्मृतिम् ॥६३॥
रुदित्वालं गृहीत्वा त्वं जलं क्षालय चाननम्। हरिर्बभाण भगिनि शोकं संहर सत्वरं ॥६४॥
संसारश्चञ्चलश्चित्रं चञ्चूर्यन्ते जना भृशम्। सुखैर्दुःखैः सदा क्षिप्ता भ्रमन्तो यत्र दुःखिताः ॥६५॥
संसारेऽत्र गताः पूर्वं पुरुषाः पावनाः परे। इतस्ततः पतन्तश्च समर्थाः स्वं न रक्षितुम् ॥६६॥
अरहट्टघटीयन्त्रसदृशे संसरञ्जनः। संसारे न स्थिरः कोऽपि भवितव्यतया वृतः ॥६७॥
इति संबोधिता बुद्‌ध्या माधवेन स्वसा निजा। तावत्केनापि संप्रोक्तं जयार्द्रस्य हितार्थिना ॥६८॥
पार्थेन विहिता भद्र प्रतिज्ञा मरणकृते। तव त्वं यासि शक्रस्य शरणं तर्हि न स्थितिः ॥६९॥

तथा पावनमना और पृथ्वी की रक्षा करने वाले वीर अर्जुन स्वामी हैं फिर भी मुझे आज रोना पड़ा और मैं इस तरह निराधार हो गई। इतने बड़े-बड़े वीरों के रहते हुए भी मुझे पुत्र-वियोग का विशाल और अतिशय गहरा समुद्र तैरना पड़ा ॥६०-६१॥

इस समय दीर्घ निस्साँसें खींचते हुए पार्थ ने सुभद्रा से कहा कि प्रिये, सुनो-मेरे पुत्र का वध करके जिस दुष्ट ने मेरी यह दुर्दशा की है मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि उस जयार्द्र का सिर यदि मैं धड़ से जुदा न कर दूँगा तो अग्नि-प्रवेश करूँगा क्योंकि मुझसे अपने प्रिय पुत्र की यह दुर्गति सही नहीं जाती है। प्यारी, अब तुम न रोओ किन्तु धीरज की शरण लो और पानी लेकर मुँह धो डालो। इसके बाद कृष्ण ने धैर्य देते हुए सुभद्रा से कहा कि बहिन, तुम शोक मत करो, शोक करने से अब कुछ हाथ लगने का नहीं क्योंकि जो कुछ होना था वह तो हो चुका। अब उसके लिए शोक करने से लाभ ही क्या है? और देखो, यह संसार चंचल है, विचित्र है तथा इसका यह हमेशा का नियम है कि इस में जीवों को कभी सुख मिलता है तो कभी दुख भी भोगना पड़ता है। इसमें सदा सुखी कोई नहीं रहते और न कोई सदा स्थिर ही रहते हैं किन्तु इसी सुख-दुख-रूप हालत में विलीन हो जाया करते हैं। बात यह है कि संसार में जीव हमेशा ही जन्म-मरण के चक्कर लगाया करते हैं और दुख भोगते हैं। बहिन, इस संसार में पहले भी तो अपने पूर्व-पुरुष स्वयं अपनी ही रक्षा न कर सकने के कारण काल का शिकार बन गये हैं, यह क्या तुम नहीं जानती और अपनी ही नहीं किन्तु सारे संसार की ही यही हालत है। कारण कि संसार रहट की घड़ियों के समान उलट पलट होते रहने वाला है और यही कारण है कि यहाँ कोई भी थिर नहीं है, सभी अथिर दीखते हैं-सभी कर्मों के चक्कर में पड़े हुए हैं। कर्म जैसा उन्हें नचाते हैं वैसे ही वे नाचते हैं। कृष्ण ने इस प्रकार अपनी बहिन को बहुत कुछ समझाया और उसे धीरज दिया ॥६२-६७॥

उधर जयार्द्र के किसी हितैषी ने उसे जाकर यह समाचार दिया कि भद्र, पार्थ ने आपको मार डालने का दृढ़ संकल्प किया है। इसलिए आप उसकी शरण में जाइए, नहीं तो परिणाम बहुत ही बुरा होगा-आप अपनी स्थिति कायम न रख सकेंगे। आश्चर्य है कि आप मृत्यु के आँखों के आगे

निश्चिन्तः किं स्थितस्त्वं हि मरणे समुपस्थिते। निशम्येति चिरं चित्ते जयार्द्रोऽचिन्तयत्तराम् ॥७०॥
वैवस्वतः इव क्रुद्धोऽवश्यं वृद्धश्रवःसुतः। लविष्यति निजं शीर्षं प्रभाते पटुमानसः ॥७१॥
गत्वा दुर्योधनाभ्यर्णं जयार्द्रो वचनं जगौ। भीतोऽहं विपिनं गत्वा ग्रहीष्यामि तपोऽनघम् ॥७२॥
यत्रार्जुनभयं नैव श्रोष्यामि श्रवसोः सदा। यः क्रुद्धो धनुषं धृत्वा युद्धे तिष्ठेत्कदाचन ॥७३॥
तदा सुरासुरा नैव स्थातुं तत्संमुखं क्षमाः। द्रोणः श्रुत्वा बभाणेति सुमते शृणु मद्वचः ॥७४॥
न कोऽप्यस्ति जगत्यां हि नरोऽहो अजरामरः। शोभते क्षत्रियाणां नाभ्यागमाद् भञ्जनं भुवि ॥७५॥
कृतशक्तेस्तु नुः शीर्षं याति चेद्यातु किं भयम्। जयतो जयलक्ष्मीश्च जनानां जायते लघु ॥७६॥
अद्यास्तमनवेलायां सव्यसाची मरिष्यति। हनिष्यति नरस्त्वां कस्ततो भव सुनिश्चलः ॥७७॥
निशम्येति स्थितः स्थैर्याज्जयार्द्रो जयवाञ्छया। रजन्या निर्गमे जाते धनंजयश्चरेण हि ॥७८॥
कश्चित्पृष्टः कथं लक्ष्यो जयार्द्रस्य रथो रणे। सोऽवोचत्पृथुभूपालैर्व्यूहो हि विहितो महान् ॥७९॥
विषमे यत्र वै वेष्टुं कोऽपि शक्नोति नो सुरः। तं निशम्य नरः प्राह यदि रक्षन्ति तं सुराः ॥८०॥

घूमते रहते भी बेफिक्र बैठे है। यह सुनकर जयार्द्र चिन्ताओं से घिर गया और बहुत देर तक सोच विचार करता रहा। यह सोचकर उसका हृदय हिल उठा कि प्रभात होते ही यम की भाँति क्रोधित हो वीर अर्जुन मेरे मस्तक को धड़ से जुदा कर देगा। कुछ स्थिर न कर सकने के कारण वह दुर्योधन के पास गया और उससे कहने लगा कि मैं बड़ा भयभीत हो रहा हूँ। मुझ पर बड़ा संकट आने वाला है, अतः अब तो वन में जाकर निर्दोष तप धारण करूँगा, जहाँ कि फिर अर्जुन का भय कभी कानों तक में भी सुनाई नहीं पड़ेगा। धनंजय ऐसा बली है कि जब वह धनुष-बाण लेकर युद्ध में रहता है तब सुर-असुर कोई भी उसका सामना करने के लिए समर्थ नहीं होते ॥६८-७४॥

यह सुन द्रोण ने कहा कि सुमति, मेरे वचन सुनो। देखो, इस संसार में कोई भी पुरुष अजर अमर नहीं हैं। एक दिन सभी को जरा के मुँह में होकर काल के गाल में जाना है। तब फिर क्षत्रियों का युद्ध-स्थल को पीठ दिखाना संसार में शोभा नहीं देता। अतः यदि शक्तिशाली पुरुष का मस्तक चला जाये तो भले ही चला जाये। इसमें भय ही काहे का है और यदि जीत हो गई तो थोड़ी ही देर में उन वीरों के हाथ में जय-लक्ष्मी आ जाती है। अतएव मरने से तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिए और एक बात यह भी है कि आज सूर्यास्त के समय में ही अर्जुन यमलोक को प्रयाण कर जायेगा क्योंकि उसकी प्रतिज्ञा ही ऐसी है। फिर बताओ तुम्हें मारेगा ही कौन? तुम निश्चिन्त होकर रहो, डरो मत। यह सुनकर जयार्द्र जय की वाञ्छा से थिर हो गया और उसने सारी चिन्ताएँ छोड़ दीं ॥७५-७८॥

रात बीत चुकी। सबेरा हुआ। धनंजय का जासूस युद्ध की खबर लाने को रवाना हुआ। उसे एक आदमी मिला। उससे उसने पूछा कि रण में जयार्द्र का रथ कैसे जाना जायेगा-उसकी विशेष पहचान क्या है। उस आदमी ने उत्तर में कहा कि कौरव राजाओं ने बड़ा विषम चक्रव्यूह रचा है। उसके भीतर उन्होंने जयार्द्र को रखा है, अतः वह दिखाई तक नहीं पड़ता, उसके पहचानने की तो

तथापि मारयिष्यामि जयार्द्रं जयवाञ्छया। इत्युक्त्वा स्थण्डिले तस्थौ कृत्वा दर्भासनं महत् ॥८१॥
स्थितस्तत्र स धैर्येण दध्यौ शासनदेवताम्। आराधितो मया धर्मो जिनदेवः सुसेवितः ॥८२॥
गुरुश्च यदि प्राकट्यं भज शासनदेवते। इति ध्यायञ्जिनं चित्ते स्थितोऽसौ स्थिरमानसः ॥८३॥
समायासीत्तदा पार्थं परशासनदेवता। जजल्पेति हरिं पार्थं सा सुरी सुखकारिणी ॥८४॥
नरनारायणौ यत्र श्रीनेमिश्च महामनाः। तत्राहं प्रेष्यकारित्वं भजामि भवतामिह ॥८५॥
युवां च यच्छतां तूर्णं ममादेशं मनोगतम्। अवोचतां तदा तौ तां श्रेष्ठं वैरिवधोद्भवम् ॥८६॥
तच्छ्रुत्वाह सुरी शीघ्रमागच्छतं मया समम्। युवां सेत्स्यन्ति कार्याणि भवतोर्विपुलानि च ॥८७॥
तया सत्रं जगामाशु पार्थस्तेन सुमानसः। यत्र सौख्यांकरी रम्या कुबेरस्नानवापिका ॥८८॥
हेमपद्मसमाकीर्णा हंससारससद्रवा। मणिसोपानसंरुद्धा चलत्कल्लोलमालिका ॥८९॥
देवी बभाण पार्थेशमेतस्य विपुले जले। वसतः फणिनौ भीमौ फणाफूत्कारकारिणौ ॥९०॥
भित्वा भयं नरेन्द्राद्य वापिकां प्रविश त्वरा। गृहाण नागयुगलं संशल्यमिव विद्विषः ॥९१॥
निशम्य निपुणः पार्थः प्रविश्य वरवापिकाम्। जग्राह भुजगद्वन्द्वं सर्वद्वन्द्वनिवारकम् ॥९२॥

वात ही जुदी है। बात यह है कि वह इतना सुरक्षित है कि उसे मनुष्य की तो बात ही क्या है देवता भी नहीं देख सकते। यह समाचार सुनकर अर्जुन ने कहा कि जयार्द्र की चाहे देव ही क्यों न रक्षा करें परन्तु मैं उसे आज बिना मारे छोड़ने का नहीं। यह कहकर वह एक यक्ष के चबूतरे पर कुशासन डाल कर स्थिरता से बैठ गया और धीरज के साथ शासन-देवता की आराधना करने लगा। वह थिर चित्त मन ही मन शासन देवताओं से सम्बोधन करके बोला कि यदि मैंने जिनदेव, जिनधर्म और गुरु की सच्चे दिल से आराधना की है तो हे शासनदेवता! तुम प्रकट होकर मेरी सहाय करो। यह जिनदेव का ध्यान कर ही रहा था कि उसी समय वहाँ शासन देवी आई और वह कृष्ण तथा पार्थ से बोली कि प्रभो, कृष्ण, पार्थ और-महामना नेमिप्रभु जैसे महात्मा जहाँ कहीं भी होंगे मैं सदा उनकी सेवा करूँगी ॥७९-८५॥

आप मुझे जो भी चाहे आज्ञा कीजिए। यह सुन कर उन्होंने उससे वैरी के सम्बन्ध का सारा हाल कहा। जिसे सुन कर शासनदेवी बोली कि आप शीघ्र मेरे साथ चलिए। आपके सब कार्य सिद्ध होंगे। देवी के कहने पर पार्थ और कृष्ण उसके साथ गये। वे कुबेर के स्नान की बावड़ी पर पहुँचे। बावड़ी सुख की खान थी, सुंदर थी, सुवर्ण जैसे कमलों से पूर्ण थी और हंस-सारस आदि की क्रीड़ा का स्थान थी। मणियों की उसकी सीढ़ियाँ थीं और जल की कल्लोलों से वह व्याप्त थी ॥८६-८९॥

वहाँ पहुँचकर देवी ने पार्थ से कहा के पार्थ, इस बावड़ी के गहरे जल में विशाल फण वाले भयंकर दो साँप रहते हैं। उनका तुम बिल्कुल भय न कर बावड़ी में प्रवेश कर उन्हें पकड़ लो। वे दोनों नाग तुम्हारे शत्रु को शल्य की तरह चुभेंगे और उनके लिए काल का काम देगें। यह सुन निपुण पार्थ उसी दम बावड़ी में घुस गया और उसने विघ्नों को हरने वाले उस नाग-युगल को पकड़ लिया ॥९०-९२॥

एको यातु शरत्वं ते द्वितीयस्तु शरासनं। नरनारायणौ तुष्टौ तच्छ्रुत्वा सशरासनौ ॥९३॥
छित्वा जयार्द्रमूर्धानं तत्तातस्तपसि स्थितः। वने प्रविपुले ध्यानी विद्यायाः साधनेच्छया ॥९४॥
तदञ्जलौ क्षिप क्षिप्रं तस्मिन्क्षिप्ते स पञ्चताम्। यास्यत्येव भवच्छत्रुरन्योपायं च मा कृथाः ॥९५॥
तन्निशम्य नरस्तुष्टो लात्वा धन्वशरौ परौ। आयातो विष्णुना सत्रं सैन्ये लोकसुखावहः ॥९६॥
उज्जगामार्यमा तावज्जनान्दर्शयितुं रणम्। उत्थिताः सुभटा योद्धुं सबला बलयोर्द्वयोः ॥९७॥
जयार्द्रं धीरयन्द्रोणोऽभाणीद्वत्स सुस्वच्छताम्। व्रज तूष्णीं भजंस्तिष्ठ करिष्ये तव रक्षणम् ॥९८॥
चतुर्दशसहस्राणां गजानामन्तरे त्वरा। द्रोणेन स्थापयित्वा स रक्षितो वररक्षणैः ॥९९॥
तुरङ्गाणां च लक्षेण संवेष्ट्याऽस्थापयत्स तम्। रथैः षष्टिसहस्रैश्च ततो बाह्ये व्यवेष्टयत् ॥१००॥
लक्षैर्विंशतिसंख्यैश्च पदिकैस्तस्य रक्षणम्। विधायोवाच सद्रोणः समुद्र इव धीरधीः ॥१०१॥
जयार्द्ररक्षणं यूयं कुरुध्वं भो महानृपाः। अहं रणमुखे क्षिप्रं क्षेपिष्यामि विपक्षकान् ॥१०२॥
तदा युधिष्ठिरोऽवोचद्धरिं हरिमिवोद्धतम्। किं कार्यं च करिष्यामो वयं नष्टधियः स्थिताः ॥१०३॥

यह देख देवी ने उनसे कहा कि इन दोनों नागों में से एक तो शर का काम देगा और दूसरा धनुष का। यह सुनकर धनुषधारी अर्जुन और कृष्ण को बड़ा संतोष हुआ। इसके बाद देवी ने पार्थ से कहा कि पार्थ, इनके द्वारा वैरी को जीत, जयार्द्र के मस्तक को काट कर प्रसन्न होओ परन्तु सुनो जयार्द्र का पिता वन में विद्या के साधने की इच्छा से तप कर रहा है। अतएव जयार्द्र को मारकर ही तुम न रह जाना किन्तु जयार्द्र के मस्तक को काटकर तुम उसके पिता के पास वन में जाना और उसके हाथों में वह सिर रख देना। तुम ज्यों ही उसके हाथों में जयार्द्र का मस्तक रखोगे त्यों ही वह भी काल-कवलित हो जायेगा और इस तरह तुम शत्रु-रहित हो जाओगे। बस, शत्रु के सम्बन्ध में इसके सिवा और कोई उपाय करने की जरूरत नहीं है, यही उपाय बस है। देवों के इन वचनों से पार्थ को बहुत सन्तोष हुआ और वह धनुष-बाण लेकर कृष्ण के साथ-साथ अपनी सेना में चला आया ॥९३-९६॥

सबेरा हुआ। मानों लोगों को युद्ध का दृश्य दिखाने के लिए ही सूरज निकला है। उभय पक्ष के सबल योद्धा युद्ध के लिए उठे। इस समय जयार्द्र को धीरज देकर द्रोण ने कहा कि वत्स, चिन्ता को छोड़ो, अपने दिल को स्वच्छ रक्खो और आनंद से रहो। मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। इसके बाद द्रोणाचार्य ने जयार्द्र की रक्षा के लिए चौदह हजार हाथियों के घेरे के बीच में उसे रक्खा और उन हाथियों के चारों ओर तीन घेरे और डाले। जिनमें पहला घेरा लाख घोड़ों का था, दूसरा साठ हजार रथों का और तीसरा बीस लाख पयादों का था। इस तरह से जयार्द्र की रक्षा का ठीक-ठीक प्रबन्ध कर चुकने पर समुद्र की भाँति धीर-बुद्धि द्रोण ने अपने पक्ष के राजा लोगों से कहा कि आप लोग तो जयार्द्र की रक्षा करें और मैं उधर रण में शत्रुओं का नाश करने के लिए जाता हूँ। मैं निश्चय से उनका ध्वंस करूँगा ॥९७-१०२॥

इसी समय सिंह की भाँति पराक्रमी कृष्ण से युधिष्ठिर ने कहा कि हम लोग बिल्कुल ही कर्तव्य-हीन हैं। इस प्रकार बैठे-बैठे हम कर क्या सकते हैं? जान पड़ता है हमारे वश की वात नहीं

चिरं त्वं संस्थितोऽटव्यां वृथा पार्थ प्रतिज्ञया। जल्पाको जल्पति स्वैरं निर्वाहो भुवि दुर्लभः ॥१०४॥
श्रुत्वेति केशवोऽवोचच्छङ्कां मा कुरु पाण्डव। सेत्स्यत्यद्याखिलं कार्यं भवतां मङ्गलैःसह ॥१०५॥
भोक्ष्यसे त्वं परं देशमेककः कुरुजाङ्गलम्। तत्क्षणे प्रणतः पार्थोऽवोचत्तं धर्मनन्दनम् ॥१०६॥
आदेशं देहि मे दोष्णोर्दर्शयामि बलं तव। तदादिष्टो विशिष्टात्मा धर्मजेन धनंजयः ॥१०७॥
रथारूढश्चचालामा रथस्थेन स विष्णुना। भयंकराणि तूर्याणि दध्वनुर्युद्धसंगमे ॥१०८॥
गजाः सञ्जाः सुहेषाढ्याः हयाः सुभटकोटयः। समाट रथसंदोहाः कुर्वन्तः सत्कलारवम् ॥१०९॥
छिन्दन्तो मस्तकान्वैरिव्रजानां रुधिरारुणाम्। कुर्वन्तस्तु धरां धीरा योयुध्यन्ते स्म सद्युधि ॥११०॥
पातितैस्तु रथैर्भग्नैः पन्थाः पार्थेन सव्यथैः। गर्जद्भिस्तु गजैश्छिन्नहस्तैः संरुरुधेऽयनम् ॥१११॥
कबन्धानि च नृत्यन्ति तच्छीर्षै रञ्जिता धरा। अन्त्रैः संवेष्टिता मर्त्यास्तदाभूवन्महारणे ॥११२॥
भटासृजां प्रवाहेन तरन्तो मानवास्तदा। भेजुः स्थितिं न कुत्रापि स्वगाधजलधाविव ॥११३॥
तत्क्षणे भज्यमानं स्वं द्रोणो वीक्ष्य महाबलम्। ददानो धीरणां सर्वान्प्रोवाच चतुरं वचः ॥११४॥
मा भज्यन्तां भटा भीता लज्यते येन स्वं बलम्। यत्राहं भवतां भीतिः कुतस्त्या भवत स्थिराः ॥११५॥

है। यही कारण है कि पार्थ की प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए इतने समय तक वन में रहना भी व्यर्थ ही हुआ। सचमुच हम लोग अकिंचित्कर ही हैं। लोग हर एक बात आसानी से कह तो देते हैं परन्तु फिर उसका निर्वाह करना उन्हें भारी दुर्लभ पड़ जाता है ॥१०३-१०४॥

यह सुन कर केशव ने कहा कि महाराज, आप कोई शंका न करें। आपके सब कार्य निर्विघ्न सिद्ध होंगे और आप ही कुरुजांगल देश का राज्य करोगे। इसी समय पार्थ ने प्रणाम कर युधिष्ठिर से कहा कि देव, आज्ञा कीजिए जो मैं आपको अपनी भुजाओं का पराक्रम दिखाऊँ। यह सुन महामना युधिष्ठिर ने धनंजय को बड़ी प्रसन्नता से युद्ध-प्रयाण की आज्ञा दी। युधिष्ठिर की आज्ञा पाते ही अर्जुन रथ पर सवार होकर कृष्ण के साथ-साथ चला। युद्ध के सूचक भयंकर बाजे बजे ॥१०५-१०८॥

रण नाद करते हुए सैनिक, चिंघाड़ते हुए हाथी, हींसते हुए घोड़े, विजय के गीत गाते हुए करोड़ों पयादे और रथ-समूह चले। युद्ध-स्थल में पहुँच कर वे धीर सुभट वैरियों के मस्तकों को छेदते हुए तथा पृथ्वी को खून से तर करते हुए उमड़-उमड़कर घमासान युद्ध करने लगे। वीर पार्थ ने शत्रु के रथों को तोड़ गिराया। चिंघाड़ते हुए हाथियों के सुण्डादण्डों को छिन्न कर उन्हें भी धराशायी कर दिया, जिनसे मार्ग-बिल्कुल रुँध गया। कहीं से निकलने को जगह न रही। बात ही बात में योद्धाओं के धड़ नाचने लगे। लहूलुहान मस्तकों से पृथ्वी तर ही गई ॥१०९-११२॥

इस महारण में ऐसा कोई सुभट न रहा जो कि खून से न रँगा गया हो। यहाँ तक कि वहाँ रक्त का बड़ा भारी प्रवाह वह निकला, जिस में तैरने के लिए असमर्थ होकर योद्धा कहीं ठहर न सके, जैसे अगाध समुद्र में न तैर सकने के कारण लोग कहीं ठहर नहीं सकते। इसी समय अपनी सेना को मार के मारे भागती हुई देखकर द्रोण ने उसे धीरज देते हुए कहा कि वीर भट-गण, आप लोग , न भागें, न भय करें। ऐसा करने से हम लोगों को बड़ा लज्जित होना पड़ेगा और जहाँ मैं हूँ वहाँ आप लोगों

गुरुवाक्येन ते तस्थुः स्थिराश्च सुभटाः स्फुटम्। नरनारायणौ तावन्नत्वा गुरुमवोचताम् ॥११६॥
मद्वचः कुरु भो तात निवर्तय रणाङ्गणात्। स्फेटयावः परं सैन्यं लङ्घ्यावो गुरुं कथम् ॥११७॥
निशम्येति जगौ द्रोणो नोत्सरामि रणादहम्। यो मया रक्षितो मर्त्यः सोऽमरत्वं गतो भुवि ॥११८॥
इत्युक्ते क्रोधसंरुद्धः संक्रन्दनसुतस्त्वरा। रथारूढश्चचालाशु धनुःसंधानमादधत् ॥११९॥
तदा समाहता नादास्तूर्याणां भटभीतिदाः। नवबाणैर्हतो द्रोणः पार्थेन बलशालिना ॥१२०॥
द्रोणेन तत्क्षणात्तेऽपि संरुद्धा निजबाणतः। द्विगुणद्विगुणान्बाणान्विससर्ज पुनर्नरः ॥१२१॥
यावल्लक्षप्रमा जाताः पार्थेन प्रेषिताः शराः। द्रोणश्चिच्छेद तान्नूनं स्वशरै रणसंमुखैः ॥१२२॥
तदावोचद्धरिः पार्थं विलम्बयसि किं नर। गुरुशिष्यरणं किं भो युक्तं वै रणसंविदाम् ॥१२३॥
श्रुत्वा नरः करे कृत्वा कृपाणं कारयन्सृतिम्। गच्छंश्च गुरुणा प्रोचे पृष्ठलग्नेन सत्वरम् ॥१२४॥
तिष्ठ तिष्ठ क्व यासि त्वं नरेति जल्पितं गुरुम्। हसित्वा पाण्डवोऽवोचन्मा कार्षीस्त्वं रणं गुरो ॥१२५॥

को भय ही क्या है। आप लोग स्थिर हो निर्भय होइए। द्रोण के वचनों को सुन सब सुभटगण भागते हुए ठहर गये। इसी बीच में अर्जुन और कृष्ण ने आकर द्रोण को प्रणाम कर कहा कि प्रभो! आप से हमारी प्रार्थना है कि इस युद्ध में योग न देकर आप रण-स्थल से वापस चले जाइए। आपके होते हुए हम अपने पूज्य गुरु को लाँघकर शत्रु-सेना का विध्वंस कैसे करें ॥११३-११७॥

यह सुन उत्तर में द्रोण ने कहा मैं रण-स्थल से वापस कैसे जा सकता हूँ। मुझे तो तुम लोगों के साथ युद्ध करना होगा। एक बात और है जो तुम्हारे ध्यान देने योग्य है और वह यह है कि मैंने आज तक जिसकी भी रक्षा की है संसार में वही पुरुष अमर हो गया है और जिसे मारा है वह सदा के लिए सो गया है। अतएव इस पर विचार कर ही तुम्हें युद्ध में बढ़ना चाहिए। यह सुन कर पार्थ का हृदय क्रोध से भर आया। वह फिर उसी समय रथ में सवार हो, धनुष संधान कर युद्ध के लिए चल पड़ा ॥११८-११९॥

उसी समय भटों को भय देने वाले भयंकर बाजे-बजे। रण आरंभ हुआ। बलशाली पार्थ ने पहले ही द्रोण को नौ बाण मारे, जिनको कि द्रोण ने उसी समय अपने बाणों से छेद दिया। इसके बाद पार्थ ने फिर दूने-दूने बाण छोड़े और जब तक वे पूरे एक लाख की संख्या तक पहुँच न गये तब तक वह बराबर बाण छोड़ता ही चला गया। द्रोण ने रण के सन्मुख हो अपने बाणों द्वारा उन्हें भी निवार दिया। यह देख द्रोण ने पार्थ से कहा कि तुम विलम्ब क्यों कर रहे हो। क्या बैरियों के सुभटों के साथ तुम्हें गुरु-शिष्य कैसा युद्ध करना युक्त है? सुन कर अर्जुन हाथ में तलवार ले शत्रु की सेना में मार्ग करता हुआ चला ॥१२०-१२२॥

यह देख द्रोण ने उससे कहा कि अर्जुन, ठहरो, तुम कहाँ जा रहे हो। यह सुन पार्थ ने हँसते हुए कहा कि गुरुवर्य! आप युद्ध न कीजिए। आपको यह युक्त नहीं है। कारण हम सब आप ही के पुत्र हैं। आपके लिए तो जैसे ही अश्वत्थामा और जैसे ही हम सब और विष्णु हैं। फिर आपको हमारे साथ युद्ध करना युक्त है क्या? गुरुवर्य! पिता-पुत्रों का दुखद युद्ध शोभा नहीं देता। व्यर्थ ही

सुतास्ते पाण्डवा विष्णुरश्वत्थामाविशेषतः। न भेदो विद्यते तात तैर्युद्धं किं समुच्यताम् ॥१२६॥
जनकात्मजयोर्युद्धं शोभते किं दुरावहम्। मार्यते केवलं वैरी रणेऽतस्त्वं निवर्तय ॥१२७॥
निवृत्तो लज्जितो द्रोणः पार्थो हन्ति परान्नरान्। एको मतङ्गजान्सिंहो यथा विक्रमसंक्रमः ॥१२८॥
गर्जन्गाण्डीवनादेन प्रलयाब्धिरिवापरः। बिभेद कौरवं सैन्यं पार्थः संत्रासयन्परान् ॥१२९॥
केचिदूचुस्तदा भूपाः पार्थो द्रोणेन प्रेषितः। प्रविष्टोऽनर्थसंघातं करिष्यति न चान्यथा ॥१३०॥
श्रुत्वा शतायुधः क्रोधाद्रुरोध हरिशक्रजौ। ताभ्यां तस्य रथाश्छिन्ना वाजिनो गजराजयः ॥१३१॥
तदा शतायुधश्चित्ते ध्यायति स्मेति निश्चलः। सामान्यास्त्रेण दुःसाध्यौ प्रसिद्धौ वैरिणाविमौ ॥१३२॥
शतायुधस्तदा चित्ते सस्मार परमां गदाम्। सा स्मृता तत्करे चायाद्दासीवायोधने परे ॥१३३॥
पार्थं बभाण वैकुण्ठस्तव कार्यं न चेक्ष्यते। सिद्धितां गतमत्यर्थं संदिग्धं च प्रवर्तते ॥१३४॥
हन्म्यहं पार्थ विज्ञानाद्वैरिणं निश्चलो भव। वैरिणं पुनराह स्म माधवः सुशतायुधम् ॥१३५॥
गदां मुञ्च रणेनालं विलम्बं कुरुषे च किम्। निशम्य शत्रुणा चित्ते चिन्तितं चलचेतसा ॥१३६॥
नरनारायणौ चेमौ कलिहेतू निराकृतौ। गदया सुखहेतू च स्यातां दुर्योधनस्य वै ॥१३७॥
चिन्तयित्वा गदा तेन मुक्ता विष्णोरुरःस्थले। सा गता पुष्पदामत्वं तन्वती च सुगन्धताम् ॥१३८॥

इसमें योद्धाओं का संहार होता है। इसलिए प्रभो! आप युद्ध के संकल्प से लौट जाइए-युद्ध न कीजिए ॥१२३-१२७॥

पाण्डवों की इस प्रार्थना से द्रोण लौट गये और अब अकेला अर्जुन ही अपने पराक्रम से बैरियों का ध्वंस करने लगा, जैसे अकेला सिंह अपने पराक्रम के बल से मतवाले हाथियों का ध्वंस करता है। इसके बाद, गांडीव धनुष की भीषण टंकार से प्रलय काल के समुद्र की तुलना करने वाले पार्थ ने दुख देने वाले कौरवों की सारी सेना को ही भेद डाला ॥१२८-१२९॥

इस समय पार्थ को अपनी ओर बढ़ते हुए देखकर राजे लोग कहने लगे कि द्रोण ने ही जान-बूझ कर यहाँ पार्थ को भेजा है। यह सेना में प्रविष्ट होकर बड़ा अनर्थ करेगा। इसे द्रोण का सहारा न होता तो यह कभी इधर नहीं बढ़ सकता। यह सुन कर शतायुध को बड़ा क्रोध आया और उसने उसी वक्त कृष्ण और अर्जुन को आगे बढ़ने से रोक दिया। तब उन दोनों ने भी क्रोध में आकर शतायुध के रथ, घोड़े और हाथी वगैरह सब छिन्न-भिन्न कर डाले। इसके बाद शतायुध ने मन ही मन गदा का स्मरण किया। स्मरण करते ही वह दासी की भाँति उसके हाथ में आ गई ॥१३०-१३३॥

यह देख कृष्ण ने पार्थ से कहा कि पार्थ, अब तुम्हारा कार्य सिद्ध होता नहीं दीखता परन्तु खैर, तुम कोई चिन्ता न करो। मैं अपने बुद्धि-बल से ही वैरी का नाशकर दूँगा। इसके बाद कृष्ण ने शतायुध से ललकार कर कहा कि तुम अपनी गदा मुझ पर प्रहार करो, विलम्ब मत करो-और शस्त्रों से युद्ध करने की आवश्यकता नहीं। यह सुन चंचल-चित्त शत्रु ने मन ही मन सोचा कि अर्जुन और कृष्ण ही इस युद्ध के मूल कारण है, अतः यदि मैं गदा के प्रहार से इन दोनों को ही काल का ग्रास बना दूँ तो दुर्योधन अवश्य ही आनन्दित होगा और वह मेरा अच्छा मान करेगा। यह सोच कर उसने पहले ही कृष्ण के वक्षस्थल में गदा का प्रहार किया। कृष्ण के महान् पुण्य से वह गदा सुगन्ध से परिपूर्ण

अर्चयित्वा हरिं गत्वा पतिता वैरिमस्तके। शतायुधं जघानाशु गदा गर्वापहारिणी ॥१३९॥
तदा समुत्थितं सैन्यं कौरवाणां युयुत्सया। ताभ्यां शरैः समुच्छिन्नं विच्छिन्नसमवायिभिः ॥१४०॥
सोऽवादीत्पार्थ तृषिता न चलन्ति तुरङ्गमाः। अस्मिन्वर्त्मनि पादाभ्यामावाभ्यां चल्यतां लघु ॥१४१॥
पदातीभूय कर्तव्यः संगरः शत्रुहानये। धनंजयो जगादेति समाकर्णय माधव ॥१४२॥
मम खण्डवने दत्तो देवैर्दिव्यशरो महान्। आनयामि प्रभावेण तस्य गङ्गाजलं महत् ॥१४३॥
भणित्वैवं विसर्ज्यासावाशुगं च समानयत्। गङ्गाजलं क्षणात्तत्र महाकल्लोलसंकुलम् ॥१४४॥
स्नापितास्तुरंगास्तत्र प्रमोदं प्रापिता जलैः। तदा नभसि देवौघा जजल्पुः स्वल्पशब्दतः ॥१४५॥
पातालात्सलिलं येन समानीतं महीतले। तेन सत्रं समारब्धं तुमुलं मानवा जडाः ॥१४६॥
हरिर्योद्धुं समुत्तस्थे पार्थोऽपि रथसंस्थितः। मुमोच लक्षविशिखान्संख्ये क्षेप्तुं विपक्षकान् ॥१४७॥
तैः शरैर्निखिला विद्धा गजवाजिपदातयः। रथास्तदाखिला नष्टा अनिष्टाः कौरवे बले ॥१४८॥
तदा दुर्योधनः प्राप्तोऽप्राक्षीद् भो भज्यते कथम्। भवद्भिः संजयन्तस्तु बभाण शृणु भूपते ॥१४९॥
पार्थेन निखिलं सैन्यं भवत्सैन्यं च विष्णुना। दुर्मर्षणबलं सर्वं निरस्तं प्रपलायितम् ॥१५०॥

पुष्पों की माला के रूप में परिणत हो गई और उसके हृदय की शोभा बढ़ाने लगी। इसके बाद वह कृष्ण की पूजा करके वापस जाकर वैरी के मस्तक पर पड़ी और उसने उसी समय शतायुध का सब गर्व उतार दिया, उसे यमलोक, पहुँचा दिया। यह देखे कौरवों की सारी सेना युद्ध की इच्छा से उठ खड़ी हुई। उसे कृष्ण और अर्जुन ने शरों की प्रबल मार से क्षणभर में ही तितर-बितर कर दिया ॥१३४-१४०॥

इसके बाद कृष्ण ने पार्थ से कहा कि पार्थ, हम लोगों के घोड़े बहुत प्यासे हैं, अतः अब वे मार्ग को तय नहीं कर सकते। ऐसी हालत में हमें पैदल ही शत्रु का विनाश करने के लिए सिपाही के रूप में युद्ध करना चाहिए। सुन कर धनंजय ने कहा कि प्रभो! खण्डवन में एक देवता ने मुझे महत्त्वशाली दिव्य बाण दिया था। उसके प्रभाव से मैं अभी ही गंगा के जल का प्रवाह यहीं प्रकट किये देता हूँ। यह कहकर उसने वह बाण छोड़ा और एक क्षण में ही अनन्त कल्लोलों से व्याप्त गंगा का प्रवाह वहाँ जारी हो गया। उसमें उन्होंने अपने घोड़ों को नहलाया और पानी पिलाया, जिससे वे फिर तरो-ताजा हो गये। यह देख आकाश में से देवताओं ने कहा कि जो महापुरुष पाताल से पृथ्वी पर जल ले आया, फिर वे लोग कितने जड़ हैं जिन्होंने उसी के साथ युद्ध ठाना है। ये लोग इसके साथ कभी विजय नहीं पा सकते ॥१४१-१४६॥

इसके बाद ही कृष्ण युद्ध के लिए उठा और साथ ही रथ में सवार हो पार्थ भी चला। कृष्ण ने शत्रुओं का विनाश करने के लिए एक साथ लाख बाण छोड़े। जिनके द्वारा कौरवों की सेना के हाथी, घोड़े, पयादे वगैरह सब बेध दिये गये। रथ नष्ट हो गये और सेना भाग छूटी। यह देख दुर्योधन ने सेना के लोगों से कहा कि तुम लोग क्यों भाग रहे हो ? भागने का कारण ही क्या है। क्या तुम में यही शूरता है। यह सुन संजयन्त बोला कि राजन्, क्या आपने कृष्ण और अर्जुन की वीरता नहीं

दु:शासनस्तु नायातो द्रोणस्त्यक्तो गुरुत्वत:। ताभ्यां च कृतवर्माणो हता: संगरसंगिन: ॥१५१॥
शिशुदक्षिणमुख्याश्च हतास्ताभ्यां नृपा: शरै:। ध्वस्त: शतायुधो युद्धे वृन्दविन्दौ नृपौ हतौ ॥१५२॥
पातालाच्च समानीता गङ्गा पार्थेन पावनी। ताविदानीं न जानेऽहं किं करिष्यत उद्धुरौ ॥१५३॥
क्रुद्धो दुर्योधनोऽवादीन्निन्दयन्द्रोणसद्गुरुम्। द्रोण किं भवतारब्धं वैरिणो हि प्रवेशनम् ॥१५४॥
त्वया च मानिता: सर्वे वैरिणो विषमाहवे। पक्षं त्वं पाण्डवानां हि धत्से ते बुद्धिरीदृशी ॥१५५॥
तदा गुरुर्बभाणेति विषादान्वितमानस:। पार्थबाणेन विद्धोऽहं तेन यामि न तुल्यताम् ॥१५६॥
अयं युवा च वृद्धोऽहं तेन योद्धुं कथं क्षम:। यौवनश्रीसमाक्रान्तस्त्वं तेन कुरु संगरम् ॥१५७॥
श्रुत्वेति चापमादाय कौरवो योद्धुमुद्यत:। पार्थं यमपथं तूर्णं दास्यामीति मुदा वदन् ॥१५८॥
दुर्योधनेन्द्रपुत्रौ च युद्धं कर्तुं समुद्यतौ। रणलक्ष्म्या लक्षिताङ्गौ वीरवर्गसमाश्रितौ ॥१५९॥
दुर्योधनेन संछिन्ना: पार्थस्य विशिखा: खलु। जहास कौरव: किं भो गाण्डीवेन तवाधुना ॥१६०॥
हसित्वाथ हरि: प्राह श्रान्त: किं तिष्ठसेऽधुना। पार्थ: प्रोवाच वैकुण्ठ गहनं मे न किंचन ॥१६१॥

देखी जो ऐसा कह रहे हैं। उन लोगों ने सेना को बेध डाला, दुर्मर्षण की सेना को परास्त करके भगा दिया, दु:शासन डर के मारे उनके सामने ही नहीं आया, द्रोण को उन्होंने गुरु जानकर छोड़ दिया, युद्ध-तल्लीन कृतकर्मा को मार गिराया, शिशु, दक्षिण, मुख आदि राजाओं को बाणों से बेध दिया, शतायुध, वृन्द तथा विद के प्राणों को हर लिया, पाताल से वे परम पावन गंगा को यहाँ ले आये- फिर भी आप कहते हैं कि क्यों भागते हो? राजन्! वे बड़े वीर हैं। उनकी वीरता का कोई अन्दाजा नहीं लगा सकता है ॥१४७-१५३॥

यह सुन कर दुर्योधन का क्रोध उबल उठा और वह द्रोण की निंदा करता हुआ बोला कि द्रोण, तुमने यह क्या किया जो शत्रु को रास्ता देकर इस महायुद्ध में वैरी के द्वारा सबका अपमान कराया। तुम्हें पाण्डवों का पक्ष करते संकोच नहीं होता। यही क्या तुम्हारी बुद्धि की बलिहारी है। दुर्योधन की मर्मवाणी सुन खेदखिन्न हुए द्रोण ने कहा कि देखो, मैं पार्थ के बाण से वेधा गया हूँ, मैं उसकी बराबरी नहीं कर सका और न कर ही सकता हूँ। यह तुम ही सोचो कि कहाँ तो वह जवान और कहाँ मैं वृद्ध। फिर उसके साथ युद्ध करने को मैं कैसे समर्थ हो सकता हूँ। बात यह है कि इस वक्त तुम यौवन-श्री करके युक्त हो, अतएव तुम्हें ही इसके साथ युद्ध करना चाहिए ॥१५४-१५७॥

यह सुन कर दुर्योधन बोला कि अच्छी बात है आप देखते रहिए कि मैं , पार्थ को क्षणभर में यमपुर का पथिक बनाये देता हूँ। इसके साथ ही वह हाथ में धनुष उठा पार्थ के साथ युद्ध के लिए उद्यत हुआ। उधर से पार्थ भी उससे युद्ध के लिए तैयार होकर आया। उन दोनों के साथ और भी बहुत वीर-गण थे। उन दोनों का शरीर रणश्री से भूषित हो रहा था। युद्ध करते हुए दुर्योधन ने पार्थ के बाणों को छेद दिया और अभिमान में आकर वह पार्थ की यह कहकर हँसी उड़ाने लगा कि तुम्हारा गांडीव धनुष अब तक काम नहीं आया। यह देख नारायण ने हँस कर अर्जुन से कहा कि पार्थ, तुम थक तो नहीं गये हो। पार्थ ने कहा कि नहीं, मैं तो सिर्फ वैरियों को मार कर कुछ शान्ति के लिए बैठ गया

अरीन्हत्वा प्रपन्नोऽहं खेदं तेन स्थिरं स्थितः। निराकरोमि सच्छत्रून् मम पश्य पराक्रमम् ॥१६२॥
जित्वाथ कौरव तूर्णं ग्रहीष्यामि वरं यशः। भणित्वैवं पृथुः पार्थः शरैर्विव्याध कौरवम् ॥१६३॥
निजसैन्येन संभग्नः कौरवः कुरवश्रितः। तावद्दध्मौ हृषीकेशः शङ्खं वै पाञ्चजन्यकम् ॥१६४॥
तन्निनादं निशम्याशु जयार्द्रः कुपितः क्षणात्। अश्वत्थामा विनिस्थामा बभूव भयभीतधीः ॥१६५॥
समुद्धतं कुरोः सैन्यं पार्थेनैकेन संहृतं। कृष्णस्याग्रे पुनः सैन्यं किमुद्धरति तस्य वै ॥१६६॥
अतिरौद्रं रणं जातं रुण्डमुण्डान्विता धरा। तदासीच्छ्वासनिर्मुक्ताः कुणपाः पत्रवत् स्थिताः ॥१६७॥
पार्थः क्रुद्धस्तदा वीक्ष्य जयार्द्रं जयवर्जितम्। उवाच मर्मसंभेदि वाक्यैः संभेदयंस्त्वरां ॥१६८॥
रे जयार्द्र त्वया युद्धेऽभिमन्युस्तु विदारितः। त्वत्पराक्रममालां मां वीरविद्यां च दर्शय ॥१६९॥
संरक्ष्य कौरवान्सर्वास्त्वं दृष्टश्चिरकालतः। चेच्छक्तिरस्ति ते नूनं सज्जो भव रणाङ्गणे ॥१७०॥
इति वाक्येन पार्थेशस्तोषयन्सकलान्सुरान्। चिच्छेद बाणसंघातैस्तच्चापध्वजवाजिनः ॥१७१॥
बिभेद तस्य संनाहं तदावोचज्जनार्दनः। पार्थास्तं याति नो यावद्दिवानाथः समुच्छ्रितः ॥१७२॥
तावज्जयार्द्रमूर्धानं लुनीहि लावकैः शरैः। जललब्धमहानागबाणं पार्थस्तदाग्रहीत् ॥१७३॥

हूँ। मैं अभी इन सब शत्रुओं को धराशायी किये देता हूँ। आप तो मेरे अपूर्व पराक्रम को देखते जाइए। विश्वास रखिए कि मैं कौरवों को जीत कर चन्द्र जैसे स्वच्छ, उत्तम यश को संचित करूँगा। यह कह जोश में आ पार्थ ने शरों की प्रबल मार से दुर्योधन को वेध डाला ॥१५८-१६३॥

उसके द्वारा अपनी सेना को छिन्न-भिन्न देख कौरव हाहाकार कर उठे। इसी समय कृष्ण ने अपने पाँचजन्य शंख को फूँका। उसके शब्द को सुन कर जयार्द्र को बड़ा क्रोध हो आया। वह भयभीत हो प्रभा-विहीन हो गया। उधर कौरवों की उद्धत हुई सेना को अकेले पार्थ ने ही तितर-बितर कर भगा दिया। फिर वह कृष्ण के आगे भी मस्तक न उठा सकी। इस समय इतना भयंकर युद्ध हुआ कि सारी पृथ्वी रुंड-मुंड-मय हो गई। सारी युद्धभूमि में श्वास-उच्छ्वास रहित मुर्दे ही मुर्दे देख पड़ने लगे ॥१६४-१६७॥

इसके बाद पार्थ ने ज्यों ही जयार्द्र को देखा त्यों ही उसे बड़ा भारी क्रोध आया और उसने मर्मभेदी वचनों द्वारा उसके हृदय को भेदते हुए कहा कि नीच, तूने ही न युद्ध में अभिमन्यु का अन्याय से वध किया है! अब मेरे सामने आ और मुझे अपना पराक्रम और अपनी वीर विद्या बता। नीच, मैंने तुझे बड़ी देर में देख पाया। अब भी तुझमें शक्ति हो तो तैयार हो रणांगण में आकर मेरे साथ युद्ध कर और इन कौरवों को बचा। पार्थ के वचनों को सुनकर देवताओं को बड़ा सन्तोष हुआ। वे उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। इसी समय धनंजय ने अपने बाणों द्वारा जयार्द्र के धनुष, घोड़े और ध्वजा वगैरह को छेद दिया और उधर से कृष्ण ने उसके कवच को भेद कर अर्जुन से कहा कि पार्थ, सूरज अस्त होने के पहले-पहले ही तुम अपने तीव्र बाणों के द्वारा इसके मस्तक को धड़ से जुदाकर दो तभी तुम्हारी वीरता है ॥१६८-१७२॥

यह सुन पार्थ ने उस नागबाण को हाथ में लिया, जिसे कि शासनदेवता ने साँप के रूप में

यः शासनमहादेव्या सर्परूपेण संददे। तेन बाणेन पार्थोऽसौ लुलाव तस्य मस्तकम् ॥१७४॥
तच्छीर्षं च समादाय व्योम्नि संप्रेष्य तत्क्षणे। तपस्स्थस्य वने क्षिप्तं जनकस्य कराञ्जलौ ॥१७५॥
यथा सरसि संछिन्नं हंसैः शतदलं तदा। वीक्ष्य तज्जनकस्तूर्णं पपात पृथिवीतले ॥१७६॥
जयार्द्रे च हते पाण्डुसैन्ये जयरवोऽभवत्। पार्थस्य जयसंलब्धा कीर्तिर्बभ्राम भूतले ॥१७७॥
हाहारवस्तदा जज्ञे कौरवीयेऽखिले बले। दुर्योधनेन विज्ञाय रुरुदे बाष्पमोचिना ॥१७८॥
अद्यैव सकलं सैन्यं शून्यं जातं त्वया विना। कौरवं धीरयंस्तावदश्वत्थामा जगौ ध्रुवम् ॥१७९॥
हनिष्यामि रणे पार्थं दुःखं किं क्रियते नृपाः। इत्युक्त्वा धनुषं धृत्वा दधाव गुरुनन्दनः ॥१८०॥
पार्थेन सह स क्रुद्धश्चक्रे युद्धं महाशरैः। अश्वत्थामा च चिच्छेद पार्थचापगुणं गुणी ॥१८१॥
अन्यं कोदण्डमादाय पार्थो विस्फुरिताननः। चुकोप मत्तदन्तिभ्यो मृगेन्द्र इव भीषणः ॥१८२॥
षड्भिः शरैस्तदा पार्थोऽपातयत्तस्य सारथिम्। अश्वत्थामा गतो भूमौ हतो मूर्च्छामुपागतः ॥१८३॥
गुरुपुत्रं परिज्ञाय मुक्तः पार्थेन सोऽञ्जसा। हता अन्ये नृपास्तेन हरिणेव मतङ्गजाः ॥१८४॥
तावच्च रजनी जाता तयोः सैन्यं निवर्तितम्। ईर्ष्यावशेन क्रुद्धेन कौरवेण गुरुर्जने ॥१८५॥

अर्जुन को दिया था। इसके बाद अर्जुन ने देखते-देखते ही उस बाण से जयार्द्र का मस्तक धड़ से जुदा कर दिया और उस मस्तक को लेकर वह आकाश मार्ग से वहाँ गया जहाँ उसका पिता तप कर रहा था। जाकर उसने सिर को उसके हाथों में रख दिया। इसके साथ ही जिस तरह तालाब में लगा हुआ कमल काट देने पर गिर जाता है उसी तरह उस मस्तक को देखते ही उसका पिता भी गत-चैतन्य होकर पृथ्वी पर लोट गया ॥१७३-१७६॥

उधर जयार्द्र के मारे जाते ही पाण्डवों की सेना में जय-जयकार शब्द होने लगा और जय से प्राप्त हुई पार्थ की कीर्ति सारे भूतल पर विस्तृत हो गई। उधर कौरवों की सेना में हाहाकार मच गया। जयार्द्र की मृत्यु से दुर्योधन की आँखों से आँसुओं की धारा वह निकली। वह रो उठा और विलाप करने लगा कि जयार्द्र, तुम्हारे बिना आज मेरी सारी सेना शून्य हो गई ॥१७७-१७८॥

इसी समय दुर्योधन को धीरज बँधाते हुए अश्वत्थामा ने कहा कि राजन्! तुम दुख क्यों करते हैं। मैं तुम्हारे दुख के कारण को अभी दूर किये देता हूँ। यह कहकर हाथ में धनुष ले वह पार्थ के ऊपर टूट पड़ा और क्रोध में आ उसके साथ तीव्र बाणों के प्रहार द्वारा युद्ध करने लगा। थोड़े ही समय में गुणी अश्वत्थामा ने पार्थ के धनुष की डोरी छेद दी। यह देख पार्थ का चेहरा प्रफुल्लित हो उठा। वह साथ ही धनुष लेकर अश्वत्थामा को दबाने लगा, जैसे सिंह मत्त गजेन्द्र को दबा देता है एवं थोड़ी ही देर में पार्थ ने छह बाणों के द्वारा उसके सारथी को पृथ्वी पर गिरा उसे भी धराशायी कर दिया, जिससे वह बे-सुध हो गया, उसे कुछ चेतना न रह गई। पार्थ ने उसे गुरु-पुत्र समझकर छोड़ दिया। उससे कुछ भी न कहा और न उसे कैद ही किया। इसी प्रकार अर्जुन ने और भी बहुत से राजाओं को पृथ्वी पर लिटा दिया, जैसे सिंह मतवाले हाथियों को जमीन पर लिटा देता है। युद्ध करते-करते रात हो गई और सब सेनायें अपने-अपने डेरों पर चली आई ॥१७९-१८५॥

भो तात ब्रूहि सत्यं त्वं मार्गं न यद्यदास्यथाः। अहनिष्यत्कथं पार्थो गजवाजिभटोत्तमान् ॥१८६॥
क्रुद्धो द्रोणस्तदावोचन्मत्वा मां ब्राह्मणं गुरुम्। मुक्तोऽहं तेन युध्यध्वं यूयं क्षत्रियपुङ्गवाः ॥१८७॥
भवद्भिस्तु कथं मुक्तः पार्थः संगरसंगतः। न पश्यथ कृतं दोषं स्वयं यूयं दुराग्रहात् ॥१८८॥
शक्रसूनोर्मया दृष्टं बलं पूर्वमनेकशः। यद्रोचते भवद्भिस्तत्क्रियतामधुना भृशम् ॥१८९॥
तन्निशम्य जगादैवं कौरवेशः क्षमस्व भोः। मम तातापराधं त्वं महांश्च महतां गुरुः ॥१९०॥
त्वया मया प्रहर्तव्या रजन्यां वैरिणां व्रजाः। कर्णस्याग्रेऽप्ययं मन्त्रः कथितस्तैः समुद्धतैः ॥१९१॥
यामिन्यां निर्गतं सैन्यं कौरवाणां कृपातिगम्। तदा कलकलो जज्ञे सुभटानां रणार्थिनाम् ॥१९२॥
विविशुः कौरवा वेगाद्वाजिवारणभीकराः। पाण्डवीये बले सुप्ते ध्वान्ते ध्वाङ्क्षारयो यथा ॥१९३॥
कौरवाणां नृपैश्छिन्ना पाण्डवानामनीकिनी। नानाबाणगणैस्तूणादुद्धृतैर्धन्वसुधृतैः ॥१९४॥
कौरवाग्रे क्षणं स्थातुं न क्षमास्तु क्षमाभृतः। पाण्डवानां भृशं भग्ना बभ्रमुस्त इतस्ततः ॥१९५॥
पृषत्कैर्दशभिर्विद्धः पावनिः पावनोऽपि तैः। त्रिभिस्त्रिभिस्तथा विद्धौ मद्रीपुत्रौ मदोद्धतौ ॥१९६॥
दशभिस्तु तथा विद्धो घुटुको विशिखैर्नृपैः। पञ्चभिस्तु तथा भिन्न आशुगैः शक्रनन्दनः ॥१९७॥

अपनी यह दुर्दशा देख क्रोध-वश हुए दुर्योधन ने द्रोण से कहा कि यह सब तुम्हारा ही किया हुआ है। यदि तुम पार्थ को मार्ग न देते तो वह हाथी, घोड़े और वीर योद्धाओं को कभी नहीं मार सकता था। दुर्योधन के इन मर्मभेदी वचनों को सुनकर कुद्ध हुए द्रोण ने कहा कि राजन्! आपका यह ख्याल ठीक नहीं किन्तु उसने मुझे ब्राह्मण और गुरु समझ के ही छोड़ा है। हाँ, तुम क्षत्रिय-पुंगव हो, अतः उसके साथ युद्ध करो। अच्छा मैं तुमसे ही पूछता हूँ कि तुमने युद्ध करते हुए पार्थ को क्यों छोड़ दिया। बात यह है दुराग्रह के कारण तुम अपने दोष को नहीं देखते और व्यर्थ ही दूसरे को दोष देते हो। मैंने पार्थ के बल को कई बार देख निर्णय किया है कि मैं उसकी बराबरी नहीं कर सकता। अब तुम्हें जो रुचे वह करके तुम अपने दिल का भाव पूरा कर लो ॥१८६-१८९॥

यह सुन दुर्योधन बड़ा घबराया। वह तब बहुत नम्र होकर बोला-प्रभो! आप महान् हैं, महापुरुषों के भी गुरु हैं, अतः मेरे अपराधों पर आप ध्यान न देकर ऐसा उपाय कीजिए जिससे आज रात में ही शत्रु नष्ट हो जायें। उन्मत्त दुर्योधन ने यह मंत्र कर्ण के कानों तक भी पहुँचा दिया॥१९०॥

इस निश्चय के बाद कौरवों की निर्दय सेना रातों रात हो रण-स्थल को चली। धीरे-धीरे वह रण-स्थल के पास पहुँची और उसने पाण्डवों की सोती हुई सेना में प्रवेश किया, जैसे अँधेरे में कोकिलाएँ कौओं में प्रवेश करती हैं। इसके बाद कौरवों ने एकदम बाणों की बरसा कर पाण्डवों की सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया, जिससे पाण्डवों को पक्ष के राजा, उनके सामने क्षणभर भी नहीं ठहर सके और इधर-उधर भागने लगे। यह देख कौरवों ने एक साथ दस बाणों द्वारा भीम को और तीन बाणों द्वारा उद्धत हुए नकुल और, सहदेव को वेध दिया। साथ ही उन्होंने दस बाणों से भीम के पुत्र बटुक को, पाँच बाणों से अर्जुन को और छह बाणों के द्वारा शिखण्डी को वेध दिया एवं सात बाणों से धृष्टधुम्न को और पाँच बाणों से प्रसिद्ध शासक कृष्ण को वेध दिया। इसी समय कुद्ध

शिखण्डी षट्शरैर्विद्धो धृष्टद्युम्नस्तु सप्तभिः। वैकुण्ठः पञ्चभिर्बाणै रुद्धः संसिद्धशासनः ॥१९८॥
तावद्युधिष्ठिरः क्रुद्धो युद्धं कर्तुं समुद्यतः। दुर्योधनं शरैर्छित्त्वापातयन्मूर्च्छितं भुवि ॥१९९॥
द्रोणस्तस्थौ रणं कर्तुं संमुखो न पराङ्मुखः। प्रविष्टः पाण्डवे सैन्ये व्योम्नि भास्वानिवोन्नतः ॥२००॥
प्रभाते पाण्डवं सैन्यं द्रोणेनोत्सारितं क्षणात्। पार्थो बबन्ध तं द्रोणं ब्रह्मास्त्रेण सुशस्त्रवित् ॥२०१॥
गुरुं कृत्वा प्रपूज्यासौ मुक्तः पार्थेन धीमता। द्रोणस्तु लज्जितस्तस्थौ रणन्निर्वृत्त्य निर्व्रणः ॥२०२॥
पार्थस्तु सारथिं सार्थं जगौ वाहय सद्रथम्। कर्णो दुर्योधनश्चास्तेऽश्वत्थामा यत्र तत्र वै ॥२०३॥
तदा दुर्योधनः कर्णमुवाच तस्य सद्रथम्। गृहीत्वा स्वकरे कर्ण नष्टं नो विपुलं बलम् ॥२०४॥
तदा भानुसुतोऽवोचन्मा विषाढं व्रजाधुना। प्रथमं मारयिष्यामि पार्थं पश्चात्परान्नृपान् ॥२०५॥
तदा कर्णार्जुनौ लग्नौ योद्धुं संक्रुद्धमानसौ। युधिष्ठिरेण संलग्ना योद्धुं सर्वेऽपि कौरवाः ॥२०६॥
रुन्धन्तं प्रधने योधाः शरैर्गगनमण्डलम्। चक्रिरे बधिराः काष्ठाः कष्टानिष्टमुपागताः ॥२०७॥
कर्णस्य स्यन्दनो भग्नः पार्थेन पृथुचेतसा। सगुणश्च धनुश्छिन्नः सरद्भिर्विशिखैः खलु ॥२०८॥
द्रोणः स्यन्दनमारुह्य धृष्टार्जुनं समाह्वयत्। धृष्टद्युम्नः करिष्यामि मृतिं तेऽहं गुरुं जगौ ॥२०९॥

होकर युधिष्ठिर युद्ध के लिए उठा और उसने अपने बाणों की प्रबल मार से दुर्योधन को बड़ी बुरी तरह वेध डाला, जिससे वह बे-होश होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और उसे प्राणों के लाले पड़ गये ॥१९१-१९९॥

यह देख द्रोण युद्ध के लिए युधिष्ठिर के सामने आये और उन्होंने पाण्डवों की सेना में प्रवेश किया। इस वक्त वह ऐसे जान पड़े मानों आकाश में उन्नत सूरज ही उदित हुआ है। इसी समय सबेरा हो आया। पाण्डवों की सेना को द्रोण ने एक क्षण में ही पीछे हटा दिया। यह देख वीर पार्थ ने अपने शस्त्र-कौशल से ब्रह्मास्त्र छोड़ा और बात ही बात में द्रोण को वेध कर विवश दिया। इसके बाद ही उसने द्रोणाचार्य की छोड़ दिया और उनकी पूजा कर अपना अपराध क्षमा कराया। द्रोण तब कुछ लज्जित से हुए और अब वे युद्ध से उदासीन हो, युद्ध छोड़कर चुप बैठ गये ॥२००-२०२॥

इसके बाद पार्थ ने अपने चतुर सारथी से कहा कि अब रथ कर्ण, दुर्योधन और अश्वत्थामा की ओर बढ़ाओ। अर्जुन का यह पराक्रम देख दुर्योधन ने भयभीत हो और कर्ण के रथ को अपने हाथ से रोककर उससे कहा कि कर्ण, हमारी सब सेना नष्ट हो चुकी, अब क्या किया जाये। सुनकर कर्ण ने कहा कि इसकी तुम कुछ चिन्ता न करो। मैं पहले पार्थ को मारकर ही दूसरे शत्रु राजाओं की खबर लूँगा। इसके बाद क्रोध से उन्मत्त होकर कर्ण ने अर्जुन के साथ युद्ध छेड़ दिया और उधर से सब कौरव युधिष्ठिर के साथ भिड़ गये ॥२०३-२०६॥

घोर युद्ध हुआ। योद्धाओं की बाण-बरसा से सारा आकाश-मण्डल ढँक गया। उनके रणनाद से दिशाएँ बहरी हो गई। यह देख-पार्थ ने बाणों की प्रबल मार से कर्ण के रथ को छिन्न-भिन्न कर दिया और मय डोरी के उसके धनुष को तोड़ डाला। उधर रथ में सवार हो द्रोण ने धृष्टार्जुन को लड़ने के लिये ललकारा। यह देख धृष्टद्युम्न ने द्रोण से कहा कि जरा ठहरिए, मैं अभी ही आपको यमपुर की

इत्युदीर्य शरैश्छिन्नो धृष्टद्युम्नेन सद्गुरुः। आगच्छन्तः शराश्छिन्ना गुरुणा गुरुणा गुणैः ॥२१०॥
ध्वजो रथस्तथा छिन्नो धृष्टद्युम्नस्य तेन वै। विंशतिं च सहस्राणि क्षत्रियाणां जघान सः ॥२११॥
गजानां वाजिनां संख्यां हतानां वेत्ति कः पुमान्। लक्षैकं सुभटास्तेन पातिताः पतिता भुवि ॥२१२॥
एका चाक्षौहिणी ध्वस्ता गुरुणा तावदुत्थितः। व्योम्नि स्वरः सुराणां हि द्रोणं संवारयन्निति ॥२१३॥
अतिमात्रं कियन्मात्रं कुरुषे किल्बिषं भृशम्। नृपैः सह विरोधस्तु त्वया किं भो विधीयते ॥२१४॥
आगच्छ स्वच्छतां लात्वा ब्रह्मेन्द्रो भव भव्य भोः।
भीमोऽभाणीत्तदा विप्र किं करिष्यसि किल्बिषम् ॥२१५॥
पाण्डवेभ्यः कुरून्दत्त्वा सुखितो भव सद्गुरो। श्रुत्वैवं ब्राह्मणोऽवादीत्तेभ्यो दास्यामि तद्धराम् ॥२१६॥
जीवितं कौरवेभ्यश्च दत्त्वा स्यां सुसुखी सदा। प्रतिज्ञेयं मया सुज्ञ विहिता निजमानसे ॥२१७॥
गुरुधृष्टार्जुनौ तावद्युद्धं कर्तुं समुद्यतौ। अश्वत्थाम्ना समाहूतो घुटुको भीमनन्दनः ॥२१८॥
बाणेन पतितो भूमौ मग्ने मन्दमतिः स च। पाण्डवास्तन्मृतिं ज्ञात्वा रुरुदुर्दुःखदारिताः ॥२१९॥
तदा हरिरुवाचेदं शृणुध्वं पाण्डुनन्दनाः। शोकस्यावसरो नैव क्षत्रियाणां रणे पुनः ॥२२०॥
पाण्डवाः शोचमानास्तु यावत्तिष्ठन्ति संगरे। तावत्कौरवसैन्यं हि युद्धं कर्तुं समुत्थितम् ॥२२१॥

सैर कराता हूँ। यह कहकर उसने द्रोण पर बाण-प्रहार शुरू कर दिया। द्रोण ने अपने शर कौशल से उसके बाणों को बीच में ही छेद दिया-उसने उन्हें अपने पास तक भी न आने दिया एवं उस गुण-गरिष्ठ द्रोण ने उसके रथ-ध्वजा वगैरह को भी नष्टकर बीस हजार क्षत्रियों को यमपुर का पथिक बना दिया ॥२०७-२११॥

उस समय द्रोण ने कोई एक लाख सुभटों को धराशायी किया और हाथी, घोड़े तो इतने मारे कि उनकी कोई गिनती ही नहीं। तात्पर्य यह है कि उन्होंने सारी एक अक्षौहिणी सेना को नष्टकर जीवन से निराश कर दिया। इतने में द्रोण को इस महा हिंसा करने से रोकती हुई आकाश में देववाणी हुई कि "द्रोण, तुम इतना भारी पाप काहे के लिए करते हो और क्यों इन राजाओं के साथ विरोध मानते हो। तुम्हें इन झगड़ों में न पड़ना चाहिए किन्तु हृदय को पवित्र कर तुम स्वर्ग के अतिथि ब्रह्मेन्द्र बनो।" यह सुन भीम बोला-हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! सचमुच तुम्हें पाप करना उचित नहीं है। इससे कुछ लाभ नहीं। अतः गुरुवर्य, पाण्डवों की कुरुजांगल देश का राज्य देकर आप सुख से रहो। यह सुन द्रोण ने कहा कि यह नहीं हो सकता। मैं कौरवों का राज्य कौरवों को ही दूँगा। मैंने प्रतिज्ञा की है कि मैं अपना जीवन कौरवों को देकर ही सुखी होऊँगा। इसके बाद द्रोण और धृष्टार्जुन फिर युद्ध के लिए उद्यत हुए। उधर अश्वत्थाम ने भीम के पुत्र घटुक को ललकारा। घटुक के सामने आते ही क्षणभर में अश्वत्थामा ने उसे धराशायी कर दिया। उसकी मृत्यु से पाण्डवों की बड़ा दुख हुआ। वे विलाप करने लगे। यह देख कृष्ण ने उनसे कहा कि क्षत्रिय वीर रण-स्थल में शोक नहीं करते। यह शोक का अवसर नहीं है। उधर पाण्डवों को शोक-संतप्त देखकर कौरवों की सेना युद्ध के लिए फिर उठ खड़ी हुई ॥२१२-२२१॥

आश्वत्थामा तदाहूतो भीमेन भयकारिणा। ऊचे त्वं गुरुपुत्रत्वान्मया मुक्तः सुजीवितः ॥२२२॥
अधुना त्वां न मोक्ष्यामि जीवन्तं जीवनप्रिय। इत्युक्त्वा गदया तं च जघान पवनात्मजः ॥२२३॥
अश्वत्थामा मुमूर्च्छाशु पतितो मालवेशिनः। अश्वत्थामा करीन्द्रस्तु हत्वा तैः पातितो भुवि ॥२२४॥
तदा पाण्डवसैन्येन नत्वोचेऽथ युधिष्ठिरः। भो देवेश रहस्यं त्वमवधारय सांप्रतम् ॥२२५॥
द्रोणेन विषमं युद्धं विहितं जर्जरीकृतम्। भवत्सैन्यं च वज्रेण गिरिर्वा वायुना घनः ॥२२६॥
अस्मद्बले न कोऽप्यस्ति समर्थस्तन्निवारणे। उपाय एक एवास्ति कृपां कृत्वाथ तं कुरु ॥२२७॥
अश्वत्थामा हतो दन्ती तत्स्थाने च वदाधुना। अश्वत्थामा हतो द्रौणिरित्युक्ते स्यात्पराङ्मुखः ॥२२८॥
धर्मात्मजस्तदावोचदसत्यं ब्रूयते कथम्। असत्यतो भवेन्नूनं किल्बिषं कर्मकारणम् ॥२२९॥
कथं कथमपि प्रायस्तैरङ्गीकारितो हठात्। धर्मात्मजस्तदावोचदश्वत्थामा हतो रणे ॥२३०॥
तदाकर्ण्य रणे द्रोणो धन्वामुञ्चच्छुचा करात्। सिञ्चन्कुमश्रुपातेन रुरोद हृदि दुःखितः ॥२३१॥
तदा तेन पुनः प्रोक्तं कुञ्जरो न नरो हतः। श्रुत्वेति संस्थितः स्थैर्याच्छोककम्पितकायकः ॥२३२॥
धृष्टार्जुनोऽसिना तावल्लुलाव तस्य मस्तकम्। कौरवाः पाण्डवास्तावद्रुरुदुस्तत्क्षणे क्षिताः ॥२३३॥

यह देख भयंकर भीम ने अश्वत्थामा को ललकारा और कहा कि गुरु-पुत्र होने से पहले मैंने तुझे जीता छोड़ दिया था परन्तु अब मैं तुझे जीता कभी छोड़ने का नहीं। यह कहकर भीम ने उस पर गदा का एक ऐसा प्रहार किया कि जिससे वह मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। इसके बाद भीम ने उसके हाथी को भी धराशायी कर दिया ॥२२२-२२४॥

इसी समय पाण्डवों की सेना ने जाकर युधिष्ठिर को नमस्कार किया और उनसे कहा कि देवों के देव, पूर्ण विचार कर अपने कर्तव्य का शीघ्र निश्चय कीजिए क्योंकि द्रोण ने घोर युद्ध करके आपकी सेना को बिल्कुल ही जर्जरित कर डाला है, जैसे कि वज्र पहाड़ को और वायु मेघों की जर्जरित कर देता है। महाराज, हमारी सेना में ऐसा कोई भी समर्थ वीर नहीं जो उन्हें रोक सके। इसके लिए एक उपाय है। वह यह कि द्रोण को पुत्र पर बड़ा प्रेम है। अतः आप यह कह दें कि अश्वत्थामा मारा गया है, तो काम बन जाय। पुत्र-वध सुनकर द्रोण अवश्य ही युद्ध से विमुख हो जायेगा। सुनकर युधिष्ठिर ने कहा कि तुम लोग झूठ क्यों बोलते हो, तुम नहीं जानते कि झूठ बोलने में बड़ा दोष है, जिससे कि अशुभ कर्मों का बँध होता है और उससे दुख प्राप्त होता है परन्तु अन्त में उनके आग्रह से लाचार हो युधिष्ठिर ने उक्त बात को स्वीकार किया और जाकर कहा कि युद्ध में अश्वत्थामा मारा गया है। पुत्र-वध सुनकर द्रोण को इतना भारी शोक हुआ कि उनके हाथ से धनुष छूट पड़ा और वह आँसुओं की धारा से पृथ्वी को सींचते हुए रो उठे। उनका धैर्य छूट गया ॥२२५-२३१॥

यह देख युधिष्ठिर ने थोड़ी देर बाद कहा कि मनुष्य नहीं किन्तु हाथी मारा गया है। यह सुनकर द्रोण का शोक कुछ शान्त हुआ। उन्हें कुछ धीरज बँधा। वे चेत हुए कि उधर से धृष्टार्जुन ने तलवार से उनकी मस्तक धड़ से जुदा कर दिया। महावीर द्रोण धराशायी हो परलोक को प्रयाण कर गये। यह देख कौरवों और पाण्डवों को बड़ा दुख हुआ। वे विलाप करने लगे और दुख के आवेग

छत्रच्छाया गता चाद्य त्वयि तात गते सति। द्रोणास्माकं क्षितौ जातापकीर्तिः कृतिकृन्तिका ॥२३४॥
दुर्योधनेन यः संगोविहितस्तत्फलं लघु। संप्राप्तं गुरुणावोचक्रुद्धः पार्थस्तदा क्षणे ॥२३५॥
भो युधिष्ठिर नो भृत्यो धृष्टार्जुनो न श्यालकः। तव तेन हतो द्रोणः कथं सर्वगुरुः शुभः ॥२३६॥
तदा धृष्टार्जुनः प्राहास्माकं दोषो न जातु चित्। युध्यमानैस्तु युध्यन्ते सुभटैः सुभटा रणे ॥२३७॥
तन्निशम्य नरः शान्तस्वान्तो जातो विषादवान्। पुनस्तु साधनं धाष्टर्याद्युद्धं कर्तुं समुद्यतम् ॥२३८॥
दधाव ध्वनिना व्योम छादयन्ध्वंसयन्क्षितिम्। तावद्धर्मसुतो बाणैः शल्यशीर्षं लुलाव च ॥२३९॥
विराटाग्रे कृतं येन स्वपराक्रमवर्णनम्। दिव्यास्त्रेण पुनः पार्थोऽवधीद्राजसहस्त्रकम् ॥२४०॥
निशायां दिवसे शूरा योयुद्ध्यन्ते स्म निद्रया। घूर्णमाना लुठन्तीतस्ततो भूमौ पतन्ति च ॥२४१॥
एवं प्रतिदिनं युद्धं तयोर्जातं भयावहम्। घस्त्राः सप्तदशैवात्र जाता युधि समुत्कटाः ॥२४२॥
अष्टादशे दिने प्रातस्तयोर्जातो महाहवः। चतुरङ्गबलं तत्र मेलयित्वा महारणे ॥२४३॥
रचितो मकरव्यूहो मेरुवद्गलगर्जनैः। गजा गर्जन्ति यत्रोच्चैः खड्गौघाः प्रज्वलन्ति च ॥२४४॥
कौरवाः पाण्डवाश्चेलुः कुरुक्षेत्रे क्षयंकरे। योद्धुं समुद्यता योधा घातयन्तः परस्परम् ॥२४५॥

से कहने लगे कि हे परम वीर गुरु! तुम्हारे चले जाने से आज हमारी छत्र-छाया ही चली गई है। इससे संसार में हमारी जो अपकीर्ति हुई वह हमारी सब कीर्ति पर पानी फेरने वाली है अथवा हे गुरुवर्य! यह सब दुर्योधन जैसे पुरुष की संगति का परिणाम है। द्रोण की मृत्यु से दुखी होकर पार्थ ने क्रोध के साथ युधिष्ठिर से कहा-धृष्टार्जुन हमारा कोई नहीं होता। फिर इसने हमारे गुरु द्रोण का क्यों वध किया। यह सुन धृष्टार्जुन बोला कि पार्थ! इसमें मेरा कुछ दोष नहीं है किन्तु बात यह है कि युद्ध-स्थल में जब घमासान युद्ध होता है तब सुभट सुभटों पर प्रहार करते ही हैं, फिर उसमें चाहे जिसका नाश क्यों न हो। बतलाइए ऐसी हालत में मेरा क्या अपराध है? यह सुन अर्जुन शान्त तो हो गया, पर उसके हृदय में विषाद बहुत हुआ ॥२३२-२३८॥

इसके बाद फिर कौरवों की सेना युद्ध के लिए उठ खड़ी हुई और उसने अपने रणनाद से सारे आकाश को पूर दिया तथा पृथ्वी को पद-दलित कर डाला। इसी बीच में उधर युधिष्ठिर ने शल्य के मस्तक को धड़ से जुदाकर दिया, जिसने कि विराट के आगे अपने पराक्रम की अद्भुतता का वर्णन कर अपना अभिमान प्रकट किया था एवं पार्थ ने भी इस वक्त दिव्य-अस्त्र के प्रहार से हजारों राजाओं को धराशायी कर दिया था। इस समय के युद्ध में योद्धा रात-दिन युद्ध करते। जब नींद आती तब चाहे जहाँ भूमि में लुढ़क रहते। तात्पर्य यह कि इस युद्ध में योद्धा लोगों को मार-काट के सिवा और कुछ काम ही न था। इस प्रकार कौरवों और पाण्डवों में प्रतिदिन भयावना युद्ध होता रहा और इस तरह युद्ध होते-होते सत्रह दिन बीत गये ॥२३९-२४२॥

इसके बाद अठारहवें दिन प्रातःकाल ही कौरव और पाण्डवों की चतुरंग सेना युद्ध-स्थल में पहुँची और उन दोनों में घोर युद्ध हुआ। दोनों सेनाओं में मकर व्यूह की रचना हुई। उनमें मेरु जैसे उद्यत हाथी चिंघाड़ रहे थे, घोड़े हींस रहे थे और सुभटों की तलवारें चमक रही थीं। इसी समय कौरव-पाण्डव कुरुक्षेत्र के क्षयंकर और भयंकर युद्ध-स्थल में आये और युद्ध के लिए उद्यत योद्धा

वाहनास्त्रमहामीने कौरवाब्धावसृग्जले। पावनी रथपोतेन विवेश हननोद्यतः ॥२४६॥
कर्णार्जुनौ तदा लग्नौ रणे योध्दुं मदोद्धुरौ। रविपुत्रधनुश्छिन्नः पार्थेन विशिखैः खरैः ॥२४७॥
कर्णेन तस्य च्छत्रं तु छिन्नं छिदुरसच्छरैः। परस्परं तुरंगौ तौ छेदयन्तौ च रेजतुः ॥२४८॥
कर्णेन लक्ष्यबाणेन छिन्नं पार्थशरासनम्। अन्यं चापं समादाय पार्थः प्रोवाच भानुजम् ॥२४९॥
त्वं कुन्तीनन्दनः कर्णोऽस्मद्भ्राता भुवि विश्रुतः। सहस्व घनघातं मे तिष्ठ तिष्ठ स्थिरं रणे ॥२५०॥
वञ्चयित्वा बहून्वारान्प्रमुक्तस्त्वं रणाङ्गणे। सज्जो भवाथवा याहि रणं मुक्त्वा निजे गृहे ॥२५१॥
तन्निशम्य जजल्पाशु पूषपुत्रः परोदयः। किं त्वं जल्पसि रे पार्थाविनीतो जडतां गतः ॥२५२॥
भनज्म्यहं तवाग्रे किं मया ध्वस्ता नृपा रणे। पूर्वं प्रहरणं लात्वा देहि मा दुर्वचो वद ॥२५३॥
अत्रान्तरे जगौ विष्णुर्विश्वसेनस्तवात्मजः। प्रधने पतितः कर्ण तथाभूत्प्राणमुक्तधीः ॥२५४॥
तन्निशम्य नृपः कर्णो धिक्कारमुखराननः। शुशोच सुचिरं चित्ते दुश्चिन्तश्चिन्तयान्वितः ॥२५५॥
जेघ्नीयन्तेऽत्र राज्यार्थं भ्रातरो भ्रातृभिः सदा। तदा दुर्योधनोऽवोचच्छोचन्तं भानुनन्दनम् ॥२५६॥

परस्पर में मार-काट करने लगे। इस वक्त कौरवों की सेना समुद्र-सी देख पड़ती थी, क्योंकि उसमें वाहन और हथियार वगैरह मीन-मच्छ की जगह थे और खून जल की जगह था। यह देख भीम उसे नष्ट करने के लिए रथ-रूपी नौका पर सवार होकर उसमें घुस पड़ा और उसे छिन्न-भिन्न करने लगा एवं एक ओर मतवाले हुए कर्ण और अर्जुन युद्ध करने लगे और थोड़ी ही देर में अर्जुन ने अपने बाणों के तीव्र प्रहार से कर्ण का धनुष छेद डाला। उधर से कर्ण ने भी छेदने में कुशल अपने शरों से पार्थ का छत्र छेद दिया। तब वे परस्पर में एक दूसरे के घोड़ों को छेदने लगे। इसी समय कर्ण ने लाख-बाण छोड़कर पार्थ का दूसरा धनुष भी छेद दिया। तब पार्थ ने तीसरा धनुष लिया और वह कर्ण से बोला कि कर्ण, तुम कुन्ती के पुत्र और मेरे भाई हो, यह बात सारा संसार जानता है इसलिए अब तुम भाई-भाई के युद्ध में धीरज के साथ मेरे घन के जैसे आघातों को सहो। देखो कहीं पीठ दिखा कर भाग न जाना। मैंने पहले रण में तुम्हें पकड़ कर कई बार छोड़ दिया परन्तु अब मैं छोड़ने का नहीं। तुम या तो अति शीघ्र युद्ध के लिए तैयार हो अथवा रण-स्थल छोड़कर अपने घर का रास्ता लो, यहाँ एक क्षण भी न ठहरो। इसी में तुम्हारी भलाई है ॥२४३-२५१॥

यह सुन वीर कर्ण ने कहा कि रे जड़ात्मा और अविनयी पार्थ! तू व्यर्थ ही बकता है। देख मैं तुझे अभी धराशायी किये देता हूँ और यह तो तू भी जानता है कि तेरे आगे ही पहले मैंने अनेकानेक राजाओं को धराशायी किया है। इसलिए अब तू व्यर्थ ही अपने मुँह अपनी बड़ाई न कर और न व्यर्थ ही खोटे वचन बोल किन्तु मेरे प्रहारों को सह। इसी बीच में कृष्ण ने आकर कर्ण से कहा, तुम्हारा पुत्र विश्वसेन धराशायी हो काल का अतिथि बन चुका है। यह सुनकर कर्ण शोक के मारे विह्वल-सा होकर बड़ी विषम चिन्ता में पड़ गया। वह सोचने लगा कि हाय! यह कैसा अनर्थ है जो एक तुच्छ राज्य के लिए भाई-भाई को भी मार डालते हैं। इस प्रकार कर्ण को शोकाकुल देख उससे दुर्योधन ने कहा कि वीरवर! यह शोक का अवसर नहीं है। इसलिए तुम शोक को छोड़ दो और

शोकस्यावसरो नात्र कर्ण संहन्यतां नरः। हतेन येन जायेत जयश्रीः कौरवेशिनाम् ॥२५७॥
तन्निशम्य रणे लग्नौ क्रुद्धौ कर्णार्जुनौ तदा। अन्तरेण विनिर्मुक्तान्क्षिपन्तौ विशिखान्खलु ॥२५८॥
जगाद केशवः पार्थं विपक्षाञ्जहि सायकैः। तदा पार्थः प्रक्रुद्धात्मा विससर्ज पराञ्शरान् ॥२५९॥
कर्णस्य करतस्तेन छिन्ने शरशरासने। कर्णेनापि तथा छिन्नं धनंजयशरासनम् ॥२६०॥
पार्थो दिव्यास्त्रमादाय जगाद मधुरं वचः। दिव्यास्त्र दिव्यदेह त्वं शृणु बाणशरासन ॥२६१॥
यद्यस्ति त्वयि सत्यत्वं यद्यहं कुलरक्षकः। धर्मजे यदि धर्मोऽस्ति जहीमं तर्हि वैरिणम् ॥२६२॥
इत्युक्त्वा स च दिव्यास्त्रं विसर्ज्याखण्डयत्क्षणात्। कर्णशीर्षं तदा भूमौ कबन्धं बन्धुरं गतम् ॥२६३॥
चम्पाधिपे गते भूमौ विलापं विदधुर्नृपाः। अहो अद्यैव मार्तण्डः प्रचण्डः पतितोऽभ्रतः ॥२६४॥
त्वां विना को रणे तिष्ठेत्पार्थं प्रति सुसन्मुखम्। तावता च रणे याता नृपा दुःशासनादयः ॥२६५॥
भीमेनैकेन ते नीता एकोनशतकौरवाः। मृत्युगेहं यथा वृक्षा उत्थितेन सुवह्निना ॥२६६॥
जुगुर्नृपास्तदा क्रुद्धाः पञ्चास्यः स्म रणे तथा। यथा हन्ति गजान्भीमः कौरवान् कौरवं गतान् ॥२६७॥
दुर्योधनं तदा कश्चिद्बान्धवानां सुपञ्चताम्। जगाद भीमसंनीतां दुःखपुञ्जसमां भृशम् ॥२६८॥

अर्जुन का वध करो। इसी से कौरवों के हाथ में जय-लक्ष्मी आयेगी। सुनकर कर्ण उठ खड़ा हुआ और अर्जुन के साथ युद्ध करने लगा। इस वक्त उन दोनों ने ऐसी अविरल बाणों की बरसा की कि जिससे सारा गगन-मण्डल छा गया। इसी समय कृष्ण ने पार्थ से कहा कि पार्थ, शीघ्रता से बाण चलाओ और शत्रुओं को मार गिराओ। कृष्ण की उत्तेजना में अर्जुन को बड़ा जोश आया और तब वह अति शीघ्रता से बाण छोड़ने लगा। फल यह हुआ कि उसने थोड़े ही समय में कर्ण के धनुष-बाण को छेद दिया। तब उधर से कर्ण ने भी अपना जोर चलाया और धनंजय के धनुष को बे-काम कर दिया। बाद पार्थ दिव्य-अस्त्र हाथ में लेकर और दिव्यास्त्र के रक्षक देवों से बोला कि हे दिव्य-अस्त्र और दिव्य देह के धारक शरासन, तुम सब सुनो कि यदि तुममें कुछ सत्य है, हम सच्चे कुल-रक्षक हैं और युधिष्ठिर में कुछ धर्म है तो तुम इस वैरी का विध्वंस कर दो। यह कहकर उसने अपने दिव्य-अस्त्र को छोड़ा और क्षणभर में ही कर्ण के मस्तक को धड़ से जुदाकर दिया। देखते-देखते वीर कर्ण धराशायी हो गया ॥२५२-२६३॥

इस प्रकार चंपा नगरी के वीर राजा कर्ण को धराशायी होता देखकर कौरव रोने-विलाप करने लगे कि आज आकाश से सूरज ही पृथ्वी पर पड़ गया है और सदा के लिये अँधेरा कर गया है। हा कर्ण, तुम्हारे बिना अब रण में अर्जुन का सामना और कौन करेगा। हममें ऐसा शक्तिशाली कोई नहीं जो उस वीर का सामना करे और उसे नीचा दिखावे। इसी समय उधर दुःशासन आदि राजा युद्ध-स्थल में आ उपस्थित हुए। उन्हें अकेले भीम ने ही यम के घर पहुँचा दिया जैसे कि बहुत से वृक्षों को एक आग का कण खाक में मिला देता है-जला डालता है। यह देख नृप-गण कहने लगे कि देखो, जिस तरह जंगल में क्रुद्ध हुआ एक ही सिंह बहुत से गजों को धराशायी करता जाता है उसी तरह भीम भी इन कौरवों को धराशायी करता जा रहा है। इसे धन्य है। इसी समय किसी ने दुर्योधन

मस्तके वज्रवल्लग्नं श्रुतौ तद्वचनं तदा। भूपतेर्भयभीतस्य दुःखेन खिन्नचेतसः ॥२६९॥
भ्रातरः पतिता यत्र गतस्तत्र स कौरवः। तं सारथिरुवाचेदं पश्य भ्रातॄन्मृतान्भटान् ॥२७०॥
तदा दुर्योधनोऽपश्यद्भ्रातॄन्मृत्युं गतान्परान्। ग्रहभूतपिशाचानां पिशितैस्तृप्तिकारिणः ॥२७१॥
रणस्यावसरो नास्ति हित्वा प्रधनमुद्धुरम्। दुर्योधन गृहं गच्छेत्यवदत्सारथिस्तदा ॥२७२॥
तन्निशम्य नृपश्चित्ते क्रोधौद्धत्यं दधे ध्रुवम्। प्ररुध्य सारथिः प्राह पुनर्भूप वचः शृणु॥ ॥२७३॥
तित्यक्षसि च नाद्यापि दुराग्रहमहाग्रहम्। अर्धराज्यं त्वया दत्तं पाण्डवानां न हि प्रभो ॥२७४॥
शतबन्धुविनाशस्तु समानीतस्त्वया रणे। गजवाजिविनाशस्य प्रमाणं ज्ञायते न हि ॥२७५॥
स्वबुद्ध्या स्थीयतां नाथ यथा न स्यादुपद्रवः। दुर्योधनस्तदावोचत्त्वं किं वक्षि ममाग्रतः ॥२७६॥
निहत्य पाण्डवान्सर्वान्मरिष्येऽहं न चान्यथा। इत्युक्त्वा पाण्डुसैन्येन प्रचण्डो योद्धुमागमत् ॥२७७॥
द्वयोः सैन्यं दधावाशु महाहुंकारसंकुलम्। लाहि लाहि वदच्छौण्डानुत्खातखड्गधारिणः ॥२७८॥
मद्राधिपं तदा प्राप्तः पाण्डुभूपो महोन्नतः। भीमो दुर्योधनं यातो महाहवपरायणम् ॥२७९॥

के पास जाकर उससे उसके बान्धवों की मृत्यु का हाल कहा, जिन्हें कि भीम ने मारा था, जिनकी मृत्यु दुर्योधन को अत्यन्त दुख देने वाली थी। उनका हाल सुनकर उस पुरुष के वचन दुर्योधन के कानों में ऐसे लगे जैसा कि मस्तक पर वज्र गिर पड़ता है। उससे वह बड़ा भयभीत हुआ। उसका चित्त व्याकुल हो उठा। इसके बाद वह वहाँ गया जहाँ कि उसके भाई मरे हुए पड़े थे। उन्हें देख सारथी ने उससे कहा कि राजन्! उद्धत शूरवीर होने पर भी देखिए ये कैसे मरे पड़े हैं? ॥२६४-२७०॥

दुर्योधन ने भी उन्हें देखा। देखो, जो ऐसे विकराल थे कि ग्रह-भूत-पिशाच आदि के मांस से तृप्त होते थे वे ही आज मृत्यु के ग्रास होकर पृथ्वी पर लेटे हुए हैं। यह दशा देख सारथी ने दुर्योधन से कहा कि महाराज! इस समय अब युद्ध का मौका नहीं है आप युद्ध की इच्छा छोड़कर घर लौट चलिए। यह सुनकर दुर्योधन को बड़ा क्रोध आया और वह आपे से बाहर हो गया। यह देख सारथी ने रोष में आकर कहा कि महाराज, प्रभो, आपने न पाण्डवों को पहले उनके हिस्से का आधा राज्य दिया और न अब भी अपना दुराग्रह छोड़ते हैं ॥२७१-२७४॥

इसी का यह फल है कि इस युद्ध में आपके सौ भाइयों का सर्वनाश हो गया और अन्यसेना का तो इतना संहार हुआ कि उसका तो कुछ पता ही नहीं है। अतः नाथ, अब आप स्थिर होकर रहें तो अच्छा है, जिससे कुछ और उपद्रव खड़ा न हो। सुनकर दुर्योधन ने उससे कहा कि कायर! तू यह क्या कहता है। देख, मैं तभी मरूँगा जब पाण्डवों की सत्ता भी संसार से उठा दूँगा और तरह मैं कदापि मरने का नहीं। यह कहकर वह प्रचंड पाण्डवों की सेना के साथ फिर युद्ध करने को चला। दोनों ओर की सेनायें महान् अहंकार से भरी हुई दौड़ी। तलवारें हाथ में लिये हुए उनके शूरवीर योद्धा ''मारो-मारो कहते हुए परस्पर में भिड़ गये। वे एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। उस समय एक योद्धा दूसरे से कहता था कि वीरो! या तो अपना शरीर हमें सौंप दो या युद्ध की लालसा का शमन करो और तरह तुम्हारी भलाई न होगी। इसी समय युधिष्ठिर मद्राधिप के साथ और भीम महान् युद्ध करने वाले दुर्योधन के साथ भिड़ पड़ा ॥२७५-२७९॥

कर्णपुत्रास्त्रयः प्राप्ता नकुलं विपुले रणे। मद्रीसुतेन खड्गेन भटा अष्टौ निपातिता : ॥२८०॥
चम्पाधिपसुतैः सार्धं युयुधे नकुलो बली। दुर्योधनस्तदा भीमांश्चापं विच्छेद मारुतेः ॥२८१॥
शक्तिं लात्वावधीद् भीमो वक्षो दुर्योधनस्य वै। कौरवस्तु तदा मूर्च्छामित उन्मूर्च्छितः क्षणात् ॥२८२॥
संक्रुद्धः कौरवो भीमं जलस्थलनभश्चरैः। बाणैश्चच्छाद कवचं क्षुरप्रैस्तस्य चाभिनत् ॥२८३॥
भीमः क्रुद्धो गदां लात्वा सहस्राणि च विंशतिम्। भटानामवधीदष्टौ सहस्राणि रथात्मनाम् ॥२८४॥
यत्र यत्र परं याति भीमस्तत्र न तिष्ठति। नृपः कोऽपि भयत्रस्तः संत्रस्तसुमनोरथः ॥२८५॥
यं यं पश्यति भीमेशः स स गच्छति पञ्चताम्। धर्मात्मजस्तदावोचद्दुर्योधननृपं प्रति ॥२८६॥
त्व भृत्यत्वं समासाद्य सुखं तिष्ठ यदृच्छया। गृहाण मत्तमातङ्गान्रथानद्यापि वाजिनः ॥२८७॥
अद्याप्याज्ञां प्रतीच्छ त्वं मदीयां सदयो भव। छत्री सिंहासनारूढो राजाद्यापि भवोन्नतः ॥२८८॥
अद्यापि जहि दुष्टत्वं भज मैत्र्यं मया सह। निशम्येति जजल्पासौ धार्तराष्ट्रः सुगर्वभृत् ॥२८९॥
आवयोर्जन्मतो जातं वैरं नो याति निश्चितम्। एकोऽहं मारयिष्यामि विपुलान्पाण्डवान्रणे ॥२९०॥

उधर कर्ण के तीन पुत्र नकुल के साथ युद्ध करने लगे। वीर नकुल ने थोड़े ही समय में अपनी तलवार को आठ योद्धाओं का खून पिलाकर उन्हें धराशायी कर दिया। उसने कर्ण के पुत्रों के साथ भी डट के युद्ध किया। इसी समय बुद्धिमान् दुर्योधन ने भीम के धनुष को छेद डाला। तब भीम ने हाथ में शक्ति ली और दुर्योधन के वक्षस्थल में एक ऐसा प्रहार किया कि वह मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। इसके बाद वह थोड़ी देर में जब होश में आया तब उसे बड़ा भारी क्रोध आया और वह एक दम भीम पर टूट पड़ा। फल यह हुआ कि उसने जलचर, नभचर और थलचर बाणों के द्वारा भीम को बिल्कुल ही पूर दिया और उसका कवच छेद डाला ॥२८०-२८३॥

अपना यह हाल देख भीम के क्रोध का कुछ पार न रहा और गदा हाथ में लेकर उसने कोई बीस हजार योद्धाओं को यमपुर भेज दिया और आठ हजार रथ को चूर डाला तथा असंख्य हाथी-घोड़ों को प्राण-रहित कर दिया। सच तो यह है कि भीम जहाँ-जहाँ जाता था वहाँ-वहाँ उसके डर के मारे कोई भी राजा न ठहरता था-सब अपने-अपने मनोरथ व्यर्थ समझकर भागते थे अथवा यों कहिए कि भीम जिस किसी के ऊपर अपनी दृष्टि डालता था वही यमलोक का शरण लेता था ॥२८४-२८६॥

इसी समय रणोद्धत दुर्योधन से युधिष्ठिर ने कहा कि तुम मेरी अधीनता स्वीकार कर जी चाहे वहीं सुख से रहो और रथ, हाथी, घोड़े आदि जो कुछ सम्पत्ति चाहिए वह मुझसे लो। तात्पर्य यह कि मेरी भृत्यता मान लेने पर तुम्हें किसी भी तरह की तकलीफ न होगी। तुम जो चाहोगे वही तुम्हारी चाह पूरी होगी। देखो, आज सारे दिन इस बात की मैं प्रतीक्षा करूँगा कि तुम मेरी आज्ञा स्वीकार कर दयालु होओ, जिससे व्यर्थ ही इन हजारों योद्धाओं की बलि न चढ़े। तुम सच्चे क्षत्रिय बन कर आज भी सिंहासन पर आरूढ़ हो उन्नत राजा बन सकते हो। ऐसा करने से तुम अपने कर्तव्य का पालन कर सकोगे। संसार में तुम्हारी कीर्ति होगी। मेरा यही कहना है कि अब भी तुम अपनी

न भुनज्मि महीं भोक्तुं न दास्ये पाण्डवेशिनाम्। उक्तेनालं त्वमद्यापि सज्जो भव रणाङ्गणे ॥२९१॥
इत्युक्त्वा सोऽसिना भूपं जघान क्रोधकम्पितः। धर्मात्यजः परं खङ्गं यावत्संधरति ध्रुवम् ॥२९२॥
तावत्तत्र समायासीदन्तरे पावनिर्मुदा। समस्तारिबलं छेत्तुं भ्रूभङ्गैर्भीषणः स्थितः ॥२९३॥
आकारयन्कुरूणां हि सैन्यं प्रबलसंयुतम्। तिष्ठ तिष्ठेति संजल्पन्भीमस्तस्थौ रणाङ्गणे ॥२९४॥
भीमो गदां समादाय तडिज्झङ्कारसंनिभाम्। यमजिह्वोपमां नागकन्यां वा विदधे रणम् ॥२९५॥
दुर्योधनस्य शीर्षे सा भीममुक्ता पपात च। कण्ठप्राणो महीपीठे पतितः कौरवस्तदा ॥२९६॥
बंभणीति स्म मन्दं स कोऽप्यस्ति कौरवे बले। जीवन्पाण्डववृन्दस्य क्षयं नेतुं क्षमः क्षितौ ॥२९७॥
तदा बभाण कश्चिच्च गुरुपुत्रः पवित्रवाक्। समर्थस्तान्क्षयं नेतुं विषमो वैरिणोऽस्ति वा ॥२९८॥
अश्वत्थामा समाकर्ण्य तद्वधं क्रुद्धमानसः। न्यवेदयज्जरासंधं बन्धुरं चेति निष्ठुरम् ॥२९९॥
प्रभो दशसहस्रेण नृपेण कौरवः क्षितौ। पतितस्तन्निशम्याशु चक्री शोकाकुलोऽभवत् ॥३००॥
सेनापत्यादिसैन्येनादिदेश गुरुनन्दनम्। जरासंधस्तु युद्धाय प्रचण्डः पाण्डवान्प्रति ॥३०१॥

दुष्टता छोड़कर मेरे साथ मैत्री भाव स्वीकार करो। सुनकर दुर्योधन अभिमान के साथ बोला कि तुम्हारे साथ मेरा तो जन्म से ही वैर है, वह आज कैसे मिट सकता है। मैं तुम्हारी अधीनता स्वीकार करूँ, यह असंभव है, किन्तु याद रखिए मैं अकेला ही सारे संसार से तुम लोगों की सत्ता उठा दूँगा- तुममें से एक को भी मैं जीता न छोडूँगा और एक बात है कि मैं यदि पृथ्वी को नहीं भोग सकूँगा तो तुम्हें भी नहीं भोगने दूँगा। सच तो यह है कि तुम सज कर रण-स्थल में उतरो और मेरे साथ युद्ध करो। तुम्हारा मेरा फैसला युद्ध में ही होगा। यह कहकर क्रोध के मारे काँपते हुए दुर्योधन ने युधिष्ठिर के ऊपर तलवार का एक बार किया। युधिष्ठिर ने उसे अपनी तलवार पर रोक लिया। इसी बीच में वहाँ, अपनी भृकुटी मात्र से वैरी के सेना की कंपित कर देने वाला भीम आ गया और कौरवों की प्रबल सेना को ललकारता हुआ कि ठहरो-ठहरो भागो मत, रण-स्थल में डट गया ॥२८७-२९४॥

वह गदा हाथ में लेकर युद्ध करने लगा। उस समय वह गदा उसके हाथों में ऐसी जान पड़ी मानों बिजली ही है या यम की जीभ है अथवा नागकन्या ही है। इसके बाद भीम ने क्रोधित हो जो गदा-प्रहार किया वह जाकर दुर्योधन के मस्तक पर गिरा। उसने दुर्योधन को कंठ-गत प्राण कर दिया। वह जमीन पर धड़ाम से गिरा। अपने जीवन का कोई उपाय न देख उसने धीमे से कहा कि क्या अब भी कौरवों की सेना में कोई ऐसा वीर जीता बचा है जो पाण्डवों का सर्वनाश कर सके। यह सुन किसी पास खड़े हुए भृत्य ने कहा कि हाँ, है और वह पवित्र गुरु-पुत्र अश्वत्थामा है। वह पाण्डवों का विध्वंस कर सकता है। उसे वैरी दबा नहीं सकते। वह उनके लिए दुर्जय है। उधर ज्यों ही अश्वत्थामा ने दुर्योधन के वध का हाल सुना त्यों ही वह क्रुद्ध होकर जरासंध के पास गया और बोला कि प्रभो! दस हजार राजाओं के साथ ही आज दुर्योधन भी धराशायी हो गया है। यह सुन जरासंध को बड़ा शोक हुआ। वह व्याकुल हो उठा। इसके बाद ही उसने अपने सेनापति आदि के साथ ही प्रचंड अश्वत्थामा को पाण्डवों के साथ युद्ध करने के लिये आदेश किया ॥२९५-३०१॥

गुरुपुत्रः समागत्य दुर्योधनसमीपताम्। रुदन् बभाण भो तात सर्वं शून्यं त्वया विना ॥३०२॥
अस्माभिर्ब्राह्मणैस्ताताभोजि राज्यं समुज्ज्वलम्। त्वत्प्रसादादिदानीं किं नाथ ब्रूहि करिष्यते ॥३०३॥
तावता चक्रिणा शीर्षे बबन्ध मधुभूपतेः। चर्मपट्टः पुनः सोऽपि प्रेषितः सह सद्बलैः ॥३०४॥
अधुना पाण्डवानां हि विनाशो नेष्यते मया। संलोष्ये कृष्णशीर्षं हि भणित्वेति चचाल सः ॥३०५॥
दुर्योधनस्तदावोचन्मया बद्धस्तवाधुना। पट्टस्त्वं याहि संग्रामेऽश्वत्थामञ्जहि वैरिणः ॥३०६॥
अश्वत्थामा स्वसैन्येन गत्वा पाण्डवसैन्यकम्। वेष्टयामास सर्वत्र चतुर्दिक्षु भयप्रदम् ॥३०७॥
तदा सस्मार सद्विद्यां माहेश्वरीं गुरोः सुतः। शूलहस्ता दधावासौ चन्द्रभाला समायिका ॥३०८॥
तन्माहात्म्यान्ननाशाशु विष्णुपाण्डवयोर्बलम्। गुरुपुत्रश्चरन्सैन्ये चूरयामास तद्बलम् ॥३०९॥
गजा रथादिवाहानां महीपा दलिता रणे। तेन पाञ्चालभूपस्य शिरश्छिन्नं समुत्कटम् ॥३१०॥
जयश्रियं समाप्यासौ गुरुपुत्रः शिरस्तदा। तस्य दुर्योधनस्याग्रे दधौ धृतिकरं परम् ॥३११॥
तन्निरीक्ष्य तदावोचत्कौरवः पाण्डवान्भुवि। हन्तुं क्षमोऽस्ति कोऽप्यत्र निरस्ता यैर्नराः सुराः ॥३१२॥
द्रोणकर्णौ रणे ध्वस्तौ यैस्तु पावनिना हतः। अहमेकेन चान्येषां हतानां तत्र का कथा ॥३१३॥

अश्वत्थामा वहाँ से दुर्योधन के पास आया और उसकी यह दशा देख शोक से बोला कि हे वीरवर, आपके बिना आज यहाँ सब शून्य देख पड़ता है, कुछ भी अच्छा नहीं लगता। राजन्! अब तक तुम्हारे ही प्रसाद से हम ब्राह्मण लोग इस उज्ज्वल राज्य को भोगते थे। परन्तु अब तुम्हारे बिना हम क्या करेंगे। इतने ही में जरासंध ने मधु राजा के सिर पर भी वीरपट्टक बाँधकर उसे बहुत सेना देकर पाण्डवों से युद्ध करने के लिये भेज दिया। वह अपने दिल में यह ठानकर चला कि मैं अभी जाकर पाण्डवों का विनाश किये डालता हूँ और साथ ही कृष्ण का मस्तक भी धड़ से जुदा किये देता हूँ। इस बात को क्रोध में आकर उसने बड़-बड़ाते हुए कह भी डाला ॥३०२-३०५॥

अश्वत्थामा को देखकर मृत्यु-मुखगत दुर्योधन ने उससे कहा कि वीर अश्वत्थामा, लो मैं तुम्हारे मस्तक पर वीरपदक बाँधता हूँ। तुम अभी जाओ और शत्रु के साथ युद्ध कर उसे यमालय को भेजो। इसके बाद अश्वत्थामा अपनी सेना को साथ लेकर चला और जाकर ही उसने सब ओर से पाण्डवों की भयंकर सेना को घेर लिया। उसने इस समय माहेश्वरी विद्या को याद किया। वह त्रिशूल को हाथ में लिये उसी वक्त दौड़ी आई। उसके मस्तक में चंद्र का चिह्न था। वह उससे बड़ी सुशोभित हो रही थी। उसके प्रभाव को विष्णु और पाण्डवों की सेना न सह सकी और वह भाग छूटी और जो कुछ थोड़ी बहुत रही थी उसे अश्वत्थामा ने चूर डाला। उसने हाथी, घोड़े, रथ और राजा वगैरह सब को पद-दलित कर पांचाल के राजा का मस्तक छेद दिया ॥३०६-३१०॥

इस प्रकार, वह जय-लक्ष्मी से भूषित हो पांचाल के राजा का सिर लेकर दुर्योधन के पास गया और उसे उसने उसके आगे रख दिया। दुर्योधन को वह मस्तक देखकर कुछ संतोष हुआ। वह बोला कि संसार में क्या कोई ऐसा शक्तिशाली भी हैं जो पाण्डवों की विध्वंस करे, जिन्होंने कि सुर-असुर और नर सबको ही परास्त कर द्रोण और कर्ण को काल के घर पहुँचा दिया है और

पञ्चापि पाण्डवाः सन्ति जीवन्तस्तत्र किं परैः। हतैः पाञ्चालभूपाद्यैर्वृथानर्थपरायणैः ॥३१४॥
हरिणा पाण्डवैस्तूर्णं बलेनाश्रावि मस्तकम्। सेनान्या सह संछिन्नं तस्य द्रोणसुतेन च ॥३१५॥
तच्छ्रुत्वा दुःखिताः सर्वे रुरुदुः पाण्डवादयः। कृष्णोऽवोचन्न कर्तव्यः शोकः स्मो जीविता वयम् ॥३१६॥
तदा क्रुद्धो जरासंधः प्रलयाब्धिरिवाययौ। तदा सुरैर्हरिः प्रोचे मा विलम्बय केशव ॥३१७॥
जहि मागधभूपालं भविता ते महोदयः। श्रुत्वेत्याकारितश्चक्री विष्णुना भाविचक्रिणा ॥३१८॥
दृष्ट्वा यदुचमूं सोऽथ दूतं पप्रच्छ सोमकम्। ख्याहि सर्वान्नृपाञ्श्रुत्वा सोऽवोचच्चिह्नपूर्वकम् ॥३१९॥
समुद्रविजयः स्वर्णवर्णाश्वोऽयं हरिध्वजः। अयं तु शुकवर्णाश्वो रथनेमिर्वृषध्वजः ॥३२०॥
सेनाग्रे श्वेतवाहोऽयं वैकुण्ठस्तार्क्ष्यकेतनः। रामोऽयं नीलवर्णाश्वोऽस्यावामे तालकेतनः ॥३२१॥
नीलाश्वेन रथेनैष पाण्डुसूनुर्युधिष्ठिरः। भीमोऽयं भाति भीतिघ्नो विचित्ररथसंस्थितः ॥३२२॥
शक्रसूनुरयं श्वेततुरङ्गः कपिकेतनः। उग्रसेनः पुनरयं शुकतुण्डनिभैर्हयैः ॥३२३॥

जिनमें से अकेले भीम ने ही हजारों राजाओं महाराजाओं को यमलोक को पहुँचा कर मुझे भी इस हालत में ला दिया है। सच तो यह है कि जब पाँचों ही पाण्डव जीते हैं तब इन तुच्छ पांचाल आदि राजाओं को मारना तो किसी भी काम का नहीं, व्यर्थ ही है। इन निरीह राजाओं के मारने से क्या लाभ होगा। मारना तो चाहिए उन पाण्डवों को जिन्होंने कि जगत् भर को ही जेर कर रक्खा है ॥३११-३१५॥

उधर हरि, पाण्डव और बलभद्र आदि के कानों में जब यह बात पहुँची कि अश्वत्थामा ने सेनानी सहित पांचाल के राजा का मस्तक छेद डाला तब उन्हें बड़ा दुख हुआ। यह देख कृष्ण ने कहा कि इस वक्त शोक न कीजिए, यह शोक का मौका नहीं है। एक पांचाल पति मारा गया तो क्या हुआ, हम सब तो अभी जीते हैं। उधर कौरवों की दुर्दशा सुनकर जरासंध क्रोध से प्रलय-काल के समुद्र की भाँति उमड़ा हुआ वहाँ आया। यह देख देवताओं ने कृष्ण से कहा कि केशव, समय आ गया है, अब आप विलम्ब न कर मगधाधिपति जरासंध का शीघ्र काम तमाम कीजिए। यही आपके महोदय का समय है। सुनकर भविष्य चक्रवर्ती कृष्ण ने उसी समय जरासंध को ललकारा ॥३१६-३१८॥

फिर क्या था, यादवों की सेना तैयार होकर चली, जिसे देखकर जरासंध ने सोमक नाम दूत से कहा कि तुम मुझे इन सब राजाओं का परिचय दो। दूत भिन्न-भिन्न सब राजाओं के चिह्न बताता हुआ उसे उनका परिचय देने लगा। वह बोला कि देखिए, महाराज, वह समुद्रविजय का रथ है, जिसमें सोने जैसे वर्ण वाले घोड़े जुते हुए हैं और सिंह की ध्वजा है। वह रथनेमि का रथ है, जिसमें हरे रंग के घोड़े जुते हैं और बैल की ध्वजा है। सेना के आगे वह कृष्ण का रथ है, जिसमें सफेद घोड़े जुते हैं और गरुड़ की ध्वजा हैं। यह दाहिनी ओर राम का रथ है, जिसमें नीले वर्ण के घोड़े हैं और ताल की ध्वजा है। यह नीले घोड़ों वाला युधिष्ठिर का रथ है और वह विचित्र रथ भीम का है। महाराज, भीम भीति को दूर करने वाला अद्भुत वीर योद्धा है ॥३१९-३२२॥

वह सफेद घोड़ों और वानर की ध्वजा वाला अर्जुन है। वह उग्रसेन है, जिसके रथ को लाल वर्ण के घोड़े खींच रहे हैं। वह पीले घोड़ों वाला और हिरण की ध्वजा वाला जरत्कुमार है। शिशुभार

जरासूनुरयं स्वर्णतुरगो मृगकेतनः। मेरुः कपिलरक्ताश्वः शिशुमारध्वजस्त्वयम् ॥३२४॥
काम्बोजैर्वाजिभिश्चायं सिंहलः सूक्ष्मरोमशः। पद्माभैर्वाजिभिश्चैष नृपः पद्मरथः पुरः ॥३२५॥
कृष्णाश्वोऽयमनावृष्टिर्गजकेतुश्चमूपतिः। एवं श्रुत्वा क्रुधाक्रान्तो युयुधे मागधश्चिरम् ॥३२६॥
तदा तौ मार्गणाज्ज्यायां टंकारारावपूरिते। चापे संरोप्य मुञ्चन्तौ सिंहाविव विरेजतुः ॥३२७॥
विष्णुना वह्निबाणेन ज्वालितं मागधं बलम्। चक्रिणा वारिबाणेन शान्तिं नीतं निजं बलम् ॥३२८॥
पुनश्चक्री मुमोचाशु नागपाशं महाशुगम्। तार्क्ष्यबाणेन चिच्छेद केशवस्तं समुद्धतम् ॥३२९॥
विससर्ज जरासंधो विद्यां च बहुरूपिणीम्। स्तंभिनीं चक्रिणीं शूलां मोहयन्तीं हरेर्बलम् ॥३३०॥
ताः सर्वा विष्णुना वेगान्महामन्त्रेण नाशिताः। बहुरूपिणीं गतां वीक्ष्य चक्री जातो विषण्णधीः ॥३३१॥
सुस्मृतं मागधश्चक्रमर्काभं च स्फुरत्प्रभम्। चर्चयित्वागतं हस्ते मुमोच मधुसूदनम् ॥३३२॥
स्फुरन्नभसि तच्चक्रं त्रासयद् यादवं बलम्। विवेशार्क इव व्योम्नि तत्सेनायां महाकरैः ॥३३३॥
तदा सर्वे नृपा नष्टाः स्थिरं तस्थौ जनार्दनः। हलिना पाण्डवैः सार्धं निर्भयो भीषयन्परान् ॥३३४॥

की ध्वजा वाला और लाल-पीले घोड़ों वाला वह मेरु का रथ है। वह सूक्ष्मराम का रथ है, जिसमें कि कांबोज के घोड़े - जुते हैं और सिंह की ध्वजा है। कमल जैसे लाल रंग के घोड़ों वाला यह रथ पद्मरथ का है। यह पंचपुंड्र देश के घोड़ों वाला और कुंभ की ध्वजा वाला रथ विदूरथ का है। कपोत जैसे रंग के जिसमें घोड़े जुते हैं तथा पद्म की जिसकी ध्वजा है वह रथ शारण का है और यह अनावृष्टि नाम सेनापति का रथ है जिसमें कि हाथी की ध्वजा है और काले घोड़े जुते हुए हैं ॥३२३-३२५॥

पाण्डवों की इस प्रकार विशाल सेना का हाल सुन जरासंध को बड़ा क्रोध आया। इसके साथ ही वह कृष्ण के साथ भिड़ गया। वे धनुष के टंकार से दिशाओं को शब्दमय करते, धनुषों की डोरियों पर बाणों की चढ़ाते ऐसे शोभते थे मानों दो पराक्रमी सिंह ही आपस में भिड़ रहे हैं। इसी समय कृष्ण ने एक अग्नि बाण छोड़ा। उससे जरासंध की सारी सेना में आग लग उठी। चक्री ने जल-बाण छोड़कर कृष्ण के अग्निबाण को वारण किया और सेना में शान्ति की। इसके बाद जरासंध ने नागपाश चलाया, जिसे कृष्ण ने गरुड़ बाण से वारण किया। तब जरासंध ने बहुरूपिणी, स्तंभिनी, चक्रिणी, शूला आदि बहुत-सी विद्याओं को भेजकर कृष्ण की सारी सेना की अचेत कर दिया। कृष्ण ने उन सबको भी महामंत्र के बल से भगा दिया। यह देख जरासंध की बहुरूपिणी विद्या भी चली गई। इससे जरासंध बड़ा खेद-खिन्न हुआ। उसके विषाद का कुछ पार न रहा ॥३२६-३३१॥

इसके बाद जरासंध ने चक्ररत्न को याद किया। वह उसी समय उसके हाथों में आ गया। उसकी सूरज जैसी प्रभा थी। उसकी किरणें चारों ओर फैल रही थी। पहले जरासंध ने उसकी पूजा की और बाद उसे कृष्ण पर चलाया। वह अपनी किरणों से यादवों की सारी सेना को त्रसित करता हुआ सेना के भीतर घुसा, जैसे अपनी किरणों से सुशोभित सूरज आकाश में प्रवेश करता है। इस समय उसके तेज के मारे वहाँ कोई भी नहीं ठहर सका-सब भाग खड़े हुए। केवल शत्रुओं को भय उत्पन्न करने वाले निर्भय कृष्ण, बलदेव तथा पाण्डव ही रहे। जरासंध का चलाया हुआ चक्र कृष्ण

त्रिः परीत्य हरिं चक्रं स्थितं तद्दक्षिणे करे। तदा जयारवो जातो यादवीये बलेऽखिले ॥३३५॥
माधवो मधुरैर्वाक्यैर्मगधेशमुवाच च। नम मे चरणद्वन्द्वं धरामद्यापि धारय ॥३३६॥
मदाज्ञां पालय त्वं हि पूर्ववत्सुखितो भव। तन्निशम्य जरासंधः क्रुद्धोऽवोचद्विषण्णधी ॥३३७॥
त्वं गोपालो महीशेन मया नंनम्यसे कथम्। चक्रगर्वेण गर्वी त्वं मा भूयाः कुम्भकारवत् ॥३३८॥
त्वं च याहि ममाभ्यर्णान्मद्भुजाभ्यां म्रियस्व मा। समुद्रभविजयो भूपः सेवको मम सर्वदा ॥३३९॥
त्वत्पिता वसुदेवो मे पदातिः पुरतः स्थितः। त्वं गोपतनयो गोपः पापाद्यासि क्षयं खलु ॥३४०॥
तन्निशम्य तदा क्रुद्धः कृष्णश्चक्रं व्यचिक्षिपत्। तेन च्छित्वा जरासंधशीर्षं भूमौ निपातितम् ॥३४१॥
परावृत्य पुनश्चक्रं विष्णुहस्तं उपस्थितम्। तदा जयारवश्चक्रे सुरैर्भूपैश्च यादवैः ॥३४२॥
पुष्पवृष्टिं प्रकुर्वाणाः सुराः प्राहुस्त्रिखण्डपः। नवमस्त्वं समुत्पन्नो धरां धत्स्व स्वपुण्यतः ॥३४३॥
केशवो रणभूमिं तां शोधयन्पतितं नृपम्। जरासंधं निरीक्ष्याशु विषसाद सपाण्डवः ॥३४४॥
निश्वसन्तं निरीक्ष्याशु दुर्योधनमुवाच सः। स्मर धर्मं दयायुक्तं विस्मर द्वेषभावनाम् ॥३४५॥

के पास आकर और कृष्ण की तीन प्रदक्षिणा देकर उसके दाहिने हाथ में आ गया। उसे कृष्ण के हाथों में आते ही यादवों की सेना में जयध्वनि हुई ॥३३२-३३५॥

इस वक्त कृष्ण ने मधुर मीठे वचनों में जरासंध से कहा कि जरासंध! अब भी समय है, मेरे चरणों में मस्तक नमा कर राज्यभोग करो। देखो, अभी कुछ बिगड़ा नहीं है, चेतो, इसमें तुम्हारी भलाई है। मेरी आज्ञा शिरोधार्य कर तुम पहले की तरह ही सुख से राज्य भोगो। कृष्ण की यह मर्मवाणी सुनकर जरासंध को बहुत क्रोध आया और वह विषाद करता हुआ बोला कि ओह! भूल गया कि तू एक ग्वाल है और मैं राजा हूँ। मैं तुझे नमस्कार करूँ। यह कभी नहीं हो सकता। तू चक्र का कुछ गर्व न कर। चक्र तो कुम्हार के पास भी होता है। सच तो यह है कि तू यहाँ से शीघ्र ही भाग जा, व्यर्थ ही मेरी भुजाओं का बलि न बन। क्या तुझे याद नहीं है कि समुद्रविजय सदा से मेरा सेवक रहा है और तेरा पिता वसुदेव पहले मेरे यहाँ पयादा था। तू तो एक दीन ग्वाल का पुत्र है, फिर रे खल, जान पड़ता है तेरे पाप का ही उदय आ पहुँचा है जो तू जान-बूझकर मृत्यु के मुख में प्राप्त होना चाहता है। सुनकर कृष्ण के नेत्र क्रोध से लाल हो गये। उसने उसी समय जरासंध पर चक्र चलाया। चक्र ने उसका मस्तक धड़ से जुदा करके पृथ्वी पर गिरा दिया ॥३३६-३४१॥

इसके बाद चक्र लौटकर वापस कृष्ण के हाथ में आ गया। यह देख देवताओं, राजाओं और यादवों ने बड़े प्रसन्न होकर कृष्ण का जय-जयकार किया। उस जयध्वनि से सब दिशायें गूँज उठीं। कृष्ण पर फूलों की बरसा करते हुए देवताओं ने कहा कि कृष्ण, तुम तीन खण्ड के स्वामी नौंवें नारायण हो। अतः अपने पुण्य से पाई हुई इस पृथ्वी का अब तुम भरण-पोषण करो, इसका शासन करो ॥३४२-३४३॥

इस विजय के बाद कृष्ण रण-भूमि में पहुँचे। जब उनकी दृष्टि मरे पड़े जरासंध पर पड़ी तब उन्हें बड़ा विषाद हुआ। इसी तरह जरासंध को देखकर पाण्डव भी बड़े दुखी हुए। कृष्ण ने वहीं एक

येन ते जायते जीवः सुखी जन्मनि जन्मनि। तदा क्रुद्धो जगादैवं दुर्योधनो गतत्रपः ॥३४६॥
अजीविष्यमहं नूनमकरिष्यं भवत्क्षयम्। निशम्येति तदा नूनं निश्चिक्युस्तमधर्मिणम् ॥३४७॥
गान्धारेयोऽधमो धर्महीनोऽथ निश्वसन्क्षणात्। दुर्लेश्यो दुर्गतिं मृत्वा प्रपेदे पापपाकतः ॥३४८॥
पुनस्तु पतितं सैन्यं द्रोणं कर्णं निरीक्ष्य च। रुरुदुः पाण्डवाः सर्वे शुचा विष्णुबलादयः ॥३४९॥
दहनं च तदा तेषां जरासंधादिभूभुजाम्। चन्दनागुरुभिः शीघ्रं चक्रुः केशवपाण्डवाः ॥३५०॥
अत्रान्तरे महामात्या जरासंधतनूद्भवम्। सहदेवं नये निष्णं कृष्णस्याङ्के निचिक्षिपुः ॥३५१॥
माधवस्तं विधत्ते स्म मगधेषु पुनर्नृपम्। प्रणिपातावसानो हि कोपो विपुलचेतसाम् ॥३५२॥
त्रिखण्डभरताधीशो भूत्वा स हलिना सह। विवेश द्वारिकां रम्यां वाद्यवृन्दैः समुत्सवैः ॥३५३॥
पाण्डवाः स्वपुरं प्रापुर्हस्तिनागपुरं परम्। धर्मकर्म प्रकुर्वाणाः शर्मसिद्धिमुपागताः ॥३५४॥

जगह निस्सांसें छोड़ते हुए दुर्योधन को देखा। देखकर वे साम्यभाव से बोले कि भाई, अब तुम दया-मय धर्म को याद करो और द्वेष की भावना को बिल्कुल ही भूल जाओ। देखो, जीवों को जो जन्म-जन्म में सुख मिलता है वह सब इस धर्म का ही प्रभाव है। इसलिए अब तुम अपने आत्मा को और-और झंझटों से निकालकर इसी की ओर झुकाओ। इसमें तुम्हारी भलाई हैं। सुनकर निर्लज्ज दुर्योधन को उस दशा में भी बड़ा क्रोध आया और वह बोला कि तुम घबराओ मत, मैं निश्चय से जीऊँगा और तुम्हारा सर्वनाश करूँगा। तुम मुझे क्या सीख देते हो, मैं कभी तुम्हें छोड़ने वाला नहीं। तुम चाहे कैसी ही बातें क्यों न बनाओ। उसके ऐसे उत्तर के सुनकर कृष्ण ने समझ लिया के यह बड़ा अधर्मी है-इसे धर्म की बात कभी नहीं सुहायेगी। इसके बाद निस्सांसें छोड़ता हुआ वह धर्म-हीन अधर्मी दुर्योधन थोड़ी ही देर में अशुभ लेश्या से मरा और मर कर पाप के उदय से दुर्गति में गया, जो बड़ा भारी दुख का स्थान है ॥३४४-३४८॥

इसके बाद सेना, द्रोण तथा कर्ण को मृत्यु के मुख में पड़े देखकर पाण्डव, कृष्ण, बलदेव आदि बड़े शोकाकुल हुए और उन्होंने उसी वक्त जरासंध आदि सब राजा की चन्दन, अगुरु आदि से दग्ध-क्रिया की। इसी समय जरासंध के मंत्रियों ने सहदेव नाम उसके पुत्र को लाकर उसे कृष्ण की गोद में रख दिया और कृष्ण ने भी उसे अपने पिता की गादी पर बैठाकर मगध देश का राजा बना दिया। सच है कि गंभीर पुरुषों का क्रोध तभी तक रहता है जब तक कि शत्रु नम्र नहीं होता है। शत्रु के नम्र हो जाने पर तो वे और भी नम्र हो जाते है और वैर-विरोध को एकदम जलांजलि दे डालते हैं ॥३४९-३५२॥

इसके बाद तीन खण्ड के स्वामी होकर कृष्ण ने बलभद्र सहित भाँति-भाँति के उत्सवों और बाजों के साथ रमणीक द्वारिका में प्रवेश किया। इधर पाण्डव भी अपनी राजधानी हस्तिनापुर में आ गये। वहाँ वे धर्म-युक्त कर्मों को करते हुए रहने लगे। उन्हें सब सुख प्राप्त हुए-किसी भी बात की उनके लिए कमी न रही। जो वैरियों के समूह का नाशकर सब मनुष्यों से सेवित हुए-इन्द्र-तुल्य हुए, जो कल्याण-समुद्र के पूर और संसार के भय को हरने वाले धर्म के धारक हुए, पुण्य-योग से

क्षिप्त्वा ये वैरिचक्रं नरनिकरनताः शक्रतुल्याः स्मरन्तः
धर्मं शर्माब्धिपूरं विषमभवहरं पाण्डवाः पुण्यतो वै।
राज्यं प्राज्यं समाप्ता गजपुरनगरे सर्वसंतानसौख्यम्
भुञ्जन्तो भव्यवर्गै रिपुभयमथनास्ते जयन्तु क्षितीशाः ॥३५५॥
धर्मात्मा धर्मपुत्रो रिपुभयहरणो भीमसेनः सुसेनः
ख्यातः क्षोण्यां सुपार्थः पृथुगुणसुकथः प्रार्थितो बन्दिवृन्दैः।
मद्रीपुत्रौ पवित्रौ नकुलवरसहाद्यन्तदेवौ सुदेवौ
पञ्चैते पाण्डुपुत्राश्चिरमसमगुणाः पालयन्ति स्म पृथ्वीम् ॥३५६॥

इति श्रीपाण्डवपुराणे महाभारतनाम्नि भट्टारकश्रीशुभचन्द्रप्रणिते ब्रह्म० श्रीपालसाहाय्यसापेक्षे पाण्डवकौरवसंग्रामजरासंधवधवर्णनं नाम विंशं पर्व ॥२०॥

जो उत्तम राज्य को प्राप्त कर हस्तिनापुर में अपूर्व संतान सुख के भोक्ता हुए और अनेक भव्य पुरुषों ने जिन से सुख पाया उन शत्रु के भय को दूर करने वाले पाण्डवों की जय हो ॥३५३-३५५॥

धर्मात्मा युधिष्ठिर शत्रुओं के भय को हरने वाले हुए हैं, भीमसेन सेना में बड़े प्रसिद्ध वीर हुए हैं, पार्थ अपने पृथु गुणों से बंदीजनों द्वारा प्रार्थित हुए हैं, इसी प्रकार मद्री के पुत्र पवित्र नकुल और सहदेव, वीरता में प्रख्यात हुए हैं ये असाधारण गुणों के भण्डार पाँचों ही पाण्डव चिरकाल तक पृथ्वी का पालन करें ॥३५६॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में पाण्डव-कौरवों का युद्ध और जरासंध के वध का वर्णन करने वाला बीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२०॥

❑ ❑ ❑

एकविंशं पर्व

मल्लिं शल्यहरं कर्ममल्लजेतारमुन्नतम्। मल्लिकामोदसद्देहं वन्दे सत्कुलपालिनम् ॥१॥
अथैकदा नराधीशो युधिष्ठिरमहीपतिः। भीमादिभ्रातृसंपूज्यस्तस्थौ सिंहासने मुदा ॥२॥
चामरैर्वीज्यमानः स नानानृपतिसेवितः। छत्रसंछन्नतिग्मांशू रराजात्र युधिष्ठिरः ॥३॥
कदाचिन्नारदः प्राप दिवस्तेषां च संसदम्। अभ्युत्थानादिभिः पूज्यः पाण्डवैः परमोदयैः ॥४॥
विधाय विविधां वाग्मी किंवदन्तीं विधेः सुतः। पाण्डवैः सह संप्राप तन्निशान्तं सुमानसः ॥५॥
ददर्श द्रौपदीसद्म निश्छद्मा द्युम्नदीपितम्। गवाक्षपक्षसंपन्नं नारदो नरवन्दितः ॥६॥
तत्रासनसमारूढा प्रौढशृङ्गारसंगिनी। किरीटतटसंनद्धमूर्धा सा द्रौपदी स्थिता ॥७॥
विशाले तिलकं भाले दधाना हृदये वरम्। हारं सारं च नाद्राक्षीन्नारदं सा गृहागतम् ॥८॥
मुकुरे मुखमक्षेण नारदस्येक्षमाणया। अभ्युत्थानादिकं कर्म न कृतं च तया नतिः ॥९॥
अपमानादिदोषेण संक्रुद्धोऽगाद्विधेः सुतः। तस्माद् गृहाच्छिरो धुन्वंश्चिन्वन्रोषं स्वमानसे ॥१०॥
बभ्राम नभसि भ्रान्तः पूत्कारमुखराननः। न क्वापि रतिमालेभे गतोऽसौ गगनार्णवम् ॥११॥
जगाम विजनं देशं सहसा च समुन्नतम्। अवादिते च नृत्यामि नारदोऽहं सदा मुदा ॥१२॥

उन मल्लिनाथ प्रभु को नमस्कार है जो शल्य को हरने वाले और कर्म-मल्ल को जीतने वाले हैं। माल्लिका के फूल के जैसा सुगंध देने वाला जिनका उत्तम शरीर है तथा जो उन्नत और सत्पुरुषों के पालक हैं ॥१॥

एक दिन भीम आदि द्वारा पूजित युधिष्ठिर हर्ष के साथ सिंहासन पर विराजे थे। उनके ऊपर चँवर ढोरे जा रहे थे और उनकी सेवा में बहुत से नृपति उपस्थित थे। उनके ऊपर जो छत्र लग रहा था उसके द्वारा सूरज की किरणों के रुक जाने से उनकी और भी अधिक शोभा हो गई थी ॥२-३॥

इसी समय उनकी सभा में स्वर्ग से नारद आये। महाभाग पाण्डव उन्हें देखते ही उठ खड़े हुए और उनका उन्होंने उचित आदर किया। नारद ने पाण्डवों को इधर-उधर की विविध दन्तकथाएँ सुनाईं। इसके बाद वह सुमना पाण्डवों के साथ-साथ उनके अन्तःपुर में गये। वहाँ मनुष्य द्वारा वन्दित उन महापुरुष ने दीप्तिपूर्ण झरोखों, छज्जों वाले और मन को मुग्ध करने वाले द्रौपदी के सुंदर महल को देखा। इस समय द्रौपदी वहाँ खूब ही बढ़िया श्रृंगार किये, मस्तक पर मुकुट दिये सिंहासन पर विराजी थी। वह अपने विशाल भाल में तिलक दिये थी और हृदय में सर्वोत्तम सारभूत हार पहिने थी। उसने इस समय घर आये हुए नारद को न देख पाया और दर्पण में पड़े हुए नारद के चेहरे की देखकर भी वह न तो उठ खड़ी हुई और न उनको उसने नमस्कार ही किया। इस अपमान से नारद बड़े ही क्रुद्ध हुए और वह मस्तक धुनते तथा मन ही मन रोष करते वहाँ से उसी क्षण चले आये ॥४-८॥

वह बड़बड़ाते हुए आकाश में घूमने लगे परन्तु जब उन्हें कहीं सन्तोष न मिला तब वह आकाश में दूर तक चल कर एक विशाल एकान्त में पहुँचे। वहाँ पहुँचकर वह सोचने लगे कि मैं वही न नारद हूँ जो सदा ही हर्ष का भरा बिना बाजों के ही नाचा करता हूँ, लेकिन जब कारण मिल जाता है तब

वादिते किं पुनर्वच्मि चतुरः कलहप्रियः। क्वापमानः कृतो मेऽद्यानया दुःखीकृतोऽप्यहम् ॥१३॥
दूषणं च करोम्यत्रैतस्याः सा शुद्धिमाप्य च। प्रियेण संगमासाद्य तादृशी स्यान्निरङ्कुशा ॥१४॥
परेण हारयामीमां तदेषा दुःखिनी भवेत्। तस्या हतौ च मे पापं भविता तन्न युज्यते ॥१५॥
परस्त्रीलम्पटं कंचित्पश्यंश्चोपायसंयुतः। प्रमृग्य लंपटं किंचित्तेनेमां हारयाम्यहम् ॥१६॥
हरिणा बलदेवेन वन्दितोऽहं परैर्नृपैः। सर्वेषां गुरुरेवाहं सर्वस्त्रीणां विशेषतः ॥१७॥
पश्यतास्याः सुधृष्टत्वं दुष्टत्वं च सुकष्टकृत्। अवगण्य स्थितेयं मामासने दर्पसर्पिणी ॥१८॥
यः शृङ्गाररसोऽप्यस्या वल्लभो वल्लभादपि। स शृङ्गाररसो यात्यस्या यथाहं तथा यते ॥१९॥
तदा मनोरथाः सर्वे सेत्स्यन्ति मम निश्चितम्। उत्सारयामि सौभाग्यमहमस्या यदा ननु ॥२०॥
अपमानभवं दुःखं तदा यास्यति मे हृदः। यदास्या हरणं दुःखं नयनाभ्यां नभोगतः ॥२१॥
चिन्तयित्वेति कोपेन स चचाल ऋषिर्नभः। परस्त्रीलंपटं कंचित्पश्यंश्चोपायसंयुतः ॥२२॥
बभ्राम निखिलां क्षोणीं क्षिप्रं क्षीणमना ऋषिः। तादृक्षं लोकते यावन्नृपं नाभूत्तदा सुखी ॥२३॥
चिन्तयन्सोऽन्यनारीषु रतं नरपमुन्नतम्। जगाम धातकीखण्डं नानाखण्डसमुन्नतम् ॥२४॥

तो मेरे आनन्द का पार ही नहीं रहता। इस द्रौपदी ने मेरा अपमान कर मुझे व्यर्थ ही कितना दुखी किया है ॥९-१३॥

अब तो मैं जब इसका बदला ले लूँगा मुझे तभी सन्तोष होगा, मेरे इस अपमान का तभी प्रायश्चित होगा। इसके सिवा मुझे किसी तरह भी सन्तोष होने का नहीं। यह अपने स्वामी आदि प्रिय पाण्डवों का समागम पाकर ही इतनी निरंकुश हो रही है। इसे दूसरे द्वारा हरवा देकर प्रिय-वियोग में डालूँ तभी यह दुःखिनी होगी। मैं इसे मारकर भी अपना बदला ले सकता हूँ परन्तु यह घोर पाप है। इसलिए ऐसा करना मुझे उचित नहीं है। अतः यही ठीक है कि किसी लंपटी पुरुष को खोजकर इसे उसके द्वारा हरवा ही दूँ ॥१४-१६॥

नारायण, बलभद्र तथा और-और सब राजे महाराजे तो मेरी वन्दना करें, मैं सबका गुरु और विशेष कर स्त्री-जाति का गुरु, उस मेरे साथ इसकी यह कष्टदायी धृष्टता तथा दुष्टता जो गर्व के आवेश में इसने मुझे कुछ भी न गिना और आप मजे के साथ आसन पर बैठी रही। बात तो यह है कि मैं भी अब कोई ऐसा ही प्रयत्न करूँ कि जिसके द्वारा जो शृंगार-रस इसे इतना प्रिय है वह सब इसका छूट जाय। यह निश्चय है कि जब मैं इसके सौभाग्य को दूर कर दूँगा-मेरे मनोरथ भी तभी पूर्ण होंगे। मुझे जो अपमान का दुख है वह मेरे हृदय से तभी निकलेगा जबकि मैं आकाश में होकर इसके हरे जाने को आँखों देखूँगा। मन ही मन यह सब सोचकर कोप के भरे और उपाय की ताक में लगे नारद ऋषि किसी परस्त्री-रत राजा को देखते हुए आकाश मार्ग होकर चले। खिन्नचित्त हुए नारद ने बहुत जल्दी सारी ही पृथ्वी घूम डाली। उन्हें कोई परस्त्रीरत राजा न देख पड़ा। वह बड़े दुखी हुए। सब जगह घूम फिर आये और जब जम्बूद्वीप भर में भी उन्हें कोई ऐसा राजा नजर न आया तब वह परस्त्रीगामी राजा की खोज में धातकीखण्ड द्वीप में गये ॥१७-२४॥

योजनानां चतुर्लक्षैर्विस्तृतं सुश्रुतं श्रुतौ। मन्दरः सुन्दरः पूर्वस्तत्रास्ति सुमनोहरः ॥२५॥
चतुर्भिरधिकाशीतिसहस्रैर्योजनैर्महान्। समुत्तुङ्गश्चतुर्भिश्च वनैर्बाभाति भूधरः ॥२६॥
तस्य दक्षिणदिग्भागे भारतं भुवि विश्रुतम्। षट्खण्डमण्डितं भाति भाभारभूपभूषितम् ॥२७॥
मध्येक्षेत्रं पुरी सारामरकङ्का सुखाकरा। भूपीठं भूषयन्ती च सुभगा भवनोत्तमा ॥२८॥
तां पाति परमः प्रीतः पद्मनाभमहीपतिः। पद्मनाभ इवोत्तुङ्ग इन्दिरामन्दिरं सदा ॥२९॥
दोर्दण्डखण्डितारातिमण्डलो महिपैः स्तुतः। अवद्योद्धुरविद्याभिः सुविद्यः परमोदयः ॥३०॥
विपुलामलसद्वक्षाः क्षितिरक्षाविचक्षणः। अलक्ष्यस्तु विपक्षाक्षै रूपनिर्जितमन्मथः ॥३१॥
अथ ब्रह्मसुतः पट्टे तस्या रूपमलेखयत्। रूपनिर्जितसर्वस्त्रीसमूहं चोहकारकम् ॥३२॥
नारदो भूमिपालाय तद्रूपं पट्टसंगतम्। दर्शयामास संदीप्तं दीप्तिनिर्जितभास्करम् ॥३३॥
क्षितीशो वीक्ष्य पट्टस्थां योषां तां कनकोज्वलाम्। हारिहारसुवक्षोजामचिन्तयदिति स्फुटम् ॥३४॥
केयं शुचिः शची स्वर्गात्समायाताब्जसद्मतः। पद्माथ रोहिणी प्राप्ता सूर्यपत्नी भुवं गता ॥३५॥
किन्नरी खचरी वाहो कामपत्नी गुणात्मिका। इत्यातर्क्य विकल्पेनेयं किं मोहनवल्लिका ॥३६॥

यह द्वीप विविध खण्डों द्वारा समुन्नत है। चार लाख योजन का इसका विस्तार है। इसकी पूर्व दिशा में एक मंदर नाम पहाड़ है जो बहुत अधिक मनोहर है, चौरासी हजार योजन ऊँचा है और जिस पर चार विशाल वन हैं। उन वनों से उसकी और भी अधिक शोभा है। इसकी दाहिनी बाजू में जगत् विख्यात, अत्यन्त शोभा-सम्पन्न और छह खण्डों द्वारा मंडित भरत नाम क्षेत्र है। इस क्षेत्र के बीचों-बीच अमरकंका नाम की एक पुरी है जो कि भूमण्डल की शोभा है, सुहावनी है, संसार भर में उत्तम है, सार है और सुख की खान हैं ॥२५-२८॥

इसका रक्षक हैं पद्मनाभ नामक महीपति। यह राजा इस नगरी का बड़ी प्रीति के साथ पालना करता है, जिस तरह कि उन्नत पद्मनाभ-कृष्ण सदा काल ही लक्ष्मी के मन्दिर (महल) की रक्षा-पालना करता है, उसे आश्रय दिये रहता है। इसने अपने बाहुदंडों द्वारा वैरियों को दण्डित किया था, अतः सब राजे इसकी स्तुति करते हैं। यह सब पाप-विद्याओं का ज्ञाता विद्वान् था। विशाल और निर्मल इसका वक्षस्थल था। पृथ्वी की रक्षा करने में यह बड़ा चतुर था। यह कभी भी शत्रु का लक्ष्य न होता था और रूप के द्वारा यह कामदेव को जीतता था ॥२९-३०॥

उधर नारद ने यह किया कि एक चित्रपट्ट पर अपनी सुन्दरता के द्वारा सारे स्त्री समूह को जीतने वाला और बड़े अचम्भे में डालने वाला द्रौपदी का सुंदर चित्र खींचा और ले जाकर अपनी दीप्ति से सूरज को जीतने वाले उस चित्र को उसने पद्मनाभ राजा को भेंट किया। उस चित्र में सोने की जैसी उज्ज्वल और सुंदर हार द्वारा शोभित कुचों वाली द्रौपदी को देखकर वह मन ही मन विचार करने लगा कि यह कौन है? स्वर्ग से आई हुई शची है या अपना महल छोड़कर लक्ष्मी ही आ गई है। यह रोहिणी है या सूरज की पत्नी ही पृथ्वी पर आ पहुँची है, अथवा किन्नरी या खेचरी तो नहीं हैं, एवं गुणशालिनी यह काम की पत्नी रति तो नहीं हैं। यह कौन है-किसका यह चित्र है। यों नाना विकल्प

चिन्तयन्निति भूमीशो मुमूर्च्छ मोहसंगतः। तदा हाहारवैर्युक्ता नृपास्तत्र समागताः ॥३७॥
कथं कथमपि प्राप्तश्चेतनां चिन्तनोद्धुरः। विधातृपुत्रमानम्याप्राक्षीत्पृथ्वीश्वरस्तदा ॥३८॥
केयं पट्टगता तात वर्णिनीवरवर्णिनी। सविभ्रमा महारूपा विभ्रमभ्रूभ्रमानना ॥३९॥
यथोक्तं भण भव्येश मम निश्चयकारणम्। तदागदीद्विधेः सूनुः समाकर्णय भूपते ॥४०॥
शुश्रूषा तव चेदस्ति पट्टरूपस्य पार्थिव। वदामि तर्हि ते चित्तं सुस्थितं च यतो भवेत् ॥४१॥
मध्येद्वीपं महान्द्वीपो जम्बूनामा मनोहरः। वृत्तेन निर्जितश्चन्द्रस्तथा योगी च येन वै ॥४२॥
तन्मध्ये मन्दरो दीप्तः सुदर्शनसमाह्वयः। लक्षयोजनतुङ्गाङ्गो भाति भूतिलकोपमः ॥४३॥
तदवाच्यां वरं क्षेत्रं भारतं भुवनोत्तमम्। चापाकारं कलाकीर्णं भाति षट्खण्डशोभितम् ॥४४॥
कुरुजाङ्गलनामास्ति नीवृत्तत्र मनोहरः। कुरुभूमिसमो भोगैर्भ्राजिष्णुर्भूरिभूपतिः ॥४५॥
हस्तिनागपुरं तत्र हस्तिनां बृंहितैर्वरम्। सुरापगापरिक्लृप्तपरिखं खलु विद्यते ॥४६॥
युधिष्ठिराभिधस्तत्र भूपो भूरिभयापहः। समृद्धो धरणीं धर्तुं विद्यते कौरवाग्रणीः ॥४७॥
पार्थः सार्थकनामाभूत्तद्भ्राता भुवि विश्रुतः। तत्पत्नी द्रौपदी पट्टे लिखितेयं सुरूपिणी ॥४८॥

कर उसने बहुत विचार किया, पर वह उसके विषय में कुछ भी निश्चय नहीं कर सका कि यह मोहनवल्ली कौन है, इस तरह का विचार करता-करता ही वह मोह-वश होकर मूर्च्छित हो गया। उसकी यह दशा देख महल के सब लोग हाहाकार करते हुए वहाँ दौड़े आये ॥३१-३७॥

उन्होंने तुरंत शीतोपचार आदि उपाय किये तब चिंता से पीड़ित पद्मनाभ कुछ होश में आया। होश में आते ही नारद को देख उसने उन्हें प्रणाम कर पूछा कि-प्रभो! यह उत्तम स्त्री कौन है कि जिस महान् रूप वाली, सुविभ्रमा और विभ्रम-पूर्ण भ्रूयुक्त आनन वाली का यह चित्र है। भव्येश! सब बातें ठीक-ठीक कहिए, ताकि मुझे पूरा-पूरा निश्चय हो जाय। उत्तर में नारद ने कहा कि राजन्! यदि आपको इस अपूर्व सुंदरी के विषय में जिसका कि यह चित्र है, जानने की इच्छा हो तो जरा ध्यान देकर सुनिए। मैं उसका सब वृत्तान्त कहता हूँ। निश्चय है कि उसको सुनने से आपका चित्त स्थिर हो जायेगा ॥३८-४१॥

सब द्वीपों के ठीक बीच में एक जम्बूद्वीप नामक दीप है जो कि बड़ा ही मनोहर और महान् है और जिसने कि अपने वृत्त (गोलाकार) द्वारा चंद्रमा और योगियों को भी जीत लिया है। (योगियों के पक्ष में वृत्त का अर्थ चारित्र समझना चाहिए।) इसके बीच में दीप्त सुदर्शन नाम मंदर (पहाड़) हैं जो लाख योजन का ऊँचा है और पृथ्वी का तिलक जैसा है। इसके दक्षिण ओर चढ़े हुए धनुष के आकार का कलाओं से पूर्ण, छह खण्डों में विभक्त और संसार भर में उत्तम भरत नाम क्षेत्र है। इसमें एक कुरुजांगल नाम देश है जो कि बहुत सुंदर है, कुरुभूमि तुल्य देशों से परिपूर्ण है, अपनी बढ़ी-चढ़ी विभूति द्वारा सुशोभित है। इस देश में हाथियों के समूह द्वारा सर्वोत्तम हस्तिनापुर नाम नगर है। जिसकी खाई सदा ही गंगा के जल द्वारा भरी रहती है। हस्तिनापुर के राजा युधिष्ठिर हैं। वह कौरवग्रणी हैं और पृथ्वी को धारण करने के लिए पूर्ण समृद्ध हैं। संसार-प्रसिद्ध सार्थक नामधारी पार्थ उनका एक भाई है। उसकी पत्नी का नाम है द्रौपदी। बस, इस चित्र में लिखा हुआ यह उसी सुरूपिणी का रूप है ॥४२-४८॥

रामासुखसमीहा चेत्तवैनां कुरु हृद्गताम्। विनानया प्रभो विद्धि जीवितं तेऽप्यजीवितम् ॥४९॥
तद्रूपं च वरे पट्टे विद्युत्कीर्णं सुकर्णभृत्। तुभ्यं यद्रोचते भूप तत्कुरुष्व न चान्यथा ॥५०॥
इत्युक्त्वास्मिन्गते व्योम्नि तद्रूपाहतमानसः। तत्कामिनीं स्मरंश्चित्ते क्षणं दुःखी नृपोऽभवत् ॥५१॥
वनमित्वा तदा भूपो मन्त्राराधनतत्परः। संगमाख्यं सुरं शीघ्रं साधयामास संगदम् ॥५२॥
साधितः संगमः प्राप्तो नृपं प्रणयसंगतम्। प्राह देहि ममादेशं त्वदिष्टं हृष्टिकारकम् ॥५३॥
तदाभाणीन्नृपस्तुष्टो निर्जरानय मानिनीम्। द्रौपदीं रूपसंपन्नां संप्राप्तपरमोदयाम् ॥५४॥
तन्निशम्य सुरः शीघ्रं सानुरागश्च कार्यकृत्। चचाल चलचित्तात्मा संचरन्गगनाङ्गणम् ॥५५॥
द्विलक्षयोजनव्यापिसागरं सत्वरं सुरः। जगामोल्लङ्घ्य निर्विघ्नो हस्तिनागपुरं परम् ॥५६॥
निशायां सदनं तस्याः प्रविश्य संगमः सुरः। साक्षाल्लक्ष्मीमिव क्षिप्रं सुप्तां जह्रेऽर्जुनाङ्गनाम् ॥५७॥
हृत्वा सुरः समानीय द्रौपदीं स्वापसंयुताम्। तद्रङ्गोद्यानसद्गेहे मुमोच मतिमोहिताम् ॥५८॥
निद्रावशादजानन्तीं हेयाहेयं कथंचन। सशय्या तत्र सा सुप्ता प्रातःपर्यन्तमास्थिता ॥५९॥
पद्मनाभः सुरेणापि विज्ञापितस्तदागमः। प्रबुद्धः पटुधीः प्राप तस्या अभ्यर्णमादरात् ॥६०॥
निद्राक्रान्तां स आलोक्य कौमुदीं कनकोज्ज्वलाम्। पीनस्तनीं सुजघनां जहर्षेन्दुसमाननाम् ॥६१॥

सच कहता हूँ कि यदि आपको संसार का सार सुख भोगने की इच्छा हो तो आप इस स्त्रीरत्न को हस्तगत कीजिए। राजन्! इसके बिना पाये आप अपने जीवन को व्यर्थ ही समझिए। अब आपको जो रुचे वही कीजिए। इतना कहकर नारद तो आकाशमार्ग द्वारा चले गये और इधर-उधर राजा द्रौपदी के रूप द्वारा चित्त के हरे जाने के कारण उसको याद करता हुआ बड़ा भारी दुखी हुआ। यहाँ तक कि उसे उसके मिले बिना चैन ही नहीं पड़ने लगा। अन्त में उसके प्राप्ति का कोई उपाय न देख वह वन में गया और वहाँ मंत्र की आराधना में चित्त देकर उसने बहुत जल्दी एक गदाधारी संगम नाम सुर को साध लिया। संगम ने आकर, प्रणाम कर कहा कि देव, मुझे अपनी उस इष्ट-सिद्धि की आज्ञा दीजिए जिसके द्वारा आपका चित्त प्रफुल्ल हो, आप खुश हों ॥४९-५३॥

तब राजा ने सन्तुष्ट होकर उससे कहा कि, देव, परमोदयशाली, अनुपम रूप-सम्पन्न और मानिनी द्रौपदी की लाकर मुझसे मिला दो। बस, मेरी यही कामना है और इसलिए ही मैंने तुम्हें कष्ट दिया है। राजा के वचन सुनकर अनुराग का भरा कार्य-कुशल वह देव आकाश-मार्ग द्वारा बहुत जल्दी दो लाख योजन वाले समुद्र को बात ही बात में ही लाँघकर, बिना किसी रोकटोक के हस्तिनापुर पहुँच गया। वहाँ वह रात में द्रौपदी के महल में गया और उसने सोई हुई साक्षात् लक्ष्मी जैसी द्रौपदी की हर लाकर, सोई हुई अवस्था में ही, पद्मनाभ के उद्यान के एक सुंदर महल में छोड़ दिया। नींद के वश हुई द्रौपदी को इस समय हेय-उपादेय का कुछ भी भान न था-वह वहाँ शय्या पर पड़ी हुई प्रातःकाल तक बराबर सोती ही रही ॥५४-५९॥

इसके बाद ही उसके हर ले आने की बात की सूचना देव ने पद्मनाभ को दी। वह सहसा जागकर और अपने को संभाल कर बड़ी सावधानी के साथ आदर का भरा द्रौपदी के पास आया। वह उस सोने जैसी उज्ज्वल, स्थूल और कठिन कुचों वाली और सुन्दर जाँघों द्वारा सुशोभित

बभाण भूपतिर्भक्तो भद्रे तु रजनी गता। प्रभातसमयो जातः प्रबुद्धा भव भामिनि ॥६२॥
उत्तिष्ठोतिष्ठ वेगेनालोकय त्वं सुलोचने। वद वाणीं विशेषेण विश्वविज्ञानपारगे ॥६३॥
इत्थमुत्थापिता वाक्यैर्मधुरैः सुसुधोपमैः। त्रस्तैणनयना बाला पश्यति स्म दिशो दश ॥६४॥
कोऽयं देशस्तु को वक्ति एष कः पुरतः स्थितः। किमुद्यानमिदं गेहे वेति चिन्तां तु सा गता ॥६५॥
अयं तु निश्चितं स्वप्नो न भ्रान्तिर्विद्यते मम। इति स्ववक्त्र माच्छाद्य सुप्ता सा मोलितेक्षणा ॥६६॥
भूपस्तन्मानसं ज्ञात्वा जगाद मदनाहतः। कमलाक्षि निरीक्षस्व नायं स्वप्नः प्रहर्षिणि ॥६७॥
नेयं निद्रेति सा मत्वा प्रेक्षमाणा दिशो दश। ददर्श किङ्किणीयुक्तं व्योमयानं मनोहरम् ॥६८॥
परस्त्रीलम्पटो लोभी कपटी विकटः पटुः। पद्मनाभो जजल्पेति भामिनि शृणु मद्वचः ॥६९॥
द्वीपोऽयं धातकीखण्डश्चतुर्लक्षसुयोजनैः। विस्तीर्णो वेष्टितो विष्वक्कालोदकपयोधिना ॥७०॥
विद्धीमां देवकङ्काख्यां पुरीं ख्यातां वरां शुभैः। स्वार्णैर्गृहैः समुद्दीप्तां मणिमुक्ताफलाञ्चिताम् ॥७१॥
तत्पतिः पद्मनाभाख्यो वैरिवारविनाशकः। अहं पराक्रमाक्रान्तदिक्चक्रः शक्रसंनिभः ॥७२॥
भो भामिनि भवत्यर्थे भयत्रस्तेन चेतसा। मया कष्टेन वेगेन सुरः संसाधितो हठात् ॥७३॥

चन्द्रवदनी द्रौपदी की नींद से भरी हुई छवि की देखकर बड़ा खुश हुआ। वह प्रेम के आवेश में आकर बोला कि भद्रे! रात्रि चली गई और सबेरा हो गया। अतः भामिनि, अब नींद को छोड़ो और उठो। सुलोचने, कला-कौशल में पार को प्राप्त हुई देवि, अपनी सुंदर वाणी बोलो। पद्मनाभ ने इस प्रकार अमृत-तुल्य सुमधुर वाक्यों द्वारा जब उसे जगाया तब आँखें खोलते ही वह भयभीत मृगी की भाँति व्याकुल नेत्रों द्वारा सब दिशाओं में देखने लगी। वह बड़ी चिन्ता में पड़ गई कि यह देश कौन है, यह मुझसे कौन बातचीत कर रहा है, यह जो सामने खड़ा है कौन है, यह उद्यान किसका है और यह महल किसका है। जान पड़ता है यह सब स्वप्न है, साक्षात् में ऐसा दृश्य कहाँ से आ सकता है। यह सोचकर, वह आँखें मींच और मुँह ढँक कर फिर सो रही। उसकी यह हालत देख कामपीड़ित राजा उसके मन की बात जानकर बोला कि कमलनयनी देवि! देखिए यह स्वप्न नहीं है। प्रहर्षिणि, जिसे कि तुम स्वप्न समझ रही हो वह सब सच्चा दृश्य है। उसके वचन सुनकर द्रौपदी को जान पड़ा कि वह स्वप्न नहीं देख रही हैं। उसने चारों दिशाओं में दृष्टि डाली तो उसे छोटी-छोटी घंटियों से युक्त एक सुंदर शोभायमान विमान दिखाई दिया ॥६०-६८॥

इसके बाद परस्त्री-लंपट, लोभी, कपटी और पटु पद्मनाभ द्रौपदी से बोला कि भामिनि, जिस देश में इस समय तुम हो वह धातकीखण्ड नाम द्वीप है। इसका चार लाख योजन का विस्तार है और यह सब तरफ से कालोदधि समुद्र द्वारा घिरा हुआ है और यह सोने की कान्ति युक्त गृहों द्वारा सुदीप्त, मणि-मुक्ताफलों द्वारा भरीपुरी प्रसिद्ध अमरकंका नाम नगरी है। इसका स्वामी मैं पद्मनाभ राजा हूँ, जिसने कि अपने पराक्रम से सब दिशाओं को वश कर लिया है और शत्रुओं को जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया है तथा जो इन्द्र के तुल्य है। भामिनि, तुम्हारे लिए मैंने बड़ा कष्ट उठाकर हठ-पूर्वक एक देवता को साधा और उसके द्वारा तुम्हें बुला मँगाया। तुम्हारे बिना मुझे खाना-पीना कुछ

त्वां विना भोजनं भव्यं भव्ये मे रोचते न हि। विरहेण तवात्यर्थं मृतावस्थामितोऽस्म्यहम् ॥७४॥
सुरेण तेन वेगेन त्वमानाय्य सुखं स्थितः। प्रसन्ना भव भो भीरु भज भोगान्मया समम् ॥७५॥
देशं कोशं पुरं रत्नं चामरातपवारणे। तुरंगं दन्तिनं हर्म्यं गृहाण त्वं तवेप्सितम् ॥७६॥
विरहाग्निं परं लग्नं विध्यापय विचक्षणे। भोगोदकेन वेगेन मम मर्मणि दाहकम् ॥७७॥
सानुकूलां परां दृष्टिं कुरु मन्मथसंगरे। विषादं भज मा भव्ये मया सत्रं सुखं भज ॥७८॥
वल्लभा भव भूभर्तुर्भव्यभावमुपागता। मम मानसजं दुःखं हरन्ती सुखदायिके ॥७९॥
निशम्येति शुचाक्रान्ता कम्पिताङ्गी स्फुटद्धृदा। रुरोद सेति दुःखार्ता वाष्पव्याप्तिमदानना ॥८०॥
हा युधिष्ठिर हा ज्येष्ठ हा विशिष्टं सुधर्मधीः। हा पावने पवित्रोऽसि वीराणामग्रणीर्वरः ॥८१॥
हा पार्थ नाथ समरे समर्थो दस्युशासनः। दुःखकाले समाक्रान्ते को मां रक्षति दुःखिनीम् ॥८२॥
विना भवद्भिरित्यर्थं किं सुखं मम सांप्रतम्। किंवदन्तीमिमां तत्र को नेष्यति मम प्रियः ॥८३॥
सुरेणाहं हृडिं नीता प्रसुप्ता भुवि विश्रुता। इत्याक्रन्दं प्रकुर्वाणा संतस्थे द्रुपदात्मजा ॥८४॥

भी अच्छा नहीं लगता था। देखो तुम्हारे विरह में मैं मरे के जैसा हो गया हूँ ॥६९-७४॥

उस देवता ने बड़ी कृपा की जो कि वह तुम्हें ले आया। भीरु, अब तुम भय मत करो किन्तु प्रसन्न होकर मेरे साथ भोग विलास करो और देश, खजाना, पुर, रत्न, हाथी-घोड़े, महल वगैरह जो कुछ तुम्हें अच्छा जान पड़े उसे ग्रहण कर अपना मन बहलाओ-आनंद करो। सुंदरि, मेरे हृदय में जो विरह की आग जल रही है उसे बुझाओ-शान्त करो। विरह की आग द्वारा जलते हुए मेरे मर्म-स्थल पर भोगरूपी जल सींचो। हे कामदेव की प्रतिमा रूपी देवी, तुम विषाद छोड़कर मेरी तरफ सीधी दृष्टि डालो और भव्ये, मेरे साथ सुख-भोग भोगो। हे सुख देने वाली महादेवी, तुम मेरे मन की व्यथा को दूर करने वाली राज-रानी बनो और भव्य भाव-सीधे-सीधे स्वभाव का परिचय दो ॥७५-७९॥

पद्मनाभ के ऐसे वचनों की सुनकर शोक में निमग्न हुई वह सती थर-थर काँपने लगी और जब वह अपने हृदय के वेग को न रोक सकी तब एकदम रो पड़ी। उसकी आँखों से आँसू बह चले। गरज यह कि वह पद्मनाभ की चापलूसी की बातों से बड़ी खिन्न हुई। वह युधिष्ठिर आदि को याद कर विलाप करने लगी कि हा पूज्य युधिष्ठिर, तुम धर्म-बुद्धि के धारक हो, हा भीम, तुम बड़े वीर और पवित्र कहे जाते हो तथा हा रण में सामर्थ्य दिखाने वाले और शत्रुओं को वश करने वाले स्वामी अर्जुन, देखते नहीं कि मुझ पर यह कैसा दुख का पहाड़ टूट पड़ा है। बतलाओ यहाँ मेरी कौन रक्षा करेगा ॥८०-८२॥

तुम ऐसे अचेत-सावधान-रहे जो तुझे मेरे हरे जाने की भी खबर न हुई। यही तुम्हारी वीरता है। बतलाओ अब मेरी क्या गति होगी? परन्तु इसमें तुम्हारा भी क्या दोष है? तुम्हें मेरे हरे जाने की खबर ही नहीं है और जब तक तुमको मेरी खबर न मिले तब तक भला तुम प्रयत्न ही क्या कर सकते हैं। हा, देवता ने मुझे सोई अवस्था में हर लिया और लाकर यहाँ छोड़ दिया। उसने मेरे साथ बड़ा अनुचित काम किया है-उसे ऐसा करना उचित नहीं था। इस तरह विलाप करती द्रौपदी तो रंज

स बभाण महायुक्त्या सुश्रोणि शृणु सांप्रतम्। शोकं हित्वा रमस्वाशु मया सार्धं सुखाप्तये ॥८५॥
त्यक्त्वा धनंजयस्याशां दत्त्वा तस्मै जलाञ्जलिम्। विषादं च विमुच्याशु भोगे रक्ता भव प्रिये ॥८६॥
तदा निशम्य पाञ्चाली शीलभङ्गोद्धुरं वचः। अचिन्तयन्निजे चित्ते चिन्तासंचयसंगता ॥८७॥
शीलरत्नमहो नृणां भूषणं शीलमुत्तमम्। शीलाद्दासत्वमायान्ति सुरासुरनरेश्वराः ॥८८॥
शीलात्सुमुज्ज्वलः कायः शीलेन विपुलं कुलम्। शीलेन जायते नाकः शीलं चक्रिपदप्रदम् ॥८९॥
शीलेन शोभते सद्यः सर्वसीमन्तिनीगणः। शीलेन विपुलो वह्निः सीतावच्च जलायते ॥९०॥
सुलोचना यतो याता शीलतः सुरनिम्नगाम्। समुत्तीर्य तथान्यासां शीलान्नीरं स्थलायते ॥९१॥
शीलतो जलधिर्नृणां क्षणतो गोष्पदायते। श्रीपालकामिनीवद्वै शीलं सर्वसुखाकरम् ॥९२॥
शीलयुक्तो मृतः प्राणी स सुखी स्याद् भवे भवे। न जहामि वरं शीलं मृत्यावहमुपस्थिते ॥९३॥
समुच्छ्वास्य विकल्प्येति जजल्प द्रुपदात्मजा। शृणु त्वं प्रकटाः पञ्च पाण्डवा भ्रातरो भृशम् ॥९४॥
प्रचण्डाखण्डकोदण्डा जिताखण्डलमण्डलाः। कम्पन्ते यत्प्रभावेन निर्जराः सज्जमानसाः ॥९५॥

कर रही थी और पद्मनाभ अपनी बात सोच रहा था। बाद वह द्रौपदी से बोला कि सुश्रोणि, तुम शोक काहे को करती हो। यहाँ तुम्हें कष्ट ही किस बात का है। तुम शोक छोड़कर आनन्द से रहो और सुख की प्राप्ति के लिए मेरे साथ रमण करो। मेरे साथ रमने से तुम्हें अपूर्व सुख होगा। प्रिये! धनंजय की आशा छोड़ो और विषाद त्याग कर भोगों का आनन्द लो ॥८३-८६॥

पद्मनाभ के शील की भंग करने वाले इन वचनों को सुनकर द्रौपदी ने सोचा कि मनुष्यों का सच्चा गहना शील-रूपी रत्न ही है। यही एक ऐसा मंत्र है कि जिसकी वजह से सुर-असुर और नरेश्वर भी उसके दास बन जाते हैं। शील से ही उज्ज्वल, सुंदर शरीर मिलता है-उच्च कुल में जन्म होता है, स्वर्ग की प्राप्ति होती है और उसी से चक्रवर्ती का पद मिलता है। शील के द्वारा ही स्त्री जाति की शोभा होती है और उसी के प्रभाव से जलती हुई आग भी पानी हो जाती है, जैसी कि सीता के लिए हुई थी। शील के प्रभाव से जिस तरह सुलोचना के लिए गंगा जैसी नदी भी थल हो गई, उसी तरह और भी जो जो स्त्री-जन शील का परिपालन करेंगी उनके लिए भी जल थल हो जायेगा। अधिक कहाँ तक कहा जाये यह शील ऐसा है कि इसका पालन करने से जीवों को सब सुख प्राप्त होते है- उनके लिए बड़ा भारी समुद्र भी क्षणभर में गाय के खुर तुल्य छोटा-सा गढ़ा हो जाता है। इस सम्बन्ध में श्रीपाल की स्त्री मैनासुंदरी स्मरणीय उदाहरण है। शीलव्रत का पालन करने में प्राण भी चले जायें तो भव-भव में सुख प्राप्त होता है। अतः प्राण जायें तो भी मैं किसी तरह शील को नहीं छोड़ूँगी। उसे प्राणों के बदले में रखूँगी ॥८७-९३॥

यह सब सोचकर वह साहस के साथ पद्मनाभ से बोली-तुम नहीं जानते कि किससे ऐसी बेहूदी बातें कह रहे हो। जानते ही संसार प्रसिद्ध पाँच पाण्डव मेरे रक्षक हैं, वे अखण्ड धनुर्धर हैं, इन्द्रों के भी विजेता हैं। उनके प्रभाव से दृढ़-चित्त देवता भी थर-थर काँपते हैं। उनके रहते किसी शत्रु की ताकत नहीं जो उन्हें युद्ध में विचरते जरा भी रोक सके वा उनके आत्मीय को कष्ट दे सके।

संचरन्तो रणे नूनमनिवार्या विपक्षकैः। ये घ्नन्ति घनघातेन वैरिणो विगतालसाः ॥९६॥
पुनर्यद्भ्रातरौ कृष्णबलौ त्रिखण्डनायकौ। सुरासुरनरैः पूज्यौ तौ स्तो भारतभूषणौ ॥९७॥
कीचकेन समीहा मे कृता शीलविलुप्तये। हतः स भ्रातृभिः सत्रं शतसंख्यैः सुपाण्डवैः ॥९८॥
पुनस्त्वं मोहतो मानिन्मा मुह्यतात्स्वमानसे। नागीव विषवल्लीव वृथानीता त्वयाप्यहम् ॥९९॥
मासमेकं ममाशां त्वं मुक्त्वा तिष्ठ स्थिरं नृप। एतावत्कालपर्यन्तं यद्भाव्यं तद्भविष्यति ॥१००॥
कथं कथमपि प्रायस्ते नायास्यन्ति पाण्डवाः। मासमध्ये ततस्तुभ्यं रोचते यच्च तत्कुरु ॥१०१॥
इत्युक्ते भूपतिस्तस्थौ चिन्तयन्निति चेतसि। रत्नाकरं समुत्तीर्य ते क्वायास्यन्ति पाण्डवाः ॥१०२॥
ततः सा निरलङ्कारा पानाहारविवर्जिनी। शिरोवेणीं प्रबन्ध्यासौ तस्थौ चित्रगतेव वै ॥१०३॥
तदा गजपुरे प्रातः प्रचण्डैः पाण्डुनन्दनैः। निरीक्षितापि नो दृष्टा पाञ्चाली परमोदया ॥१०४॥
तस्या शुद्धिर्न कुत्रापि लब्धा संशोधिता ध्रुवम्। पुनः पुनर्नराधीशैर्न दृष्टालोकिताप्यलम् ॥१०५॥
तदा द्वारावतीपुर्यां केनापि कथितं हि तत्। चक्रिणे प्रणतिं कृत्वा द्रौपदीहरणं पुनः ॥१०६॥
क्षणं दुःखाकुलस्तस्थौ केशवो विषमो रणे। पुनः क्रुद्धः स युद्धस्य दापयामास दुन्दुभिम् ॥१०७॥

सच कहती हूँ कि वे ऐसे वीर हैं कि अपने सघन आघातों द्वारा बैरियों को बात ही बात में नष्टकर डालते हैं। इतने पर भी तीन खण्ड के स्वामी, सुर-असुरों द्वारा पूजित और भारत के भूषण कृष्ण-बलदेव जैसे जिसके भाई हैं उसी द्रौपदी के न साथ तुम्हारा यह बर्ताव है। तुम्हारी तरह ही एक बार कीचक ने मेरे शील को बिगाड़ने की चेष्टा की थी। फिर मालूम है कि उसे उसके सौ भाइयों के साथ प्रचण्ड पाण्डवों ने एकदम मार डाला था ॥९४-९८॥

हे मानी राजा, तुमने जो कुछ किया सो तो किया, पर अब अपनी पाप-वासना त्याग दो। देखो, तुमने एक नागिन को या यों कही कि विष की बेल को अपने घर में बुलाया है। इसका परिणाम बहुत बुरा होगा। तुम मेरी आशा छोड़कर सुख से रही। इतने पर भी तुम्हें मेरे कहने का विश्वास न हो तो एक महीना ठहरो। तब तक बहुत करके पाण्डव भी यहाँ आ जायेंगे। तब तुम्हें अच्छा जान पड़े सो करना। द्रौपदी के वचन सुनकर पद्मनाभ ने मन ही मन यह सोचा कि यह कहती तो है, पर इतने विशाल रत्नाकर को पार कर यहाँ पाण्डव आ ही कैसे सकते हैं? इसके बाद राजा चुप रहा और द्रौपदी आहार-पानी, वेषभूषा आदि सब छोड़ चित्र में लिखी हुई काठ की पुतली की भाँति हो रही ॥९९-१०३॥

उधर हस्तिनापुर में सबेरा हुआ। तब पाण्डवों को जान पड़ा के सर्वोत्तमा द्रौपदी महल में नहीं है—वह शत्रु द्वारा हरी गई। उसे बहुत देखा-भाला, पर कहीं उसका पता न पाया-उन्होंने उसकी भरसक खोज की, पर उसे कहीं भी न देखा ॥१०४॥

इसी समय एक अपरिचित जनने द्वारावती जाकर कृष्ण को प्रणाम कर उनसे द्रौपदी के हरे जाने का सारा हाल कहा। जिसे सुनकर रण-विषम कृष्ण को बहुत दुख हुआ। उसका परिणाम यह निकला कि उन्होंने क्रोध में आकर युद्ध की घोषणा कर दी ॥१०५-१०७॥

तदा घोटकसंघाता गजा गर्जनतत्पराः। रथाश्चीत्काररावाढ्याश्चेलुश्चञ्चलचक्रिणः ॥१०८॥
उत्खातखड्गसद्धस्ताः कुन्तकादण्डपाणयः। पदातयस्ततस्तूर्णं प्रपेदिरे नृपाङ्गणम् ॥१०९॥
चतुरङ्गबलेनासौ यावद्यातुं समुद्ययौ। तावता नारदो यातोऽमरकङ्कापुरीं प्रति ॥११०॥
तत्र सा तेन संदृष्टा वाष्पौघप्लुतसन्मुखा। तप्तजंबूनदाभासा मुक्तकेशी कृशोदरी ॥१११॥
कपोलन्यस्तसद्धस्ता प्रतिमेव क्रियातिगा। रतिर्वा कामनिर्मुक्ता शची वाशक्रवर्जिता ॥११२॥
श्रियं निर्जित्य रूपेण स्थिता किंवा स्थिरासना। इति संचिन्त्य दुश्चिन्तो नारदश्चेत्यचिन्तयत् ॥११३॥
सतीयं संकटं नीता मया मानेन पापिना। ततः स केशवं प्राप्यावादीद्रणसमुद्यतम् ॥११४॥
विकटं कटकं विष्णो किमर्थं मेलितं त्वया। द्रौपदी धातकीखण्डे कङ्कायां सा तु विद्यते ॥११५॥
पद्मनाभो नृपस्तत्र वैरिवंशविनाशकः। आराध्य निर्जरं जह्रे तां सीतां वा दशाननः ॥११६॥
यत्र यातुं न शक्नोति नरः कोऽपि महाबली। अतोऽत्र तिष्ठ निर्द्वन्द्वमिदं कार्यं सुदुष्करम् ॥११७॥
तन्निशम्य स्वभूस्तत्र प्रभुः संमुच्य तद्बलम्। रथेनैकेन संप्राप नगरं हास्तिनं पुरम् ॥११८॥
संमुखं पाण्डवा विष्णुं गत्वा नत्वा न्यवेदयन्। द्रौपदीहृतिवृत्तान्तं विश्वलोकभयप्रदम् ॥११९॥
ते तत्र मन्त्रणं कृत्वा मत्वा दुर्लङ्घ्यमर्णवम्। लवणाम्बुधिसत्तीरं प्रापुः पापपराङ्मुखाः ॥१२०॥

कृष्ण की आज्ञा पाते ही उनके हींसते हुए घोड़े, गर्जते हुए हाथी और चीत्कार करते हुए रथ चले। पयादे नंगी तलवारें, भाला, धनुष वगैरह हाथ में लिये हुए राज-आँगन में आये। इधर जब तक कृष्ण चतुरंग सेना ले चलने को तैयार हुए तब तक उधर नारद अमरकंकापुरी पहुँचे। वहाँ उन्होंने तपे सोने के जैसी प्रभावती कृशोदरी द्रौपदी को बाल बिखरे और आँसुओं से मुँह भीगे हुए देखा। वह मारे रंज के अपने हाथ पर कपोल रखे बैठी थी। ऐसी हालत में उसे देखकर यह जान पड़ता था मानों हलन-चलन आदि क्रिया रहित प्रतिमा ही है अथवा काम से बिछुड़ी हुई रति या इन्द्र से बिछुड़ी हुई इन्द्राणी ही है और वह अपने अनुपम रूप रूपी तलवार द्वारा लक्ष्मी को जीतकर ही यहाँ स्थिर हो गई है। द्रौपदी की ऐसी हालत देखकर कलहप्रिय नारद मन ही मन सोचने लगे कि हाय, मान के वश होकर मुझ पापी ने इस सती को व्यर्थ कष्ट में डाला। यह मैंने अच्छा नहीं किया ॥१०८-११३॥

इसके बाद वह रण के लिए उद्यत हुए कृष्ण के पास पहुँचे और उनसे बोले कि नारायण, तुमने यह विशाल सेना किस लिए एकत्र की है। द्रौपदी के लिए हो तो वह तो धातकीखण्डद्वीप की अमरकंकापुरी में मौजूद है। पूछो कि वह वहाँ कैसे पहुँची तो इसका उत्तर यह है कि जिस तरह रावण ने सीता को हरा था उसी तरह बैरियों के वंशभर का नाश करने वाले पद्मनाभ राजा ने एक देवता की आराधना कर उसे हरा है-उसे देवता के द्वारा वहाँ बुला मँगाया है। चाहे कैसा ही बलवान् मनुष्य क्यों न हो वहाँ जाने की किसी की भी शक्ति नहीं। अतः आप बेफिक्र होकर बैठिए। कारण वहाँ से द्रौपदी को लाना बहुत ही दुर्घट है-कठिन है। यह सुनकर कृष्ण ने सारी सेना को तो वहीं छोड़ा और आप अकेला ही रथ पर सवार होकर हस्तिनापुर गये। वहाँ पाण्डवों ने कृष्ण को द्रौपदी के हरे जाने का सारा हाल सुनाया, जिसे सुनकर बड़ा भय मालूम पड़ता था ॥११४-११९॥

इसके बाद उन सबने मिलकर विचार किया और यह निश्चय किया कि लवण-समुद्र का

तत्र त्रिकोपवासेनासाधयत्स्वस्तिकं सुरम्। लवणाम्बुधिसन्नाथं प्रस्पष्टो विष्टरश्रवा: ॥१२१॥
ततस्ते स्यन्दनै: षड्भिर्देवदत्तै: सुवेगिभि:। पयश्चारिभिराभेजु: पुरीं कङ्काभिधां क्षणात् ॥१२२॥
हरिणा सह सिंहा वा जगर्जु: पञ्च पाण्डवा:। सज्जं शार्ङ्गं व्यधाद्विष्णुष्टङ्कारारावसंकुलम् ॥१२३॥
भीमेन भ्रामिता तूर्णं गदा विद्युल्लता यथा। नकुलेन तदाग्राहि कुन्तो द्विट्कृन्तनोद्यत: ॥१२४॥
पाणौ कृत: कृपाणस्तु सहदेवेन दीप्तिमान्। सज्जिता सत्वरं शक्तिर्धर्मपुत्रेण जित्वरी ॥१२५॥
तदा धनंजय: प्राह नत्वा धर्मसुतं क्षणात्। वारयिष्याम्यरिं यूयं सर्वे तिष्ठत निश्चलम् ॥१२६॥
इत्युक्त्वा पूरयित्वा स शङ्खं कोदण्डपाणिक:। दधाव देवदत्ताह्वं पार्थ: सद्रथसंस्थित: ॥१२७॥
हरिणा पूरित: पाञ्चजन्यो जयभयंकर:। तन्निशम्य पुराद्राजा निर्जगाम बलोद्धत: ॥१२८॥
रणतूर्येण तूर्णं स कुर्वंश्च बधिरा दिश:। रेणुनाच्छादयन्व्योम युयुधे भूपतिर्बली ॥१२९॥
पार्थेन जर्जरीचक्रे पद्मनाभो महाशरै:। रणं हित्वा गत: पुर्यां दत्त्वा स विशिखां स्थित: ॥१३०॥
वैकुण्ठ: कठिनं पादप्रहारैस्तां न्यपातयत्। विविशु: पत्तनं सर्वे त्रासयन्तोऽखिलाञ्जनान् ॥१३१॥
भीमस्तु पातयामास गदया मन्दिराणि च। आददाविन्दिरा: सर्वा: सुन्दरो मन्दरस्थिर: ॥१३२॥
नष्टो जनस्तदा सर्वो भूपोऽपि प्रपलायित:। ब्रुवाणस्त्राहि त्राहीति द्रौपदीं शरणं ययौ ॥१३३॥

लाँघना बहुत कठिन है, अत: इसके लिए कोई दूसरा ही उपाय करना चाहिए। यह विचार-विचार कर वे निष्पाप लवण समुद्र के तीर पर गये और वहाँ शक्तिशाली कृष्ण ने तीन उपवास के बाद उस समुद्र के स्वामी स्वस्तिक नाम देव को साधा। उसने इन्हें जल पर चलने वाले शीघ्रगामी छह रथ दिये। जिन पर सवार होकर ये छहों के छहों ही बात ही बात में अमरकंकापुरी पहुँच गये ॥१२०-१२२॥

वहाँ जाकर विष्णु और पाण्डवों ने सिंहनाद किया। कृष्ण ने सार्ङ्ग-धनुष चढ़ाकर भीषण टंकार किया। भीम ने बिजली के जैसी गदा को वेग के साथ घुमाया। नकुल ने शत्रु को भेदने वाला भाला हाथ में लिया और सहदेव ने दीप्तिशाली तलवार हाथ में ली एवं धर्म पुत्र-युधिष्ठिर ने जीतने वाली शक्ति को धारण किया। अपने सब भाइयों को युद्ध के लिए उद्यत देखकर युधिष्ठिर को प्रणाम कर पार्थ ने कहा कि आप सब तो विश्राम कीजिए-मैं अकेला ही क्षणभर में शत्रु को वारण कर दूँगा। आपको कष्ट उठाने की जरूरत नहीं है ॥१२३-१२६॥

यह कह पार्थ ने देवदत्त नाम शंख को फूँकते हुए एक उत्तम रथ में सवार हो, धनुष सँभाल शत्रु पर धावा मारा। कृष्ण ने लोगों को भय देने वाला पाँचजन्य शंख बजाया। उसकी सुनकर बल से उद्धत पद्मनाभ पुर से बाहर निकला और उस बली ने रण के बाजों के शब्द द्वारा सब दिशाओं को बधिर करते हुए तथा धूल द्वारा आकाश को ढकते हुए वेग के साथ पार्थ से खूब युद्ध किया। पार्थ ने अपने महान् तीखे शरों द्वारा उसे जर्जरित कर दिया, जिससे वह रण को पीठ देकर भागा और फाटक बंद कर पुरी में छिप रहा। कृष्ण ने जाकर पाँवों के कठिन प्रहारों द्वारा फाटक को तोड़ डाला। वे सब नगरी के भीतर गये और वहाँ उन्होंने सब लोगों को भयभीत कर दिया। भीम ने अपनी गदा के द्वारा बहुत से मंदिर महल गिरा दिये और उनकी सब लक्ष्मी लूट ली। यह देख लोग भागे। उनके साथ ही राजा भी भगा। वह भाग कर त्राहि-त्राहि कहता द्रौपदी के शरण पहुँचा और बोला कि

द्रौपदीहरणात्पापं कृतं यद्धि मया फलम्। लब्धं तदत्र भूमीशे इत्यवोचद्गिरं पराम् ॥१३४॥
द्रौपद्यथावदद्वाक्यं शृणु रे मूढमानस। पुरा प्रोक्तं त्वदग्रेऽत्र समेष्यन्त्याशु पाण्डवाः ॥१३५॥
दुर्योधनादयो योधा युद्धे यैर्निर्जिताः क्षणात्। तेषामग्रे भवद्वार्ता केति पूर्वं मयोदितम् ॥१३६॥
तावता तत्र ते प्रापुर्दन्तिनो वा निरङ्कुशाः। भूपस्तान्वीक्ष्य नम्रोऽभूद्रक्ष रक्षेति संवदन् ॥१३७॥
तस्याः स शरणं प्राप्तो भूपोऽभाणीद्भयातुरः। त्वमखण्डा महाशीला सुशीलासि समप्रिया ॥१३८॥
त्वं दापयाभयं दानमेतैर्मे जीवनप्रदम्। सा तदादापयत्तस्याभयं दानं च तैर्नृपैः ॥१३९॥
ततः प्रणम्य कृष्णाङ्घ्री पाण्डवान्विनयोद्यतः। यथायथं चकारासौ विनयं भोजनादिभिः ॥१४०॥
ते तदा द्रौपदीं लात्वा स्नात्वार्हत्पदपङ्कजम्। प्रपूज्य कारयामास द्रौपद्याः पारणां पराम् ॥१४१॥
इति शुभपरिपाकाच्छौभचन्द्रे जिनेन्द्रे वरकृतनतिभावा भव्यभावाः सुभव्याः।
द्रुपदनृपतिजातां ते समादाय प्रापुर्जननिकरसमिद्धं सद्यशो लोकचारि ॥१४२॥
यस्माद्धर्मान्नृपतिमहितं पद्मनाभं विजित्यं प्राप्ताः पूजां परतरमहाधातकीखण्डजाताम्।
लब्ध्वा पार्थप्रमदवनितां द्रौपदीं पाण्डवास्ते प्रापुः सातं जिनवरवृषप्राभवं तद्धि विद्धि ॥१४३॥

इति पाण्डवपुराणे भट्टारकश्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपालसाहाय्यसापेक्षे द्रौपदीहरण-विष्णुपाण्डवतद्द्वीपगमनद्रौपदीप्राप्तिवर्णनं नामैकविंशतितमं पर्व ॥२१॥

देवी, मैंने तुम्हें हर कर जो पाप किया उसी का यह फल मुझे मिल रहा है। मेरी तुम रक्षा करो। द्रौपदी बोली कि मूढ़, मैंने तो तुझसे पहले ही कहा था कि पाण्डव बहुत जल्दी आवेंगे और तुझे नष्ट कर देंगे भला जिन्होंने दुर्योधन आदि को क्षणभर में जीत लिया उनके आगे तेरी तो बात ही क्या है। राजा द्रौपदी को खुशामद कर ही रहा था कि उसी समय वहाँ हाथी जैसे निरंकुश पाण्डव पहुँच गये। उन्हें देखते ही रक्ष-रक्ष कहता हुआ पद्मनाभ एकदम नम्र हो गया। वह द्रौपदी की ओर देखता हुआ भय से आतुर हो बोला कि देवी, तुम अखण्ड शील पालने वाली सच्ची सुशीला हो। तुम मुझे अभयदान दो, जिसके द्वारा कि इनसे मेरे प्राण बचें। यह सुन द्रौपदी ने उसे अभयदान दिया उसके हृदय से पाण्डवों की तरफ का भय निकाल दिया। इसके बाद विनय के साथ कृष्ण और पाण्डवों को नमस्कार कर उसने उनका भोजन आदि से बड़ा सत्कार किया। इस समय पाण्डवों ने द्रौपदी के साथ स्नान कर और अर्हन्त देव के चरण कमलों की पूजा कर उसको पारणा कराया ॥१२७-१४१॥

शुभचन्द्र जिनेन्द्र को उत्तम भक्ति से नमस्कार कर भव्य-भाव को प्राप्त हुए सुभव्य पाण्डवों ने द्रौपदी को प्राप्तकर जो सर्वोत्तम लोक-व्यापी उज्ज्वल यश प्राप्त किया वह सब पुण्य का ही प्रभाव है। देखो, वह सब जिनदेव के बताये धर्म का ही प्रभाव है जो कि राजाओं द्वारा पूजित पद्मनाभ राजा को जीतकर पाण्डवों ने दूर देश धातकीखण्डद्वीप में प्रतिष्ठा पाई और पार्थ-पत्नी द्रौपदी को प्राप्त किया। यह जानकर हे भव्य-गण! सदा धर्म का सेवन करो ॥१४२-१४३॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में द्रौपदी-हरण, विष्णु और पाण्डवों का धातकीखण्ड में गमन और द्रौपदी की प्राप्ति इन विषयों का वर्णन करने वाला इक्कीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२१॥

द्वाविंशं पर्व

मुनिसुव्रतसंज्ञं तं मुनिसुव्रतमुत्तमम्। मुनिसुव्रतदं वन्दे मुनिसुव्रतं यतो भवेत् ॥१॥
अथ ते पाण्डवा विष्णुपादौ नत्वा मुदा जगुः। तव प्रभावतो लब्धा द्रौपदी वैरिणा हृता ॥२॥
ततस्ते रथमारुह्य तामादाय मनोहराम्। प्रतस्थिरे नृपाः पूर्णमनोरथशताकुलाः ॥३॥
पूरितः पाञ्चजन्यस्तु पीताम्बरमहीभुजा। महानादं प्रकुर्वाणः पयोधरसमध्वनिः ॥४॥
तदा तद्भरतावासिचम्पापूःपरमेश्वरः। त्रिखण्डमण्डलाधीशः कपिलाख्यः सुचक्रभृत् ॥५॥
कम्पयन्तं धरां सर्वां तच्छङ्खनिनदं नृपः। अश्रौषीद्विपुलं नन्तुं जिनं प्राप्तो महामनाः ॥६॥
जिनस्य समवस्थानस्थितेनार्धसुचक्रिणा। शङ्खशब्दं समालोक्य पप्रच्छे मुनिसुव्रतम् ॥७॥
कस्य शङ्खरवोऽयं भो इति पृष्टेऽगदीज्जिनः। जम्बूद्वीपस्य भरते भाति द्वारावती पुरी ॥८॥
त्रिखण्डभरताधीशस्तत्र कृष्णो हि भूपतिः। पार्थप्रियार्थमायातः शङ्खस्तेनात्र पूरितः ॥९॥
तं द्रष्टुं गन्तुमिच्छुः सोऽवाचीत्थं धर्मचक्रिणा। चक्री च चक्रिणं नैव नेक्षते च हरिं हरिः ॥१०॥
तीर्थंकरो न तीर्थेशं बलभद्रो बलं च न। गतस्य चिह्नमात्रेण तस्य स्यात्तव दर्शनम् ॥११॥
तथापि कपिलस्तूर्णं ययौ तं द्रष्टुमिच्छया। अन्योन्यं ध्वजमात्रं तौ तदा ददृशतुः स्फुटम् ॥१२॥
ध्मातौ शङ्खौ च ताभ्यां तौ तयोः शुश्रुवतुः स्वरान्। केशवं जलधौ यातं मत्वा निर्वृत्य स गतः ॥१३॥

मैं उन उत्तम मुनि, सुव्रत धारण करने वाले और मुनियों को सुव्रत–उत्तम व्रत–देने वाले मुनिसुव्रत जिनको नमस्कार करता हूँ जिनके आश्रय से मनुष्य मुनिसुव्रत का धारी हो जाता है ॥१॥

पाण्डवों ने कृष्ण के चरणों में प्रणाम कर कहा–इन शब्दों में हर्ष प्रकट किया कि हमने जो वैरी के द्वारा हरी गई द्रौपदी को प्राप्त किया, यह सब आप ही का प्रभाव है। इसके बाद मनोरथ सफल होने से प्रसन्न–चित्त पाण्डव सुंदरी द्रौपदी को लेकर, रथ पर सवार हो वहाँ से चले। चलते समय कृष्ण ने महान् नाद करने वाले और समुद्र जैसी गंभीर ध्वनि वाले अपने पाँचजन्य शंख को पूरा। जिसके पृथ्वी को कँपाने वाले शब्द को सुनकर धातकीखण्ड की चंपापुरी का स्वामी त्रिखण्डमण्डल–पति महामना कपिल नारायण जो कि जिन देव की वन्दना को आया था, चौंक पड़ा और उस अर्द्धचक्री ने वहीं समवसरण में स्थित मुनिसुव्रत स्वामी से प्रश्न किया कि प्रभो, यह शंखध्वनि किसकी है–या किसने की है। उत्तर में भगवान् बोले कि जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में द्वारावती नाम की पुरी सुशोभित है। वहाँ का राजा तीन खण्ड का प्रभु कृष्ण नारायण है। वह पार्थप्रिया द्रौपदी के लिए यहाँ आया है और उसी ने यह शंखध्वनि की है ॥२–९॥

इसके बाद कपिल चक्री को कृष्ण से मिलने या उसे देखने का इच्छुक देखकर भगवान् ने कहा कि नारायण, देखो, यह नियम है कि चक्री–चक्री को, नारायण–नारायण को, तीर्थंकर–तीर्थंकर को और बलभद्र–बलभद्र को देख नहीं सकते और न ये आपस में मिल–जुल ही सकते हैं। लेकिन यदि तुम चाहो तो जाते हुए उनकी ध्वजा का अवश्य ही दर्शन कर सकते हो ॥१०–१२॥

भगवान् के द्वारा यह सुनकर भी कपिल के हृदय में कृष्ण को देखने की इच्छा दूर न हुई और

चम्पामागत्य चक्री स निर्भर्त्स्य पारदारिकम्। पद्मनाभं सुखेनास्थात्त्रिखण्डभरतेश्वरः ॥१४॥
अमी च पूर्ववत्तीर्त्वा जलधिं तत्तटे स्थिताः। जनार्दनो जगादैवं यूयं व्रजत पाण्डवाः ॥१५॥
विसर्ज्य स्वस्तिकं यावदायामि यमुनातटम्। उत्तीर्य तां तरीं मह्यं प्रेषयध्वं पुनर्नृपाः ॥१६॥
ततस्ते यमुनां प्राप्य द्रौपद्या सह पाण्डवाः। उत्तीर्य तां स्थितास्तीरे दक्षिणे लक्ष्यलक्षणाः ॥१७॥
धूर्तत्वेनाशु भीमेन नीतोत्पाट्य तरीस्तटम्। कृष्णबाहुबलं द्रष्टुं कालिन्द्युत्तरणक्षणे ॥१८॥
तावता केशवः प्राप्तो विसर्ज्य वरनिर्जरम्। सरिज्जलमगाधं स वीक्ष्य ब्रूते स्म पाण्डवान् ॥१९॥
कथं तीर्णा सरिच्छीघ्रं भवद्भिः कथ्यतां मम। तन्निशम्य तदावोचन्पाण्डवाश्छद्मतः खलु ॥२०॥
अस्माभिर्भुजदण्डेन तीर्णेयं च तरङ्गिणी। तन्निशम्याच्युतो दोर्भ्यामुत्ततार सरिज्जलम् ॥२१॥
तीरं गत्वा नृपान्वीक्ष्य हर्षितास्यो जहर्ष सः। जहसुः पाण्डवा वीक्ष्य कृष्णं हडहडखनाः ॥२२॥
हसतः पाण्डवान्वीक्ष्य प्रोवाच चक्रनायकः। भवद्भिर्हसितं किं भो कथ्यतां कथ्यतां मम ॥२३॥
ते जगुर्यमुनातीरं वयं तर्याथ तेरिम। त्वद्बाहुबलवीक्षायै प्रच्छन्ना सा कृता ततः ॥२४॥

वह उसको देखने की इच्छा से गया भी परन्तु जिन देव के कहे अनुसार उन दोनों को परस्पर में एक दूसरे की ध्वजा का ही दर्शन हो सका। दोनों ने अपने-अपने शंख फूँके। उनका शब्द भी दोनों ने ही सुना। इसके बाद कृष्ण को समुद्र में प्रवेश कर गया जानकर कपिल पीछा लौट आया और चंपा में आकर उसने परस्त्री-लंपट पद्मनाभ की पूरी-पूरी भर्त्सना की। बाद इसके वह तीन खण्ड का पति वहाँ सुख से रहने लगा ॥३-१४॥

उधर वे सब पहले की भाँति ही समुद्र को पार कर उसके इस तट पर आ गये। वहाँ आकर कृष्ण ने पाण्डवों से कहा कि आप चलिए और जब तक मैं स्वस्तिक देव को विसर्जन करके आता हूँ तब तक यमुना को पार कर मेरे लिए नौका पीछे भेजिए। कृष्ण की आज्ञा पाकर पाण्डव द्रौपदी-सहित यमुना पार कर उसके दाहिने किनारे जा बैठे। वहाँ यमुना को पार करते समय कृष्ण का बाहुबल देखने की इच्छा से भीम ने यह धूर्तता की कि नौका को उठाकर एक किनारे रख दिया। इसी समय देवता को विदा करके कृष्ण आ गये और यमुना के जल को अथाह देखकर उन्होंने पाण्डवों से कहा कि आप लोगों ने इतनी जल्दी यमुना कैसे पार कर ली। सुनकर पाण्डवों ने यह छल भरा उत्तर दिया कि हमने जो यमुना को पार किया है वह बाहुदण्डों द्वारा पार किया है। यह सुन कृष्ण ने उसी क्षण कूदकर हाथों से ही यमुना पार करना शुरू किया और वे बहुत जल्दी उसके पार पहुँच गये ॥१५-२१॥

वहाँ जाकर कृष्ण ने पाण्डवों को देखकर बड़ा हर्ष प्रकट किया। इस समय कृष्ण को देखकर पाण्डव खूब ही खिलखिला कर हँस पड़े। उन्हें हँसते देखकर कृष्ण ने पूछा कि आप लोग इतना क्यों हँस रहे हैं। मुझे इसका भेद बताइए। सुनकर पाण्डवों ने कहा कि हम सब तो यमुना को नौका के द्वारा ही पार कर यहाँ आये-लेकिन तुम्हारा बाहुबल देखने की इच्छा से हमने वह नौका छुपा दी थी। महाराज, आपने हमारे साथ जैसा अघटित कार्य किया वैसा कोई नहीं कर सकता। अतः हम कहे बिना नहीं रह सकते कि आप वैरी रूपी हाथियों के कुंभ-स्थलों को विदारने के लिए हरि-हरि

नरेन्द्राघटितं कार्यमस्माभिर्घटितं स्फुटम्। प्रत्यर्थिकुम्भिकुम्भानां भञ्जने त्वं हरिर्हरिः ॥२५॥
श्रुत्वेति क्रोधभारेण बभाषे कम्पिताधरः। माधवः पाण्डवा यूयं सदा कलहकारिणः ॥२६॥
स्वजनस्नेहनिर्मुक्ता मायायुक्ताः सदा खलाः। किं सरित्तरणेऽस्माकं माहात्म्यं वीक्षितं ननु ॥२७॥
गोवर्धनसमुद्धारे कालिन्दीनागमर्द्दने। चाणूरचूर्णने चित्रं कंसदस्युविघातने ॥२८॥
अपराजितनिर्नाशे गौतमामरसंस्तवे। रुक्मिणीहरणे तूर्णं शिशुपालवधोद्यमे ॥२९॥
जरासंधवधेऽस्माकं चक्ररत्नसमागमे। त्रिखण्डपरमैश्वर्ये भवद्भिर्नेक्षितं बलम् ॥३०॥
सरिज्जलसमुत्तारे किं माहात्म्यं बलेक्षणे। अद्यापि जडता याति युष्माकं न खलात्मनाम् ॥३१॥
दूरं यान्तु भवन्तोऽत्र योजनानां शतान्तरे। अपाच्यां मथुरायां च चिरं तिष्ठन्तु पाण्डवाः ॥३२॥
इत्युक्ते दुःखचेतस्का जग्मुर्गजपुरं नृपाः। अभिमन्युसुतं तत्र सुभद्रापौत्रमुत्तमम् ॥३३॥
विराटनृपसंजातोत्तरादेवीसमुद्भवम्। हरिः परीक्षितं राज्ये स्थापयामास सुस्थिरम् ॥३४॥
द्वारावतीं ययौ विष्णुर्दक्षिणां मथुरां गताः। पाण्डवा मातृकान्ताद्यैः पुत्रैः सह समुद्धताः ॥३५॥
अथ द्वारावतीपुर्यां नेमीशो हरिसंसदि। संप्राप्तो बलमाहात्म्यवर्णने वर्ण्यतां गतः ॥३६॥

(सिंह)-हो, यह बिल्कुल ठीक है ॥२२-२५॥

पाण्डवों की ऐसी छलभरी बातें सुनकर कृष्ण ने दिखाऊ क्रोध से होंठ डसते हुए कहा कि सचमुच तुम लोग बड़े छली हो, स्वजन के स्नेह-रहित और माया के पुतले हो और सदा ही दुष्टता किया करते हो। अच्छा, बताओ कि नदी को तैरते समय तुमने हमारा कौन-सा माहात्म्य देखा, जिसे कि तुमने गोवर्धन उठाने के समय, कालिन्दी नाग के मर्दन के समय, चाणूर मल्ल को चकनाचूर करते वक्त, कंस-घात के समय, अपराजित के नाश के वक्त, गौतम अमर के संस्तव के समय, रुक्मिणी हरण के समय, शिशुपाल-वध के समय, जरासंध के वध के समय, चक्ररत्न की प्राप्ति के समय और तीन खण्ड के परम ऐश्वर्य के समय नहीं देख पाया था ॥२६-३०॥

नदी तैरते समय किसी का बल देखने में कौन-सा महत्त्व है–यह तो बहुत ही छोटा काम है। बात यह है कि तुम लोग दुष्टात्मा हो, अतः तुम्हारी जड़ता नहीं जाती। अब तुम लोग यहाँ से सौ योजन दूर जाकर चिरकाल तक दक्षिण मथुरा में रहो। यहाँ तुम्हारा कुछ काम नहीं है ॥३१-३२॥

कृष्ण के इन वचनों से पाण्डवों को बड़ा दुख हुआ। वहाँ से वे हस्तिनापुर चले गये। कृष्ण ने तब वहाँ का राज्य सुभद्रा के पौत्र, विराट राजा की पुत्री उत्तरा देवी से पैदा हुए अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को दिया। इसके बाद कृष्ण द्वारावती चले आये और उद्धत पाण्डव मातृकान्त आदि पुत्रों सहित दक्षिण मथुरा चले गये। द्वारावती में एक दिन नेमिनाथ भगवान् और कृष्ण राजसभा में विराज रहे थे। वल के महत्त्व पर चर्चा छिड़ी कि दोनों में कौन अधिक बलवान् है। उस समय वहाँ नेमिनाथ स्वामी का बल लोगों ने कृष्ण से कम बताया। यह देख नेमि प्रभु ने अपना बल बतलाने के लिए कृष्ण को अपनी उँगली सीधी कर देने के लिए कहा। कृष्ण उँगली पकड़ कर उसे सीधी करने लगे, पर वे कर नहीं सके। प्रभु ने विनोद में उन्हें ऊपर उठा लिया। कृष्ण एक दम लटक गये

स कनिष्ठिकया कृष्णं दोलयामास तीर्थराट्। विरक्तः केशवो जज्ञे श्रीनेमे राज्यलोभतः ॥३७॥
कदाचिज्जलखेलायां क्रीडन्वस्त्रस्य पीलने। जाम्बूवत्यभिमानेन मानितो न जिनेश्वरः ॥३८॥
शस्त्रशालां समासाद्य नागशय्यां समाश्रितः। शार्ङ्गं ज्यायां स आरोप्यापूरयत्कम्बु नासया ॥३९॥
तदागत्य हृषीकेशो नत्वा तत्पादपङ्कजम्। शशंस परमैर्वाक्यैस्तं विवाहस्य सूचकैः ॥४०॥
उग्रसेननरेन्द्रस्य जयावत्याश्च देहजाम्। राजीमतीं ययाचे स नेमिपाणिग्रहेच्छया ॥४१॥
राज्यलोभेन वैकुण्ठो मेलयित्वा बहून्पशून्। वाटके बन्धयामास नेमिवैराग्यसिद्धये ॥४२॥
विवाहार्थं जिनो गच्छन्वीक्ष्य बद्धान्बहून्पशून्। पृष्ट्वा तद्रक्षकान्प्राप वैराग्यं रागदूरगः ॥४३॥
अनुप्रेक्षां जिनो ध्यात्वा लौकान्तिकसुरैः स्तुतः। शिबिकां देवकुर्वाख्यां समारुह्य वनं ययौ ॥४४॥
सहस्राम्रवणे स्थित्वा षष्ठ्यां च श्रावणे सिते। पक्षे सहस्रभूपालैः स दीक्षां प्रत्यपद्यत ॥४५॥
चतुर्थज्ञानधारी स बभूवासन्नकेवली। षष्ठोपवासतो यातः पुरीं द्वारावतीं पराम् ॥४६॥
कनकाभो नृपो वीक्ष्यागच्छन्तं पारणाकृते। जग्राह युक्तितो नेमिमुच्चदेशे स्थिरीकृतम् ॥४७॥

और नेमिनाथ उन्हें झुलाने लगे। इससे कृष्ण ने अपना अपमान समझा और इसका फल यह हुआ कि अब कृष्ण नेमिनाथ स्वामी की तरफ से राज-काज से उदास हो गये ॥३३-३७॥

इसके बाद एक दिन जलक्रीड़ा के समय नेमिनाथ प्रभु ने कृष्ण की रानी जाम्बूवती से अपना कपड़ा निचोड़ देने के लिए कहा। उस समय अभिमान में आकर उसने नेमि जिनेश्वर की बात पर कुछ ध्यान न दिया। वहाँ से नेमि प्रभु कृष्ण की शस्त्रशाला में गये। वहाँ जाकर प्रभु नागशय्या पर लेट गये। फिर उन्होंने सार्ङ्ग नाम धनुष चढ़ाया और नाक के द्वारा पाँचजन्य शंख को पूरा। शंख के शब्द को सुनते ही वहाँ कृष्ण आये और उन्होंने नेमि प्रभु के चरण-कमलों को नमस्कार कर उनके बल की बड़ी तारीफ की। मौका देखकर उन्होंने प्रभु से ब्याह के लिए भी प्रार्थना की ॥३८-४०॥

इसके बाद कृष्ण ने नेमिनाथ के लिए उग्रसेन से जयावती रानी के गर्भ से पैदा हुई राजमती नाम पुत्री की याचना की। राज्य के लोभ से कृष्ण ने यह प्रपंच रचा कि नेमिनाथ प्रभु किसी तरह विरक्त हो जायें। बारात आने के दिन कृष्ण ने मार्ग में जगह-जगह बहुत से पशु बँधवा दिये। विवाह के अर्थ जाते समय उन बँधे हुए पशुओं को देखकर नेमिनाथ प्रभु ने उनके रखवालों से पूछा कि ये पशु काहे के लिए घेरे गये है। उन्होंने उत्तर दिया कि बारात में जो मांसभक्षी लोग आये हैं उनके अर्थ ये वध किये जायेंगे। बस यह सुनते ही नेमिनाथ विरक्त हो गये। राग से उनका आत्मा बहुत-अधिक दूर हट गया। वे बारह भावनाओं का विचार करने लगे। फिर क्या था, नियोगवश तत्काल ही लौकान्तिक देव आये और उन्होंने प्रभु के वैराग्य की बड़ी भारी प्रशंसा की ॥४१-४४॥

इसके बाद देवकुरु नाम की पालकी पर सवार होकर भगवान् वन को चले गये और वहाँ सहस्राम्रवृक्ष के नीचे बैठकर सावन सुदी छट के दिन हजार राजाओं के साथ-साथ प्रभु ने दीक्षा ग्रहण की। थोड़े ही समय के बाद भगवान् को मनःपर्ययज्ञान हो गया। इसके बाद आसन्न-केवली नेमिप्रभु दो उपवास के बाद पारणा के लिए द्वारावती आये। उन्हें पारणा के लिए आया देखकर

पादप्रक्षालनं कृत्वा पूजनं च नतिं मुनेः। त्रिशुद्ध्या चान्नशुद्ध्यान्नं ददे तस्मै नरेश्वरः ॥४८॥
श्रद्धादिगुणसंपन्नः पञ्चाश्चर्याणि चाप सः। कोटी द्वादश रत्नानां सार्धा सुरकरच्युता ॥४९॥
वृष्टिः सौमनसी जाता ववौ वायुः सुशीतलः। सुरसंताडितोऽभाणीत् दुन्दुभिस्तन्नृपालये ॥५०॥
जिनोऽथ निघसं कृत्वा वनं गत्वा स्थिरं स्थितः। दधौ ध्यानं निजे चित्ते चिद्रूपस्य परात्मनः ॥५१॥
छद्मस्थसमये याते षट्पञ्चाशद्दिनप्रमे। गिरौ रैवतके तस्थौ जिनः षष्ठोपवासभृत् ॥५२॥
महाव्रतधरो धीरः सुगुप्तिसमलंकृतः। समित्याहितसच्चित्तः परीषहसहो बभौ ॥५३॥
धर्मध्यानबलाद्योगी गलत्र्यायुरयत्नतः। दृष्टिघ्नप्रकृतीः सप्त जघान सुघनो जिनः ॥५४॥
समातपचतुर्जातित्रिनिद्राः स्थावराभिधम्। सूक्ष्मं श्वभ्रतिरश्चोश्च युग्मे उद्द्योतकर्म च ॥५५॥
कषायाष्टकषण्ढत्वस्त्रीत्वहास्यादिषट् नृता। क्रोधं मानं च मायां च लोभं संज्वलनाभिधम् ॥५६॥
निद्रां सप्रचलां दृग्ध्यावरणान्यन्तरायकम्। हत्वा जिनेश्वरः प्राप केवलज्ञानमद्भुतम् ॥५७॥
वरे ह्याश्वयुजे मासि शुक्लपक्षादिमे दिने। केवलज्ञानपूजायां समागुश्च नराः सुराः ॥५८॥
वरदत्तादयोऽभूवन्नेकादश गणाधिपाः। तस्याच्युतादिभूपालैः पूजितोऽभाज्जिनेश्वरः ॥५९॥
धनदेन ततश्चक्रे समवस्थानमुत्तमम्। जिनस्य विजितारातेर्विजिताखिलपाप्मनः ॥६०॥

कनकाभ नाम राजा ने भक्ति-पूर्वक पड़गाहा, ऊँचे आसन पर बैठाकर उनके पाँव धोकर उनकी पूजा की और मन-वचन-काय की शुद्धि के साथ उन्हें नमस्कार किया। इसके बाद नरेश्वर ने अन्न-शुद्धि पूर्वक उन्हें आहार-दान दिया। तब श्रद्धा आदि गुणों के भण्डार कनकाभ के यहाँ पाँच आश्चर्यमयी बातें हुई। देवताओं ने साढ़े बारह करोड़ रत्न बरसाये, फूल बिखेरे, शीतल सुगन्धित पवन चलाई, सुगन्धित जल बरसाया और दुन्दुभि बाजे बजाये। इसके बाद आहार करके प्रभु वन को चले गये और वहाँ स्थिर होकर चिद्रूप परमात्मा का ध्यान करने लगे ॥४५-५१॥

इस प्रकार ध्यान करते प्रभु को छप्पन दिन छद्मस्थ अवस्था में बीते। यहाँ से प्रभु रैवतक गिरि पर जाकर ध्यान करने लगे। वहाँ षष्ठोपवास धारण कर महाव्रत के धारी, गुप्तियों द्वारा अलंकृत तथा समितियों के पालक प्रभु परीषहों के तेज से बड़े सुशोभित हुए। उन योगी जिनने धर्मध्यान के बल आयुकर्म के बिना तीन कर्म को गला दिया और फिर दर्शनमोहनीय कर्म की तीन और चारित्रमोहनीय कर्म की चार अनन्तानुबन्धी कषाय इस प्रकार सात प्रकृतियों को, जो कि आत्मा के सम्यक्त्व गुण को घातती हैं, आत्मा से नष्ट कर दिया। इसके बाद शुक्लध्यान के बल से उन्होंने घातिया कर्मों की शेष ४० चालीस तथा नामकर्म की तेरह-नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्त्यानुपूर्वी, दो इंद्रिय, ते इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय एकेन्द्रिय, आतप, उद्योत, साधारण, सूक्ष्म और स्थावर-प्रकृतियों का नाश किया, जिससे प्रभु की आत्मा में अद्भुत केवलज्ञान-ज्योति प्रकट हो गई। तब कुँवार सुदी पड़वा के दिन उनके केवलज्ञान की पूजा के लिए मनुष्य, सुर-असुर सभी आये। भगवान् के वरदत्त आदि ग्यारह गणधर हुए और तब कृष्ण आदि राजाओं द्वारा पूजित प्रभु की अपूर्व ही शोभा हुई ॥५२-५९॥

इसके बाद वैरियों और पापों पर विजय पाने वाले उन भगवान् के लिए धनद ने आकर

शालो वेदी ततो वेदी शालो वेदी च शालकः। वेदी शालश्च वेदी च क्रमतो यत्र शोभते ॥६१॥
प्रासादाः परिखा वल्ल्यः प्रोद्यानानि सुकेतवः। सुरवृक्षा गृहा यत्र गणाः पीठानि भान्ति च ॥६२॥
मानस्तम्भाः सुनाट्यानां शालाः स्तूपा महोन्नताः। मार्गा धूपघटा भान्ति ध्वजा यत्र सरांस्यपि ॥६३॥
मध्येसभं जिनो भाति स्पष्टाष्टप्रातिहार्यभृत्। चतुस्त्रिंशन्महाश्चर्यातिशयैः समलंकृतः ॥६४॥
निर्ग्रन्थाः कल्परामाश्चार्यिका भवनभौकसाम्। वामा भवनभौमोडुकल्पामर्त्यगजादयः ॥६५॥
एतैर्द्वादशभिः सभ्यैः शोभितश्चतुराननः। व्याजहार परं धर्मं वरदत्तं गणाधिपम् ॥६६॥
जीवाजीवास्त्रवा बन्धः संवरो निर्जरा तथा। मोक्षश्चेति सुतत्त्वानि सप्त प्रोक्तानि नेमिना ॥६७॥
षड्द्रव्यसंग्रहं चाख्यान्नेमिः पञ्चास्तिकायकम्। अधोमध्योर्ध्वभेदेन स्थितिं लोकस्य विश्रुताम् ॥६८॥
सप्तनारकसंस्थानमायुरुत्सेधपूर्वकम्। द्वीपसागरभेदांश्च नाकलोकसुकल्पनाम् ॥६९॥
चतस्त्रस्तु गतीः प्राहेन्द्रियाणि पञ्च षट्पुनः। कायान्पञ्चदश स्वामी योगान्वेदत्रयं तथा ॥७०॥
पञ्चवर्गान्कषायांश्च ज्ञानान्यष्टौ च संयमान्। सप्तसंख्यांश्च चत्वारि दर्शनानि सुदर्शनः ॥७१॥
षड्लेश्या भव्यभेदौ च षट्सम्यक्त्वानि भेदतः। संज्ञ्याहारकभेदांश्च चतुर्दश सुसंख्यया ॥७२॥
गुणस्थानानि जीवानां समासांस्तावतः पुनः। षट् पर्याप्तीर्दश प्राणान्संज्ञाश्च वेदसंमियाः ॥७३॥
उपयोगान्द्विषड्भेदाञ्जीवजातीः कुलानि च। यतिधर्मस्वरूपं च श्रावकाध्ययनं तथा ॥७४॥

समवसरण की रचना की। उसकी अद्भुत शोभा थी। समवसरण प्रासादों, परिखाओं, लताओं, उद्यानों, कल्पवृक्षों, गृहों, पीठों आदि से बड़ा शोभित था। मानस्तंभ, नाट्यशालाएँ, उन्नत स्तूप, मार्ग, धूपघट, ध्वजाएँ और तालाब आदि उसकी अपूर्व शोभा बढ़ा रहे थे। सभा के ठीक बीच में आठ प्रातिहार्यों और महान् चौंतीस अतिशयों द्वारा अलंकृत भगवान् सुशोभित थे। समवसरण में बारह सभाएँ थी, जिनके सभ्य क्रम से इस प्रकार थे–निर्ग्रन्थ मुनि–गण, कल्पवासी देवों की स्त्रियाँ, अर्यिकाएँ, ज्योतिषी देवों की स्त्रियाँ, व्यन्तर देवों की स्त्रियाँ, भवनवासी देवों की स्त्रियाँ, भवनवासी देव, व्यन्तरदेव, ज्योतिषी देव, कल्पवासी देव, मनुष्य, गौ आदि पशु। इन बारह प्रकार के सभ्यों द्वारा शोभित चतुरानन (चतुर्मुख) प्रभु ने वरदत्त गणधर के लिए उत्तम धर्म का उपदेश किया ॥६०–६६॥

भगवान् बोले कि जीव, अजीव, आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये जिनमत के सात तत्त्व–पदार्थ–हैं। इसके बाद प्रभु ने छह द्रव्य और पाँच अस्तिकायों का उल्लेख कर उनके समुदाय रूप लोक का कथन किया और उसकी उर्ध्व, अधः, मध्य–रूप से तीन तरह की स्थिति बताई। उन्होंने लोक का हाल बताते हुए काय का उत्सेध, सात नरकों के संस्थान, स्वर्गलोक की कल्पना तथा द्वीप–सागरों के भेद कहे। इसके बाद भगवान् ने चार गति, पाँच इन्द्रिय, छह काय, पन्द्रह योग, तीन वेद, पच्चीस कषाय, आठ मद, सात संयम, चार दर्शन, छह लेश्या, भव्य–अभव्य, छह सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार के भेद यों चौदह मार्गणाओं का कथन किया और चौदह गुणस्थान, चौदह जीवसमास, छह पर्याप्तियाँ, दस प्राण, चार संज्ञाएँ और बारह उपयोग इनका दिग्दर्शन कराया ॥६७–७३॥

एवं प्रभु ने जीव–जातियों, कुलों, यतिधर्म और श्रावक धर्म के अध्ययन का भी क्रम बताया।

एवं श्रुत्वा शुभं श्रेयः केचित्सम्यक्त्वमाददुः। मिथ्यात्वमलमुत्सृज्य सर्वसंसारकारणम् ॥७५॥
केचिदेकादश स्थानान्केचिच्च श्रावकव्रतान्। जगृहुः संयमं चान्ये महाव्रतपुरःसरम् ॥७६॥
एवं स श्रेयसो वृष्टिं कुर्वन्नीवृति नीवृति। विजहार जिनो नेमिर्भव्यान्संबोधयन्परान् ॥७७॥
विहृत्य निखिलान्देशान्पुनः प्राप जिनेश्वरः। ऊर्जयन्ताभिधं शैलमूर्जस्वी चार्जवान्वितः ॥७८॥
जिनं तत्रागतं वीक्ष्य यादवाः सोद्यमा मुदा। वन्दनार्थं समाजग्मुर्बलदेवपुरः सराः ॥७९॥
स्तुत्वा नत्वा जिनं स्थित्वा श्रुत्वा धर्मं सुमानसाः। सीरपाणिः पुनः प्राह जिनं नत्वाच्युतान्वितः ॥८०॥
भगवन्वासुदेवस्य प्राज्यं राज्यं महोदयम्। वर्तिष्यते कियत्कालं द्वारावत्याः पुनः स्थितिः ॥८१॥
जिनः प्राह पुनर्भद्र पूर्नश्येन्मद्यहेतुतः। नृप द्वादशवर्षान्ते द्वीपायननिमित्ततः ॥८२॥
विष्णोर्जरत्कुमारेण भवेद् गत्यन्तरे गतिः। सद्यः संयममासाद्य दूरं द्वीपायनोऽप्यगात् ॥८३॥
तथा जरत्कुमारश्च कौशाम्बीवनमाश्रयत्। ततः पुनर्जगामाशु जिनो देशान्तरं खलु ॥८४॥
तावत्काले गते चायान्मुनिर्द्वीपायनः क्रुधा। ददाह द्वारिकां सर्वां नान्यथा जिनभाषितम् ॥८५॥
बलकृष्णौ ततो यातौ कौशाम्बीगहनान्तरम्। पिपासापीडितो विष्णुर्जज्ञे तत्र बलच्युतः ॥८६॥
मृतो जरत्कुमारस्य बाणेन क्षणतः क्षयी। बलो जलं समादायागतोऽपश्यन्मृतं हरिम् ॥८७॥

गरज यह कि भगवान् ने क्रम से सभी पदार्थ समझाये। भगवान् के द्वारा इस तरह शुभ धर्म को सुनकर कितने ही ने ग्यारह प्रतिमारूप श्रावक धर्म को ग्रहण किया और कितनों ने महाव्रत-पूर्वक संयम का आश्रय लिया। इस तरह धर्म वृष्टि कर भव्यों को संबोध देते हुए नेमिनाथ प्रभु ने देश-विदेश में विहार किया। इसके बाद तेजस्वी और आर्जव धर्मधारी भगवान् सब देशों में विहार कर ऊर्जयंत पहाड़ पर आये। प्रभु को वहाँ आया जानकर उद्यमी यादव-गण बलदेव को आगे कर उनकी वन्दना के लिए हर्ष के साथ आये। वे भव्य भगवान् की स्तुति कर, उनको नमस्कार कर अपने योग्य स्थान में बैठ गये और एक-चित्त होकर उन्होंने धर्म-श्रवण किया ॥७४-८०॥

इसके बाद जिन भगवान् को नमस्कार कर कृष्ण के साथ-साथ बलदेव ने प्रभु से पूछा कि भगवान्! कृष्ण का यह विशाल राज्य का ऐश्वर्य कब तक रहेगा और द्वारावती की स्थिति कितनी है। भगवान् ने उत्तर दिया कि नृप, द्वारावती पुरी आज से बारह वर्ष बाद मदिरा के हेतु से द्वीपायन मुनि द्वारा नष्ट होगी और कृष्ण की जरत्कुमार के द्वारा लगभग तभी मौत होगी। भगवान् की यह वाणी सुनकर और संयम लेकर द्वीपायन दूर देश चले गये और जरत्कुमार जाकर कौशाम्बी के वन में रहने लगा। इसके बाद भगवान् भी फिर वहाँ से अन्य देश को विहार कर गये ॥८१-८४॥

इसके बाद जब समय पूरा हुआ तब द्वीपायन वापस आ गये और अपनी दुर्दशा करने वाले यादवों पर क्रोध करके उन्होंने सारी द्वारिका को भस्म में मिला दिया। सच है कि जिनभाषित बात मिथ्या नहीं होती। इस तरह जब द्वारिका भस्म हो गई तब कृष्ण और बलदेव जाकर कौशाम्बी के गहन वन में पहुँचे। वहाँ कृष्ण को प्यास की बड़ी बाधा हुई। बलदेव उनके लिए पानी लेने गये और कृष्ण अकेले ही वहीं रहे। इसी बीच में दैवयोग से वहाँ जरत्कुमार आ गया और कृष्ण उसके बाणों

उवाह तद्वपू रामः षण्मासान्प्रीतितो भृशम्। सिद्धार्थबोधितोऽप्याशु न विवेद मृतिं हरेः ॥८८॥
ततो जरत्कुमारोऽसौ गत्वा पाण्डवसंनिधिम्। आचख्यौ स्वकृतं मृत्युं केशवस्य सुकेशिनः ॥८९॥
श्रुत्वा तन्मरणं पाण्डुनन्दना रुरुदुर्भृशम्। विस्मयं परमं प्राप्ता साध्वी कुन्ती रुरोद च ॥९०॥
जारसेयं पुरस्कृत्य बान्धवैः सह पाण्डवाः। स्वकलत्रैः सुमित्रैस्तैर्गता बलदिदृक्षया ॥९१॥
कियद्भिर्वासरैः प्रापुर्वनस्थं च हलायुधम्। तमासाद्य नृपाः सर्वे रुरुदुर्दुःखिताशयाः ॥९२॥
हली तान्वीक्ष्य सुस्निग्धः स्नेहनिर्भरमानसान्। आलिलिङ्ग समुत्थाय कुन्तीनमनपूर्वकम् ॥९३॥
तदा तत्र क्षणं स्थित्वा जगदुस्ते सुपाण्डवाः। हलायुध महाशोकं मुञ्च विष्णुसमुद्भवम् ॥९४॥
ज्ञात्वा संसारवैचित्र्यं सावधानमना भव। दामोदरस्य देहस्य संस्कारः क्रियतां लघु ॥९५॥
रामो बभाण मोहात्मा स्वमित्रपुत्रबान्धवैः। दह्येतां पितरौ तूर्णं युष्माभिश्च श्मशानके ॥९६॥
अतिचक्रमुरुन्निद्राः पाण्डवा हलिना समम्। प्रावृट्कालं ददानास्ते प्रतिबोधं सुबन्धुरम् ॥९७॥
सिद्धार्थबोधितः प्राह हली संस्कारसिद्धये। वरं यूयं समायाता मम हर्षप्रदायिनः ॥९८॥

का निशाना बन परलोक यात्रा कर गये। जब बलदेव पानी लेकर लौटे तो उन्होंने कृष्ण को गत-प्राण पाया। बलभद्र और नारायण में पूर्व भव की बहुत ही गाढ़ी प्रीति होती है, अतः प्रीति के वश हुए बलदेव कृष्ण के मृत-शरीर को छह महीना तक छाती से लगाये लिये फिरे। सिद्धार्थ देव ने उन्हें बहुत कुछ समझाया, पर वे कृष्ण के शरीर को किसी तरह भी मृत शरीर मानने को तैयार नहीं हुए और उसे लिये-लिये ही फिरते रहे ॥८५-८८॥

इसके बाद जरत्कुमार पाण्डवों के पास गया और उसने अपने द्वारा हुई कृष्ण की मृत्यु का हाल उनसे कहा। कृष्ण का मरण सुनकर वे बड़े दुखी हुए। साध्वी कुन्ती ने भी बड़ा विलाप किया। इसके बाद बलदेव को देखने की इच्छा से जरत्कुमार को आगे कर सब पाण्डव बन्धु, मित्र, कलत्र आदि सहित वन में चले। कितने ही दिनों तक चलकर वे जब वनविहारी बलदेव के पास पहुँचे तब उन्हें दुख की दशा में देखकर उन सबके हृदय दहल गये और दुखी होकर उन्होंने बड़ा विलाप किया ॥८९-९२॥

इस समय उन्हें देखकर बलदेव को कुछ चेत हुआ और उठकर उन्होंने कुन्ती को नमस्कार कर सबसे भेंट की। इसके बाद वहाँ कुछ देर बैठकर पाण्डवों ने कहा कि बलदेव, आप विष्णु के महा शोक को अब छोड़ दीजिए और संसार की विचित्र दशा को जानकर कृष्ण के मृत शरीर का जल्दी ही संस्कार कीजिए। यह सुनकर मोह के वश हुए बलदेव ने कहा कि जाइए, ऐसी बातें न कीजिए। तुम ही न अपने मित्र, पुत्र, बन्धु-बान्धवों सहित अपने माता-पिता को श्मशान भूमि में ले जाकर चिता में झोंक दो। मुझे न समझाओ। मुझे सीख देने की जरूरत नहीं है। इसके बाद प्रबोध देते हुए पाण्डवों ने बलदेव के साथ सारा चौमासा बिना नींद लिये ही बिता दिया ॥९३-९७॥

एक दिन उसी सिद्धार्थ नाम देव ने मृत-देह का संस्कार करने के लिए बलदेव को फिर भी समझाया। तब प्रबोध को प्राप्त होकर बलदेव बोले कि तुम बहुत अच्छे आये। तुम्हारे आने से मुझे

तुङ्गीगिरौ ददाहासौ कृष्णदेहं सपाण्डवः। पिहितास्त्रवमासाद्य प्रपेदे संयमं बलः ॥९९॥

मुक्त्वा राज्यं सुनेमिर्वरवृषसुरथे नेमिवन्नम्रनाना-
नाकीन्द्रः कामहर्ताऽसमशमसहितो रम्यराजीमतीं यः।
हित्वा दीक्षां प्रपेदे दरदमनमितः सिद्धकैवल्यबोधो
धृत्वा धर्मे धरित्रीं गिरिवरशिखरे संस्थितो भातु भव्यः॥१००॥

यो नेमिर्निखिलैर्नरेशनिकरैः संसेवितो यं नता
देवेन्द्रा वरनेमिना कृतमिदं तस्मै नमो नेमये।
नेमेः कम्रगुणा भवन्ति चरणे नेमेः परं शासनम्
नेमौ विश्वसितं मनो मम महानेमे वृषो दीयताम् ॥१०१॥

इति श्रीपाण्डवपुराणे भारतनाम्नि भट्टारक श्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपालसाहाय्यसापेक्षे श्रीनेमिनाथदीक्षाग्रहणकेवलोत्पत्तिद्वारिकादहनकृष्णपरलोकगमनबलदेव-दीक्षाग्रहणवर्णनं नाम द्वाविंशं पर्व ॥२२॥

बड़ा हर्ष हुआ। इसके बाद बलदेव ने पाण्डवों के साथ-साथ तुंगीगिरि पर जाकर कृष्ण के देह की दग्ध क्रिया की और बाद पिहितास्त्रव मुनि के पास जाकर उन्होंने संयम ले लिया ॥९८-९९॥

जिन उत्तम धर्म-रथ को धुरा की धारण करने वाले नेमि प्रभु ने राज्य को तथा सुंदरी राजीमती को त्याग कर दीक्षा धारण की, जो इन्द्रों द्वारा पूजित, काम को हरने वाले, अतुल समभाव युक्त और भय को दूर करने वाले हुए तथा जिन्होंने कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया वे प्रभु अंत में संसार को धर्मामृत का पान करा कर गिरनार पर्वत के शिखर पर विराजमान हुए और वहाँ से उन्होंने मोक्ष लाभ किया ॥१००॥

जो नेमिप्रभु अखिल नरेशों द्वारा संसेवित हैं, जिनको देवों के इन्द्र भी आकर पूजते और मानते हैं और जिन्होंने धर्मतीर्थ को प्रवर्तित किया है उन नेमिनाथ भगवान् के लिए मेरा बार-बार नमस्कार है। नेमिनाथ भगवान् में बड़े मोहक गुण हैं और उनका शासन सर्वोत्तम है। यही कारण है जो मेरा हृदय उन पर अटल विश्वास रखता है। वे महान् नेमि प्रभु मुझे धर्म-दान दें ॥१०१॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में श्रीनेमिनाथ का दीक्षाग्रहण, केवलज्ञानप्राप्ति, द्वारिका दहन, कृष्णपरलोकगमन और बलभद्र का दीक्षाग्रहण इतने विषयों का वर्णन करने वाला बाईसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२२॥

❑ ❑ ❑

त्रयोविंशं पर्व

नेमिं नौमि नतानेकनरामरमुनीश्वरम्। निर्जिताक्षं विपक्षान्तं सद्धर्मामृतदायकम् ॥१॥
जारसेयं पुरस्कृत्य पाण्डवा द्वारिकां पुरीम्। समीयुः सह कुन्त्याद्यैः करुणाक्रान्तचेतसः ॥२॥
संवास्य तत्पुरीं पस्त्यैः प्रशस्तैः परमोदयैः। तत्र राज्ये जरापुत्रमस्थापयंश्च पाण्डवाः ॥३॥
पुरातनं स्मरन्तस्तु गोविन्दबलदेवयोः। प्राज्यं राज्यं बभूवुस्ते शोकशङ्कासमाकुलाः ॥४॥
अहो या निर्मिता देवैः पुरी भस्मत्वमागता। अदृश्यतामिता व्योमपुरीव नेत्रनन्दना ॥५॥
दशार्हाः परपूजार्हाः क्व गताः संगतोत्सवाः। अहो तौ क्वाटितौ रम्यावच्युताच्युतपूर्वजौ ॥६॥
रुक्मिण्यादिसुनारीणां निवासा नाकिनन्दनाः। क्व समीयुः सुतास्तासां हर्षोत्कर्षसमुन्नताः ॥७॥
अहो स्वजनसांगत्यं क्षणिकं ह्लादिनीसमम्। जीवितं च नृणां हस्ततलप्राप्तपयःप्रभम् ॥८॥
अङ्गना सङ्गरङ्गेण रक्तालक्तकरङ्गवत्। विरक्तत्वं प्रयात्याशु का मतिस्तत्र निश्चला ॥९॥
आत्मीया ये पराः पुत्राः पवित्रा आत्मनो न ते। केवलं कर्मकर्तारः संकल्पितसुखोपमाः ॥१०॥
ग्रहा इव गृहाः पुंसां विकाराकरकारिणः। परप्रेमकरा आपत्संगदाः संपदापहाः ॥११॥

उन नमि जिन को नमस्कार है जो सच्चे धर्म-रूपी अमृत के दाता हैं, जिनकी विविध नर, सुर और मुनीश्वर वन्दना करते हैं तथा जो जितेन्द्रिय और विपक्ष रहित हैं ॥१॥

इसके बाद करुणा के भरे पाण्डव जारसेय को साथ लिये द्वारिका आये। उन्होंने परमोदय शाली तथा प्रशस्त गृहों द्वारा उस पुरी को फिर से बसाया और वहाँ की राजगादी पर जरा-पुत्र को बैठाया। इस समय वे कृष्ण-बलदेव के पुरातन प्राज्य राज्य का स्मरण करते हुए बड़े ही शोकाकुल हुए। बोले कि आश्चर्य है जो देवताओं के द्वारा रची हुई भी यह पुरी भस्म हो गई-आँखों को आनन्द देने वाली गगनपुरी की भाँति आँखों की ओट हो गई-अदृश्य हो गई। बड़ा दुख होता है कि जिनके यहाँ नित नये उत्सवों की भीड़ रहा करती थी और जो सर्वोत्तम पूजा के योग्य थे वे दशार्ह कहाँ गये। वे कृष्ण-बलदेव कहाँ हैं जिनका कि पराक्रम देखते ही बनता था। हा! रुक्मिणी आदि स्त्रियों के वे निवास-महल तो एक भी दृष्टि नहीं पड़ते, जिनको देखकर देवगण भी लज्जित होते थे। उनके वे पुत्र-गण कहाँ है जो कि सदाकाल ही हर्ष के उत्कर्ष द्वारा उन्नत रहते थे। सच बात तो यह है कि यह स्वजन-समागम बिजली की भाँति क्षण-नश्वर है और मनुष्यों का जीवन चुल्लु के पानी-तुल्य है। यही कारण है कि जो पुरुष स्त्रियों के राग से रँगे हुए है वे भी संसार की यह दशा देख माहुर की भाँति बहुत जल्दी विरक्त हो जाते हैं। जिस तरह माहुर का रंग बहुत जल्दी छूट जाता है उसी तरह उनका राग भी थोड़े ही समय में ढीला पड़ जाता है। सच है कि ऐसे पदार्थों में अचल-बुद्धि करेगा ही कौन। इसी प्रकार पुत्र-पौत्र आदि जो पवित्र पदार्थ हैं वे भी वास्तव में अपने नहीं है, अपने-अपने कर्मों के कर्ता-भोक्ता हैं-अपने को सिर्फ संकल्प मात्र से सुखदायी भास पड़ने लगते हैं-वास्तव में सुख तो आत्मा में है ॥२-१०॥

इसी तरह महल-मकान भी मनुष्यों के लिए विकार में डालने वाले ग्रह हैं, पर पदार्थों में प्रेम कराने वाले हैं, इसलिए आपत्ति रूपी रोग में फँसाने वाले और सम्पदा को हरने वाले हैं। गरज यह

वसूनि जलदस्येव मण्डलानि सुनिश्चितम्। चञ्चलानि परप्रेमकराणि स्युः क्षणे क्षणे ॥१२॥
विशरारूणि सर्वत्र शरीराणि शरीरिणाम्। अनेहसा विनश्यन्ति चलानि शुष्कपर्णवत् ॥१३॥
आत्मनोऽपि महादेहो नानास्नेहप्रवर्धितः। कालेन विपरीतत्वं याति दुर्जनवत्सदा ॥१४॥
अहो इदं शरीरं तु वराहारैः सुपोषितम्। क्षणेन विपरीतत्वं याति शत्रुकदम्बवत् ॥१५॥
सप्तधातुमये काये व्यपाये पापपूरिते। पूतिगन्धे मनुष्याणां का मतिश्च स्थिराशया ॥१६॥
अहो अनङ्गरङ्गेण रञ्जिता रागिणश्चिरम्। रमन्ते रम्यरामासु सातं तत्र कियन्मतम् ॥१७॥
यदङ्गे बहुधा रोगा बहुकोटीप्रमाः खलु। वसन्ति तत्र किं सातं बिले दर्वीकरा यथा ॥१८॥
भोगास्तु भङ्गुराः पुंसां सुखदाः सेवनक्षणे। अन्ते तु नीरसास्तत्र मूढाः किं मन्वते सुखम् ॥१९॥
विषयामिषदोषेण विषमेणासुहारिणा। विषेणेव नराः प्रीतिं कथयन्ति क्षयोन्मुखाः ॥२०॥
विषयेण हता जीवा दुर्गतिं यान्ति दुःखदाम्। पुनस्तमेव सेवन्ते महती मूढता नृणाम् ॥२१॥
इन्द्रियैर्निर्जिता जीवा द्रवन्तो द्रव्यमोहतः। विलीयन्ते क्षणार्धेन तस्करैर्निद्रयाथवा ॥२२॥

कि वे पर में प्रेम कराकर निज सम्पदा को भुला कर आपदा में फँसाते हैं। धन-दौलत मेघ-मण्डल की भाँति चंचल और क्षण-क्षण में आत्मा को लुभाने वाली है। यह प्राणियों के शरीर भी विनाशशील हैं, चंचल है, सूखे पत्तों की भाँति काल का निमित्त पाकर नष्ट हो जाते है। हमारा यह शरीर भी जिसको कि हम विविध भाँति के तेल-फुलेल लगा कर बढ़ाते है, काल का निमित्त पाकर विपरीतता धारण कर लेता है-काँपने लगता है और काम देने में आनाकानी करने लगता है। बात यह है कि इसका स्वभाव दुर्जन पुरुष के जैसा है। दुर्जन पुरुष को चाहे जैसा ही क्यों न रक्खो वह निमित्त पाकर विपरीत हो ही जायेगा। यह कितने दुख की बात है कि उत्तम-उत्तम आहारों द्वारा पुष्ट किया गया भी यह शरीर शत्रु-समूह की भाँति एक क्षण में ही विमुख हो जाता है, जरा भी लिहाज नहीं करता है। जबकि यह शरीर सात धातुमय है, नाश-युक्त है, पाप का पिटारा है, दुर्गन्धि युक्त है तब फिर न जाने इसमें मनुष्यों की थिर बुद्धि कैसे होती है ॥११-१६॥

आश्चर्य है कि काम के रंग से रंगे हुए कामी पुरुष सुंदरी कामिनियों के साथ चिरकाल तक रमा करते हैं, न जाने उन्हें सुख क्या होता है। भला जिनके शरीरों में करोड़ों रोगों का निवास हैं और जो साँप के बिल जैसे है उनमें उन्हें क्या सुख हो सकता है। यह दूसरी बात है कि वे मोहान्ध हुए उनके साथ रमने में सुख की कल्पना कर-सुख मानें। पर वास्तव में सुख का लेश भी स्त्रियों के साथ रमने में प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार ये भोग भी क्षणभंगुर हैं। ये पुरुषों का केवल भोगने के समय ही सुखदायी प्रतीत होते है। अन्त में इनमें कुछ भी स्वाद नहीं प्रतीत होता-नीरस जान पड़ते हैं। फिर कहा नहीं जाता कि उनमें मनुष्य सुख मानते हैं तो कैसे मानते है। समझ नहीं पड़ता कि जब विषय-रूपी आमिष प्राणहारी विष-तुल्य हैं तब क्षय के उन्मुख हुए मनुष्य उसके साथ क्यों प्रीति करते हैं? मनुष्यों की यह बड़ी भारी मूर्खता है जो विषयों के द्वारा ठगे गये जीव दुखदायी दुर्गति को जाते हैं, यह जानते बूझते हुए भी वे फिर विषयों का सेवन करते हैं और दुर्गति को जाते हैं। बात यह है कि संसार में

विषयाः क्षणिकत्वं हि वदन्तः सर्वशर्मणाम्। सत्यापयन्ति शीघ्रेण सौगतीयं मतं सताम् ॥२३॥
इन्द्रियाणि शरीराणि वसूनि विपुलानि च। मित्राणि कुत्र दृष्टानि सुस्थिराणि स्थिराशयैः ॥२४॥
भोगिवच्चञ्चला भोगा भयदा भव्यदेहिनाम्। सेव्यमानाः प्रवर्धन्तेऽग्निना कण्डूभरा इव ॥२५॥
भोगैः संभज्यमाना हि वर्धन्ते विषया ननु। न यान्ति शान्तितां क्वापि ज्वलना दारुतो यथा ॥२६॥
बम्भ्रम्यन्ते भवे जीवाः सुचिरं पञ्चरूपके। प्रपञ्चिते प्रपञ्चेन पच्यमाना महासुखैः ॥२७॥
अनादिवासनोद्भूतमिथ्यात्वमतिमोहतः। विरमन्ति वृषाज्जीवा अविदन्तो हिताहितम् ॥२८॥
द्वादशाविरतीर्जीवाः कुर्वन्तो भवसंभवाः। विपदां यान्ति वेगेन विषयाभिषलोलुपाः ॥२९॥
कषन्ति सद्गुणान्सर्वान् जीवानां बुद्धिशालिनाम्। कषायास्ते मतास्तज्ज्ञैस्त्याज्या मोक्षसुखाप्तये ॥३०॥
युज्यन्ते कर्मभिः सत्रं जीवा यैस्ते मता बुधैः। योगाः शुभाशुभा हेयाः श्रेण्यसंख्येयमातृकाः ॥३१॥
मद्यवत्संप्रमाद्यन्ति यतो जीवा मदोद्धताः। ते प्रमादाः सदा त्याज्या यतः संसारसंभवः ॥३२॥
कौन्तेयाः सततं चित्ते चिन्तयित्वेति निर्ययुः। ततस्तु पल्लवं प्रापुर्नीवृतं जिनसंश्रितम् ॥३३॥
सुरासुरैः सदा सेव्यं तत्र नेमिजिनेश्वरम्। लोकत्रयसुसेव्यत्वाच्छत्रत्रयसुशोभितम् ॥३४॥

जितने भी पदार्थ हैं वे सब क्षण-स्थायी हैं। यदि चित को स्थिर करके देखा जाये तो इन्द्रियों, शरीर, धन-दौलत, राज-पाट, मित्र-बान्धव कहीं भी कोई स्थिर नजर नहीं आता। ये भोग भोगी (साँप) के जैसे चंचल और भव्य प्राणियों को भय देने वाले हैं। सेवन करने से इनकी लालसा अधिकाधिक बढ़ती है जैसे कि आग के निमित्त से खुजली। भोगों के द्वारा भजे गये विषय और-और अधिक बढ़ते हैं, कभी भी उनकी शान्ति नहीं होती, जैसे काठ के मिलते हुए आग शान्त नहीं होती। यही कारण है जो बड़े-बड़े दुखों के द्वारा पचता हुआ यह जीव खूब लम्बे-चौड़े पंच परावर्तन-रूप संसार में चक्कर काटा करता है और अनादि वासना से जाग्रत हुई मिथ्यात्व-बुद्धि के मोह के मारे, हित-अहित की पहिचान न होने से धर्म की तरफ इसकी रुचि ही नहीं होती उसे यह अपनाता ही नहीं किन्तु उसकी तरफ से बहुत उदास रहता है-उसे घृणा की दृष्टि से देखता है। फल यह होता है बारह प्रकार की अविरति में रत-चित्त होकर यह विषय रूपी आमिष का भक्षण करता है और संसार की घोर विपदा में जा पड़ता है ॥१७-२९॥

बुद्धिशाली जीवों के सद्गुणों को जो कषें-बिगाड़े-बुद्धिमान् लोगों ने उन्हें कषाय कहा है। कषाय मोक्ष सुख की प्राप्ति में अटकाव डालती है, अतः जिन्हें मोक्ष सुख की लालसा है उन्हें चाहिए कि वे कषायों को छोड़ें। जिनके द्वारा जीवों का कर्मों के साथ योग होता है बुद्धिमानों ने उन्हें योग कहा है। वे स्थूलपने शुभ तथा अशुभ इस प्रकार दो भेद रूप हैं परन्तु बारीकी के साथ देखा जाये तो वे श्रेणी के असंख्यात भाग मात्र हैं। मद से उद्धत हुए जीव जिनके द्वारा मदिरा की भाँति प्रमादी हो जाते हैं उन्हें प्रमाद कहते हैं। प्रमाद भी त्यागने-योग्य हैं क्योंकि इनसे संसार बढ़ता है ॥३०-३२॥

पाण्डव बहुत-काल मन ही मन यों संसार की दशा को विचार कर बाद वहाँ से निकले और पल्लव नाम देश में आये, जहाँ कि जिन भगवान् विराजमान थे। वहाँ उन्होंने सुर-असुरों द्वारा सेवित

शोकशङ्कापहारित्वादशोकानोकहाङ्कितम्। चतु:षष्टिचलच्चारुचामरैः परिवीजितम् ॥३५॥
जगत्त्रयसुशीर्षस्थमिव सिंहासनाश्रितम्। सामोददिव्यदेहत्वात्पुष्पवृष्ट्योपशोभितम् ॥३६॥
कर्मारिजयतो जातदिव्यदुन्दुभिदीपितम्। अष्टादशमहाभाषाभाषणैकमहाध्वनिम् ॥३७॥
सूर्यकोटिसमुद्भासिभास्वद्भामण्डलामलम्। वीक्ष्य ते पाण्डवा भक्त्या पूजयन्ति स्म पूजनैः ॥३८॥
स्तोतुमारेभिरे देवं पाण्डवाः पावनाः पराः। नावायसे नृणां नाथ संसाराब्धौ त्वमेव हि ॥३९॥
त्वमेव जगतां नाथस्त्वमेव परमोदयः। त्वमेव जगतां त्राता त्वमेव परमेश्वरः ॥४०॥
त्वमेव हितकृन्नॄणां त्वमेव भवतारकः। त्वमेव केवलोद्भासी त्वमेव परमो गुरुः ॥४१॥
त्वत्प्रसादाज्जना यान्ति जवंजवाब्धिपारताम्। तव प्रसादतो जीवो लभते पदमव्ययम् ॥४२॥
त्वमव्ययो विभुर्भास्वान्भर्ता भवभयापहः। भगवान्भव्यजीवेशः प्रभग्नभयसंकटः ॥४३॥
कैवल्यविपुलं देवं सर्वज्ञं चिद्गुणाश्रयम्। मुनीन्द्रमामनन्ति त्वां गणेशं गणनायकम् ॥४४॥
त्वया बाल्येऽपि नाकारि प्राज्ये राज्ये विराजिते। गजवाजिमहारामाराजिभिश्च महामतिः ॥४५॥
कन्दर्पदर्पसर्पस्य हतौ त्वं गरुडायसे। सर्वलोकहिताख्यानाद्धितकृद्धितदायकः ॥४६॥

और तीन लोक के स्वामी नेमि प्रभु की वन्दना की। नेमिप्रभु छत्रत्रय द्वारा शोभित थे, शोक हरने वाले अशोक वृक्ष द्वारा अंकित थे। उनके ऊपर सुंदर चौंसठ चँवर ढोरे जा रहे थे। वे सिंहासन पर विराजे हुए ऐसे जाने जाते थे जैसे कि तीन लोक के शिखर पर ही विराजे हों। उनकी देह स्वयं ही सुगंधपूर्ण और दिव्य थी, अतः पुष्पों की बरसा से उसकी और अधिक शोभा हो गई थी। भगवान् ने कर्म-वैरियों का नाश कर दिया था, जिसकी घोषणा के लिए जो दिव्य दुन्दुभियाँ बजती थीं उनसे उनकी और भी शोभा बढ़ गई थी। वे अठारह महा भाषा-रूप एक महाध्वनि में उपदेश करते थे ॥३३-३७॥

करोड़ सूर्यों की प्रभा से भी कहीं अधिक भासमान प्रभा वाला उनका निर्मल भामण्डल था। ऐसे प्रभु को देखकर पाण्डवों ने भक्ति के साथ, विविध सामग्री द्वारा उनकी पूजा की-सेवा की। इसके बाद वे पवित्र पाण्डव उनकी यों स्तुति करने लगे कि नाथ, इस संसाररूप समुद्र में मनुष्यों के लिए यदि कोई नौका है तो तुम्हीं हो। तुम्हीं संसार के स्वामी और परमोदयशाली हो। तुम्हीं जगत् के रक्षक और परमेश्वर हो। तुम्हीं हितैषी और भव से पार करने वाले हो। तुम्हीं केवलज्ञान द्वारा भासमान और परम गुरु हो। यही कारण है कि जीव तुम्हारे प्रसाद से ही संसार-समुद्र को पार करते हैं और तुम्हारे प्रसाद से ही अविनाशी मोक्ष पद को पाते हैं। हे भगवन्! तुम अव्यय हो, विभु हो, दीप्तिशाली हो, भर्ता हो, भव-भय के हर्ता हो, भव्यजीवों के ईश हो, भय-संकटों को भय करने वाले हो। यही कारण है जो गणनायक तुम्हें कैवल्य, विपुल, देव, सर्वज्ञ, चिद्गुणाश्रय, मुनीन्द्र और गणेश कहते हैं। प्रभो! धन्य है आपको जो आपने एक विपुल राज्य के होते हुए भी बाल्यकाल में भी गज, घोड़े आदि लक्ष्मी और राजीमती को स्वीकार न किया ॥३८-४५॥

इसलिए कहते हैं कि आप कंदर्प-दर्प-सर्प को मारने के लिए गरुड़ के जैसे हो। प्रभो! आप

धिषणाधिष्टितत्वेन त्वमेव धिषणायसे। अतो नमो जिनेन्द्राय नमस्तुभ्यं चिदात्मने ॥४७॥
नमस्ते बोधसाम्राज्यराज्याय विजितद्विषे। अनन्तशर्मणे नित्यमाबालब्रह्मचारिणे ॥४८॥
केवलज्ञानरूपाय नमस्तुभ्यं महात्मने। नमस्तुभ्यं शिवाढ्याय केवलं केवलात्मने ॥४९॥
नमोऽनन्तसुबोधाय विशुद्धाय बुधाय ते। त्वया राजीमती त्यक्ता बाल्ये बालार्कसंनिभा ॥५०॥
पूर्णचन्द्रानना तन्वी रतिरूपा गुणाकरा। निर्दोषा रससंपूर्णा लक्षलक्षणलक्षिता ॥५१॥
कस्ते देव गुणान्वक्तुं समर्थोऽत्र जगत्त्रये। इति स्तुत्वा स्थिताः सभ्याः सभायां भास्वरा नृपाः ॥५२॥
व्याजहार जिनो धर्मं पाण्डवान् शृणुताधुना। यूयं यत्नेन जीवानां सातसाधनमुद्धरम् ॥५३॥
धर्मो जीवदया भूपैकभेदो विशदात्मकः। सा षड्जीवनिकायानां रक्षणं परमा मता ॥५४॥
द्विधाभ्यधायि धर्मो भो यतिश्रावकगोचरः। पञ्चाचारं च चरतां यतिधर्मः प्रजायते ॥५५॥
दर्शनं निर्मलं यत्र दर्शनाचार उच्यते। ज्ञानं पापठ्यते शुद्धं ज्ञानाचारः स कथ्यते ॥५६॥
चारित्रं चर्यते यत्र त्रयोदशविधं परम्। चारित्राचार उक्तः स चारुचारित्रचेतसाम् ॥५७॥
यत्तपस्तप्यते सद्भिः षोढा बाह्यं तथान्तरम्। तपआचार उक्तः स विचारचतुरैर्नरैः ॥५८॥
यद्वीर्यं प्रकटीकृत्य चर्यते चरणं महत्। वीर्याचारः प्रणीतः स जिनेन्द्रेण सुनेमिना ॥५९॥

लोक को हित का उपदेश करते हो, अतः सबके हितैषी हो। भगवन्! आप अनन्त बुद्धिशाली है, अतः आपके काम भी बुद्धि से पूर्ण होते हैं। अतः हे चिदात्मा-मय जिनेन्द्र, हम तुम्हारे लिए नमस्कार करते हैं-बार-बार तुम्हारे चरणों में धोक देते हैं। हे केवलज्ञानरूप महात्मा! तुम्हारे लिए नमस्कार है। केवल आत्मा और शिव के भण्डार, तुम्हें नमस्कार है। शत्रुओं के विजेता और ज्ञानसाम्राज्य के राजा, तुम्हें हमारी वन्दना है। बाल ब्रह्मचारी, अनंत सुख के खजाने अनंतज्ञान के धनी, विशुद्ध आत्मा आपको नमस्कार है। नाथ, सूरज के जैसी प्रभा वाली, तन्वी, चन्द्रवदनी, रति जैसी रूपशालिनी, गुणों की खान, निर्दोष जिस राजीमती को आपने बाल्यावस्था से छोड़ दिया वैसी सुंदरी युवती को कौन छोड़ सकता है-काम-जय की हद हो गई। प्रभो! तीन लोक में ऐसा कौन है जो आपके सब गुणों की गाथा को गा सके। इस प्रकार स्तुति कर दीप्तिशाली पाण्डव सभा में बैठ गये ॥४६-५२॥

इसके बाद भगवान् ने उनके लिए धर्म का उपदेश करना शुरू किया। भगवान् बोले कि पाण्डवों, अब तुम हर-प्रयत्न के साथ एकाग्रचित्त होकर उस धर्म का उपदेश सुनो कि जो सुख का मुख्य साधन है। राज-गण, धर्म जीवदया को कहते हैं। वह विशद धर्म एक भेदरूप ही है। दया-सर्वोत्तम दया-छह काय के जीवों की रक्षा को कहते हैं। इस धर्म के इस प्रकार दो भेद हैं, एक यतिधर्म और दूसरा श्रावकधर्म। इनमें यतिधर्म उसे कहते हैं जिसमें कि पाँच प्रकार के आचार का पालन किया जाता है। निर्मल सम्यग्दर्शन के पालने को दर्शनाचार कहते हैं। जिसके द्वारा ज्ञान विशुद्ध होता है उसे ज्ञानाचार कहते हैं। तेरह प्रकार के चारित्र को ठीक-ठीक पालने का नाम चारित्राचार है। विचार-शील मनुष्यों ने बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से बारह प्रकार के तप तपने को तपाचार माना है और जो वीर्य को प्रकट करके उत्तम आचरण करना है उसे वीर्याचार कहते हैं।

त्रिधात्मकः पुनः प्रोक्तो धर्मः श्रीजिननायकैः। दर्शनज्ञानचारित्रभेदेन भवभेदिना ॥६०॥
शङ्कादिदोषनिर्मुक्तमष्टाङ्गपरिपूरितम्। तत्र सम्यक्त्वमाख्यातं तत्त्वश्रद्धानलक्षणम् ॥६१॥
संज्ञानं निर्मलं रम्यं जिनोक्तश्रुतसंश्रितम्। शब्दार्थादिप्रभेदेन पूरितं गदितं बुधैः ॥६२॥
त्रयोदशविधं विद्धि चारित्रं चरणोद्यतैः। प्रोक्तं पुरातनैः पुंसां सर्वकर्मनिकृन्तनम् ॥६३॥
अथवा दशधा धर्मो मतः क्षान्त्यादिलक्षणः। आद्यः क्षान्त्याह्वयस्तत्र मार्दवो मानमोचनम् ॥६४॥
आर्जवं शाम्बरीत्यागः शौचं लोभविवर्जनम्। सत्यं तु सत्यवादित्वं संयमो जीवरक्षणम् ॥६५॥
तपस्तु तापनं देहे त्यागो वित्तविवर्जनम्। निर्ममत्वं शरीरादावाकिंचन्यं मतं जिनैः ॥६६॥
चरणं ब्रह्मणि स्वस्मिन्ब्रह्मचर्यं स्वभावजम्। सर्वसीमन्तिनीसंगत्यागो वा तन्मतं जिनैः ॥६७॥
अथवा परमो धर्मः स चिदात्मनि या स्थितिः। मोहोद्भुतविकल्पौघवर्जिता निर्मलात्मिका ॥६८॥
चिद्रूपः केवलः शान्तः शुद्धः सर्वार्थवेदकः। उपयोगमयोऽहं चेति स्मृतिर्धर्म उच्यते ॥६९॥
मनसा वचसा तन्वा योऽचिन्त्यश्चेतनात्मकः। स्वानुभूत्या परं गम्यो ध्यायतेऽत्र निरञ्जनः ॥७०॥
संसारसागरान्मुक्तौ यः समुद्धृत्य देहिनम्। धत्ते धर्मः स आख्यातः परमो विपुलोदयैः ॥७१॥

पाण्डवों को नेमि जिनने इस तरह धर्म का उपदेश किया। बाद वे भव-भेदी नेमि भगवान् बोले कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के भेद से धर्म तीन प्रकार का भी है ॥५३-६०॥

शंका आदि आठ दोष रहित तथा आठ अंग सहित जो पदार्थों का श्रद्धान करना है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिनदेव ने तत्त्वों के सच्चे, निर्मल ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा है। वह शब्द और अर्थ के भेद से दो तरह का है। कर्मों को दूर करने वाले चारित्र के तेरह भेद है और कर्मों को दूर करने वाले आचरण को चारित्र कहते हैं अथवा क्षमा आदि के भेद से धर्म दस प्रकार का भी है। क्रोध के जीतने को क्षमा कहते है। मान नहीं करने का नाम मार्दव है। मायाचार के त्याग को आर्जव कहते है। लोभ नहीं करने का नाम शौच है। सच बोलने को सत्य और जीवों की रक्षा को संयम कहते हैं। देह के तपाने को तप और धन के छोड़ने को त्याग कहते हैं। शरीर आदि से ममत्व नहीं करने का नाम आकिंचन्य और आत्मा में लीन होने का नाम ब्रह्मचर्य है अथवा सब स्त्री मात्र का त्याग करना ब्रह्मचर्य है अथवा मोह से उत्पन्न हुए विकल्प-जालों के बिना निर्मलता के साथ आत्म-स्वरूप में लवलीन होने को धर्म कहते हैं। गरज यह कि जो ऊपर धर्म के भेद-प्रभेद बताये गये हैं वे व्यवहारनय की दृष्टि से कहे गये हैं। नीचे जो आत्मस्वरूप में लीन होना धर्म बताया गया है वह निश्चयनय की दृष्टि से कहा गया है और वास्तव में चिद्रूप, केवलज्ञानस्वरूप, शान्त, शुद्ध और सर्वार्थवेदक तथा उपयोगमय आत्मा ही सच्चा धर्म है और यही कारण है जो मन-वचन द्वारा मैं चैतन्य-स्वरूप और उपयोग-मय हूँ, इस तरह के दृढ़ विचार को धर्म कहा गया है ॥६१-७०॥

धर्म शब्द का अर्थ है कि जो संसार-सागर से निकाल कर जीवों को मुक्ति में पहुँचा दे और ज्ञान द्वारा आत्मा की जो विशुद्धि होती है वही सच्चा धर्म है और वही एक ऐसा कारण है जो कि जीवों को संसार के बंधन से छुड़ा सकता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की बिल्कुल ही शुद्ध अवस्था

धर्मः पुंसो विशुद्धिः स्यात्सुदृग्बोधमयात्मनः। शुद्धस्य परमस्यापि केवलस्य चिदात्मनः ॥७२॥
इति धर्मस्य सर्वस्वं श्रुत्वापृच्छन्भवान्तरान्। आत्मीयानात्मनः शुद्ध्यै कौन्तेयाः कपटोज्झिताः ॥७३॥
अस्माभिः किं कृतं श्रेयो वयं येन महाबलाः। जाताः स्नेहयुताः सर्वेऽन्योन्यं निर्मलमानसाः ॥७४॥
पाञ्चाली केन पुण्येन जातेयमीदृशी शुभा। केनाघेन बभूवासौ पञ्चपुरुषदोषिणी ॥७५॥
बभाण भगवाञ्श्रुत्वा भव्यानुद्धर्तुमुद्यतः। जम्बूपशोभिते द्वीपे सस्यं बाभाति भारतम् ॥७६॥
तत्राङ्गीव महानङ्गैरङ्गदेशः सुलक्षणैः। दुर्लक्ष्यस्तु विपक्षेण क्षोण्यां ख्यातिं गतोऽक्षयी ॥७७॥
तत्र चम्पापुरी पुण्या पान्ती पावनमानवान्। प्राकारपरिखावेष्ट्या विशिष्टा भाति भूतले ॥७८॥
तत्र कौरववंशीयो मेघवाहनभूपतिः। सोमदेवाभिधस्तत्र वाडवो विपुलो गुणैः ॥७९॥
श्यामाङ्गी सोमिला तस्य तयोरासन्सुतास्त्रयः। प्रथमः सोमदत्तोऽन्यः सोमिलः सोमभूतिवाक् ॥८०॥
सोमिलायाः शुभो भ्रातागिनभूतिस्तस्य भामिनी। अग्निला च तयोस्तिस्त्रः पुत्र्यः सोमशुभाननाः ॥८१॥
धनश्रीश्चैव मित्रश्रीर्नागश्रीः श्रीरिवापरा। तास्तिस्त्रः सोमदत्ताद्यैः प्राप्ताः पाणिग्रहं क्रमात् ॥८२॥

को धर्म कहते हैं और सिवा इसके जो भेद-प्रभेद रूप धर्म है वह इसी निश्चय का साधन है। गरज यह कि व्यवहार धर्म द्वारा ही निश्चय धर्म प्राप्त होता है ॥७१-७२॥

इस तरह धर्म का पूर्ण स्वरूप सुनकर कुन्ती-पुत्र पाण्डवों ने सीधे-साधे वचनों द्वारा आत्म-शुद्धि के अभिप्राय को लेकर प्रभु से अपने भवान्तरों को पूछा। वे बोले कि भगवन्, हमने कौन-सा ऐसा पुण्य किया कि जिसके प्रभाव से हम लोग परस्पर स्नेह के भरे महाबली और निर्मल-चित्त हुए और पांचाली ने वह कौन-सा पुण्य पैदा किया था जिससे कि वह ऐसी अद्भुत सुन्दरी हुई और फिर उससे ऐसा कौन-सा पाप बन गया कि जिससे उसे पाँच पुरुषों का दोष लगा अर्थात् वह पंच भर्तारी कही गई। उत्तर में भव्य पुरुषों के उद्धार के लिए तत्पर भगवान् बोले कि जम्बूवृक्ष द्वारा शोभित जम्बूद्वीप में भरत नाम क्षेत्र है। उसमें सब प्रकार से सुशोभित अंग देश है, जो कि ऐसा जाना जाता है जैसे कि शुभ लक्षण-पूर्ण अंगों वाला महान् अंगी ही हो। इस देश में कहीं भी शत्रु का नामनिशान नहीं था। यही कारण है जो कि इसकी ख्याति सारी पृथ्वी पर थी ॥७३-७७॥

इसमें एक चंपा नाम की नगरी है जो कि प्राकार, परिखा द्वारा बेढ़ी हुई होने से भूतल पर बहुत अधिक शोभाशाली है। वह बहुत अधिक पवित्र है, अतः ऐसी जानी जाती है जैसे पवित्र मनुष्यों को वह और भी पवित्र बनाती हो। उसके राजा का नाम मेघवाहन था। वह कौरववंशी था। मेघवाहन के समय इस नगरी में एक बड़ा भारी गुणी ब्राह्मण रहता था, जिसका नाम था सोमदेव। सोमदेव की स्त्री का नाम सोमिला था और यह बहुत ही काले रंग की थी। सोमदेव के तीन पुत्र हुए, जिनके नाम थे सोमदत्त, सौमिल और सोमभूति। सोमिला के भाई का नाम अग्निभूति था और उसकी स्त्री थी अग्निला। अग्निभूति के अग्निला के गर्भ से चंद्रमा तुल्य सुंदर मुख वाली तीन पुत्रियाँ हुई, जिनके नाम थे धनश्री, मित्रश्री और नागश्री। नागश्री तो इनमें सचमुच दूसरी श्री जैसी ही थी। इन तीनों का क्रम से सोमदत्त आदि के साथ पाणिग्रहण (विवाह) हो गया ॥७८-८२॥

सोमदेवः कदाचित्तु विरक्तो भवभोगतः प्राव्राजीद्गुरुसांनिध्ये मिथ्यामार्गविमुक्तधीः ॥८३॥
त्रयस्ते भ्रातरो भक्ता भव्या भव्यगुणैर्युताः। श्रावकाध्ययनं धीरा ध्यायन्ति स्म सुधर्मिणः ॥८४॥
सोमिला मलनिर्मुक्ता सम्यक्त्वव्रतधारिणी। दधाना परमं धर्मं सिद्धान्तश्रवणोद्यता ॥८५॥
सा वधूभ्यः सदादेशं ददाविति महाशया। अहिंसा सत्यमस्तेयं कार्यं ब्रह्मव्रतं बुधैः ॥८६॥
खण्डनी पेषणी चुल्ली जलगालनसद्विधिः। विधेयः पात्रदानादि देयं वध्वो विशेषतः ॥८७॥
द्वे वध्वौ तद्वचस्तूर्णं तदा श्रद्दधतुमुदा। नागश्रीर्विमुखा तस्मान्मिथ्यात्वमलदोषतः ॥८८॥
सा धर्मविकला दुष्टा कोपना कलहप्रिया। पापकर्मरता कामकलङ्ककलिता सदा ॥८९॥
नागश्रियं श्रियोपेतामुपदेशमुपादिशत्। धर्मस्य सोमिला साध्वी तत्प्रबोधप्रसिद्धये ॥९०॥
चिरण्टि कुटिलत्वं हि समुत्पाट्य सुपाटवम्। धर्मं धत्स्व च मिथ्यात्वं मुञ्च मान्ये विषादवत् ॥९१॥
मिथ्यात्वमोहिता जीवा न हि श्रद्दधते वृषम्। यथा पित्तज्वराक्रान्ताः पयः सच्छर्कराश्रितम् ॥९२॥
शुद्धो धर्म उपादिष्टः पापिने नैव रोचते। द्वादशात्मासमुद्दीप्तौ यथा घूकाय सूज्ज्वलः ॥९३॥

एक दिन की बात है कि निमित्त पाकर सोमदेव संसार-देह-भोगों से विरक्त हो गया और जाकर उसने मिथ्या मार्ग को हटाने वाली गुरु के निकट जिनदीक्षा धारण कर ली। उधर भव्य गुणों के भण्डार, भक्त, भव्य और धर्मात्मा सोमदत्त आदि तीनों भाई भी धीरता के साथ श्रावक धर्म का अध्ययन करने लगे और सम्यक्त्व व्रत धारण करने वाली निर्मल-चित्त सोमिला भी परम धर्म को धारण कर सिद्धान्त सुनने के लिए उद्यत हो गई ॥८३-८५॥

वह उत्तम भावों वाली अपनी पुत्र-वधुओं को सदाकाल यही आदेश देती रहा करती थी कि बुद्धिमानों ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य को व्रत कहा है। तुम्हारा धर्म है कि तुम सब इनका पालन करो। इसके साथ तुम्हें यह भी उचित है कि तुम इन व्रतों की रक्षा के लिए खाँडना, पीसना, चौका-चूल्हा, पानी छानना आदि विधि बड़ी सावधानी के साथ करो और यथोचित तथा पूरी शुद्धि के साथ पात्र-दानादि धर्मों को निवाहो। सोमिला के इन वचनों की सुनकर दो बहुओं ने तो धर्म का बहुत जल्दी और बड़े हर्ष के साथ श्रद्धान कर लिया, लेकिन नागश्री को उसकी ये बातें न रुचीं और उसने उससे विमुख होकर मिथ्यात्व की ही अभिलाषा की। वह बड़ी दुष्टा थी, उसे धर्म-कर्म सुहाता ही न था। वह क्रोध की खान और कलह-प्रिया थी। सदा ही पाप कर्मों में रत रहती थी ॥८६-८९॥

यह सब होते हुए भी सोमिला ने उससे फिर भी कहा-उसकी भलाई के लिए उसे उपदेश दिया कि बेटी, मिथ्यात्व सेवन करते-करते तो बहुत काल बीत गया, अब तो धर्म की तरफ ध्यान दे और विषाद को पैदा करने वाले मिथ्यात्व को छोड़, जिससे तेरे आत्मा का भला हो-तेरा संसार-जाल कटे। देख, संसार की यह दशा है कि जो जीव मिथ्यात्व के नशे से मोहित हैं वे धर्म पर श्रद्धा ही नहीं लाते, जैसे कि पित्त-ज्वर वाले जीव को मीठा दूध भी रुचिकर नहीं होता। जो जीव पापी हैं या पापाचरण में मग्न रहते हैं उन्हें चाहे जितना ही धर्म का उपदेश क्यों न दिया जाये कभी भी रुचिकर न होगा। जैसे कि चाहे जितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाये पर उल्लू का बच्चा चमकते

मिथ्यात्वान्मोहिता मत्ताः संसारे संसरन्त्यहो। लभन्ते न रतिं क्वापि मृगा वा मृगतृष्णया ॥९४॥
मिथ्यात्वं च सदा त्याज्यं देहिभिर्हितसिद्धये। दोषसर्वाकराकीर्णं मलमुक्तैर्यथा मलम् ॥९५॥
इति धर्मोपदेशस्तु न तस्या मानसे स्थितिम्। व्यधाद्यथाब्जिनीपत्रे पयोबिन्दुः समुज्ज्वलः ॥९६॥
अन्यदा प्रवरो योगी नाम्ना धर्मरुचिर्महान्। सोमदत्तगृहं प्राप भिक्षायै प्रवरेक्षणः ॥९७॥
सोमदत्तो विलोक्याशु तं मुनिं स्वगृहागतम्। प्रतिजग्राह तं नत्वोच्चदेशस्थं व्यधाद् गुरुम् ॥९८॥
पादौ प्रक्षाल्य नीरेण गुरोः स वाडवोऽप्यटन्। कार्यायादात्सुदानस्य शिक्षां नागश्रियै मुदा ॥९९॥
वधूः सिद्धान्नसद्दानं देह्यस्मै दीप्तदेहिने। मुनये समुपार्ज्याशु सुकृतं नवधाश्रितम् ॥१००॥
मिथ्यात्वमद्यमोहेन मदोन्मत्ता क्रुधाकुला। अचिन्तयन्निजे चित्ते सा दुश्चिन्ताशताकुला ॥१०१॥
अहो कोऽयं मुनिर्नग्नः किं दानमन्ननाशकम्। किं देयं को विधिः सर्वकार्यकृन्तनसाधकः ॥१०२॥
नग्ने दानात्फलं किं स्यादिति कोपेन कम्पिनी। व्यचिक्षिपद्विषं धान्ये सा नागीं गरलं यथा ॥१०३॥
ऋजुबुद्ध्या न जानाति श्वश्रूस्तद्विषमिश्रणम्। केवलं पात्रदानेन सा तदा पुण्यमार्जयत् ॥१०४॥

हुए सूरज को कभी अच्छा कहेगा ही नहीं। बात यह है कि मिथ्यात्व के मद से मत्त हुए मोही जीव सदाकाल संसार में चक्कर काटा करते हैं–उन्हें कहीं भी सुख का लेश नहीं मिलता, जैसे कि मृग मृगतृष्णा के वश दौड़ा करता है पर वह जल कहीं भी नहीं पाता। इसलिए जो प्राणी अपना हित चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे मिथ्यात्व को बहुत-जल्दी छोड़ दें, जैसे कि लोग घर के मैले-कुचैले मल की निकालकर फेंक देते हैं। सोमिला ने इस तरह नागश्री को बहुत कुछ धर्म का उपदेश सुनाया, पर उसके मन में एक भी बात न ठहरी, जैसे कि कमलिनी के पत्ते पर पानी की बूँदें नहीं ठहरतीं ॥९०-९६॥

इसके बाद एक दिन का जिक्र है कि धर्मरुचि नाम प्रवर-दृष्टि एक बड़े भारी योगी भिक्षा के लिए सोमदत्त के घर आये। देखकर सोमदत्त ने उन्हें पड़गाहा और नमस्कार कर ऊँचे आसन पर बैठाया। इसके बाद उसने प्रासुक जल द्वारा उनके पॉव धोये और वह नागश्री को दान की विधि बता कार्य-वश कहीं बाहर चला गया। इधर नागश्री ने जब दान देने में कुछ गड़बड़ी की तब उसकी सास सोमिला ने उससे कहा कि बहू, दीप्त देह के धारक इन मुनि को तुम उत्तम रीति से तैयार किया आहार दो और नवधा भक्ति-जन्य पुण्य का उपार्जन करो ॥९७-१००॥

सास के ये वचन सुनकर मिथ्यात्व-रूपी मदिरा के मोह से मदोन्मत्त हुई नागश्री बड़ी बिगड़ी और मन ही मन इस प्रकार बुरे विचार करने लगी कि यह नग्न मुनि कौन है? अन्न का नाश करने वाला दान क्या पदार्थ है? दान देने से होता क्या है? और इस नंगे को दान देने से फल ही क्या होगा? इस प्रकार बुरे विचार कर क्रोध से वह थरथर काँपने लगी। उसे वह सब बड़ा बुरा लगा। उसने तब भोजन में विष मिला दिया, जैसे नागिन ने जहर ही उगला हो ॥१०१-१०३॥

उसकी सास बड़ी सरल-चित्त थी, अतः उसने न जान पाया कि इस आहार में विष मिला हुआ है। सो उस बेचारी ने मुनि को वही आहार दे पात्र-दान के प्रभाव से पुण्य उपार्जन किया। उधर भोजन करते मुनि के शरीर में क्षण भर में ही व्याधि बढ़ गई, जैसे कि वर्षाकाल में लताएँ बढ़ जाती

विषेण विषमो व्याधिर्ववृधे विधिवत्क्षणात्। मुनिदेहे च वर्षायां वल्लीवृन्दं निरङ्कुशम् ॥१०५॥
ज्ञात्वा योगी विषं देहे धर्मध्यानं दधौ हृदि। सावधानं सुसंन्यस्य चचार परमं तपः ॥१०६॥
आराधनाः समाराध्य विशुद्धधिषणावृतः। हित्वा प्राणान्सुसर्वार्थसिद्धिं साधयति स्म च ॥१०७॥
सोमदत्तादयो ज्ञात्वा दोषं नागश्रिया कृतम्। विरक्ता भवभोगेषु बभूवुर्भव्यसत्तमाः ॥१०८॥
वरुणस्य गुरोः पार्श्वे गत्वा नत्वा मुनीश्वरम्। जगृहुः परमं वृत्तं विप्राः सद्वृत्तिसंश्रिताः ॥१०९॥
द्वै ब्राह्मण्यौ परे प्रीते दृष्ट्वा नागश्रियाः कृतिम्। गुणवत्यार्यिकाभ्यर्णे प्राव्राजिष्टां विरज्य च ॥११०॥
धर्मध्यानरताः पञ्च विशुद्धाचारचारिणः। बाह्यमाभ्यन्तरं तत्र तपन्ति स्म परं तपः ॥१११॥
अन्ते संन्यासमादाय दयादमशमोन्नताः। हित्वा प्राणांस्त्रयस्तूर्णमारणाच्युतयोर्गताः ॥११२॥
ब्राह्मण्यावपि संशुद्धे चरन्त्यौ चरणं चिरम्। शुद्धसाटीश्रिते रम्ये रेजतू रञ्जितात्मके ॥११३॥
सद्दर्शनबलाच्छित्वा स्त्रीलिंगं संगवर्जिते। संन्यस्य जग्मतुस्ते द्वे आरणाच्युतयोर्द्वयोः ॥११४॥
सामानिकाः सुरास्तत्र सातं सर्वोत्तमं सदा। संभजन्तश्चिरं तस्थुः पञ्चैते परमोदयाः ॥११५॥
उपपादशिलाप्राप्तदिव्यदेहाः स्फुरत्प्रभाः। अवधिज्ञानविज्ञातपूर्ववृत्तान्तवेदिनः ॥११६॥
नर्तकीनटनालोका विशोकाः शङ्क्यातिगाः। नम्रामरमहाव्यूहा नानानीकविराजिताः ॥११७॥

है। यह देख योगी भी जान गये कि उन्हें विष दिया गया है। तब बड़ी शान्ति के साथ धर्म में लीन हो, सावधानी पूर्वक संन्यास लेकर उन्होंने परम तप तपना आरंभ किया और विशुद्ध-बुद्धि के साथ आराधनाओं की आराधना कर प्राणों को छोड़ा। वह सर्वार्थसिद्धि गये ॥१०४-१०७॥

इधर नागश्री की इस करतूत का पता जब सोमदत्त आदि को लगा-तब उन भव्योत्तमों का चित्त बड़ा उदास हुआ और वे संसार-देह-भोगों से विरक्त हो गये। इसके बाद उत्तम आचरणों के धारक सोमदत्त आदि ने वरुण नाम गुरु के पास जाकर, उन्हें नमस्कार कर उनसे जिनदीक्षा ले ली। इसी प्रकार नागश्री की कृति को जानकर परस्पर में परम प्रीति रखने वाली धनश्री और मित्रश्री भी विरक्त हो गई और उन्होंने गुणवती आर्यिका के पास जाकर दीक्षा ले ली ॥१०८-११०॥

उक्त तीनों ही ने धर्मध्यान में लीन होकर पाँच आचारों का पालन किया और बाह्य तथा अभ्यन्तर तपों को तपा तथा अन्त समय संन्यास धारण कर, शम-दम में उद्यत हो, प्राणों को छोड़कर वे आरण और अच्युत स्वर्ग में गये। इसी प्रकार धनश्री और मित्रश्री भी शुद्धि के साथ उत्तम आचरण करती हुई शीलरक्षा के हेतु सिर्फ एक सफेद साड़ी पहने हुए बड़ी ही सुशोभित हुई और अंत में परिग्रह से विमुख हो, संन्यास ले, सम्यग्दर्शन के बल से स्त्रीलिंग छेदकर, आरण-अच्युत स्वर्ग में गई। आरण और अच्युत नाम के स्वर्गों में उक्त पाँचों ही जीव सामानिक जाति के देव हुए और वे परमोदयशाली वहाँ सर्वोत्तम सुख भोगते हुए चिरकाल तक रहे ॥१११-११५॥

वहाँ उन्होंने उपपाद शिला पर दिव्य शरीर पाया और सूरज के तुल्य उनकी प्रभा हुई। वे अवधिज्ञान द्वारा अपना पहले का वृत्तान्त जानते थे, विविध नृत्य कला पारंगत थे, शोक रहित और शंका आदि से विहीन थे, देवताओं के द्वारा नमस्कृत थे और नाना तरह की सेना से विराजित थे।

शुद्धाम्भःस्नानसंसक्ता जिनपूजापवित्रिताः। द्वाविंशतिसहस्राब्दमानसाहारहारिणः ॥११८॥
द्वाविंशतिसुपक्षान्ते परमोच्छ्वासश्वासिनः। विशन्तः परमं सातं द्वाविंशत्यब्धिजीविनः ॥११९॥
इति जिनवरधर्माद् ध्वस्तमोहान्धकाराः अमरनिकरसेव्या लोकनाथस्य भूतिम्।
त्रिभुवनजिनयात्राः संभजन्तो व्रजन्तो विमलतरसुदेवीसेवितास्ते जयन्तु ॥१२०॥
मुक्त्वा मानुषसंभवं वरसुखं संसारसारं सदा
कृत्वा घोरतरं तपो द्विदशगं हित्वोपधीन्धीधनाः।
याता येऽच्युतनाम्नि देवनिलये ते पुण्यतः पावनाः
ज्ञात्वैवं विबुधा भजन्तु सुवृषं सिद्धिप्रदं श्रेयसे ॥१२१॥
इति श्रीपाण्डवपुराणे भारतनाम्नि भट्टारक श्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपालसाहाय्यसापेक्षे पाण्डवभवान्तरद्वयवर्णनं त्रयोविंशतितमं पर्व ॥२३॥

वे शुद्ध जल में स्नान करते थे और जिन-पूजा द्वारा पवित्र थे। वे बाईस हजार वर्ष बीत जाने पर मानसिक आहार लेते थे ॥११६-११८॥

बारह पक्ष चले जाने पर श्वासोच्छ्वास लेते थे। उनकी बाईस सागर की आयु थी और उन्हें बड़ा ही सुख था। जिनदेव के बताये धर्म के निमित्त से उनका मोहरूपी अँधेरा दूर हो गया था। उनकी हजारों देव पूजा करते थे। वे तीन लोक में स्थित जिन भगवान् की यात्रा करते थे और हजारों सुंदर देवांगनाएँ उनकी सेवा में उपस्थित रहती थीं। वे जयवन्त हों ॥११९-१२०॥

जो बुद्धि धन के धनी संसार में मनुष्य-जन्म-जन्य सारभूत उत्तम सुखों को भोग, चौदह प्रकार के परिग्रह से मोह छोड़, बारह प्रकार के घोरतर तप को तप कर अच्युत-आरण नाम के देवस्थान को गये वह सब धर्म का ही पवित्र प्रभाव है। ऐसा जानकर बुद्धिमानों का कर्तव्य है कि वे अपनी भलाई के लिए सिद्ध-पद के दाता धर्म का सेवन करें। सच बात एक ही है कि संसार में धर्मध्यान करना ही सार है जो यह विभूति दिखाई देती है वह सब असार है-क्षणभंगुर है ॥१२१॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में पाण्डवों के दो भवों का वर्णन करने वाला तेईसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२३॥

❑ ❑ ❑

चतुर्विंश पर्व

नंनमीमि महारिष्टनेमिं नम्रनरामरम्। द्विधा धर्मरथे नेमिं न्यायनिश्चयकारकम् ॥१॥
नागश्रीरथ पापेन प्रकटा लोकनिन्दिता। यष्टिमुष्ट्यादिभिर्हत्वा प्रापिता पीडनं परम् ॥२॥
मुण्डाप्य मस्तकं वेगादारोप्याकर्णरासभे। भ्रामयित्वा पुरे साघाल्लोकैर्निष्कासिता पुरात् ॥३॥
काष्ठलोष्टहता भ्रष्टा नष्टा कुष्ठेन कुष्ठिनी। भूत्वारिष्टेन पञ्चत्वं प्राप सा नरकोन्मुखा ॥४॥
अरिष्टां पञ्चमीं पृथ्वीं प्राप पापेन वाडवी। छेदनं भेदनं शूलारोपणं ताडनं गता ॥५॥
भुञ्जती पापतो दुःखमायुः सप्तदशार्णवम्। निर्गता सा ततः श्वभ्रं भुक्त्वा दुर्धीरनेकशः ॥६॥
स्वयंप्रभाभिधे द्वीपे सोऽभूद्दृग्विषपन्नगः। हिंस्त्रकः स चलज्जिह्वः कोपारुणितलोचनः ॥७॥
कृष्णलेश्योऽतिकृष्णाङ्गः फणाफूत्कारभीषणः। स्फुरत्पुच्छः कषायाढ्यो मूर्तः क्रोध इवोद्धुरः ॥८॥
मृत्वा द्वितीयां पृथ्वीं स जगामाघविपाकतः। त्रिसागरोपमायुष्को दुःखपूरपरिप्लुतः ॥९॥
बभ्राम निर्गतस्तस्मात्त्रसस्थावरयोनिषु। किञ्चिन्न्यूनद्विकोदन्वत्पर्यन्तं निर्गतस्ततः ॥१०॥
चम्पापुर्यां समाजज्ञे मातङ्गी मन्दमानसा। अन्यदोदुम्बराण्यत्तुमासदद्विपिनं च सा ॥११॥
समाधिगुप्तयोगीन्द्रं दृष्ट्वा तत्र शनैः शनैः। इयाय तस्य साभ्यर्णमिच्छन्ती स्वस्य शं स्वयम् ॥१२॥

उन अरिष्ट नेमिनाथ को नमस्कार है जो दो प्रकार के धर्म-रथ की धुरा हैं, जिनको नर-सुर-असुर सभी नमस्कार करते हैं, एवं जो न्यायकारी हैं ॥१॥

इसके बाद नागश्री का मुनि को जहर देने रूप पाप सब पर प्रकट हो गया। लोग उसकी निन्दा करने लगे और उसे पीड़ा देने लगे। इतना ही नहीं किन्तु उन्होंने उसका मस्तक मुँडवाकर उसे गधे पर चढ़ाया और सारे नगर में फिरा कर नगर के बाहर निकाल दिया। लोगों ने पत्थरों से मारा-बड़ा दुख दिया। अन्त में वह कोढ़ के दुःख से मरी और पाप के वश पाँचवें नरक में पहुँची। वहाँ उसने छेदन, भेदन, शूलारोहण, ताड़न आदि विविध दुःखों को भोगा और बड़े कष्टों से वहाँ सत्रह सागर की आयु को बिताया। बाद आयु पूरी होने पर जब वह दुर्बुद्धि वहाँ से निकली तब स्वयंप्रभ नाम द्वीप में दृष्टि-विष जाति का सर्प हुई। उसकी चंचल जीभ थी। क्रोध से नेत्र लाल थे। वह बड़ा हिंसक था और कृष्ण लेश्या का धारक अतिशय कृष्ण था। फण की फूत्कार से वह बहुत भयावह था। उसकी पूछ बहुत चंचल थी और वह कषाय के मारे एकदम विवश हो रहा था। जान पड़ता था मानों वह मूर्ति धारण कर क्रोध ही आया हो ॥२-८॥

वह यहाँ से आयु पूरी कर मरा और पाप के फल से दूसरे नरक में पहुँचा। वहाँ उसने तीन सागर की आयु-प्रमाण दुख के पूर में खूब ही गोते मारे एवं वहाँ से निकलकर वह कुछ कम दो सागर तक त्रस तथा स्थावर योनि में फिरा और उसने अगणित जन्म-मरण किये, जिनके दुख का कुछ ठिकाना ही नहीं। इसके बाद वह पापी जाकर चंपापुरी में चांडालिन हुआ। दैव-संयोग से एक दिन वहाँ वह उदुम्बर फल आदि खाने के लिए जंगल में गई थी कि सहसा उसे समाधिगुप्त नाम योगीन्द्र दीख पड़े। उन्हें देखकर सुख की इच्छा से वह धीरे-धीरे उनके पास गई ॥९-१२॥

न प्साति वक्ति नो किंचित्स्थिरं स्थानस्थितोऽप्ययम्। किं चिकीर्षति भो एवं भवान्पृष्टे जगौ मुनिः ॥१३॥
बंभ्रम्यते भवे भव्ये भविनो भयसंकुलाः। पापच्यन्ते पुनः पापात्पतिता दुर्गतौ नराः ॥१४॥
मनुष्यत्वं च दुःप्रापं प्राप्य तत्राधमा नराः। चेक्रीयन्ते न ये धर्मं ते जंगमति दुर्गतिम् ॥१५॥
वर्जयेन्मद्यमांसानि मधुजन्तुफलानि च। वर्जयेद् व्यसनं कर्म यः स धर्मप्रियो मतः ॥१६॥
रजनीभोजनत्यागोऽनन्तकायविवर्जनम्। अगालितजलत्यागो नानास्थानकहापनम् ॥१७॥
नवनीतनिवृत्तिश्च छिन्नधान्यनिवर्तनम्। द्व्यहोषितस्य तक्रस्य निवृत्तिः क्रियतामिति ॥१८॥
कुसुमात्तिपरित्यागः पञ्चपुष्पादृते द्रुतम्। क्षैरैयफलसंन्यासस्त्रसजन्त्वादिरक्षणम् ॥१९॥
असत्यचौर्यविरतिः सुशीलस्य च रक्षणम्। उपधीनां विधानं चावधेर्धीरसुधर्मदम् ॥२०॥
जिनोपदिष्टसन्मार्गश्रद्धा ध्यानं च सन्मतेः। स्मृतिश्च पञ्चमन्त्राणां स्वातन्त्र्यं स्वात्मनः पुनः ॥२१॥
एतत्सर्वं विधेयं हि विधिना साधुना त्वया। तदाकर्णनमात्रेणातिमात्रं मन्त्रमग्रहीत् ॥२२॥
पवित्राणुव्रतं योग्यं मद्यमांसादिवर्जनम्। गृहीत्वा सा मृतिं प्राप मनुष्यत्वमवाप च ॥२३॥

वे मौन धारण किये स्थिर बैठे थे। वे किसी से कुछ कहते बोलते न थे। वे ध्यान में निमग्न थे। उनको इस तरह ध्यान में बैठे देखकर उस चांडालिन ने पूछा कि महाराज, आप यह क्या करते है? उसके मुँह इस तरह का प्रश्न सुनकर उनका ध्यान भंग हुआ। वह उससे शान्ति के साथ बोले कि भव्ये, भय द्वारा आकुल हुए ये प्राणी संसार में चक्कर लगाते हैं और पाप के वश होकर दुर्गति में जाते हैं। इतने पर भी जो बड़ी कठिनाई से हाथ आने वाले मनुष्य-जन्म को पाकर धर्म नहीं करते वे अधम पुरुष पुनः पुनः दुर्गति में पड़ते है और विविध दुख भोगते हैं ॥१३-१४॥

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह मद्य, मांस, मधु और पंच उदुम्बर फलों को छोड़ दे एवं प्राणियों की हिंसा भी न करे। जो मनुष्य ऐसा करता है-वही संसार में धर्म-प्रिय होता है। इसके सिवा रात्रि-भोजन और अनंतकाय का त्याग करे, कभी बिना छना पानी न पीवे और न बहु बीज वाले पदार्थ खावे। मक्खन और द्विदल को छोड़ दे। इसी प्रकार दो दिन के रक्खे हुए मठा वगैरह को भी न खावे, फूलों का खाना छोड़ दे और जिन फलों में से दूध निकलता है उन्हें काम में न लावे ॥१५-१९॥

कभी झूठ न बोले और न चोरी करे। हमेशा शील को पाले और परिग्रह की मर्यादा करे। पर बात यह है कि जो श्रद्धा-पूर्वक इन त्यागों में बुद्धि को निर्मल रखेगा फल उसी को मिलेगा और जो केवल बाहरी दिखावा के लिए त्यागी बनेगी वह उल्टा फल पावेगा-दुख भोगेगा। इसके सिवा जिनदेव के बताये मार्ग का श्रद्धान रखना, सद्बुद्धि के साथ ध्यान करना और पंच मंत्र का जाप जपना-यही आत्मा की स्वतन्त्रता है और यही सच्चा धर्म है। इसको पालना और इसकी भावना करना मनुष्य का पूरा-पूरा कर्तव्य है। जो सर्वोत्तम मनुष्य-जन्म को पाकर ऐसे धर्म का पालन नहीं करता उस अधर्मी के लिए दुर्गति-रूपी खाड़ा खुदा हुआ तैयार है ही। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। यों धर्म का उपदेश देकर उन मुनिनाथ ने कहा कि, ऊपर जो कुछ भी कहा गया है यह सब तुम्हें विधि-पूर्वक पालन करना चाहिए। मुनिनाथ का यह पवित्र उपदेश सुनकर उस चांडालिन ने उसी क्षण पंच मंत्र को

चम्पायां धनवान्धन्यः सुबन्धुर्वर्तते वणिक्। वदान्यो राजमान्यश्च स्वजनैः सेवितः सदा ॥२४॥
धनदेवी प्रिया तस्य कुशला कुलपालिका। सा सुताभूत्तयोस्तन्वी दुर्गन्धाख्या विगन्धिका ॥२५॥
तत्रापरो वणिग्धन्यो धनदेवो धनच्युतः। भार्यास्याशोकदत्ताख्या पुत्रद्वयखनिस्ततः ॥२६॥
जिनदेवसुतः पूर्वो जिनदत्तस्तयोः परः। विद्याभ्यासं प्रकुर्वाणौ यौवनं भैजतुश्च तौ ॥२७॥
सुबन्धुना तदा प्रार्थि धनदेवोऽतिमानतः। दुर्गन्धाया विवाहार्थं जिनदेवेन धर्मिणा ॥२८॥
राजमान्यस्य तस्येत्थं वचः श्रुत्वा स संस्थितः। मौनं घृत्वेति चैवं चेद्भविता कोऽत्र वारयेत् ॥२९॥
सुबन्धुना पुनः सोऽपि प्रार्थ्यमानः प्रपन्नवान्। तथेति धनदाक्षिण्याद्दाक्षिण्यं किं करोति न ॥३०॥
जिनदेवोऽपि तच्छ्रुत्वा दध्यौ हृदि ममेदृशी। यदि जाया भवेन्नूनं दुःकर्मफलभाजिनः ॥३१॥
तद्दुर्गन्धाङ्गसंगेन यौवनं निष्फलं मम। तदा स्यात्कर्मपाकेनाजाकण्ठस्तनवल्लघु ॥३२॥
दुर्गन्धायाः पिता श्रीमान्मान्यो राज्ञां सुमन्त्रवित्। तस्यान्यथा वचः कर्तुं न क्षमो जनको मम ॥३३॥
दुर्गन्धा दुर्भगा दुष्टा दुःखिता दीनमानसा। यदि मे भविता जाया तदा भोगैरलं मम ॥३४॥

स्वीकार किया और यथायोग्य पवित्र व्रतों को लेकर मद्य-मांस आदि का त्याग किया। इसके बाद वह धर्म का पालन करती हुई जब मरी तब जाकर मनुष्य भव को प्राप्त हुई। चंपा नगरी में एक सुबन्धु नाम का धन्यात्मा और बहुत धनी वैश्य था। इसे राज-सम्मान प्राप्त था और सभी स्वजन इसकी सेवा करते थे। इसकी स्त्री का नाम धनदेवी था। वह बड़ी चतुर और कुल को पालने वाली कुलपालिका थी। उस चांडालिन ने आकर इसी के यहाँ जन्म लिया-वह इसके यहाँ पुत्री हुई। उसके शरीर से बड़ी दुर्गन्ध आती थी, इसलिए उसका नाम भी दुर्गन्धा पड़ गया था ॥२०-२५॥

इसी पुरी में एक दूसरा और भी वैश्य था। जिसका नाम धनदेव था और जो बिल्कुल ही दरिद्र था। उसकी स्त्री का नाम अशोकदत्ता था। इसके गर्भ से दो पुत्र हुए। एक जिनदेव और दूसरा जिनदत्त। ये दोनों विद्याभ्यास करते हुए थोड़े दिनों में यौवन दशा को प्राप्त हुए। एक दिन का जिक्र है कि सुबन्धु ने आकर धनदेव से बहुत मान-पूर्वक प्रार्थना की कि आप धर्मात्मा जिनदेव के साथ दुर्गन्धा के विवाह को स्वीकारता दीजिए। राज-मान्य सुबन्धु की बात सुनकर धनदेव चुप रहा और उसने सोचा कि यदि ऐसा ही भवितव्य है तो उसे कौन रोक सकता है। इसके बाद सुबन्धु ने जब दोबारा प्रार्थना की तब धनदेव ने तथेति कहकर उसे अपनी स्वीकारता दे दी। सच है कि धन की चतुराई के आगे मनुष्य की चतुराई जरा भी काम नहीं देती ॥२६-३०॥

यह बात जब जिनदेव ने सुनी तब वह बड़ा संकट में पड़ा। वह मन ही मन सोचने लगा कि यदि मेरी ऐसी जाया हुई तो यह खोटे कर्म का फल ही समझना चाहिए। यदि सचमुच ही मेरे साथ दुर्गंधा का विवाह हो गया तो मेरा यौवन विफल ही हुआ। जैसे बकरी के गले के स्तन निस्सार होते हैं वैसे ही मेरा यौवन भी निस्सार है। बड़ी भारी संकट की यह बात है कि दुर्गंधा का पिता एक बड़ा भारी श्रीमान् और राज-मान्य मंत्रवित् पुरुष है, इस कारण मेरे पिता उसके वचन को किसी तरह भी नहीं टाल सकते। यदि दुर्गंधा जैसी दुष्टा, अभागिनी, दुःखिनी और दीन-चित्त स्त्री मेरी जाया हुई

कुसंगासंगतो नृणां जीवितान्मरणं वरम्। व्याधिसंगो यथा सर्वोऽनयासंगस्तु दुःखदः ॥३५॥
निद्राक्षुधापरित्यक्तश्चिन्तयित्वेति निर्गतः। पितरावप्रकथ्यासौ गृहाद्यातो वनं घनम् ॥३६॥
समाधिगुप्तनामानं मुनिं नत्वा पुरः स्थितः। पप्रच्छ तत्र धर्मार्थं जिनदेवो विदांवरः ॥३७॥
जगाद वचनं योगी सावधानमनाः शृणु। धर्मः सम्यक्त्वसंशुद्धो वृषः सेव्यः शिवार्थिभिः ॥३८॥
षड्जीवरक्षणं धर्मः सत्यं धर्मोऽभिधीयते। परस्वपरदारादित्यागो धर्मो विशुद्धितः ॥३९॥
वृषेण प्राप्यते वस्तु यत्सारं सातकारणम्। ज्ञात्वेति मानसे धर्मं धत्स्व धीमन्सुधाकरम् ॥४०॥
श्रुत्वेति जातवैराग्यो जिनदेवो दधौ व्रतम्। संसारसागरं तर्तुं पोतप्रख्यं भवापहम् ॥४१॥
सुबन्धुनाग्रह्याद्दत्ता दुर्गन्धा नामतो गुणात्। विवाहविधिना तस्मै जिनदत्ताय सत्वरम् ॥४२॥
जिनदत्तो नवोढां तां गाढालिङ्गनवाञ्छया। निनाय वेश्म चात्मीयं तौ शय्यायां स्थितो पुनः ॥४३॥
तदा देहोत्थदौर्गन्ध्यं तस्याः स सोढुमक्षमः। प्रातः पलायितः क्वापि संपृच्छ्य पितरौ पुनः ॥४४॥

तब तो में फिर भोगों को भोग ही चुका। ऐसे बुरे सम्बन्ध से तो मनुष्य के लिए मर जाना ही अच्छा है। जिस तरह रोग के सम्बन्ध से जीवों को दुख होता है उसी तरह बुरे सम्बन्ध से भी पीड़ा पहुँचती है। इस समय न तो उसकी आँखों में नींद थी और न उसे खाने पीने की ही सुध थी। सिर्फ वह इसी एक चिन्ता में लीन था ॥३१-३६॥

इसके बाद वह अपने छुटकारे का कोई उपाय न देख माता-पिता से बिना कहे ही घर से निकल वन को चला गया। वहाँ वह समाधिगुप्त नामक मुनि को नमस्कार कर उनके आगे बैठ गया। मुनि से उसने धर्मोपदेश सुनने की जिज्ञासा प्रकट की। उत्तर में योगी बोले कि जिनदेव, जरा सावधान चित्त होकर सुनो, मैं तुम्हारे लिए धर्म का स्वरूप कहता हूँ। सम्यक्त्व-सहित ज्ञान-चरित्र को धारण करना ही धर्म है और मोक्ष के अर्थी पुरुषों को उचित है कि वे इसे धारण करें। छह काय के जीवों की रक्षा करना, सच बोलना, परधन और पराई स्त्री का त्याग करना भी धर्म है। पर ध्यान रहे कि यह त्याग जब परिणामों की विशुद्धि के साथ किया जायेगा तभी धर्म का रूप पावेगा। नहीं तो वह धर्म नहीं किन्तु ढकोसला कहा जायेगा। देखो, यह धर्म का ही फल है जो जीवों को सारभूत सुख का कारण अच्छा संयोग मिलता है और मनचाही वस्तुएँ प्राप्त हे जाती हैं। ऐसा जानकर हे धीमान् जिनदेव, तुम धर्म-रूपी अमृत को हृदय में धारण करो। मुनिनाथ के द्वारा धर्म का स्वरूप सुनकर जिनदेव को वैराग्य हो गया और उसने व्रत धारण कर लिये उन व्रतों का आश्रय लिया जो कि संसार-सागर से पार होने के लिए नौका के जैसे हैं-संसार से पार पहुँचाने वाले हैं ॥३७-४१॥

इसके बाद सुबन्धु ने बड़े हठ-पूर्वक, नाम और गुण दोनों से ही दुर्गंधा जैसी अपनी लड़की का विवाह जिनदत्त के साथ कर दिया। जिनदत्त उस नवोढ़ा के गाढ़ आलिंगन की इच्छा से उसे अपने घर लिवा गया और वहाँ वह उसके साथ एक शय्या पर बैठा। पर उसके शरीर से निकलने वाली दुर्गन्ध को न सकने के कारण वह भी माता-पिता से कुछ बहाना बना सबेरा होते ही घर से निकल भागा ॥४२-४४॥

दुर्गन्धा दु:खिता चित्ते निनिन्द स्वं वियोगिनी। हा हा विधे मया पापं किमकारि कृपोज्झितम् ॥४५॥
जननी तं गतं मत्त्वा तां निनाय निजे गृहे। वत्से धर्मे मतिं धत्स्वेत्युपदेशप्रदायिका ॥४६॥
तद्देहदुष्टगन्धेन बन्धूनां दु:खिताभवत्। ततस्तैः सा पृथग्धाम्नि रक्षिता दु:खिता सदा ॥४७॥
अन्यदा क्षान्तिकाक्षूणा सुव्रतैः सुव्रता गृहम्। तत्पितुः प्राप दुर्गन्धा तत्र गत्वा च तां नता ॥४८॥
तत्रार्यिकां प्रतिगृह्याहारं दत्ते स्म सोज्वलम्। आर्यिका तं च जग्राह जुगुप्सोज्झितमानसा ॥४९॥
समभावेन सा लात्वाहारं तत्र क्षणं स्थिता। क्षान्तिकाभ्यां समक्षाभ्यां सक्षमाभ्यां च क्षान्तिका ॥५०॥
सा ते संवीक्ष्य पप्रच्छ के इमे यौवनोन्नते। क्षान्तिके दीक्षिते केन हेतुना वद चार्यिके ॥५१॥
सावोचत्प्रथमे नाके विमला सुप्रभाभिधे। सौधर्मेशस्य चाभूतां प्राग्भवे योषिताविमे ॥५२॥
पत्या सहान्यदा देव्यौ द्वीपे नन्दीश्वराभिधे। जग्मतुः सोत्सवे देवान्संपूजयितुमुद्यते ॥५३॥
नत्वा जिनेन्द्रमूर्तीनां पादपद्मान्प्रमोदिते। देव्यौ दिव्याम्बुगन्धाद्यैः पूजयामासतुः परे ॥५४॥
गीतनृत्यादिकं कृत्वा प्रतिज्ञां प्रतिचक्रतुः। प्राप्य मर्त्यभवं नूनं करिष्यावस्तपोऽप्यतः ॥५५॥
अयोध्याधिपतेरत्र श्रीषेणस्य ततश्च्युते। श्रीकान्तावल्लभायां ते बभूवतुरिमे सुते ॥५६॥
हरिषेणाथ श्रीषेणा क्षितौ ख्यातिं गते इमे। यौवनालंकृते रम्यरूपे मदनसुन्दरे ॥५७॥

उसके चले जाने पर दुर्गंधा बड़ी दुखी हुई और अपनी निन्दा करती हुई विलाप करने लगी कि हाय! मैंने ऐसे कौन से पाप किये जिनसे इस समय मेरे ऊपर यह दुख आकर पड़ा। इसके बाद जिनदत्त के चले जाने की खबर जब दुर्गंधा की माता को मिली तब उसने दुर्गन्धा की अपने घर बुला लिया और उसे यह सीख दी कि बेटी, अब तू धर्म में अपनी बुद्धि लगा। तेरा कल्याण होगा। देख पाप का कैसा बुरा फल है। इसके बाद दुर्गंधा माता के पास ही रहने लगी परन्तु दुर्गंध से उसके स्नेहियों को दुख होने लगा तब उन्होंने उसे हमेशा के लिए ही एक जुदे मकान में रख दिया। इससे वह बड़ी दुखी हुई ॥४५-४७॥

इसके बाद एक दिन का जिक्र है कि अक्षुण्ण व्रतों को पालने वाली एक आर्यिका उसके पिता के घर आई। दुर्गन्धा ने जाकर उसे नमस्कार किया और पड़गाहन कर विधिपूर्वक उज्ज्वल आहार दिया। अपनी साथ की दो आर्यिका के साथ ग्लानि-रहित और निर्मल मन वाली उस आर्यिका ने आहार लेकर क्षणभर समता भाव के साथ -वहाँ विश्राम किया। तब दुर्गन्धा ने उससे पूछा कि आर्ये, ये दो युवती आर्यिकाएँ कौन हैं? और इनके दीक्षित होने में क्या कारण है? उत्तर में आर्यिका बोली कि ये दोनों पहले स्वर्ग में सौधर्म-इन्द्र की विमला और सुप्रभा नाम की देवियाँ थीं। एक समय ये दोनों पूजा के लिए उद्यत होकर अपने देव के साथ नन्दीश्वर द्वीप गई और वहाँ इन्होंने हर्ष के साथ जिनेन्द्र भगवान् के चरण-कमलों की पूजा की। इसके साथ ही इन्होंने गीत, नृत्य आदि उत्सव कर यह प्रतिज्ञा की कि हम मनुष्य भव में नियम से तप करेंगे। इसके बाद आयु को पूरी होने पर वहाँ से चयकर आई और आकर यहाँ अयोध्या के श्रीषेण राजा की श्रीकान्त नाम रानी के गर्भ से पुत्रियाँ हुई। इनका नाम हरिषेणा और श्रीषेणा है। कुछ काल में ये युवती हुई ॥४८-५७॥

सयौवने इमे वीक्ष्य स्वयंवरविधिं नृपः। चकल्पे कल्पनातीतमहोत्सवशतावृतः ॥५८॥
मण्डपे मण्डिता भूपा मण्डनैर्मङ्गलावृताः। समाहूताः समायातास्तस्थुर्देशान्तरात्तदा ॥५९॥
कमलाभिधया वेत्रधारिण्या ते समागते। मण्डपे वीक्ष्य भूपालाञ्जातिस्मृतिमवापतुः ॥६०॥
स्मृत्वा ते प्राग्भवं पित्रोः कथयित्वा निजान्भवान्। निवर्त्य सर्वभूपालाञ्जग्मतुस्ते वनं घनम् ॥६१॥
ज्ञानसागरनामानं मुनिं नत्वा सुसंयमम्। ययाचाते यतः स्त्रीणां स्त्रीत्वं नैव प्रजायते ॥६२॥
प्राव्राजिष्टां ततस्ते द्वे संचरन्त्याविहागते। इति तद्वचनं श्रुत्वा व्यरंसींत्सुकुमारिका ॥६३॥
अहो इमे महाभाग्ये महारूपे सुकोमले। राजपुत्र्यौ च संत्यज्य भोगान् धत्तः स्म संयमम् ॥६४॥
दुर्गन्धाहं सदादुःखा दुर्देहा सुकुमारिका। विषयेच्छां न मुञ्चामि तृष्णाहो मे गरीयसी ॥६५॥
इत्युक्त्वांह्री नता तस्याः प्रार्थयन्ती सुसंयमम्। प्रबोध्य जनकादीन्सा जग्राह परमं तपः ॥६६॥
तपस्तीव्रं तपन्ती सा सहमाना परीषहान्। विजहार महीं भव्या तया क्षान्तिकया समम् ॥६७॥
एकदैक्षत वेश्यां च वसन्ताद्यन्तसेनकाम्। सा सुन्दरां वनं प्राप्तामावृतां पञ्चभिर्विटैः ॥६८॥
तां तादृशीं समालोक्य भूयादीदृग्विधं मम। निदानमकरोद् बाला दुर्गन्धा बन्धुरेति च ॥६९॥

मदनाधिष्ठत इनका रम्य रूप बहुत ही सुन्दर दिखाई पड़ने लगा। तब कल्पनातीत सैकड़ों उत्सवों के साथ राजा ने इनके स्वयंवर की तैयारी की। उस समय बुलाये हुए देश विदेशों से बड़े-बड़े विद्वान् और मंगलरूप गहनों से मंडित राजगण आये और मंडप में इकट्ठे हुए। इस समय अपनी कमला नाम की वेत्रधारिणी दासी के साथ ये मंडप में आई और वहाँ बैठे हुए राजाओं को देखकर इन्हें जाति-स्मरण हो आया। ये तब अपने पहले भव के पिताओं को याद कर, अपने गुजरे हुए भवों का हाल कहकर और सब भूपों को वापस विदा कर वन को चली आई। वहाँ उत्तम संयमी ज्ञानसागर मुनि को नमस्कार कर उनसे इन्होंने यह प्रार्थना की कि जिसमें फिर इन्हें स्त्री पर्याय न धारण करना पड़े। इसके बाद इन दोनों ने उन मुनि से दीक्षा ली और विहार करती-करती ये यहाँ आई हैं ॥५८-६३॥

उस आर्यिका के ऐसे वचन सुनकर दुर्गन्धा भी विरक्त होकर मन ही मन बोली कि धन्य है इनके जो ये बड़भागिनी राज-पुत्रियाँ इतनी सुंदर और सुकोमल होकर भी भोगों को छोड़कर दीक्षित हुई और मैं ऐसी बुरी-देह वाली जिसके पास दुर्गन्ध के मारे कोई खड़ा तक भी नहीं होता-सदा दुःखिनी रहती हुई भी विषयों की वाञ्छा रखूँ तो कहना पड़ेगा कि मेरा बड़ा भारी दुर्भाग्य है-मुझ-सदृश अभागिनी कोई नहीं है। यह कहकर लज्जा से नत-मस्तक हुई उसने संयम के लिए उस आर्यिका से प्रार्थना की और अपने माता-पिता को समझा-बुझाकर तप धारणकर लिया-वह तपस्विनी हो गई। इसके बाद तीव्र तप-तपते और परीषहों को सहते हुए उसने भव्य शान्ति का (आर्यिका) के साथ पृथ्वी-तल पर विहार किया ॥६४-६७॥

एक दिन की बात है कि अपने पाँच विट पुरुषों को साथ लिये बसन्तसेना नाम की एक सुन्दरी वेश्या वन में पहुँची। उसे देखकर इस दुःखिनी ने निदान किया कि मैं भी ऐसी ही होऊँ। इसके बाद ही जब उसे ख्याल हुआ तो वह बड़ी पछताने लगी कि धिक्कार है मुझे जो मैंने सुख को जलांजलि

निवृत्ताचिन्तयद्धिङ् मे मनोवृत्तिं सुखातिगाम्। मिथ्यास्तु दु:कृतं मेऽद्य संचितं दुष्टचेतसा ॥७०॥
कृत्वैवं परमं घोरं तपः संन्यस्य सा क्रमात्। मुक्त्वा प्राणान्गता स्वर्गेऽच्युते च्युतशरीरिका ॥७१॥
सोमभूतिचरस्याभूत्सुरस्य वरवल्लभा। देवी तु पञ्चपञ्चाशत्पल्यायु:स्थितिसंगिनी ॥७२॥
सा सुरी ते सुराः सर्वे संचरन्तः सुखेच्छया। चिरं तत्र स्थिता भेजुः प्रवीचारं च मानसम् ॥७३॥
अथ हास्तिपुरेशस्य श्रीपाण्डोः पृथिवीपतेः। कुन्त्यां मद्र्यां च ते तस्माच्च्युताः सत्पुत्रतामिताः ॥७४॥
सोमदत्तो दरातीतो यः सोऽभूस्त्वं युधिष्ठिरः। सोमिलो योऽभवद् भ्राता सोऽभूद् भीमो भयातिगः ॥७५॥
सोमभूतिरभूद् भव्योऽर्जुनो जितविपक्षकाः। त्रिजगत्प्रथिता यूयं भ्रातरस्त्रय उन्नताः ॥७६॥
यो धनश्रीचरः सोऽभून्मद्रीजो नकुलो महान्। यो मित्रश्रीचरः सोयं सहदेवस्तवानुजः ॥७७॥
सुकुमारीचरा यासीत्सुता काम्पिल्यभूपतेः। सुता दृढरथायाश्च द्रौपदी द्रुपदस्य सा ॥७८॥
अनया च कृतं श्रेयः पूर्वजन्मनि निर्मलम्। समित्या च तथा गुप्त्या व्रतैश्च वरभावतः ॥७९॥
तत्प्रभावादलं जाता जातरूपसमद्युतिः। भोगोपभोगभूयिष्ठा द्रौपदीयमभूद्भुवि ॥८०॥
दृष्ट्वा वसन्तसेनाख्यां पण्यपत्नीं सुरूपिणीम्। यदर्जितं त्वया पापं पूर्वजन्मनि दुष्करम् ॥८१॥
तत्प्रभावादियं जातापकीर्तिर्दुस्तरा भुवि। द्रौपद्याः पञ्चभर्तृत्वसंभवा लोकहास्यदा ॥८२॥
मनसा वचसा वाचार्जितं यत्कर्म जन्तुना। तत्फलत्येव तादृक्षमुप्तं बीजं यथा भुवि ॥८३॥

देने वाली बात को हृदय में स्थान देकर दुष्ट चित्त द्वारा मिथ्या पाप का उपार्जन किया। इसके बाद वह घोर तप तपकर और अन्त में संन्यास लेकर, प्राणों को छोड़ अच्युत नाम स्वर्ग में गई और वहाँ जो पहले सोमभूति नाम देव था उसकी देवी हुई। वहाँ उसकी पचपन पल्य की आयु हुई। उसने देवों के साथ वहाँ मन-चाहे सुखों को भोगते हुए और मानस प्रवीचार का सेवन करते हुए बहुत समय बिताया ॥६८-७३॥

इसके बाद वे देव वहाँ से चये और हस्तिनापुर के राजा पाण्डु की कुन्ती और मद्री दोनों रानियों के गर्भ से उत्तम पुत्र हुए। देखो जो पहले सोमदत्त था वह तो तुम निर्भय युधिष्ठिर हुए हो। सोमिल नाम तुम्हारा जो भाई था वह यह भीम हुआ है और शत्रु को जीतने वाला यह अर्जुन सोमभूति का जीव है। तुम लोग तीन जगत् में प्रसिद्ध हो और अपने ही बल द्वारा उन्नत हुए हो। इसी तरह जो धनश्री का जीव या वह मद्री का पुत्र महान् नकुल और मित्रश्री का जीव तुम्हारा छोटा भाई सहदेव हुआ है एवं जो पहले सुकुमारिका (दुर्गन्धा) थी वह कापिल्यपुरी के पति द्रुपद राजा और दृढ़रथा रानी की द्रौपदी नाम की पुत्री हुई ॥७४-७८॥

इसने पहले भव में समिति, गुप्ति, व्रत और उत्तम भावना आदि द्वारा जो पुण्य पैदा किया था उसके प्रभाव से तो यह उत्तम रूप और कान्ति वाली हुई और भोग-उपभोग की इसे पूर्ण सामग्री प्राप्त हुई और बसन्तसेना नामी वेश्या को देखकर जो निदान किया था यह उसका प्रभाव है जो सारे संसार में इसकी यह अपकीर्ति हुई कि द्रौपदी के पाँच पति हैं-वह पंचभर्तारी है। बात यह है कि जीव मन, वचन और काय द्वारा जिस तरह के कर्म करता है उसे वैसा ही उनका फल भी भोगना पड़ता है, जैसे

अतो दुष्कर्म संकृत्य कर्तव्यः कृतिना वृषः। यत्प्रभावाद् भवत्येव सातं संसारसंभवम् ॥८४॥
यदचारि पुरानेन चारित्रं परमोज्ज्वलम्। तस्माद्युधिष्ठिरस्यास्य यशोऽभूत्सत्यसंभवम् ॥८५॥
अन्वभावि च भीमेन वैयावृत्त्यं पुराभवे। तत्प्रभावदयं जज्ञे बलिष्ठो वैरिदुर्जयः ॥८६॥
पार्थेन प्रथितं पूर्वं यच्चरित्रं पवित्रकम्। तत्प्रभावदयं जातो धानुष्को धन्ववेदवित् ॥८७॥
नागश्रीस्नेहतः स्निग्धोऽभूद् द्रौपद्यां धनंजयः। अतिस्नेहस्तु जन्तूनां जायते पूर्वसंभवः ॥८८॥
ब्राह्मण्यौ यत्पुरा कृत्वा कर्मनिबर्हणक्षमम्। तपश्च चेरतुश्चित्रं चरित्रं दृक्समुज्ज्वलम् ॥८९॥
तत्प्रभावादिमौ जातौ भ्रातरौ भवतामिह। प्रसिद्धौ शुद्धनकुलसहदेवौ मनोहरौ ॥९०॥
इति पूर्वभवान्भव्या भाविताञ्जिननेमिना। निशम्य पाण्डवाश्चण्डा बभूवुः शान्तमानसाः ॥९१॥

इति शुभपरिभावास्त्यक्तसंसारदावाः अधिगतजिनरावा मुक्तवैकारहावाः।
वरपरिणतिपावाः कर्मकेदारलावाः जिनपतिकृतहावाः सन्तु सिद्ध्यै सुधावाः ॥९२॥

कृत्वा ये सुचिरं तपो द्विजभवे लात्वा शिवं शोभनम्
हित्वा दुष्कृतसंचयं वरदिवि प्राप्यामरत्वं शुभम्।
भुक्त्वा तत्र सुसातमुत्कटरसं प्राप्ता नरत्वं नृपाः
हत्वा वैरिगणं जयन्ति भुवने ते पाण्डवाः पञ्च वै ॥९३॥

कि खेत में जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही फल होता है। ऐसा जानकर जो सुकृती पुरुष हैं उन्हें चाहिए कि वे पाप से दूर रहें और धर्म का सेवन करें, जिसके प्रभाव से संसार में सब सुख प्राप्त होता है ॥७९-८४॥

पहले भव में युधिष्ठिर ने जो उज्ज्वल चारित्र धारण किया था यह उसी का फल है जो इस भव में उनकी सत्य-जन्य कीर्ति हुई एवं भीम ने पहले भव में जो वैयावृत्य किया था उसका यह फल है कि यह वैरियों द्वारा दुर्जय अत्यन्त बली हुआ। पार्थ ने जो पवित्र चारित्र को धारण किया था उसका यह फल मिला कि यह धनुष-कला का अच्छा ज्ञाता धनुर्धर हुआ। नागश्री के ऊपर इसका तब अति स्नेह था। यही कारण है कि द्रौपदी पर इसका अब भी बहुत स्नेह है क्योंकि प्राणियों का अत्यन्त स्नेह पूर्व भव के निमित्त से ही होता है। इसी प्रकार धनश्री और मित्रश्री नाम की दो ब्राह्मण स्त्रियों ने जो कर्मों को नाश करने के लिए सम्यक्त्व-सहित उज्ज्वल तपरूपी विचित्र चारित्र धारण किया था यह उसी का प्रभाव है जो वे दोनों यहाँ आपके अति प्यारे और प्रसिद्ध नकुल और सहदेव भाई हुई हैं। इस प्रकार नेमिनाथ भगवान् के द्वारा अपने भव्य भवों को सुनकर पाण्डव बड़े शान्त हुए। उनके चित्त में जो उद्वेग था वह अब एक दम जाता रहा ॥८५-९०॥

जो इस तरह के शुभ भावों वाले हैं, संसार वन के लिए दावानल हैं, जिनवाणी के रसिक हैं, विकार भावों से रहित हैं, अत्यन्त पवित्र और कर्म-वन के लिए वह्नि हैं और जिन्होंने जिन यतियों के आचरण किये हैं वे सुधी तुम्हें सिद्धि दें ॥९१-९२॥

चिर काल घोर तप-तप कर जिन्होंने ब्राह्मण के भव में बहुत पुण्य संचय किया, खोटे कर्मों

दुर्योध्यान्युधि कौरवान्परबलान्दुर्योधनादीन्नृपान्
सान्त्वा संगरशालिनः सुरसमाः सद्यः श्रितास्ते हरिम्।
तत्साहाय्यमुपाश्रिता वरसरिद्वाहं सुतर्तुं क्षमाः
ये संतीर्य महाम्बुधिं बुधनुताः प्रापुः परां द्रौपदीम् ॥९४॥

इति श्रीपाण्डवपुराणे भारतनाम्नि भट्टारकश्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपाल साहाय्यसापेक्षे पाण्डवद्रौपदीभवान्तरवर्णनं नाम चतुर्विंशतितमं पर्व ॥२४॥

का नाश कर उत्तम देव पद पाया, बाद वहाँ के सर्वोत्तम सुखों की भोग वहाँ से यहाँ आ राज-पद प्राप्त किया-मनुष्यों के मुकुट हुए, युद्ध में दुर्योधन आदि राजाओं को जो कि बड़े ही समरशाली थे, पराजित किया, हरि की सहाय पाकर जो महा समुद्र पार करने के लिए समर्थ हुए तथा महा समुद्र को पार कर द्रौपदी को लाये वे वैरियों पर विजय पाने वाले अमर जैसे पाँच पाण्डव जयवन्त रहें ॥९३-९४॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में पाण्डव और द्रौपदी के भवान्तरों का वर्णन करने वाला चौबीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२४॥

❑ ❑ ❑

पञ्चविंशतितमं पर्व

शुमचन्द्राश्रितं पार्श्वं श्रीपालं पालिताङ्गिनम्। नंनमीमि सुपार्श्वस्थभव्यवर्गं सुपार्श्वगम् ॥१॥
अथ ते पाण्डवा नत्वा नेमिं नम्रनरामरम्। विज्ञप्तिं चक्रिरे कृत्वा पाणिपद्मान्स्वमूर्धनि ॥२॥
ज्वलद्दु:खमहादाहे देहव्यूहमहीरुहे। करालकालगहने संशुष्यद्धिषणाजले ॥३॥
नानादुर्णयदुर्मार्गदुर्गमे भयदे नृणाम्। अनेकक्रूरदु:कर्मपाकसत्वे चरज्जने ॥४॥
दुष्टभावबिले भीमे संसारविपिने जना:। बंभ्रम्यते भयत्रस्ता विना त्वच्छरणं विभो ॥५॥
नानाजन्मजलौघेन लङ्घिताशासमूहके। क्लेशोर्मिजालसंकीर्णे नानादु:कर्मवाडवे ॥६॥
प्रोद्भूताद्भुतदुर्भावविसारिविसरान्तरे। भवाम्बुधौ जनानां त्वं नावायसे च तारणे ॥७॥
भवान्धकूपतो दत्त्वा धर्महस्तावलम्बनम्। अस्मानुद्धर धर्मेश पतितान्पापकर्मत: ॥८॥
दक्ष क्षिप्रेण सद्दीक्षां देह्यस्मभ्यं शुभावह। त्वत्प्रसादेन देवेश वयं लिप्सामहे शिवम् ॥९॥
दत्त्वा संसारकान्तारे वृषाख्यसामवायिकम्। अस्मान्प्रापय वै क्षिप्रं मोक्षक्षेत्रं त्वमद्य भो: ॥१०॥
इति संप्रार्थ्य भूमीशा जिनं दीक्षासमुद्यता:। ददु: पुत्राय सद्राज्यं प्राज्यं भूरिनरै: स्तुतम् ॥११॥
बाह्यान्दशविधाञ्शीघ्रं ग्रहानिव हतात्मन:। क्षेत्रवास्तुहिरण्यादींस्तत्यजुस्ते परिग्रहान् ॥१२॥
मिथ्यात्ववेदरागांश्च षड्ढास्यादीन्सुपाण्डवा:। कषायानत्यजंश्चित्ताच्चतुरोऽभ्यन्तरोपधीन् ॥१३॥

उन पार्श्वनाथ प्रभु को प्रणाम है जो शुभचन्द्र के आश्रय स्थान हैं, श्रीपाल हैं, प्राणियों के पालक हैं और जिनके सुहावने पार्श्वभागों में भव्यवर्ग सदा ही बैठे रहते हैं ॥१॥

इसके बाद सुर-असुर और नर-पूजित नेमिनाथ प्रभु को नमस्कार कर, हाथ जोड़ मस्तक पर लगा पाण्डव बोले कि प्रभो, जिसमें दुख की ज्वाला शरीर रूपी वृक्षों को भस्म कर रही है, कराल काल द्वारा जो बड़ा गहन है, नाना दुर्जय दुखरूपी खोटे मार्गों से दुर्गम और मनुष्यों के लिए बड़ा भयानक है, अनेक क्रूर कर्म जिनके उदय में आ रहे हैं ऐसे प्राणियों का जो स्थान है तथा जो खोटे भावों रूपी बिलों द्वारा भरा-पुरा और भीषण है ऐसे संसार में जो भय-त्रस्त प्राणी जन्म-मरण के चक्कर लगा रहे हैं वे सब एक आपके शरण बिना ही दुखी हो रहे हैं। यदि उन्हें आपका शरण मिल जाता तो वे कभी के पार हो गये होते ॥२-५॥

जो कि विविध जन्म-रूपी जल से सब दिशाओं को लाँघता है, क्लेश की लहरों से परिपूर्ण है, दुष्कर्म-रूपी जिसमें विविध बड़वानल हैं और खोटे भावरूपी भँवर उठा करते हैं ऐसे संसार समुद्र से प्राणियों को तारने के लिए आप अद्वितीय नौका हैं ॥६-७॥

हे धर्मेश! पाप कर्मों ने हमें संसार-रूपी अंधकूप में गिरा रखा है, अत: कृपा कर आप धर्म-रूपी हाथ का सहारा देकर हमारा उद्धार कीजिए। प्रभो, हम संसार-रूपी जंगल में पड़े हुए हैं, सो आप हमें धर्म की सवारी देकर बहुत जल्दी मोक्ष-क्षेत्र में पहुँचा दीजिए। आज ही हमारा बेड़ा पार कर दीजिए। हे दक्ष! आपके प्रसाद से अब इस बहुत जल्दी शिव प्राप्त करना चाहते हैं। अत: आप हमें वह दीक्षा दीजिए जो कि हमारा कल्याण कर दे। इस तरह प्रभु से प्रार्थना कर पाण्डव दीक्षा के लिए

जिनाज्ञया समुन्मूल्य चञ्चूर्यान्कचसंचयान्। त्रयोदशविधं वृत्तं जगृहुः पाण्डुनन्दनाः ॥१४॥
राजीमत्यार्यिकाभ्यर्णे कुन्ती हित्वा सुकुन्तलान्। सुभद्रया च द्रौपद्या संयमं परमग्रहीत् ॥१५॥
अन्ये भूपास्तथा वध्वो भूरिशोऽन्याः सुसंयमम्। जगृहुर्भावतो भव्या भवभीता भयापहाः ॥१६॥
युधिष्ठिरो गरिष्ठोऽथ विशिष्टोऽनिष्टवर्जितः। निष्ठुरं मोहमल्लं हि जिगाय जगतां गुरुः ॥१७॥
भवारिसंगमे भीमः पापभीतो भयच्युतः। बिभेद पूर्ववद् भव्यो भावुको भव्यसंपदाम् ॥१८॥
धनंजयो दधौ चित्ते मुक्तिवधूं सुबन्धुराम्। आराध्याराधनां धीमान्धृत्या सह समुद्धुरः ॥१९॥
माद्रेयौ निद्रया मुक्तौ द्रव्यपर्यायवेदकौ। द्रव्योपाधिपरित्यक्तौ चेरतुश्चरणं चिरम् ॥२०॥
महाव्रतानि पञ्चैव तथा समितयः पराः। पञ्चेन्द्रियनिरोधाश्च परमावश्यकानि षट् ॥२१॥
लोचोऽचेलत्वमस्नानं तथा भूशयनं महत्। अदन्तधावनं चैव स्थितिभुक्त्येकभक्तके ॥२२॥
अभून्मूलगुणान्मूलान्समीयुः शमनोन्मुखाः। महामत्या महान्तस्ते मुनयः पञ्च पाण्डवाः ॥२३॥
नानोत्तरगुणान्भव्या भावयन्तः सुधर्मिणः। दधुर्ध्यानं सुधर्माख्यं सुधीरास्ते तपोधनाः ॥२४॥
तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्ता गुप्तात्मानः सुगौरवाः। गुणाग्रण्यः सुगायन्ति द्वादशाङ्गं मुनीश्वराः ॥२५॥
स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य विकटाः संकटोज्झिताः। विफटं निकटे तस्य नेमेश्चेरुः परं तपः ॥२६॥

उद्यत हो गये। इसके बाद उन्होंने मनुष्यों द्वारा स्तुत्य प्राज्य राज्य पुत्रों को सौंपा और क्षेत्र, वास्तु आदि बाह्य तथा मिथ्यात्व आदि अंतरंग परिग्रह का त्याग कर, केशलोंच कर, तेरह प्रकार चरित्र धारण कर जिनदीक्षा धारण की ॥८-१४॥

इनके साथ ही कुन्ती, सुभद्रा और द्रौपदी ने राजीमती आर्यिका के पास जाकर, केशों का लोंचकर संयम धारण किया। इनके अतिरिक्त उस समय संसार से भयभीत होकर और भी बहुत से राजा तथा बन्धु-गण शुभ परिणामों के साथ दीक्षित हुए।

इसके बाद जगत् गुरु गरिष्ठ युधिष्ठिर ने बिना किसी कष्ट के निष्ठुर मोह-मल्ल को जीता। भव्य सम्पदा के भावुक, पाप से डरने वाले लेकिन निर्भय तथा संसार वैरी के लिए भय देने वाले भीम ने भी मोह पर विजय पाई ॥१५-१८॥

समुद्धर धनंजय ने चित्त में मुक्तिरूपी वधू को स्थान दिया और धृति के साथ आराधनाओं को आराधा एवं मद्री के पुत्रों ने भी द्रव्य, पर्याय आदि का अनुभव कर, परिग्रह से विमुक्त हो, नासादृष्टि ध्यान लगा उत्तम तप किया। इस तरह कर्मों के शमन के लिए उद्यत हुए पाँचों ही पाण्डवों ने दृढ़ता से पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों को वश करना, छह आवश्यक पालना, केशलोंच करना, नग्न रहना, स्नान नहीं करना, भूमि में सोना, दाँत नहीं धोना और एक बार दिन में खड़े आहार लेना इन मूलगुणों का पालन किया। इसके बाद उत्तर गुणों की भावना करते हुए उन धीर धर्मात्मा तपोधनों ने धर्मध्यान किया ॥१९-२४॥

गुप्तियों द्वारा आत्मा को रक्षित रखते हुए गौरव के साथ द्वादशांग का मनन किया। इस प्रकार अपने वीर्य को प्रकट कर उन गुणाग्रणी पाण्डवों ने निःशंक होकर नेमिनाथ प्रभु के पास कठिन तप

षष्ठाष्टमादिभेदेन क्षपणां क्षपणोद्यताः। कर्मणां चक्रिरे नित्यमनाश्वन्तो नरोत्तमाः ॥२७॥
द्वात्रिंशत्कवला नृणामाहारो गदितो जिनैः। तन्न्यूनतावमोदर्यं दधुस्ते देहदाहकाः ॥२८॥
वर्त्मैकवेश्मवीथ्यादिप्रतिज्ञा याशनेच्छया। सुवृत्तिपरिसंख्यानं कुर्वन्तो भोजनं व्यधुः ॥२९॥
निर्विकृत्या रसत्यागकाञ्जिकान्नेन पारणाम्। कुर्वाणाश्च रसत्यागं तपस्तेपुर्मुनीश्वराः ॥३०॥
शून्यागारे गुहायां च वने पितृवने तथा। निःकुटे कोटरे भूध्रे निर्जने जन्तुवर्जिते ॥३१॥
भयदे भयसंत्यक्ताः सिंहा इव समुद्धराः। कुर्वाणाः संस्थितिं भेजुर्विविक्तशयनासनाः ॥३२॥
चत्वरादिषु देशेषु ममत्वं वपुषः परम्। हित्वा ते संदधुर्भव्याः कायक्लेशाभिधं तपः ॥३३॥
बाह्यं तपश्चरन्तस्ते षड्विधं वधवर्जिताः। विविधं विविधोपायैस्तस्थुस्ते पर्वतादिषु ॥३४॥
आलोचनादिभेदेन प्रायश्चित्तं व्यधुर्मुदा। दशधा चिद्विशुद्ध्यर्थं व्रतशुद्ध्यर्थमाशु ते ॥३५॥
चतुर्धा विनयं तेनुर्दर्शनज्ञानगोचरम्। मुनयः पाण्डवाः प्रीताश्चारित्रं चौपचारिकम् ॥३६॥
आचार्यादिप्रभेदेन वैयावृत्त्यं विशुद्धिकृत्। दशधा ते चरन्ति स्म चारित्राचरणोद्यताः ॥३७॥
वाचनाप्रच्छनाम्नायानुप्रेक्षाधर्मदेशनाः। इति तैः पञ्चधा दध्रे स्वाध्यायो ध्यानसिद्धये ॥३८॥
कायादिममतात्यागो व्युत्सर्गस्तु सुनिश्चलः। दध्रे तैर्निर्जने देशे कायात्मभेददर्शिभिः ॥३९॥
धर्मध्यानं चतुर्धा ते दधुः संसिद्धशासनाः। आज्ञापायविपाकाख्यसंस्थानविचयाख्यया ॥४०॥
शुक्लं शुक्लाभिधं वीराः पृथक्त्वेन वितर्कणाम्। वीचारेण प्रकुर्वन्तो दधुर्ध्यानं बुधोत्तमाः ॥४१॥

किया और कर्मों के नाश के लिए उद्यत होकर उन नरोत्तमों ने कर्मों की खूब निर्जरा की। उन्होंने छह-छह सात-सात उपवास किए और पारण के दिन केवल बत्तीस ग्रास मात्र आहार लेकर अवमौदर्य किया। मार्ग, घर, गली आदि की प्रतिज्ञा द्वारा वृत्तिपरिसंख्यान कर भोजन की इच्छा को रोका। पारणा करते हुए रसपरित्याग किया। शून्यागार, गुहा, वन, पितृवन (मशानभूमि), वृक्षों के कोटर, पहाड़ और निर्जन स्थान जैसे भयावने स्थानों में सिंह की भाँति निर्भय होकर शय्या-आसन लगाया। शरीर से ममता भाव छोड़कर चौराहे आदि जगह में काय-क्लेश किया। इस प्रकार छह बाह्य तपों का आचरण करते हुए और निर्विघ्न विविध तप करते हुए पाण्डव पर्वत आदि स्थानों में ठहरे ॥२५-३४॥

वहाँ आत्मा की और व्रत की शुद्धि के लिए वे आलोचना आदि के भेद से दस-दस प्रकार प्रायश्चित करते, ज्ञान-दर्शन-चारित्र और उपचार के भेद से चार प्रकार का विनय पालते, चरित्राचरण के लिए उद्यत हो आचार्य आदि के भेद से दस प्रकार विशुद्धि करने वाला वैयावृत्य पालते, ध्यान की सिद्धि के लिए वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा और धर्मोपदेश एवं पाँच प्रकार का स्वाध्याय करते, कषाय और आत्मा का भेद समझ कर निर्जन, स्थान में शरीर से ममता छोड़ने रूप व्युत्सर्ग करते और आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय नाम चार प्रकार धर्मध्यान साधन करते। इस प्रकार तप करते हुए उन धीरवीरों ने शुक्ल नाम के पहले शुक्लध्यान को साधा। इस तरह छह प्रकार के भीतरी तपों को तप कर उन कर्मशूरों ने कर्मों को अत्यन्त कमजोर कर दिया, जिस तरह

एवमाभ्यन्तरं द्वेधा दधतः षड्विधं तपः। कर्माणि शिथिलीचक्रुर्गरुडाश्च यथोरगान् ॥४२॥
तपसस्तु प्रभावेन प्रभवन्ति न हृद्व्यथाः। तेषां समृद्धयो भेजुः सामीप्यं विविधा अपि ॥४३॥
मैत्र्यं सर्वेषु सत्त्वेषु दधाना धर्मधारिणः। गुणाधिकेषु जीवेषु प्रमोदं ते दधुर्ध्रुवम् ॥४४॥
क्लिष्टजीवेषु कारुण्यं कुर्वन्तः कृपयाङ्किताः। माध्यस्थ्यं विपरीतेषु चक्रिरे ते मुनीश्वराः ॥४५॥
भावयन्तो निजात्मानं शुद्धं बुद्धं निरञ्जनम्। एताभिर्भावनाभिस्ते स्थिरं तस्थुः स्थिराशयाः ॥४६॥
रत्नत्रयमयं ज्योतिरजायत महोज्ज्वलम्। तेषां मोहद्रुमो येन समूलं नाशमाप्नुयात् ॥४७॥
तिर्यङ्मर्त्यामरप्रासुकृतांस्ते विपुलाशयाः। उपसर्गान्सहन्ते स्म शुद्धचिन्मयतां गताः ॥४८॥
क्षुत्पिपासासुशीतोष्णदंशादींश्च परीषहान्। द्वाविंशति सहन्ते स्म मुनयोऽमलमानसाः ॥४९॥
अप्रमत्ता महाधीराश्चरन्ति चरणं परम्। ब्रह्मचर्यपराः पूता निर्भयाः कुम्भिनो यथा ॥५०॥
विशुद्धबुद्धिचेतस्काः सुसंयमसमावृताः। क्षीणमोहाः प्रमादघ्ना ध्यानध्वस्ताघसंचयाः ॥५१॥
विरहन्तः समासेदुः सौराष्ट्रे ते च नीवृति। शत्रुंजयगिरौ शीघ्रं कदाचिद् ध्यानसिद्धये ॥५२॥
तस्योत्तुङ्गसुशृङ्गेषु तस्थुस्ते ध्यानसिद्धये। कायोत्सर्गविधौ धीराः स्मरन्तः परमं पदम्॥ ॥५३॥
आतापनादियोगेन तपस्यन्तः परं तपः। घोरोपसर्गसहने समर्थाः सिद्धिसाधकाः ॥५४॥

कि गरुड़ साँपों को कमजोर कर डालता है। देखो, तप का ऐसा प्रभाव है कि उसकी वजह से हृदय में किसी तरह की भी व्याधि स्थान नहीं पाती। बस वही कारण हुआ जो तप तपते हुए पाण्डवों के पास विविध-समृद्धि उपस्थित हो गई। तप के प्रभाव से ही वे खूब ऋद्धिशाली हुए। गरज यह कि पाण्डवों ने चाहिए जैसा बारह प्रकार के तप को तपा, जिसके प्रभाव से उन्हें विविध ऋद्धियाँ प्राप्त हुई ॥३५-४३॥

वे बड़े धर्मात्मा थे। यही कारण है कि वे सभी प्राणियों से मैत्रीभाव, अधिक गुण वालों से प्रमोदभाव, दुखी, दरिद्री जीवों से करुणाभाव और विपरीत चलने वालों से मध्यस्थ भाव रखते थे। हमेशा अपने शुद्ध-बुद्ध-निरंजन आत्मा की भावना करते और बारह भावनाओं द्वारा उसे स्थिर रखते थे। आत्मा को आत्मा में लीन रखते थे। इससे उनकी आत्मा में रत्नत्रय का स्वच्छ प्रकाश हो कर मोहरूपी अँधेरा जड़ मूल से नष्ट हो गया। उन्होंने शुद्ध चिन्मय आत्मा में लीन होकर बड़ी धीरता के साथ तिर्यंच, मनुष्य और देवों के किये घोर उपसर्गों को सहा और निर्मल चित्त द्वारा भूख-प्यास आदि परीषहों को जीता। वे ब्रह्मचारी थे, धीर थे, अप्रमादी थे, चारित्र के पालने वाले थे और पवित्र तथा हाथी के जैसे निर्भय थे। वे विशुद्ध-चित्त संयम को धारण कर मोह और प्रमाद को क्षीण कर चुके थे और ध्यान द्वारा रहे-सहे पाप-समूह को और क्षीण करना चाहते थे ॥४४-५१॥

इसके बाद विहार करते-करते वे सौराष्ट्र देश में पहुँचे। एक समय की बात है कि वहाँ उन्होंने शत्रुंजय गिरि के शिखर पर ध्यान दिया। वे पंच परम पद का स्मरण करते हुए धीरता के साथ शत्रुंजय गिरि पर कायोत्सर्ग ध्यान से स्थित हुए और थोड़े ही काल में आतापन आदि योग द्वारा सिद्धि के साधक घोर से भी घोर उपसर्ग सहने के लिए समर्थ हो गये। उन तपोधनों ने वहाँ स्थित होकर

अनक्षरं परं शुद्धं चिन्मात्रं देहदूरगम्। ध्यायन्तस्ते परात्मानं तत्र तस्थुस्तपोधनाः ॥५५॥
निर्ममत्वपदप्राप्ता निर्मला मानसे सदा। यावत्तिष्ठन्ति योगीन्द्रास्तत्र ते पाण्डुनन्दनाः ॥५६॥
तावदायाद्गिरौ तत्र क्रूरः कुर्यधरः शठः। खलः कौरवनाथस्य भागिनेयो गुणातिगः ॥५७॥
निरीक्ष्य पाण्डवान् धर्मध्यानस्थान् दुष्टमानसः। निहन्तुमुद्यतस्तावच्चिन्तयन्निति मानसे ॥५८॥
मदीयान्मातुलान्हत्वा मदमत्ताः सुपाण्डवाः। इदानीं ते क्व यास्यन्ति मया दृष्टाः सुदैवतः ॥५९॥
अधुना प्रतिवैरस्य संदानेऽवसरो मम। योगारूढा इमे किंचिन्न करिष्यन्ति संगरम् ॥६०॥
ततः पराभवं कृत्वा हन्मीमान्मानशालिनः। वाचंयमान्यमाधारान्बलिनोऽपि बलच्युतान् ॥६१॥
आयसाभरणान्याशु पराकाराणि षोडश। प्रज्वलन्ति ज्वलद्वह्निवर्णान्यसावकारयत् ॥६२॥
लोहजं मुकुटं मूर्ध्नि ज्वलज्वालामयं दधौ। कर्णेषु कुण्डलान्याशु तेषां हारान् गलेषु च ॥६३॥
करेषु कटकान्क्रुद्ध आयसान्वह्निदीपितान्। कटीतटेषु संदीप्तकटिसूत्राण्यसूत्रयत् ॥६४॥
पादभूषाः सुपादेषु करशाखासु मुद्रिकाः। आरोपयद्विकल्पाढ्यो विकलो वृषतो भृशम् ॥६५॥
तदङ्गसंगतो भूषावह्निः संप्रज्वलन्वपुः। ददाह दाहयोगेन दारुणीव पराणि च ॥६६॥
आयसाभरणाश्लेषान्निर्जगाम धनंजयात्। धूमोऽन्धकारकृद्वह्नेर्दारुयोगाद्यथा स्फुटम् ॥६७॥
ज्वलन्ति ते तदा वीक्ष्य वपूंषि वरपाण्डवाः। विध्यापनकृते दध्युस्तस्य ध्यानजलं हृदि ॥६८॥

अक्षय, परम शुद्ध, चिन्मात्र और शरीर से भिन्न परमात्मा का ध्यान किया। इस प्रकार योगी पाण्डव निर्मल चित्त के साथ निर्ममत्व भाव धारण कर वहाँ स्थित थे। इसी समय अचानक वहाँ दुर्योधन का भानजा क्रूरचित्त कुर्मुघर जो कि बड़ा दुष्ट और वज्र शठ था, आ गया ॥५२-५७॥

वह दुष्ट उन्हें धर्मध्यान में स्थित देखकर मार डालने के लिए तैयार हुआ। वह मन ही मन सोचने लगा कि मेरे मामा को मारकर ये मदमत्त पाण्डव यहाँ आ छिपे हैं। अब तो मैंने इन्हें देख लिया। अब ये कहाँ जायेंगे। इस समय बदला लेने के लिए मुझे पूरा अवसर आ मिला है। कारण कि ये ध्यान में आरूढ़ हो रहे है, अतः युद्ध जरा भी नहीं करेंगे। इसलिए मैं इन वचंयम (मौनधारी) और यम अर्थात् जन्म भर के लिए प्रतिज्ञाबद्ध तथा बली होकर भी निर्बल मानियों को पूरे तिरस्कार के साथ ही क्यों न मारूँ-मुझे अवश्य ही ऐसा करना चाहिए ॥५८-६१॥

इसके बाद उसने लोहे के सोलह आभूषण बनवाये और उन्हें जलती हुई आग में खूब तपाकर अग्नि के जैसा ही लाल करवाया। इसके बाद उसने जलती हुई ज्वाला जैसे लोह के मुकुट को उनके मस्तक पर रक्खा, कानों में कुण्डल पहनाये, गले में हार डाले, हाथों में कड़े और कमर में करधौनियाँ पहनाई। पाँवों में लंगर और अँगुलियों में मुदरियाँ पहनाई। उस धर्महीन, अधर्मी ने इस तरह उन्हें दुख देने के लिए तपे हुए लाल, लोहे के गहने पहनाये और पूरा-पूरा दुख दिया ॥६२-६५॥

उन मुनियों के शरीर में ज्यों ही वे भूषण पहनाये गये कि उसी क्षण उनका शरीर जलने लगा, जैसे कि आग के योग से काठ जलता है। उनके जलते हुए शरीर से सब दिशाओं को व्याप्त करने वाला वैसा ही घोर धुँआ निकला, जैसा लकड़ी के जलने से अग्नि में से धुँआ निकलता है। इस समय अपने शरीरों को जलता देखकर उन श्रेष्ठ पाण्डवों ने दाह की शान्ति के लिए हृदय में

जिनसिद्धसुसाध्विद्धसद्धर्मवरमङ्गलम्। चतुर्लोकोत्तमांश्चित्ते दधुस्तच्छरणानि च ॥६९॥
ज्वलते ज्वलनो देहाज्ज्वालयन् विपुलात्मकः। नात्मनः सत्कुटीर्यद्वन्न नभस्तत्समाश्रितम् ॥७०॥
मूर्तास्तु पावका मूर्त्ताज्ज्वालयन्त्यङ्गसंचयान्। न चात्मनो यथास्माकं सदृशाः सदृशान्पराः ॥७१॥
शुद्धः सिद्धः प्रबुद्धश्च निराकारो निरञ्जनः। उपयोगमयो ह्यात्मा ज्ञाता द्रष्टा निरत्ययः ॥७२॥
त्रिधा कर्मविनिर्मुक्तो देहमात्रस्तु देहतः। भिन्नोऽनन्तसुबोधादिचतुष्टयसमुज्ज्वलः ॥७३॥
इति ते स्वात्मनो रूपं स्मरन्तः शुद्धमानसाः। ईक्षांचक्रुरनुप्रेक्षा विपक्षक्षयहेतवे ॥७४॥
क्षणमात्रस्थिरं लोके जीवितव्यं नृणां सदा। अभ्रवद्विभ्रमस्तत्र स्थायित्वेन कथं भवेत् ॥७५॥
शरीरं चञ्चलं वृक्षच्छायावद्यौवनं मतम्। जलबुद्बुदवद्विद्धि वित्तं चलदोपमम् ॥७६॥
विषया यदि नश्यन्ति चक्रिणामपि का कथा। अन्येषां तु स्वयं त्याज्या विद्वद्भिः शिवसिद्धये ॥७७॥
नश्वरेण शरीरेण साध्यमत्राविनश्वरम्। पदं प्रतिमया साध्यश्चन्द्रो वा चन्द्रिकालयः ॥७८॥
न किंचिच्छाश्वतं लोके विद्यते निजजन्मिनम्। विहायेन्द्रधनुस्तुल्यं दृष्टमात्रप्रियं परम् ॥७९॥

ध्यानरूपी जल को स्थान दिया ॥६६-६९॥

जिन, सिद्ध, सर्व साधु और सच्चे धर्म का उन्होंने आश्रय लिया वे उत्तम मंगल और शरण-रूप हैं। अब आत्मा को नहीं किन्तु शरीर को जलाती हुई आग ने एक विपुल रूप धारण किया और जिस तरह वह एक कुटी को जलाती हुई गगन-तल में फैलती है उसी तरह गगन-तल में फैल गई। वे सोचने लगे कि अग्नि मूर्त है, अतएव यह मूर्त शरीर को ही जला सकती है-हमारे अमूर्त आत्माओं को तो यह छू भी नहीं सकती क्योंकि सदृश पर ही सदृश का वश चलता है। यह आत्मा शुद्ध-बुद्ध और सिद्ध हैं, निराकार और निरंजन है, उपयोग-मय और ज्ञाता-दृष्टा तथा निरत्यय है। यह तीन प्रकार के कर्मों से जुदा है। देह के बराबर है परन्तु देह से भिन्न हैं। अनंतज्ञान आदि अनंत चतुष्टय द्वारा समुज्ज्वल है। इस तरह आत्मस्वरूप का विचार करते-करते वे विपक्ष के क्षय के लिए अनुप्रेक्षाओं का चिंतन करने लगे ॥७०-७४॥

शुद्ध मन से यों विचार करने लगे कि संसार में जीवों का जीवन क्षण-स्थायी है-मेघ की भाँति नष्ट होने वाला है। फिर इसमें स्थिरता का भान तो हो ही कैसे सकता है। शरीर चंचल है, यौवन वृक्ष की छाया-तुल्य है या जल के बबूलों जैसा है तथा चित्त मेघ-तुल्य है। विषय, पदार्थ वगैरह जबकि चक्रवर्तियों के यहाँ भी स्थिर नहीं रहते तब औरों के पास स्थिर रहने की तो कथा ही क्या है। अतः विद्वानों की चाहिए कि वे मोक्ष की सिद्धि के लिए विषयों को स्वयं ही छोड़ दें और इस विनश्वर शरीर द्वारा अविनश्वर पद को साधने में कुछ भी उठा न रखें-इसमें उनकी बुद्धिमानी है। सच पूछो तो इस लोक में अपने आत्मा के सिवा और कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। सब इन्द्र धनुष की भाँति केवल देखने मात्र के लिए प्रिय है, वास्तव में संसार में कोई प्रिय वस्तु नहीं। यदि कोई प्रिय वस्तु है तो वह एक आत्मा ही है। जबकि संसार में भरत चक्री आदि के जैसे महापुरुषों का जीवन भी स्थिर नहीं देखा गया तब फिर हे आत्मन्! तू व्यर्थ ही क्यों दुख करता है, अपने जन्म को सफल क्यों

किं कस्य जीवितं दृष्टं भरतादेश्च चक्रिणः। किं ताम्यसि तदर्थं किं सफलं वा क्षणं नय ॥८०॥
अनित्यानुप्रेक्षा॥
निःशरण्ये वने सिंहैराक्रान्तो मृगशावकः। न रक्ष्यते यथा जन्तुराक्रान्तो यमकिङ्करैः ॥८१॥
सायुधैः सुभटैर्वीरैर्भ्रातृभिर्वीतिदन्तिभिः। संवृतं यमराड्जन्तुं गृह्णात्याखुमिवाखुभुक् ॥८२॥
आत्मनः शरणं नैव मन्त्रयन्त्रादयोऽखिलाः। सत्येव किं तु पुण्ये हि तैः स्थिताश्च न के भुवि ॥८३॥
पक्षिणो नष्टयानस्य पयोधाविव चायुषः। शरणं सत्यपाये न स्वास्थ्यं तस्मिन्सति ध्रुवम् ॥८४॥
समर्थोऽपि सुरेन्द्रो न निजदेवीपरिक्षये। क्षमो हि रक्षितुं सोऽन्यान्कथं रक्षति कालतः ॥८५॥
विनैकं शुद्धचिद्रूपं कालागम्यमनश्वरम्। शरणं देहिनां नैव किंचिन्मोहतिचेतसां ॥८६॥
अशरणानुप्रेक्षा॥
संसारः पञ्चधा प्रोक्तो द्रव्यं क्षेत्रं तथा परः। कालो भवस्तथा प्रोक्तः पञ्चमो भावसंज्ञकः ॥८७॥
परावृत्तानि जीवेन कृतानि पञ्च संसृतौ। अनन्तानि च तेषां त्वेकस्य कालोऽप्यनेकशः ॥८८॥
किं रज्यसि वृथा जन्तो संसृतौ शुभलाभतः। स्थिरीभव स्वचिद्रूपेऽन्यथा चेत्संसृतिभ्रमः ॥८९॥
संसारानुप्रेक्षा।

नहीं करता। तुझे तो यह चाहिए कि तू अपने एक क्षण को भी व्यर्थ न जाने दे ॥७५-८०॥ इति अनित्यानुप्रेक्षा।

जिस तरह कि अशरण वन में सिंहों द्वारा घेर लिये गये मृग के बच्चे को कोई भी बचाने वाला नहीं होता उसी तरह जब इस जीव को यम के नौकर घेर लेते हैं तब इसे कोई भी बचा नहीं सकता। यह यमराज ऐसा बली है कि जीव को चाहे शस्त्रधारी सुभट, भाई-बन्धु और हाथी घोड़े वगैरह क्यों न घेरे रहें पर वह कभी छोड़ने का नहीं, जैसे बिल्ली चूहे को नहीं छोड़ती-लपक कर झट से पकड़ लेती है। अतः कहना चाहिए कि मंत्र, यंत्र आदिक आत्मा के लिए कोई भी शरण नहीं है। एक मात्र शरण है अपना किया हुआ पुण्य। जिस तरह समुद्र के बीच जाकर जिस पक्षी ने नौका का सहारा छोड़ दिया उसके लिए कोई भी शरण नहीं होता उसी तरह आयु कर्म के पूर्ण हो जाने पर इस प्राणी के लिए कोई शरण नहीं होता। जबकि सुरेन्द्र भी अपनी देवियों की काल की चाल से रक्षा करने को समर्थ नहीं होता तब दूसरा कौन है जो उससे हे आत्मन्! तेरी रक्षा कर सके। तात्पर्य यह कि चिद्रूप, काल द्वारा अगम्य, अविनश्वर और शुद्ध आत्मा के बिना मोहित-चित्त प्राणियों के लिए और कोई भी शरण नहीं शरण हैं-एक आत्मा ही शरण है ॥८१-८६॥ इति अशरणानुप्रेक्षा।

आचार्यों ने संसार के पाँच भेद बताये हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव। इस पाँच प्रकार के संसार में इस जीव ने ऐसे अनंत चक्कर लगाये हैं जिनका एक-एक का काल भी अनंत है और एक-एक का अनेक बार नम्बर आया है। फिर हे प्राणी, तू शुभ की आशा कर संसार में व्यर्थ ही काहे को अनुरक्त होता हैं, अपने चिद्रूप आत्मा में ही लीन क्यों नहीं होता। देख, ऐसा करने से तुझे संसार में चक्कर लगाने के सिवा और कुछ भी लाभ न होगा ॥८७-८९॥ इति संसारानुप्रेक्षा।

जनने मरणे लाभे सुखे दुःखे हितेऽहिते। एकोऽसि संसृतौ जन्तो भ्रमन्भिन्नास्तु बान्धवाः ॥९०॥
कर्ता त्वं कर्मणामेको भोक्ता त्वं कर्मणः फलम्। अङ्गं मोक्ता च किं मुक्तौ यतसे नात्मसंस्थितौ ॥९१॥
एकस्मिन्नेव चिद्रूपे रूपातीते निरञ्जने। स्वाधीने कर्मभिन्ने च सातरूपे स्थिरीभव ॥९२॥
एकत्वानुप्रेक्षा।
कर्म भिन्नं क्रिया भिन्ना भिन्नो देहस्तथा परे। विषया इन्द्रियाद्यर्था मात्राद्याः स्वकीयाः किमु ॥९३॥
अहं देहात्मकोऽस्मीति मतिं चेतसि मा कृथाः। निचोलसदृशो देहोऽसिसमस्त्वं च मध्यगः ॥९४॥
सर्वतो भिन्न एवासि सदृक्संवित्तिवृत्तिमान्। कर्मातीतः शिवाकारस्त्वमाकारपरिच्युतः ॥९५॥
अन्यत्वानुप्रेक्षा।
मांसास्थ्यसृङ्मये देहे शकृत्प्रस्त्रावपूरिते। मेदश्चर्मकचावासे चेतः किं तत्र रज्यसे ॥९६॥
यद्योगाच्चन्दनादीनां मेध्यानामप्यमेध्यता। शुक्रशोणितसंभूते तत्र का रतिरुत्तमा ॥९७॥
सर्वाशुचिविनिर्मुक्तं सर्वदेहपरिच्युतम्। ज्ञानरूपं निराकारं चिद्रूपं भज सर्वदा ॥९८॥
अशुचित्वानुप्रेक्षा।

हे आत्मन्! संसार में चक्कर लगाता हुआ तू जन्म-मरण, लाभ, अलाभ, सुख-दुख और हित-अहित में अकेला ही है-कोई भी तेरा साथी नहीं है। जो बन्धु-बान्धव के रूप में तुझे नजर आते हैं वे सब स्वार्थ के सगे हैं। वे तुझसे भिन्न हैं। तू ही एक कर्मों का कर्ता है और तू ही अकेला उनका भोक्ता है। यह शरीर भी तेरा साथी नहीं, फिर तू इसे छोड़कर मुक्ति के लिए यत्न क्यों नहीं कुरता। एक चिद्रूप, रूपातीत, निरंजन, स्वाधीन और कर्म से भिन्न सुखरूप आत्मा में लीन हो ॥९०-९२॥ इति एकत्वानुप्रेक्षा।

देख, कर्म भिन्न है, क्रिया भिन्न है और देह भी तुझसे भिन्न है, फिर तू ऐसा क्यों मानता है कि ये इन्द्रियों के विषय आदि पदार्थ मेरे हैं-मुझसे अभिन्न है, मैं देहरूप हूँ। तू अपने चित्त में ऐसा ख्याल भूलकर भी मत ला। सच तो यह है कि यह तेरा शरीर साँप की काँचुली के जैसा है। जिस तरह काँचुली साँप के चारों ओर लिपटी रहती है उसी तरह यह तेरे चारों ओर लिपटा हुआ है। तू देह से बिल्कुल ही भिन्न है, ज्ञानी है, चारित्रधारी है, दर्शन-सम्पन्न है या यों कहिए कि रत्नत्रय का पिटारा है, कर्मातीत हैं, शिवाकार है और आकार रहित है ॥९३-९५॥ इति अन्यत्वानुप्रेक्षा।

हे आत्मन्! यह शरीर मास, हड्डी, लोहू वगैरह का बना हुआ है, विष्टा का खजाना है, मेद, चर्म और केशों का घर है। इसमें तू चित्त को अनुरक्त क्यों करता है-इसे क्यों अपनाता है। देख तो सही कि इसके सम्बन्ध मात्र से ही एक से एक बढ़कर पवित्र वस्तुएँ भी क्षण भर में अपवित्र हो जाती है। फिर कौन-सा ऐसा कारण है कि जिसको देखकर तू शुक्र-शोणित के पिटारे इस शरीर से मोह करता है। तेरा कर्तव्य तो यह है कि तू सब अशुचियों से रहित, सब शरीरों से भिन्न, ज्ञानरूप, निराकार और चिद्रूप आत्मा को ही सदा भजे ॥९६-९८॥ इति अशुचित्वानुप्रेक्षा।

अब्धौ सच्छिद्रनावीव भवेद्वार्यागमस्तथा। कर्मास्त्रवो भवाब्धौ स्यान्मिथ्यात्वादेश्च देहिनाम् ॥९९॥
पञ्चमिथ्यात्वतो जन्तोर्द्वादशाविरतेर्भवेत्। पञ्चवर्गकषायाच्चास्त्रवस्त्रिपञ्चयोगतः ॥१००॥
आस्त्रवाद् भ्राम्यति प्राणी संसृतावब्धिकाष्ठवत्। अतः सर्वास्त्रवत्यक्तं चिद्रूपं शाश्वतं भज ॥१०१॥
आस्त्रवानुप्रेक्षा।
आस्त्रवाणां निरोधस्तु संवरो धर्मगुप्तिभिः। अनुप्रेक्षातपोध्यानैः समित्या क्रियते बुधैः ॥१०२॥
संवरे सति नो जन्तुः संसाराब्धौ निमज्जति। स्वेष्टं पदं प्रयात्येव निश्छिद्रा नौरिवार्णवे ॥१०३॥
अस्मिन्नक्लेशगम्ये त्वमात्माधीने सदा मतिः। श्रेयोमार्गे व्यधा बाह्ये मतिभ्रमणतः किमु ॥१०४॥
संवरानुप्रेक्षा।
रत्नत्रयेण संबद्धकर्मणां निर्जरा भवेत्। अग्निर्दाह्यं किमाध्मातो निःशेषं साऽवशेषयेत् ॥१०५॥
सविपाकाविपाकेन निर्जरा द्विविधा भवेत्। आद्या साधारणा जन्तोरन्या साध्या व्रतादिभिः ॥१०६॥
अनास्त्रवात्क्षयादात्मन्केवल्यसि च कर्मणाम्। आस्त्रवे निर्गतेऽशेषे धाराबन्धे पयः कुतः ॥१०७॥
निर्जरानुप्रेक्षा।

जिस तरह समुद्र में पड़ी हुई सछिद्र नौका में छिद्र द्वारा जल आता है उसी तरह संसार-समुद्र में पड़े हुए प्राणियों के भी मिथ्यात्व आदि के निमित्त से कर्मों का आस्रव होता है। पाँच मिथ्यात्व, बारह अविरति, पच्चीस कषाएँ और पन्द्रह योग ये आस्रव के भेद हैं। आस्रव के निमित्त से जीव संसार-समुद्र में काठ की तरह तैरा करता है। इसलिए तुझे चाहिए कि तू आस्रवों को छोड़कर एक चिद्रूप-शाश्वत आत्मा को भजे ॥९९-१०१॥ इति आस्रवानुप्रेक्षा।

आस्रव के रोक देने को संवर कहते हैं और वह संवर समिति, गुप्ति, अनुप्रेक्षा, तप और ध्यान के द्वारा होता है। देखो, कर्मों का संवर हो जाने पर फिर आत्मा संसार-समुद्र में नहीं डूबता किन्तु अपने इष्ट पद पर पहुँच जाता है। अतः हे आत्मन्! तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम सदा काल अक्लेश-गम्य और आत्माधीन मोक्षमार्ग में बुद्धि दो-व्यर्थ ही बाह्य आडम्बर में भूल कर मत भटको ॥१०२-१०४॥ इति संवरानुप्रेक्षा।

रत्नत्रय के निमित्त से पहले के बँधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है। जिस तरह चेतन की गई आग द्वारा दाह्य वस्तु निःशेष जल जाती है वैसे ही निर्जरा द्वारा पहले के बँधे हुए सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। निर्जरा के दो भेद हैं। एक सविपाक और दूसरी अविपाक। इनमें पहली तो सर्व साधारण के होती है और दूसरी व्रतधारी मुनियों के होती है और यही वास्तव में काम की है। हे आत्मन्, संवर हो जाने पर जो कर्मों की निर्जरा होती है उससे तुम्हारे केवली होने में जरा भी देर नहीं रह जाती। क्योंकि जिस नाव में पानी आने का रास्ता बन्द कर दिया गया और पहले का पानी उलीच दिया गया उसमें फिर न तो पानी आ सकता है और न पानी रह सकता है ॥१०५-१०७॥ इति निर्जरानुप्रेक्षा।

प्रसारिताङ्घ्रिनिक्षिप्तकटिहस्तनरोपमः। आद्यन्तरहितो लोकोऽकृत्रिमः कैर्न निर्मितः ॥१०८॥
पूर्ववद्भ्राम्यसि प्राणिन् सत्यज्ञाने पुनः पुनः। न हि कार्यक्षयो नूनं जृम्भमाणे च कारणे ॥१०९॥
लोकवैचित्र्यमावीक्ष्याधोमध्योर्ध्वविभेदगम्। स्वसंवेदनसिद्ध्यर्थं शान्तो भव सुखी यतः ॥११०॥
लोकानुप्रेक्षा॥
भव्यत्वं च मनुष्यत्वं सुभूजन्मकुलस्थितिः। क्रमात्ते दुर्लभं चात्मन् समवायस्तु दुर्लभः ॥१११॥
समवायोऽपि ते व्यर्थो न चेद्धर्मे मतिः परा। किं केदाराधिगुण्येन कणिशोद्गमता न चेत् ॥११२॥
पुनस्तु दुर्लभो धर्मः श्राद्धानां योगिनां पुनः। लब्धे योगीन्द्रधर्मेऽपि दुर्लभं स्वात्मबोधनम् ॥११३॥
स्वात्मबोधिः कदाचिच्चेल्लब्धा योगीन्द्रगोचरा। चिन्तनीया भृशं नष्टा वित्तमर्षणवत्सदा ॥११४॥
नात्मलाभात्परं ज्ञानं नात्मलाभात्परं सुखम्। नात्मलाभात्परं ध्यानं नात्मलाभात्परं पदम् ॥११५॥
लब्ध्वात्मबोधनं धीमान्मतिं नान्यत्र संभजेत्। प्राप्य चिन्तामणिं काचे को रतिं कुरुते पुमान् ॥११६॥
बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा॥

कटि पर हाथ रखकर, पाँव फैला कर खड़े हुए पुरुष के जैसे आकार का यह लोक आद्यन्त रहित अकृत्रिम है–इसे किसी ने बनाया नहीं है। इसमें प्राणी अज्ञान के वंश होकर बार-बार चक्कर लगाया करते हैं क्योंकि निश्चित बात है कि कारण समर्थ रहते हुए कभी कार्य का क्षय नहीं हो सकता। ऊर्ध्व, मध्य और अधः के भेद से हुई लोक की विचित्रता को देखकर स्वसंवेदन की सिद्धि के लिए हे आत्मन्! तुम शान्त हो ताकि तुम्हें सुख मिले ॥१०८-११०॥ इति लोकानुप्रेक्षा।

हे आत्मन्! पहले तो भव्यपना ही दुर्लभ है और भव्य होकर भी मनुष्य जन्म, उत्तम क्षेत्र और उत्तम कुल पाना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। कदाचित् उत्तम कुल भी मिल गया तो सत्संगति का पाना बहुत दुर्लभ बात है। मान लीजिए कि कभी सत्संग भी मिल गया और धर्मबुद्धि न हुई तो उसका पाना भी व्यर्थ हो गया। जैसे कि धान्य अधिकता से उगा और उसमें यदि बाल न निकली तो वह उसका अधिकता से उगना कौन काम आया एवं कभी धर्म भी हाथ आ गया तो फिर मुनिधर्म पाना दुर्लभ ही है और उसके मिल जाने पर भी आत्मबोध होना कोई हँसी-खेल नहीं किन्तु अत्यन्त दुर्लभ है। यदि सौभाग्य से कदाचित् स्वात्मबोध हो गया जो कि योगीन्द्रों को ही होता है, तो उसका फिर सदा ही चिन्तन रहता हैं, वह फिर नहीं छूटता। जैसे कि किसी का धन चोरी चला जाता है या और किसी तरह खो जाता है तो उसे उसके प्राप्त करने की सदा ही चिन्ता रहती है। गरज यह कि योगीन्द्रों के होने वाला स्वात्म-बोध हुआ कि वह फिर आत्मा से जुदा नहीं होता। इसलिए कहा जाता है कि आत्मलाभ के सिवा न कोई ज्ञान है, न सुख है, न ध्यान है और न कोई परम पद ही है, जो कुछ भी है वह एक आत्मबोध ही है, अतः बुद्धिमानों को चाहिए कि आत्मबोध को पाकर फिर बुद्धि को न डुलावें क्योंकि जिसके हाथ चिन्तामणि रत्न आ गया वह काँच के लिए बुद्धि करे यह ठीक नहीं ॥१११-११६॥ इति बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा।

जिनधर्मः सदा सेव्यो यत्प्रभावाच्च देवता। भविता श्वापि विश्वेषां नाथः स्याद्धर्मतो नरः ॥११७॥
धर्मस्तु दशधा प्रोक्तो दुर्लभो योगिगोचरः। त्रयोदशसुवृत्ताख्यः स्याद्धर्मो मुक्तिदायकः ॥११८॥
संसाराशर्मतो यस्तु समुद्धृत्य शिवे पदे। नरं धत्ते सुधाधाम्नि स धर्मः परमो मतः ॥११९॥
मोहोद्भूतविकल्पेन त्यक्ता वागङ्गचेष्टितैः। शुद्धचिद्रूपसद्बुद्धिर्गीयते धर्मसंज्ञया ॥१२०॥
धर्मः पुंसो विशुद्धिः स्यात्स मुक्तिपददायकः। शुद्धिं विना न जीवानां हेयोपादेयवेत्तृता ॥१२१॥
स्वात्मध्यानं परं धर्मः स्वात्मध्यानं परं तपः। स्वात्मध्यानं परं ज्ञानं स्वात्मध्यानं परं सुखम् ॥१२२॥
स्वात्मज्ञानं न लभ्येत स्वात्मरूपं न दृश्यते। अतः सर्वं परित्यज्यात्मनस्वरूपे स्थिरीभव ॥१२३॥
धर्मानुप्रेक्षा॥
इत्यनुप्रेक्षया तेषामक्षोभ्याभूद्विरक्तता। समर्थे कारणे नूनं सतां शीलं व्यवस्थितम् ॥१२४॥
अमन्यन्त तृणायैते शरीरादिपरिग्रहान्। पीयूषे हि करस्थेऽहो के भजन्ते विषं बुधाः ॥१२५॥
निरुध्येति मनोयोगं शुद्धयोगं समाश्रिताः। श्रेणिमारुरुहुस्तूर्णं क्षपकां पाण्डवास्त्रयः ॥१२६॥
शुद्धध्यानं समाध्यास्य प्रबुद्धाः शुद्धचेतसि। ते ध्यायन्ति निजात्मानं निर्विकल्पेन चेतसा ॥१२७॥
अधःकरणमाराध्य स्वापूर्वकरणस्थिताः। आयुर्मुक्तास्तदा ते चानिवृत्तिकरणं श्रिताः ॥१२८॥
समातपादिदुःकर्मत्रयोदशविनाशकाः। अष्टाविंशतिदृग्वृत्तमोहशातनसद्भटाः ॥१२९॥
पञ्चध्यावरणध्वंसे नवदृग्वृतिवारणे। पञ्चविघ्नौघघातार्थं तेऽभूवंश्च समुद्यताः ॥१३०॥
त्रिषष्टिप्रकृतेरेवमप्रमत्तादितः क्षयम्। व्यधुः क्षीणकषायान्ते प्रथमाः पाण्डवास्त्रयः ॥१३१॥

उस जिनधर्म का सदा सेवन करना उचित है जिसके प्रभाव से मनुष्य उत्तम-उत्तम पद को पाकर सर्वोत्तम सुखों को भोगता है। वह दुर्लभ धर्म दस तरह का है। योगीजन इस धर्म को तेरह प्रकार के चरित्र के रूप में पालते हैं और मुक्तिपद पाते हैं। देखो, उत्तम धर्म वही है जो कि जीव को दुख की अवस्था से निकाल कर शिवरूप सुधा-धाम में पहुँचा दे। मोह से उत्पन्न हुए विकल्पों को छोड़कर शुद्ध चिद्रूप में लीन होना भी धर्म है और आत्मा की विशुद्धि को भी धर्म कहते हैं। यही धर्म आत्मा को मुक्ति देने वाला है। याद रखने की बात है कि जब तक आत्मा की शुद्धि नहीं होती तब तक जीवों को हेय-उपादेय का ज्ञान भी नहीं होता एवं आत्मा का ध्यान ही उत्तम धर्म है और वही उत्तम तप है। इसके बिना आत्मा को हेय-उपादेय का ज्ञान हो ही नहीं सकता ॥११७-१२३॥ इति धर्मानुप्रेक्षा।

इस प्रकार अनुप्रेक्षाओं का चिंतन करने से उनकी विरक्तता बिल्कुल ही अचल हो गई। सच है कि समर्थ कारण मिलने पर सत्पुरुषों का शील-स्वभाव-स्थिर हो जाता है। उन्होंने शरीर आदि परिग्रह को तृण के बराबर भी न समझा। बुद्धिमान् जन अमृत हाथ लग जाने पर विष की कभी पसंद नहीं करते। इस तरह मनोयोग को रोक कर, शुद्ध योग का आश्रय ले तीन पाण्डवों ने तो बहुत जल्दी क्षपकश्रेणी पर आरोहण किया और प्रबुद्ध होकर शुद्ध ध्यान के बल निर्विकल्प चित्त से आत्मा का ध्यान किया। वे अधःकरण का आराधन कर अपूर्व करण पर चढ़े और बाद अनिवृत्तिकरण पर पहुँचे एवं परिणामों को शुद्ध करते हुए उन्होंने अप्रमत्तगुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय तक तिरेसठ

केवलज्ञानमुत्पाद्य घातिकर्मनिबर्हणात्। अन्तकृत्केवलज्ञानभाजिनः शिवमुद्ययुः ॥१३२॥
युधिष्ठिरमहाभीमपार्थाः पृथ्वीं वराष्टमीं। मुक्त्वा भेजुः शिवस्थानं तनुवाते शिवाश्रिते ॥१३३॥
सम्यक्त्वाद्यष्टसुस्पष्टगुणा मोहविवर्जिताः। अनन्तानन्तशर्माणोऽभूवंस्ते सिद्धिसंगताः ॥१३४॥
पञ्चसंसारनिर्मुक्ता बुभुक्षाक्षयसंगताः। पिपासापीडनोन्मुक्ता भयनिद्राविदूरगाः ॥१३५॥
अनन्तानन्तकालं ये मोक्ष्यन्ते चाक्षयं सुखम्। ते सिद्धा नः शिवं दद्युः पूर्णसर्वमनोरथाः ॥१३६॥
तत्कैवल्यसुनिर्वाणे युगपन्निखिलामराः। ज्ञात्वागत्य व्यधुस्तेषां कल्याणद्वयसूत्सवम् ॥१३७॥
मद्रीजावथ मुक्ताघौ किंचित्कालुष्यसंगतौ। प्रापतुश्चोपसर्गेण मृत्युं तौ स्वर्गसन्मुखौ ॥१३८॥
सर्वार्थसिद्धिमासाद्य त्रयस्त्रिंशन्महार्णवान्। स्थास्यतस्तत्र तौ देवावहमिन्द्रपदं श्रितौ ॥१३९॥
ततश्च्युत्वा समागत्य नृलोके नरतां गतौ। सेत्स्यतस्तपसा तौ द्वौ परात्मध्यानधारिणौ ॥१४०॥
राजीमती तथा कुन्ती सुभद्रा द्रौपदी पुनः। सम्यक्त्वेन समं वृत्तं वव्रिरे ता वृषोद्यताः ॥१४१॥
चिरं प्रपाल्य चारित्रं शुद्धसम्यक्त्वसंयुताः। जघ्नुस्स्त्रैणमयं घोरं ता विघ्नौघविघातिकाः ॥१४२॥
स्वायुरन्ते च संन्यस्य स्वाराधनचतुष्टयम्। मुक्तासवः समाराध्य जग्मुस्ताः षोडशं दिवम् ॥१४३॥
सुरत्वसंश्रिताः सर्वाः पुंवेदोदयभाजिनः। सामानिकसुरा भूत्वा तत्रत्यं भुञ्जते सुखम् ॥१४४॥
द्वाविंशत्यब्धिपर्यन्तं सातं संसेव्य स्वर्भवम्। प्राणातीताः सुपर्वाणः संयास्यन्ति परासुताम् ॥१४५॥
ते नृलोके नृतामेत्य तपस्तप्त्वा सुदुस्तरम्। ध्यानयोगेन सेत्स्यन्ति कृत्वा कर्मक्षयं नराः ॥१४६॥

कर्मप्रकृतियों का नाश किया और केवलज्ञान उपार्जन कर तथा पश्चात् अघातिकर्मों को भी नाशकर तीन पाण्डव अन्तकृत् केवली होकर मोक्ष गये–युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन शिवधाम पहुँचे। वे सिद्धगति लाभ कर सम्यक्त्व आदि आठ गुण तथा अनंत सुख के भोक्ता हुए ॥१२४–१३४॥

अब उन्हें न तो पाँच प्रकार के संसार की बाधा रही और न क्षुधा आदि अठारह दोषों का कोई जंजाल रहा–वे निर्दोष और अनन्त सुख के भोक्ता हुए। जिनके सब मनोरथ पूर्ण हो गये हैं और जो अनंतानंतकाल अभय–मोक्ष के सुख को भोगेंगे वे सिद्ध पाण्डव हमें भी सिद्ध पद दें। इस प्रकार उन तीनों पाण्डवों को केवलज्ञान और निर्वाणकल्याणक दोनों एक साथ हुए जानकर तत्क्षण देवगण आये और उन्होंने उनके ज्ञान और निर्वाण कल्याण का महोत्सव मनाया ॥१३५–१३७॥

उधर पाप–रहित नकुल और सहदेव चित्त में कुछ अस्थिरता हो जाने के कारण स्वर्ग के सन्मुख हुए। उपसर्ग सहते हुए मरे और जाकर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए। वहाँ वे तैंतीस सागर तक सुख–भोग भोगेंगे। बाद वहाँ से चयकर मनुष्य–लोक में मनुष्य होंगे और फिर आत्म–साधन कर तप द्वारा सिद्ध होंगे–शिवधाम जावेंगे। इसी प्रकार राजीपती, कुन्ती, सुभद्रा और द्रौपदी ने भी धर्म–साधन के लिए तत्पर होकर सम्यक्त्व के साथ–साथ व्रत धारण किये और चिरकाल तक शुद्ध भावों के साथ उनका पालन किया। वे आयु के अन्त चार आराधनाओं को आराधते हुए संन्यास धारण कर सोलह स्वर्ग गई और स्त्रीलिंग छेदकर वहाँ उन्होंने देवपद पाया–वे सब सामानिक देव हुई। इसके बाद बाईस सागर तक वहाँ के सुख भोगकर जब वे वहाँ से, च्युत होंगी तब मनुष्य–लोक में आ, नर–जन्म धारण कर तप करेंगी और ध्यान के योग से कर्म–क्षय कर शिवधाम जावेंगी ॥१३८–१४६॥

अथ नेमीश्वरो धीमान्विविधान्विषयान्वरान्। विहृत्य सुरसंसेव्यमागाद्रैवतकाचलम् ॥१४७॥
मासमात्रावशेषायुः संहृत्य स ध्वनद्ध्वनिम्। योगं च निष्क्रियस्तस्थौ पर्यङ्कासनसंगतः ॥१४८॥
गुणस्थानं समासाद्यान्तिमं श्रीनेमितीर्थकृत्। पञ्चाशीतिप्रकृतीनां क्षयं निन्ये जिनाधिपः ॥१४९॥
शुल्के शुचौ च सप्तम्यां षट्त्रिंशदधिकैः सह। प्राप पञ्चशतैर्मुक्तिं योगिभिर्नेमिनायकः ॥१५०॥
सुरासुराः समायाताः सिद्धिसंगमहोत्सवे। कृत्वा निर्वाणकल्याणं ययुस्तद्गुणवाञ्छकाः ॥१५१॥

भिल्लो विन्ध्यनगे वणिग्वरगुणश्चेभ्यादिकेतुः सुरः
चिन्तायातिखगेण्महेन्द्रसुमना भूपोऽपरादिर्जितः।
सोऽव्यादच्युतनायको नरपतिः स्वादिप्रतिष्ठोऽप्यह-
मिन्द्रो यश्च जयन्तके नरनुतो नेमीश्वरो वः प्रभुः ॥१५२॥

येऽभूवन्परमोदया द्विजवरा विद्वज्जनैः संस्तुताः तप्त्वा तीव्रतपो विशुद्धमनसा नाकेऽच्युते निर्जराः।
संजाता वृषपुत्रभीमसुरराट्पुत्राश्च मद्रीसुतौ याता मोक्षपदं त्रयश्च दिविजौ जातौ श्रिये सन्तु ते ॥१५३॥

नेमिः शं वो दिशतु दुरितं दीर्णभावं विधाय दीप्यद्देवो दलितदवथुर्दर्पदावाग्निकन्दः
मन्दस्कन्दो द्रुततरदमो दिव्यचक्षुर्दवीयः कीर्तिर्दाता दममयमहादेहदीप्तिः प्रदर्शी ॥१५४॥

क्वेदं चरित्रं क्व मम प्रबोधः श्रीगौतमाद्यैः कथितं विशालम्।
आच्छादनैश्छादितसर्वभागो ज्ञानस्य सोऽहं प्रयते तथापि ॥१५५॥

इसके बाद ज्ञानी नेमिप्रभु भी विविध देशों में विहार करते रैवतक पहाड़ पर आये। अब उनकी आयु सिर्फ एक महीने की रह गई थी। वहाँ उन्होंने वचनयोग रोककर योगनिरोध किया और पर्यंकासन लगा निष्क्रिय स्थित हुए। इसके बाद वे अन्त के गुणस्थान में शेष रहीं पचासी प्रकृतियों का नाश कर शुक्लपक्ष की सप्तमी के दिन पाँच सौ छतीस योगियों के साथ मुक्तिधाम पधारे। उनके निर्वाण-महोत्सव के लिए सब सुर-असुर आये और प्रभु के गुणों को चाहते हुए निर्वाण-कल्याणक कर अपने-अपने स्थान चले गये ॥१४७-१५१॥

जो क्रम से विंध्याचल पर भील हुए, उत्तम गुणों के धारक वणिक् हुए, इभकेतु देव हुए, चिंतागति विद्याधर राजा हुए, सुमना महेन्द्र हुए, पराजित राजा हुए, अच्युतेन्द्र हुए, सुप्रतिष्ठ राजा हुए और अन्त में जयंत विमान में अहमिन्द्र होकर यहाँ नेमिप्रभु हुए-वे नेमिप्रभु हम सबकी रक्षा करें ॥१५२॥

वे पाण्डव लक्ष्मी दें, जो पहले परमोदयशाली ब्राह्मण हो, तीव्र तप कर अच्युत स्वर्ग में देव हुए और वहाँ से चयकर यहाँ युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव हुए तथा पीछे तप कर तीन मोक्ष गये और अन्त के दो मद्री-सुत स्वर्गधाम गये ॥१५३॥

जो दीप्तिशाली देव हैं, पाप-दर्प-रूपी दाव के लिए अग्नि के कंद हैं, भय को दूर करने वाले हैं, दिव्य चक्षु और दिव्य वीर्यशाली हैं, कीर्ति के दाता हैं, शम-दम से युक्त है, महान् दीप्तिशाली देह के धारक है और सर्वदर्शी हैं वे दुरित को दारुण करने वाले प्रभु हमें शिव दें ॥१५४॥

कहाँ तो श्रीगौतम आदि द्वारा कहा गया पाण्डवों का विशाल चरित और कहाँ मेरा अल्प ज्ञान

बालोऽन्तरीक्षगणनं न करोति किं वा भेकोऽपि सिन्धुपयसां गणनां न वा किम्।
रङ्कः स्ववीर्यनिचयं विवृणोति किं न सोऽहं तथा वरकथां कथयामि कांचित् ॥१५६॥
संप्रार्थयामि नितरां वरसाधुसिंहान् सच्छास्त्रदूषणहरान्परतोषदातॄन्।
किं प्रार्थयामि नितरामसतः प्रयत्नाच्छास्त्रस्य दूषणकरान्परदोषदातॄन् ॥१५७॥
ये साधवः क्षितितले परकार्यरक्ता दोषालयेऽपि विकृतिं न भजन्ति सर्गात्।
नक्षत्रवंशविभवेऽपि किरन्ति तोषं शुभ्रांशवो निजकरैः परितर्पयन्ति ॥१५८॥
ये दुष्टतामससमूहगता विमार्गे शुभ्रांशुमार्गगहने कृतनित्यचित्ताः।
पङ्कावलिप्तनिजदेहभरा भृशं वै तेऽसाधवोऽन्धतमसं प्रकिरन्ति लोके ॥१५९॥
सन्तोऽसन्तो ये भुवि जाताः स्थाने स्थाने तत्खलु कृत्यम्।
नो चेत्तेषां कः परिवेत्ता काचाभावे रत्नमिवात्र ॥१६०॥
किं प्रार्थयामि भुवि तान्वरसाधुवर्गाञ्जल्पन्ति ये परगुणानगुणान्न दैवात्।
दोषेऽपि ये न ददते हितकारिदण्डं ते तुष्टभावनिवहा भुवने विभान्ति ॥१६१॥

जो पूर्णपने कर्मरूपी आवरण से ढँका हुआ है। यद्यपि मेरे ज्ञान की इस विशाल चरित के साथ कुछ भी तुलना नहीं हो सकती तो भी मैंने इसके रचने का जो प्रयत्न किया है यह मेरी धृष्ठता ही है ॥१५५॥

मैंने जो इस उत्तम कथा के कहने का साहस किया है वह वैसा ही है जैसा बालक तारागण के गिनने की कोशिश करते हैं, मेंढक समुद्र के जल की थाह ले ने का यत्न करता है और भीरु पुरुष अपने पराक्रम को दिखाने का साहस करता है ॥१५६॥

मैं ऐसे साधुओं की हृदय से चाह करता हूँ जो उत्तम शास्त्र के दूषण हरने वाले और परतोष देने वाले हैं, मुझे उन असाधुओं की जरूरत नहीं जो प्रयत्न द्वारा रचे गये शास्त्र में भी दोष बताते हैं और पर को दूषण देते हैं ॥१५७॥

भूतल पर जो परकार्य करने में अनुरक्त साधु-पुरुष हैं उनका स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे दोष देखकर भी किसी पर विकार भाव नहीं दिखाते किन्तु चंद्रमा की भाँति ही निज करों (किरणों और हाथों) द्वारा नक्षत्र-वंश-विभव होते हुए भी औरों को परितोष देते है और जो तामस स्वभाव से पूर्ण हैं वे निरन्तर उत्तम मार्ग को बिगाड़ने में ही दत्तचित्त रहते हैं, कुमार्ग पर चलकर अपने आपको भी कीचड़ में लथोड़ते हैं और लोक में अज्ञानांधकार का प्रसार करते हैं ॥१५८-१५९॥

देखिए संसार में अच्छे बुरे जो-जो पुरुष हुए यदि जगह-जगह उनके अच्छे और बुरे कृत्य न भरे-पड़े होते तो फिर लोगों को अच्छे बुरे की पहचान ही कैसे होती, जैसे काँच के अभाव में रत्न की पहचान नहीं हो सकती ॥१६०॥

मैं उन साधुओं की क्या प्रार्थना करूँ जो पर गुणों को ही सदा कहते और सुनते है, पराये दोषों को कभी न. कहते और सुनते और न भूलें हो जाने पर वे हितकारी दंड ही देते हैं। वे तोष-भाव के निधान साधु संसार की शोभा बढ़ावें ॥१६१॥

निष्कास्य दोषकणिकां भुवि दर्शयन्ति प्रादाय दोषमखिलं परिजल्पयन्ति।
अन्यस्य दोषकथने च सदा विनिद्रा ये प्रार्थयामि खलु तानसतः प्रबुद्धान् ॥१६२॥
कृत्वा पवित्रं परमं पुराणं तेषां च नो राज्यसुखं लिलिप्सुः।
अहं परं मुक्तिपदं प्रयाचे त्वद्भक्तितः सर्वमिदं फलि स्यात् ॥१६३॥
यदत्र सल्लक्षणयुक्तिहीनं छन्दःस्वलंकारविरुद्धमेव।
शोध्यं बुधैस्तत्खलु शुद्धभावाः परोपकाराय बुधा यतन्ते ॥१६४॥
छन्दांस्यलङ्कारगणान्न वेद्मि काव्यानि शास्त्राणि पराण्यहं च।
जैनेन्द्रकालापकदेवनाथसच्छाकटादीनि च लक्षणानि ॥१६५॥
त्रैलोक्यसारादिसुलोकग्रन्थान्सद्गोमटादीन्वरजीवहेतून् ।
सत्तर्कशास्त्राष्टसहस्रवीशान् नो वेद्म्यहं मोहवशीकृतान्तः ॥१६६॥
तादृग्विधोऽहं प्रगुणैर्जिनेशं स्तुवंश्च सद्भिः सकलैः परैश्च।
क्षाम्यः सदा कोपगणं विहाय बाल्ये जने को हि हितं न कुर्यात् ॥१६७॥

(कविप्रशस्तिः)

श्रीमूलसङ्घेऽजनि पद्मनन्दी तत्पट्टधारी सकलादिकीर्तिः।
कीर्तिः कृता येन च मर्त्यलोके शास्त्रार्थकर्त्री सकलापि चित्रा ॥१६८॥

मैं उन दुष्टों की प्रशंसा करता हूँ जो पराये दोष कहने के लिए सदा ही टकटकी बाँधे रहते है और जहाँ दोष का लेश मात्र भी पाया कि उसे सारे संसार में गाते फिरते हैं और कहते हैं कि अमुक की कृति सारी ही इसी तरह-तरह दोषों से भारी हुई है।

पाण्डवों के इस पवित्र ही नहीं किन्तु परम पवित्र पुराण को बनाकर मैं न तो राज-सुख चाहता हूँ और न और ही कोई वस्तु चाहता हूँ किन्तु मुक्ति-पद की याचना करता हूँ। भक्ति से सब मनचाहा फल होता ही है ॥१६२-१६३॥

यदि इस पुराण में कहीं व्याकरण, युति, छंद, अलंकार, काव्य आदिक विरुद्ध बात कही गई हो तो उसे बुद्धिमान् जन शुद्ध कर लें क्योंकि शुद्ध भावों के धारक बुधजन जो कुछ भी प्रयास करते है वह परोपकार के लिए ही करते हैं ॥१६४॥

मैंने न छंदशास्त्र देखा है और न अलंकार तथा गणों को सीखा है, न मैं काव्य आदि जानता हूँ और न मुझे जैनेन्द्र आदि किसी व्याकरण का ही ज्ञान हैं, इसी प्रकार त्रिलोकसार आदि लोक-ग्रन्थ और गोम्मटसार आदि जीव-ग्रन्थ भी मैंने नहीं देखे हैं और न अष्टसहस्री आदि तर्कशास्त्र ही पढ़े हैं। इसका कारण यह है कि मेरा अन्तःकरण मोह से विवश है ॥१६५-१६६॥

मेरी यह दशा होने पर भी मैं जिनदेव का पूर्ण भक्त हूँ, उनकी उत्तमोत्तम गुणों द्वारा स्तुति करता हूँ। इस कारण सत्पुरुषों तथा अन्य साधारण जन को चाहिए कि वे क्रोध वगैरह छोड़कर सदा ही मुझ पर क्षमाभाव रखें। जो बालक होता है, अबोध होता है, उसका कौन हित नहीं करता ॥१६७॥

श्रीमूलसंघ में पद्मनन्दी आचार्य हुए। उनके पट्ट पर सकलकीर्ति हुए, जिन्होंने मर्त्यलोक में

भुवनकीर्तिरभूद्भुवनाद्भुतैर्भवनभासनचारुमतिः स्तुतः।
वरतपश्चरणोद्यतमानसो भवभयाहिखगेट् क्षितिवत्क्षमी ॥१६९॥
चिद्रूपवेत्ता चतुरश्चिरन्तनश्चिद्भूषणश्चर्चितपादपङ्कजः।
सूरिश्च चन्द्रादिचयैश्चिनोतु वै चारित्रशुद्धिं खलु नः प्रसिद्धाम् ॥१७०॥
विजयकीर्तियतिर्मुदितात्मको जितततान्यमतः सुगतैः स्तुतः।
अवतु जैनमतं सुमतो मतो नृपतिभिर्भवतो भवतो विभुः ॥१७१॥
पट्टे तस्य गुणाम्बुधिर्व्रतधरो धीमान्गरीयान्वरः
श्रीमत्श्रीशुभचन्द्र एष विदितो वादीभसिंहो महान्।
तेनेदं चरितं विचारसुकरं चाकारि चञ्चद्रुचा
पाण्डोः श्रीशुभसिद्धिसातजनकं सिद्ध्यै सुतानां मुदा ॥१७२॥

[कविविरचितग्रन्थानां नामावलिः]

चन्द्रनाथचरितं चरितार्थं पद्मनाभचरितं शुभचन्द्रम्।
मन्मथस्य महिमानमतन्द्रो जीवकस्य चरितं च चकार ॥१७३॥
चन्दनायाः कथा येन दृब्धा नान्दीश्वरी तथा।
आशाधरकृताचार्या वृत्तिः सद्वृत्तिशालिनी ॥१७४॥
त्रिंशच्चतुर्विंशतिपूजनं च सद्वृध्सिद्धार्चनमाव्यधत्त।
सारस्वतीयार्चनमत्र शुद्धं चिन्तामणीयार्चनमुच्चरिष्णुः ॥१७५॥
श्रीकर्मदाहविधिबन्धुरसिद्धसेवां नाना गुणौघगणनाथसमर्चनं च।
श्रीपार्श्वनाथवरकाव्यसुपञ्जिकां च यः संचकार शुभचन्द्रयतीन्द्रचन्द्रः ॥१७६॥

शास्त्रार्थकर्त्री कला प्रकट की। उनके बाद भुवनाधिपों द्वारा स्तुत्य, उत्तम तप तपने के लिए उद्यतमना, भव-भयरूपी साँप के लिए गरुड़ और पृथ्वी की भाँति क्षमा के धारक भुवनकीर्ति हुए। उनके बाद चिद्रूप के वेत्ता, चतुर, चिद्भूषण और पूजित पाद-पद्म के धारी चन्द्रसूरि हुए-वे हमारे चारित्र की शुद्धि करें ॥१६८-१७०॥

उनके बाद सत्पुरुषों द्वारा सेवित, राजाओं द्वारा मान्य, सुमति के धारी और मुदित. आत्मा विजयकीर्ति हुए। वे विभु हमारी संसार से रक्षा करें। उनके पट्ट पर गुण-समुद्र, व्रती, गुण-गरिष्ठ, सर्वोत्तम श्रीमान् वादीभसिंह शुभचन्द्र हुए, जिन्होंने उत्तम रुचि के धारक पाण्डु पुत्रों की सिद्धि को लेकर यह विचार-सुकर और शुभ, सिद्धि तथा सुख देने वाला चरित रचा। इन्हीं शुभचन्द्र यतीन्द्र चन्द्र ने नीचे लिखे ग्रन्थ और भी रचे हैं ॥१७१-१७२॥

चन्द्रप्रभचरित, पद्मनाभचरित, मन्मथमहिमा, जीवन्धरचरित, चन्दनकथा, नंदीश्वरकथा, आशाधरष्कृत अनगार धर्मामृत की आचारवृत्ति टीका, तीसचौबीसी पूजा, सिद्धपूजा, सरस्वतीपूजा, पार्श्वनाथकाव्य की पंजिका ॥१७३-१७५॥

इनके सिवा इन्होंने कितने उद्यापन भी रचे हैं और संशय-वदन-विदारण, अपशब्दखण्डन,

उद्यापनमदीपिष्ट पल्योपमविधेश्च यः। चारित्रशुद्धितपसश्चतुस्त्रिद्वादशात्मनः ॥१७७॥
संशयवदनविदारणमपशब्दसुखण्डनं परं तर्कम्। सत्तत्त्वनिर्णयं वरस्वरूपसम्बोधिनीं वृत्तिम् ॥१७८॥
अध्यात्मपद्यवृत्तिं सर्वार्थापूर्वसर्वतोभद्रम्। योऽकृत सद्व्याकरणं चिन्तामणिनामधेयं च ॥१७९॥
कृता येनाङ्गप्रज्ञप्तिः सर्वाङ्गार्थप्ररूपिका। स्तोत्राणि च पवित्राणि षड्वादाः श्रीजिनेशिनाम् ॥१८०॥
तेन श्रीशुभचन्द्रदेवविदुषा सत्पाण्डवानां परम् दीप्यद्वंशविभूषणं शुभभरभ्राजिष्णुशोभाकरम्।
शुम्भद्भारतनाम निर्मलगुणं सच्छब्दचिन्तामणिम् पुष्यत्पुण्यपुराणमत्र सुकरं चाकारि प्रीत्या महत् ॥१८१॥
शिष्यस्तस्य समृद्धिबुद्धिविशदो यस्तर्कवेदी वरो वैराग्यादिविशुद्धिवृन्दजनकः श्रीपालवर्णी महान्।
संशोध्याखिलपुस्तकं वरगुणं सत्पाण्डवानामिदम् तेनालेखि पुराणमर्थनिकरं पूर्वं वरे पुस्तके ॥१८२॥
श्रीपालवर्णिना येनाकारि शास्त्रार्थसंग्रहे। साहाय्यं स चिरं जीयाद्वरविद्याविभूषणः ॥१८३॥
ये शृण्वन्ति पठन्ति पाण्डवगुणं संलेखयन्त्यादरात् लक्ष्मीराज्यनराधिपत्यसुरतां चक्रित्वशक्रेशिताम्।
भुक्त्वा भोगमिदं पुराणमखिलं संबोभुवत्युन्नताः मुक्तौ ते भवभीमनिम्नजलधिं सन्तीर्य सातं गताः ॥१८४॥

अर्हन्तो ये जिनेन्द्रा वरवचनचयैः प्रीणयन्तः सुभव्यान्
सिद्धाः सिद्धिं समृद्धिं ददत इह शिवं साधवः सिद्धिशुद्धाः।
दृक्सद्बोधं सुवृत्तं जिनवरवचनं तीर्थराट्प्रोक्तधर्म-
स्तत्सच्चैत्यानि रम्या जिनवरनिलयाः सन्तु नस्ते सुसिद्ध्यै ॥१८५॥

सत्तत्वनिर्णय, स्वरूपसंबोधिनीवृत्ति, अध्यात्मपद्यवृत्ति, सर्वार्थपूर्व, सर्वतोभद्र और चिंतामणि नाम व्याकरण आदि ग्रन्थ भी इनकी कृति हैं एवं सर्वांगार्थ प्ररूपिका अंगप्रज्ञप्ति तथा जिनदेव के कितने पवित्र स्तोत्र भी इन्होंने रचे हैं ॥१७६-१८०॥

इन्हीं शुभचन्द्र देव ने प्रीति के वश हो यह पाण्डवों का परम पवित्र महान् पुराण बनाया है। यह दीप्तिशाली वंशों का भूषण है, शुभ का स्थान है, शोभा-पूर्ण है, इसमें बहुत से निर्मल गुण हैं, उत्तम छन्द-रूपी चिंतामणियों द्वारा यह गूँथा गया है और सरल है। इसका दूसरा नाम '**जैन महाभारत**' भी है ॥१८१॥

इन्हीं शुभचन्द्रदेव का समृद्धिशाली बुद्धिविशद, तर्कशास्त्र का पंडित, वैराग्य आदि विशुद्धियों का जनक श्रीपाल नाम का एक ब्रह्मचारी शिष्य था। उसने पाण्डवों के इस पूरे चरित को सोधा और पहले पहल इस अर्थपूर्ण पुराण को उत्तम पुस्तक पर लिखा ॥१८२॥

इस शास्त्र के अर्थ-संग्रह में श्रीपाल ब्रह्मचारी ने मुझे बहुत सहायता दी, अतः वह श्रेष्ठ विद्याविभूषण चिरंजीवी रहे ॥१८३॥

जो पाण्डवों के इस पवित्र पुराण को आदर के साथ लिखते-पढ़ते और सुनते हैं-वे लक्ष्मी, राज्य, नराधिपत्व, देवाधिपत्व आदि उत्तम पदों के भोगों को भोग कर उन्नत होते हैं और क्रम से संसार-समुद्र को पारकर अविनाशी सुख के भोक्ता होते हैं ॥१८४॥

उत्तम वचनों द्वारा भव्यों के प्रसन्न करने वाले अर्हन्त, सिद्धि-समृद्ध सिद्ध, शिवदाता सिद्धि-शुद्ध साधु, रत्नत्रयरूपी जिनोक्त धर्म, जिनदेव की रम्य प्रतिमाएँ और जिनालय ये सब सिद्धि दें ॥१८५॥

यावच्चन्द्रार्कतारा: सुरपतिसदनं तोयधि: शुद्धधर्मो
यावद्भूगर्भदेवा: सुरनिलयगिरिर्देवगङ्गादिनद्य:।
यावत्सत्कल्पवृक्षास्त्रिभुवनमहिता भारते वै जगत्याम्
तावत्स्थेयात्पुराणं शुभशतजनकं भारतं पाण्डवानाम् ॥१८६॥
श्रीमद्विक्रमभूपतेर्द्विकहतस्पष्टाष्टसंख्ये शते
रम्येष्टाधिकवत्सरे सुखकरे भाद्रे द्वितीया तिथौ॥
श्रीमद्वाग्वरनीवृतीदमतुलं श्रीशाकवाटे पुरे
श्रीमत्श्रीपुरुधाम्नि वै विरचितं स्थेयात्पुराणं चिरम् ॥१८७॥
तदहं शास्त्रं प्रवक्ष्यामि पुराणं पाण्डवोद्भवम्।
सहस्त्रषट् भवेन्नूनं शुभचन्द्राय कथ्यते॥

इति श्रीपाण्डवपुराणे भारतनाम्नि भट्टारक श्रीशुभचन्द्रप्रणीते ब्रह्म० श्रीपालसाहाय्यसापेक्षे पाण्डवोपसर्गसहनकेवलोत्पत्तिमुक्तिसर्वार्थसिद्धि-गमनवर्णनं नाम पञ्चविंशतितमं पर्व ॥२५॥

जब तक चाँद-सूरज, तारा, सुरपतिसदन, समुद्र, शुद्ध धर्म है, जब तक धरणेंद्र, सुर-निलय-गिरि और देवगंगा है और जब तक त्रिभुवन-महित कल्पवृक्ष हैं तब तक इस भारतभूमि पर शुभ देने वाला यह पाण्डवों का भारत नाम पुराण भी रहे ॥१८६॥

इस पुराण के रचे जाने का समय विक्रम संवत् १६०८ भादों सुदी दूज है। यह बागड़ प्रान्त के सागवाड़ा नगर-स्थित श्री आदिनाथ भगवान् के मंदिर में रचा गया। यह चिरकाल तक रहे ॥१८७॥

इस प्रकार ब्रह्म० श्रीपाल की सहायता से श्री शुभचन्द्र-भट्टारक द्वारा रचे हुए पाण्डवपुराण में अर्थात् महाभारत में पाण्डवों ने कुर्यधर द्वारा किया हुआ उपसर्ग सहन किया, तीन पाण्डवों को केवलज्ञान और मुक्ति की प्राप्ति हुई, नकुल, सहदेव मुनियों को सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्रदेवत्व प्राप्त हुआ इन बातों का वर्णन करने वाला पच्चीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२५॥

इति शुभचन्द्राचार्यविरचित पाण्डवपुराण।

मंगलं भूयात्।

❑ ❑ ❑